मुसलमान भारतकी मिट्टीमें रंग जानेमें असमर्थ क्यों ?

इस्लाम के दो सिद्धान्त

हिजरत और जिहाद

—डा० भीमराव अम्बेडकर—

मुस्लिम शरियत (कानून) के अनुसार सारी दुनियां दो शिविरोंमें बटी हुई है–दारुल इस्लाम (इस्लाम का स्थान) और दारुल हरब (लडाई का स्थान)। जिस देशपर मुसलमानोंका राज्य है वह दारुल इस्लाम है। दारुल हरब वह देश है जिसमें मुसलमान रहते तो हैं किन्तु उनका शासन नहीं है। मुस्लिम कानून ऐसा होनेके कारण भारत हिन्दू तथा मुसलमानोंकी सामान्य मातृभूमि नहीं हो सकता। वह मुसलमानोंका देश हो सकता है किन्तु ऐसा देश नहीं हो सकता है जिसमें हिन्दू और मुसलमान बराबरीके दर्जेपर रहते हों। जिस क्षण देश गैर-मुस्लिमके अधिकारमें चला जाता है, वह मुसलमानका देश नहीं रहता। दारुल इस्लाम के स्थानपर वह दारुल हरब हो जाता है।

यह नहीं समझना चाहिए कि यह कोरी शास्त्रीय बात है। यह एक महत्वपूर्ण शक्ति बनकर मुसलमानोंके व्यवहारको प्रभावित कर सकती है। जब भारतमें अंग्रेजी राज था तब इस तत्वने मुसलमानोंको प्रभावित भी किया था। अंग्रेजी आधिपत्यसे हिन्दुओंके मनमें ऐसे प्रश्न नहीं उठे, किन्तु मुसलमानोंमें यह प्रश्न एकदम उठ खड़ा हुआ कि क्या अब भारत मुसलमानोंके रहने योग्य है ? मुस्लिम समाजमें इस बारेमें बडा वाद विवाद हुआ जो डा० टिटसके कथनानुसार आधी शताब्दी तक चलता रहा। अंग्रेजी राज स्थापित होनेके बादसे भारत दारुल हरब है या दारुल इस्लाम इसके बारेमें काफी बहस हुई। सैयद अहमद के नेतृत्वमें कुछ कट्टर मुसलमानोंने तो जिहाद भी छेड दिया और मुसलमानोंको मुस्लिम शासित देशोंको हिजरत कर जानेका उपदेश देने लगे। उनका यह आन्दोलन सारे देशमें चला।

मुसलमानोंको समझा-बुझाकर यह मनवानेके लिए कि मुस्लिम शासन न होते हुए भी अंग्रेजी राजमें भारत दारुल हरब नहीं है, सर सैयद अहमदको अपनी सारी बुद्धिमत्ता खर्च करनी पड़ी। उन्होंने मुसलमानोंसे भारतको दारुल इस्लाम समझनेके लिए कहा और बताया कि इस राज्यसे वे अपने मजहबी कृत्य करनेके लिए पूरी तरहसे स्वतन्त्र हैं। हिजरतका आन्दोलन कुछ समयके लिए दब गया किन्तु इस सिद्धान्तको तिलाञ्जलि नहीं दी गई कि भारत दारुल हरब है। खिलाफतके आन्दोलन में सन् १९२०-२१ में इस सिद्धान्त का मुस्लिम देशभक्तों द्वारा पुनः प्रचार किया गया और जनता उससे प्रभावित हुई और ऐसे मुसलमानों की संख्या कम नहीं थी जो कि मुस्लिम शरियतके अनुसार काम करने के लिये ही तैयार नहीं थे, बल्कि उसके अनुसार भारतमें अपने घरद्वार छोडकर वस्तुतः अफगानिस्तान चले भी गए।

जिहाद

यहांपर यह बता देना भी आवश्यक है कि जो मुसलमान अपनेको दारुल हरब में पाते हैं उनके लिए हिजरतका ही एकमेव रास्ता नहीं है। मुस्लिम शरियतका एक दूसरा कानून भी है जिसे जिहाद [धर्मयुद्ध] कहा जाता है। उसके अनुसार प्रत्येक "मुस्लिम शासकका यह कर्त्तव्य है कि वह इस्लामका शासन तब तक बढाता जाये जबतक कि सारा संसार उसके प्रभुत्वमें न आ जाय। दुनिया दो भागोंमें बटी हुई होनेके कारण प्रत्येक देश या तो दारुल इस्लाम के क्षेत्रमें आता है या दारुल हरब के क्षेत्र में। प्रत्येक मुस्लिम शासकका यह फर्ज है कि वह दारुल हरबको दारुल इस्लाममें परिवर्तित करनेका प्रयास करे।" ठीक जिस प्रकार भारतके मुसलमानों द्वारा हिजरत करनेके उदाहरण

हैं उसी प्रकार जिहादकी घोषणा करनेके भी उदाहरण हैं। जो इस सम्बन्धमें अधिक जाननेके उत्सुक हों उन्हें सन् १७५७ के विद्रोहके इतिहासकी जांच करनी चाहिए। उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि कुछ ही अंशोंमें क्यों न हो वह विद्रोह, जहांतक कि उससे मुसलमानोंका सम्बन्ध था अंग्रेजोंके खिलाफ एक जिहाद ही था। सैयद अहमद अनेक सालोंसे मुसलमानोंमें यह भावना भर रहा था कि भारतपर अंग्रेजी राज हो जानेके कारण देश दारुल हरब हो गया है। यही भावना सन् ५७ के विद्रोहके रूपमें प्रकट हुई थी। वह विद्रोह मुसलमानों द्वारा भारतको दारुल इस्लाम बनानेका प्रयत्न था। यदि नया उदाहरण ही लेना है तो सन् १९१९में भारत द्वारा अफगानिस्तान पर आक्रमण किए जानेकी घटना लें।

उस समय भारतके मुसलमानोंने खिलाफतके विरोधी होनेके कारण अंग्रेजोंके विरुद्ध षडयंत्र कर भारतके छुटकारे के लिये अफगानिस्तानकी मदद लेनी चाही। भारतपर अफगानिस्तानके आक्रमणका परिणाम देशकी स्वाधीनता में होता या पराधीनतामें यह बताना तो कठिन है, क्योंकि आक्रमणकी योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी, किन्तु इससे इतना स्पष्ट है कि यदि भारत पर केवल मुसलमानोंका ही अधिकार नहीं होता तो वह दारुल हरब है और मुस्लिम कानूनके अनुसार यदि यहां के मुसलमान उसे दारुल इस्लाम बनानेके लिए जिहाद छेड दें तो वह उचित होगा।

इतना ही नहीं। वे केवल जिहाद ही नहीं छेड सकते बल्कि वे जिहादको सफल बनानेके लिए, किसी विदेशी मुस्लिम शक्ति की सहायता भी ले सकते हैं, और यदि कोई बाहरी मुस्लिम शक्ति इसके लिये जिहाद छेडे तो वे उसको सफल बनानेके लिये सहायता भी कर सकते हैं। मियाँ मोहम्मद अली ने सेशन्स कोर्टमें जूरीके सामने जो बयान दिया था उसमें यह बात बिल्कुल साफ तौर से कह दी गई थी। मि० मोहम्मद अली ने कहा था—

..." इस्लाम इस बातकी इजाजत नहीं देता कि उसका माननेवाला किसी दूसरे माननेवाले के खिलाफ बिना किसी पक्के सबूतके अपना फैसला दे दे। साथ ही यह भी साफ है कि हम अपने मुस्लिम भाइयोंके खिलाफ तबतक हथियार नहीं उठा सकते जबतक कि हमें इस बातका भरोसा न हो जाय कि वे हमलावर हैं और उन्होंने दीनको खतरेसे बचाने के लिए जंग नहीं छेडा है। " [यह बात सन् १९१९ में चलने वाले अंग्रेज—अफगान युद्धके सिलसिलेमें कही गयी थी]

मि० मोहम्मद अलीने आगे कहा—

' अब हमारी हालत यह है। अमीरके पागलपनका अच्छा सबूत पाये बिना हम नहीं चाहते कि हिंदुस्तानी सिपाही, जिनमें मुसलमानी भी शामिल हैं, और खासकर हमारे बढावे और मददसे, अफगानिस्तानपर आक्रमण करें और पहले उसपर पूरा कब्जा जमा लें और बादमें उलझन और गलतफहमीके शिकार बनें। "

" मगर यदि इसके बरखिलाफ हिज मेजेस्टी अमीरका हिन्दुस्तान और यहाँकी जनताके खिलाफ कोई झगडा नहीं है और उनका मकसद, जैसा कि सेक्रेटरी आव स्टेटने कहा है मुस्लिम दुनियांके असन्तोषसे ताल्लुक रखता है, और वे उसके साथ अपनी हमदर्दी दिखाते हैं, कहने का मतलब यह कि जिन मजहबी वजूहातसे मुसलमान हिजरत करनेके लिये मजबूर हुए हैं—हिजरतके अलावा और कमजोर लोग कुछ कर भी नहीं सकते—अगर उन्हींसे मजबूर होकर हिज मेजेस्टीने जेहाद करनेका सोचा है—और यह ताकतवर का रास्ता है, अगर उन्होंने जबर्दस्तीपर भरोसा करनेवालों की चुनौतीको माना है और यदि वह चाहते हैं कि मुसलमान उनके खिलाफ मोर्चा लें जो कि मुसलमानों को खिलाफतके खिलाफ और जिहादमें लगे हुए लोगोंसे लडाना चाहते हैं और जो कि जजीरत—उल—अरब और पाक जगहोंपर कब्जा जमाये बैठे हैं, जो इस्लामको कमजोर करना चाहते हैं, उसके खिलाफ साजिश करते हैं और हमें उसको फैलाने की पूरी इजाजत नहीं देते तो इस्लामका कानून साफ साफ कहता है कि कोई भी मुसलमान किसी भी हालतमें उसके खिलाफ मदद न दे। अगर इसके बाद जिहाद मेरे मुल्क में आजाय तो उस मुल्कके हरेक मुसलमानका फर्ज है कि वह मुजाहिदीन का साथ दें और अपनी पूरी ताकतसे उसकी मदद करे।

" यह इस्लामका सीधा और साफ कानून है और हमने इसे जाँच कमेटीके सामने रख दिया है। जब सरहदपर किसी झगडे की बात भी नहीं थी और पहिले के अमीर जिन्दा थे तभी हमने एक सवालके जवाबमें बता दिया था

कि गैर—मुस्लिम राजके मुसलमानका उस समय मजहबी फर्ज क्या है जब कि उस राजके खिलाफ जिहादका एलान कर दिया गया हो ? ''

अखिल इस्लामवाद

इस्लामका एक तीसरा सिद्धान्त भी विचार करने योग्य है और वह यह है कि इस्लाम प्रादेशिक सम्बन्ध (Tritorial affinity) को मान्य नहीं करता । उसके सम्बन्ध सामाजिक और धार्मिक हैं, दूसरे शब्दोंमें वे Extra—territopial है । इस सम्बन्धमें भी मौलाना मोहम्मद अलीके विचारों को रखना सबसे अच्छा होगा । जब उन्हें कराचीमें सेशन सुपुर्द कर दिया गया तो जूरीको संबोधित करते हुए उन्होंने कहा—

'एक बात साफ कर देना जरूरी है क्योंकि हमें पता चला है कि जिस तत्वको हम सामने रखनेवाले हैं उससे गैर मुस्लिम तथा खासकर अफसर लोग उतने वाकिफ नहीं हैं जितने होने चाहिए । मुसलमानका मजहब एक तय किए हुए सिद्धान्तों के मुताबिक जिन्दा रहनेमें ही नहीं है, उसे अपनी पूरी ताकत के साथ बिना जोर जबरदस्तीके, इस बातकी कोशिश करनी चाहिए कि गैर लोग भी उसकी बातोंको मानें और अमलमें लायें । पाक कुरानमें इसे अमरिबिलमारूफ और नाही अनिल मुनकर कहा गया है और पाक पैगम्बरके कुछ खास उपदेश इस्लामके इसी जरूरी सिद्धान्तसे तालुक रखते हैं । कोई मुस्लमान यह नहीं कह सकता कि 'मैं अपने भाईका रखवाला नहीं हूँ' क्योंकि एक तरहसे वह उसका रखवाला है और वह खुद तब तक बहिश्तमें नहीं जा सकता जबतक कि वह औरों से अच्छाई करने और बुराईको छोडने के लिये नहीं कहता । इसलिए अगर किसी मुसलमानको इस्लाम व मुजाहिदके खिलाफ जंग करनेके लिए मजबूर किया जाता है तो उसे खुद तो उसकी मुखालफत करनी ही चाहिए मगर साथ ही, यदि वह अपनी मुक्तिकी फिक्र करता है तो उसे औरों को भी बुझाकर-समझा चाहे इसके लिए उसे खुदको आफत में ही डालना पडे, उसकी मुखालफतके लिए तैयार करना चाहिए । तभी और सिर्फ तभी वह अपनी मुक्तिकी उम्मीद कर सकता है । इसपर हमारा भरोसा है और अपने ढंगसे हम उसके अनुसार काम करनेकी कोशिश करते हैं । अगर हमें इस बातके प्रचारकी पूरी आजादी नहीं दी जाती तो हमें यह कहना पडेगा कि जिस मुल्कमें इस बातकी आजादी न हो वहाँ इस्लाम हिफाजतसे नहीं है ।'

यही अखिल इस्लामवादकी जड है । यही वह कारण है जिससे भारतमें रहनेवाला मुसलमान पहले अपनेको मुसलमान कहता है और बादमें भारतीय । यह भाव बताता है कि क्यों मुसलमानोंने भारतको आगे बढानेमें इतना कम भाग क्यों लिया है और क्या वजह है कि वे मुस्लिम देशोंके लिये लडते रहे और उनके मस्तिष्कमें भारतके लिए दूसरा स्थान रहा जब कि अन्य मुस्लिम देश पहला स्थान बनाये रहे ।

हिज हायनेस आगा खाँ ने निम्न शब्दोंमें इस बात को बताया है—

''यह एक ठीक और उचित अखिल इस्लामवाद है जिसे हरेक सच्चा और पक्का मुसलमान मानता है । यह आध्यात्मिक बन्धुता तथा पैगम्बरके बेटोंका एकताका सिद्धान्त है ... उस फारसी-अरबी संस्कृतिका गहरा तथा अखण्ड तत्व ... सभ्यताके उस महान् परिवारका तत्व जिसे हमने इस्लाम का नाम दिया है । चीनसे लेकर मोरक्को तक, वोल्गा से लेकर सिंगापुर तक यह एक मजहबके माननेवालोंमें परस्पर उदारता तथा सद् इच्छाका द्योतक है।...यह स्वाभाविक तथा ... आध्यात्मिक आन्दोलन मालिक और उसकी शिक्षाको किसी ही नहीं बल्कि उसके सब बच्चोंको फिर वे किसी ... के क्यों न हों, तुर्क या अफगान, भारतीय या मिश्री ... प्रेमका उपकरण बना देते हैं । काशगार या सराजे... मानी क्षेत्रका अकाल या अग्निकांड दिल्ली या ... को सहानुभूति या सहायताके लिए झट खींच ...

यह अध्यात्मिक अखिल इस्लामवाद यदि ... इस्लामवादका जन्म दे तो इसमें कुछ अ...

(पाकिस्तान अथवा विभाजि...

लिखित टिप्पणी

... प्रकारकी पुरोहित ... (३) ... वे (५) चंचलता ... बैठे ... और हमारे ... पर किसी ... का कोई ... रखे हैं ... र सूत्र ... क्रिया में ... जाय या आ... ही भगवान् ... ति होगी-यह परन्तु इस ढंगसे ... प्रकार की कोई ... यों हूँ ।

डीसा (गुजरात

वर्षेष्टि यज्ञ.

विव्र
खिर वैदिक धर्म मार्च १९५० के पृष्ठ ११६ पर श्री. पं.
सुस दयाल वैदिक जगद्वीज पुरुष इतिहासान्वेषक,तौशाम-हिसार
राज है व " मन्त्रों द्वारा वर्षा और दुर्भिक्ष " पढा । इस लेख
यही भ चार करनेसे मुझे प्रतीत होता है कि लेखक महोदयने
विद्रोह या, पद्धति या शैलीके साथ न्यायपूर्वक व्यवहार
प्रयत्न केया ।
भारत छ मन्त्रोंके जप तथा पाठमात्र द्वारा वर्षा हो सकती
लें । नहीं- मैं इस वार्तामें जाना नहीं चाहता-क्योंकि मैं इन
उस विश्वास नहीं रखता । मैं केवल इतना निवेदन
होनेके कि यज्ञका अर्थ जो इस लेखमें दिया है-केवल उतना
के लिये - अपितु और भी है । प्राचीन कालमें छोटे बडे यज्ञों
अफगा कोई व्यवस्था थी या नहीं । इस सम्बन्धमें मैं लेखक
में हो यकी दृष्टि ऋषि दयानन्द रचित सत्यार्थप्रकाश नवम
आक्रम । संवत १९६६ वि० पृष्ठ ३८ वा ३९ की ओर
इतना स्प करना चाहता हूं । इस विषयपर चर्चा करते हुए
अधिका दयानन्द एक प्रश्नके उत्तरमें लिखते हैं कि- " इस
कानून आर्यवर शिरोमणि महाशय ऋषि, महर्षि, राजे, महाराजे
बनाने बहुतसा होम करते और कराते थे । " ये दो
इ अर्थात् एक ब्रह्मयज्ञ जो पढना-पढाना संध्योपासना,
जिहादकी स्तुति अर्थात् उपासना करना । " दूसरा देवयज्ञ
की सहा ग्निहोत्रसे लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ और विद्वानोंकी
शक्ति इसवा करना-परन्तु ब्रह्मचर्यमें केवल ब्रह्मयज्ञ और
लिये सहायत ही करना चाहिये " ।
सेशन्स कोर्टमें २२में "आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्" वाले
बात बिल्कुल सनिकामे निकामें नःपर्जन्यो अभि वर्षतु' जबजब हमें
अली ने कहा था- तब मेघ वर्षा करें अथवा आवश्यकतानुसार
..." इस्लाम रहती रहे तो वेदमें वर्षाको आवश्यकतानुसार
माननेवाला किसी दूसनेका निर्देश स्पष्ट है । समय समय पर
पक्के सबूतके अपना फै होनेके कारण चोर बाजारी वर्षांतक
कि हम अपने मुस्लिम भाआश्चर्यकी बात नहीं-वरन निरन्तर
नहीं उठा सकते जबतक रि र दुर्भिक्ष रहना साधारण गप्पसी
तारीका होना तो आजकल
हो रहा है ।

इसीप्रकार लगभग १५-२० वर्षसे चीन की दीन हीन अवस्था हो रही है ।

अब मैं वेदोंकी ओर आता हूं-

पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वा--
ज्यस्य होतर्यज

यजु० २१. मं० २९-४०

अर्थ-- दूध वा अन्न, सब ओरसे प्राप्त हुए रसोंके साथ औषधियोंका समूह, घृत और शहद प्राप्त हों उनके साथ घीका होम कर ॥

पुरूणि यश्च्यौत्ना शम्बरस्य वि नवतिं
नवं च देह्यो३ हन् ॥

ऋ० ६, ४७, २ ॥

वृद्धि करने योग्य सूर्य मेघके निन्यान्वे प्रकारकी बडी गतियों अथवा मेघोंका नाश करता है । एक और स्थलपर भी कहा है कि

तवं च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव य-
त्पुरो नवतिं च सद्यः ॥

ऋ० ७, १९, ५ ॥

सूर्य अपने तेजसे विद्युत आदि अस्त्रों [गैसों] द्वारा आच्छादन करनेवाले मेघोंकी विराटमें असंख्य स्थानोंमें रहने वाली निन्यान्वे प्रकारकी गतियोंका हनन करता है ।

अब मैं अपना अनुभव श्री. पण्डितजीकी सेवामें उपस्थित करता हूं । मैं भूमिपति होनेसे और वेदोंमें अगाधश्रद्धाके कारण अपने जीवनमें इनका अध्ययन करता रहा हूं । सेवासे निवृत्त होकर मैं अपनी जन्मभूमि डेरा गाजीखान चला गया । वहां वर्षा लगभग ३ इंचतक सारे वर्षमें होती कभी २ एक एक दो दो वर्ष होती भी नहीं । इस अभावको दूर करनेके लिये मैंने अपने संग्रह किये हुये वेद नियत कालमें १९४६ में यज्ञ किया । उस

आर्य कहे जानेवाले भाईयों वा बहिनोंको निमन्त्रित किया था परन्तु कोई भी उस यज्ञमें सम्मिलित होनेका साहस न कर सका, क्योंकि यज्ञमें सम्मिलित होनेमें कुछ नियम थे। तो भी श्री पं. वासुदेवजी स्नातक गुरुकुल काङ्गडी पत्नी सहित उस यज्ञमें अन्तिम दिवस सम्मिलित हुये थे। तीन दिन प्रातः और सायं यह यज्ञ होता रहा दूसरे दिन मेघ बनने लगे. तीसरे दिन अधिक होकर गर्जना करने लगे और सायंकाल पूर्ण आहुतिसे पूर्व ही वर्षा आरंभ हुई यह वर्षा लगभग ३२ मील की दूरीतक वेगपूर्वक हुई।

इस यज्ञमें प्रतिवेला निम्न प्रकार आहुतियां दी गई थी।

५ अग्नि प्रज्वलित करनेके लिये,
४ दिशाओंमें ,,
४ सामान्य
१ स्विष्टकृत
१ प्रजापतिके अर्थ मौन
८ आज्याहुतियां
४ दैनिक हवनकी
८ ,, ,, सामान्य प्रत्येक वेलाके लिये
१९९ बृहद हवन (प्रधानहोम) के लिये
६ पाक्षिक यज्ञ
४ मिश्रित पूर्णाहुति

छः छः माशा घी की और एक एक छटांक सामग्रीकी आहुति दीं गई। घी पवित्र गायका जामपुर तहसीलसे प्रबन्ध किया गया था और घृतमें कस्तूरी, केशर, जाय फल और जावित्री ऋषि दयानन्दके आदेशानुसार उसी अनुपातमें डाली गई। सामग्रीका योग निम्न प्रकार है-

[१] आंवले १ सेर [२] छलीरा २ सेर [३] वायविडङ्ग २ सेर [४] माष २ सेर [५] जौ १ सेर [६] सरीन् वृक्षके पत्र वा बीज २ सेर [७] पीली सरसूं १ सेर [८] दारु हलदी १ सेर [९] निरमली १ सेर [१०] दालचीनी १ पाव [११] खस १ पाव [१२] सतावर २ पाव [१३] लौंग २ पाव [१४] मंजीठ २ पाव [१५] पद्माख २ पाव [१६] चन्दन श्वेत २ पाव [१७] काफूर १ छटांक [१८] ऋतुके फल वा तरकारी आदि

बैठनेका प्रबन्ध :-

१. विद्वान. वेदपाठी आदि स्त्री-पुरुषोंका स्थान वेदिकी पूर्व दिशामें था,

२. पितरों [जीवित] श्रीमानों, नगर-ग्राम आदिसे प्रसिद्ध पुरुषोंका स्थान-दक्षिण दिशामें था,

३. जन समूहके लिये- पश्चिम दिशामें था. और

४. प्रबन्धकर्ता, अधिकारी वर्ग, स्वयंसेवक अथवा रक्षक आदि कार्यकर्ताका उत्तर दिशामें था।

इस यज्ञमें किसी आर्य विद्वानने किसी भी प्रकारकी सहायता नहीं की थी- अपितु मैं और मेरी धर्मपत्नी ही पुरोहित और स्वयं ही यजमान थे।

यज्ञमें सम्मिलित होनेवालोंके लिये निम्न नियम थे-

१. असत्य भाषण न करें (२) मांस भक्षण न करें (३) स्त्रीसंग न करें (४) स्त्री ऋतुमति हो तो सम्मिलित न होवे (५) यज्ञमें बैठकर कलह कलाप अनगर्ल बातचीत और चंचलता आदि न करें अपितु दत्तचित्त होकर सभ्यता पूर्वक शान्त बैठे और श्रद्धापूर्वक यज्ञकी ओर ध्यान रखें।

यदि विस्तार पूर्वक पद्धति जो सज्जन चाहें तो हस्तलिखित भेजनेका यत्न करूंगा। इसको कई आर्य विद्वानोंके पास टिप्पणी अर्थ भेजा परन्तु उत्तर किसीका नहीं आया-किस प्रकार हमारे सदाचारकी व्यवस्था हो रही है। इसमें किसी भी स्थानपर किसी अन्य ग्रन्थ अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ अथवा सूत्र ग्रंथ आदिका कोई भी मन्त्र नहीं रखा अपितु सारेके सारे वेद मन्त्र ही रखे हैं जहां कहीं स्विष्टकृत और अष्टाज्याहुतिमें ब्राह्मण और सूत्र ग्रंथके मन्त्र थे तो उनके स्थानपरभी वेद मन्त्र रखे हैं।

मैं आशा करता हूं कि श्री. पण्डितजी यज्ञकी क्रिया में अविश्वासके पात्र न स्वयं बनेंगे और न ऐसा करनेकी किसी अन्यको सम्मति वा प्रेरणा करेंगे। जहां कहीं दोष आजाय या आ गये है- उनको यत्न पूर्वक दूरकर संशोधन करना ही भगवान् के प्यारोंका काम है। केवल तोड-फोडसे उन्नति होगी-यह सन्देह युक्त है। पाखण्डको उडाना उत्तम है परन्तु इस ढंगसे कि मूलतत्वका नाश न हो। यदि किसी प्रकार की कोई अविज्ञा हुई हो तो उसके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ।

नारायणदास बहल डिपो स्टोर कीपर
कांडला-डीसा रेलवे कंस्ट्रक्शन, डीसा (गुजरात

भारतवर्ष का इतिहास ।

लेखक—पं० भगवद्दत्तजी बी. ए, अध्यक्ष– वैदिकअनुसन्धान संस्थान माडलटौन (लाहौर)। प्रकाशक–स्वयम् । द्वितीयावृत्ति सन १९४७, मूल्य १५)। मुद्रण,कागज, जिल्द आदि श्रेष्ठ ।

पं०भगवद्दत्तजी भारतीय प्राचीन वाङ्मय और इतिहास के उद्भट विद्वान् हैं। वे इतिहास लेखन कार्यमें अन्ताराष्ट्रिय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं । आप उन कतिपय भारतीय विद्वानों में से हैं, जिन्होंने मान और अर्थ की लिप्साको छोडकर अपना समस्त अनुसन्धानात्मक कार्य केवल हिन्दी भाषा में लिखा । उनके कार्यका गौरव समझकर अनेक विदेशी विद्वानों ने भी हिन्दीका अभ्यास किया । आप पहले लगभग १५ वर्ष तक डी. ए. वी. कालेज लाहौरके अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष रहे । तत्पश्चात् स्वतन्त्र रूपसे अनुसन्धान कार्य करते रहे। विगत भारत विभाजन के अवसरपर माडलटौन (लाहौर) में समस्त सम्पति (जो लगभग डेढ लाख की थी) के नष्ट होजानेपर भी आप एकमात्र अनुसन्धान कार्यमें निरत हैं ।

प्रस्तुत इतिहासमें लेखकने आदि युगसे गुप्त साम्राज्य के अन्ततकका क्रमबद्ध इतिहास लिखा है । यद्यपि इतिहास अत्यन्त संक्षिप्तरूपमें लिखा गया है परन्तु प्रत्येक-पृष्ठमें कई ऐसे प्रमाण उद्धृत हैं जो इतिहास लेखन कार्यमें प्रथम वार बर्ते गये हैं। इसके एक एक पृष्ठसे व्यक्त है कि लेखकको भारतीय प्राचीन लौकिक वैदिक वाङ्मयपर पूरापूरा अधिकार है ।

भारतवर्षके प्राचीन इतिहासपर अंग्रेजी भाषामें अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, हिन्दी भाषामें भी दो तीन ग्रन्थ मिलते हैं परन्तु वे प्रायः योरोपीयन दृष्टिकोणसे लिखे गये हैं। कतिपय योरोपियन इतिहास लेखकोंने ईसाइमतके प्रभावके कारण आर्योंके सम्पूर्ण प्राचीन इतिहासको लगभग ६००० छः सहस्र वर्षोंमें समेटनेका दुःसाहस किया हैं । इसके लिये उन्होंने अनेक मिथ्या कल्पनाएं खडी की है। भारतीय प्राचीन वाङ्मयके पगपगपर उपस्थित होनेवाले विरोधसे घबरा कर उन्होंने इस सारे वाङ्मयको ही काल्पनिक असत्य कहने का दुःसाहस किया कई लेखकों ने तो रामायण और महाभारत जैसी सर्वथा सत्य ऐतिहासिक घटनाओंको भी काल्पनिक मिथ्याकथाएं लिखनेका घृणित कार्य किया । भारतीय इतिहासको नवीन सिद्ध करनेके लिये बौद्ध और जैन वाङ्मयमें उपलब्ध होनेवाली नामोंकी समानतासे पूरा पूरा लाभ उठाया । और भारतीयेतर पुराने इतिहासकी काल्पनिक समानताकी दुहाई देकर भी इन्होंने भारतीय इतिहासको पूर्णतया तोडा मरोडा । हमारे भारतीय आधुनिक ऐतिहासिकोंने भी प्रायः योरोपियन लेखकोंका ही अनुसरण किया इसके उदाहरण लेखकने द्वितीय संस्करण की भूमिका (पृष्ठ५) में दिये हैं ।

लेखकने इतिहास लेखनकी योरोपियन अन्धानुकरणकी परम्पराको तोडनेका महान् प्रयत्न किया है । इसलिये इस इतिहासमें और योरोपियन दृष्टिकोणसे लिखे गये इतिहासों में भूतलाकाशका अन्तर है ।

इस प्रस्तुत इतिहासमें अनेक ऐसे प्रकरण हैं जिसपर इस ग्रन्थमें पहलीबार प्रकाश डालागया है । यथा " भारत युद्धकालका भारतवर्ष " नामक २५ वां अध्याय । इस में देशकीभारतयुद्ध कालीन राजनैतिक विभागोंका संक्षिप्त निदर्शन कराया है । इसको विना समझे महाभारतके कई प्रसङ्ग समझमेंही नहीं आसकते ।

लेखकने भारतीय पौराणिक परम्पराके अनुसार काण्व और आन्ध्रोंके राज्यकालको विक्रमसे पूर्व जोडा है और चन्द्रगुप्त (द्वितीय) को संवत् प्रवर्तक प्रसिद्ध शकादि विक्रमादित्य माना है । इसके प्रमाणके लिये ग्रन्थकारने संकृत प्राकृत वाङ्मयसे ७९ प्रमाण उपस्थित किये हैं ।

सम्राट् शूद्रकका प्रकरण सर्वथा नया है। अनेक योरोपियन विद्वान् सम्राट् शूद्रककी सत्ता ही नहीं मानते और जो इसे मृच्छकटिक नाटकका रचयिता मानते हैं वे भी उसे विक्रम की ५ वीं ६ ठीं शताब्दीमें रखते हैं । लेखकने प्राचीन ग्रन्थोंके अनेक प्रमाणोंसे सम्राट् शूद्रकका काल विक्रम से लगभग ५०० वर्ष पूर्व निर्धारित किया है ।

भारतयुद्धसे प्राचीन इतिहासकी गुत्थी उसके युगपरिमाणमें छिपी हुई है। जबतक युगपरिमाणका निश्चय नहीं होता तबतक उसका तिथिक्रम नहीं दिया जासकता अतएव इस इतिहासमें भारतयुद्धसे प्राचीन इतिहासका क्रममात्र जोडा है। भारतयुद्धसे अर्वाचीन इतिहासका यथा संभव तिथिक्रम जोडनेकाभी यत्न किया है। इस इतिहासके पारायणसे स्पष्ट है कि भारतीय ऐतिहासिक परम्परा सत्य और अविच्छिन्न है। यद्यपि पौराणिक वंशावलियोंमें कहीं कहीं लेखकादि प्रमादसे कुछ भूलें अवश्य हुई हैं तथापि वे समूहावलम्बेन उसी सत्य इतिहासका उल्लेख करती है।

लेखकको भारतीय प्राचीन इतिहासके क्रमको जोडने में जो सफलता मिली है उसके दो मुख्य कारण हैं। एक है लेखकका भारतीय वैदिक, पौराणिक, जैन और बौद्ध आदिके सर्वविध प्राचीन वाङ्मयपर पूर्ण अधिकार होना और दूसरा लेखकका भारतीय वाङ्मयका अपने रूपमें (अर्थात् मूल ग्रन्थोंका) भारतीय दृष्टिकोणसे गम्भीर अध्ययन और मनन करना। लेखकने अन्य इतिहास लेखकोंके समान भारतीय प्राचीन वाङ्मयके योरोपिय दृष्टिकोणसे किये गये अनुवादोंको पढकर कार्य नहीं किया।

अन्य ऐतिहासिक विद्वान् लेखकके मतसे सहमत हों या न हों परन्तु उन्हें भी इतनी बात अवश्य माननी पडेगी कि लेखकने कहीं पर भी कल्पनासे काम नहीं लिया है। उसने अपने प्रत्येक नये अनुसन्धानके लिये प्रमाणोंकी झडी लगादी है। जिससे लेखकके वर्षोंके गम्भीर अध्ययन और मननकी छाप उनके मनपर भी अवश्य बैठ जाती है। इस प्रकार यह ग्रन्थ हरएक दृष्टि कोणसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और संग्राह्य है। प्रत्येक कालेज विश्वविद्यालय तथा आर्यसमाज आदिके पुस्तकालयोंमें इसकी एक एक प्रति अवश्य रखनी चाहिये।

वैदिकधर्म और जैनधर्म

(ले॰ सत्यभक्त संपादक संगम वर्धा)

श्रमण और ब्राह्मण

एक दिन इस देशमें दो विरोधी चीजोंको समझानेके लिये कहा जाता था "श्रमण ब्राह्मणवत् अहितकुलवद्वा" अर्थात् श्रमण ब्राह्मणके समान अथवा सांप और नौलेके समान सैकडों वर्षों तक श्रमण और ब्राह्मणोंमें ऐसा ही विरोध रहा है। इस विरोधकी परम्परा पुरानी थी।

एक दिन देशमें ब्राह्मणोंका जोर था। वे परलोकके ठेकेदार थे, समाज के व्यवस्थापक और नेता थे, राजनीति-पर पूरा अंकुश रखते थे। जबतक वे योग्य थे और कुछ निस्वार्थभावसे वह काम करते थे तबतक वे निःप्रतिद्वंद रहे, पर जब प्रतिष्ठा आदिके मदमें अपनी शक्तिका दुरुपयोग करने लगे, ज्ञानके विकासमें तथा युगके अनुसार समाजके सुधारमें बाधक बनने लगे तब इनके विरोधमें विचारधारा खडी हुई। कुछ ऐसे लोग खडे हुए जो इनकी अपेक्षा अधिक त्यागी, अधिक सुधारक, अधिक विचारक और अधिक परि-श्रमी थे, ये श्रमण कहलाये। यह परम्परा तीन साढे तीन हजार वर्षोंसे कम पुरानी नहीं है। पर श्रमणोंमें महत्वपूर्ण जो पुराने व्यक्ति मिल रहे हैं वे हैं पार्श्वात्योंके तीर्थंकर म. पार्श्वनाथ। जो आजसे पौने तीन हजार वर्ष पहिले क्रांतिका बिगुल बजा रहे थे। पर इसके बाद जो श्रमणोंमें शानदार व्यक्तित्व दिखाई देता है वह है जैनतीर्थंकर म. महावीर का, और बौद्ध तीर्थंकर म. बुद्ध का। इनके द्वारा श्रमणोंकी क्रांति सफल हुई और पराकाष्ठा पर पहुँची। और इसके बाद श्रमण ब्राह्मणोंका विरोध भी बढा यहांतक कि दोनों सांप और नौले की उपमाके पात्र होगये।

पर एकदेशमें दो संस्कृतियाँ सदाके लिये लडती हुई नहीं रह सकती दोनोंको छिलछिलाकर कुछ आदान प्रदान कर एक होना पडता है, यही श्रमण ब्राह्मणोंका हुआ। कहने के लिये नाम रह गये पर प्राण एक होगये। यों दोनों के मूलमें यह अन्तर था

	ब्राह्मण	श्रमण
१	ईश्वर वादी	अनीश्वर वादी
२	स्वर्ग परायण	मोक्षपरायण
३	जन्मजाति माननेवाले	जन्मजाति न माननेवाले
४	ब्राह्मणको श्रेष्ठ माननेवाले	न मानने वाले
५	स्पृश्यास्पृश्य माननेवाले	न मानने वाले
६	यज्ञ पूजा से देवताओंको खुश करनेवाले	यज्ञ विरोध करनेवाले
७	गृहस्थ प्रधान	संन्यास प्रधान
८	चार आश्रम नियम मानने वाले	आश्रम नियम न मानने वाले
९	पशु बलि करनेवाले	पशु बलि विरोधी
१०	मांसभक्षी	मांसभक्षण विरोधी
११	साम्राज्यवादी	मानवतावादी
१२	वेद माननेवाले	वेद न माननेवाले

ये मुद्दे मैंने किसी क्रमसे नहीं लिखे हैं ज्यों ज्यों ध्यान में आते गये लिखता गया। इनके बारेमें सात बातें विचारने है। १-ब्राह्मण संस्कृतिने जब इन बातोंको अपनाया तब इनमें कहांतक औचित्य था ? २-श्रमणोंने जब इनका विरोध किया तब उसमें कहांतक औचित्य था ? ३-संघर्षके बाद दोनोंने एक दूसरेसे क्या लिया ! ४-इस आदान प्रदानके बाद सत्यांश और असत्यांश क्या पल्ले पडा !

इसके बाद दोनों संस्कृतियोंके बारेमें यह भी सोचना है कि ५-सामूहिक रूपमें ये दोनों संस्कृतियाँ कितने अंशमें मिलचुकी हैं और कितने अंशोंमें अलग अलग हैं। ६-लोक कल्याण की दृष्टिसे इनके भेदको पनपाना है या अभेदको पनपाना है, अतीतका पुनरुज्जीवन करना है या अनागतका स्वागत करना है। या कितने अंशमें क्या करना है ? यहां मैं इन बातोंपर यथाशक्य संक्षेपमें विचार करता हूं।

१ ईश्वर वाद

ब्राह्मण संस्कृति मूलमें ईश्वरवादी नहीं है । उसके पुराने दर्शन पूर्वमीमांसा, सांख्य, उत्तरमीमांसा (वेदान्त) अनीश्वर वादी हैं । हां ! न्याय, वैशेषिक और योग, ये तीन दर्शन ईश्वरवादी हैं । इसप्रकार छः दर्शनोंमें आधे ईश्वरवादी और आधे अनीश्वरवादी हैं । फिर भी यह कहना पडता है कि हिन्दूधर्मके निर्माणके पहिले ही ब्राह्मण संस्कृतिमें ईश्वरवाद जोरपर आगया था । और उसके बीज तो पुरानेसे पुराने हैं । श्रमण संस्कृतिमें ईश्वरवाद नहीं पाया जाता । वैज्ञानिक दृष्टिसे कौनसा वाद ठीक है या कितने अंशोंमें ठीक है इसका निर्णय कठिन है । हां ! तर्कके मैदानमें अनीश्वर=वाद = ही जोरदार साबित होगा । पर उपयोगिताकी दृष्टिसे दोनोंमें गुण और दोनोंमें दोष हैं और दोनों की खिचडी भी पक गई है ।

ईश्वरवादका गुण यह है कि मनुष्य घोर संकटमें भी अनाथताका अनुभव नहीं करता, और अपने कर्तृत्वमें अहंकारी नहीं होता । दोष यह है कि मनुष्य भक्तिसे ईश्वर को प्रसन्न करनेकी आशा लगा बैठता है और बिना फल भोगे पापके दंडसे बचनेकी और कोई सत्कर्तव्य किये बिना भक्तिसे ही स्वर्ग पानेकी आशा लगा बैठता है । कर्तव्य की जिम्मेदारी शिथिल पड जाती है ।

अनीश्वर = वादी ईश्वर = वादी की अपेक्षा तर्ककी तरफ अधिक झुका होता है, और विश्वकी व्याख्या करनेमें उसकी वैज्ञानिकता बढी चढी होती है । अन्धविश्वास कम होता है । कर्तव्य की जिम्मेदारी अधिक होती है । भक्तिसे किसीको खुश करके पापफलसे बचने की तथा मुफ्त का पुण्यफल पाने की आशा नहीं होती । यह गुण है । दोष यह है कि उसमें कर्तृत्व की अहंवृत्ति ज्यादा होती है, उसमें ईश्वरके पैगम्बर की नम्रता नहीं होती, किन्तु ईश्वरके आसनपर बैठने का अहंकार होता है । यहांतक कि वह अनिवार्य हो जाता है । ईश्वरवादी मुहम्मद सबको अल्लाह की इबादत की सलाह देते हैं पर निरीश्वरवादी बुद्ध " बुद्धं शरणं गच्छामि ' का मंत्र सिखाते हैं । या अनीश्वरवादी महावीर खुदको अरहंत कहकर णमो अरहंताणं पहिला मंत्र बताते हैं । इसमें उनका अपराध नहीं, स्वार्थ भी नहीं, वे निरुपाय हैं । लोगोंको कोई न कोई अवलम्बन चाहिये, इससे इनकार नहीं किया जासकता । और जब ईश्वर नहीं है तब खुद ही ईश्वर की जगह भरे बिना गुजर नहीं ।

ईश्वर वादमें ईश्वरको सर्वज्ञ मानकर उसके नामकी छापसे शास्त्रोंमें प्रमाणता लाई जाती है, अनीश्वर वादमें खुद को ही ईश्वर के समान या उससे भी कुछ बढकर अपने को सर्वज्ञ मनवाना पडता है । नहीं तो शास्त्र पर छाप कैसे लगे । इस प्रकार अनीश्वरवाद में जहां कुछ गुण हैं वहां दोष भी कम नहीं है । सदुपयोग दोनोंका किया जा सकता है, दुरुपयोग भी दोनोंका होता है ।

पर इस दृष्टिसे श्रमण और ब्राह्मणोंमें कोई अन्तर नहीं रहा है । न्याय ग्रंथोंमें इस विषयमें खूब वाद हुआ है और इस अखाडेमें अनीश्वर वादियोंने कदाचित् मैदान मार लिया है । पर इस आखाडेके बाहर जीवन मैदानमें ईश्वरवाद विजयी हुआ है । यहां तक कि अनीश्वर वादियोंके धर्मशास्त्र भी ईश्वर वादके सामने पूर्ण आत्मसमर्पण कर चुके हैं ।

जब एक जैन तीर्थंकर की मूर्त्ति के सामने खडे होकर गद्गद स्वर में गाता है—

' मोय तारो प्रभू मोय तारो । मोरे औगुन न विचारो । तब अनीश्वर वाद सो ही नहीं जाता, किंतु निष्प्राण होजाता है ।

यह एक अपढ की उक्ति है और अपढ ही इसे काम में लेते हैं ऐसी बात नहीं है । संस्कृत प्राकृत पाली साहित्य ऐसी उक्तियोंसे भरा पडा है । श्रमणोंमें तीर्थंकर को रिझाने के ऐसे स्तोत्र भरे पडे हैं जैसे ईश्वर वादियोंमें ईश्वर को रिझानेके ।

स्तुति स्तोत्र ही तो ईश्वर वाद अनीश्वर वादकी कसौटी है और उन्हीं में अनीश्वर वाद पराजित है । पर यह पराजय यहीं तक नहीं है पर और गहरी है। कथासाहित्य भी इस पराजयका प्रमाण है । एक मेंढक तीर्थंकर की भक्ति में मत्त होकर वन्दना करने को जाता है और रास्ते में मर जाता है । बस ! इस भक्ति के प्रताप से वह स्वर्ग में महर्द्धिक देव होजाता है । इससे सस्ता पुण्य तो ईश्वरवाद के बाजार में भी नहीं बिकता । ऐसी ऐसी सैकडों कथाओं से अनीश्वर वादी श्रमणों का साहित्य भरा पडा है ।

इतना ही नहीं सैद्धान्तिक दृष्टि से भी इन बातों का समर्थन किया गया है । जिनेन्द्र भक्तिसे किस तरह पुण्य बन्ध होता है अथवा किन किन उपायों से कर्मफलसे बचकर प्राणी निर्जरा कर दिया जाता है ।

इसका सूक्ष्म और सैद्धान्तिक विवेचन किया जाता है। मनुष्य-भक्षी सौदास किस प्रकार ध्यानसे अपने कर्म नष्ट कर, बिना उनका फल चखे मुक्त हो जाता है। इसके समर्थनमें सिद्धांत भरे पडे हैं। मतलब यह कि जिसप्रकार ईश्वरवाद में बुराई थी कि मनुष्य ईश्वर के भरोसे कर्तव्यमें शिथिल हो जाता है वही बात इस अनीश्वर वाद में भी पाई जाती है। यही कारण है कि बौद्धों में महायान सम्प्रदाय पनपा, और जिसके सामने ईश्वर के दोष भी फीके पड गये।

अनीश्वर वाद में एक विशेशता यह थी कि उनमें अन्धविश्वास कम और वैज्ञानिकता अधिक थी, पर इस मामले में श्रमण ब्राह्मणों में विशेष अन्तर नहीं रहा है।

शास्त्र वचनों आदिमें तो दोनों अन्धविश्वासी हैं बल्कि ब्राह्मणों की अपेक्षा श्रमण ज्यादा अन्धभक्त हैं। ब्राह्मण तो 'उत्तरोत्तर-मृषीणाम्प्रामाण्यं' 'कलौ पाराशरः स्मृतः' आदि कहकर यह मान लेते हैं कि देशकाल को देखकर ऋषियोंकी प्रधानता बदलती भी है आदि। ऐसी स्पष्ट गुंजाइश श्रमणोंमें नहीं है।

विश्वरचना की व्याख्या और रूप तो दोनों का गया बीता है। आज के विज्ञान के साथ दोनों ही मेल नहीं बैठा पा रहे हैं। फिर भी यों कहना चाहिये कि ब्राह्मण संस्कृति में विज्ञान के साथ मेल बैठने की कुछ गुंजाइश निकलती है। ब्राह्मणों के वर्णन रूपक या अलंकार कहे जा सकते हैं इसलिये विज्ञानमें इतनी बाधा नहीं डालते, पर श्रमणों ने उसकी रूपकता छीनकर उसे वैज्ञानिक जामा पहिना दिया है। ब्राह्मण संस्कृतिमें श्री ह्री धृति कीर्ति लक्ष्मी बुद्धि देवियों को आत्मा के गुण कहकर वैज्ञानिक क्षेत्र की बाधा बनने से रोका जा सकता है। पर श्रमणों में तो ये देवियाँ अमुक पहाड के अमुक तालाब के अमुक द्वीप में रहनेवाली देवियाँ हैं जिनका शरीर उम्र आदि यों हैं इस प्रकार वर्णन कर दिया है कि उनकी रूपकता की गुंजाइश नष्ट हो गई है। ब्राह्मणों का रावण पहाड सरीखा था इसे अलंकार कहा जा सकता है, पर श्रमणोंका रावण कालनियम के अनुसार वास्तव में डेढसौ फुट (सौ हाथ-पच्चीस धनुष) का था इसे अलंकारोक्ति नहीं तथ्योक्ति मानकर चलना पडता है।

इसमें सन्देह नहीं कि श्रमणों ने यह सब सुधार वैज्ञानिक-दृष्टिसे किया था और अपने युग में वह अमुक दृष्टि से सफल भी हुआ था। पर आज वह असफल है, अन्धविश्वास है। और ब्राह्मण संस्कृति की अपेक्षा कुछ मजबूत अन्धविश्वास है।

एक जैन विद्वान ने यह ठीक ही कहा था कि हमारी गप भी दूसरों से बढचढकर है। अणिमा महिमा आदि के वर्णन खूब बढकर हैं। कमल की नालमें चक्रवर्ती की सेना समा सकती है ऐसी ऋद्धियाँ यहां हैं। ईश्वर का ध्यान करने से मगर से हाथी को बचाने के लिये ईश्वर को आना पडा तो यहां भी वह काम जिनेन्द्र का नाम लेने से किसी देव को करना पडा। इतना ही फरक हुआ कि ईश्वरवाद में ईश्वर को गरीब आदमी की तरह बहुतसी सेवाएँ खुद करनी पडती हैं जब कि अनीश्वर वाद में बडे आदमियों की तरह वे सेवाएँ नौकरों से- देवों से-कराई जाती है बाकी अन्धविश्वास पूर्ण मनोवृत्ति में कोई फर्क नहीं।

मतलब यह कि ईश्वर अनीश्वरका भेद होनेपर भी श्रमण ब्राह्मणों की मनोवृत्ति एक सी है इसलिये इस दृष्टि से दोनों संस्कृतियों को अलग अलग कहनेका आज कोई अर्थ नहीं है।

२-स्वर्ग मोक्ष

ब्राह्मण संस्कृति मूलमें स्वर्ग परायण ही थी दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति में उसका विश्वास नहीं था। पूर्वमीमांसा में धर्म का लक्षण दुःख का पूर्व नाश नहीं कहा गया, किंतु दुःख से अधिक सुख पैदा करना (दुःखाधिक सुख जनकत्वम्) कहा गया। विज्ञानकी कसौटी पर यही मत ठीक उतरता है पर स्वर्ग मोक्ष की आलोचना करने का यह स्थान नहीं है। यहां तो मैं यह कहना चाहता हूं कि यह बात निश्चयसे कही जा सकती है कि कमसे कम दो हजार वर्ष से श्रमण ब्राह्मण दोनों मुक्तिवादी हो गये हैं। न्याय वैशेषिक आदि, यहां तक कि अनीश्वर वादी सांख्य दर्शन भी मोक्षवादी है। इसकी आलोचना करने की भी यहां जरूरत नहीं है कि श्रमणों से इन दर्शनों ने मुक्ति वाद लिया या इन दर्शनोंसे श्रमणों नें मुक्तिवाद लिया। मोक्ष न मानने वाली स्वर्ग परायण ब्राह्मण संस्कृति तो कभी की लुप्त हो चुकी। हालां कि सत्य तथ्य की दृष्टि से यह ठीक नहीं हुआ। पर ठीक हुआ हो या गैर ठीक आज तो इस विषयमें दोनों एक हैं। और दो हजार वर्ष से अधिक समय से एक हैं।

३--जातिपांति

ब्राह्मण संस्कृति ने मनोवैज्ञानिक और आर्थिक दृष्टि से एक दिन वर्णव्यवस्था की थी। वर्ण व्यवस्था करनेमें कोई पक्षपात किया गया था ऐसा नहीं कहा जा सकता, हलां कि यह सम्भव

है कि अनार्यों के साथ कुछ अन्याय होगया हो। वर्णव्यवस्था एक दिन वास्तव में व्यवस्था थी, और सुव्यवस्था थी। पर सदा वह सुव्यवस्था रह नहीं सकती थी। क्योंकि बुद्धि रुचि आदि वंशपरम्परा के लिये सुरक्षित नहीं रह सकते थे। यह स्वार्थ आदि कारणोंसे भी इसका दुरुपयोग हुआ। सैकडों जातिभेद बन गये, जिसका सम्बन्ध गुणों से नहीं जन्म से था। श्रमणों ने इसका विरोध किया, जो उचित था। पर विरोध गृहस्थों में कोई विशेष अन्तर पैदा नहीं कर सका।

आज तो हालत यह है कि श्रमणपंथी और ब्राह्मण पंथी दोनों ही जातिभेद के शिकार हैं और दोनों में इस विषय में क्रांति करने वाले हैं।

हां! वर्णव्यवस्था का जो अधिक रूप है उसे तो कई हजार वर्षसे तोड दिया गया है। ऐसी हालत में जातिपांति आदि के मामले में श्रमण और ब्राह्मणों में कोई अन्तर नहीं रह गया है।

जातिपांति तोडने के मामले में श्रमणपंथी और ब्राह्मणपंथी लोगों से बढकर काम किया ईसाइयों ने, और उनसे भी अधिक व्यापक काम किया मुसलमानों ने। अब तो इस विषय में श्रमणपंथी ब्राह्मणपंथी दोनों को इनसे बहुत कुछ सीखना है।

४-ब्राह्मण श्रेष्ठता

ब्राह्मण वर्ण जब बनाया गया तब वह उचित था। एक ऐसा वर्ग, जो विद्वान हो, त्यागी हो, वह समाज की प्रबल शक्तियों का मार्ग दर्शन करे अंकुश रक्खे, इसके लिये यह वर्ण था। क्षत्रिय लोग राज्य करते थे, वैश्य लोग धन कमाते थे, ये दोनों प्रबल शक्ति थे पर इनके ऊपर ब्राह्मण था जो इन दोनों को डांट सकता था, शिक्षण के द्वारा इन वर्गों के जीवनों का निर्माण करता था और जिसके पास गरीब से गरीब आदमी पहुंच सकता था। जिनके लिये राजदर्बार का द्वार बन्द था श्रीमन्तों के भवन अगम्य थे उनके लिये ब्राह्मण की झोपडी का द्वार खुला रहता था और उस झोपडी के द्वारा उनकी आवाज राजमहलों के भीतरी तल तक गूंज जाती थी। उस जमाने का क्षत्रिय नेहरू पटेल था तो ब्राह्मण गांधी था। उस जमाने में यह व्यवस्था बहुत अच्छी थी और जन्मजातिसे सम्बन्ध न रहे और गुणों से सम्बन्ध रहे तो आज भी जरूरी है।

पर यह व्यवस्था भी दुनियांकी सब व्यवस्थाओंके समान जीर्ण और निष्पण हुई। ब्राह्मणों में गुणोंकी कमी हुई त्याग की कमी हुई, वे क्षत्रियों और वैश्योंके भाट और दलाल बनकर रह गये। युग के अनुसार सुधार तो कर ही न सके बल्कि उन सुधारों के रास्ते में बाधक बने। ऐसी हालतमें ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का नाश अवश्यम्भावी हुआ हो चाहे न हुआ हो पर आवश्यक होगया था।

यह काम श्रमणों ने किया। श्रमण सुधारक या क्रांतिकारी थे, त्यागी थे और ज्ञानमें भी कम नहीं थे। बल्कि शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभव का ज्ञान अधिक होने से इसका ज्ञान युग के लिये मूल्यवान था। इन्होंने ब्राह्मणोंका स्थान उखाडा और इन्हें काफी सफलता मिली। और वह सफलता सिर्फ ब्राह्मणों को उखाडने में नहीं थी किन्तु समाज में क्रांति करने में भी थी।

फिर भी श्रमणों ने ब्राह्मण श्रेष्ठता की मूल बात को स्वीकार किया। जैन शास्त्रका यह कथन कि भरत चक्रवर्ती ने उन लोगोंका ब्राह्मण वर्ण बनाया जो संयम में दयामें अधिक थे, इस बातकी निशानी है कि श्रमण भी किसी न किसी रूप में ब्राह्मण श्रेष्ठता स्वीकार करते थे। पर चूंकि ब्राह्मण वास्तवमें ब्राह्मण नहीं रह गये थे, वे स्वयं रूढियों के शिकार तथा रोटियों और प्रतिष्ठा के गुलाम हो गये थे इसलिये श्रमणों ने उनका विरोध किया और उचित किया। और बहुत कुछ सफलता भी पाई।

फिर भी ये ब्राह्मणों को पूरी तरह उखाड न सके। इसका मुख्य कारण यह था कि श्रमण लोग ब्राह्मणोंके समान समाज के अंग या दिनरातके साथी नहीं रह जाते थे। वे संसार से विरक्त और मोक्षार्थी होते थे। जन्म मरण विवाह आदिके अवसरों पर श्रमण किसी काम न आते थे। यहां तक कि शिक्षण संस्था आदि किसी कार्य की जिम्मेदारी न लेते थे। फल यह हुआ कि समाज ने उनकी बात सुन तो ली, कुछ मान भी ली, और सन्मान पूजा भी कर ली पर वह ब्राह्मणों को छोड न सका। क्योंकि श्रमण उनकी सारी आवश्यकताओं को पूरा नहीं करते थे।

श्रमण संस्थामें दाम्पत्य को कोई स्थान न था इसलिये उन्हें ब्रह्मचर्य के लिये काफी देहदमन आदि करना पडता था। समाज से उदासीन भी बनना पडता था, सम्पर्क से बचना पडता था। जो सम्पर्कमें आये वे चरित्रहीन होगये इसलिये वे दोनों तरफ से गये और अपनी श्रमण संस्थाको डुबा बैठे। जैन श्रमण पहिली श्रेणी में आते हैं। वे उदासीनता के कारण ब्राह्मणों का स्थान न ले पाये। दूसरी श्रेणीमें बौद्ध श्रमण आते हैं। उन्होंने समाज के भीतर सेवा का क्षेत्र बढाया

*

पर चारित्रहीन होकर अपनी श्रमण संस्था ही डुबा बैठे। इस तरह ब्राह्मण संस्था फिर पुनरुज्जीवित हो गई।

पुनरुज्जीवित हुई लेकिन उसका कायाकल्प होगया। उसे श्रमण संस्थाको आत्मसात् करना पडा। श्रमणों के समान ब्राह्मण संस्थामें भिक्षुक होने लगे, सन्तपरम्परा पैदा हुई, यज्ञयाग बन्द हुए, जैन श्रमणों के व्यापक प्रभावसे मांसभक्षण रुका, ब्राह्मणेतर सन्तों का भी प्रभाव बढा। वर्ण व्यवस्था का बन्धन टूट गया। इसके बाद मुसलमानों के राज्य से, फिर अंग्रेजोंके राज्यसे ब्राह्मणोंका प्रभाव और भी क्षीण हुआ और अब जो स्वतन्त्र भारतका संविधान बना है उसमें ब्राह्मणोंको कोई विशेषाधिकार नहीं है। इस प्रकार ब्राह्मणश्रेष्ठता समाप्त-प्राय है, न केवल श्रमणपंथियोंमें किन्तु ब्राह्मणपंथियों में भी।

५ स्पृश्यास्पृश्य

वर्ण व्यवस्था के विकारों में सब से खराब रूप था स्पृश्यास्पृश्य की दुर्वासना। इसके कारणोंमें अस्पृश्य कहलाने वालों का अविकास, गंदगी आदि कारण भी रहे होंगे पर पीछे से इसने जातिमद का भयंकर रूप धारण कर लिया था। श्रमणों ने इसे तोडने की कोशिश की। पर बहुत कम सफलता मिली। इस मामले में वे गृहस्थों के लिये तो कुछ भी न कर सके, क्योंकि गार्हस्थ्याश्रम से वे काफी दूर थे। हां! प्रारम्भमें इन्होंने साधुसंस्था में इसे तोडनेकी कोशिश की। और इस तरह का कथा साहित्य भी बनाया। पर पीछे तो इतना सुधार भी ग्रंथोंमें लिखा रह गया, श्रमणों की साधुसंस्था भी इस सुधार को अपनाये न रह सकी। इसके बाद धार्मिक ग्रंथ भी ऐसे बनाये गये जिनमें कुछ लोगों को जन्म से अस्पृश्य मान लिया गया था। पिछली कई शताब्दियों से श्रमण और ब्राह्मणों में इस विषयमें कोई अन्तर नहीं रह गया है। मुसलमानों और ईसाइयों के प्रभाव से ब्राह्मणपंथियोंमें अस्पृश्यता-निवारण की कुछ आवाज उठी है पर श्रमणपंथी इस विषयमें स्वतंत्रता से अपनी कोई आवाज नहीं उठा पाये हैं।

६ यज्ञपूजा

यज्ञोंमें नाना तरह का प्राणीवध करके देवताओं को खुश करने का विधान ब्राह्मण धर्ममें था। इस बौद्धिक दासता और नृशंसता का विरोध श्रमणों ने किया। इस प्रयत्न में आधी बुराई मिटी और आधी रह गई वह किसी रूपमें श्रमणों ने भी अपना ली।

यज्ञों का पशुवध मिटा पर देवताओं को खुश करने की भावना श्रमणों में भी आगई। हां! उन्होंने देवता जरूर बदले, पर खुश करने की मनोवृत्ति में कोई फर्क न रहा। जिनेन्द्र के प्रसाद से बुद्ध के प्रसाद से बोधिसत्त्वों और जिनबुद्धों के भक्तदेवों के प्रसाद से ऐहिक पारलौकिक सफलताएँ मिलने की भावना यहां भी जोर कर गई। इस दिशा में पिछले दो हजार वर्षोंमें असीम साहित्य तैयार हुआ। आज श्रमण और ब्राह्मण दोनोंमें यह बीमारी है और नये बुद्धिवाद से इसे हटानेकी, या शुद्ध करने की जरूरत है।

७ गृहस्थ और संन्यास

ब्राह्मण संस्था गृहस्थप्रधान थी। संन्यास का विधान सिर्फ बुढापे के लिये था। श्रमणों को क्रांति करनी थी जिसका प्रारम्भ बढापे में किया नहीं जासकता था, और गृहस्थों के पास धार्मिक क्रांति के लिये न तो समय था न प्रभाव। इसलिये वर्णव्यवस्था के समान श्रमणों ने आश्रम व्यवस्था भी तोडी। और इसमें वे करीब करीब पूर्ण सफल हुए। ब्राह्मणपंथियों पर भी श्रमणों का ऐसा असर पडा कि उनमें भी युवक साधु होने लगे, 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, [सन्तानहीन का परलोक नहीं सुधरता] का डर निकल गया। और आज ब्राह्मणपंथी समाज भी लाखों साधुओं के बोझसे दबा जा रहा है। अब संन्यासप्रधानता को कम करने की जरूरत है। कुछ इने गिने अपवादों को छोडकर आश्रम व्यवस्था ही ठीक है। उसका प्रसार करना चाहिये। हां! कुछ सामयिक सुधार उसमें अवश्य होंगे। संन्यास के लिये होने वाली नारीनिन्दा हटाना पडेगी। और दम्पति साधुओं, वानप्रस्थों को महत्त्व देना पडेगा जो अपने उद्धार के ही लिये नहीं किंतु जनसेवा की मुख्यतासे साधुता स्वीकार करें।

८ चार आश्रम

ऊपर की बात से चार आश्रम की व्यवस्था पर प्रकाश पड गया है। श्रमणों के प्रभाव से आश्रम व्यवस्था टूट गई और आज वह बिलकुल निःशेष है। हां! ब्राह्मण शास्त्रों का इतना प्रभाव अवश्य पडा कि श्रमण ग्रंथोंमें भी चार आश्रमों के समर्थन के विधान बन गये। संन्यास की भूमिका के रूपमें जो वानप्रस्थाश्रम था वह यहां प्रतिमा आदि के नाम से काफी परिवर्तित रूप में आ गया। पर दोनों संस्कृतियों के इस आदान प्रदान के बाद व्यावहारिक क्षेत्रमें विजय श्रमणों की हुई कि आश्रम व्यवस्था टूट गई। हालां कि इससे लाभ कम और हानि अधिक हुई।

९ पशुबलि

ब्राह्मण संस्कृतिमें यज्ञोंमें हिंसाकांड होते थे। पर यह सब स्वाभाविक था। आदिम युगमें, जब कृषिका विकास नहीं हुआ था तब मनुष्य मांस पर ही गुजर करता था। और अग्नि जलाने का ज्ञान न होनेसे कच्चा मांस खाता था। पर जब धीरे धीरे उसने लकडियों को रगडकर आग जलाना सीखा, और पकाये गये मांसमें स्वाद की विशेषता पाई तब वह मांस पकाकर खाने लगा। पर हर आदमी को आग जलाना आता नहीं था, वह एक कला थी जो खास खास कलाविदों को आती थी, इसलिये उनकी प्रधानता में आग जलाने के उत्सव होने लगे, लोग सामूहिक रूपमें मांस पकाकर खाने लगे। उस युग में मांसत्यागकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। पूजा में पशुबलिका एक कारण यह भी था कि जो समाज जो कुछ खाता है वही अपने इष्टदेव को चढाता है। जो लोग मांस नहीं खाते वे देवताओं को भी मांस नहीं चढाते। अपवाद रूपमें किसी पुरानी रूढि के नाम पर कभी कुछ कर जाँय यह दूसरी बात है। पर साधारण नियम यह है कि पूजा की भेंट, मनुष्य के अपने खानपान की अपेक्षासे होती है। इसलिये उस आदिम युग में जब कि मांस भोजन-बिना मनुष्य का चल नहीं सकता था, मनुष्य पूजा में भी मांस चढाता था। इसमें न कोई अस्वाभाविकता थी न अपराध।

पर जब मनुष्य कृषिजीवी होगया, या खेती करना सीख गया तब मांसभक्षण पर विचार पैदा हुआ, लेकिन कुछ तो पुरानी आदत के कारण और कुछ जानवरों से खेती की रक्षा के लिये पशुवध होता रहा। अमुक अंश मे वह भी आवश्यक था, इसलिये पशुबलि या मांसभक्षण के लिये हम ब्राह्मण संस्कृति को दोषी नहीं ठहरा सकते।

पर जब खेती काफी बढ गई, और कुछ जानवर पालतू भी होगये तब जानवरों के विषयमें भी मनुष्य के हृदयमें एक तरह की कौटुम्बिकता का भाव पैदा हुआ और पशुहिंसा से किसी किसी मनुष्य का हृदय कांपने लगा। इस दया और वात्सल्यके भाव को पनपाने का काम किया श्रमणों ने। बाहरी परिस्थिति ऐसी आगई थी कि यह भाव पनप सकता था और वह पनपा।

यज्ञहिंसा का विरोध आर्थिक दृष्टि से भी आवश्यक हो पडा था, और अन्न की पर्याप्तता ने मनुष्य की कोमल वृत्तियों को भी पनपाया था इसलिये म. महावीर और म. बुद्ध ने जब यज्ञहिंसा के विरोध में आवाज उठाई तो उस आवाज को सुन-नेवालों का एक दल खडा हो गया। और श्रमणोंको इस विषय में इतनी अधिक सफलता मिली कि यज्ञ नामशेष हो गये। आज इस देश में जो पशुवध वाले यज्ञों का अन्त हो गया है, और स्वामी दयानन्दजी सरीखे वैदिक आचार्यों ने यज्ञों के अर्थ बदल कर जो अहिंसक यज्ञ बना दिये हैं उसका श्रेय श्रमणों की विजय को है। इस विषय में श्रमण संस्कृति अपना देय दे चुकी और पूरी सफलता के साथ दे चुकी।

१०—मांसभक्षण

ऊपर पशुबलि प्रकरण में मैं दिखला चुका हूं कि मांसभक्षण क्यों जरूरी था और पीछे कृषिविकास के कारण क्यों अनावश्यक हो गया। फिर भी अगर म. महावीर न आते तो जो कई करोड आदमी इस देशमें मांसके त्यागी दिखाई देते हैं, वे दिखाई न देते। यद्यपि म. बुद्धने भी यज्ञहिंसाका घोर विरोध किया था, पशुवध का भी विरोध किया था, पर मृतमांस भक्षणकी अनुमतिने इस विरोध को बेकार बना दिया था। जिन्दे जानवरोंको कौन चबाता है और सब आदमी मांस खाने के लिये जानवर मारते भी नहीं बना बनाया मांस खाते हैं, ऐसी अवस्था में मुर्दे मांस और जिन्दे मांस का विवेक रहना अशक्य था। ऐसा ही हुआ बौद्ध धर्ममें प्रायः सभी लोग मांस खाते हैं। हां कहीं कहीं म. बुद्धका वचन रखनेके लिये इतना अवश्य करते हैं कि बौद्ध लोग मांस की दूकान नहीं खोलते, कसाईघर नहीं चलाते। यह काम मुसलमानों के जिम्में छोड दिया गया है, बौद्धों के जिम्में सिर्फ मांस खाना है। इससे हिंसा तो नहीं रुकी है सिर्फ आर्थिक दृष्टि से बौद्धों के हाथ से एक धंधा छिन गया है, जैसा कि लंका में हो रहा है।

इस विषय में संसार के सबसे बडे पैगम्बर हैं म. महावीर। उन्हीं के उपदेशों और मिशनरी संगठन का यह प्रभाव है कि इस देशमें करोडों आदमी मांसत्यागी हैं। सिर्फ उनके माननेवाले जैन ही नहीं, किन्तु करोडों ब्राह्मणपंथी भी हैं विष्णु के अवतारों ने शिकार किया, मांस खाया था पर आज वैष्णवी दीक्षा का मुख्य विधान बना है मांस त्याग। यह म. महावीर के उपदेशों का और उनके संगठन का प्रभाव है। इस विषय का, इतना बडा पैगम्बर संसार में दूसरा नहीं हुआ।

पर अब यह श्रमणों की विशेषता नहीं है या नहीं रह गई है। श्रमणपंथियों में जहां कुछ लाख जैन ही मांसत्यागी हैं वहां

ब्राह्मणपंथियों में कई करोड वैष्णव मांसत्यागी हैं। आर्यसमाज आदि ने तो वेदों की व्याख्या बदलकर मांसविरोध के पक्ष की पुष्टी कर डाली है।

११-साम्राज्यवाद

ब्राह्मण संस्कृति मूलमें साम्राज्यवादी हो तो इसमें आश्चर्य नहीं है। क्योंकि वह संस्कृति आर्यों के इस देश में आगमन के समय की है। उस समय अनार्योंसे संघर्ष था, आर्यों को जगह जगह बसना था इसलियेसंगठित होकर दिग्विजय आदिकी योजना, उसके लिये अश्वमेध यज्ञ, आदि स्वाभाविक थे।

श्रमणों ने जब क्रांति की तब यह स्वाभाविक था कि वे पद-दलित जनता को अपनाते। अनार्य पददलित थे, श्रमणों ने उन्हें अपनाया। इसलिये वे जातिवाद से ऊपर उठे और मानवतावादी बन गये।

पर अन्त में दोनों ही साम्राज्यवादी बन गये। ब्राह्मणों में अश्वमेध यज्ञ और सम्राटों की दिग्विजय के बहुत गीत गाये गये हैं। इसप्रकार उसे धार्मिक कृत्यका रूप दे दिया गया है। श्रमणों ने भी सम्राटों के महत्त्व को बढाया है और उसे प्राकृतिक विधान बनाकर अटल बना दिया है।

श्रमणों ने चक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती सम्राटों को पुण्य पुरुष इस जन्ममें या अन्य किसी न किसी जन्म में नियमसे मोक्षगामी माना है और माना है उनकी दिग्विजयों को प्रकृति का अनिवार्य नियम और उनका आवश्यक कर्तव्य। जैनों के अनुसार भरतचक्रवर्ती ने जब छःखंड विजय कर ली पर अपने छोटे भाई को न जीता तो उनका चक्ररत्न आयुधशाला में घुसने को तैयार न हुआ अन्त में उन्हे अपना कर्तव्य पूरा करने के लिये अपने भाई से लडना पडा इसप्रकार हम देखते हैं कि साम्राज्य के समर्थन में श्रमण लोग ब्राह्मणों को भी मात कर गये हैं।

बात यह है कि साम्राज्य उस युग की आवश्यकता बना हुआ था। आर्यों के वर्चस्व के लिये ब्राह्मण लोग सब आर्यों को एक सूत्र में बांधना चाहते थे और यातायात की सुविधा के लिये श्रमण भी साम्राज्य को पसन्द करते थे।

म. महावीर को छोटे छोटे राज्य की सीमाओं पर जिस प्रकार तंग किया गया उससे एक साम्राज्य की आवश्यकता का अनुभव उन्हें भी हुआ था। पीछे से श्रमणपंथियों में जब बडे व्यापारी आगये और कदम कदम पर राज्य की सीमाओं के कारण उन्हें टेक्स चुकाना पडा, अथवा टेक्स से बचने के प्रयत्न में उन्हें कठोर दंड भोगना पडा तब वे भी एक साम्राज्य के प्रबल समर्थक बन गये। बडे व्यापारियों की इस आवश्यकता पर भी श्रमण संस्कृति और श्रमण साहित्य पर काफी असर पडा। श्रमणों का स्वर्ग भी ब्राह्मणों के स्वर्ग के समान सम्राट् इन्द्र की अधिनायकतावाला बना। इसप्रकार हम देखते हैं कि साम्राज्य के बारे में श्रमण और ब्राह्मण एक ही धरातल पर आगये।

१२ वेद

वेद ब्राह्मण संस्कृति के मूल हैं। सैकडों विद्वानों अनुभवियों (द्रष्टाओं) के सूक्तों के वे संग्रह हैं। अपने रचनाकाल में उनकी उपयोगिता निःसंदिग्ध थी। पर जब युग बदला तब उनसे काम नहीं चल सकता था। इसलिये श्रमणों ने उनका विरोध किया। पर सिर्फ विरोध से ही काम नहीं चल सकता था उसकी जगह किसी दूसरे शास्त्र को रखना भी आवश्यक था सो महावीरवचन बुद्धवचन उस स्थान पर रक्खे गये। मतलब यह कि शास्त्रों के बारे में श्रमणों और ब्राह्मणों की मनोवृत्ति में कोई फर्क नहीं हुआ, श्रद्धा के सिर्फ आधार बदले। पर ऐसा आधारभेद तो श्रमण श्रमणों में भी परस्पर था। जैन श्रमण बुद्धवचनों को नहीं मानते थे, बौद्ध श्रमण जिनवचनोंको न मानते थे।

पर आज वेद जिनसूत्र पिटक आदि सब युगबाह्य हो गये हैं। इसमें उनका अपराध नहीं है पर हजारों वर्षों में बदली हुई परिस्थिति इसका कारण है। लेकिन युगबाह्यता को न देखकर अपने अपने पुराने शास्त्रों के सब गुलाम हैं। बल्कि श्रमण कुछ ज्यादा हैं। ब्राह्मणपंथी वेदों को पूजते हैं मानते नहीं। उनमें वेदोंको माननेवाले मुट्ठीभर आर्यसमाजी ही हैं बाकी तो सब पूजनेवाले हैं। आर्यसमाजी भी वेदों का अर्थ ऐसा करते हैं जो श्रमणधर्म की ओर झुकता है। आज का साधारण हिंदू वैदिक धर्मी है भी नहीं, वह तो पौराणिक धर्मी है। यह पौराणिक धर्म वैदिक धर्म के उत्तराधिकारी के रूप में श्रमणों के संयोग से बिलकुल नया पैदा हुआ है। इसलिये आज के हिंदू धर्म को हम श्रमण और ब्राह्मण, संस्कृतिका सम्मिश्रण कह सकते हैं। हां! दोनों के समन्वयमें

कुछ कमी जरूर रह गई है। जैसा समन्वय आर्य अनार्यों, या शैव वैष्णव शाक्तों का हो सका वैसा श्रमण ब्राह्मणों का नहीं हो सका, फिर भी दोनों का सम्मिश्रण इतना अधिक हो गया है कि आज उनका अलग करना मुश्किल है। दोनों की खिचडी इसप्रकार पकी है कि दाल चावल को अलग अलग नहीं खाया जा सकता। अगर किसी तरह बीन बीन कर खाया भी जाय तो प्रत्येक दाल कण चावल के असर से और प्रत्येक चावल का कण दाल के असर से ओतप्रोत मिलेगा।

खैर! आज वेद श्रमण ब्राह्मण के विरोधमें कोई खास महत्त्व नहीं रखते।

इस विवेचन से उन सातों बातों का विचार हो जाता है जो शुरू में कही गई हैं। १–ब्राह्मण संस्कृति अपने समय में करीब करीब ठीक थी। २– श्रमणों ने जिस समय विरोध किया उस समय विरोध आवश्यक था। ३ - विरोध काफी सफल हुआ और दोनों ने ऊपर बाहर बातों में किये गये विवेचन के अनुसार काफी आदान प्रदान किया। ४--इसमें दोनों के पल्ले सत्य भी पडा और असत्य भी पडा जैसा कि यथास्थान बताया गया है। ५- अब ये दोनों संस्कृतियाँ काफी मिल चुकी हैं। जो बडा फर्क रह गया है वह यही कि हम हम हैं तुम तुम हो। ६ अब, इनके अभेद को ही पनपाना है भेद को नहीं। ब्राह्मणपंथियों के विरुद्ध श्रमणपंथियों का सम्मिलित मोर्चा नहीं बनाना है। आज तो परिस्थिति यह आगई है कि श्रमण श्रमणों में जितना भेद है उतना श्रमण ब्राह्मणों में नहीं है। जैनियों को बौद्धों में मांसत्यागी नहीं मिलेंगे या मुठ्ठीभर मिलेंगे, पर ब्राह्मणपंथियों में करोडों मिल जायँगे। जातिपांति का विचार और व्यवहार जैन ब्राह्मणों का एक है पर जैन बौद्धों का अलग।

ब्राह्मणपंथी अग्रवालों और जैन अग्रवालों में परस्पर विवाह सम्बन्ध होते हैं पर जैन बौद्धों में नहीं, बौद्धों का मेल भी जैनियों की अपेक्षा ब्राह्मणपंथियों से अधिक है, दिल्ली में बिडला ने बुद्धमन्दिर बनवाया, सारनाथ में धर्मशालाएँ बनवाईं आदि इस बात के चिन्ह हैं। इसलिये आज यह सोचना कि श्रमण श्रमण एक और ब्राह्मणपंथी एक, उल्टी विचारधारा है। आज हम अतीत के भूत को जिन्दा नहीं कर सकते। श्रमण ब्राह्मणों का सम्मिलन कभी का हो चुका है। अब तो उसे और बढाना है। ७–भविष्य का स्वागत करना है। भविष्य की समस्याएँ अब हमारे सामने दूसरी हैं। अब तो श्रमण ब्राह्मणों को मिलकर ईसाई इस्लाम आदि के साथ रिश्ता जोडना है पूर्व और पश्चिम का समन्वय करना है। आधुनिक विज्ञान के साथ धर्म का मेल बैठाना है। गंगा यमुना का संगम प्रयाग में हो चुका अब बनारस में उनमें भेदभाव नहीं किया जा सकता।

श्रमण और ब्राह्मण दोनों अतीत की निधियाँ हैं। दोनों में गुण दोष रहे हैं, दोनों अपना काम कर चुकीं, अमुक अंशमें मिल भी चुकीं अमुक अंशमें मिट भी चुकीं, अब हमारे सामने सारे संसार के साथ रिश्ता जोडने का, आधुनिक विज्ञान की सहायता से धर्मों का कायाकल्प करने का, और यातायात के शीघ्रसुलभ साधनों के द्वारा मुट्ठी भर बने विश्व के साथ एकत्व स्थापित करने का काम पडा है। आओ हम कब्रों के मुर्दे उखाडने के बदले नये मनुष्यों का स्वागत करें।

सत्याश्रम वर्धा
१९--३--५०

सत्यभक्त

संपादकीय टिप्पणी

श्री स्वामी सत्यभक्तजी, संपादक "संगम" सत्याग्रहाश्रम वर्धा, का यह लेख उनके मासिकसे लिया है। इसका कारण यह है कि इसमें कुछ बातें असत्य हैं और निष्कारण वेदके धर्मपर कलंक लानेवाली हैं। श्री स्वामी सत्यभक्तजी सच्चे सत्य भक्त हैं, अतः उनके लेखपर किसीने धर्म भावसे टीकाटिप्पणी की और उनकी भूलें दर्शायीं, तो उससे वे क्रोधित नहीं होंगे। इसी आशासे हम इस लेखको विचारी पाठकोंके सामने रखते हैं। यज्ञ, चार आश्रम, पशुबलि, साम्राज्य, मानवतावाद आदि विषयमें इस लेखके साथ हमारा मतभेद है। जो पाठक इस लेखके साथ मतभेद रखते हैं वे अपना लेख हमारे पास भेजे दें। उसको हम इस मासिकमें छापेंगे।

लेखक जैन धर्मके, अथवा श्रमणधर्मके तत्त्वोंकी भी तुलना वैदिक धर्मके तत्त्वज्ञान के साथ करें। लेखकी भाषा कटुता बढानेवाली न हो।

संपादक 'वैदिक धर्म'

—०+०—

राजयोगके मूलतत्त्व और अभ्यास

(प्रकरण ५ का)

लेखक— श्री.राजाराम सखाराम भागवत, एम्. ए.

अनुवादक— श्री. महेशचन्द्रशास्त्री, विद्याभास्कर

राजयोग में मनका उपयोग

घुडसवार के लिये जितना उपयोगी घोडा है उतना ही राजयोगमें मनुष्य के लिये मन उपयोगी है। इष्टस्थानपर पहुँचने के लिये घुडसवार के पास जैसे घोडा मुख्य साधन है उसी प्रकार उत्क्रान्ति के भावी स्थान प्राप्त करनेके लिये मनुष्य के पास मन मुख्य साधन है। मैं सुगन्ध का अनुभव कर सकूँ, ऐसा विचार मनमें उत्पन्न होने के कारण घ्राणेन्द्रिय का निर्माण हुआ, मैं श्रवण कर सकूँ इस विचार के उत्पन्न होते ही कान बन गये। पहले जीवके मनमें संकल्प उत्पन्न होता है और फिर उस संकल्प की परिपूर्ति करनेवाले इन्द्रियरूपी साधन शरीर में तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार का उत्क्रान्ति का क्रम छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित है, १ माहाभारत में—

शब्दरागात् श्रोत्रमस्य जायते भावितात्मनः।
रूपरागात् तथा चक्षुः घ्राणं गंधजिघृक्षया॥ २

ऐसा कहा है। अर्थात् आत्मामें भावना उत्पन्न होकर ध्वनि के प्रति रुचि होनेके कारण कान उत्पन्न हो जाते हैं। रूप के प्रति रुचि होने से आँखें और गन्ध की रुचि के कारण नाक उत्पन्न हो जाता है, इस प्रकार का उत्क्रान्ति क्रम वर्णित है। उत्क्रान्ति क्रम एक विशिष्ट दिशासे प्रवाहित क्यों होता है ? इस प्रश्न का उत्तर पाश्चात्य शास्त्रज्ञ अभीतक समुचित रूपसे नहीं दे सके हैं। वह क्रम आविज्ञेय है ऐसा डार्विन मतावलम्बी मानते हैं। यह मत ठीक नहीं है ऐसा कुछ शास्त्रज्ञ मानते हैं। इस लिये बर्गसन का मत है कि उत्क्रान्ति के पीछे एक सजीव प्रेरणा [Elan Vatal] है। लार्ड मॉर्गन १ आदि शास्त्रज्ञों का मत है कि उत्क्रान्तिक्रम अन्दरसे प्रस्फुरित होनेवाला है, जिस प्रकार सिनेमाकी फिल्म खुलती चली जाती है उसी प्रकारसे उत्क्रान्ति क्रम भी होता जाता है, ऐसे विचार उन्होंने प्रदर्शित किये हैं। नदीका पानी समुद्रकी ओर क्यों जाता है ! समुद्र की सतह नीचे की तरफ होती है, नदी का उगम पर्वतपर हुआ करता है तथा पृथ्वी प्रत्येक पदार्थ को नीचे की तरफ खींचती है इसलिये नदी का पानी समुद्रकी ओर सतत प्रवाहित होता है यह इसका स्पष्ट उत्तर है। उत्क्रान्ति-प्रवाह एक विशिष्ट दिशा से आगे क्यों जाता है ? इस विषयका याथातथ्य ज्ञान पाश्चात्यों को अभी तक नहीं हो पाया है। किन्तु सृष्टि के पीछे एक विश्वव्यापी ज्ञान शक्ति है, मन है और उस ज्ञानशक्ति की प्रेरणा के कारण उत्क्रान्ति प्रवाह जारी रहता है तथा उस प्रवाह के कारण ही मनुष्य सृष्टि में उत्पन्न हुआ है। उनमें मन होनेके कारण उस मनकी प्रेरणा से ही मनुष्य के शरीर में नाक, कान, आंख आदि इन्द्रियाँ पैदा होती हैं। यही हिन्दुओं के मानसशास्त्र का सिद्धान्त है।

मनका प्रभाव शरीर पर पडता है, इसका विचार करनेपर उपर्युक्त सिद्धान्त सयुक्तिक प्रतीत होता है। किसी मनुष्य को मेस्मेरिक स्थितिमें ले आनेपर उसे हुक्म किया जाय कि कल प्रातः तुम्हे शौच साफ होगी और फिर उसे जागृत कर दिया जाय तो जागने पर उसे उस हुक्म की स्मृति बिल्कुल भी नहीं रहेगी किन्तु अगले दिन प्रातःकाल उसे शौच साफ होगी। मेस्मेरिक स्थिति में मनुष्य के हात पर शीतल पानी की बूंद डाल दी जावे और उससे कहा जावे कि यह गरम किये हुए तेल की बूंद है तो उसका

१– यो वेदेदं जिघ्राणाति स आत्मा गंधाय घ्राणम् ... यो वेद इदं श्रृणवान् इति आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् (४,५,)

२– महाभारत शान्तिपर्व २१३, १६

१– इस ग्रन्थकर्ता की Emergent Evolution पुस्तक देखिये।

हात जल जाता है और दूसरे दिन वहाँ फफोला आजाता है, ऐसा अनुभव है।

इससे यह सिद्ध होता है कि मन प्रभावशाली है। सृष्टि के पीछे जो ज्ञानशक्ति है, जो मन है वह ज्ञानशक्ति और वह मन मनुष्य के पीछे भी है। क्यों कि मनुष्य सृष्टि का एक भाग है। यदि मन उत्क्रान्ति क्रम से उसे यहाँतक लेआया है तो वही मन उसे उत्क्रान्ति क्रम से आगे भी लेजा सकता है यह स्पष्ट है। इसीलिये राजयोग में मन को प्रमुख साधन माना है।

मन क्या है ?

मन प्रत्येक मनुष्य को है। मन क्या है ? इसका उत्तर यदि किसी से पूछें तो वह उत्तर देगा कि मेरे दृश्य शरीर के अतिरिक्त मेरे अन्तरङ्ग में जो ज्ञानशक्ति है वही मन है। किसी मनुष्य का ज्ञान उल्टा होगा और वह केवल वासना-भावना से निर्मित होसकता है। किसी का ज्ञान बहुत गहरा होगा और उसमें वासना-भावना से रहित तर्क, बुद्धिमत्ता, तत्वविचार, ध्येयनिष्ठा, अन्तःस्फूर्ति आदि बातें होसकती हैं। अन्तरङ्ग का ज्ञान गहरा हो या उथला हो, मनुष्य उसे मन कहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे जैसे मनुष्य अधिकाधिक विकसित होगा वैसेवैसे उसका मन अधिक गम्भीर एवं गहरा होगा और उस मनमें अधिकाधिक पदार्थ समाविष्ट होंगे। राजयोगमें अभ्यास करनेवाले (साधक) के लिये मन मुख्य कारण है, ऐसा जब हम कहते हैं तो उसका यह अर्थ है कि मनके सभी भाग उसके लिये उपयोगी पडते हैं। पाश्चात्य एवं पौर्वात्य मानसशास्त्र में मनुष्य के मनके अनेक विभाग करके उनके भिन्न भिन्न नामकरण दृष्टिगोचर होते हैं। इन सब भागों का समावेश हमारे मन शब्दके अन्दर होजाता है। अपने दृश्य शरीर के लिये मनुष्य मन शब्द का प्रयोग नहीं करता। शरीर के अन्तरङ्ग में जो रहता है उसी को वह मन कहता है।

कभी कभी उसे वह 'अहंभाव' कहता है। 'अहंभाव' शब्दके अन्तर्गत जो कुछ आसकता है वह मन है (मोटेरूपमें) ऐसा कहा जाय तो कुछ गलत न होगा। जब मनुष्य की प्रगति होती रहती है तब इस 'अहं' से सम्बन्धित उसके ज्ञान की भी वृद्धि होती रहती है और उसकी गलतफहमियाँ कम होजाती हैं। जीवात्मा, परमात्मा आदि शब्द उसके 'अहं'में तथा उसके मनमें समाविष्ट होजाते हैं। तब भी वह मन एवं अहंभाव इन्ही शब्दों का उपयोग किया करता है। अर्थात् राजयोग में मन मुख्य साधन है, ऐसा जब हम बोलते हैं, तब हमें यह न भूल जाना चाहिये कि मन चक्री से खुलते जानेवाले धागे की तरह निरन्तर विकसित तथा दीर्घ होनेवाला पदार्थ है।

आज जिसे हम मनुष्य का मन कहते हैं वह क्या है ? वर्तमान परिस्थिति में मनुष्य जिसे 'अहं' कहता है, 'मेरा मन' कहता है, वह वास्तवमें क्या है ? किसी भी वस्तुपर दो दृष्टियों से विचार किया जासकता है। एक तो उसे आकार, रूपरंग, द्रव्य आदि जड, बहिरङ्ग दृष्टिसे देखा जाता है तथा दूसरे प्रकार से चैतन्य, जीवन आदि अन्तरङ्ग दृष्टि से देखा जासकता है। जैसे एक कुत्ते का वर्णन दो दृष्टियोंसे किया जा सकता है। आकृति के अनुसार बहिरङ्ग दृष्टिसे यह होसकता है कि वह सफेद रंग का दो फीट ऊँचा है, उसकी आँखे नीली हैं, वह हमेशा पूँछ हिलाया करता है, दिनमें मालिक की कुर्सी के नीचे सोता रहता है और रातको घर के आहते में खडका होते ही भूँकने लगता है। अन्तरङ्ग दृष्टि से वर्णन करना हो तो यों करेंगे कि कुत्ता बडा विश्वासपात्र प्राणी है; घरमालकपर उसका प्रेम है, मालक के घरकी रक्षा करने की भावना उसमें है, ममत्व के कारण मालिक के घर चोरी न हो ऐसी उसकी कामना रहती है अर्थात् प्रेम, विश्वस्तता आदि गुणों का विकास जिस जीवमें खूब हुआ है, वही यह कुत्ता है।

उत्कर्ष की वर्तमान अवस्था में मन के लिये भी दोनों दृष्टियों से विचार कर लेना चाहिये; जिससे मनके विषयमें यथार्थ कल्पना हमें हो सकती है। आकार सम्बन्धि बहिरङ्ग दृष्टि से देखें तो मन तीन पदार्थों का एकसूत्री संगठन है। उसमें से पहला पदार्थ वासना शरीर है। यह वासना-शरीर मनुष्य के दृश्यशरीर को अन्दर से व्याप्त करके दृश्य देहके बाहर लगभग डेढ फीटतक लगभग चारों ओरसे दीर्घ वर्तुलाकार रहता है। द्वेषकी भावना आते ही उसमें

---

*– मेस्मेरिझम शास्त्र की किसीभी अच्छी पुस्तक में इस प्रकार के अनुभवों का वर्णन होगा। प्रस्तुत ग्रन्थकार की 'मेस्मेरिझम्' नामक पुस्तक का प्रकरण १ और ३ देखिये।

काला रंग व्यक्त होता है । भक्ति की भावना आते ही नीली रेखायें उसमें प्रतीत होती हैं । दूसरे पदार्थ का नाम मनः शरीर है । यह शरीर भी दृश्य शरीर से अन्दर की ओरसे लिपटा हुआ तथा चारों ओर दीर्घ वर्तुलाकार रहता है । स्वार्थी भावना की अपेक्षा उच्च कोटिके मनो व्यापार जिन्हे स्थूल रूपसे 'विचार' कहा जासकता है–अन्तरङ्गमें होने लगते ही इस दूसरे पदार्थ में रंग बिरंगी हलचल होने लगती है । तीसरा पदार्थ कारण शरीर है । स्थूलरूपसे जिन्हे 'तत्व–विचार' कहा जासकता है, केवल उन्ही मनो-व्यापारों से इस पदार्थ में हलचल होती है । जो तात्विक विचार नहीं कर सकते उनका कारण शरीर साबुन के बुद-बुदों जैसा पोला रहता है । जैसे जैसे तात्विक विचार करने की शक्ति विकसित होगी, वैसे वैसे अधिकाधिक द्रव्य इस शरीर से युक्त होते जाते हैं । यह शरीर भी दृश्य शरीर से व्याप्त रहता है । तात्विक विचार करने के सम्बन्ध में जिनकी काफी प्रगति हो चुकी है ऐसे मनुष्यों के कारण शरीर में बहुत से द्रव्य रहते हैं और इसकारण विशेष योग्यतावाले मनुष्यका कारण शरीर आकार से विकसित होता रहता है और कभी कभी जब ऐसा मनुष्य किसी कमरे में बैठता है तो उसके कारणशरीरसे सम्पूर्ण कमरा ही व्याप्त होजाता है ।[1] इन तीनों शरीरों का संघात ही मन है । आज का सुसंस्कृत व्यक्ति उत्क्रान्ति के जिस स्थानतक पहुँचा है, उस स्थानपर रहते हुए मनुष्य जिसे 'अहं' कहता है 'मेर' मन' कहता है वह यही पदार्थत्रयी है ।

बाजे की एक पेटी है । सात सात स्वरों के तीन सप्तक उसमें है । आवश्यकतानुसार कभी निचलेस्वरोंको उपयोग में लाया जाता है, कभी बिचले सप्तक को और कभी ऊपर के सप्तक को । इन तीन सप्तकों से जिसप्रकार एक बाजे की पेटी तैयार होती है उसी प्रकार वासनाशरीर, मनःशरीर और कारण शरीर इन तीन पदार्थों के संगठन से 'मन' बना करता है । पेटी की यह उपमा बहुत उपयुक्त रहेगी ।

मनका यह वर्णन बाह्य वस्तुकी तरह, जडवस्तुकी तरह हुआ । पतञ्जलिने मनके विषय में (चित्त के विषय में) कहा है कि ' न तत् स्वभासं दृश्यत्वात् ' (४, १९) मन दृश्यपदार्थ के समान है, इसीलिये वह स्वयंप्रकाश नहीं है । ऐसा जो मन है, अर्थात् वासना शरीर, मनः शरीर, कारण शरीर रूपी त्रयी का संघात रूप जो मन उसमें जीवन, चैतन्य, प्रकाश और ज्ञान आदि कहाँ से आते हैं ? यह संघात किसके लिये है ? उसका स्वामी कौन है ? इस संघात के द्वारा जो क्रिया की जाती है वह कौन करता है ? जो अनुभव लिया जाता है वह कौन लेता है ?

अब हम चैतन्य दृष्टि से मन का वर्णन करेंगे, जिससे इस प्रश्न का उत्तर मिल जायगा । जो इन तीन शरीरों का वर्णन किया है वह साधन को छोडकर किया है । उन शरीरों के द्वारा जो क्रियायें की जाती हैं और जो अनुभव प्राप्त किये जाते हैं वे सबके सब, उस शरीर का उपयोग करनेवाले जीव—जो जीव उस शरीरसे संलग्न रहता है–के लिये किये जाते हैं । जब मनुष्य ' मेरा मन ' अथवा ' मैं ' शब्द का प्रयोग करता है तब ये जीवके अङ्ग भी उसी में अन्तर्भूत रहते हैं । यह जीव उन शरीरों का स्वामी रहता है । इस जीवको कोई जीव कहेगा, कोई जीवात्मा कहेगा, कोई आत्मा कहेगा, और कोई किसी और नामसे उसका ग्रहण करेगा । हिन्दू धर्म में जीवके किसी विशेष अवस्थामें रहनेपर उसे एक विशिष्ट नाम से पहचानने की परिपाटी है । चैतन्य दृष्टि से कहा जासकता है कि वासना शरीर द्वारा भावनाओं का अनुभव प्राप्त करनेवाला, मनः शरीर से विचारों का अनुभव प्राप्त करनेवाला, और कारण शरीर से तात्विक विचार करने-वाला जो मैं हूँ, वही जीव है और वही मन है ।

यह जीव उत्क्रान्तिमार्ग को इतना तै कर चुका है, इतना ज्ञान उसे प्राप्त हो चुका है, इस इस बात का इसे अभीतक अनुभव नहीं है, अमुक एक विशेषता उसमें है । एक विशेष मर्यादा तक मालक के विषय में जिसे विश्व-स्तता प्रतीत होती है वह कुत्ता है; चैतन्य दृष्टि से कुत्तेके विषय में जैसा यह वर्णन है उसी प्रकार इन तीन शरीरोंके द्वारा अमुक अमुक अवस्थातक अनुभव प्राप्त करलेनेवाला जीव मनुष्यों में ' मैं ' है, यह उसका मन है । यह आज की स्थिति में मानवी मन का उसकी चैतन्य दृष्टिसे किया हुआ वर्णन है । इस प्रकार वासना शरीर, मनः शरीर,

---

१– इन तीनों शरीरों का सचित्रवर्णन The Man Visible andirible इस पुस्तक में है । उसे देखिये ।

कारणशरीर ये मन के बाह्य विभाग हैं और उससे संलग्न हुआ जो जीव केन्द्र है, ज्ञान की जो छोटी या बडी चिनगारी है वह मन अन्दर का भाग है, यह सिद्ध हुआ।

चित्तशुद्धि

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पांच यम और स्वच्छता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति ये पांच नियम राजयोग के प्रारम्भ में आवश्यक हैं, यह पूर्वही कहा जाचुका है। इन गुणोंका आवश्यक संग्रह मनुष्यके पास यदि न हुआ तो वह राजयोगसे बहुत दूर है, ऐसा समझना चाहिये। पूर्वके उत्क्रान्ति क्रम में इन बातों की रुची उसके मनमें पैदा हुई होनी चाहिये और पर्याप्त-मात्रामें ये गुण उसके स्वभाव में आजाने चाहिये; तभी वह राजयोग प्रारम्भ कर सकता है। किन्तु राजयोग की सीमा में प्रवेश करने पर इस प्रकार के गुणों की संख्या एवं प्रमाण बढाना पडता है और तद्विरुद्ध दोष कम कम करके नष्टप्राय कर देने पडते हैं। यह कार्य मनको करना होता है और वह ध्यान के द्वारा शीघ्र साध्य किया जासकता है।

ये सद्गुण स्वभावमें किसप्रकार उतारे जावें? मनुष्य का स्वभाव ईश्वरद्वारा उसे बनाबनाया नहीं मिला करता। मनुष्य ने उसे जैसा बनाया होगा, अपने विचार, वासना, क्रिया आदि से जैसा तैयार किया होगा वैसा ही वह बना हुआ रहता है। उसमें जो दोष रहते हैं उन्हें किस प्रकार हटाया जाय? पतञ्जलिने कहा है 'वितर्कबाधने प्रतिपक्षा भावनम्' (२,३३) अर्थात् जिन वितर्कों -दुर्गुणों- से बाधा होतीहो उन दुर्गुणोंके विरुद्ध जो सद्गुणहो, उसपर ध्यान लगाना चाहिये। यदि कोई मनुष्य क्रोधी और चिडचिडा हो तो शान्तवृत्त का जो विरुद्ध गुण है उसपर ध्यान लगाना चाहिये। स्वभावमें रहनेवाले दोष कितने गहरे होते हैं और पतञ्जलिने जिनकी प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार ऐसी चार अवस्थायें वर्णन की हैं; (२,४) उसका वर्णन इस पुस्तक में पूर्व होचुका है। कोई दुर्गुण प्रसुप्त रहता है, निद्रित मनुष्य की तरह वह रहता है, इसलिये उसके अस्तित्व का अनुभव नहीं होता; किन्तु जागृत होनेपर वह बहुत घातक होजाता है। कोई तनु अर्थात् छोटा होता है; किन्तु उचित खाद मिलनेपर उसके बढने का डर रहता है। कोई विच्छिन्न रहता है अर्थात् बीच में प्रगट होजाता है और कोई दोष बहुत मोटा होता है।

*

स्वभाव के अन्तर्गत दोषों के कृत, कारित एवं अनुमोदित तथा मृदु, मध्यम, एवं अधिमात्र इस प्रकारके और भी भेद पतञ्जलि ने किये हैं। (२,३४) कृत अर्थात् स्वयं किया हुआ दुर्व्यवहार, कारित अर्थात् स्वयंके नामसे न कर दूसरे के द्वारा कराया गया दुर्व्यवहार, अनुमोदित अर्थात् करना ठीक है, इसप्रकार से दूसरे को प्रोत्साहित कर किया हुआ दुर्व्यवहार। मृदु, मध्य, अतिमात्र अर्थात् अल्पप्रमाणमें, मध्यम और बडे प्रमाणमें रहनेवाला दुर्गुण। इस, सब दुर्गुणों को दूर करने की क्रिया को चित्तशुद्धि कहते हैं। यह चित्त-शुद्धिकार्य तद्विरुद्ध गुणोंपर ध्यान देने से सम्पादन किया जासकता है।

शरीरके द्रव्य तथा उनके आन्दोलन

चित्त-शुद्धि किस प्रकार होती है? मनुष्यकी वासनायें वासना शरीरमें प्रकट होती हैं और विचार मनः शरीरमें प्रकट होते हैं। यदि मनुष्यके मनमें संताप की भावना पैदा हो तो उसके वासना शरीरमें खलबली मच जाती है। वासना शरीरमें अनेक प्रकार के द्रव्य रहते हैं उनमें से संताप द्वारा जो द्रव्य आन्दोलित होने जैसे होंगे; वे द्रव्य उस समय अधिक जागृत, अधिक जीवित और प्रबल हो जाते हैं; तथा अन्य द्रव्य, जो संताप की लहरों से आन्दोलित होने जैसे नहीं होते वे कमजोर पड जाते हैं। मनमें संताप के बादल उठते ही कुछ समय तक वासना शरीरके अन्य रंग मिटे हुए से लगते हैं और संताप का लाल रंग, जिन द्वेषवृत्तियों से संताप होता है उनका काला रंग इनकी बडी बडी तरङ्गे वासना शरीरमें आन्दोलित होने लगती हैं। उस समय वासना शरीर की ओर देखा जाये तो मानो उस में दूसरे द्रव्य हैं ही नहीं और काले लाल रंग की तरङ्गों के उफान से परिपूर्ण वह शरीर दिखाई देता है। संताप का प्रमाण कुछ समय पश्चात् अल्प होजाने पर अन्य द्रव्य धीरे धीरे दिखाई देने लगते हैं; किन्तु तब सन्ताप-द्वेष आदि दुर्गुणों से प्रतिकूल जो द्रव्य हैं; वे कुछ कमजोर हुए से दिखाई देते हैं; उसमें का कुछ अंश शरीरके बाहर झटक दिया जाता है; अतः उस द्रव्य का प्रमाण कम हो जाता है।

इसके विरुद्ध जो द्रव्य संताप और द्वेषादि दुर्गुणों को व्यक्त करनेवाले हैं, वे प्रबल हो जाते हैं और उस प्रकार के अधिक द्रव्य बाह्यवातावरणसे अन्दर प्रविष्ट किये जाते हैं, जिससे उनका प्रमाण बढ जाता है। इस प्रकार संताप करनेवाले मनुष्य के वासनाशरीरमें संताप को व्यक्त करनेवाले, संताप के लिये अनुकूल एवं उत्तेजक द्रव्य धीरे धीरे अधिक मात्रामें आकर पराकाष्ठा तक पहुँच जाते हैं तथा तद्विरुद्ध द्रव्य आश्चर्यजनक रूपसे घट जाते हैं। जिसके वासना शरीर की ऐसी स्थिति होगी वह बार बार संताप करेगा और बिलकुल साधारण बात भी उसके क्रोधके लिये कारण बन जायगी। उस द्रव्यका स्वाभाविक आकर्षण; सदा संतापकी ओर रहेगा और चूंकि यह आन्तारिक आकर्षण है; अतएव संताप पर काबू पाना उनकी शक्ति के बाहर हो जाता है।

ऐसा मनुष्य अपने संतापी स्वभाव को सुधार कर यदि शान्त स्वभाववाला बनना चाहे तो वह क्या करे? सबसे पहले शान्ति की भावना जोरके साथ मनमें उत्पन्न करनी चाहिये। जोरके साथ मनमें इस प्रकार शान्ति की भावना आते ही वासनाशरीर में एक भिन्न प्रकार की हलचल शुरू हो जाती है। भिन्न प्रकार के द्रव्य उत्तेजित और शक्तिशालि हो जाते हैं और संताप के लिये अनुकूल रहनेवाले द्रव्य शक्तिहीन होकर शरीर से बाहर झटक दिये जाते हैं जिससे उनका प्रमाण कम होने लगता है।

संताप करनेवाला मनुष्य यदि शान्ति की भावना अपने मनमें उत्पन्न करनेका प्रयत्न करे तो यह क्रिया आरम्भ में उसके लिये कठिन रहेगी। वासनाशरीर के अन्तर्गत संताप के जो द्रव्य हैं वे उसे सन्ताप के लिये प्रवृत्त किया करते हैं और यह नवीन प्रयत्न विरुद्ध दिशा का होने के कारण उसके करने में उसे कष्ट होता है। निश्चयपूर्वक शान्तवृत्ति रखने का संकल्प मनमें दृढ होजानेपर यह प्रयत्न धीरेधीरे सरल होता जाता है, संताप के लिये जो अनुकूल द्रव्य हैं वे निर्बल होने लगते हैं और उसके स्थान पर शान्तवृत्ति के लिये अनुकूल द्रव्य आकर स्थिर होने लगते हैं। अनेक वर्षोंतक लगातार निश्चयपूर्वक यह प्रयत्न करने पर विरोधी द्रव्य लगभग नष्ट हो जायेंगे और शान्ति के लिये अनुकूल द्रव्य पर्याप्त मात्रा में शरीर में भर जायेंगे। इससे जैसे पहले उसे सहज ही संताप हो जाता था वैसे अब सहज ही या कोशिस किये बिना ही उसके मनमें शान्ति रहने लगेगी।

यह प्रयत्न जितना सरल दिखाई देता है उतना सरल नहीं है। व्यवस्थित रूपसे प्रायः कोई भी उसे नहीं करता और इसीलिये मनुष्य का स्वभाव बहुत अधिक नहीं बदल पाता। कुछ लोग थोडासा प्रयत्न करते हैं और बादमें तंग आकर उसे छोड देते हैं। संतापी मनुष्य संताप के आवेश के पागलपन के कृत्य करने लगता है और बादमें अनेक बार उसे पश्चात्ताप भी होता है। उस समय कभी कभी शान्त विचार मनमें लाकर अपने स्वभाव को सुधारने का वह निश्चय किया करता है, किन्तु ऐसा प्रयत्न आरम्भ में कठिन होने के कारण इसे शीघ्र छोड देनेकी सम्भावना प्रायः अधिक रहती है। संतापी स्वभाव को पूर्णतः बदलकर शान्त स्वभाव का बनने के लिये अनेक वर्षोंतक सतत प्रयत्न की आवश्यकता है।

ऐसे मनुष्य के मनमें संताप की लहरें बीच बीच में उठेंगी और उस समय वे द्रव्य वासनाशरीर में बढकर दृढमूल एवं शक्तिशाली होंगे। मनुष्य जब प्रयत्नपूर्वक विरुद्धवृत्ति की भावना मनमें लाता है तो उतने से समय के लिये ये द्रव्य कुछ शक्तिहीन हो जायेंगे एवं विरुद्ध जाति के द्रव्य कुछ सशक्त और अधिक हो जायेंगे, किन्तु फिर संताप की ज्वाला मनमें भडक जाने पर विरुद्ध परिणाम हो सकता है। सारांश यह कि थोडासा सिलें और फिर उसे उधेड दें वाली [गत] स्थिति होगी।

इस प्रकार जन्मभर करें तो भी स्थायी फललाभ नहीं हो सकता। यदि इस मार्ग से आगे बढकर सफलता प्राप्त करनी हो तो नियमपूर्वक प्रतिदिन १०। १५ मिनिट ध्यान लगाना पडेगा। उसमें व्यवधान डालना उचित नहीं है। ध्यान के समय विशेष रूपसे इष्ट भावना उत्पन्न करनी चाहिये, सारे दिन उसी भावना के अनुकूल कार्य करना चाहिये; कभीभी संतापी-वृत्ति पैदा हो तो प्रयत्नपूर्वक शान्ति की भावना दृढता से उत्पन्न कर संतापी वृत्तिका बहिष्कार करना चाहिये। इसप्रकार दृढतापूर्वक निरन्तर करने पर अनिष्ट द्रव्यों का वासनाशरीर से सर्वदा के लिये निष्कासन हो सकेगा और उसके स्थानपर इष्ट द्रव्य दृढमूल होकर स्थिर हो जायगा। १

१ सूचना– अधिक जानकारी के लिये डॉ. बेझंटकृत Thought Power, its Control & Culture.

मनःशरीरमें भी इसी प्रकार की तरङ्गें उठा करती हैं। स्वार्थी वासना- भावनाकी तरङ्गें वासनाशरीर में जिस प्रकार आती हैं; तद्वत् अन्य प्रकार के मनोव्यापारों की तरङ्गें मनःशरीरमें उठा करती है। उनसे मनःशरीर के द्रव्य आन्दोलित होते हैं और उस में एक विशेष प्रकार के द्रव्य बढकर दृढमूल हो जाते हैं। इस प्रकार प्रयत्न करने पर मनुष्य अपने वासनाशरीर एवं मनःशरीर में इष्ट द्रव्यों का सम्पादन कर सकता है।

यदि किसीने दीर्घप्रयत्नकरके संतापी वृत्ति का सर्वनाश करके उसके स्थानपर मनमें शान्तवृत्ति स्थापित कर ली तो ऐसे मनुष्य के वासना शरीर में संताप व्यक्त करनेवाले द्रव्य बिल्कुल न रहेंगे और शान्तभाव व्यक्त करनेवाले द्रव्य पर्याप्तमात्रा में रहेंगे। वे द्रव्य उसे शान्तभावकी प्रेरणा निरन्तर रूपसे अन्दरसे देते रहेंगे, तथा संताप की प्रेरणा देनेवाले द्रव्य वासना-शरीरमें न रहने के कारण संताप की ओर का खिंचाव बन्द हो जायेगा। अर्थात् उसका स्वभाव शान्त बन जायेगा। यदि उसके पास कोई दूसरा क्रोधित मनुष्य आजाय और उस मनुष्यके वासना-शरीरमें से क्रोध की लहरें उठकर उस शान्त मनुष्यके वासना-शरीर पर गिरने लगें तब भी प्रतिकूल वृत्तिके जो द्रव्य इस शान्त वृत्तिवाले मनुष्यके वासना शरीरमें होंगे वे इन क्रोधकी लहरोंका विरोध करेंगे, जिससे क्रोध की लहरों को लौट जाना पडेगा। जैसे घूमते हुए चक्रपर फेंका गया पत्थर दूर उड जाता है उसी प्रकार क्रोधकी लहरें वहाँ दूर हो जायेंगी।

मनःशरीर और वासनाशरीर के द्रव्य इस प्रकार के प्रयत्नों से धीरे धीरे बदले जा सकते हैं और वे बदल जाने पर अन्तरङ्गके दोष एवं दुर्गुण दूर होकर उसके स्थानपर सद्गुण एवं अन्य इष्ट शक्तियाँ प्रस्थापित हो जाती हैं। इस प्रकारका मनुष्य दुर्गुणी तथा हीन वृत्तिके मनुष्योंके सम्पर्क मे आजाये तब भी उसके वासना-शरीर एवं मनःशरीरके दूषित द्रव्य और उनकी लहरें उसका कुछ भी नहीं बिगाड सकती। इस प्रकारसे मनुष्यकी चित्तशुद्धि होती है। दुर्गुण समाप्त होकर स्वभावमें इच्छित गुण-विकास हो जाता है और अनेक प्रकार के सामर्थ्यों का निर्माण उसके अन्तःकरण में हो जाता है।

स्थायी सुधार

मनुष्यके कारणशरीरमें तात्त्विक विचारोंका चयन हुआ करता है। मनुष्य के कार्यों एवं मनोव्यापारों से जो तत्त्व निर्माण होते हैं, उसके द्वारा कारण शरीरके द्रव्य आन्दोलित होते हैं और वे उसमें सम्मिलित हो जाते हैं। कारण शरीर अनेक जन्मों तक ज्योंका त्यों स्थायी रहता है। प्रत्येक जन्म में मनुष्य सुखदुख के जो अनुभव प्राप्त करता है अथवा भावनाओंका जो विकास करता है, उन सबका तत्त्वरूपी अर्क मरणोत्तर कारणशरीरमें उतरता है। मध्यम स्थितिके मनुष्यके कारण शरीरमें बहुत सा भाग पोला रहता है। उसमें द्रव्यरचना या उनका चयन हुआ नहीं रहता। ऐसा मनुष्य तात्त्विक विचार करने में असमर्थसा रहता है। क्योंकि कारण शरीरके द्रव्योंमें केवल तात्त्विक विचारोंके आन्दोलन से ही स्पन्द निर्माण हो सकता है। साधारण मनुष्य के अनुभव कम रहा करते हैं; इसलिये उन अनुभवों में से तत्त्वोंका निष्कर्ष अधिक नहीं निकल पाता। यही कारण है कि उसके कारण शरीरके अनेक भाग रिक्त रहते हैं।

यदि एक मनुष्य प्रयत्न करके किसी विशेष गुण का सम्पादन करे तो उसके तत्त्व एवं उसका निष्कर्ष कारण शरीर में उतरता है और तब उस शरीरमें द्रव्योंका कामचलाऊ गठन हो जाता है। ऊपर एक क्रोधी मनुष्य का उदाहरण दिया जा चुका है। वह यदि अपने स्वयं के प्रयत्नोंद्वारा सन्ताप की भावना के सारे द्रव्य अपने वासना शरीरसे निकाल दे; संतापी संकल्प-योजनाके विचारोंके द्रव्य मनःशरीर से निकाल दे और उन दोनों शरीरोंमें शान्ति व्यक्त करने वाले द्रव्य स्थापित कर दे तो इस शान्ति नामक गुणका अर्क, इस गुणका तत्व, कारण शरीरमें उपयुक्त द्रव्यके साथ ग्रथित हो जायगा। जिससे पहले जो रिक्त स्थान था वह पूर्ण हो जायगा। इस प्रकार कारण शरीरमें उस गुण का गठन हो जानेपर फिर अगले किसी जन्ममें भी उस मनुष्यकी वृत्ति क्रोधी नहीं होगी।

इस प्रकार कारण शरीर मानो वासनाशरीर तथा मनःशरीरपर सदा तत्त्व-सिंचन करता रहेगा, जिससे कि सन्तापवृत्ति का पाप कभी भी जड न पकड सके। पतञ्जलिने कहा है, "तज्जः संस्कारः अन्य-संस्कारप्रतिबन्धी" (१, ५०) अर्थात् उच्च भूमिका के संस्कार निम्नभूमिका के

विरोधी संस्कारों को हटा दिया करते हैं।

विश्वमें अनेक लोक हैं, मनुष्यके अनेक शरीर हैं,एक एक शरीरका व्यवहारशास्त्र सीखकर उस उस लोक में ज्ञान की एक एक नवीन अवस्था अनुभव करनी होती है, यह पहिले ही कहा जा चुका है। ये लोक, ये शरीर और ये अवस्थायें एक से एक गहरी हुआ करती हैं; अतः राजयोग में प्रवेश करनेपर इन सब गहरी अवस्थाओंमेंसे मनुष्यको प्रवेश करना पडता है। एक शिवालय है और उसके चारों ओर एक भीत है। इस मन्दिर में दर्शन करनेका संकल्प करके जो मनुष्य जायेगा वह पहले बाहर के प्रदेशसे होकर मन्दिर के चौगान तक पहुँचेगा और बादमें पैडियाँ चढकर बडे दरवाजे से अन्दर घुसेगा। अन्दर उसे विस्तीर्ण स्थान मिलेगा। उसमें से फिर वह आगे बढकर मन्दिर के अन्दरकी पैडियों तक पहुँचेगा। उन पैडियोंपर चढकर वह और अन्दर जायेगा। वहाँ उसे नन्दी मिलेगा। फिर वह सभामण्डप तक जायेगा वहाँ उसे दिखाई देगा कि कीर्तन हो रहा है तथा श्रोतागण बैठे हुए हैं। कुछ और आगे बढनेपर देवता के सामने पहुँच जायगा, जहाँ देवता के सामने पैसे दो पैसे रखकर नमस्कार करनेवाले भावुक लोग उसे मिलेंगे। आगे फिर पैडियाँ उतर कर जब वह मूर्ति के और पास जायगा तो वहाँ उसे पंचा पहिने शिवालिंगकी अर्चना करते हुए पुजारीके दर्शन होंगे। इस उदाहरणके अनुसार ही राजयोगका अभ्यास करनेवाला मनुष्य भी क्रमशः आगे आगे बढता रहता है या क्रमशः गहराई में जाता रहता है। एक कदम अन्दर जाने पर वह नये शरीरमें प्रविष्ट होता है, उसके चारों ओर नया लोक आचुका होता है। और वह एक नई अवस्थाका अनुभव करने लगता है। पुनः एक कदम और बढनेपर एक नवीन शरीरका वह उपयोग करता है; और एक लोक में प्रवेश कर एक नवीन अवस्थाका अनुभव करता है। इस प्रकार क्रमशः आगे आगे बढकर अन्तमें अपने इष्ट लक्ष्य ईश्वरसे मिल जाता है। इस अन्तिम भेंट तक उसकी राजयोग सम्बन्धि प्रगती जारी रहती है।

इन सब गन्तव्य केन्द्रों तक किस-प्रकार से प्रगति करनी चाहिये इसका सुव्यवस्थित विवेचन किसी भी राजयोग के ग्रन्थ में नहीं किया गया है। क्योंकि यह विषय जानबूझकर गुप्त रखा गया है। यदि किसी ग्रन्थ में इस विषयका स्पष्ट विवेचन होता तब भी उससे कोई लाभ होना सम्भव न था। पुस्तक में हिमालय का वर्णन पढकर कोई भी गौरीशंकर तक नहीं पहुँच सकता। यह मार्ग तो जीवन सम्बन्धि और जागृत अवस्था का मार्ग है। इस मार्ग पर यात्रा करते समय जीवन में उगनेवाली कलियाँ, उनका विकास होकर खिलनेवाले फूल, उस मार्ग की विपत्तियोंद्वारा मानवहृदयमें उत्पन्न अज्ञानान्धकार और उस अन्धकार में क्षणमात्र चमकनेवाली विद्युल्लतिका द्वारा किया गया मार्ग दर्शन आदि बातें शब्दों के निर्जीव सांचे में ढालकर वर्णन करने योग्य बिल्कुल नहीं है। उस मार्गपर जाना हो तो निर्जीव पुस्तक का सहारा पर्याप्त नहीं है। उसके लिये जीवित गुरुकी आवश्यकता है। उस प्रकार के अधिकारी गुरु प्राचीनकाल के समान संसार में आज भी विद्यमान हैं। १

राजयोग सम्बन्धि पुस्तकों का केवल इतना ही उपयोग है कि इस यात्रा का प्रारम्भिक ज्ञान होकर मनुष्य कुछ आगे बढ सके तथा अधिकारी गुरु को प्राप्त करने की योग्यता उसमें उत्पन्न हो सके। राजयोगके अगले गन्तव्य केन्द्र

अधिकारी गुरुकी सहायतासेही

प्राप्त करने पडते हैं। इसप्रकार की सहायता उपलब्ध न हो तो किसी को भी उन केन्द्रों तक जानेका साहस नहीं करना चाहिये। ऐसे प्रयत्नों में बहुत खतरा रहता है। मनुष्यमें पर्याप्त रूपसे योग्यता आजानेपर संसार के जीवन्मुक्त पुरुषों में से कोई न कोई गुरुस्थानपर आसीन पुरुष, शिष्यरूपमें उसे अवश्य ही अंगीकार करता है इसमें अपवाद नहीं है।

१– इस विषयकी विस्तृत जानकारी The Masters and Path नामक श्री लेडबीटरकृत अंग्रेजी ग्रन्थमें तथा प्रस्तुत ग्रन्थकार एवं रा.वा.ल. चिपळोणकरके सहयोगसे लिखी हुई 'सिद्ध पुरुष व त्यांचा सम्प्रदाय' इस मराठीग्रंथमें है।

राजयोग का शास्त्र अत्यन्त गहन है, उसमें प्रगति करनी हो तो मनुष्य को चाहिये कि वह अपने अन्तरङ्ग में अधिकाधिक गहराईतक पहुँचे । अपने अन्तरङ्ग में स्थित नये नये शरीरों का उपयोग करके नये लोकों में प्रवेश करना पडता है तथा वहाँ ज्ञान की उच्च उच्च अवस्थाओं का अनुभव लेकर ज्ञानी बनना पडता है । यद्यपि यह विषय किसी भी ग्रन्थ में व्यवस्थित रूपसे वर्णित नहीं है तथापि उसकी रूपरेखा पातञ्जल सूत्रों में है । स्थूल–स्वरूप–सूक्ष्म–अन्वय–अर्थवत्व–संयमात् भूतजयः (३, ४४) इस सूत्रमें प्रत्येक द्रव्य के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वयत्व तथा अर्थवत्व इस प्रकार पांच जातियां वर्णन की गई हैं और उनपर संयम करने से सम्पूर्ण महाभूत (सारी सृष्टि) जीते जा सकते हैं, ऐसा पतञ्जलिने कहा है। केवल दृश्य लोक के स्थूल द्रव्य हमारी आसपास की दुनियाँ में हैं, ऐसा नहीं है । अपितु उस द्रव्य के स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वयत्व तथा अर्थवत्व आदि उच्च प्रकार भी आसपास हैं । इन प्रकारों के भुवर्लोकादि उच्च लोक बने हुए हैं। उनको भी जीतना पडता है ऐसा पतञ्जलि ने कहा है ।

इन लोकोंपर स्वामित्व प्राप्त करने के लिये जिन शक्तियों की अपेक्षा है उन शक्तियों को पतञ्जलिने इन्द्रियाँ कहा है और ग्रहण–स्वरूप–अस्मिता– अन्वय–अर्थवत्व–संयमात्- इन्द्रिय जयः (३, ४७) इस सूत्रमें ग्रहण, स्वरूप अस्मिता, अन्वयत्व तथा अर्थवत्व आदि इन्द्रियों के पांच प्रकार वर्णित हैं । और उनपर संयम करनेपर वे इन्द्रियाँ उन शक्तियों के स्वाधीन होती हैं, ऐसा कहा है । अर्थात् हमारे चारों ओर पांच प्रकार के द्रव्य हैं, एक एक प्रकार के द्रव्य से एक एक लोक बना है और प्रत्येक लोक स्वाधीन होने के लिये तथा उन लोकों में संचार कर सकने के लिये एक एक इन्द्रिय, एक एक शक्ति प्राप्त करनी पडती है, ऐसा उनका अभिप्राय है। यह एक एक शक्ति प्राप्त करके अर्थात् उसका संयम करके एक एक लोक में उसको (कार्यार्थ) नियुक्त करना पडता है ऐसा उन्होंने '**तस्य भूमिषु विनियोगः**' (३, ६) इस सूत्र में कहा है ।

तस्य का अर्थ यह है कि संयम का भिन्न भिन्न भूमिकाओंपर उपयोग करके एक एक अवस्था को आधीन किया जावे । योगशास्त्र में मनुष्य के लिये विवेक का सम्पादन करना आवश्यक है । उस विवेक सम्बन्ध से '**तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा**'(२, २७) ऐसा पातञ्जल सूत्र है, उस विवेक की जो प्रज्ञा है वह सात प्रकार की है. सात भूमिकाओंपर की है, ऐसा उस सूत्र का अर्थ है । अर्थात् राजयोग में एक एक लोक में, एक एक भूमिकापर एक एक अवस्था में क्रम क्रम से ऊपर जाना होता है और तब प्रत्येक समय उच्च उच्च प्रकार का भिन्न भिन्न विवेक रखना पडता है, उसी विवेक की सात भूमिकायें होती हैं । जैसे जैसे मनुष्य अन्तर्मुख होने लगता है वैसे वैसे जो वस्तु अन्दर होती है वह फिर बाहर हो जाती है । यदि किसी मैदान पर एक के अन्दर दूसरी, दूसरी के अन्दर तीसरी, तीसरे के अन्दर चौथी, इस प्रकार से गोल दिवारें हों तो बिलकुल बाहर बाहर की दीवार के दरवाजे में जो मनुष्य खडा रहेगा वह कहेगा कि दूसरी और तीसरी दिवार 'अन्दर' है ।

यदि वह अन्दर घुसकर दूसरी भीत की दरवाजे में जाय और उस दरवाजे में से दो कदम और भी अन्दर पहुँचे तो दूसरी दीवार अब बाहर है ऐसा वह कहेगा और आगे बढकर तीसरी दीवार के अन्दर पहुँचने पर तीसरी दीवार भी बाहर है, ऐसा वह कहेगा । 'अन्दर' 'बाहर, ये शब्द सापेक्ष हैं । अर्थात् अन्दर अन्दर जानेवाले के लिये अन्दर के क्षेत्र क्रमशः बाहर के हो जाते हैं । इसी मुख्य बात को लक्ष्य करके **त्रयमन्तरङ्ग पूर्वेभ्यः**' [३, ७] इस प्रकार का सूत्र है । अर्थात् पूर्वोक्त अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह नामक जो पांच 'यम' हैं, उनके मान से ध्यान, धारणा, समाधि रूप त्रयी भी 'अन्दर' है, किन्तु '**तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य**, [३, ८] यह त्रयी भी निर्बीज समाधि के मान से 'बाहर' है ।

इससे यह स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि राजयोग में एक एक भूमिका पर विजय प्राप्त करते करते अन्दर अन्दर जाना पडता है और सम्पूर्ण भूमिकायें हस्तगत करनी पडती हैं ।

राजयोग आरम्भ करनेपर पहले की जानेवाली अनेक बातें मनुष्य को जारी रखनी पडती हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। सत्संगति, सदाचार, सुशिक्षण, स्वाध्याय इन बातों से अच्छे मनुष्य की तैयारी होकर वह राजयोग के दालानतक पहुंच पाता है। राजयोगके दालान में प्रवेश करने पर इन अच्छी बातों को आगे के लिये भी उसे उसी प्रकार जारी रखना पडता है। उत्तम भावनाओं से मनुष्य का वासनाशरीर श्रेष्ठ बन जाता है। अध्ययन की आदत से मनुष्य के विचार गहन एवं प्रभावशाली हो जाते हैं और बुद्धि कुशाग्र होती है। उससे जो आन्दोलन मनः-शरीर में उत्पन्न होते हैं उनसे मनःशरीर की रचना सुधरती है और कार्यक्षमता बढती है। वासनाशरीर के सुधार से मनुष्य का नैतिक सुधार होता है और मनःशरीर के सुधार से उसका बौद्धिक विकास होता है, ऐसा स्थूल रूपसे कहा जा सकता है। योगशास्त्र में प्रवेश करने पर यह विकास उसी क्रम से आगे हुआ करता है। उसके लिये सत्सङ्गति, स्वाध्याय आदि बातें जारी रखना आवश्यक रहता है।

—०+०—

हैद्राबादके द्वितीय उपदेशक संमेलनके बाद

एक झलक

पौन शताब्दीके पश्चात् आर्य विद्वानोंने भारतकी ऐतिहासिक नगरीमें बैठकर राष्ट्र एवं समाजके लिये भविष्यकी योजनाओं-पर विचार किया। अपने जीवनके ऐतिहासिक बारह वर्ष बिताकर हैद्राबादके आर्यजनसमूहने आशा, अभिलाषा और उमङ्गमें भरकर आगत जनोंका स्वागत किया। सचमुच यह एक महासम्मेलन था। बंगाल, बिहार, उत्तर-प्रदेश, पंजाब, राजपूताना, मालवा, मध्यप्रान्त, बरार, महाराष्ट्र, आंध्र और मद्रासके चोटीके आर्यनेता एवं विद्वान् पधारे। हैद्राबाद तो मानो सबका सब था। यदि बारह वर्ष पूर्व हजारोंकी संख्यामें सत्याग्रहियोंके रूपमें आर्यजगत् हैद्राबादमें दौड गया था तो आज बारह वर्ष पश्चात् स्वयंसेवकोंके रूपमें वह पुनः दौड आया। वह उत्सर्गकी वेला थी जब कि सम्पूर्ण भारतसे आर्यपतङ्गे सत्याग्रहकी दीपशिखापर जो हैद्राबादमें भडक उठी थी-अपना सर्वस्व हथेलीपर रखकर कूदते जा रहे थे और आज वे ही बडी गम्भीरता और व्याकुलतापूर्ण सन्नद्धतासे वहीं एकत्रित होकर यह निर्णय कर रहे थे कि अब किधर और कैसे बढा जावे! व्याकुलता इसलिये कि आज जिस परिस्थितिसे होकर राष्ट्र गुजर रहा है, वह अत्यन्त भयावह एवं चिन्तापूर्ण है और ऐसी स्थितिमें कौन ऐसा भारतपुत्र है जो व्याकुल न होगा। साथ ही सन्नद्धता इसलिये कि आर्यसमाज एक जागृत और जीवित संस्था है; ऐसी संस्था संकट आनेपर यदि सन्नद्ध न रहेगी तो और किससे ऐसी आशा की जावे? यह उन सम्मिलित आर्य-पुत्रोंकी मानसिक अवस्थाकी एक झलक है, जो मुझे वहाँ दिखाई दी।

सम्मेलनका बाह्य कितना सुन्दर, कितना आकर्षक एवं कितना भव्य था, इन सबका वर्णन यहाँ उद्दिष्ट नहीं है। स्वयंसेवकोंकी दक्षता, विनम्रता एवं तत्परता एवं सम्पूर्ण व्यवस्था अनुशासनपूर्ण अतएव प्रशंसनीय थी। उन सबपर मानो युवक हृदय नरेन्द्रजी की पूरी छाप थी। क्या मजाल जो थोडी भी ढिलाई कहीं दिखाई दे। इस सबके लिये अधिक शाब्दिक वर्णन कुछ ओछा सा प्रतीत होता है। सजावट, प्रकाश, स्नान, भोजन, निवास और सबकी उचित सुविधा की देखरेख सभी कुछ भव्य था। यह थी अत्यन्त संक्षेपमें वहाँ की बाह्य झलक जो मेरी आँखोंने आनन्दोल्लास के साथ वहाँ देखी।

हमारी शक्तिका स्रोत किधर?

किसी भी संस्थाकी आत्मा उसके कार्यकर्ता हुआ करते हैं। एक प्रकारसे यों मानना चाहिये कि कार्यकर्ताओंका सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब ही उनकी संस्था है। कार्यकर्ता यदि पवित्र और उदात्त है तो संस्था भी पवित्र एवं उदात्त होगी, कार्य-कर्ता यदि सच्चे और सुदृढ हैं तो संस्था भी सच्ची एवं सुदृढ होगी; यदि कार्यकर्ता महान् हैं तो निःसंशय वह संस्था भी महान् होगी ही। इसके विपरीत यदि कार्यकर्ता संकुचित मनोवृत्तिके होंगे तो संस्था भी उदार नहीं बन सकती, यदि कार्यकर्ता निर्बल और दूषित होंगे तो वह संस्था भी निर्बल एवं दूषित होगी ही। कार्यकर्ता एवं संस्था कोई दो पदार्थ नहीं हैं। जब हम यह सोचते हैं कि किस प्रकार हम अपनी संस्थाको बलवान् बनावें तो उसका अर्थ यह है कि हमें यह सोचना चाहिये कि किस प्रकार हम स्वयं बलवान् बनें। यदि हम यह अनुभव करते हैं कि हमारी उन्नति रुक गई है, हमारा कार्यक्षेत्र घटता जा रहा है और हमारा भविष्य अन्ध-कारपूर्ण है तो उसका एकमात्र यही अर्थ है कि हम अयोग्य होते जा रहे हैं, निर्बल बनते जा रहे हैं और हमारा भविष्य भी अन्धकारपूर्ण होता जा रहा है। व्यक्ति या संस्था उस समय उन्नतिकी ओर बढती हुई समझी जाती है जब उसमें उत्साह और उमङ्गके साथ विशाल कार्यक्षेत्रमें कार्य करनेकी तत्परता और भावना बढती जाती है। जब उसे कोई कार्य नहीं सूझता, अपने अतीत और वर्तमानको देखकर जब वह निरे अभिमानमें डूबकर अकर्मण्यसी हो जाती है तो समझ लेना चाहिये कि यह उस बीचकी अवस्थामें है, जब कि

किसी भी समय यह विनाशकी ओर कदम बढा सकती है। और जब वह व्यक्ति या संस्था ऐसी स्थितिमें हो, जब कि उसे कोई कार्य न सूझे और अकर्मों या दुष्कर्मोंकी ओर उसकी प्रवृत्ति बढ जाए तो यह निश्चित रूपसे जान लेना चाहिये कि अब इनका पतन निश्चित है या भविष्य अन्धकारपूर्ण है। यही कसौटी है जिसपर संस्था और उसके कार्यकर्ताओंको परखा जा सकता है।

इस युगमें संस्था एक बडी शक्ति मानी जाती है। सफलता पूर्वक किसी भी कार्यको सम्पन्न करनेके लिये वह आवश्यक है। व्यक्ति कितनी भी महान् हो, पवित्र हों, शक्तिमती हो; किन्तु वह तब तक अपने किसी भी संकल्पको सफल नहीं कर सकती जबतक कि उसके पीछे कार्यकर्ताओंका एक समूह न हो। भारत वर्षमें आज अनेक संस्थायें विभिन्न रूपसे कार्य कर रही हैं। ये सभी संस्थायें राष्ट्रकी विभिन्न शक्तियाँ हैं, जिनसे राष्ट्रकी सेवा और विकास सम्भव है। आर्य समाज भी इन्हीं शक्तियोंमें से एक है। इसी शक्तिका एक प्रदर्शन गत २० से २४ मई तक हैद्राबादमें हुए उपदेशक सम्मेलनमें दिखाई दिया।

आर्य समाजका महान् स्वरूप एक स्रोतके रूपमें लगभग पिछत्तर वर्षसे भारतवर्षमें निरन्तर प्रवाहित होता आ रहा है। अपने जीवन-प्रवाहके इन दिनोंमें उसने जो राष्ट्र एवं समाज-सेवा की है वही उसकी महानताका प्रमाण है, सैंकडों शिक्षणालय और संस्थाएं उसके चिरस्मारक हैं, स्त्री शिक्षाके क्षेत्रमें, शुद्धिके क्षेत्रमें, और समाज सुधारके क्षेत्रमें जो कार्य आर्यसमाजने किया, वह किसीने नहीं किया। इस प्रकार आर्य समाजका आजतकका कार्य और उसका अखिल भारतीय प्रसार उसकी महत्ताका ही द्योतक है। किन्तु इस महत्ताके रक्षक या आधार रूप जो आर्यसमाजके कार्यकर्ता हैं वेही आज ऐसी स्थितिमें हैं जिसे भविष्यके लिए अंधकारपूर्ण कहा जा सकता है। आर्य समाजके जिस स्रोतसे किसी दिन भारतीय आत्माकी तृप्ति होती थी, जिसकी मधुरतासे किसी दिन जन-मन मुग्ध था, आज उसी स्रोतमें न वह सरसता है, न माधुर्य। आर्य समाजके निकट पहुँचकर उस विशालता और आदर्शके आज दर्शन नहीं होते, जिसकी किसी दिन जनता जनार्दनमें धाक थी। मैंने इसी दृष्टिकोणसे आर्यसमाजके प्राणभूत कार्यकर्ताओंके दर्शन किये। जहाँतक बन सका उनकी पूर्ण झांकी देखनेका प्रयत्न किया। क्योंकि यह उपदेशकोंका सम्मेलन था और अखिल भारतीय भी था। मेरी इस दर्शनाभिलाषी आकांक्षाको पूर्ण करनेमें दो साधनोंका विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। एक तो हैद्राबाद आर्यप्रतिनिधि सभाके मुखपत्र 'आर्य भानु' का आर्योपदेशक सम्मेलन विशेषाङ्क था तथा दूसरा साधन नेताओंके भाषण एवं विषय निर्वाचिनीकी बैठकोंमें उपदेशक महानुभावोंके विचार थे। सब कुछ पढने और सुननेके पश्चात् मेरे सामने यही एक प्रश्न घूमता रहा कि 'हमारी शक्तिका वह स्रोत आज कहाँ है? किस ओर प्रवाहित हो रहा है?'

इसका उत्तर इतना छोटा नहीं है जो संक्षेपमें यहीं देदिया जाय। मैं तो प्रत्येक वैदिकधर्मी बन्धुसे निवेदन करूँगा कि वे ही इसका समुचित उत्तर स्वयं अपनेसे प्राप्त करें।

को वेदानुद्धरिष्यति ?

'आर्यभानुके' विशेषाङ्कके सम्पादकीय अग्रलेखमें आर्य सम्मेलनके कार्यकर्ताओंका ध्यान आर्य प्रतिनिधि सभा हैद्राबादके एक प्रस्तावके एक भागकी तरफ आकर्षित किया गया है जो प्रस्ताव वहाँ पुलिस एक्शनके उपरान्त कार्यकर्ता सम्मेलनमें पास किया गया था और फिर दुबारा आर्य सम्मेलन लातूरमें दोहराया था। प्रस्तावका भाग इस प्रकार है—

'आर्य समाजियोंको चाहिये कि वे अपने अधिवेशनोंके वर्तमान स्वरूपको बदलकर उसको ऐसा स्वरूप दें जिनमें वर्तमान वादोंपर वैदिक सिद्धान्तके प्रकाशमें विचार किया जाय और विद्वानोंको प्रेरणा देकर वर्तमान राजनैतिक व सामाजिक प्रश्नोंपर '**वैदिक साहित्य**' तैयार करवाया जाय।...... ...... अतः यह सभा विद्वानोंसे प्रार्थना करती है कि **पाश्चात्य शास्त्रोंकी परिभाषामें एक वर्षके अन्दर** वे इसकी पूर्ण योजना तैयार करके जनताके सामने रखें।'

सम्पूर्ण भारतके आर्य कार्यकर्ता जिनके अतिथि बनकर गये उन्होंने सम्मेलनके सामने जो प्रश्न रखा है वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। यदि आर्य कार्यकर्ता गम्भीरतापूर्वक इस ओर ध्यान देंगे तो अवश्य ही आर्य समाजके कदम कुछ बढ सकते हैं। किन्तु इसके साथ ही सबसे बडी कठिन समस्या यह है कि यह साहित्य तैयार कौन करे? किस प्रकार करे?

आजकी परिस्थिति तो यह है कि वेदकी मूल परिशुद्ध संहितायें भी दुष्प्राप्य हैं। वेदोंके भाष्य हमारे पास नहीं हैं। वेदोंका अध्ययन करनेके साधन हमारे पास नहीं है। उंगलियों पर गिनेजानेवाली कुछ संस्थायें सिसक सिसककर थोडा बहुत वैदिक साहित्य निर्माण कर रही है। किन्तु उन संस्थाओंको आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहन देनेवाला कौन है? वेद संस्थान अजमेर नामकी संस्थाका ही उदाहरण लीजिये। अभी उसका शैशव ही है। वहाँसे 'सविता' नामक मासिक निकल रहा है और अन्य ७-८ पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। कितने परिश्रम, लगन और उत्साहसे वे कार्य कर रहे हैं। किन्तु कोई सभा ऐसी नहीं है जो उन्हे आर्थिक चिन्तासे निश्चिन्त कर दे और वहाँ और भी किन्ही आर्य विद्वानोंको रखकर, एक विशाल पुस्तकालय स्थापित कर वैदिक-साहित्यके निर्माणमें सहायता दे।

आर्य समाजमें आज कितने ऐसे विद्वान् हैं, जिन्हे चारों वेद या एक भी वेद कण्ठस्थ हो? कितने ऐसे हैं जिन्हे पांच या दस हजार मन्त्रोंपर भी पूरा अधिकार हो? कौन ऐसा है जो वैदिक व्याकरणका पूर्ण ज्ञाता होकर सस्वर वेदोंका पारायण कर सकता हो?

'वेद हमारे प्राण हैं। वैदिक धर्म हमारा धर्म है। वैदिक धर्मकी जय हो।' कहनेके लिये हम बडी सरलतासे यह सब कह देते हैं; किन्तु यह हम कभी विचार नहीं करते कि वेदोंका अनुशीलन या अध्ययन हम कितना करते हैं। वेदके नामपर हम कितना त्याग कर सकते हैं। हमारी अपेक्षा तो वेदोंको केवल पूज्य मानकर पुष्पार्पण करनेवाले वेदोंकी अधिक सेवा करते हैं। उन्हें वेद कण्ठस्थ हैं। वे वैदिक पाठशालायें चलाते हैं। किन्तु हम वेदोंके लिये क्या करते हैं! अनेक कन्या गुरुकुल एवं गुरुकुल, सैकडों स्कूलस और कालेजसे खोलकर भी वेदोंकी सेवा हमने कितनी की? अनेक प्रतिनिधिसभायें, सैकडों उपदेशक एवं हजारों आर्यसमाजें खोलकर भी ७५ वर्षोंमें वेदोंको हम कितना समझ सके। आर्य समाजोंके बडे बडे उत्सवोंपर और जयन्तियों पर धुआंधार व्याख्यानोंको सुनकर जनताके पल्ले क्या पडता है। राष्ट्रकी स्थिति इतनी परिवर्तित हो चुकी है कि जिन बातोंका आर्य समाजने आरम्भ किया था वे स्त्रीशिक्षा, शुद्धि, विधवा और बालविवाह अछूतोद्धार आदि बातें स्वयं होती जा रही हैं। आज इन विषयों पर लम्बे चौडे व्याख्यान देकर समय नष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है।

बडे बडे उपदेशकोंको आज जब हम अतीतके गुणगौरव गाते सुनते हैं, हिन्दू मुस्लिम एकताके लिये शुद्धि ही एक मात्र अस्त्र है, ऐसा कहते हुए सुनते हैं तथा वर्तमान वादोंपर विसङ्गत प्रतिपादन करते हुए सुनते हैं तो हमें अत्यन्त निराश हो जाना पडता है और यह विचार सामने आता है कि वेदोंके उद्धारकी बात तो बहुत दूर है; किन्तु क्या आर्य समाजसे आज यह भी आशा रक्खी जा सकती है कि वह वेदोंकी रक्षा भी कर सकेगा? बौद्धोंके प्रचारसे तिमिराच्छिन्न हुए वैदिक धर्मकी रक्षाका जब प्रश्न उठा तब कुमारिल भट्टने बडे अभिमानके साथ एक भारतीय विदुषीको उत्तर दिया—

'मा विभेषि वरारोहे भट्टाचार्योऽस्मि भूतले'

आज भी आर्य जगत्के सामने अन्धकार छाया हुआ है। न वेद हैं न वेदोंके भाष्य और न उन्हे जाननेके साधन। साहस भी कौन करे इस कार्यके लिये। कार्य इतना थोडा नहीं है जो एक पीढीमें भी समाप्त हो सके। १०० या ५० पण्डित एक साथ निश्चिन्त रूपसे बैठकर २५-३० वर्ष लगातार जब अनुशीलन व परिश्रम करें तब जन साधारणको वेद सूर्यकी थोडीसी प्रभा मिल सकती है। किन्तु इस महत्वपूर्ण प्रश्नकी ओर गम्भीरतासे आज कौन विचार करेगा? क्या आज इसका उत्तर देनेके लिये कोई तैयार है कि— **को वेदानुद्धरिष्यति?**

पश्चिमसे हम कुछ सीखें

वैदिक साहित्यका परिश्रमपूर्वक निर्माण करनेके लिये आज भी हमारे लिये पश्चिम अनुकरणीय है। जर्मनी, पोलेण्ड, फ्रान्स तथा अमेरिका आदि देशोंमें छपे हुए वेदोंके पुस्तकोंका मूल्य भारतमें छपे पुस्तकोंसे बीस गुना अधिक है। स्वच्छता और शुद्धिमें भारतकी अपेक्षा उनका नंबर पहला है। कठोर परिश्रमपूर्वक उन्होंने जो सूचियां तैयार की हैं वे कितनी उपयोगी हैं यह बात वैदिक अनुसन्धान करनेवाले भलिभांति जानते हैं। दुःख तो तब होता है जब कोई प्रतिष्ठित आर्य विद्वान भी यह कह देते हैं कि 'इन सूचियोंसे क्या लाभ?' 'यह तो समय और श्रमका दुरुपयोग मात्र है'

वेदोंके एक एक शब्दका अनुसन्धान कर करके उन्होंने जो कुछ वैदिक साहित्य जगत्के सन्मुख प्रस्तुत किया है वह उनके भारी अध्यवसायका द्योतक है; चाहे उसमें पूर्णता न हो, विशुद्धि न हो। किन्तु जो कुछ उन्होंने जगत्के सन्मुख रखा है वह उनके परिश्रमकी दृष्टिसे स्तुत्य है। क्या उसका एक अंश परिश्रम करके भी हम उन्हें पूर्ण और शुद्ध बना सकेंगे? सम्भव है अभी बहुत समयतक यह दुराशा मात्र हो।

अपने धर्म ग्रन्थोंके प्रचार व प्रसारके लिये वे अपना तन, मन, धन सब कुछ लगा देते हैं। दूर दूर भयानक जंगलोंमें जाकर वे बसते हैं। वर्षों वहाँ रहकर अनेक युवक और युवतियाँ वहाँकी भाषा सीखती है और पिछडी जातियोंकी सेवाकर उन्हें सभ्य और शिक्षित बनाकर ईसाई धर्ममें दीक्षित करती हैं। इस प्रकार वे अपना तन मन अपने धर्म एवं धर्मग्रन्थके लिये अर्पण कर देते हैं।

बायबिलके प्रचारके लिये ५० हजार पौण्ड प्रतिवर्ष इंग्लेण्ड की बायबिल सोसायटी व्यय करती है। इसके अतिरिक्त वहाँ की अनेक संस्थायें बायबिलके प्रचारके लिये धन बहा देती है। संसारकी ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें बायबिल का अनुवाद न हुआ हो। जिन भाषाओंकी अपनी लिपि नहीं है ऐसी भाषाओंमें भी रोमन लिपिमें बायबलका अनुवाद मिलता है। बडे से बडे टाइपमें और छोटे से छोटे टाइपमें मुद्रित बायिबल आपको मिल सकेगी। ऐसे कागजोंपर छपाई की गई है, जो हजार वर्ष तक नष्ट नहीं हो सकते। तब कहीं उनकी मिशनरीज आज दुनियाँमें कुछ काम कर पा रही हैं।'

हमारे उत्सवों एवं जयन्तियोंमें हजारों और लाखों रुपये स्वाहा हो जाते हैं। किन्तु वैदिक साहित्यके लिये खर्च करनेमें हम हिचकिचाते हैं। यदि हम विश्वके साथ अपनी प्रतिष्ठा जमाये रखना चाहते हैं तो हमें आज भी पश्चिमसे बहुत कुछ शिक्षा मिल सकती है। मैं तो आर्य कार्यकर्ताओंसे निवेदन करूँगा कि वे आज भी इस ओर ध्यान दें और संकल्प कर लें कि 'पश्चिमसे आज हम कुछ सीखें।

हैद्राबादके सुझाव पर दो शब्द

हैद्राबादकी प्रतिनिधि सभा वैदिक साहित्यका निर्माण करनेके लिये विशेष समुत्सुक है। वहाँ के प्रतिष्ठित कार्यकर्ता श्री नरेन्द्रजीने जो रचनात्मक सुझाव रखे उनमें एक अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह यह है कि आर्य उपदेशकोंके अध्ययन एवं अनुशीलनके लिये एक ऐसा केन्द्र स्थापित किया जाय जहाँ रहकर वे अधिकसे अधिक ठोस चीज प्राप्त करें और उसे जनता तक पहुँचाये। केन्द्र ऐसा होना चाहिये जहाँ विशाल वैदिक साहित्यसे पूर्ण एवं अन्य साहित्यसे युक्त एक बृहत् पुस्तक भाण्डार हो। अध्ययनकी पूरी पूरी सुविधा हो। इस केन्द्रमें आनेके लिये प्रत्येक प्रतिनिधि सभासे दो दो या पांच पांच उपदेशक प्रति वर्ष चुने जावें और वे पूरे वर्षतक यहाँ रहकर वेदानुसन्धान सम्बन्धि कार्य करें।

हमारी दृष्टिमें यह सुझाव उपदेशक सम्मेलनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण सुझाव था, जो शीघ्र ही कार्य रूपमें परिणत हो जाना चाहिये। मैं अपनी ओरसे इस कार्यको पूर्ण करनेके लिये हैद्राबाद आर्य प्रतिनिधि सभाके कार्यकर्ताओंके सामने और विशेषतः श्री नरेन्द्रजीके सामने एक महत्वपूर्ण योजना प्रस्तुत करता हूँ। मेरा अनुरोध है कि वे इसपर विचार करें तथा योजनाको कार्य रूपमें परिणत करनेके लिये अपनी पूरी शक्ति लगा दें—

इस योजनाको पूर्ण करनेके लिए स्वाध्याय मण्डलको यदि केन्द्र बनाया जाय तो पूरी सुविधा रह सकती है। स्वाध्याय मण्डलमें तीस वर्षोंसे वैदिक अनुसंधानका ही कार्य हो रहा है। यहां पाश्चात्य एवं भारतीय वैदिक साहित्यसे तथा अन्य धर्मोंके साहित्यसे भी भरापुरा एक बडा पुस्तकालय है। इस संस्थाकी ओरसे वेद महाविद्यालयके निमित्त वेदोंका पाठ्यक्रम भी निर्धारित किया गया है। यह पाठ्यक्रम अवश्य ही हमारी इस योजनाके लिए पूरक होगा। यहांपर एक विशाल मुद्रणालय भी है। जहां वैदिक साहित्यके प्रकाशन के अतिरिक्त हिन्दीमें 'वैदिक धर्म,' मराठीमें 'पुरुषार्थ,' और गुजरातीमें 'वेद संदेश' निकल रहे हैं अंग्रेजीमें भी—'ओरियन्टियल स्टडीज्' नामकी त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती है।

वाल्मीकि रामायण, महाभारत, और गीता, संबन्धी उच्च कोटिका साहित्य तो यहां है ही किन्तु उसके साथ ही वेदोंकी दैवत और आर्षेय संहिताएं वैदिक ज्ञानकी खानके रूपमें

प्रकाशित हुआ है। सम्पूर्ण अथर्ववेदका भाष्य यजुर्वेदके १-१६-३०-३१-३२-३६-४० वें अध्यायका सुन्दर भाष्य अनेक अनुसंधानात्मक वैदिक विषयोंकी पुस्तिकाएँ यहांकी एक माननीय विशेषता है।

इसके अतिरिक्त योगाभ्यास और आसन संबंधी साहित्य भी यथेष्ट है। यह तो हुआ साहित्यिक साधनोंकी बात, इसके अतिरिक्त भी यहां १५-२० व्यक्तियोंके रहने सहनेकी व्यवस्था भी संभव है। एकांत एवं शुद्ध वायुमंडलमें यह स्वाध्याय मंडल अपना कार्य कर रहा है। इस संस्थाके अध्यक्ष पूज्य पं० सातवलेकरजी ८६ वर्षकी अवस्थामें भी युवकोंकासा उत्साह रखकर इस योजनाके लिये अपना समय देनेके लिये प्रस्तुत हैं। ५० वर्षसे भी अधिक समयसे वे अपने जीवनका एक-एक क्षण वेदमाताकी सेवामें अर्पण कर चुके हैं। केवल भारत ही नहीं अपितु भारतसे बाहर भी उनका वैदिक ज्ञान एवं प्रतिभाका प्रभाव एवं मान्यता है। ऐसे महानुभावोंके सम्पर्कके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकाण्ड वेदज्ञोंका सहयोग भी यहाँ प्राप्त होता रहेगा। इस प्रकार सभी उपयुक्त साधनोंसे युक्त यह स्थान है। यदि हैद्राबाद आर्य प्रतिनिधि सभाके उत्साही एवं दूरदर्शी कार्यकर्ता अपनी योजनाओंको साकार देखना चाहें तो मेरे इस निवेदनपर विचार करें तथा इसे कार्य रूपमें शीघ्र परिणत कर दिखा दें। हमें विश्वास है कि हैद्राबाद की आर्य प्रतिनिधि सभा यदि यह शुभारम्भ कर देगी तो अन्य प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभायें भी इसे आदर्श मानकर सह-योगी बनेंगी ही। यदि मेरे इन दो शब्दोंपर आर्यजनता ध्यान देगी तो निश्चय ही एकदिन ऐसा आयेगा जब हमारे पुस्तकालय ही नहीं, भारत और विश्वके पुस्तकालय भी वैदिक साहित्यसे जगमगा उठेंगे। जनता अपने उपदेशकोंसे वे बातें सुनेंगी जिसके लिये उसकी आत्मा प्यासी है। फिर हम देखेंगे कि वेदोंकी सच्ची सेवा अब हो रही है। तभी हमें सच्चा अधिकार भी प्राप्त होगा कि हम 'वैदिक धर्मकी जय' बोलें।

(एक दर्शक)

वह कौन थे ?

वैदिक संस्कृतिके पुजारी—

श्री ला० धनीरामजी भल्लाका स्वर्गवास

पंजाब प्रान्तमें अनेक साधु, महात्मा, नेता उत्पन्न हुए, महात्मा हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्दजी, लाला लजपतराय, पं. गुरुदत्त जी विद्यार्थी प्रभृति महात्माओंके उत्पन्न करनेका श्रेय पंजाब को ही है। पूर्वी पंजाबके होशियारपुर जिलेमें 'वैजवाडा' एक ग्राम है। यह ग्राम अत्यन्त प्रसिद्ध है। क्योंकि महात्मा हंसराजजी. प्रो. रामदेवजी एम. ए. का जन्म इसी ग्राममें हुआ था। महात्मा हंसराजजी प्रो. रामदेवजी भल्लापरिवारके थे और इसी परिवारमें श्रद्धेय ला. धनीरामजी भल्लाका जन्म हुआ था। आपके पिताजीका नाम श्री छज्जूरामजी भल्ला था। हमारे चरित्र नायककी शिक्षा दीक्षा हाईस्कूलतक हुई थी। आपने १७ वर्षकी उम्रमें व्यापारमें प्रवेश किया था। उस समय उपानह (जूते) का व्यापार हिन्दुओंमें अच्छी दृष्टिसे नहीं देखा जाता था; पर महात्मा हंसराजजीकी प्रेरणासे आपने लाहौरकी अनार कलीमें "भल्लेदी हट्टी" नामक एक जूतेकी दूकान खोली—

कुछ दिनोंके पश्चात् आपकी सचाई व परिश्रमसे आप-का व्यापार चमक उठा और "भल्ले दी हट्टी" अत्यन्त प्रसिद्ध हो गई। पश्चात् आपने माल रोडमें एक शाखा खोली और "दी भल्ला बूटफैक्टरी" की स्थापना की। लाहौरके पाकिस्तान बन जानेपर आपकी सम्पत्ति नष्ट हो गई। आपने उत्तर प्रदेशके प्रसिद्ध मेसर्स दी नॉर्थ वेस्ट टैनरी कम्पनी कानपुर (फ्लेक्स जूता-निर्माता) के प्रमुख अभिकर्त्ता (Ghib Agent) बने और कानपुरके मेस्टन रोड पर "दी भल्ला शू कम्पनी" के नामसे आपकी दूकान प्रसिद्ध है। सम्प्रति कलकत्ता ४३ धर्मतल्ला स्ट्रीट तथा छेहराट्टामें इसकी शाखाएँ हैं। कानपुर प्रधान कार्यालय है और यहीं से फ्लेक्स के अभिकर्त्ता बनाए जाते हैं।

आपने व्यापार कार्यमें उन्नति करते हुए भी अध्यात्म मार्गको अपनाया था। नित्यप्रति सन्ध्या, हवन, स्वाध्याय चलता था। बिना सन्ध्या हवन, स्वाध्यायके आप, भोजन नहीं करते थे। परिवारके सभी स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध उपासना गृहमें एकत्रित होकर सम्मिलित हवन करते थे। हवनके पश्चात् आप वैदिक विनय' से एक मंत्र पढ-कर सबको भावार्थ समझाया करते थे। परिवारके सभी व्यक्ति बडे प्रेमसे आपके मुखारविन्दसे उपदेशों-को श्रवण करते थे, पुनः सब अपने अपने कार्यमें लग जाते थे—

प्रति सोमवारको आप 'रुद्रयज्ञ' किया करते थे। कानपुरके प्रसिद्ध प्रतिष्ठित वेदपाठी ब्राह्मण एकत्रित होते और यजुर्वेदके १६, १८, अध्याय, पुरुष-सूक्तसे यज्ञ करते थे और पण्डितोंको यथोचित दक्षिणा देकर विदा करते थे। आप यह कार्य श्रद्धेय पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजीकी प्रेरणासे करते थे; क्योंकि आपने मुझे प्रशंसित पण्डितका पत्र दिखलाया था। आपका यह कार्य देखकर ऋषियोंकी याद आजाती थी। वर्षमें दो बार आप बृहत् यज्ञ, साधु आश्रम, होशियारपुरमें किया करते थे। इस यज्ञमें काशीके प्रसिद्ध प्रसिद्ध वेदपाठी बुलाए जाते थे। मुझे स्वयं भी कई बार इन यज्ञोंमें सम्मिलित होनेका सौभाग्य प्राप्त

> लाला धनीरामजी भल्लाके असामयिक निधनपर स्वाध्याय मण्डलके समस्त कार्यकर्ता एवं कर्मचारी गण अपना हार्दिक शोक प्रकट करते हैं। आपके अभावसे आर्यजगत्को जो महान् क्षति हुई है, उसकी पूर्ति अत्यन्त कठिन है। परम पिता परमात्मासे प्रार्थना है कि वह दिवंगत आत्माको सद्गति प्रदान करे तथा उनके परिवारको इस दारुण शोकके सहन करनेका धैर्य दे। हम भी उनके दुखी परिवारके साथ सहभागी हैं। सह सम्पादक

हुआ था। आप महात्मा हंसराज मेला भी लगवाया करते थे। पहला यज्ञ वैशाखीके अवसपर, दूसरा यज्ञ दशहरेके अवसर पर प्रतिवर्ष करते थे। इन यज्ञोंमें एकबार श्रद्धेय पं. सातवलेकरजी भी आमन्त्रित किए गए थे और सात दिनोंतक आपने 'नर नारायण' पर अमृत-वर्षा की थी। सम्प्रति उस आश्रममें सुप्रसिद्ध विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीच्यूट' का कार्यालय है जिसके डाइरेक्टर श्रीयुत पं० विश्वबन्धुजी शास्त्री, एम. ए., एम. ओ० एल. हैं।

आपको साधु-महात्माओंसे अत्यन्त प्रेम था। आप साधु-संन्यासियोंसे श्रद्धा-पूर्वक उपदेश श्रवण करते थे। दान भी आप मुक्त हस्तसे करते थे। आपके पाससे विमुख कोई भी नहीं लौटता था। आर्य समाजी, सनातनी, जैनी, बौद्ध, मुसलमान, कांग्रेसी प्रभृति कोई भी दान-के लिए आता था उसे दान देनेमें हिचकिचाते नहीं थे।

आपका स्वभाव अत्युत्तम था। आपको क्रोध करते हुए मैंने कभी नहीं देखा। आपकी मीठीवाणी, उदार चरित एक नये आगन्तुकको भी मित्र बना देती थी। जो भी आपसे एकबार भी मिल जाता था वह आपका मित्र बन जाता था। कर्मयोगी पं० सुन्दरलालजी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन प्रभृति भी आपके पास आकर ठहरते थे और आप उनसे श्रद्धापूर्वक उपदेश ग्रहण करते थे।

आपके यहाँ 'भल्लाघर' लाहौरमें पूज्य महात्मा गांधी जी तथा टैगोरजी भी ठहरे थे। महात्माजी ने अपने हाथसे वहां एक पीपल वृक्ष लगाया था जो अभी विराजमान है।

आप ऐसे आर्य समाजी विचारके थे पर उदार आर्य समाजी थे। सभी सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंका स्वाध्याय, सभी मतवालोंका उपदेश ग्रहण करते भी आप नहीं हिचकते थे। पूज्य स्वामी सत्यानन्दजी महाराजके आप परम भक्त थे।

अभी आप अप्रैलमें होशियार पुर साधु आश्रमसे बृहद् यज्ञ करके मंसूरी अपनी कोठीमें गए थे। आपने टेलीफोनसे कानपुर वार्तालाप भी अपने पुत्रोंके साथ किया था। अचानक २६ अप्रैलके ११·१५ बजे रात्रिमें आपकी हृदय की गति बन्द हो गई और आप 'ओ३म् ओ३म्' का उच्चारण करते हुए इस नश्वर शरीरका परित्याग कर गये। उस समय आपकी धर्मपत्नी और छोटी लडकी थी और कोई नहीं था। रात्रिमें ही उनकी लडकीने टेलीफोन के द्वारा यह दुःखद समाचार, देहली, (मिलाप कार्यालय) कानपुर, हरिद्वार पहुँचाया। सभी इस समाचारको सुन-कर शोक सागरमें डूब गए। सभी समाचार पत्रोंमें आप-की मृत्युका समाचार छपा। आपका शव वायु शकटके द्वारा कानपुर लाया गया और २८ अप्रैलको ५ बजे सन्ध्या समय आपकी अन्त्येष्टि क्रिया हुई; उस समय नगरके सैकडों प्रतिष्ठित पुरुष उपस्थित थे। अन्त्येष्टि संस्कार वैदिक विधिके अनुकूल वैदिक मंत्रोंसे किया गया पश्चात् स्वामी सत्यव्रतजी महाराजने मृतात्माकी शान्तिके लिए प्रभु प्रार्थना की। हम उस पवित्रात्माकी शान्ति के लिए प्रभुसे प्रार्थना करते हैं और शोक-संतप्त परिवारके साथ समवेदना प्रकट करते हैं। सम्प्रति आपके परिवारमें पांच पुत्र, पौत्र, पौत्रियाँ प्रभृति हैं।

प्रेषक- श्री शिवपूजनसिंह कुशवाहा

संस्कृत भाषा प्रचार परीक्षाओंके सम्बन्धमें

आवश्यक सूचनायें

हम अपनी इन परीक्षाओंके सम्बन्धमें लोकापयोगिता की दृष्टिसे किन्ही बातोंका स्पष्टीकरण कर देना चाहते हैं।

१- इन परीक्षाओंका उद्देश्य यह है कि भारतीय जनता थोडेसे थोडे समयमें अत्यन्त सरलतापूर्वक अपनी इस मूल मातृ-भाषाको सीख ले। जिस प्रकार अहिन्दी भाषी प्रांतोंमें हिन्दी सीखनेवाले धीरे धीरे हिन्दी सीख जाते हैं, चाहे वर्षोंतक वे शुद्ध बोल या लिख न सकें; किन्तु उनमें इतनी योग्यता अवश्य आ जाती है कि वे हिन्दी भाषा समझ और पढ अच्छी प्रकारसे लेते हैं। इसी प्रकार यदि दो वर्षोंके हमारे इस पाठ्यक्रमसे अध्ययनार्थी संस्कृत भाषा अच्छी तरह समझ और पढ भी लेंगे तो उनका बहुत बडा लाभ होगा, फिर चाहे वे बहुत शुद्ध बोल या लिख न सकें।

प्रायः लोग किसी भाषाके अध्ययनके लिये इसीलिये हिचकिचाते हैं, क्यों कि वे उसे बोलने और लिखनेके विषयमें बडी कठिनताका अनुभव करते हैं। किन्तु उन्हें इस नियमको सदा स्मरण रखना चाहिये कि किसी भी भाषाकी पाण्डित्यपूर्ण योग्यता व्यवहारके लिये अधिक अपेक्षित नहीं हुआ करती। इतना अवश्य है कि भाषा सम्वन्धि समझने और पढने का ज्ञान हो जाने पर अभ्यास द्वारा उसे यथेष्ट बढाया जा सकता है। अतः इस भाषा सम्बन्धमें कठिनता सम्बन्धि विचार दूर कर देने चाहिये।

२- प्रचार सम्बन्धि योजना हमने पृथक्से छापी है। उसके अनुसार कार्य आरम्भ कर देना चाहिये। प्रारम्भमें चाहे यह कार्य छोटे रूपमें ही आरम्भ हो किन्तु यह विश्वास रखना चाहिये कि निकट-भविष्यमें इसका बहुत विस्तृत-रूप सामने आनेवाला है। अतः छोटेसे छोटे रूपमें भी यह कार्य आरम्भ कर देना श्रेष्ठ कर्तव्य है।

३- यह प्रथम अवसर होनेके कारण अनेक असुविधायें सामने आ सकती हैं। किन्तु उनपर विशेष ध्यान न देकर अपनी आवश्यकता पूर्ण कर लेनी चाहिये। केन्द्र-स्थापन, केन्द्र व्यवस्थापककी स्वीकृति, आवेदन पत्र भिजवाना आदिके विषयमें कुछ असुविधायें हों तो उन्हे धीरेधीरे सुलझा लेना चाहिये। इन्ही बातोंको ध्यानमें रखकर, हमने अपनी तिथियोंमें निम्न प्रकारसे कुछ परिवर्तन किया है। आशा है पाठक नोट कर लेंगे।

(अ) आवेदन पत्रोंकी जो तिथि १५ जुलाई तक रखी थी वह बढाकर ३१ जुलाई कर दी गई है।

(आ) केन्द्र-स्वीकृतिकी तिथि ३० जून निश्चित की गई थी। अब उसे बदलकर वह भी ३१ जुलाई कर दी गई है।

(इ) सीधे आवेदनपत्र भरे बिना भी यदि किसी परीक्षार्थी को प्रवेशिका, परिचय या विशारदमें बैठना हो तो वे केवल अपने एक प्रार्थनापत्रके साथ आवेदनपत्रको नत्थी करके भेज दें, जिससे सीधे-स्वीकृतिके लिये जो समय जाता है वह बच सकेगा। सीधे बैठनेवालोंको शुल्क सम्बन्धि विवरण पत्रिकाकी धारा ८ के- सीधे परिचय तथा विशारदमें स्वीकृति-सम्बन्धि उपनियमपर ध्यान देना चाहिये तथा उसीके अनुसार पूरा शुल्क भेजना चाहिये।

(ई) आवेदन पत्रोंका जो 'दो आना' शुल्क रखा गया है वह शुल्क केन्द्रमें ही जमा रखना है। उसे समिति कार्यालयमें नहीं भेजना चाहिये। उस रकमका उपयोग परीक्षा सम्बंधि व्यवस्थाके लिये केन्द्रव्यवस्थापक कर सकते हैं।

(उ) जिन स्थानोंको केंद्रकी स्वीकृति दी जा चुकी है। उनके नाम तथा केंद्र व्यवथापक महोदयोंके नाम 'वैदिकधर्म' के १ अगस्तके अंकमें प्रकाशित होंगे।

(ऊ) परीक्षाओंके सम्बंधमें स्वतन्त्ररूपसे यदि किसीको कुछ जानना हो तो पत्रद्वारा जान सकते हैं।

भवदीय

परीक्षामन्त्री

सांख्य-दर्शनमें ईश्वरवाद

(लेखक— श्री० सोमचैतन्य सांख्यशास्त्री, वेदवागीश)

(गताङ्कसे सम्पूर्ण)

(मध्यस्थप्रश्नम्)

अब इस दो की बातचीतमें तीसरा आदमी मध्यस्थ बनकर प्रश्न करता है। उक्त लक्षणमें ईश्वर प्रत्यक्षकी असिद्धिका विचार करनेकी आवश्यकता ही क्या है? क्यों कि—

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ॥ ८३ ॥

उभयथाऽप्यसत्करत्वम् ॥ ८४ ॥

मुक्त और बद्ध दोनोंमें अन्यतराभाव होनेसे ईश्वरकी ही सिद्धि नहीं। पुनः ईश्वर प्रत्यक्षके लक्षणकी चिन्ता क्यों करनी। क्योंकि ईश्वरको मुक्त मानोगे या बद्ध? मुक्त मानो तो वह मुक्त कब हुआ? क्या उससे पहले बद्ध था? मुक्त होनेसे पहले साक्षी कौन था? बद्ध मानो तो वह स्वयं अविवेकी होनेसे साक्षी किस प्रकार हो सकेगा? इस प्रकार दोनों तरहसे भी उसकी सिद्धि नहीं है, अतः उसके प्रत्यक्ष लक्षणका विचार क्यों करना?

(उत्तरपक्षम्)

मुक्तात्मनः प्रशंसा, उपासा सिद्धस्य वा ॥ ८५ ॥

सूत्र ९३ से मण्डूकप्लुतिन्यायसे नकार की अनुवृत्ति आती है। अथवा न तत्सिद्धिकी अनुवृत्ति सूत्र ९४ में भी है—

उभयथाऽप्यसत्करत्वम् अतो न तत्सिद्धिः ।

इससे नकारका अनुकर्ष हो जायगा। वा का अर्थ विकल्प नहीं, अपितु समुच्चय है। सूत्रका अर्थ है, नः आपका कहना ठीक नहीं, ईश्वर नित्यमुक्त है, वह अनादिसिद्ध ब्रह्मादि पूर्व गुरुओंका भी गुरु है, उस नित्यमुक्त ईश्वरकी प्रशंसा श्रुतियां करती हैं तथा उस सिद्ध गुरुकी उपासनाका विधान मिलता है।

सूत्र ९६ में तत् सर्वनाम है। उसके परामर्शके लिये पूर्वसूत्र ९५ में संज्ञीका होना आवश्यक है। यदि इस सूत्रमें ईश्वरका वर्णन न हो तो अगले सूत्रमें उक्त तत् शब्दसे किसका परामर्श होगा? मध्यस्थने जो कहा था कि वह बद्ध है या मुक्त? सो उसका यह उत्तर है कि वह न तो बद्ध है और न मुक्त किन्तु नित्यमुक्त है। ऐसाही आगे भी कहा है—

व्यावृत्तोभयरूपः (१।१६०), नित्यमुक्तत्वम्(१।१६२), औदासीन्यञ्चेति (१।१६३)।

व्यास भाष्यमें भी कहा है—

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः, ते हि त्रीणिबन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः, ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी, यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य, स तु सदैवमुक्तः सदैवेश्वर इति ॥ (१।२४) ॥

और कैवल्यप्राप्त तो बहुतसे केवली पुरुष हैं, वे प्राकृतिक, वैकृतिक और दाक्षिणिक तीनों बन्धनोंको काटकर कैवल्य प्राप्त हुये हैं, ईश्वरका संबंध उन बन्धनोंसे न तो कभी हुआ और न होगा, जिस प्रकार मुक्त पुरुषकी पहली बन्धकोटी ज्ञात होती है, इस प्रकार ईश्वरका नहीं है (ईश्वरको कभी बन्ध नहीं हुआ), और जैसे प्रकृतिलीनकी उत्तरा बन्धकोटि सम्भावित है ऐसा ईश्वर का नहीं (ईश्वर कभी बन्धमें न पड़ेगा), वह तो सदैव मुक्त है सदैव ईश्वर है ॥

स एष पूर्वेषामपि गुरुः, यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्यासिद्धस्तथाऽतिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ (१।२६)

वह यह ईश्वर पूर्व गुरुओंका भी गुरु है, जिस प्रकार वर्तमान सर्गके आदिमें वह ज्ञानोत्कर्ष की प्राप्तिद्वारा सिद्ध है, वैसेही इससे पूर्वके बीते सर्गोंमें और अनागत सर्गोंमें भी उसे सिद्ध समझना चाहिये।

उसकी प्रशंसा और उपासनामें श्रुति स्मृति प्रमाण है—

उपत्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि ॥ (यजु०)

हे स्वप्रकाशस्वरूप नित्यमुक्त परमात्मन्! प्रतिदिन प्रातः और सायं बुद्धिद्वारा तुम्हें नमस्कारकी भेंट चढाते हुये तुम्हारे पास आते हैं।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहुः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजुर्वेद)

हिमाच्छादित पर्वतोंकी उत्तुंग श्रेणियाँ जिसका गुणानुवाद गा रही हैं, पृथिवीसहित समुद्र जिसकी महिमाका वर्णन करते हैं, ये चारों ओर विस्तृत दिशायें जिसकी भुजाएँ हैं, उस मोक्ष प्रदाता, नित्यमुक्त, सुखस्वरूप परमेश्वरकी हम नित्य भक्तियोगसे उपासना करें।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् । त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥ पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् । न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥ (गीता. अ० ११)

आपही जानने योग्य परम अक्षर (परब्रह्म) हैं, आपही इस जगत्के परमाश्रय हैं, आपही धर्मके अनादि रक्षक हैं, और आपही सनातन पुरुष हैं ॥ १८ ॥

आप इस चराचर जगत्के पिता गुरुसे भी बडे गुरु एवं अति पूजनीय हैं। हे अतिशय प्रभाववाले, तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक कैसे होवे। ॥ ४३ ॥

उपासनाका विधान---

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरंह्युपासानिशितं सन्धयीत । आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥ (मुण्ड २।२।३)

हे सौम्य। उपनिषद्वेद्य महान् अस्त्ररूप धनुष लेकर उसपर उपासनाद्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढा, और फिर उसे खींचकर ब्रह्मभावानुगत चित्तसे उस अक्षररूप लक्ष्यका ही वेधन कर।

इस प्रकार उस नित्यमुक्त ईश्वरकी प्रशंसा और उपासना श्रुतिद्वारा पायी जानेसे ईश्वर प्रत्यक्षके लक्षणकी विवेचना करना युक्तियुक्त है।

ईश्वर सिद्धिमें युक्ति भी देते हैं—

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं. मणिवत् ।

उसके सन्निधानसे अधिष्ठातृत्व है, मणिकी तरह। यदि ईश्वर प्रकृतिका आधिष्ठाता हो, नियम और व्यवस्थापूर्वक जगतकी उत्पत्ति आदि न करनेवाला न हो, तो गुण साम्यात्मिका प्रकृति में विषमतासूचक क्षोभका सर्व प्रथम उदय क्यों कर होता है, इसको कोई युक्तियुक्त समीचीन उत्तर नहीं मिलता। अचेतना परिणामिनी, प्रकृतिबन्ध, मोक्ष, सृष्टि, प्रलय आदिकी व्यवस्था नहीं कर सकती। अतः उसको व्यवस्थापूर्वक प्रवर्तित करनेके लिये अधिष्ठाता ईश्वरकी आवश्यकता है। यह अधिष्ठातृत्व ईश्वरके सन्निधिमात्रसे सिद्ध होता है। यथा चुभा हुआ लोहेका कांटा चुम्बकके सन्निधिमात्रसे स्वयं खींचकर निकल आता है, चुम्बकमें न कोई परिवर्तन होता है और न उसे कोई प्रयत्न विशेष करना पडता है, केवल सन्निधिमात्रसे शल्यनिष्कर्ष हो जाता है वैसे ही ईश्वरके सामीप्यमात्रसे प्रकृतिमें नियमव्यवस्थापूर्वक किया चलती है। महोपनिषद्में कहा भी है,—

**निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते ।
सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः ॥ १३ ॥
अतश्चात्मनिकर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने ।
निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्तासन्निधिमात्रतः ॥१४॥**
(अध्याय ४)

ननु समष्टि सृष्टिमें तो ईश्वरका अधिष्ठातृत्व सामीप्यमात्रसे है, व्यष्टिसृष्टिमें जीवोंका अधिष्ठातृत्व भी क्या सन्निधानसे ही है ? इसका उत्तर देते हैं,—

विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ॥ ९७ ॥

सन्निधानादधिष्ठातृत्वं की अनुवृत्ति आती है। व्यष्टि सृष्टिमें जीवों-अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चेतनों-का भी अधिष्ठातृत्व सन्निधानमात्रसे ही है। क्योंकि जीव भी कूटस्थ चिन्मात्र रूप हैं।

सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः ॥ ९८ ॥

सन्निधानात् की अनुवृत्ति आती है। कालसे अनवच्छिन्न ईश्वर सिद्धरूप बोद्धा पूर्वेषामपि गुरु है। उसके सन्निधानसे ही अग्न्यादि ऋषियोंको वेदरूप वाक्यार्थका उपदेश है।

ननु पुरुष (ईश्वर और जीव) का सन्निधानमात्रसे गौण अधिष्ठातृत्व है तो मुख्याधिष्ठातृत्व किसका है ?

इसका उत्तर देते हैं,—

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ॥ ९९ ॥

अन्तःकरणका उस चेतन पुरुषसे उज्ज्वलित होनेसे तप्त लोहवत् अधिष्ठातृत्व है। यथा लोहा स्वयं न तो उज्ज्वल है

और न दाहक ही है, परन्तु अग्निके सम्बन्धसे वह उज्ज्वल और दाहक हो जाता है, इसी प्रकार जड अन्तःकरण भी जो समष्टि और व्यष्टि रूप है, शुद्ध चेतनद्वारा प्रतिबिम्बित होनेपर सङ्कल्पादि द्वारा अधिष्ठातृत्व करने लगता है।

(प्रश्न) यदि ऐसा है, तब तो चैतन्यसे अन्तःकरणके उज्ज्वल होनेपर अग्नि की तरह चितिशक्तिकी भी सङ्गिता हो जायेगी?

(उत्तर) यह बात नहीं है, क्योंकि नित्योज्ज्वल चैतन्य संयोग विशेषमात्र संयोग विशेषजन्य चैतन्यप्रतिबिम्ब ही अन्तः-करणोज्ज्वलनरूप है, चैतन्य तो अन्तःकरणमें सङ्क्रमित नहीं होता जिससे सङ्गिता हो। अग्नि भी प्रकाशादिक लोहमें सङ्क्रमित नहीं होता, किन्तु अग्निसंयोगविशेष ही लोहका उज्ज्वलन है।

(प्रश्न) इस प्रकार भी तो संयोगसे परिणामित्व होता है?

(उत्तर) नहीं, ऐसी बात नहीं है, सामान्य गुणसे अतिरिक्त धर्मोत्पत्तिमें ही परिणामका व्यवहार होता है। और यह संयोग अन्तःकरणके ही सत्त्वोद्रेकरूप परिणामसे होता है, क्योंकि पुरुषके अपरिणामी होनेके कारण संयोगमें तन्निमित्तक विशेषका होना सम्भव नहीं है। और यही संयोग विशेष बुद्धि और आत्माके अन्योन्य प्रतिबिम्बन में हेतु है।

इस प्रकार नित्यमुक्त, सबके गुरु ईश्वरकी श्रुतियोंमें प्रशंसा और उपासना पाई जानेसे तथा सन्निधानमात्रसे प्रकृतिका अधिष्ठाता होनेसे ईश्वरकी सिद्धि है, पुनः ईश्वर प्रत्यक्षकी विवेचना युक्तियुक्त है। इस प्रकार मध्यस्थके प्रश्नका समाधान करनेके अनन्तर अनुमान प्रमाणका लक्षण करते हैं,—

प्रतिबन्ध दृशः प्रतिबद्ध ज्ञानमनुमानम्। ॥१००॥ इत्यादि।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्यायमें जहाँ ईश्वरका वर्णन है वहाँ स्पष्ट ही ईदृशे-श्वरसिद्धिः सिद्धाः कहकर ईश्वरकी सिद्धि कही गई है। वहाँ प्रकरण यह है कि क्या ऊँची ऊँची योनियोंमें जन्म लेनेसे अथवा प्रकृतिलीन होनेसे जीव कृतकृत्य हो सकता है? प्रकृति-लीन योगी वे हैं जिन्होंने आनन्दानुगत समाधिको सिद्ध कर लिया है और सातों प्रकृतियोंका साक्षात् करते हुये अस्मितानुगत समाधिका अभ्यास कर रहे हैं। इनकी स्थिति बडी ऊँची होती है। व्यासभाष्यमें कहा है कि ये कैवल्यपद जैसा आनन्द भोगते हैं।

"तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्त्ततेऽधिकारवशाच्चित्तम् ॥ १।१९॥"

"तथा प्रकृतिलय भी अपने साधिकार चित्तके (अस्मिता) प्रकृतिमें लीन होनेपर कैवल्यपदके समान अनुभव करते हैं, जब तक कि चित्तके अधिकारवशसे पुनः इस लोकमें नहीं लौटते" उपरोक्त प्रश्नका उत्तर दिया गया है (३।५४) कि कारण लय होनेसे भी कृतकृत्यता नहीं हो सकती क्योंकि स्वरूपावस्थिति प्राप्त करनेके लिये उन्हें फिर जन्म लेना पडता है। फिर प्रश्न हुआ कि जब वे प्रकृतिमें लय हुये हैं, तब स्वतन्त्र प्रकृति अपने उपासक को दुःख देनेके लिये उत्थान क्यों करती है। उन्हें जन्म न दे। इसका उत्तर दिया है कि प्रकृति पुरुषार्थ को सिद्ध करनेमें पर-तन्त्र है?

तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहा-प्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति "

(व्यासभाष्य १।२५),

"कल्पप्रलय और महाप्रलयोंमें ज्ञानधर्मोपदेशसे संसारी पुरुषोंका उद्धार करूंगा इस प्रकार भूतानुग्रह ईश्वर-पुरुषका प्रयोजन है; प्रकृतिलयोंको अभी विवेकख्याति हुई नहीं-उनका उद्धार हुआ नहीं, अतः ईश्वर पुरुषके प्रयोजनको पूरा करनेके लिये प्रकृति प्रकृतिलयोंका उत्थान करती है। पुनः प्रश्न हुआ कि वह किसके परवश थे, इसका उत्तर दिया है वह सर्वज्ञ सर्व कर्त्ता ईश्वरके अधीन है। इसी बातको सूत्रोंमें देखिये,—

न कारणलयात् कृतकृत्यता, भग्नवदुत्थानात् ॥५४॥

कारण (अस्मिता प्रकृति) में लय होनेसे पुरुषको कृतकृत्यता= त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरूप अत्यन्त पुरुषार्थ = स्वरूपावस्थिति नहीं हो सकती। क्योंकि जिस प्रकार स्नानके लिये जलमें मग्न हुआ पुरुष पुनः जलसे ऊपर आता है, उसी प्रकार प्रकृति लीनोंको भी विवेकख्याति प्राप्त करनेके लिये पुनः जन्म लेना पडता है।

नतु प्रकृति किसीकी इच्छाके आधीन तो है नहीं, पुनः उनका उत्थान क्यों करती है! इसका उत्तर देते हैं,—

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ॥ ५९ ॥

प्रकृतिका अकार्य्यत्व=अप्रेर्य्यत्व=अन्येच्छाऽऽनधीनत्व होने-पर भी, तल्लीनका तद्योग=पुनरूत्थानकार्य करना पडता है, क्योंकि वह पराधीन है।

प्रकृति पुरुषार्थको सिद्ध करनेमें पराधीन है, प्राणियोंके उद्धार रूप ईश्वर पुरुषका प्रयोजन पूर्ण न होनेसे, प्रकृति कारणलीनके उत्थान करनेमें पराधीन है। ईश्वरका यह पुरुषार्थ प्रकृतिका प्रेरक नहीं, किन्तु प्रवृत्तिस्वभावा प्रकृतिकी प्रवृत्तिमें निमित्त है, अतः उसके स्वातन्त्र्यकी क्षति नहीं है।

नतु वह प्रकृति किसके परवश हो प्रकृतिलीनका पुनरुत्थान करती है? इसका उत्तर देते हैं—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता

वह सर्वज्ञ सर्वकर्त्ता है। श्रुतिमें भी कहा है,—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्। द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥

जो कोई गुप्त पाप चेष्टाएँ करता है, जो ठगता है, जो कोई किसीके प्रति टेढीमेढी कुटिल चालें चलता है, और दो बैठ-कर अकेलेमें जो गुप्त मन्त्रणा करते हैं, उनको सर्व लोकाध्यक्ष सर्वपूज्य परमेश्वर जानता है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथोस्वः॥

सबके धारण पोषण करनेवाले परमेश्वरने पूर्वकल्पके अनु-सारही सूर्य और चन्द्रमाको, द्युलोकको तथा पृथिवी लोकको, अथच स्वर्लोकको बनाया है।

उपनिषदोंमें भी कहा है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि।

(मुण्डक २।२।७)

"जो सर्वज्ञ है, सबको जानता है, भूलोकमें जिसकी यह बडी महिमा है," 'विश्वस्य स्रष्टारम्' (श्वेता० ४।१४) विश्वके स्रष्टाको जानकर अत्यन्त कल्याण और शान्तिको पाता है।

वायुपुराणमें भी कहा है कि ईश्वरमें सर्वज्ञता, अधिष्ठातृत्व, स्रष्टृत्वादि अनादि हैं—

सर्वज्ञतातृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्य-मलुप्तशक्तिः। अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥

विधिज्ञ पुरुष कहते हैं कि विभु महेश्वरके छः अङ्ग हैं,— सर्वज्ञता, तृप्ति (निराकांक्षा), अनादि ज्ञान, स्वतन्त्रता, नित्य-अलुप्तशक्ति, और अनन्त शक्ति।

ज्ञानवैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च॥
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे॥

ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धैर्य, स्रष्टृत्व, आत्मज्ञान और अधिष्ठातृत्व ये दश अविनाशी गुण ईश्वरमें नित्य रहते हैं।

इस प्रकार वह सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता ईश्वर है जिसके आधीन हुई प्रकृति ज्ञान, व्यवस्था और नियमपूर्वक पुरुषके अपवर्गके लिये प्रवृत्त हो रही है।

ईदृशेश्वर सिद्धिः सिद्धा ॥ ५७ ॥

इस प्रकारके ईश्वरकी सिद्धि जो सर्ववित् और सर्वकर्त्ता है स्वतःसिद्ध है। बिना ईश्वरके गुणसाम्यात्मिका प्रकृतिमें विषमतासूचक क्षोभका सर्वप्रथम उदय किस प्रकार हो सकता है? बन्ध मोक्षकी व्यवस्था जडप्रकृति किस प्रकार कर सकती है? अतः महत्तत्वमें प्रतिबिम्बित चेतन जो ईश्वर है, जो प्रकृतिके साथ शबलरूप होनेसे सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता, सर्वशक्तिमान् है, उसीके सान्निध्यसे प्रकृतिके सब कार्य ज्ञान, नियम, व्यवस्था-पूर्वक हो रहे हैं। और इसप्रकार सान्निध्यमात्रेण ईश्वरकी सिद्धि श्रुति स्मृति सब शास्त्रोंमें सिद्ध है।

पञ्चमाध्याय

तृतीयाध्यायमें कह आये हैं कि धारणा आसन और स्वाश्रमविहित कर्मके अनुष्ठानसे ध्यानकी सिद्धि होती है। अब यह विचारणीय है कि स्वकर्मका अनुष्ठान क्यों करना चाहिये? उसका उत्तर देते हैं—

मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति

शिष्ट पुरुषों द्वारा सदा आचरण किये जानेसे, शुभ फलोंके देखनेसे तथा श्रुतिसे अनुमोदित होनेसे स्वाश्रमविहित मङ्गल कर्मोंका आचरण करना चाहिये।

मनु, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, व्यास, श्रीकृष्ण आदि शिष्ट पुरुष सदा मङ्गल कर्मोंका अनुष्ठान करते आये हैं, मनुने सत्पुरुषोंके आचारकोभी धर्मका साक्षात् लक्षण कहा है,—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुष्टयं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

श्रुति, स्मृति, शिष्ट जनोंका आचार और अपने आत्माको प्रिय लगना, इन चारको धर्मका साक्षात् लक्षण कहा है। शिष्टजनसेवित होनेसे मङ्गल कर्मोंका आचरण कर्त्तव्य है।

२. नाभुक्तं क्षीयते कर्म कोटिकल्पशतैरपि, शुभाशुभ फलं कर्म, पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापं पापेन. " कोटि यत्न करनेपर भी विना भोगे कर्मोंका क्षय नहीं होता, शुभकर्मका शुभफल होता है और अशुभकर्मोंका अशुभ, पुण्य कर्मोंसे पुण्यलोकोंकी प्राप्ति होती है और पाप कर्मोंसे अधम लोकोंकी—इस प्रकारके फल दर्शानेवाले वाक्योंका शास्त्रोंमें दर्शन होता है, अतः शुभफलके दर्शनसे मङ्गलकर्म कर्त्तव्य हैं।

३ श्रुतिमें यावज्जीवन वेदविहित मङ्गलकर्मोंके करनेका विधान है अतः मङ्गलदायक स्वकर्मका आचरण करना चाहिये"

जो लोग मङ्गलाचरणका अर्थ ग्रन्थके प्रारम्भमें स्तुति-नमस्काराशीर्वादात्मक त्रिविध मङ्गलका करना करते हैं, यह ठीक नहीं है क्योंकि वेदमें कहीं भी इसका विधान नहीं है और न ब्राह्मणों या उपनिषदोंमें है। अतः श्रुतितः यह प्रमाण उनके पक्षमें नहीं घट सकता। इसी प्रकार शास्त्रोंमें इस प्रकारके मङ्गलाचरणका कहीं शुभाशुभरूप फलका वर्णन नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त नवीन परिपाटीके अनुसार मङ्गलाचरण करना चाहिये या नहीं इसका विचार प्रारम्भ ही में होना चाहिये।

ननु कर्मोंके शुभाशुभ फलकी व्यवस्था किसी अन्यके आधीन है अथवा कर्म ही शुभाशुभ फल देते हैं? इसका उत्तर—

न, ईश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः॥ १॥

जड होनेसे कर्मोंका स्वतःफलदातृत्व नहीं है, किन्तु ईश्वराधिष्ठित कर्मसे तत्तदभ्युदयादि लक्षण फलकी सिद्ध होती है। क्योंकि ईश्वराधिष्ठितत्त्वकी सिद्धि सिद्ध है।

" कर्माध्यक्षः " इस श्रुति (श्वेता०) से ईश्वर कर्मोंका अधिष्ठाता है यह सिद्ध है। उस ईश्वरकी ही व्यवस्थासे जीव अपने कर्मानुसार शुभाशुभ फलोंको पाता है।

ननु कर्माध्यक्ष होनेमें ईश्वरका क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर देते हैं,—

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत्

स्व=जीवोंके उपकारके लिये ईश्वरका अधिष्ठातृत्व है। लोककी तरह। यथा लोकमें लोग अपने आत्मीयोंका उपकार करते हैं तथा जीव जो ईश्वरके आत्मीय हैं उनके उपकारके लिये ईश्वरका अधिष्ठातृत्व है। " वेदमें ईश्वरको—

" त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो "
" स नो बन्धुः " " त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रोऽसि प्रियः। सखा सखाभ्यः इड्यः "

माता, पिता, बन्धु, सखा, प्रिय, सम्बन्धी आदि कहा है।

यजुर्वेदमें जीवोंको " अमृतस्य पुत्राः " " प्रजापते प्रजा अभूम " "अमृत पुत्र" 'प्रजापतिकी प्रजा' कहा है। गीतामें,—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो" " ममैवांशो जीवभूतो जीवलोकः सनातनः "

इन श्लोकोंमें जीवको ईश्वरका अंश कहा है। अतएव इन अपने जीवों-स्व के उपकारार्थ उसका अधिष्ठान है। व्यास भाष्यमें भी कहा है—

" तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहप्रयोजनम्"

" ईश्वरको अपना कोई उपकार नहीं है, किन्तु प्राणियोंका उपकार करना ही प्रयोजन है। और यह अनुग्रह जीवोंके मुक्त होनेपर ही पूर्ण होता है। जीव ईश्वरके अधिष्ठातृत्वसे पुण्यापुण्य कर्मोंके सुख या दुःखरूप फलोंको भोगते भोगते उब जाता है और उसे भोगोंसे विरक्ति हो जाती है। उसमें विवेक और वैराग्यका उदय होता है। परिणाम ताप संस्कार दुःखों द्वारा तथा गुण वृत्ति विरोधसे उस व्यक्तिको सब कुछ दुःख ही प्रतीत होता है। अन्तमें इस त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्तिके लिये सांख्ययोगका आश्रय लेता है और स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रकार ईश्वरका स्वोपकारादधिष्ठान है।

ननु ईश्वरका भूतानुग्रह प्रयोजन न मानकर आत्मानुग्रह प्रयोजन मान लें तो क्या क्षति होगी? इसका उत्तर देते हैं—

लौकिकेश्वरवदितरथा,

ईश्वरका भी आत्मानुग्रह स्वीकार करनेपर लौकिक ईश्वरकी

तरह हो जायगा। यथा लौकिक राजा वा धनी लोग कामनाके पूर्ण होनेसे दुःखी होते हैं, वैसे ईश्वरमें भी दुःखादिका प्रसङ्ग आवेगा। परन्तु वेदमें ईश्वरको 'अकाम' और 'न्यूनता' से रहित' कहा है—

" अकामः धीरोऽमृतो स्वयंभूः, रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः "

वह ईश्वर कामनारहित, धीर, अमृत, स्वयंभू, रससे तृप्त है और कहींसे भी न्यून नहीं है" अतः ईश्वरका आत्मानुग्रह प्रयोजन नहीं।

ननु ईश्वरको लौकिकेश्वरकी तरह मान लें तो क्या क्षति है? इसका उत्तर—

पारिभाषिको वा ॥ ५ ॥

यह पारिभाषिक होगा। संसारिता होनेपरभी यदि आप उसे ईश्वर कहें तो यह आपकी परिभाषा मात्र होगी, वह ईश्वर नहीं होगा। क्योंकि संसारिता और त्रिकालमें क्लेशकर्मविपाकाशयोंसे अपरमृष्टताका विरोध है।

ननु जब ईश्वरका अपना कोई प्रयोजन नहीं, तब वह सृष्टि निर्माणके लिये प्रवृत्ति क्यों करेगा ? क्योंकि बिना प्रयोजनके प्रवृत्ति नहीं होती। प्रयोजन न होनेसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती, प्रवृत्ति न होने पर ईश्वरके अधिष्ठातृत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसका उत्तर देते हैं,—

न, रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥ ६ ॥

प्रयोजन न होनेसे ईश्वर जगत्का निर्माण नहीं कर सकता, यह आपका कथन ठीक नहीं, राग प्रयोजनके बिना भी ईश्वर द्वारा जगन्निर्माणकी, अतएव ईश्वराधिष्ठातृत्वकी सिद्धि है। क्योंकि ईश्वर प्रकृति प्रवृत्तिके प्रति नियमरूपेस निमित्त कारण है। ईश्वरमें जगन्निर्माणादिकी प्रवृत्ति अनादि है। उसके ज्ञान, बल और क्रियाएँ स्वाभाविक हैं। जिस प्रकार बालक क्रीडा करते हुये बिना प्रयोजनके ही गृहका निर्माण और विनाश करते हैं, यह घरका बनाना और बिगाडना केवल उन बालकोंकी क्रीडा मात्र ही होती है। इसमें उनका कोई अपना प्रयोजन नहीं होता, इसी प्रकार आप्तकाम परमेश्वर क्रीडारूपसे ही जगत्का निर्माण और संहारादि किया करता है। यही बात मनुस्मृतिमें लिखी है—

" क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः "

" परमेश्वर पुनः पुनः सृष्टि और संहार क्रीडा करता हुआसा करता है। वेदान्तसूत्रोंमें महर्षि व्यासने भी कहा है कि ईश्वरके जगन्निर्माणादि केवल लीला मात्र हैं, यथा—

लोकवत्तु लीला कैवल्यम् ॥ वे० सू०० २।१।३३ ॥

इस पर शङ्कर भाष्य—

तु शब्देन आक्षेपं परिहरति। यथालोके कस्यचिदाप्तैषणस्य वा व्यतिरिक्तं किञ्चित्प्रयोजनमभिसंधाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसंधाय बाह्यं किञ्चित्प्रयोजनं स्वभावादेव संभवन्ति एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किञ्चित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। न हीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा संभवति। यदि नाम लोके लीलास्वपि किंचित्सूक्ष्म प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत तथापि नैवात्र किञ्चित्प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते, आप्तकाम श्रुतेः।

तु शब्दके द्वारा सूत्र २।१।३२ में उक्त "न प्रयोजनवत्त्वात्" आक्षेपका परिहार करते हैं। यथा लोकमें किसी आप्तैषण व्यक्तिका किसी प्रयोजनका अभिसन्धान किये बिना ही क्रीडा विहारादिमे केवल लीलारूप प्रवृत्ति होती है और यथा श्वास प्रश्वासादि किसी बाह्य प्रयोजनका बिना अभिसंधान किये ही स्वभावसे ही होते हैं, इसी प्रकार ईश्वरकी किंचित् प्रयोजनान्तरकी अपेक्षा किये बिना ही स्वभावसे ही केवल लीलारूप प्रवृत्ति होगी। निरूपण करनेपर ईश्वरका प्रयोजनान्तर न्यायसे वा श्रुतिसे संभव नहीं है। यदि लोकमें लीलाओंमें भी किंचित् सूक्ष्म प्रयोजनकी उत्प्रेक्षा की जाय, तथापि ईश्वरमें किसी प्रयोजनकी उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती, क्यों कि श्रुतिमें ईश्वरको आप्त काम कहा गया है ॥

इस प्रकार लीला मात्रसे जगत्का निर्माणादि करनेसे ईश्वरका अधिष्ठातृत्व सिद्ध है ॥

अभ्युपगमवादसे ईश्वरमें राग मान कर भी उक्त आक्षेप का परिहार करते हैं,—

तद्योगेऽपि, न, नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥

यदि ईश्वरमें राग मान भी लें, तो भी आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर नित्यमुक्त है। यदि हम मान भी लें कि विना प्रयोजनके प्रवृत्ति नहीं होती, और यदि प्रयोजनके लिये ईश्वरमें राग मान भी लें तो भी इससे उससे मुक्तत्वकी क्षति नहीं। ईश्वरमें क्लेशात्मक राग त्रिकालमें भी नहीं है। वह तो सदैव मुक्त सदैवेश्वर है। ईश्वरमें जीवोंके उद्धाररूप करुणा लक्षण राग है। क्लेशात्मक रागसे ही बन्धका योग होता है। और ईश्वरकी यह करुणा उसके नित्य होनेसे आगन्तुकी न होकर स्वाभाविकी है। अतएव उसके अधिष्ठातृत्वकी भी अनुपपत्ति नहीं है। इस प्रकार प्रवृत्तिप्रयोजनके लिये ईश्वरमें करुणा लक्षण राग मानने पर भी उसके अधिष्ठातृत्वकी सिद्धि है। उसके अधिष्ठातृत्वमें ही जीव शुभाशुभ कर्मोंका यथावत् फल भोगता है। अतएव ईश्वरके न्याय दण्डसे डर कर सदा जीवोंको मङ्गलाचरण करना चाहिये।

ननु यदि प्रकृतिके साथ ईश्वरको भी जगत्का उपादान कारण मान लें तो क्या क्षति है?

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः॥ ८॥

यदि प्रधान शक्ति=प्रकृति=के योगसे ईश्वरको भी उपादान कारण मानो तो सङ्गापत्ति होगी। पुरुषको असङ्ग कहा गया है। अतः असङ्ग पुरुषेश्वरका प्रकृतिसे योग नहीं हो सकता। और जैसे प्रकृति सूक्ष्मसे स्थूल रूपमें प्रकट हुई है वैसे प्रकृति युक्त ईश्वर भी स्थूलरूपमें अभिव्यक्त होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिये प्रकृतिके साथ ईश्वरका योग नहीं हो सकता और प्रकृति तथा ईश्वर दोनो संयुक्त जगत्के उपादान कारण नहीं बन सकते।

ननु अच्छा तो ईश्वर ही अपनी सत्तासे जगत्का उपादान कारण हो, इसका उत्तर—

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम्॥ ९॥

उपादान कारणके गुण कार्य्यमें आया करते हैं। ईश्वर सर्व व्यापक और अखिलैश्वर्य युक्त है। यदि ईश्वर अपनी सत्तासे सृष्टिका उपादान हो, तो सबको अखिलैश्वर्य युक्त होना चाहिये। यतः ऐसा नहीं है अतः ईश्वर जगत्का उपादान नहीं।

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः॥ १०॥

प्रत्यक्षप्रमाणका अभाव होनेसे सर्वैश्वर्यकी सिद्धि नहीं हो सकती।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम्॥ ११॥

अतएव, व्याप्तिसम्बन्धका अभाव होनेसे सर्वैश्वर्यकी सिद्धिमें अनुमान भी नहीं है। प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा सर्वैश्वर्यकी सिद्धि न होनेसे ईश्वर सत्तामात्रसे जगत्का उपादान नहीं हो सकता।

ननु,तो जगत् किसका कार्य्य है? इसका उपादान कौन है? इसका उत्तर देते हैं,—

श्रुतिरपि प्रधानकार्य्यत्वस्य॥ १२॥

श्रुति भी जगत्का प्रधान कार्य्यत्व= ही वर्णन करती है, ईश्वर कार्य्यत्व नहीं। जगत् प्रधान=प्रकृतिका कार्य्य है, प्रकृति इसका उपादान कारण है। यथा—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः
सृजमाना सरूपाः॥ (श्वे ता० ४।५)

इस श्रुतिमें अजा–प्रकृतिको जगत्का उपादान बताया गया है। अतएव प्रधान ही जगत्का उपादान कारण है और ईश्वर अपनी सत्ता मात्रसे निमित्त कारण है। सूत्र १२ में प्रकृति की उपादान कारणता का वर्णन होनेसे इसके पूर्वसूत्रोंमें उपादना कारणका ही विचार है ऐसा प्रकरण–प्रसंगसे समझना चाहिये॥

इस प्रकार षडध्यायीके ईश्वर विषयक सम्पूर्ण स्थल उसकी सिद्धिपरक हैं निषेधपरक नहीं। सम्पूर्ण साङ्ख्य ग्रन्थोंमें पुरुष, धर्म, यम, नियम, योग आदि शब्दोंके द्वारा प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्षरूपसे ईश्वरका वर्णन किया गया है। परमर्षि कापिल ऋषियोंमें अग्रगण्य हैं। सांख्यशास्त्र श्रुति स्मृतिका प्रबल पोषक है। श्रुतिमार्गके अनुगामी सांख्यको हम कभी भी नास्तिक वा निरीश्वरवादी नहीं कह सकते। षडध्यायी सांख्यसूत्रके प्रणेता भी ईश्वरवादी ही हैं, एवं षडध्यायीमें कहीं भी ईश्वरका निषेध नहीं है, यह बात सिद्ध हो गई। उसी ईश्वरके परम अनुग्रहसे सांख्यमत पर जो निरीश्वरवादका लाञ्छन लगता था, सो दूर हुआ।

किस प्रकार हम अपना कर्तव्य पूर्ण करें ?

भारती-भक्तोंकी सेवामें हमने संस्कृत भाषा प्रचारकी जो योजना प्रस्तुत की, उसका हमारे अनेक सहयोगी पत्रोंने अत्यन्त उदारतापूर्वक प्रकाशन किया। जो हार्दिक सहयोग उन सबने हमें दिया वह भाविष्यमें भी हमें मिलता रहेगा, ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है। एक साथ सारे भारतमें हमारी इस योजनाको पहुँचानेका सम्पूर्ण श्रेय उन्हींको है। उन सबके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं।

सहयोगके भाव

जबसे यह योजना जनतातक पहुँची है तबसे सैंकडों पत्र भारतके कोने कोनेसे हमारे पास आये हैं। उन पत्रोंको देखकर हमें जो सन्तोष और गौरव अनुभव हुआ वह शब्दोंद्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। आसामसे लेकर पंजाब और काश्मीरतक, गढवालसे लेकर उत्तर केनाडातक तथा बंबई, बडौदासे लेकर मद्रासतक जिस व्यापक रूपसे जनताने अपने भाव प्रदर्शित किये हैं वे अत्यन्त आशामय हैं। सब चाहते हैं कि हम संस्कृत पढें, सबकी इच्छा है कि हम देववाणीका अभ्यास करें, सब उत्सुक हैं कि हम अपने अतीतकी भव्यताका अध्ययन स्वयं करें। संस्कृत हमारी मातृभाषा है, उससे अनभिज्ञ रहकर तो हम अपनेसे ही अनभिज्ञ रहेंगे। राष्ट्रके इस संकट कालमें हम अपने आपको जितना अधिक पूर्ण बना सकते हैं उतना अधिक हमें बनाना ही चाहिये। इसके लिये यदि आज ही प्रयत्न न आरम्भ कर दिया जाय तो फिर कब किया जावेगा? अधिकसे अधिक सहयोग देनेकी उत्सुकता सबमें दिखाई पड रही है। संस्कृतभाषा प्रचारका कार्य एक महान् आरम्भ है। जो भारतीय है उसका प्रथम कर्तव्य है कि वह इस कार्यमें अपना पूरा पूरा योग दे। यह महान आरम्भ इसीलिये है क्योंकि यह राष्ट्रके प्रत्येक नागरिकका अपना कार्य है। हमें आशा है कि इन्हीं भावोंको अपनाकर भारतका प्रत्येक निवासी हमें सहयोग प्रदान करेगा।

कार्यारम्भकी योजना

इस कार्यको आरम्भ करनेके लिये हमने एक योजना बनाई है; जिसके चार भाग हैं—

१— संस्कृत भाषा प्रचार समिति

२— प्रचारक या अध्यापक

३— केन्द्र-स्थान

४— अध्यापन स्थान

१— सर्व प्रथम जो महानुभाव यह कार्य आरम्भ करना चाहें वे अपने नगरके किन्हीं प्रतिष्ठित व्यक्तियोंका सहयोग, प्राप्त कर लें। इस प्रकार सहयोग प्राप्त होनेपर तथा कमसे कम चार सदस्य बननेपर एक समिति बना लें। इसके लिये व्यापारी, शिक्षक, सार्वजनिक कार्यकर्त्ता अथवा कोई भी राष्ट्रप्रेमी व्यक्तिका या संस्थाका सहयोग अवश्य प्राप्त किया जा सकता है। समिति बननेपर उसके सामने व्यापक कार्यक्षेत्र है। उसे अधिकसे अधिक सफल बनानेमें यह समिति अवश्य सफल होगी।

२—दूसरा कार्य पढानेका है। इच्छा होनेपर भी संस्कृताभ्यासी व्यक्तियोंके सामने यह प्रश्न रहता ही है कि पढाई किस प्रकार की जाय।

इस कार्यके लिये विद्यालयों, महाविद्यालयों या अन्य शिक्षण संस्थाओंके अध्यापक महानुभावोंका सहयोग मिल सकता है। वे अपना एक घण्टेका समय सायंकाल देकर अनुगृहीत कर सकते हैं। जो इस प्रकार सहयोग देंगे, वे हमारे प्रतिष्ठित एवं प्रमाणित प्रचारकके रूपसे सम्मानित होंगे। स्थानीय समितियोंकी आर्थिक स्थितिके अनुसार वे पुरस्कार भी प्राप्त कर सकेंगे।

३— तीसरा प्रश्न अध्यापन स्थानका है। इस कार्यके लिये किसी भी शिक्षणालयमें सायंकालके समय एक घण्टेके लिये स्थान प्राप्त किया जा सकता है। वहां पढाईके अन्य सभी साधन रहेंगे ही। अथवा किसी सार्वजनिक संस्थाके भवनका उपयोग भी सम्भव है। इस प्रकार अध्यापन स्थानके लिये भी

कोई असुविधा न होगी। एक अच्छा सूचना-पट्ट उस भवनके सामने 'संस्कृत भाषा प्रचार वर्ग' का लगा दिया जाय। उसपर समयविभाग आदिकी सूचना भी अंकित हो।

४— चौथी बात केन्द्रस्थानकी है। इतना कार्य हो जानेके बाद किसी भी शिक्षणालयके प्राध्यापक महोदयसे स्वीकृति ले ली जावे कि वे केन्द्र व्यवस्थापकका कार्यभार स्वीकार करें। प्राध्यापक महोदयकी स्वीकृति आनेपर वह स्थान केंद्रके रूपमें स्वीकृत हो जावेगा। विवरण पत्रिकाके परिशिष्ट ६ में केन्द्रव्यवस्थापकोंके अधिकार एवं कर्तव्यका पूरा विवरण है। इससे उन्हें पूरी सुविधा होगी।

हमारी इच्छा

इस योजनाको प्रस्तुत करनेके पश्चात् हम आशा करते हैं कि थोडा थोडा श्रम करके भी हम एक विशाल कार्य कर सकते हैं। हम सम्पूर्ण भारतमें इस समितिका जाल बिछा देना चाहते हैं तथा देशके कोने कोनेमें केन्द्र खोल देना चाहते हैं। हम तो चाहते हैं कि प्रत्येक नगर और ग्राममें एक विशाल मातृभाषा-मंदिर हो जिसमें एक पुस्तकालय, एक संग्रहालय तथा एक अध्यापनकक्ष हो। यदि आप सबका सहयोग प्राप्त होगा तो एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जब हम अपनी तथा विश्वकी ज्ञान-पिपासा परिपूर्ण कर भारतमाताकी महान् सेवाका सौभाग्य प्राप्त कर सकेंगे।

निवेदक

परीक्षा-मन्त्री

स्वाध्याय मण्डल किल्ला-पारडी, (सूरत)

वैदिक पुनर्जन्म-मीमांसा-भास्कर

अर्थात्

श्री नाथुलाल गुप्त पुरुषार्थवाद-मर्दन।

(लेखक— पं. श्री. जगन्नाथशास्त्री, न्यायभूषण, विद्याभूषण, ओ, टी, झज्झर [जि. रोहतक] पू. पंजाब)

(गतांकसे आगे)

जीवका स्वरूप क्या है—

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृष्यते। ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥

(अ० १०।८।२५)

अर्थ (एकं बालात् अणीयस्कम्) केशसे भी अत्यन्त सूक्ष्म एक वस्तु है जो (एकम् उत) वह एक भी (न इव दृश्यते) नहीं के समान दीखती है (ततः) उससे भी सूक्ष्म वस्तुके (परिष्वजीयसी) भीतर व्यापक अतिसूक्ष्मतम (देवता=देवस्य भावः देवता भावे तात्वलौ) देवसत्ता है (सा) वह (मम प्रिया) मेरी प्यारी है। अर्थात् एक जीवात्मा तथा दूसरा परमात्मा है।

क्या यह जीवात्मा उत्पत्तिवाला है? इसका उत्तर--

सनातनमेनमाहुरुताद्यस्यात् पुनर्णवः। अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥

(अथ. १०।८।२३)

अर्थ-(एनं सनातनम् आहुः) इस जीवात्माको उस परमात्माके अंश होनेसे सनातन (सदातनः सनातन) सदा रहनेवाला अर्थात् नित्य कहते हैं। (अद्य उत पुनः नवः स्यात्) जन्म जन्मान्तरोंमें आता हुआ आज भी वह फिर नया है। अर्थात् इसमें जीर्णता नहीं आती। जैसे (अहोरात्रे) दिन और रात (प्रजायेते) उत्पन्न होते हैं तो भी (अन्यःअन्यस्य

रूपयोः) एक दूसरोंके रूपोंमें समान होते हैं जैसे " स उ एवाद्य स उ एवश्वः " कठोप. २।४ आज वही है और कल भी वही है। आत्माकी चेतनतां भी नित्य रहती है, वह कभी नाश नहीं होती।—

" इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे। यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः "

(अथ० १०।८।२६)

अर्थ—(इयं कल्याणि अजरा) यह कल्याणमयी चेतना (अजरा) कभी बूढी होनेवाली नहीं है। अर्थात् एक ही स्वरूपमें रहनेवाली है वह (मर्त्यस्य गृहे) मरणशील प्राणीके घरमें अर्थात् देहमें (अमृता) न मरनेवाली अर्थात् नित्य है (यस्मै कृता) जिस देहके लिये (कृता) वह रखी जाती है (स शये) वह देह तो मुर्दा होकर लेट जाता है (यः चकार) जिस पिताके देहने उसे अर्थात् उस देहको धारण किया था (सः जजार) वह भी जीर्ण हो गया अतः सिद्ध होता है कि देह नाशवान् है और चितिशक्ति आत्मा अविनाशी है। यही आत्मा देह सम्बन्धसे पुत्रका पिता और पुत्रका पुत्र है—

'' उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः। एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः।" (अथ० १०।८।२८)

अर्थ—वह आत्मा ही बालकोंका पिता है अथवा वही इन पिता माताओंका पुत्र है। वह भाइयोंमेंसे ज्येष्ठ भाई और वही (कनिष्ठ) सबसे छोटा है। तो भी वह आत्मा क्या है? (ह एकः देवः) निश्चयसे वह एक ही है (मनसि प्रविष्टः) जो उत्पादकके मनमें प्रविष्ट होता है (प्रथमः जातः) जो पहिला ही शरीर ग्रहण करके होता है (स उ अन्तः गर्भे) वह ही अन्दर गर्भमें है।

जीवका स्वरूप

" वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते " तथा ' आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ '
(श्वेताश्व० उ० ५।९) यह स्पष्टार्थ है

तथा पूर्व जन्मकी सिद्धिके लिये " ज्ञातुर्ज्ञान साधनोपपत्तेः संज्ञा भेदमात्रम् " न्या० द० ३।१।१८ तथा " पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्ष भय शोक संप्रतिपत्तेः " न्या० द० ३।१।१९ तथा " प्रेत्याऽऽहारा भ्यास कृतात् स्तन्याभिलाषात् " न्या० ३।१।२२

इन गोतम सूत्रोंके पूर्वोत्तर पक्षके साथ तथा वात्स्यायन भाष्यके देखनेसे ज्ञात होगा कि आत्मा देहादि संघातसे भिन्न है अथवा देहादि संघात ही चेतन है यह बात उपरोक्त ग्रन्थोंके देखनेसे सिद्ध होगी। जनवरी १९५० पृ० ६ में लिखा है– जीवात्मा अपनी आयु व्यतित होनेपर मृत्युको प्राप्त होते हैं। तब उनकी चेतना विराट् पुरुषकी चेतनामें लय हो जाती है। तै० का प्रमाण दिया। विराटपुरुष ही पुनः पुरुष स्त्री द्वारा नए जीव उत्पन्न करता है। प्रारब्ध अर्थात् दैववाद पूर्वजन्मकृत कर्मोंका खंडन किया। स्वर्ग नर्क अर्थात् सुख और दुःख इसी एक जन्ममें इस लोकमें ही मिल जाते हैं और मृत्युके पश्चात् जन्म नहीं होता।

समीक्षा=जीवात्मा मृत्यु होनेके बाद विराट् पुरुषमें लय नहीं होता। प्रत्युत देवाधिन (पूर्वजन्मकृत कर्माधीन) होकर संसारमें मातापिताद्वारा पुनर्जन्म लेता है। जैसे—

" पञ्च पदानि रुपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन। अक्षरेण प्रतिमिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि " (ऋ० १०।१३।३)

अर्थ—(रुपः) मातापिता द्वारा संसारमें उत्पन्न हुआ जीवात्मा मैं (पञ्चपदानि अन्वरोहम्) पांच स्थानोंको अर्थात् शरीरको अधिष्ठान रूपसे १ आगेको " स्वतन्त्रः कर्त्ता " के भावसे स्वतंत्र कर्म करनेको २ तथा इन्द्रियादिको कारण रूपसे ३ चेष्टादि क्रियाको ४ पूर्व जन्मकृत कर्म फल भोक्तृत्व दैव ५ को आरूढ हुआ हूं। (व्रतेन चतुष्पदीम् अन्वेमि) मैं जीवात्मा (व्रतेन कर्म नामसु। पाठ निघं २।१) कर्मबंधनसे ही (चतुष्पदीम्) शरीर, कर्तृत्व, करणत्व, चेष्टा, इन चारों पदोंवाली पदवीको प्राप्त होता हूं अर्थात् दैवाधीन कर्मानुसार इस जन्ममें भी पूर्वोक्त चारों बातोंका अनुसरण करता हूं। कर्तृत्वकी स्वतंत्रतासे (अक्षरेण) अविनश्वर परब्रह्म परमात्माके द्वारा अर्थात् ओंकार परमात्मोपासना द्वारा ओंस्वरूपके साथ (एताम्) इस अपनी तनुको यद्वा इस चेतनाको (प्रतिमिम) जोड देता हूं। ऐसे ही मैं जीवात्मा (ऋतस्य नाभौ) परब्रह्म परमात्माकी नाभिमें अर्थात् मुक्तिधाममें (सं+पुनामि) अपने आपको अच्छी तरह पवित्र करता हूं। वेद मंत्र स्वयं बताता है

मनुष्यको पुनर्जन्ममें लानेके लिये पांच वस्तुएं आवश्यक हैं जिनमें पांचवी दैव=प्रारब्ध आवश्यक है। पहिली चार वस्तुओंसे कर्म करता हुआ आगेके लिये अपना मार्ग शोधता है। दैवसे उस शरीरको प्राप्त करता है, अतः पूर्वजन्मकृत कर्म अवश्य हैं जिनके आधारपर इस शरीरका निर्माण होता है। जैसे—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधा च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीर वाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
(भग० १८।१४।१५)

अर्थ—(अधिष्ठानं) सुख दुःख भोगनेका आश्रय शरीर तथा कर्ता कर्तृत्व भोक्तृत्वाभिमानी जीवात्मा बाह्य और आभ्यंतर भेदसे ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन और बुद्धि यह बारह कारण और अनेक प्रकारकी चेष्टा प्राणापानादि वायु द्वारा पृथक् पृथक् चेष्टा और दैव प्रारब्ध यह पांचों ही वस्तुएं जन्म-जन्मान्तरमें कारण रहती हैं १४। मनुष्य शरीर, वाणी और मनसे जिस कर्मको आरंभ करता है चाहे न्यायवाला या अन्यायवाला कर्म हो उपर बताए हुए यही पांचों कारण हैं १५। यहां शरीर शब्दसे इन्द्रिय जानना चाहिये। तथा च—

त्रीणि पदानि रूपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैत द्व्रतेन। अक्षरेण प्रतिमिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति" (अथ० १८।३।४०)

अर्थ- (रूपः) कर्मबीजसे उत्पन्न होनेवाला जीवात्मा (त्रीणिपदानि) तीन पदोंको अर्थात् प्रारब्ध संचित और क्रियमाण इन तीन प्रकारके कर्मोंके स्थानोंको (अनु+अरोहत्) क्रमसे अर्थात् प्रारब्ध कर्मानुसार 'जात्यायुर्भोगं' जन्म, आयु और भोग जैसे योग द० में कहा है "सति मूले जात्यायुर्भोगाः" इसके व्यास भाष्यको भी देखें। पुनः सञ्चित कर्मोंके पदको पुनः "स्वतन्त्रः कर्ता" इस भावसे इस जन्ममें क्रियमाण कर्मोंके पदोंको चढता है। (अनु+एतत्) इसके पश्चात् (व्रतेन) कर्मसे (चतुष्पदीम्) शरीर, कर्तृत्व, करणत्व, चेष्टा इन चारों पदोंवाली जन्म यापनस्थितिको (अन्वरोहत्) प्राप्त होता है। इस जन्ममें यदि (अक्षरेण) अक्षर अविनाशी "औंकार" से (अर्कम्) अर्चना उपासना करनेयोग्य परमेश्वरका (प्रतिमिमीते) प्रत्येक पदार्थमें विद्यमान जानता है। तब (ऋतस्य) परमात्माकी (नाभौ) नाभि अर्थात् आश्रयमें (अभि) परमात्माको साक्षात्कार करके (सं-पुनाति) अपने आपको अच्छी तरह पवित्र कर लेता है। इस मंत्रमें प्रारब्ध कर्मका स्पष्टतया वर्णन आया है।

प्रारब्धवादपर न्याय द० ३।२।६२ "**पूर्वकृत फलाऽनुबन्धात्तदुत्पत्तिः**" **वात्स्यभाष्य=पूर्वं शरीरे या प्रवृत्ति वाग्बुद्धि-शरीरारंभलक्षण तत्पूर्वं कृते कर्मोक्तं तस्य फलम्। तज्जनितौ धर्माधर्मौ तत्फलस्य अनुबन्धः=आत्मसमवेतस्याऽवस्थानम्। तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्य शरीरस्योत्पत्तिः, न स्वतंत्रेभ्यः इति।**

अर्थ—पूर्वजन्मके शरीरमें वाक् बुद्धि शरीरारंभरूप प्रवृत्ति होती है वह पूर्वजन्ममें कृत कर्मोंका फल पुण्यपाप है। उसका फल ही शरीरकी उत्पत्ति है। शरीरकी उत्पत्ति स्वतंत्र नहीं है। शरीर आत्माके पुरुषार्थको देखता है जैसे रथ सारथिके पुरुषार्थको देखता है। जैसे अनुमान '**शरीरं जीवगुणप्रयुक्त भूतकार्यं पुरुषार्थसाधनत्वात् रथादिवत्**" इसी प्रकरणका ६३।६५ दो सूत्र पूर्व पक्षरूप होकर श्री नाथूरामजीके सिद्धान्तको उपस्थित करते हैं परन्तु ६४ तथाऽऽहारस्य, ६६ सूत्र पूर्व जन्मकृत कर्मफल प्रतिपादक है। अतः न्याय दर्शनके आधार पर भी जीवात्माका जन्म पूर्वजन्मकृत कर्माऽनुसार होता है न कि धान्यबीजवत्।

जीवात्मा शरीरमें अर्थात् जन्मलेनेके लिये गर्भमें कैसे और किस वस्तु द्वारा आता है।

"**तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्न-निरूपणाभ्याम्**" (वेदां० द० ३।१।१)

अर्थ=(तदन्तर प्रतिपत्तौ) वीर्यावस्थामें पडा हुआ जीवात्मा पिताके देहसे मातृदेहकी प्राप्तिमें पितृदेहके बीजभूत सूक्ष्मोंसे (संपरिष्वक्तः रंहति) मिला हुआ जाता है (प्रश्न निरूपणाभ्याम्) प्रश्नसे "**वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुष वचसो भवन्ति**" छांदो० ३।३ पांचवी आहुति अर्थात् "**द्युपर्जन्य पृथिवी पुरुष योषित्**" इन पांच अग्नियोंमेंसे स्त्री अग्निमें अर्थात् जीवात्मा मृत्युके बाद आकाश १ मेघ २ पृथिवी (अन्न) ३ पुरुष (रेतः) ४ योषित् (रजः) ५ इनमेंसे होकर ५ वीं योषित् अग्निमें प्रवेश

करता है। किस रूपमें (आपः पुरुष वचसो भवन्ति) जल रूपसे पुरुषाकार हो जाता है। अतः जीवात्मा जलोंद्वारा (रंहति) वेग करता है। जीव जलद्वारा आता है यदि किसीका शरीर १ मन ३५ सेर हो तो उस देहमें रुधिर मज्जा मूत्रादिका भार ५६ सेर होगा १९ सेर शेष वस्तुएं होती है यह शारीरिक वैद्योंका कथन है तथा—

यदा वै पुरुषो अस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति
(बृह० ५।१०।१)

अर्थ—जो पुरुष इस लोकसे प्राणोंको छोडता है अर्थात् मर जाता है तब वह पहिले आकाशमें पुनः वायुमें प्रवेश करता है। जीवात्मा वायुमें प्रवेश करता हुआ दृष्टिगोचर क्यों नहीं होता ?

" उर्ध्वं भरन्तमुदकं कुंभेनेवोदहार्यम्।
पश्यंति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः
(अथ० १०।८।१४)

अर्थ—सब मनुष्य मरते हुए मनुष्यके (उर्ध्वं भरन्तम्) शरीरसे उपर अर्थात् निकलते हुए प्राणोंको उँचा खींचा जाता हुआ कलशसे खेंचे हुए जलकी तरह आँखसे देखते हैं। इसके प्राण शरीरसे उपर हो रहे हैं परन्तु मनसे निश्चित नहीं कर सकते कि शरीरसे जानेवाली वस्तु क्या है। क्योंकि जीवात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म १ बालके नोकके सौवें भागसे भी अणु है वह इस चर्म चक्षुसे कैसे देखा जा सकता है। जैसे योग द० २।९ में कहा है " **स्वरसवाही-तत्र व्यासभाष्यम्= प्राग्भवीय मरण दुःखानुभवजन्यो वासनासंघः स्वरसः तेन रूपेण अनिशं वहनशीलः** " पूर्व जन्मके मृत्युके दुःखके अनुभवसे उत्पन्न हुए वासनाके समूहको धारण करनेवाला यह जीवात्मा है।

(प्र.) यह देह संघातही जीवात्मा है या जीवात्मा पृथक् है ?

(उ०) **वाङ्मे आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः। अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥ उर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः। प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिऽभृष्टः,**
(अथ० १९।६०।१,२)

इन दोनों मंत्रोंमें शरीरके सब अंगका वर्णन है। प्रायः शरीरका सुख चाहा, अन्तमें कहा (आत्मा अनिभृष्टः) न नाश होनेवाला आत्मा इस शरीरमें रहे। आत्माको नित्य माना है। न कि अनित्य। तथाच—

' पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः '
(अथ. १०।८।४३)

अर्थ—(त्रिभिः गुणेभिः) सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, इन तीन गुणोंसे (आवृतम्) घिरा हुआ (नवद्वारम्) चक्षु श्रोत्र ४ नासिक ६ मुख ७ गुदा ८ और उपस्थ ९ इन नौ द्वारोंवाला (पुण्डरीकम्) कमलरूपी शरीर है (तस्मिन्) उस शरीरमें (यत्) जो (यक्षम्) श्रेष्ठ (आत्मन् वत्) आत्मावाला है (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी (वै) निश्चयसे (तत्) उसे (विदुः) जानते हैं। अतः इस शरीरसे आत्मा पृथक् है जिसे वेदवेत्ता जानते हैं। तथाच—

" अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गोज्योतिषावृतः "। तस्मिन् हिरण्यये कोशेऽयरेत्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वैब्रह्म विदो विदुः॥
(अथर्व १०।२।३१-३२)

इन दोनों मंत्रोंके भाव भी अथर्व० १०।८।४३ के साथ पूरे मिलते हैं। अतः आत्मा देहसे भिन्न है जीवात्मा देहके छोड देनेपर मृत्यु नहीं होते बल्कि पुनः दूसरे शरीरमें जन्म लेते हैं। यथा—

" स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आद्यां रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारंसुविद्वांसो वितेनिरे "
(यजुः १७।६८ ॥)

अर्थ—हे जीवात्मन्! (ये सुविद्वांसः) जो अच्छे बुद्धिमान् पुरुष (विश्वतोधारं यज्ञम्) आहुति, दक्षिणा, अन्नदानादि कई प्रकारकी धाराओंवाले यज्ञको (वितेनिरे) विस्तृत करते हैं वह (स्वः) स्वर्गलोक और उसके सुखको (यन्तः) प्राप्त होते हुए (न अपेक्षन्ते) पुण्यकर्मोंके प्रभावसे मनुष्य लोकमें भोगे हुए पुत्र पश्वादि सुखकी अपेक्षा नहीं करते। (रोदसी) पुण्यके उपभोग पर्यन्त (रोदसी) जरा, मृत्यु, शोकादिके रोकनेवाले (द्याम) स्वर्गीय प्रकाशमय लोकको (आरोहन्ति) प्राप्त करते हैं अर्थात् पुण्योंके क्षीण होनेपर इस मनुष्य लोकमें जन्म मरणके प्रवाहको प्राप्त होते हैं। तथा—

प्लवा एते ह्यदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति "

(मुण्डको० १।२।८)

अर्थ— (एते हि यज्ञरूपा अष्टादशप्लवाः अदृढाः) निश्चय-से यह यज्ञरूप अठारह नौकाएं सदा रहनेवाली नहीं हैं। (येषु) जिनमें (अवरं कर्म उक्तम्) नीची श्रेणीका कर्म बताया गया है। (ये मूढाः) जो मूर्ख (एतत् श्रेयः) यही कल्याणका मार्ग है ऐसा मानकर (अभिनन्दन्ति) इसकी प्रशंसा करते हैं (ते) वे पुरुष (पुनरपि) वारंवार (जरामृत्युं यन्ति) वृद्धावस्था और मृत्युको प्राप्त होते हैं। इस मुण्डकोपनिषद्के मंत्रसे भी मृत्युके अनन्तर जन्म और जन्मके अनन्तर मृत्यु होती है ऐसा ज्ञान होता है। अतः वीर्यद्वारा मातृ गर्भ प्राप्ति पुनर्जन्म नहीं है।

श्री गुप्ताजीने मातृजन्मानन्तर शरीरत्यागसे पूर्व इस लोकके सुखको स्वर्ग कहा है। क्योंकि मृत्युके अनन्तर पुनर्जन्म होता नहीं तो सुख कहां, यह सिद्धान्त गुप्ताजीने माना।

समीक्षा–इस पाञ्चभौतिक शरीर छोडनेके अनन्तर स्वर्ग सुख होता है। जैसे —

"येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्। तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं धर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्य वः " (अथर्व. ४।११।६)

अर्थ— (देवाः) सकाम कर्म करनेवाले विद्वान् (येन) जिस कर्म, उपासना ज्ञान प्रतिपादक ऋग्यजुः सामवेदत्रयीकी आज्ञाऽनुसार कर्म करनेवाले (शरीरम्) पांच भौतिक देह (हित्वा) छोडकर (अमृतस्य नाभिम्) परमात्माके नाभिस्थान अर्थात् मध्यमें रहनेवाले (स्वः) स्वर्गको अर्थात् सुखस्वरूप स्थानको (आरुरुहुः) चढ जाते हैं अर्थात् स्वर्गको प्राप्त हो जाते हैं। (तपसा) शारीरिक, वाचिक, मानसिक तप करनेसे (यशस्य वः) इस संसारमें यशको प्राप्त करते हुए हम भी (धर्मस्य व्रतेन) अग्निष्टोमादि व्रत धारण करनेसे (तेन) उस कर्मोपासना ज्ञान प्रतिपादक ऋग्यजुः सामवेदत्रयीकी आज्ञानुसार कर्मोंके अनुष्ठानसे (सुकृतस्य लोकम्) पुण्यात्मा-ओंके लोकको (गेष्म) प्राप्त होवें।

मृत्युलोक ही स्वर्ग है या स्वर्गलोक कोई विशेष लोग है? इस प्रश्नपर मेरी सम्मतिमें " स्वर्ग " विशेषलोक है। जैसे—

" येन द्यौ रुग्रा पृथिवीच दृढा येन स्वःस्तम्भितं येन नाकः " (ऋ० १०।१२१।५)

इस मंत्रमें " द्यौः= आकाश, पृथिवीको दृढ किया फिर (स्वः स्तम्भितम्) स्वर्गको भी दृढ किया और ' येन नाकः ' कं–सुखं, न कं=अकं न सुखं, **न अकं यत्र स नाकः** नाक आदित्यो भवति, निरु० २।१४ नाक और " स्वः " लोकतामें है। अतः द्यौ, पृथिवी, स्वः, नाक (आदित्य) स्थापित किये हैं अतः स्वर्गलोक विशेष है। अष्टौ वसवः= वसन्ति अस्मिन् भूतानीति वसुः। अतः आठ वसुओंमें से कोई स्वर्ग विशेष लोक होगा। जैसा कि पदार्थवेत्ता विद्वान् ' मंगल ग्रह ' को वास भूमि बताते है। तथा वहां तक वायुयानों द्वारा पहुंचनेका प्रयत्न भी कर रहे हैं। जैसे—

" साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय। उध्वों नाकस्याधिरोह विष्टपं स्वर्गोलोक इति यं वदन्ति "

(अथर्व० ११।१।७)

यहां ' **विनाकस्य विष्टपमं अधिरोह नाक** ' की पीठपर चढ, (यं स्वर्गोलोक इति वदन्ति) जिसे लोग स्वर्गलोक भी कहते हैं। अतः " स्वर्ग " कोई विशेषलोक अवश्य है। केवल इस मर्त्यलोकमें नहीं है। इसी सूक्तका ३६–३७ मंत्र देखें ' **एतैः सुकृतैरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तरश्मौ** ' इन पुण्योंसे सप्तरश्मिसे युक्त नाक=स्वर्गमय स्थानमें विराजमान (यज्ञम्) यज्ञरूप प्रजापतिको (अनु-गच्छेम) अनुगमन करें। यह श्री जयदेव विद्यालंकारने अथर्व वेद भाष्यमें लिखा है। इससे भी प्रतीत होता है कि " स्वर्ग " कोई विशेषलोक है जहां पुण्यात्मा जाते हैं " **तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभिनाकमुत्तमम्** " ३७॥ यही बताता है। तथा ऋ० १०।१२१।५ मंत्र-के भावको (अथ० १३।१।७) बताता है। दोनोंका भाव एक है—

" रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत तेन स्वः स्तभितं तेन नाकः। तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् "

इसमें भी द्यौ, पृथिवी, स्वर्ग, नाक, अन्तरिक्ष, तथा (रजांसि लोका उच्यन्ते) निरु० ४।१९ इस मंत्रसे भी ज्ञात होता है स्वर्गको पृथिवी आकाश की तरह परमात्माने दृढ किया है। 'सुख' गुण है लोक द्रव्यमें आते हैं। अतः "स्वर्ग" कोई भिन्नलोक अवश्य है। एवं—

"तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैः यैरीजानाः स्वर्गं यान्ति लोकम्" (अथ० १८।४।२,३,४)

इससे अधिक क्या लिखूं।

श्री गुप्ताजीके मतमें इसी लोकके सुखको स्वर्ग कहते हैं पृथक् कोई स्वर्गलोक नहीं है। उनके मतमें जीवात्मा की मृत्यु ही मुक्ति है। जब शरीर ही न हो, तो सुख किसको होगा। और कौन भोगेगा, क्योंकि आपके मतमें भी चेतनताके चलेजानेपर शरीर जड हो जाता है। अतः श्री नाथुरामजीके मतमें अथ० ४।११।४ मंत्र अथर्ववेदका न होगा, या वह अथर्ववेदको न मानते होंगे।

जनवरी १९५० पृ० ६ में लिखा है। जीवात्मा अपनी आयु व्यतीत होनेपर मृत्युको प्राप्त होते हैं तब उनकी चेतनता विराट् पुरुषकी चेतनतामें लय हो जाती है।

समीक्षा=आपके मतमें जीवात्माके विराट्में लय हो जानेसे पृथक् न कोई मुक्ति है न जीवात्मा रहता है।

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (यजुः ३१।८)

उस महान् पुरुष परब्रह्मको जानकर जन्ममृत्युसे मुक्त हो सकता है नकि केवल मृत्युमात्रसे मुक्त हो सकता है। तथा—

"त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः। प्रत्यौहन् मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा" (अथर्व० ५।२८।८)

अर्थ— (यद्) जब (त्रयः) कर्मयोगी, ध्यानयोगी, ज्ञानी, यह तीनों (सुपर्णाः) अच्छी तरह अपने अपने कर्ममें गमनशील हुए अर्थात् कर्मयोगी कर्मानुष्ठानमें प्रवीण, ध्यानयोगी अपने ध्यानमें प्रवीण, ज्ञानी अपने ज्ञानमें प्रवीण (त्रिवृत्ताः) तीन प्रकारसे मिले हुए अर्थात इन्द्रिय द्वारोंको रोककर मनको हृदयमें काबू करके अपने प्राणोंको मूर्द्धामें स्थापित करके इस तरह तीन प्रकारके व्यवहारोंसे (एकाक्षरम्) "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" ओं पदवाची अविनाशी परब्रह्मको (अभिसंभूय) प्राप्त करके (आयन्) मृत्युको प्राप्त होते हैं अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त होते हैं न कि विराट् पुरुषको। तब वह (अमृतेन) अमर पदसे (विश्वा दुरितानि साकम्) एक साथ ही सब पापोंको (अन्तर्दधानाः) परमात्मज्ञानाग्निसे अन्दर ही अन्दर रोककर (मृत्युं प्रत्यौहन्) मृत्युको प्राप्त होते हैं अर्थात् सब पापोंका लय इसी देहमें हो जाता है और वे पाप पुण्यसे शुद्ध होकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं न कि विराट पुरुषको। जैसे—

"प्रणवो धनुःशरो ह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्य मुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्"। (मुण्डको० २।४)

इसमें भी ब्रह्मको लक्ष्य माना है न कि विराट पुरुषको। तथाच—

"ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः सहस्रनीथः पदवी कवीनाम्। तृतीयं धाम महिषः सिषन्त्सोमो विराजमनुराजतिष्टुप्" (ऋ० ९।९६।१८)

अर्थ—जो ऋषियोंकी तरह मनवाला ऋषियोंकी तरह कर्म करनेवाला, सबको शुभ दृष्टिसे देखनेवाला, हजारों प्रकारोंसे परमात्माकी स्तुति करनेवाला, ज्ञानियोंमें शिरोमणि संसारी जीवोंसे महान् (तृतीयं धाम) तीसरे धाम (मृत्युलोक १ म धाम, विराट पुरुष २ य धाम ब्रह्म ३ य धाम है) (**तृतीये धामन्यधैरयन्त** " ऋ०) अर्थात् ब्रह्मको सिद्ध करनेकी इच्छा करता हुआ (विराजंष्टुप्) उस परब्रह्मके सामने प्रकाशसे रहित विराजको भी (विराजम् विराट् विराधनात् विराध निरु० ७।१३) विराट पुरुषसे भी बढे हुए परब्रह्मकी स्तुति करता हुआ (अनुराजति) परमात्माके स्वरूपका अनुभव करता है। यहां भी विराट पुरुषको छोडकर ज्ञानी परब्रह्मको प्राप्त होता है। तथाच—

" सुतपान्वे सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये सोम्यासो दध्याशिरः " (अथर्व० २०।६९। ३)

अर्थ— (इमे) यह (शुचयः) पापसे रहित शुद्ध मनवाले ज्ञानी (सुताः) ज्ञानसे अभिषिक्त योगसमाधिमें निष्णात (सोमासः) ब्रह्मज्ञानी पुरुष (दध्याशिरः) ध्यानयोगसे देहसे जनित दोषोंसे रहित हुए हुए (सुतपान्वे) ज्ञानियोंको पवित्र करनेवाले परमात्माको (वीतये) प्राप्त करनेके लिये (यन्ति) उसके पास जाते हैं। यहां भी निष्पाप जीव परब्रह्मको प्राप्त होता है ऐसा कहा है। तथाच—

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ब्रह्मणे स्वाहाः " (अथ० १९।४२।८)

मंत्रमें स्पष्टतया कहा गया है परमात्मा मुझे अपने पास रखे, नकि विराट पुरुषके पास। तथा—

" पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः। समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः " (ऋ० १०।१७७।११)

अर्थ— (विपश्चितः) ज्ञानी मनुष्य (असुरस्य मायया) परमात्म-ज्ञानसे (अक्तम्) प्रत्यक्ष हुए हुए (पतङ्गम्) परमात्माको (मनसा) मनसे (हृदा) बुद्धिसे (पश्यन्ति) साक्षात्कार करते हैं। परमात्माको साक्षात्कार करते हैं नकि विराट पुरुषको। अतएव (कवयः) ज्ञानी पुरुष (समुद्रे अन्तः) हृदयरूपी समुद्रमें (विचक्षते) देखते हैं। क्योंकि उपनिषद्में कहा है—

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

" तथा (वेधसः) ब्रह्मज्ञानी (मरीचीनां पदम्) वृत्तिज्ञानके अधिष्ठानभूत परब्रह्मके स्थानको (इच्छन्ति) चाहते हैं इस मंत्रने भी यही बताया है। मुक्तिके लियेपुरुष ब्रह्मको चाहते हैं न कि विराट्को। तथाच—

" महत्तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृग् येन भूतं जनयो येन भव्यम्। प्रत्नं जातं ज्योतिर्यदस्य प्रियं प्रियाः समविशन्त पञ्च " (ऋ० १०।५५।२)

अर्थ— हे जीवात्मन्! (तत्) उस परब्रह्मका (नाम) ओंकारका नाम " **तस्य वाचकः प्रणवः** " बहुत भक्तोंसे स्पृहणीय जिह्वासे उच्चारण करने योग्य है। (येन) जिस ओंकारसे (भूतम् जनयः) पूर्वोत्पन्न पदार्थ मात्र उत्पन्न हुआ है (येन भव्यम्) जिस ओंकारसे आगे होनेवाले पदार्थ भी उत्पन्न होंगे (अस्य) इस परब्रह्मकी (प्रत्नं यत् ज्योतिः जातम्) जो ज्योतिः अर्थात् भगवत्स्वरूप प्रकट होता है और हुआ है। (प्रियाः) भगवानके पियारे (पञ्च) पांचों प्रकारके मनुष्य ' गन्धर्व, पितर, देव, असुर, राक्षस, यह कई मानते हैं तथा ' चत्वारो वर्णाः पञ्चमो निषाद इत्यौपमन्यवः निरु० ३।८ यहां पांच शब्दके ग्रहणसे ज्ञात होता है। परमात्माकी भक्ति करनेवाला किसी जातिका ही क्यों न हो भगवत् प्रिय हो जानेसे (प्रिये समविशन्त) उस पियारी ब्रह्मज्योति को प्राप्त होते हैं। इस मंत्रने भी ब्रह्म ज्योतिकी प्राप्ति बताई है नाकि विराट् पुरुष की। जैसे कहा है—

ये धीवानो रथकाराः कर्माराः ये मनीषिणः। उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्। (अथर्व० ३।५।६)

अर्थ— (पर्णः) हे ज्ञानवान् यति! (ये रथकारा धीवानः) जो बुद्धिमान रथकार हैं तथा (ये मनीषिणः कर्माराः) जो बुद्धिमान कर्म करनेवाले शूद्रादि हैं। (त्वम्) तू (उपस्तीन् सर्वान् जनान्) मेरी उपासनाके लिये उपस्थित हुए हुए उन सब लोगोंको (अभितः) चारों ओरसे (मह्यं कृणु) मेरे लिये कर दे। वर्णादिकी अपेक्षा न कर प्रत्युत भक्तिकी अपेक्षा कर। तथाच—

" नृचक्षसो अनिमिषन्तः अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्त्वमानशुः। ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये " (ऋ० १०।६३।४)

अर्थ— (नृचक्षसः) ज्ञान और कर्मके नेता अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके देखनेवाले (अनिमिषन्तः) सर्वदा भगवद्भक्तीके लिये जागते हुए (देवासः) ब्रह्मज्ञानी लोग (अर्हणाः) योगसाधनद्वारा निर्वाण पदकी योग्यताको प्राप्त करते हुए (बृहत्-अमृतत्वम्) परमोत्कृष्ट अमरपद अर्थात् परब्रह्मको (आनशुः) प्राप्त होते हैं। (अथ) फिर वही ज्ञानी (ज्योतीरथाः) दिव्य देहवाले (अहिमायाः) किसी भी पाप अथवा इन्द्रियसे न नाश होनेवाली प्रज्ञावाले (दिवः वर्ष्माणं) ज्योतिके स्वरूप ब्रह्मको (स्वस्तये वसते) मुक्तिकी प्राप्तिके लिये वास करते हैं। इस मंत्रमें भी अमर ज्योतिको प्राप्त होता है न कि विराट् पुरुषको ऐसा कहा है।

और वेद प्रमाण बहुत देता, परन्तु विस्तारभयसे नहीं लिखे। यदि स्वा० द० जीके वेद प्रमाणोंको पौराणिक पंडितोंने जानकर नहीं लिखा। या श्री स्वामीजीने नहीं लिखवाये तो अब अच्छी तरहसे देख लें। शेष प्रमाण श्री स्वा० दयानन्दजीकी ऋग्वेद भाष्य भूमिका पृ. १८१, १८२, १८४, १८५ पर मुद्रित १९३४ को देखें तथा जो मंत्र श्री स्वामीजीने पृ. १८८ पर लिखे हैं उन्हें भी देखें—

'ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश। तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥' (ऋ. १०।६२।१)

'सनो बन्धुर्जनिता'— यजुः ३२। १० इनका अर्थ भी पृ. १८८, १८९ पर लिखा हुआ है देखकर 'श्री. नाथुरामजी' अपना सन्देह दूर कर लें। क्योंकि श्री. नाथुरामजीने दिसम्बर १९४९ अंक १२ पृ. ४५८ पर लिखा है, 'मुक्तिके विषयमें न प्रथम वेदमन्त्र है न संस्कृत भाष्य है।

समीक्षा= यहांपर संस्कृत भाष्याऽभावके सम्बन्धमें श्री स्वा० दयानन्दजीके संस्कृत लेखको देखें **'अविद्यास्मितेत्यारभ्याध्यैरगंतेत्यन्तेन मोक्षस्वरूपनिरूपणमस्तीति वेदितव्यम् एषामर्थः प्राकृतभाषायां प्रकाश्यते'** अब इसको सावधान होकर देखें मुक्ति विषयमें वेदमंत्र दिये हैं या नहीं, **नैषस्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषाऽपराधः'** यहां माना जाता है। श्री गुप्ताजीके सिद्धान्तके विरुद्ध यदि संस्कृतभाष्यमें लेख मिलता है अथवा हिन्दी भाषा भाष्यमें मिलता है उनके मतमें दोनों ही पौराणिक पंडितोंके लिखे हुए हैं न कि श्री स्वामीजीका अपना सिद्धान्त है। यह समझना उनकी नितान्त भूल है। पृ. ४४ दिसम्बर १९४९ में लिखा है— **'ये के चात्महनो जनाः'** अर्थात् जो मनुष्य अज्ञानी होते हैं उनके आत्माका नाश हो जाता है। इसी आशयको लेकर भगवान कृष्णचन्द्रजीने गीतामें कहा है। **'संशय आत्मा विनश्यति'** अर्थात् अज्ञानियोंकी मृत्युके पश्चात् आत्मा नाशको प्राप्त हो जाती है।

समीक्षा— १ म यजुः मंत्रमें कोई पद ऐसा नहीं है जिसका अज्ञानी अर्थ हो या उनके आत्माका नाश हो जाता है। जो मनमें आया वही अर्थ बना दिया। तथा यही अर्थ गीताका किया—यथार्थ देखें—

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः' (यजु. ४०।३)

अर्थ= (ये के च) जो कोई (आत्महनः) मानव देहकी हत्या करनेवाले हैं अर्थात् आत्मघाती (खुदकशी) करनेवाले हैं क्योंकि **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' 'आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि'** इत्यायुक्तियोंसे यही सिद्ध होता है– शरीर होगा तो धर्म कर सकोगे, अन्यथा धर्म न कर सकोगे। अत्यन्त दुःखितावस्थामें भी आत्महत्या अर्थात् खुदकशी न करे। क्योंकि कष्टके दूर हो जानेपर फिर सुखी हो जाएगा। अतः कहा है **'त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि दैवे'** धैर्यके विनाश हो जानेपर मनुष्य आत्महत्या (खुदकशी) कर लेता है। अतः इस मन्त्रमें आत्मा शब्दका अर्थ देह है। यदि यहां देहका अर्थ न होता तो इसी मन्त्रमें (ते प्रेत्येतान् लोकान् गच्छंति) ऐसा पाठ लिखा हुआ न होता। क्योंकि **'बुद्धिपूर्विका वाक्यकृतिर्वेदे'** यह वैशेषिक दर्शनका सूत्र बताता है— वेदमें सच्ची बात होती है (प्रेत्य) मरकर अर्थात् शरीरको छोडकर वे खुदकशी करनेवाले उन लोकों उन योनियोंको प्राप्त होते हैं (अन्धेन तमसावृता असुर्या नाम ते लोकाः) दुःख क्लेश रूप महान् अन्धकारसे मिले हुए आसुरी योनिवाले लोकोंको प्राप्त होते हैं यह मन्त्र स्पष्ट बताता है कि मरनेके बाद वह आसुरी लोकोंको प्राप्त होता है। क्या श्री नाथुरामजीने 'विराट् पुरुषको तो आसुरी योनि नहीं माना है? क्योंकि मरनेके बाद मनुष्य विराट् पुरुषमें लय हो जाता है यह उनका सिद्धान्त है। उपरले मंत्रसे क्या यह सिद्धान्त हो सकता है?

—(अपूर्ण)—

ऋग्वेद-संहिता

इस ग्रन्थमें प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है, उसके पश्चात् **मण्डलानुक्रमणिका** तथा **अष्टकानुक्रमणिका** है, पश्चात् **ऋषिसूची** तथा **देवता-सूची** है। इसमें मण्डलों और अष्टकोंका क्रम तथा सूक्तक्रम भी दिया है। इतनाही नहीं, पर इस सूचीमें प्रत्येक सूक्तमें आये देवता कौनकौनसे मन्त्रोंमें हैं यह भी दर्शाया है। इसी तरह इसकी टिप्पणीमें वे देवता दिये हैं जो मन्त्रोंमें तो हैं, पर सर्वानुक्रमणीमें दिये नहीं हैं। यह सूची मन्त्रक्रमके अनुसार है, इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कौनसा देवता है, यह हरकोई देख सकता है। इसके नंतर **अकारक्रमसे ऋषिसूची** है। प्रत्येक ऋषिके कितने मंत्र हैं और वे कहां हैं यह सब यहां दर्शाया है। इस सूचीमें इन ऋषियोंके गोत्र दिये हैं और प्रत्येक गोत्रमें कितने ऋषि हैं यह भी इसी सूचीमें है।

इसके पश्चात् **अनुवाक-सूत्र** स्पष्टीकरणके साथ दिया है। प्रत्येक अनुवाकमें कितने मंत्र हैं और वे कहां हैं, यह सब यहां बताया है। इसी तरह अध्यायानुक्रमणी वैसेही स्पष्टीकरणके साथ यहां दी है।

इसके नंतर '**सांख्यायन-संहिता**' का पाठक्रम तथा '**वाष्कल-संहिता**' का पाठक्रम दिया है।

इसके पश्चात् **संपूर्ण ऋग्वेद-संहिता** मण्डल और अष्टकोंके साथ दी है। इसमें **प्रत्येक मंत्र स्वतंत्र और पृथक् पृथक् छपा है। तथा मन्त्रके चरण, मंत्रके अर्धभाग, मंत्रके बहुतसे पद पृथक् पृथक् दिये हैं** और प्रत्येक सूक्त पृथक् पृथक् स्पष्ट दर्शाया है। प्रति सूक्तके प्रारंभमें ऋषि, देवता और छन्द दिये हैं और मंत्रोक्त-देवत भी कई स्थानोंपर दर्शायी है।

इसके बाद मण्डलान्तर्गत तथा अष्टकान्तर्गत **सूक्त-संख्या, वर्गसंख्या, मन्त्रसंख्या** तथा **अक्षरसंख्या** दर्शानेवाले कोष्टक दिये हैं।

नंतर सब **परिशिष्ट** दिये हैं तथा उनके पाठभेद भी दिये हैं। ऋग्वेदसंहिताके अन्यान्य शाखाओंमें जो अधिक सूक्त मिलते हैं वेही ये परिशिष्ट हैं। ये कुल ३७ हैं।

इसके पश्चात् **अष्टविकृतियाँ**, उनकी बनानेकी विधिके साथ दी हैं। इनकी विधि जानकर पाठक अन्यान्य मंत्रोंकी भी विकृतियाँ स्वयं कर सकते हैं। यहां **पञ्चसंधि** भी दिये हैं जो विशेष महत्त्वके हैं।

इसके पश्चात् **कात्यायनमुनि-** विरचित **सर्वानुक्रमणिका** टिप्पणीके साथ संपूर्ण दी है। उसके बाद **शौनकाचार्यकृत अनुवाकानुक्रमणी** है। इसके बाद छन्दोंके उदाहरण लक्षणोंके साथ दिये हैं। इसमें **११ छन्द** और उनके अनेक **उपछन्द** उदाहरणोंके साथ दिये हैं। इसके देखनेसे किस मन्त्रका कौनसा छन्द है इसका ज्ञान हो सकता है।

इसके बाद अकारक्रमसे ऋग्वेदके संपूर्ण **मंत्रोंकी सूची** है। ये मंत्र अन्य वैदिक संहिताओंमें कहां हैं, उनका भी पता यहां दिया है। इससे ऋग्वेद मंत्र अन्य संहिताओंमें कहां हैं इसका ज्ञान हो सकता है।

इतनी सूचियोंके साथ इतने परिश्रमसे यह ऋग्वेद-संहिता छापी है। इस समय जो ऋग्वेदके ग्रंथ हैं उनमेंसे किसीमें इसके ज्ञानके साधन नहीं हैं। वेदका अनुसंधान करनेवालोंके लिये यह एक अनुपम साधन है। इसकी कुल पृष्ठसंख्या १०५० है। मूल्य केवल ६) डा. व्य. १॥) है।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' पारडी, (जि. सूरत)

Regd. No. B 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, पारडी (जि. सूरत)

कबीर या संसारको, समझायो सौ बार।
पूंछ तो पकडे भेडको, उतरा चाहे पार १३२

व्याख्या:— कबीर कहते हैं कि इस संसारको सैकडों बार समझा लिया परन्तु यह भेडकी पूंछ पकडकर पार उतरनेका असंभव प्रयत्न करता ही रहता है।

अनासक्ति ही ईश्वर प्राप्तिकी स्थिति है। आसक्त रह कर किसी भी साधन भजनके द्वारा ईश्वरको पाना ऐसा ही असंभव है जैसा भेडकी पूंछको पकड कर नदी पार करना।

तीरथ व्रत विष वेलरी, सब जग राखा छाय।
कबीर मूल निकंदिया, कौन हलाहल खाय १३३
तीरथ चाले दुइ जना, चित चंचल मन चोर
एको पाप न उतारिया, मन दस लाए ओर १३४

व्याख्या:— तीर्थ, व्रत करनेकी भ्रान्ति रूपी विषकी बेल सारे संसारमें छाई हुई है। कबीरने उसके मूलको उखाड कर फेंक दिया है। कौन हलाहल खाए? दो व्यक्ति तीर्थ करने चले, एकका चित्त चंचल, दूसरेका मन चोर। वहां जाकर एक भी पाप नहीं उतरा, उल्टे मनमें दस और भर लाए।

तीर्थ कहलाने वाले किसी स्थानमें यह शक्ति नहीं है कि वह पापीको पुण्यात्मा बना सके। मनको शुद्ध कर लेना ही पुण्यात्मा बन जाना है, और मनको अशुद्ध रखना ही पापी बने रहना है। पापको पानीसे धोना या किसी मन्त्र बलसे उडा देना असंभव बात है। पाप करनेवाला पापमें मिठास मानकर ही पाप करता है। वह पापके दण्डसे बचनेके लिए तीर्थ आदि उपायोंके द्वारा दण्डदाताको प्रभावित करना और बार बार पाप करते रहकर काल्पनिक दंडमुक्तिका झूठा संतोष कमाना चाहता है। इसीसे तीर्थ यात्राके द्वारा पाप धोनेका कुविश्वास उत्पन्न हुआ है। तीर्थयात्री नर नारी तीर्थमें जाकर धन, मान सब कुछ खो देते हैं और यथापूर्व पापी बने रहकर अपने पापोंकी संख्या बढाते ही रहते हैं। वास्तवमें तीर्थयात्रा समाजमें पापको बनाए रखनेका अज्ञानी हृदयका स्वरचित प्रपच है। संसारको पापमुक्त करनेका एकमात्र उपाय यही है कि पुण्य चाहनेवाले मनुष्य अपने हृदयको अनासक्तिमेंही पुण्यका मिठास चख लें और पाप प्रवृत्तिको सदाके लिए त्याग दें। तीर्थयात्राके बारेमें सच्ची बात तो यह है कि पुण्यात्माको तीर्थकी आवश्यकता ही नहीं है और पापीके लिए तीर्थ पापका ही सहायक है।

संस्कृतहिं पंडित कहैं, बहुत करै अभिमान।
भाषा जानि तरक करै, ते नर मूढ अजान १३५
पोथी पढ पढ जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
एक अच्छर प्रेमका, पढै सो पंडित होय १३६
पंडित केरी पोथियां ज्यों तीतरको ज्ञान।
औरन सगुन बतावहीं, अपना फंद न जान १३७
कबीर पढना दूरि कर, पुस्तक देय बहाय।
बावन अच्छर सोधि कै, सत्त नाम लौ लाय १३८

व्याख्या:— जो संस्कृत जाननेको पंडितपन कहते और बडा अभिमान करते हैं तथा भाषा जान कर वाद विवाद करते हैं वे मनुष्य मूर्ख अज्ञानी हैं। पुस्तक पढ पढ कर सारा संसार मर गया पर पंडित कोई नहीं हुआ जो प्रेमके एक अक्षरको पढ लेता है वही पंडित है। पंडितोंका पुस्तकीय ज्ञान तीतरके ज्ञानके समान होता है। तीतर दूसरोंको तो शकुन बताता है पर अपना बंधन नहीं जानता कबीर कहते हैं कि पढना छोड दो और पुस्तकोंको बहादो। ५२ अक्षरोंको खोज कर सत्यके नाममें ही लगन लगाओ।

सत्यको जान लेना ही ज्ञान है। पुस्तकोंके पन्नोंमेंसे सत्यको उधार नहीं लिया जा सकता। अपने हृदयकी अनासक्त स्थितिमें ही सत्यके साथ अभ्रान्त रूपसे मिलना होता है। जगतमें ज्ञान-ग्रंथसे ज्ञानी नहीं हुए हैं किंतु ज्ञानीसे ही ज्ञानग्रंथ बने हैं। ज्ञानीका ज्ञान ही ज्ञान ग्रंथोंमें लिखा गया है। ज्ञानग्रंथोंकी किन्हीं बातोंको उधार लेकर कोई ज्ञानी नहीं बना है। ज्ञान मानसिक स्थिति है। भाषाका ज्ञान, ज्ञान नहीं है। जो मनुष्य ज्ञानी बननेके लिए ग्रंथावलंबी होते हैं वे अज्ञानी रहकर ज्ञानग्रंथोंमें लिखी हुई बातोंका अंधा धुंधी अर्थ लगाकर उलझनमें ही पडे रहते हैं। जीवनका लक्ष्य ज्ञानी बनना है, पुस्तक पढना नहीं। ज्ञानी बन चुकने पर ही ज्ञानाज्ञानकी पहचान होती है। ज्ञानीही ज्ञानग्रंथका सदुपयोग करके, उसमें अपने जैसे ज्ञानीके अनासक्त हृदयकी प्रतिध्वनिको सुनकर, सत्संगका आनंद लेनेमें समर्थ होता है। ज्ञानग्रंथ

*

वास्तवमें ज्ञानीको ही अमर बनाए रखता है। और सदाके लिए ज्ञानीके सत्संगका साधन बना रहता है। संसारमें जितने ग्रंथ बने हैं वे सब बावन अक्षरोंकी वर्णमालासे ही बने हैं। इनमें सत् और असत् दोनों विद्यमान हैं। अज्ञानी मनुष्य ग्रंथमेंसे सत्यको ग्रहण करनेमें कदापि समर्थ नहीं हो सकते। ज्ञानी उनमेंसे सार वस्तुको ग्रहण करके उसका आनंद लेनेमें समर्थ हैं।

पपिहा पनको ना तजै, तजै तो तन बेकाज।
तन छूटे तो कुछ नहीं, पन छूटे है लाज १३९

व्याख्याः— पपिहा अपने प्रणको कभी नहीं छोडता यदि छोडे तो शरीर निकम्मा हो जाय। देह नष्ट हो जाय तो कुछ नहीं पर प्रण छूटनेमें लज्जाकी बात है।

अनासक्त ज्ञानी अनासक्तिके मिठासको छोडकर आसक्तिमें कभी नहीं फंस सकता। अनासक्त ज्ञानीके लिए आसक्तिका दुःख मृत्युके समान है। ज्ञानही ज्ञानीका जीवन है। भूख प्यास जीवदेहकी स्वाभाविक मांग है, जिन्हें पूरा करनेका साधन अन्न जल है। परन्तु चातक जल मात्रसे अपनी प्यास बुझाकर एकमात्र स्वाति जलको ही ग्रहण करनेका स्वभाव रखता है। उसकी प्यासकी इस विलक्षणताको कविने उसकी साधारण शारीरिक प्यास न कहकर, असाधारण मानसिक प्यास अर्थात् प्रेमका नाम देकर, उसे ज्ञानीकी सत्य निष्ठा रूपी प्रेमका उपमास्थल बनाया है। ज्ञानीका देह सत्यकी सेवाके लिए सब समय समर्पित है। इसीका नाम प्रेम है। इस प्रेमको त्यागकर शरीरके पीछे मनको चलानेवाला इंद्रियासक्त जीवन ज्ञानीकी दृष्टिमें निरर्थक है।

चात्रिक सुतहिं पढावहीं, आन नीर मत लेय।
मम कुल यही सुभाव है, स्वाति बूंद चित देय १४०

व्याख्याः— चातक अपने पुत्रको शिक्षा देता है कि दूसरा पानी ग्रहण मत कर। मेरे कुलका यही स्वभाव है कि स्वाति बूंदमें ही मन लगा।

जैसे अबोध बालकको माता आगमें कूदनेसे बलात् बचाती है ऐसेही ज्ञानी पिता माता अपनी सन्तानको दृढताके साथ अज्ञानसे बचाते हैं। ज्ञानी और अज्ञानीके सुख दुःखकी कसौटी एक दूसरेसे सर्वथा विपरीत है। ज्ञानी इन्द्रियोंको वशमें रखनेकी मानसिक स्थितिमें सुख मानता है और अज्ञानी इन्द्रियोंके वशमें रहनेकी मानसिक स्थितिमें सुख मानता है। इन्द्रियोंके भोग्य रूप रसादि विषयोंको ज्ञानी सत्यार्थ अर्थात् अपनी मानसिक स्थितिको सुरक्षित रखनेके लिए ही सदुपयोगमें लाता है, भोगार्थ नहीं। ज्ञानीकी दृष्टिमें अनासक्त मानसिक स्थिति सत्य है, उसका अपना स्वरूप है, उसीसे उसका प्रेम है। उसका यह प्रेम और प्रेमपात्र अभिन्न हैं। ज्ञानीके इस अखंड मिलनानंदमें विच्छेद करनेकी शक्ति संसारमें नहीं है। ज्ञानीके मनमें इन्द्रिय भोग्य विषयोंके लिए चाह नहीं है। यह चाह ज्ञानीकी दृष्टिमें दुःख है। क्योंकि यह चाह इन्द्रियोंकी दासता है। इसके विपरीत अज्ञानीके इन्द्रियोंकी दासता करनेवाले मनमें सब समय रूप रसादि भोग्य विषयोंके लिए चाह बनी रहती है। अज्ञानी भोगमें सुख मानता है। भोग पिपासा अर्थात् इन्द्रियासक्ति या काम ही अज्ञानीकी मानसिक स्थिति है, जिसके कारण अज्ञानी निरन्तर मायावान रूप रसादि विषयोंके पीछे भागकर दुःखी बना रहता है। ज्ञानीका सुख दुःख भौतिक रूप रसादिकी प्राप्ति अप्राप्तिपर निर्भर नहीं है। वह सदा "आत्मन्यवात्मना तुष्टः" अर्थात् अपनी ही सुखस्वरूप स्थितिमें परितृप्त रहता है। अज्ञानी कामी होनेसे अनंत दुःखी और ज्ञानी प्रेमी होनेसे नित्य सुखी है। किसी भी भौतिक पदार्थकी चाह न करने वाली, अपने प्रेमसे ही प्रेम रखने वाली ज्ञानीकी स्थितिको चातकका स्वाति नक्षत्रके प्रेममें देखकर कवि कहते हैं कि चातक वास्तवमें जलाभावसे पीडित प्यासा नहीं है। चातककी स्वाति विरहकी तडप किसी भौतिक जलकी अभाव जनित तडप या दुःख नहीं है, किंतु अपने मनोमय स्वातिसे अखंड मिलन सुख ही है। स्वातिके अतिरिक्त अन्य कोई जल ग्रहण न करना ही उसका स्वभाव है। चातक अपनी प्यारी सन्तानको उसकी चोंच पकडकर, स्वाति बूंदके अतिरिक्त जलसे निवृत्त करके, अपने मनमेंसे कभी भी विच्छिन्न न होनेवाले स्वाति प्रेमका मिलनसुख चखा देता है। चातकका यह सन्तान प्रेम, सन्तानके भौतिक देहके लिए मोह नहीं है, किन्तु उसके अपने मनका स्वाति प्रेम ही है, जिसको वह अपनी सन्तानके हृदयमें प्रतिफलित देखकर प्रसन्न होता है। ज्ञानीका

स्वभाव भी यही है। जिस भाँति ज्ञानी अपनी सन्तानके देहको अग्निसे बचाता है, उसी प्रकार उसके मनको भी विषय वासना रूपी अग्निसे बचाकर, निर्विषय अनासक्तिका अखंड सुख चखा देता है। ज्ञानीका यह सन्तान प्रेम, उसके पांचभौतिक देहके लिए मोह नहीं, किन्तु अनासक्ति रूपी सन्तपनके लिए अनन्य प्रेम ही है।

भूप दुःखी अवधू दुखी दुखी रंक विपरीत।
कह कबीर यह सब दुखी, सुखी संत मन जीत १४१

व्याख्याः — राजा भी दुःखी है, अवधूत भी दुःखी है और इसके विपरीत रंक भी दुःखी है। कबीर कहते हैं कि ये सभी दुःखी हैं, केवल संत ही सुखी है, जिसने मनको जीत लिया है।

आसक्ति ही दुःख है। एक मात्र अनासक्ति ही सुख स्वरूप है। राजाके पास सुखका साधन समझा हुआ भौतिक ऐश्वर्य चाहे कितना ही क्यों न हो यदि वह आसक्त है तो वह रंक जैसा ही दुःखी है। ऐसे ही त्यागका दिखावा करनेवाला अवधूत भी आसक्त होनेके कारण रंक जैसाही दुःखी है। सारांश यही है कि संसारके बडेसे बडे समझे हुए भोगीसे लेकर छोटेसे छोटे कंगाल तक सभी आसक्ति के कारण दुःखी हैं। एकमात्र अनासक्त संत ही सुखी है जिसके मनमें भौतिक सुख संपत्तिकी आकांक्षा नहीं है।

गुरु नहीं चेला नहीं, नहीं मुरीद नहिं पीर।
एक नहीं दूजा नहीं, विलम तहां कबीर १४२

व्याख्याः— जहां गुरु चेला या मुरीद और पीर नहीं है और एक तथा दूसरा कहलाने वाला भी नहीं है वहां कबीर स्थिर हो गया है।

अनासक्त स्थिति ही मनुष्यका स्वरूप है। ज्ञानी अपने पांच भौतिक देहमें विराजनेवाले देहीका अपने ही मनकी अनासक्तिमें दर्शन करता है और उसीको विश्वदेहके विराट् देहीसे अभिन्न जानकर उसमें अपनी अद्वितीय स्थितिका अनुभव करता है। इस स्थितिमें स्रष्टाके अतिरिक्त नाशवान सृष्टिका, जो कि स्रष्टाकी ही मायासे उत्पन्न हो होकर उसीमें विलीन हो रही है, कोई पृथक् अस्तित्व स्वीकृत नहीं होता। इसी ज्ञानमयी स्थितिमें सन्त अपने स्वरूपकी इस " एकमेवाद्वितीयम् " (एकमात्र अद्वितीय) सत्ताका दर्शन करता है, जिससे उसके मनमें किसीका गुरु या किसीका शिष्य बननेकी भ्रान्ति नहीं रहती।

खुलि खेलो संसार में, बांधि न सक्कै कोय
घाट जगाती क्या करै, जो सिर बोझ न होय १४३

व्याख्याः — संसारमें स्वतंत्र होकर विचरण करो। तुम्हें बांधने वाला कोई नहीं है। जब तुम्हारे सिर पर बोझा ही नहीं होगा तो घाटका रखवाला तुम्हारा क्या कर सकता है?

संसारमें ममत्व बुद्धि ही बंधन है। यही दुःखका मूल है। अनासक्त मनुष्यके मनमें किसी वस्तु या व्यक्तिके लिए ममत्व बुद्धि नहीं, किसी प्रकारका अभाव नहीं होता, चिंताका, बोझा भी नहीं होता, बंधन भी नहीं होता, इसलिए दुःख भी नहीं होता।

देह धरे का दंड है, सब काहू को होय॥
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, अज्ञानी भुगतै रोय १४४

व्याख्याः — देह धारणका दंड रागशोकादि सबके लिए हैं। ज्ञानी उनको ज्ञानसे अर्थात् निष्काम भावसे सहन करता है और अज्ञानी कामनावान होनेके कारण रो रो कर।

परतिष्ठाका टोकरा, लीये डोलै साथ
सत्त नाम जाना नहीं, जनम गंवाया बाद १४५

व्याख्याः— गुरु नेता आदि कहलाने वाले यशलोभी अज्ञानी मनुष्य अज्ञानी जनतासे मिलनेवाला झूठी मान प्रतिष्ठाका बोझ सिर पर रखकर घूमते हैं और सत्यको न जानकर अपना जन्म व्यर्थ ही खो देते हैं।

कलि का स्वामी लोभिया, पीतरि धरै खटाइ
राजदुवार यों फिरै, ज्यों हरियाई गाइ १४६
राजदुवारे साधु जन, तीनि वस्तु को जाय॥
कै मीठा कै मान को, कै माया की चाय १४७

व्याख्याः खटाईको बिगाडनेवाले पीतलके बर्तनकी भांति कलियुगका अर्थात् अज्ञानी जगतका साधु विश्वास करने योग्य नहीं है, वह लोभी है। वह राजद्वार पर अर्थात् भौतिक ऐश्वर्यशाली व्यक्तियोंके द्वारपर ऐसे घूमता है, जसे हरिया गाय हरियाईको देखते ही उसको खानेके लिए भागती है। ऐसा साधु राजद्वारपर तीन वस्तुकी

कामनासे जाता है। या तो स्वादिष्ट भोजनके लिए, या मानप्रतिष्ठाके लिए और या धन दौलतके लिए।

कबीर कलिजुग कठिन है साधु न मानै कोय।
कामी क्रोधी मसखरा, तिनको आदर होय १४८

व्याख्याः— कबीर कहते हैं कि कलियुग अर्थात् अज्ञानी जगत् बड़ा भयंकर है। यहां सच्चे साधुका आदर नहीं है। यहां तो कामी, क्रोधी और मसखरोंका ही आदर होता है।

अज्ञानी जगतके लोग इन्द्रियासक्त हैं। उनकी विषय वासनाके अनुकूल बातें बनानेवाले छिछोरे मनुष्य पेशेदार साधु बनकर उनको ठगते हैं और वे भी ऐसे ठगोंकी सेवा करके अपनी आशा पूरी हो सकनेका झूठा संतोष कमाते हैं। धोका देनेवाले और धोकेमें रहना चाहनेवाले अज्ञानी जगत्के साधु तथा साधुसेवी दोनों एक दूसरेके अनुयायी एक ही कोटिके मनुष्य हैं! सच्चे साधु ऐसे मनुष्योंके अनुकूल बनकर उनसे आदर पाना नहीं चाहते।

जब दिल मिला दयालसे, तब कछु अंतर नाहिं।
पाला गलि पानी भया, यों हरिजन हरि माहिं १४९

व्याख्याः— जब मन अपने दयालु स्वरूपसे मिल जाता है तब उनमें कोई अंतर नहीं रहता। जैसे पाला गलनेपर पानी बन जाता है, इसी प्रकार ईश्वरके भक्त ईश्वर स्वरूप ही हो जाते हैं।

जैसे पालेके गलनेपर उसका अपने पानीसे कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, ऐसे ही अनासक्त संत स्वयं ईश्वर स्वरूप है। इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले संतका शुद्ध मन ही उसका आराध्य दयालु ईश्वर है, जिसकी कृपासे वह संसार बंधन रूपी दुःखसे मुक्त होकर आठों प्रहर आनंदमें मग्न रहता है।

गुरू झरोखे बैठि कै, सबका मुजरा लेइ।
जैसी जाकी चाकरी, तैसा ताको देइ १५०

व्याख्याः— गुरु खिड़कीमें बैठकर सबके कामोंकी देख भाल करता है। जिसकी जैसी सेवा होती है उसको वैसा ही फल देता है।

अनासक्ति रूपी ईश्वर मनुष्यके मनमें ही है। जो इसे अपनाता है उसको अक्षय सुख मिलता है और जो इसे त्यागकर विषयासक्त हो जाता है उसको अनंत दुःख उठाना पड़ता है।

नाम रतन धन संत पहं, खान खुली घट माहिं॥
सैंत मैंत ही देत हौं, गाहक कोई नाहिं १५१

व्याख्याः— संतके मनमें सत्यरूपी रत्नोंकी खान खुली हुई है, वह स्वयं ही उसको देनेके लिए उद्यत है पर लेनेवाला कोई नहीं है।

संत अपने स्वभावके अनुसार अपने जैसे संतमें अपने प्यारे सत्य स्वरूपसे मिलकर सत्संगका आनंद लेनेके लिए सब समय उत्सुक है, परन्तु मिलता कोई नहीं।

ठाकुर पूजहिं मोल ले, मन हठ तीरथ जाहिं॥
देखा देखी स्वांग धरि, भूले भटका खाहिं १५२

व्याख्याः--ईश्वरकी मूर्तिको मोल ले लेकर पूजते हैं और दुराशासे तीर्थ करने जाते हैं। ये सबके सब देखा देखी स्वांग भरनेवाले भ्रांतिमें ही फंसे रहते हैं।

पूजा सच्चे आराध्यकी ही होती है, झूंठेकी नहीं। पितृमातृभक्त सन्तान, पिता मातासे अलग रहकर, उनके किसी मिट्टीके पुतलेकी पूजा करके, पूजाका संतोष कभी नहीं ले सकती। ईश्वरका सच्चा स्वरूप मनुष्यके मनमें स्वभावसे ही अनासक्तिके रूपमें विराजमान है। उसको मनमेंही अनायास न पाकर; किसी मूर्ति निर्माता या चित्रशिल्पकी बनाई काल्पनिक झूठी मूर्तिको ईश्वर नाम देकर बाजारसे मोल लेकर पूजना या तीर्थ आदि को ढूंढना ईश्वरसे अपरिचित रहकर सच्ची ईश्वर भक्तिसे वंचित रहना है।

कबीर डगमग क्या करहि कहा डुलावहि जीउ॥
सर्वसुखको नाइको, राम नाम रस पीउ १५३

व्याख्याः—कबीर कहते हैं कि विषयोंके पीछे भागकर चंचल क्यों होते हो और मनको अस्थिर क्यों करते हो! सब प्रकारके सुखोंको प्राप्त करनेके लिए अनासक्ति रूपी राम नामके रसका पान करो।

सुख समझ कर जिनके पीछे भागनेसे मन चंचल होता है वह सचमुच सुख नहीं हैं, किंतु दुःख ही है। कबीर कहते हैं कि इन्द्रियोंका दास बनकर विषय सुखके पीछे भागना वास्तवमें दुःख ही है। अनासक्तिमें ही मनकी

निष्कामता, निश्चिन्तता तथा स्थिरता रूपी अक्षय सुख विद्यमान है।

तरवर रूपी रामु है फल रूपी वैरागु।
छाया रूपी साधु है, जिन तजिया वाद विवादु १५४

व्याख्या— राम वृक्ष स्वरूप है और उसपर वैराग्य रूपी फल लगता है। उस वृक्षकी छाया अभ्रान्त सन्त हैं जिन्होंने वाद विवाद करना छोड दिया है।

अनासक्ति ही राम है। अनासक्त ज्ञानी स्वभावसे ही विषय त्यागका आनंद लेता है। यही अनासक्ति रूपी वृक्ष पर लगनेवाला वैराग्य रूपी फल है। इस फलवान वृक्षको मनमें धारण करके संत मूर्तिमान सत्संग रूपी छाया बनकर बैठे हैं। उन जैसे सत्संगी सन्त उनके पास जाकर सच्चे ईश्वरके गुण कीर्तनका आनंद लेते हैं। संतोंके सत्संगमें विषयासक्त अज्ञानियोंको विषय बांटनेवाले काल्पनिक झूठे ईश्वरके बारेमें अपने अपने मत प्रचारका झगडा स्थान नहीं पाता है।

कबीर मन निर्मल भया; जैसा गंगा नीर।
पाछे लागो हरि फिरै, कहत कबीर कबीर १५५

व्याख्या— कबीर कहते हैं कि मेरा मन गंगाजल के समान निर्मल हो गया है। अब तो हरि स्वयं कबीर, कबीर कहता हुआ पीछे पीछे फिरता है।

अनासक्त हृदयमें अप्राप्त ईश्वरकी ढूंढ नहीं है। अहर्निश ईश्वर मिलनका अखंड आनंदोत्सव होता रहता है। इंद्रियों को वशमें कर चुके हुए अनासक्त ज्ञानीसे उसका आराध्य अनासक्ति रूपी ईश्वर अभिन्न रहता है। मानों ईश्वर स्वयं ही अपने अनन्य भक्तको अहर्निश अपनी आखोंके सामने रख रहे हैं, कभी भी ओझल नहीं होने देते।

माया तजि तो क्या भया, जो मानु तज्यो नहिं जाइ
मान मुनी मुनिवर गले, मानु सबैको खाइ १५६

व्याख्याः— मान-यशकी कामनाको न छोडकर धन दौलत छोडने मात्रसे क्या होता है? मानके ही कारण बडे बडे मुनि और मुनिवर कहलाने वाले लज्जित हुए हैं। मान-यशका लोभ सबको नष्ट करनेवाला है।

यशाकांक्षाको मनमें रखकर धन दौलत आदि संसार बंधनका त्याग दिखावा मात्र है। उनके बदलेमें मान-यश मोल लेनेकी भावनासे ही इस प्रकारका दिखावा किया जाता है। संसार बंधन और मान-यशकी आकांक्षा एक दूसरे से कभी पृथक् होनेवाली नहीं हैं। धन दौलत आदिको दिखावेके रूपमें त्याग करके उन्हींमें वृद्धि करनेवाले अधिक तर लोभनीय मान-यशके पीछे भागना वास्तवमें त्याग नहीं है, भोग ही है। अनासक्त हृदयमें किसी प्रकारकी भी कामनाका होना असंभव है। (क्रमशः)

श्री महिदास शूद्र थे ?

(लेखक- श्री. पं. दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वत; प्रिन्सिपल सं. हिंदी महाविद्यालय, दरीबा देहली)

' वैदिक धर्म ' के १०१२ अङ्कमें मेरा ' क्या महिदास शूद्र थे ! ' निबन्ध प्रकाशित हुआ था, उसकी आलोचना ' क्या ऋषि महिदास ब्राह्मण थे ! ' इस शीर्षकसे अनुसन्धानकर्त्ता, श्री शिवपूजनसिंहजी साहित्यालङ्कार सिद्धान्तभास्कर महाशयने ३११३ अङ्कमें की है। मुझे आशा थी कि अनुसन्धाता महाशयने श्री महिदासके शूद्रत्वमें तथा ब्राह्मणत्व निषेधमें कोई विशिष्ट प्रमाण वा इतिहास दिये होंगे; पर यह देखकर अत्यन्त निराशा हुई कि उन्होंने मेरे निबन्धके किसी भी अंशपर लेखनीको आयासित नहीं किया।

मैंने अपने पूर्व निबन्धमें श्री सत्यव्रतसामश्रमीके ' ऐतरयालोचन ' तथा ' निरुक्तालोचन ' की एतद्विषयक सभी आपत्तियोंका समाधान किया था, अनुसन्धाताजीको उनका उद्धार करना चाहिये था। मैंने यह भी लिखा था कि— " इसी [सामश्रमीजीके] मतका अनुसरण आजके बहुतसे विद्वानोंने किया है ; पर यह भ्रम मात्र है " पर श्री शिवपूजनजीने इस विषयमें सामश्रमीजीके पिछलगुआ श्री आत्मारामजी १९३३, श्री शिवशंकर काव्यतीर्थ १९०७, श्री क्षिति मोहनसेन शास्त्री १९४० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर १९२७, श्री रामदेवजी एम.ए. १९१८, श्री धर्मदेव शास्त्री दर्शनकेसरी १९३८ श्री रजनीकान्त शास्त्री १९४७, ठा. बघेल जयसिंह वर्मा १९२७, श्री नोखलाल काव्यतीर्थ १९३३ के तथा स्वयं सामश्रमीजीके उद्धरण दे दिये, जो कि साध्य थे। श्री सामश्रमीजीके ' ऐतरेयालोचन ' के द्वितीय संस्करणका काल सन् १९०६, है, इसके तथा ' निरुक्तलोचन ' के प्रथम संस्करणमें उक्त मत सामश्रमीजीने दिया है, हमने उसकी आलोचना कर दी है, तब सामश्रमीजीके पिछलगुआ सब विद्वानों की आलोचना 'प्रधान मल्ल निबर्हण' न्यायसे हो गई। उन पीछेके विद्वानोंने सामश्रमीजीकी अपेक्षा कोई नया प्रमाण वा नयी युक्ति भी तो नहीं दी; तब उनकी सम्मतिका मूल्य क्या रह जाता है ! हां, इस विषयमें सामश्रमीजीसे पूर्वकालीन किसी विद्वान्का उद्धरण दिया जाता. अथवा पुराण-इतिहासका कोई इस विषयका परिपुष्ट प्रमाण दिया जाता; वा हमारी उपपत्तियोंका निराकरण किया जाता; तो कुछ बात भी थी। अब ' सिंह ' जी के लेखका कोई महत्व नहीं। यदि वे मेरा नाम इस निबन्धमें न देते, तो यह उनकी व्यक्तिगत सम्मति समझी जाती तब हमें उससे कोई प्रयोजन नहीं था; पर वे मेरा नाम देकर उसमें मेरी आलोचना भी देखना चाहते है; तदनुसार कुछ लिखा जाता है। इसमें उनके लिखे वर्तमान विद्वानोंकी आलोचना भी साथ दी जावेगी।

(१) आजतकके विद्वानोंको जो कि- महिदासके शूद्रत्वमें भ्रम हुआ है; उसका मूल है ' ऐतरेय ' शब्द। ऐतरेय शब्दकी व्युत्पत्ति सभीने 'इतराया अपत्यम्' यही की है। इसपर मैंने लिखा था कि- ' इतर ' शब्द सर्वनामतामें अन्य या नीच वाचक होता है। यदि इतरासे नीच वा शूद्रा वह इष्ट होती, तो ' इतरस्याः अपत्यम्, ऐसा विग्रह होता; पर ऐसा विग्रह किसीने भी नहीं किया; श्री सामश्रमीजीने भी नहीं किया। सभीने 'इतराया अपत्यम्' यही विग्रह किया है। इस विग्रहकी सार्थकता तब हो सकती है; जब ' इतरा ' यह उसका संज्ञाशब्द हो, क्योंकि ' संज्ञोपसर्जनी भूतास्तु न सर्वादयः ' इतर शब्द संज्ञावाचक होनेपर सर्वनाम नहीं रहता। जब ' इतरा ' यह उस स्त्रीका नाम सिद्ध हुआ, तब इस नामसे वह शूद्रा सिद्ध न हो सकी। क्योंकि ' इतरा ' नामसे ही शूद्रता होनेपर ' मीमांसा दर्शनके भाष्यकार श्री शबर स्वामीको भील, रामायणके पात्र ' मातङ्ग ऋषिको ' चाण्डाल ' मृच्छकटिक ' के प्रणेता- ' द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्वः ' (१।३) शूद्रकको शूद्र मान लेना पडेगा। फिर तो ' मुद्रा राक्षस ' के राक्षसको सचमुच राक्षस ' माण्डूकि ' मुनिको-मेंढकका लडका चणकके लडके ' चाणक्य ' को ' चनेका लडका ' श्री शुकदेवको तोता ' भारद्वाज मुनिको ' भरद्वाज ' पक्षीका लडका मान

होना पड़ेगा। क्या श्री कुशवाहाजी ऐसा मान लेंगे? पर इन्होंने इस उपपत्तिका कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

(२) सायणकी कही आख्यायिकामें महिदासको एक महर्षिका लड़का बताया है, उस महर्षिकी स्त्रीका 'इतरा' यह नाम बताया गया है। न उसे वहां शूद्रा बताया गया है नहीं दासी। तब यह शूद्रापुत्र कैसे हुआ? अनुसन्धाता-जीने इस हमारी उपपत्तिको भी नहीं छुआ।

(३) 'वंश ब्राह्मणमें इसे कण्ववंशप्रसूत पर्वत ऋषिका पुत्र बताया गया है, जिसकी 'गान्ति' और 'इतरा' दो स्त्रियां थीं-- तब एक ब्राह्मण लड़केको शूद्र कैसे माना जा सकता है-- 'सिद्धान्तभास्कर' जीने हमारी इस उपपत्तिपर भी कुछ नहीं लिखा।

(४) लिङ्ग पुराणके प्रमाणसे भी हमने इसे एक द्विज (ब्राह्मण) का पुत्र तथा उपनयनादि संस्कारसम्पन्न सिद्ध किया था; उससे भी ऐतरेय शूद्र सिद्ध नहीं होता। इसपर भी साहित्यालंकारजीने अपनी लेखनीको आयासित नहीं किया। तब श्री महिदासको शूद्र कैसे मान लिया जावे? जब यह ब्राह्मणके लड़के हैं; बाल्यावस्था में इनके उपनयनादि संस्कार भी हुए, देखो लिङ्गपुराण लिखित उसकी कथा। तब यह ब्राह्मण सिद्ध हो ही गये।

(क) जो कि— 'सिंहजी' ने लिखा है कि--" सभी भाष्यकार इतरा का पुत्र लिखते हैं, इससे महिदास शूद्र ही सिद्ध होते हैं; क्योंकि 'अमरकोष' के अनुकूल 'इतरा' शब्दार्थ ही नीच है, इसका उत्तर पूर्व तथा इस निबन्धमें दिया जा चुका है-कि इतरा उसका नाम था वह 'इतरायाः पुत्रः' था 'इतरस्याः पुत्रः' नहीं था! तो नामसे शूद्रत्व कैसे हो सकता है? इसपर कुछ उदाहरण भी दिये जा चुके हैं। क्या आप शूद्रोंको नीच भी मानते हैं? जन्मसे वा गुणकर्मसे? और वह इतरामें नीचत्व कैसे घटता है?

(ख) अनुसन्धानकर्ताजीने लिखा है--' परन्तु सामश्रमीजी 'दासान्त' नाम देखकर नहीं वरन् स्पष्ट ही शूद्राके गर्भसे उत्पन्न होना लिखते हैं' इसका तात्पर्य यह निकला कि-दासान्त नामसे उनके शूद्रत्वका अनुमान 'दोषानाथ शर्मा' ने ही सामश्रमीके नामसे मढ़ डाला है, श्री सामश्रमीने ऐसा कहीं नहीं लिखा। पर यह दोषारोप अयुक्त है। इन्होंने 'ऐतरेयालोचन' के १४ पृष्ठकी ११ पंक्तिमें लिखा है 'तदयं एतरेय नाम व्युत्पत्तित एव इतरा गर्भ सम्भूतत्वासिद्धः....सिद्ध्यत्येव दासीपुत्रत्वम्' तत एव माहिदास इति दासान्तमभिधानमपि विशुद्धम्'। तब हमारा यह आक्षेप निर्मूल कैसे है-- यह अनुसन्धानकर्ताजी ही बतावेंगे। यदि सामश्रमीजीने इतराको शूद्रा वा दासी लिख भी दिया है; तो क्या हुआ? बिना प्रमाणके होनेसे वह 'सिद्ध' थोड़े ही हो जायगा! अब सिंहजी बताएं कि उन्होंने वा आपने ही उसकी शूद्रतामें कौनसा 'सिद्ध' प्रमाण दिया? सामश्रमीजीके 'साध्य' पक्षको लेकर हम क्या करेंगे, जो आपने उनका प्रमाण लिख दिया।

(५) सामश्रमीजीने महिदासकी शूद्रतामें 'विद्वान्' विशेषण भी रखा 'ऋषि' वा 'आचार्य' विशेषण न देखकर भी उसे शूद्र ही माना इसपर भी हमने ३०।२ अङ्क पृष्ठ ९८ में प्रत्युत्तर दिया था-श्री कुशवाहाजीने उसका उद्धार भी कुछ नहीं किया। तब वह शूद्र कैसे हुआ?

(६) श्री सामश्रमीजीने नीच स्त्रीका नाम 'परिवृक्त' या 'पालागली, या 'रामा' माना है (देखिये-'ऐतरेयालोचन' १४ पृष्ठ) पर 'इतरा' के ये नाम वा विशेषण कहाँ आये हैं; यह न तो श्री सामश्रमीजीने बताया; न ही उनके मतके समर्थक श्री कुशवाहाजीने। तब इतरा शूद्रा कैसे हुई?

(७) हमने गत लेखमें 'महिदास' नामपर प्रकाश डालते हुए 'मही' (पृथिवी) उसकी कुलदेवता बताई थी, वहीं श्री शिवशंकरजी काव्यतीर्थका अर्थ भी बताया था कि--उन्होंने 'मही' उसकी माताका नाम कैसे डाला इसपर भी आपने कोई उद्धार नहीं दिया; बल्कि काव्यतीर्थजीके 'भाष्य' लेखको उद्धृत भर कर दिया। वहीं हमने मही देवताके स्वरूपपर प्रकाश डालनेके लिये आर्यसमाजी विद्वान श्री राजाराम शास्त्री तथा स्वामी श्री शंकराचार्यजी महाराजका भाष्य भी उद्धृत किया था; श्री कुशवाहाजीने उसपर भी कुछ नहीं लिखा।

(८) माताके नामसे महिदासका 'ऐतरेय' नाम देखकर जो कि सामश्रमीजीने उसको शूद्र बताया था; उसपर मैंने दाक्षीपुत्र पाणिनि, गाङ्गेय भीष्म, सौमित्रि लक्ष्मण, गोणिका पुत्र पतञ्जलि, कौन्तेय भीमसेन, आदि मातृ-नामोंके उदाहरण देकर उनके पक्षका निराकरण किया था—इसपर भी 'अनुसन्धानकर्त्ता' जीने लेखनीको आयास नहीं दिया। तब महिदास शूद्र कैसे?

(९) वहीं हमने यह पूछा था कि–' महिदास जन्मसे शूद्र है या गुणकर्मसे? यदि शूद्राके लडके होनेसे शूद्र हैं; तो जन्मसे वर्णव्यवस्था सिद्ध हो गयी। यदि गुणकर्मसे; तो उसके कौनसे निकृष्ट गुणकर्म थे? वह इतरा भी किसी शूद्रकी लडकी होनेसे शूद्र थी वा गुणकर्मसे? दोनों पक्षोंमें क्या प्रमाण है? यदि शूद्राके लडके होनेसे वह शूद्र था; तो वर्णव्यवस्था जन्मसे सिद्ध हो गयी; और फिर उसे ब्राह्मणकी पदवी कब और कहाँ मिली इस विषयपर भी श्री सिंहजीने कुछ भी सप्रमाण नहीं लिखा; तब ऐतरेय शूद्र कैसे? जब इसका पिता ब्राह्मण था; कहीं इसका नाम पर्वत तथा कहीं माण्डूकि आया है; तब वह ब्राह्मणका लडका होनेसे शूद्र कैसे हुआ? पिताके नामकी भिन्नतासे भी उसे शूद्र नहीं कहा जा सकता; अन्यथा कहीं 'अम्बाशङ्कर' और कहीं 'करसनदास' पिताका नाम होनेसे स्वा. दयानन्दजी भी शूद्र सिद्ध हो जायंगे।

अब हम श्री शिवपूजनजीके इस लेखमें दिये गये मतों-पर भी कुछ विचार करते हैं।

(अ) पहले आपने शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षाद् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामी दयानन्देन-' यथेमां वाचं कल्याणीम् इति तदेवं वेदविभिः पक्षपात-दोषभाक्त्वं न कथमपि इति स्पष्टम् ' यह सामश्रमी-जीका उद्धरण दिया है। प्रतीत नहीं हुआ कि– 'आपके इस उद्धरणका क्या अभिप्राय है? हमारा विचार इससे प्रति-कूल हैं। हम कहते हैं कि– ' यथेमां वाचं कल्याणीम् ' मन्त्र वेदाधिकारप्रद नहीं। श्री सामश्रमीजीने इस मन्त्र-का स्वाभिप्रेत अर्थ नहीं लिखा, स्वा. दयानन्दजीपर टाल दिया। यदि वे थोडा विचार करते; तो उन्हें प्रतीत हो जाता कि स्वामीजीसे किया हुआ अर्थ ठीक नहीं। किसी भी प्राचीनने उसका वैसा अर्थ नहीं माना। इस विषयमें हम अपना अभिप्राय 'सिद्धान्त-साप्ताहिक काशी' में (७।७।८, ८।४७-४८-४९) प्रकाशित कर चुके हैं। यदि आप चाहें; और 'वैदिक धर्म' सम्पादक महोदयकी आज्ञा हो; तो हम वही विचार 'वैदिक धर्म' में भी दे सकते हैं। शूद्रको वेदाधिकार न देनेसे कोई पक्षपात भी नहीं होता। गत जन्मके कुत्सित गुणकर्मवश इस जन्ममें पुण्य न होनेके कारण यदि शूद्रको वेदाधिकार परमात्माने नहीं दिया; तो यह पक्षपात नहीं। आप ही बताइये कि-परमात्माने वेद चार ऋषियों (!) को दिये; इसमें कोई शूद्र क्यों नहीं रखा गया? क्या यह पक्षपात नहीं? यदि आप स्वा. दयानन्दजीके शब्दोंमें कहें कि– ' अत ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोऽपि नैव आगच्छति, किन्तु अनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यग् न्यायः प्रकाशितो भवति। कुतः? न्यायेति अस्यैव नामा-स्ति यो यादृशं कर्म कुर्यात्, तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात्। अत्रैवं वेदितव्यम् तेषामेव [चतुर्ऋषीणां] पूर्वं पुण्यमासीत्; अतः खलु एतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्तुं योग्योऽस्ति ' (ऋ. भा. भू. वेदोत्पत्ति विषये १६ पृष्ठे); तब फिर हमारा भी यही उत्तर जान लीजिये। शूद्रादिके पूर्व जन्मके कर्म इस प्रकारके थे कि– उनका त्रैवर्णिकोंके घर जन्म नहीं हुआ। तब इससें उनके अनधिकारसे ईश्वरका पक्षपात भी कुछ नहीं, वरन् उनपर अनुग्रह है; जैसे कि आपके दिये हुए उद्धरणके आगे श्री सामश्रमीजीने भी लिखा है--'स्पष्टं च दासानामनुप-युक्तमतीनां मन्वादिकर्तृकं वेदाऽनधिकारित्व विधानमनुग्रहार्थमेवेति ' (ऐत. पृ. १७)।

(आ) आगे आप 'शूद्रको वेदाधिकार है' इस विषयपर 'वेदोंके उद्भट विद्वान्' पं० श्री शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थका लेख देते हैं। उनका लेख यह है-दास दासीके पुत्रोंमें प्रथम ऐतरेय ऋषि हुए हैं। वे दासीके पुत्र थे। [क्या कुशवाहाजी भी शूद्राके पुत्र होनेसे शूद्र मानते हैं? यदि ऐसा है तो वर्णव्यवस्था जन्मसे हो गई] ' मही ' इनकी माताका नाम था। इनकी माता नीच जातिकी दासी थी--इस कारण इसको

'इतरा' भी कहते थे, काव्यतीर्थजी इस समय स्वर्गस्थ हैं, अतः हम उनसे तो पूछ नहीं सकते; किन्तु उनका समर्थन करनेवाले श्री कुशवाहाजीसे पूछ सकते हैं। वे बताएं कि-महिदासकी माताका नाम 'मही' था; वह नीच जातिकी दासी थी; यह बात कहां लिखी है? आगे श्री काव्यतीर्थजी लिखते हैं –'इतरा शब्दार्थ ही नीच है- 'इतरस्त्वन्यनीचयोः' (अमरः) पर क्या यह बात कुशवाहाजी भी मानते हैं? 'इतरा' यह तो उसकी माताका नाम था तो क्या नामके अर्थसे भी वर्ण माना जायगा? तब तो शबर, मातङ्ग, शूद्रक आदि पूर्वोलिखित विद्वान् शूद्र ही होंगे; पर ऐसा कोई मानता है? यदि नहीं; तब काव्यतीर्थजीके मतको निर्मूल क्यों न माना जाय?

(इ) श्री क्षितिमोहनशास्त्रीजीका-एक ऋषिकी इतरा या शूद्रा पत्नीसे उत्पन्न पुत्र ही ऐतरेय थे, यह कथन भी निर्मूल है; क्योंकि शास्त्रीजीने जहांसे यह बात ली है; वहां तो 'इतरा इति नामधेयम्, लिखा है; तब इससे उनका पक्ष कैसे सिद्ध हुआ? पिताके किसी स्त्रीके पुत्रमें स्नेहातिशय न होनेसे वह शूद्र कैसे हो जायगा? उत्तानपादका अपनी दूसरी स्त्रीके लडके ध्रुवपर स्नेह नहीं था; उसे गोदसे उतार दिया गया; तो क्या इससे वह शूद्र हो जायगा? तब 'यज्ञके समय ऋषिने...ऐतरेयकी उपेक्षा की' यह कथन निराकृत हो जाता है। — 'ऋषिने अपनी ब्राह्मणी पत्नीसे उत्पन्न पुत्रको ही गोदमें लेकर उसे नाना तत्त्वोंका उपदेश दिया, यह शास्त्रीजीकी बात कहां लिखी है? " शूद्रगण तो महीकी सन्तान हैं" शास्त्रीजीके इस वाक्यका क्या आशय है! ऐतरेय महीका लडका कैसे था? 'मही' पृथ्वीका नाम है 'नमो मात्रे पृथिव्यै' (वा. य. ९।२२) तथा अथर्ववेदके १२ वें काण्डके प्रथम सूक्तमें हम आप सबके लिये पृथिवीकी उपासना वा प्रार्थना आई है, तो हम आप सब पृथिवीके उपासक शूद्र हो जाएंगे?

(ई) आगे श्री शिवपूजन सिंहजीने श्री सातवलेकरजी का मत दिया है; उसमें भी पूर्वसदृशता है। हां, उसमें यह नवीन बात लिखी है कि 'नहीं मालूम उसका पिता कौन था, इसीलिये उनका नाम उसकी माके नामसे चलता है, पर हम इनका पितृ परिचय दे चुके हैं। सायणने उसे 'ऋषि' तथा पुराणने उसे 'द्विज' लिखा है। नाम मालूम न होनेसे वह पुरुष शूद्र नहीं हो जाता। पर उसका नाम भी हम बतला चुके हैं। पतञ्जलि आदिके पिताका नाम न मिलनेसे तथा उसकी माता गोणिकाके नामसे प्रसिद्धि होनेसे क्या वे शूद्र मान लिये जाएंगे? नैवम्।

(उ) श्री रामदेवजीके मतमें महिदासकी शूद्रता बिलकुल नहीं लिखी है, देखिये अपना उद्धरण-'वह किसी ऋषिकी पत्नी इतराका पुत्र था,। इससे उसकी शूद्रता कैसे हुई? पिता तो ऋषि स्पष्ट है। अतः पुत्र भी ब्राह्मण है।

(ऊ) श्री धर्मदेवजीशास्त्री दर्शन केसरी का 'महिदास जैसे शूद्र उसी जमानेमें ब्राह्मण ग्रन्थोंके निर्माता बने हैं, यह कथन केवल 'गतानुगतिकता' है, कोई प्रमाण तो इस विषयका उन्होंने दिया नहीं, अतएव निर्मूल है। जोकि उन्होंने लिखा है कि-'महाभारतमें' तो अनेकों ऐसी दन्तकथाएं मिलती हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि शूद्र भी बडे विद्वान् और प्रतिष्ठित होते थे, मेरा विचार है कि यह भ्रम है; जिसके माता पिता शूद्र हों-ऐसे शूद्रका वर्णन उन्हें दिखलाना चाहिये था। हाँ, कोई आरूढ पतित हो धर्मव्याधकी तरह; यह तो अपवाद है; पर सामान्यतया नहीं। 'विद्वान्' से यदि यहां 'वेदोंसे भिन्नके विद्वान्' अर्थ हो तो हमारा अधिक विवाद नहीं। शूद्रकी विद्वत्तासे गुणकर्मणा वर्णव्यवस्था खण्डित होती है। यह कुशवाहाजी याद रखें।

(ऋ) श्री रजनीकान्तशास्त्रीके लेखने भी ऐतरेयकी 'दासीपुत्रता' साध्य है। इसी प्रकार ठा. बघेल जयसिंहजी तथा श्री नोखेलालके इसी प्रकारके वचन 'साध्य' ही हैं 'सिद्ध' नहीं। यह श्री सामश्रमी वा उनके पिछलगुओंके आधारपर लिखे गये हैं; इनके पास मूल आधार कुछ भी नहीं–अतएव निर्मूल हैं। बीजकी प्रधानता होनेसे उसके पिता ब्राह्मण होनेसे महिदास स्पष्ट ही ब्राह्मण हैं। इतरा को भी कहीं शूद्रा नहीं कहा गया।

(ए) आगे श्री शिवपूजनसिंहजी लिखते हैं कि-- 'छान्दोग्य उपनिषद्, ऐतरेय आरण्यक' के आपसे दिये

प्रमाणसे महिदास ब्राह्मण तो सिद्ध होते नहीं " यदि ऐसा है तो उससे शूद्र भी तो सिद्ध नहीं होते। वे शूद्र थे या ब्राह्मण--यह तो इतिहासका विषय है। भला महिदासका वहां बड़े गौरवसे मत दिया जावे, और उसे नीचका पुत्र बतलाया जावे--यह कभी न्याय्य बात नहीं हो सकती। दूसरेका प्रमाण वा साक्षी उसकी उत्तमता दिखलाकर दी जाती है, नीचता बताकर नहीं। 'यह बात नीच के लडकेने कही है " ऐसा कहकर किसीका प्रमाण नहीं दिखलाया जाता। यह इतनी स्पष्ट बात है कि-इसपर अधिक लिखना अनावश्यक है। हां, ' इतरा-नामक माता॰ के लडके महिदासने यह बात कही है ' ऐसा तो कहा जा सकता है। माताका नाम लेना ' सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ' (मनु० २।१४५) के कारण है, नहीं तो पाणिनिका नाम दाक्षीपुत्र, पतञ्जलिका नाम गोणिका पुत्र, इसी प्रकार अन्य भी माताके नामसे मिलनेवाले व्यक्तियोंको शूद्र मानना पडेगा।

(घ) अन्तमें श्री शिवपूजनसिंहजी लिखते हैं— " यदि आप अग्रिम निबन्धमें ऐलूष कवषको ब्राह्मण सिद्ध करेंगे; तो मैं भी उन्हें शूद्र सिद्ध करूंगा " मेरा निबन्ध कवषके विषयमें वैदिक-धर्म, (३१।२ अंक) में प्रकाशित हो चुका है, आशा है— अनुसन्धानकर्त्ताजी उसपर भी लिखेंगे; पर निवेदन यह है कि वे इस लेखकी तरह 'साध्य' प्रमाण नहीं देंगे। या तो वे श्री सामश्रमीजीसे पूर्वकालीन विद्वानोंके प्रमाण दें, या पुराण वा सायण आदि । निर्मूलता नहीं होनी चाहिये। मान्यवर श्री सातवलेकरजीने ' वैदिक धर्म ' को सीमामें बन्द नहीं कर रखा है। वे तो प्रमाणोपपत्तिसहित किसीका भी क्यों न हो, निबन्ध देखना चाहते हैं। वे अपनी भूलको भी माननेको तैयार रहते हैं, यदि वह सिद्ध हो जाय। इसका प्रमाण यह है कि— आरम्भसे लेकर आजतक ३० वर्ष हो चुके, उनके आरम्भिक और अबके विचारोंमें कितना अन्तर है। यह निरन्तर स्वाध्यायका ही परिणाम है। आशा है कि— श्री सिंहजी भी केवल आर्यसमाजकी सीमामें ही न बन्धे रहकर दृष्टिकोणको उदार भी करनेको उद्यत होंगे। यदि वे इस लेखपर फिर विचार करना चाहें; तो क्रमपूर्वक सभी बातों-पर संक्षेपसे प्रकाश डालें; केवल साध्य प्रमाणोंके संग्रहसे कुछ भी लाभकी सम्भावना नहीं।

विशिष्ट सूचना यह देनी भी आवश्यक है कि— श्री सामश्रमीजीने ' तत एव महिदास इति दासान्तमभिधानमपि विश्रुतम्, तथा विद्वान् इत्येव विशेषणम्, नतु ऋषिरिति आचार्य इति वा— (ऐ. पृ. १४) यहां महिदासको ऋषि नहीं माना, पर कुशवाहाजीने अपने शीर्षकमें उन्हें ' ऋषि ' लिखा है, अपने शब्दमें ' विद्वद्वर्य ' सामश्रमीजीसे कुशवाहाजीका यह भेद क्यों? सामश्रमीजीने महिदासको पृ० १४ में ' दासीपुत्र ' १८ पृष्ठमें ' शूद्रागर्भे जातस्यापि ब्राह्मणग्रन्थप्रवचनशक्तिमत्त्वेन ब्राह्मणत्वं स्यात् सञ्जातं किं तत्र चित्रम् ' यहां उसका ब्राह्मणत्व सन्देहास्पद है। २० वें पृष्ठमें ' सोऽयमेकएव ऐतरेयो महिदासो ब्राह्मणः' पारशवो वा विद्यया ब्राह्मणत्वमाप्य ' यहांपर उसको पहले तो ब्राह्मण फिर पारशव ब्राह्मण यह भिन्न भिन्न बात लिखी हैं, पृ. १२ में ' केश्चिद् अनुमीयते-सोऽयमैतरेयः स्यद् दासीपुत्रः ' यहां उसकी दासी पुत्रता में 'कश्चित्' शब्दसे दूसरोंका मत दिखलाया है; तब पृष्ठ २० में लिखा— ' सोऽयं महिदासो ब्राह्मण. ' यही पक्ष उनका सिद्धान्त प्रतीत होता है; तब कुशवाहाजीके पक्षका मूल सर्वथा ही उच्छिन्न हो जाता है। इति।

व्याकरणशास्त्र और उसके निर्माता

(लेखक— श्री. महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर)

मध्यकालीन-संस्कृत की-एक कहावत है 'शुष्को वैयाकरणः' व्याकरणका पण्डित शुष्क होता है। इस कहावतके तथ्यको हम अस्वीकार नहीं कर सकते। इसके पीछे इतिहासके अति प्राचीन उदाहरण हैं और अर्वाचीन उदाहरण भी कम नहीं हैं। मध्यकालमें विलासिता अधिक थी, साहित्य, संगीत, सुरा और सौन्दर्यके सागरमें राजासे लेकर साधारण जनतक निमग्न था। तत्कालीन साहित्य सम्भोग श्रृङ्गारका वर्णन करके ही अपनी सार्थकता मानता था। नख शिख वर्णन ही मानो उसका उद्देश्य था और इसीलिये किसी मनचले महानुभावने यदि व्याकरणके पण्डितके लिये उपर्युक्त कहावत प्रचलित कर दी होगी। यह सब कहकर हमें उस कहावतके तथ्यांशोंपर पर्दा नहीं डाल देना है। इस प्रकारकी जो कहावत प्रचलित हुई उसके पीछे व्याकरण निर्माताओंका ऐतिहासिक जीवन-चरित्र कारण है तथा अन्य-शास्त्र-पण्डितोंके जीवनके साथ व्याकरण-पण्डितोंके जीवनका जनताको जो तुलनात्मक प्रत्यक्ष अनुभव हुआ वह भी कारण हो सकता है। 'शुष्क' शब्द कठोरभाव अर्थमें प्रयोग किया है, निरादर अर्थमें प्रयोग किया गया है, हास्यार्थमें प्रयोग किया है या अन्य किसी अर्थमें उसका प्रयोग हुआ है इसपर विचार करना यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

एक बात अवश्य है कि उन व्याकरण शास्त्रके ऋषियोंका (ऋषिदर्शनात्) सम्पूर्ण जीवन तत्वचिन्तनकी तन्मयतामें व्यतीत होता था। उन्हें योग सिद्धियाँ प्राप्त थीं; अतएव सांसारिक रसिकता या अन्य बातोंमें उनकी वृत्तियाँ रमती न थीं। प्रायः ऐसा ही देखा गया है कि एक महान् दार्शनिक या वैज्ञानिक जन साधारणकी दृष्टिमें कुछपागल से; व्यवहार शून्यसे और शुष्कसे हुआ करते हैं। ऐसे उदाहरणोंकी किसी भी देशमें कमी नहीं है। यही कारण है कि किसी साधारणस्थितिके व्यक्तिने यह कह दिया होगा कि 'शुष्को वैयाकरणः।'

भारतवर्ष आरम्भसे ही अध्यात्मप्रधान देश रहा है। आत्माके माध्यमसे ही वह परमात्मा और उसकी विराट् एवं अनन्त विभूतियोंका साक्षात्कार किया करता है। आत्मा, मन, जीव, बुद्धि आदिके चिन्तनके साथ साथ वर्णोंके सम्बन्धमें भी भारतमें पूर्णतः वैज्ञानिकताके साथ विचार हुआ है। व्याकरण शब्दोंका विज्ञान है। एक भौतिक अन्वेषण करनेवाले व्यक्तिको जिस प्रकार अपनी प्रयोगशालामें बैठकर अपने अनुसन्धानोंमें आनन्द आता है, उसी प्रकार शब्दोंकी प्रयोगशालामें जाकर एक वैयाकरणको अपना अनुसन्धान करनेमें आनन्द आता है। प्रयोगशालाके अनुसन्धानोंके पीछे जो सिद्धान्त एवं जो क्रियायें रहती हैं उन्हें सुनने और समझनेमें किसीको आनन्द नहीं आता। वहाँ जाकर जब वे देखते हैं कि बहुतसे तार इधर से उधर लगे हुए हैं, विचित्र विचित्र यन्त्र, लोहेके टुकड़े, रासायनिक पदार्थ आदि हैं तो उसे कोई विशेष आनन्द नहीं आता, किन्तु जब वह देखता है कि एक बहुत सुन्दर जहाज, रेडियो, ग्रामोफोन या और कोई वस्तु उसके उपभोगके लिये तैयार है तो उसे अत्यन्त आनन्द होता है।

भौतिक विज्ञानके परिणाम स्वरूप जितने पदार्थ जगत्ने आज प्राप्त किये हैं उसे पाकर आज मनुष्यमात्र अपने आपको धन्य मानता है। किन्तु सुन्दर कारमें बैठनेवाला व्यक्ति इसका विचार नहीं करता कि कार बनानेवाले कारखानेमें कितने कष्ट और परिश्रमसे मजदूर इसे बनाता है। लोहा जहाँसे पैदा होता है वहाँके मजदूर कितना कठोर श्रम करके उसे निकालते हैं। न जाने कितना खून और पसीना एक होकर विज्ञानकी ये सुन्दर सुन्दर चीजें बन पाती हैं और बाजारमें जब वे लाकर रक्खी जाती हैं तो कोई इसपर ध्यान भी नहीं देता कि इनके पीछे न जाने कितने श्रम और वैज्ञानिक सिद्धान्तों (नियमों) का हाथ है। श्रम और नियमकी कल्पना भी उनके लिये बोझ बन जाता है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञानशाला संसारके लिये सुख और आनन्दके पदार्थ उपस्थित करती

है ठीक उसी तरह आध्यात्मिक विज्ञानशाला भी संसारके लिये उन भव्य एवं कल्याणकारी पदार्थोंका निर्माण करती है कि जिनके बिना मनुष्यका जीवन ही अधूरा रहता है। भौतिक विज्ञानशालाओंमें बैठे हुए महान् वैज्ञानिक जिस प्रकारसे नये नये आविष्कारोंमें निमग्न रहते हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक विज्ञानशालामें बैठे हुए महान् वैज्ञानिक भी नवीन नवीन आविष्कारोंके लिये तल्लीन रहते हैं। मानव जीवनके लिये जितना उपयोग इस भौतिक विज्ञानका है उतना ही उसे नियन्त्रित एवं पूर्ण बनानेके लिये आध्यात्मिक विज्ञान भी उपयोगी है। एक भौतिक विज्ञानवेत्ताको जिस प्रकार अपने किसी आविष्कारकी सफलतापर आनन्द होता है और उसकी प्रसन्नताको कोई सीमा नहीं रहती उसी प्रकार अध्यात्मके वैज्ञानिकको भी अपनी सफलतापर कम प्रसन्नता नहीं होती। बौद्धिक क्षेत्रमें रुचि रखनेवाले व्यक्ति इसे विशेष रूपसे जान सकते हैं।

यदि इस प्रकारके वैज्ञानिकोंका विभाग किया जावे तो साहित्यिक, दार्शनिक, वैयाकरण, गणितज्ञ आदि हो सकता है। मानव जीवनकी अपूर्णताओंको दूर कर उनकी आत्मामें सच्चे सुख एवं शान्तिका प्रतिष्ठान करनेके लिये ये महान् वैज्ञानिक भी सतत तल्लीन रहते हैं। जब इनके चिन्तनके परिणाम स्वरूप किसी नवीन सिद्धान्त या विचारका आविष्कार होता है तो उसे पाकर असंख्य जन आनन्दसे विभोर हो जाता है, उस वैज्ञानिकके प्रति श्रद्धासे नत हो जाता है और सदियोंतक उसके विचारोंके आश्रयमें आत्मिक सुख और शान्तिका अनुभव करता है।

भारतवर्षने आरम्भसे इस प्रकारके महान् वैज्ञानिकोंको अपनी आत्माके समान अपनाया है जब भौतिक उन्नतिके ऊच्च शिखरपर भारतवर्ष था तब भी उसने इन आध्यात्मिक आविष्कर्ताओंको भुला नहीं दिया। अपितु यह कहना चाहिये कि भार वर्षमें एकमात्र ऐसी अद्वितीयता रही कि महान् भौतिक विज्ञानके साथ ही साथ उसने उतने ही महत्वके साथ आध्यात्मिक विज्ञानको भी अपनाया। अपने जीवनमें दोनोंको एक साथ अपनाकर जीवित एवं उन्नत रहनेवाले राष्ट्रमें भारत ही एकमात्र उदाहरण है। ऋषी कालमें भौतिक एवं आध्यात्मिक मिश्रणके उदाहरणों की कमी नहीं है। उसका विशेष स्पष्टीकरण करना प्रस्तुतलेखका उद्देश्य नहीं है। किन्तु यहाँ विशेष रूपसे इतना इसलिये उल्लेख किया गया है क्योंकि व्याकरणके आदि विचारकका जीवन भौतिकता एवं आध्यात्मिकताका ऐसा ही मिश्रित जीवन चरित्र है। वैदिक व्याकरण, प्रातिशाख्य और आदि ज्ञानके उपदेष्टा प्रजापति ब्रह्मा आदिको छोड दिया जाय तो व्याकरण शास्त्रका आज जो मूल आधार दृष्टिगत होता है उसके आदि विचारक भगवान् शंकर माने जायगे। सृष्टिके आधारभूत तीन ईश्वरोंमेंसे भगवान् शंकर ही आदि विचारक या ऋषि थे। जहाँ एक ओर भगवान् शंकर एक महान् भौतिक विज्ञान वेत्ता माने जाते थे वहाँ दूसरी ओर वे एक उद्भट आध्यात्मिक वैज्ञानिक भी थे।

उस कालमें असुरराष्ट्रके और राक्षसराष्ट्रके अनेक बडे बडे वैज्ञानिक अत्यन्त कष्ट उठाकर भगवान् शंकरके राज्य में जाते थे। वहाँ अनेक वर्षोंतक विज्ञानका अध्ययन करते थे और उसके बाद उन्हें शंकरजीके पासतक पहुँचनेका अधिकार मिलता था। तब उनसे अनेक प्रकारकी भौतिक विज्ञान संबन्धी शिक्षायें प्राप्त करके वे अनेक आविष्कार निर्माण करनेमें समर्थ हो जाते थे। असीरियाका महा-शक्तिशाली बली एवं लंकाका प्रकाण्ड पण्डित रावण इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। अर्जुन आदि अनेक आर्य राष्ट्रके पुरुषोंने भी इसी प्रकार बारह बारह वर्षका शिक्षा--सत्र समाप्त कर भगवान् शंकरसे दिव्य अस्त्र शस्त्रोंका निर्माण सीखा था। और ये ही वे भगवान् शंकर थे जिन्हें अध्यात्म शास्त्रका भी नेता माना जाता था। बडे बडे योगी इनके चरणोंमें बैठकर योगशास्त्रकी शिक्षा ग्रहण करते थे। भगवान् शंकरकी समाधि तथा उनका अपने मनको वशमें रखना सुप्रसिद्ध है। देवराष्ट्रके महाराजाओंमें शंकर ही एक ऐसे हैं जिन्होंने अपनी संयम शक्तिपर पूरी विजय प्राप्त की थी। उनकी जीवन चर्यामें सुखोपभोगकी वस्तुओंको कोई स्थान न था। तथापि शब्द-शक्तिके विश्लेषणमें अत्यन्त मनोयोगके साथ उन्होंने श्रम किया। व्याकरण शास्त्रके मूलभूत सूत्रोंकी रचना करनेवाले यही महादेव शंकर थे।

वेद-जिन्हें ईश्वरीय ज्ञान कहना ही योग्य है कि निगूढ तत्वके बोधके लिये जिन छः प्रधान शास्त्रोंकी गणना की है उनमें सर्व प्रथम 'व्याकरण' है। बिना व्याकरणके किसी भी ईश्वरीय ज्ञानको ठीक ठीक समझ सकना सम्भव नहीं। भगवान्‌ने मनुष्यके लिये अपनी ऐसी एक महान् शक्ति प्रदान की है जिसे 'वाणी' कहा जाता है। उस वाणीका हम जितना अधिक आदर करेंगे उतना अधिक हम ईश्वरके प्रति अपने कर्तव्यको पूर्ण करेंगे। वाणी या वाक् शक्तिकी इस आराधनाका ही दूसरा नाम व्याकरण है।

मानवके इतिहासमें जो सबसे समुन्नत काल था उस कालमें भी वाक्‌शक्तिकी जितनी श्रद्धाके साथ व पूर्णताके साथ आराधना की गई उतनी शायद आज हो सकना अत्यन्त कठिन है। उस समय इस शक्तिका केवल विवेचन ही नहीं किया गया था; केवल बुद्धिके द्वारा तर्कोंसे तोलकर ही उसका मूल्याङ्कन नहीं किया गया था; अपितु उसके ऐसे ऐसे प्रयोग भी किये गये थे कि आज भी हमें वह जानकर आश्चर्य चकित होना पडता है। तत्कालीन मन्त्रशक्ति तो विख्यात ही है, जिसके द्वारा अपने प्रियका हितचिन्तन किया जाता था, शत्रुओंका विनाश किया जाता था और आत्मशक्ति प्राप्त करके कैवल्यका आनन्दतक प्राप्त किया जाता था।

उसके बहुत कालके बाद महर्षि पतञ्जलि तक भी यह उक्ति प्रसिद्ध थी कि 'एकः शब्दः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गेलोके कामधुक् भवति' अर्थात् किसी एक ही शब्दविशेष का ज्ञान व प्रयोग यदि ठीक ठीक सिद्ध कर लिया जावे तो उसीके द्वारा स्वर्गलोक सम्बन्धि इच्छायें भी पूर्ण हो सकती हैं। × कथा प्रसिद्ध है कि इन्द्रशत्रुने (वृत्रासुरने) इन्द्रको मारनेके लिये वाक्‌शक्तिकी थोडीसी गलत आराधना करनेके कारण स्वयं पर आफत ले ली थी। एक और उक्ति प्रसिद्ध है जिससे अनुमान हो सकता है कि शब्द-शक्ति के अनुसन्धानकर्ता इन वैयाकरणोंके लिये एक मात्राका भी कितना महत्व था या एक एक मात्राके विषयमें भी वे कितनी सतर्कतासे काम लेते थे। वह कहावत इस प्रकार है 'अर्धमात्रा लाघवेन वैयाकरणाः पुत्रोत्सवं मन्यन्ते' क्योंकि वाणीका अनुसन्धान भी आनन्दका एक उपकरण है। वाणीके छोटेसे छोटे अंशको 'अक्षर' कहा गया है और यही नाम ब्रह्म या ईश्वरका भी है— 'अक्षरं परमं ब्रह्म' अतः ईश्वर की आराधना या साक्षात्कारकी तुलनाका ही यह वाक्‌शक्तिके अनुसन्धानका भी आनन्द है।

इसलिये भगवान् शंकरने जिस समय सूत्रोंका अनुसन्धान किया उस समय वे अत्यन्त आनन्दावस्थामें थे। अपनी इस सफलतामें उनका मन हर्षसे नाच उठा था। इसीलिये सम्भवतः यह कहावत प्रसिद्ध है कि—

> नृत्यावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नव-
> पंचवारम्। उद्धर्तुकामः सनकादि सिद्धिरेत-
> द्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

व्याकरणके आदि विचारक ऋषि श्री शंकरजीने जब अपने सूत्र निर्माण किये तब वे नृत्यावस्थामें (अत्यन्त तन्मय आनन्दावस्थामें) थे और अपने प्रियवाद्य डमरू (चिन्तनकी मानसिक अवस्था) की ध्वनि या ताल (अन्तर्ध्वनि) के साथ साथ इन १४ सूत्रोंका आविष्कार किया था। वे ही आजतक भी व्याकरण शास्त्रके मूलभूत वैज्ञानिक आधार हैं। यद्यपि उन सूत्रोंको यदि कोई शीघ्रताके साथ पढ जावे तो सचमुच डमरुध्वनिके अनुकरणका ही आनन्द आता है किन्तु उनकी क्रमबद्धता तथा वैज्ञानिक योजनाको देखकर श्रद्धासे नत हो जाना पडता है। एक मात्राका परिवर्तन भी उसमें कर सकना बुद्धि शक्तिके बाहरकी बात है।

माहेश्वरके पहले सूत्रमें ही मूलस्वरोंका समावेश 'अ इ उ ण्' के रूपमें हो गया है। उनके बाद अन्य दो विशेष स्वरोंका समावेश 'ऋलृक्' कहकर कर दिया गया। तीसरे सूत्रमें मूलाक्षरोंमें सम्भाव्य विशेषता (गुण) को दिखा दिया गया है 'एओङ्' के रूपमें। चौथे सूत्रमें जितनी वृद्धि अक्षरोंमें हो सकती थी उसका निर्देश 'ऐऔच्' के रूपमें वर्णित है। इस प्रकार स्वरोंके वर्णनके पश्चात् व्यञ्जनोंका निर्देश कर दिया गया है जो उच्चारण स्थानोंके

× दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र-शत्रुः स्वरतो पराधात्॥

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पंचम स्थानानुसार एकत्रित रूपमें वर्णित है। उनमें भी एक विशषता यह है कि वे स्पूर्ण व्यञ्जन व्युत्क्रमसे रक्खे गये हैं। क, ख, ग, घ, ङ; च, छ, ज, झ, ञ; ट, ठ, ड, ढ, ण; त, थ, द, ध, न; प, फ, ब, भ, म, इस प्रकारका क्रम सर्वत्र प्रचलित है। किन्तु माहेश्वर सूत्रोंका क्रम उलटा है तथा उसमें भी एक एक वर्गका पांचवाँ अक्षर लेकर एक पूरा सूत्र बना है, जैसे 'ञ, म, ङ, ण; न, म्' उसके बाद चौथे अक्षरोंका संग्रह है, जैसे 'झभञ्' 'घढधष्'। ठीक इसी प्रकार तीसरे दूसरे और प्रथम अक्षरोंके विषयमें भी हुआ है। जैसे 'जबगडदश्' 'खफछठथ' 'चटतव्' 'कपय्'। वर्तमान क्रम इस प्रकार है कि इन पांच वर्गोंके व्यञ्जनोंके बाद 'य व र ल ह' आते हैं किन्तु माहेश्वर सूत्रोंमें इनसे पूर्व ही इनका वर्णन है जैसे 'हयवरट्' 'लण्'। ये ही वे सूत्र हैं जिनके आधार पर सम्पूर्ण संस्कृतका व्याकरण शास्त्र ग्रथित किया गया है।

महर्षि पाणिनिने इन्हीं सूत्रोंको आधारभूत मानकर अष्टाध्यायीकी रचना की और इसी अष्टाध्यायीके सूत्रोंका सर्वाङ्ग विवेचन महर्षि पतञ्जलिने अपने महाभाष्यमें खूब अच्छी तरह किया है।

देववाणीका नाम संस्कृत इसलिये पड़ा कि वह व्याकरण के द्वारा पूर्णतः संस्कार सम्पन्न हो चुकी थी और इसीलिये उसे सर्वोच्च स्थान मिला। यदि यह व्याकरण न होता तो आजतक संस्कृत भाषामें जो एक रूपता तथा व्यवस्था दिखाई देती है वह न दिखाई देती। जो लोग यह आक्षेप करते हैं कि- पाणिनिने उसे जकड़ दिया-सर्वथा अनुचित है। जब इस व्याकरण तथा व्याकरण युक्त भाषाका विरोध होकर या काठिन्यके कारण उसकी उपेक्षा होकर अनियमित भाषा एवं उसके प्रयोग आरम्भ हुए तो उस भाषामें लगातार परिवर्तन एवं विकार होता गया। यह भाषापरिवर्तन राष्ट्रके लिये कितना घातक सिद्ध हुआ इसे पुरातत्व एवं इतिहासके संशोधक विशेष अच्छे रूपमें जान सकता हैं। प्राकृत भाषा और उसकी लिपिकी अनेक रूपताके कारण प्राचीन शिलालेख आदिको समझना कितना दुष्कार्य होता है। इसी कारण भारतीय इतिहासके अनेक स्वर्णिम पृष्ठ भी हमारे लिये आज मिट्टी हैं।

हिन्दी भाषाको ही लीजिये अपने जीवनके ९५० वर्षोंमें ही कितनी अनेक रूपताको उसे निभाना पड़ा। वीरगाथाओंकी भाषा और थी, भक्तिकालमें निर्गुणोपासक योगियोंकी भी भाषा और थी तथा सगुणोपासक सन्तोंकी भाषायें और थीं। इसी प्रकार रीतिकालके कवियोंमें ब्रज भाषा होते हुए भी उसमें विभिन्नता है ही। मैथिल कवि विद्यापतिकी भाषा भी हिन्दी थी किन्तु उसका स्वरूप कुछ और ही था। उसके बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके समयसे उसे खड़ीबोलीका स्वरूप मिला। एक भाषाके साहित्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अनेक रूपोंका अध्ययन करना पड़ता है। एक संस्कृतिका अनुशीलन करनेके लिये अनेक भाषारूप जानने पड़ते हैं। यदि व्याकरणका नियन्त्रण समान रूपसे होता तो इन कठिनताओंसे बचनेके लिये सुगमता रहती।

संस्कृतभाषा जो आज बोली जाती है वही कालिदास भी बोलते थे और उसीका प्रयोग पुराणों एवं स्मृतियोंमें भी हुआ है। यद्यपि कुछ नवीन प्रयोग हुआ करते हैं और भाषाकी विशालता भी सम्पादित होती रहती है किन्तु उसके पीछे एक व्यवस्था तथा नियम होता है। परिणाम यह होता है कि कालिदास और मनुकी भाषा समझनेके लिये हमें भिन्न भिन्न प्रयास नहीं करने पड़ते। कितना अच्छा हो यदि भाषा नियन्त्रणके लिये व्याकरणके समान ही लिपिनियन्त्रणके लिये भी कोई ऐसी ही सुव्यवस्था निर्माण हो सके। यदि ऐसा होसका तो आनेवाली शताब्दियोंमें भावी पीढीको आजके सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञानसे वंचित न होना पड़ेगा तथा हम अपना भाषा, संस्कृति, ज्ञान विज्ञान सभी कुछ चिरतम कालतक सुरक्षित रख सकेंगे। लिपि सौकर्यके लिये लालायित व्यक्ति मेरे इस विचारपर विशेष ध्यान देंगे, ऐसी आशा है।

इस दृष्टिसे हमें उन ऋषियोंका धन्यवाद करना चाहिये जिन्होंने भारतीय भाषा एवं संस्कृतिको चिरकालिक सुरक्षाके लिये इस व्याकरण रूपी सुदृढ कवचका निर्माण किया। देववाणीको संस्कृत करनेवाले व्याकरणका आदि कर्ता-नहीं--यह कहना चाहिये कि आदि संकलयिता महापुरुषका नाम है महर्षि पाणिनि। इनके पिताका नाम पणि था। इन्होंने अत्यन्त परिश्रम पूर्वक भगवान् शंकरकी

आराधना की और उनसे व्याकरणशास्त्रके मूलभूत १४ सूत्रोंको प्राप्त किया। आजसे लगभग २५५० वर्षपूर्व उस समुन्नत भाषाको-- जो तत्कालीन राष्ट्रभाषा थी-व्याकरण युक्त (बद्ध नहीं) करनेवाले ऋषि यही पाणिनि थे। इन्होंने आठ अध्यायोंमें विभक्त सूत्रोंका एक इतना सुसंबद्ध ग्रन्थ निर्माण किया कि वही मानवकी निसर्ग शुद्ध भाषाकी एकमात्र कसौटी है। यद्यपि पाणिनि व्याकरणसे पूर्व भी व्याकरणकी परिपाटीके अनुसार ही शब्दोंके निर्वचनके लिये 'निघण्टु' या 'निरुक्त' की रचनायें हो चुकी थीं। ये निरुक्त ही वैदिक व्याकरण थे। निरुक्तकी संख्याके सम्बन्धमें विद्वानोंका मत है कि वे १४ हैं तथा उनके कर्ता अज्ञात ऋषि हैं। आज उन सब निरुक्तोंमें केवल एक ही प्राप्त है और वह उन सबमें अन्तिम आचार्य यास्ककृत है। यास्कने अपने पूर्ववर्ती विद्वान् निरुक्तकारोंकी रचनाओंसे पूरा पूरा लाभ उठाया। अथवा यह कहा जा सकता है कि उन्हींका सुपरिष्कृत रूप यह निरुक्त है और इसीलिये यह सर्वाङ्गपूर्ण एवं सर्वोदात्त है, तथा इन सबके लुप्त हो जानेपर अन्तमें यही सर्वत्र प्रचलित एवं समादृत हो गया है। इसमें शब्दोंके चार भेद किये गये हैं जो नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातके रूपमें हैं। सारा शब्दसमूह इन्हीं चारों शब्दभेदोंके अन्तर्गत आ जाता है। चारों शब्द भेदोंका खूब विस्तारके साथ इसमें विवेचन हुआ है। निरुक्तमें पांच पद्धतियोंसे शब्दोंका निर्वचन किया गया है; जिसके लिये यह उक्ति प्रसिद्ध है—

वर्णागमः वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकार नाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

इस वैदिक व्याकरणके अतिरिक्त पाणिनिसे पूर्व और भी अनेक वैयाकरण हो चुके थे, जिनका उल्लेख पाणिनि-- सूत्रोंमें हुआ। इन वैयाकरणोंमें इन्द्र, भागुरि, काशकृत्स्न, पौष्करसादि और आपिशलके नाम बडे आदरके साथ पाणिनिने अपने सूत्रोंमें लिये हैं। आजतक सम्पूर्ण भारतमें इसी पाणिनि व्याकरणके ही पठन--पाठनकी प्रणाली प्रचलित है। यद्यपि कुछ शताब्दियोंसे अष्टाध्यायी की क्रमसे पढाई न होकर भिन्न प्रकारसे उसकी पढाई होती है। सिद्धान्त कौमुदीकी प्रणाली ही सर्वत्र आज प्रचलित है। किन्तु यह प्रणाली अत्यन्त दुरूह एवं अपूर्ण है। इसकी अपेक्षा सीधे अष्टाध्यायीके अनुसार पाठन परिपाटी हो तो वह अधिक सरल एवं सुबोध सिद्ध होती है। यद्यपि इसमें सुधार एवं अन्वेषणकी आवश्यकता है तथापि इतना निश्चित है कि इस प्रणालीको अपना कर ही उसे आजके लिये अधिका-- धिक उपयोगी बनानेके लिये मार्ग निकल सकते हैं।

पाणिनिके पश्चात् आचार्यकात्यायनने तथा अन्य अनेक आचा- र्योंने भी उनके सूत्रोंपर वार्तिकें लिखीं, जिनका नाम महाभाष्य आदि ग्रन्थोंमें है। उनमें मुख्यतः व्याघ्रभूति, वैयाघ्रपद्य, वाडव, क्रोष्टा, भारद्वाज और सुनाग हैं। किन्तु इन सबमें कात्यायनकी वार्तिकें ही पतञ्जलिके महाभाष्यके लिये आधारभूत हैं। कात्यायनका समय विक्रम पूर्व चतुर्थ शतक माना जाता है। एक स्थानपर पाणिनि और कात्यायनको समकालीन ही माना है तथा उनके विषयमें एक विचित्र सी कथा भी दी है। संक्षेपमें वह इस प्रकार है। जब पाणिनिने यह सुना कि मेरे सूत्रोंपर कात्यायनने वार्तिकें रची हैं तो उन्हें अत्यन्त क्रोध आया और वे जहाँ योगी कात्यायन रहते थे उस आश्रममें पहुँचे। पाणिनिके स्वागत- के लिये जबतक कात्यायन आगे बढते हैं तबतक तो क्रोधा- भिभूत पाणिनिने उन्हें शाप दे दिया कि तुम्हारे शरीरका इसी क्षण नाश हो जायेगा। निष्कारण शाप सुनकर कात्या- यनको भी क्रोध आगया और उन्होंने भी पाणिनिको शाप दे दिया कि तुम्हारा मस्तक भी विदीर्ण हो जायेगा। इस प्रकार दोनों ही कैलासवासी हुए। यह अनिष्ट घटना त्रयोदशीको हुई थी, अतः उस दिन व्याकरणका अध्ययन बन्द रहता है—तदादि वैयाकरणाः महान्तस्तस्यां तिथौ न प्रसजन्ति शास्त्रम्' इस घटनाको आंशिक रूपसे भी यदि सत्य मानें तो भी यह बात अवश्य सिद्ध होती है कि दोनों समकालीन थे। किन्तु भारतीय विद्वान् इसमें एक मत नहीं हैं। श्री युधिष्ठिरजी मीमांसक वि० से लगभग २७०० वर्षपूर्व कात्यायनका काल निर्धारित करते हैं। श्री बलदेवजी उपाध्याय तथा श्री गौरी शंकरजी उपाध्याय पतञ्जलिके बाद वि० पूर्व द्वितीय शतकके आसपास उनका समय मानते हैं। समकालीन माननेवाले श्री रामभद्रजी दीक्षित हैं। अस्तु।

आचार्य कात्यायनके पश्चात् महर्षि पतञ्जलि व्याकरण निर्माताके रूपमें हमारे सामने आते हैं। पतञ्जलि पुष्यमित्र शुङ्गके राजपुरोहित थे। पुष्यमित्रका पुराणोंमें वर्णित शुङ्गवंशसे कोई सम्बन्ध नहीं था। अपितु वह पूर्व भारतके शुङ्गनामक एक जनपदका रहनेवाला था। मगधके राजा पणिचन्द्रका यह सेनानी था। बौद्धधर्मके पतनका वह समय था; अतः म्लेच्छोंने पश्चिममें आक्रमण कर अपना राज्य स्थापित कर लिया। किन्तु सेनानी पुष्यमित्र काश्यपद्विज था; अतः उसने वैदिक धर्मके पुनरुत्थानके लिये अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। राजाको हटा करके वह स्वयं गादीपर बैठा। यद्यपि उस समय अनेक आपत्तियोंका उसे सामना करना पडा तथापि उसने उन सबको नष्ट करके दो बार अश्वमेध यज्ञ किया तथा अपने साम्राज्यका विस्तार मगधसे लेकर काश्मीरतक कर लिया। अपने राज्यकी रक्षाके लिये उसे अत्यन्त सावधानीसे रहना पडा। लगभग तीन सौ वर्षतक शुङ्गोंका राज्य रहा। पुष्यमित्रका वैदिक-जीवनमें विश्वास था। उसके कालमें संस्कृत पुनः देशभाषा बनी तथा वैदिक विद्वानोंका उसके दरबारमें खूब सत्कार हुआ। इस प्रकारके क्रान्तिमय कालमें एक वैदिक राजाके यहाँ पतंजलि जैसे विद्वानका स्थान था।

पतंजलिने पाणिनिके सूत्रोंका विस्तृत भाष्य किया; वैद्यक शास्त्रका एक बृहत् सम्पादन किया तथा योग शास्त्रपर सूत्रों की रचना की। आज योगशास्त्रका सर्वमान्य एवं सुप्रसिद्ध ग्रन्थ पातंजल-सूत्र ही माना जाता है, चरक वैद्यकशास्त्र की बृहद् ग्रन्थत्रयीका एक प्रमुख ग्रन्थ है तथा महाभाष्य व्याकरणका अद्वितीय ग्रन्थ है। सम्राट् पुष्यमित्रके ये पुरोहित थे। पुष्यमित्रके सम्बन्धमें महाभाष्यमें जो जो उल्लेख प्राप्त हैं वे इस प्रकार हैं—(१) राजसभा। ......। पुष्यमित्रसभा चन्द्रगुप्त सभा १।१।६८॥ (२) पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्तीति। तत्र भवितव्यं पुष्यमित्रो याजयते याजकाः जयन्तीति। ३।१।२६॥ (३) इह पुष्यमित्रं याजयामः ३।२।१२३॥ (४) महीपालवचः श्रुत्वा जुघुषुः पुष्यमाणवाः। एष प्रयोग उपपन्नो भवति। ७।२।२३॥

इन सम्पूर्ण उद्धरणोंमें प्रथम राजसभाका निर्देश मिलता है। दूसरेमें पुष्यमित्रके किसी यज्ञका वर्णन है। तीसरेमें पतंजलि कहते हैं कि हम पुष्यमित्रका यज्ञ करा रहे हैं। चौथेमें पुष्यमित्रके कुटुम्बका एक दृश्य है। तिब्बति ग्रन्थोंमें इस सम्राट्का पुष्ययोगी नाम है। पतंजलिकी माताका नाम गोणिका था, अतः उन्हे गोणिका पुत्र भी कहा जाता था तथा उनकी मृत्यु गोनर्द नामके प्रदेशमें हुई थी। सम्भवतः गोनर्द नामक प्रदेशसे उनका कोई विशेष सम्बन्ध भी हो, जिसके कारण उनका नाम गोनर्दीय भी था। पतंजलिके महाभाष्यपर अनेक टीका ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें भर्तृहरिविरचित 'महाभाष्य दीपिका' और कैयट विरचित 'महाभाष्य प्रदीप' मुख्य है। कुछ टीकायें प्रदीपकी व्याख्यारूप हैं, जिनकी संख्या लगभग १५ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पातंजल महाभाष्य भारतका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

पतञ्जलिके विषयमें एक अद्भुत कथा भी प्रसिद्ध है। कहते हैं कि शेषके अवतारके रूपमें पतंजलिने इस संसारमें जन्म ग्रहण किया था। एक सुन्दर आश्रममें अत्यंत गुणवती गोणिका नामक मुनिकन्या थी। उसने पुत्रके लिये कठोर तप किया। तपसे कृशकाय वह जब आँखें बन्द करके अञ्जलिमें अर्घ्यके लिये पवित्र जल भरकर भगवान् भास्करका ध्यान कर रही थी। उस समय सूर्यद्वारा नियुक्त शेषराज गर्भरूपमें अञ्जलिमें प्रविष्ट हो गये। ज्यों ही उसने अर्घ्य अर्पण किया त्यों ही तपस्वीकी आकृतिमें वह शेषराज (अहि) सामने आ गिरा। उसने जटा, मृगचर्म, स्फटिकके कुण्डल आदि धारण कर रक्खे थे। क्योंकि यह अञ्जलिके गिरते समय उत्पन्न हुआ था अतः माताने उसका नाम पतञ्जलि रक्खा-' यत्पतन्नभवदञ्जलितोऽसौ तत्पतञ्जलिरिति प्रथमानम् '। पतंजलि उत्तम-पद-प्राप्त्यर्थ घोर तप करने लगे। इस तपसे भयभीत होकर इन्द्रने अपनी अप्सरायें तपोभ्रष्ट करनेके लिये भेजी। अप्सराओंके लाख प्रयत्न करनेपर भी पतंजलि जरा भी विचलित नहीं हुए। उनकी इस सफलतापर देवोंने पुष्पवृष्टि की। और उमाके साथ भगवान् शंकर वर देनेके लिये उनके सामने आये। सामने शंकरको देख पतंजलिने प्रणाम किया और उनके पूछनेपर यह वर मांगा कि मुझे पदवार्तिक भाष्य निर्माण करनेकी योग्यता प्राप्त हो। भगवान्ने 'तथास्तु' कहा

और सम्मति दी कि तुम नाट्यलिप्सा लेकर चिदम्बर नामके नगरमें जाओ। अनेक जंगलों, नदियों, पहाडोंको पार करके वे उस नगरमें पहुँचे। वहाँ व्याघ्रपाद् नामक तपस्वी रहते थे। उन्होंने योगबलसे जान लिया कि ये शेषावतार पतंजलि हैं। कुशल प्रश्नादिके बाद वे दोनों शंकरके नटनमहोत्सवको देखनेके लिये उस नगरकी कनकसभा (सजी हुई नाट्यशाला) में पहुँचे। इन्द्रादि देवताओंने विश्वकर्मा (उस समयके मुख्य इंजिनियर) से कहकर इस सोनेकी तरह जगमगाती हुई नाट्यशालाको बनवाया था। इस नाट्यशालाका अत्यन्त मनोरम वर्णन है। किसी स्वतन्त्र लेखद्वारा ही उसका वर्णन करना होगा।

उस नाट्यशालामें शंकरका नृत्य हुआ। देव, ऋषि, मनुष्य आदि सभी दर्शक अत्यन्त तृप्त हुए। नृत्यके बाद सूत्रों और वार्तिकोंके भाष्य करनेका आदेश देकर भगवान् शंकर उमाके साथ कैलाश लौट आये। उस नृत्यको देखकर सब देवगण जब अपने अपने विमानों (हवाई जहाजों) में बैठकर लौट गये तो व्याघ्रपाद् और पतंजलिने मिलकर चिदम्बरम्‌के किसी एकान्तस्थानमें बैठकर उस नृत्यका विवरण लिखा। इसके पश्चात् पतंजलिने अपना भाष्य लिखा। पतंजलिकी इस कीर्तिको सुनकर हजारों पण्डित विद्यार्थीके रूपमें उसे पढनेकी इच्छासे एकत्रित हुए। तब एक बहुत बडा पडदा लगाकर उस ऋषिने पुनः फणिपति (शेषनाग) का रूप धारण कर लिया तथा घोषित कर दिया कि जो कोई इस पडदेको हटायेगा वह मेरा प्रिय नहीं रहेगा। प्रतिदिन अध्ययन शान्तिपाठसे आरम्भ और अन्त होता था। पढानेकी विशेषता यह थी कि वे एक साथ अनेकोंके प्रश्न सुनते थे तथा एक साथ सबके उत्तर देते थे। इससे विद्यार्थीगणमें कुतूहल बढता गया। एक दिन इस कुतूहलको दूर करनेके लिये किसी विद्यार्थीने उस पडदेको हटा दिया। पडदा हटनेपर सबने देखा कि एक भयङ्कर सर्प है, जिसने कुण्डली लगा रक्खी है, भीषण डाढें निकाल रक्खी हैं तथा हजारों फण फैला रक्खे हैं। ऐसे इस भयानक रूपको देखकर सब डर गये। फणिपतिने जब पूछा कि यह अनर्थ किसने किया है तो उनमेंसे एक विद्यार्थी कांपता हुआ सामने आकर खडा हो गया। क्रोधित होकर पतंजलिने उसे शाप दिया कि ' तू राक्षस बनेगा '। विद्यार्थीके अत्यन्त विनय करनेपर उनका क्रोध शान्त हुआ और उन्होंने कहा— कोई बात नहीं है, यह संसार बडा विचित्र है, अस्तु, तू यहाँसे जाकर लोगोंसे पूछना कि ' पच् ' धातुका ' निष्ठा ' अर्थमें क्या रूप बनता है ? ' पक्वम् ' ऐसा जो उत्तर दे उसे मेरा भाष्य पढाकर तुम शापसे मुक्त हो जाओगे। यह कहकर गोनर्द देशमें जाकर अपनी माता गोणिकाको प्रणाम करके वे स्वर्गस्थ हो गये।

इधर वह पतंजलि-शिष्य राक्षस बनकर एक बडके वृक्षपर चढकर बैठ गया। जो कोई उधर आता उससे वह पच् धातुका निष्ठार्थमें रूप पूछता था। यदि ' पचितम् ' उत्तर मिलता तो उसे वह खा लेता था। कई दिनोंबाद एक ब्राह्मण आया और उसने राक्षसके पूछे जानेपर ' पक्वम् ' उत्तर दिया। यह सुन वह राक्षस नीचे उतरा और उसने उसका नाम पूछा। ब्राह्मणने कहा कि मैं चन्द्रगुप्त हूँ और उज्जयिनीसे फणिपतिके भाष्यको पढनेके लिये तुम्हारे निकट आया हूँ। पश्चात् लगातार दो मासतक बिना खाये पिये वह पढता रहा और उसने अपना अध्ययन समाप्त किया। वह अपने पाठ वटके पत्तोंपर नखके अगले हिस्सेसे लिख लेता था। विद्या समाप्त हो जानेपर राक्षस शापसे मुक्त हो गया और वह ब्राह्मण उन वटपत्रोंकी गठरी बांध उज्जयिनी चला गया। आगे जाकर इसके जो चार पुत्र हुए उनके क्रमशः—१ वररुचि, २ विक्रमार्क, ३ भट्टी और ४ भर्तृहरी ये नाम थे। सभी व्याकरणके उद्भट विद्वान् हुए और उनमें सर्वाधिक ख्याति भर्तृहरिकी हुई। इस प्रकारका यह वृत्तान्त उपलब्ध होता है।

व्याकरणशास्त्रपर वृत्तिग्रन्थ भी अनेक लिखे गये हैं। महाभाष्यसे भी पूर्व लिखी हुई कुणि और माथुर की वृत्तियाँ थी। यों तो कहते हैं कि स्वयं पाणिनिने भी अपने सूत्रोंपर वृत्ति लिखी थी। किन्तु इन सबमेंसे आज एक भी उपलब्ध नहीं होती। इनके अतिरिक्त अन्य जो वृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं उन सबमें काशिका वृत्ति ही सबसे प्राचीन है। काशिकासे प्राचीन चुल्लिभट्टी, निर्लूर आदि कुछ वृत्तियोंके नाम प्राचीन टीका ग्रन्थोंमें मिलते हैं।+

+ श्री युधिष्ठिरजी मीमांसकके ' सं० व्या० शास्त्रका सं० परिचय ' लेखसे।

ई० सन् ४०० से १२०० तकका उल्लेख करते हुए व्याकरणशास्त्र एवं उनके कर्त्ताओंके विषयमें म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने अपने 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' विषयक व्याख्यानमें इस प्रकार उल्लेख किया है— ६०० ई० तक व्याकरण बहुत उन्नत हो चुका था। पाणिनि के व्याकरणपर कात्यायन और पतंजलि अपने वार्तिक और महाभाष्य लिख चुके थे। शर्ववर्माका तन्त्र व्याकरण भी, जो प्रारम्भिक विद्यार्थियोंके लिये लिखा गया था, बन चुका था। इसपर सात टीकायें मिल चुकी हैं। हम देखते हैं कि व्याकरण बहुत समयतक हिन्दुओंमें मुख्य विषय बना रहा। पण्डित होनेके लिये व्याकरणका प्रकाण्ड विद्वान होना आवश्यक समझा जाता था। पं० जयादित्य और वामनने ६६२ ई० के आसपास 'काशिकावृत्ति' नामसे पाणिनीके सूत्रोंपर भाष्य लिखा, जो बहुत उत्तम तथा उपयोगी ग्रन्थ है। भर्तृहरिने भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे व्याकरणपर 'वाक्य-प्रदीप' नामका वृहद् ग्रन्थ तथा 'महाभाष्य दीपिका' और 'महाभाष्य-त्रिपदी' व्याख्यान लिखे। इस समयतक उणादि सूत्र भी बन चुके थे, जिनकी टीका १२५० ई० में उज्ज्वलदत्तने की। पाणिनीकी अष्टाध्यायीपर लिखेगये ग्रन्थोंके अतिरिक्त भी कई स्वतन्त्र व्याकरण बने। चन्द्रगोमिनने ६०० ई० के करीब 'चान्द्रव्याकरण' लिखा। उसने इसमें पाणिनीके सूत्रों और महाभाष्यका भी उपयोग किया है। इसी तरह जैन शाकटायनने नवीं शताब्दिमें एक व्याकरण लिखा। प्रसिद्ध जैन-आचार्य हेमचन्द्रने अपनी तथा अपने समयके राजा हेमचन्द्रकी कीर्ति स्थिर रखनेके लिये शाकटायनके व्याकरणसे भी अधिक विस्तृत 'सिद्ध हेम' नामक व्याकरण लिखा। जैन होनेके कारण उसने वैदिक भाषा सम्बन्धि नियमोंका वर्णन नहीं किया। इनके सिवा व्याकरणसे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ और भी छोटे छोटे ग्रन्थ लिखे गये, जिनमेंसे कुछके नाम ये हैं– वर्धमानप्रणीत 'गुणरत्न महोदधि,' भास सर्वज्ञकृत 'गणकारिका,' वामनविरचित 'लिंगानुशासन,' हेमचन्द्र लिखित 'उणादि सूत्रवृत्ति,' 'धातुपाठ' 'धातुपारायण' 'धातुमाला' 'शब्दानुशासन' आदि।

इस तरह हम देखते हैं कि ई० पू० लगभग ६०० के (यद्यपि यह समय चिन्त्य है) पाणिनि जैसे आचार्यों द्वारा अष्टाध्यायी जैसा श्रेष्ठ व्याकरण ग्रन्थ बन चुका था तथा निरुक्तोंद्वारा तो इससे भी सैकड़ों वर्षपूर्व शब्दोंके चार भेदों द्वारा सारे शब्दसमूह (निघण्टु) पर पूर्णतः व्याकरणकी दृष्टिसे विचार हो चुका था। ई० सन ६०० तक उसी व्याकरणपर महर्षि पतञ्जलि और कात्यायनद्वारा भाष्य व वार्तिकें भी लिखी जा चुकी थीं। इनके समयमें तो व्याकरणके भिन्न भिन्न सिद्धान्तोंपर अपने स्वतन्त्र विचार रखनेवाले अनेक सम्प्रदाय भी थे जिनका उल्लेख भाष्योंमें यत्रतत्र मिलता है। वे शब्दोंको अपना परिवार समझा करते थे जो उनकी शैलीसे प्रतीत होता है, जैसे 'अस्यापत्यं इ' अ की सन्तान इ है। प्रत्यय और उपसर्ग तो मानो वस्त्राभूषण थे जिनसे शब्दोंको सजाया जाता था और सामासिक शब्द मानो अक्षरोंका एक कुटुम्ब रहता था। बडे बडे वाक्य मुहल्ले थे जिनमें शब्दरूपी कुटुम्ब रहा करते थे। इन सब (मुहल्लों) बस्तियोंको मिलकर एक सम्पूर्ण संदर्भ छोटेसे गांवके रूपमें हो जाता था। अनेक सन्दर्भोंसे परिपूर्ण ग्रन्थही मानों इनका विशाल नगर था। इस प्रकार इन नगरोंके निर्माताओं एवं अधिपतियोंको अपने राज्यको देखकर आनन्द आता था। अपने इस राज्यको चिरजीवी एवं चिरसुखी रखनेके लिये आवश्यक नियम-प्रबन्धादि भी ये रखते ही थे। अर्थात् यह सम्पूर्ण राज्यव्यवस्था ही मानो व्याकरण शास्त्र है।

इस विषयमें विदेशोंमें सर्वप्रथम विचार करनेवाले जगद् विजयी सिकन्दरके गुरु, यूनानके सुप्रसिद्ध दार्शनिक एवं विद्वान् अरस्तू थे। इन्होंने ही शब्दोंके-सर्वप्रथम-आठ भेद किये। उसके बाद १८ वीं शताब्दिमें अनेक यूरोपीय विद्वानोंने इस विषयमें पर्याप्त अनुसन्धान किया तथा संस्कृत और अरबीके भाषाविज्ञानद्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्व खोज निकाले। भाषाविज्ञानपर लिखनेवालोंको प्राचीन व्याकरणशास्त्रद्वारा अत्यधिक सहाय्य प्राप्त हुआ और इस बातको वे यूरोपीय विद्वान् बड़े अभिमानके साथ स्वीकार करते हैं।

आज हमारे देशकी मुख्य भाषाओं–मराठी, बंगला, गुजराती और द्राविडो–के व्याकरण संस्कृतके व्याकरणसे बाहर या भिन्न नहीं है। इस एकात्मताको स्थायी रखनेका सुमहान् श्रेय अवश्यही प्राचीन व्याकरण शास्त्रको है।

राष्ट्रभाषा हिन्दीके जो व्याकरण प्रचलित हैं वे अन्यभाषाओंके व्याकरणसे समत्व रखते हैं। बहुत थोडे अंश ऐसे हैं जो इसके अपवाद हैं। आजकी भाषाओंके व्याकरणमें जो वाक्य-पृथक्करण नामका नवीन अंश जुडा हुआ है। वह अंग्रेजीका ही अनुकरण है। शब्दों और वाक्योंके विषयमें प्राचीन व्याकरणकी तुलनामें यूरोपीय विद्वानोंका विवेचन या अन्वेषण समान है तथा वाक्य विचारमें तो वे कुछ अधिक पूर्ण व प्रगतिशील रहे हैं। शायद भारतीय अपने ग्रामोंके प्रति अधिक आकर्षित हैं और यूरोपीय नगरोंको विशेष सुन्दर बनानेमें यत्नशील।

हिन्दीके वर्तमान व्याकरणोंमें अधिकपूर्ण एवं अधिक उपादेय आदरणीय स्व० कामताप्रसाद गुरुका व्याकरण है। जिन मूलभूत आधारोंपर इन व्याकरणोंकी सृष्टि की गई है उन्हीं आधारोंपर इस शास्त्रके अनेक अंगोंका विवेचन आजकी राष्ट्रभाषामें होना चाहिये, जो अत्यन्त आवश्यक है। एतद्विषयक बहुतसी सामग्री यद्यपि अनेक भारतीय विद्वानोंने संकलित की है। किन्तु वह अधिकांशमें पाश्चात्य विचारोंके प्रकाशमें लिखी है। कितना अच्छा हो यदि उसके साथ प्राचीन विचारोंको प्रमुखता देकर एक सम्मिश्रित एवं पूर्ण सम्पादन हो। आज जब राष्ट्र चतुर्मुखी विकासमें संलग्न है और हिन्दीको राष्ट्रवाणीका सन्मान देनेको आतुर है तब उसके व्याकरणसम्बन्धि अभावोंमें यत्नशील होना भी एक मुख्य कर्तव्य है और उसके अंगोंका अधिकाधिक विवेचन होकर उसे पूर्ण व समृद्ध बनाना परम धर्म है। +

+ सूचना-विदित हुआ है कि 'भारतीय व्याकरणशास्त्रका इतिहास' नामक ५०० पृष्ठका एक बृहद्ग्रन्थ माननीय श्री युधिष्ठिरजी मीमांसकने सम्पादित किया है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है।

समालोचना एवं प्राप्ति स्वीकार

(१) 'गायत्री' मूल्य १।) रु. पृष्ठ सं. ९२

लेखक— श्री० विद्यानन्दजी विदेह

प्रकाशक— विश्वदेवजी शर्मा, व्यवस्थापक वेद-संस्थान, अजमेर

प्रस्तुत पुस्तकमें प्रस्तावनाके रूपमें 'परिचय' शीर्षकके अन्तर्गत पुस्तकके विषयमें परिचय रूपसे लिखा है कि 'श्रावणी १९९३ वि० से आचार्यजी आर्यभाषामें एक नवीन शैलीसे वेदानुवाद कर रहे हैं। ऋग्वेदका अनुवाद पूर्ण होनेवाला है ।......उन्हीं आचार्यप्रवर द्वारा लिखित इस 'गायत्री' पुष्पको वेदप्रेमियोंकी सेवामें समुपस्थित करते हुए परमोल्लास हो रहा है।'

पुस्तकको पढनेपर विदित हुआ कि इसमें ऋग्वेदके मन्त्रोंका हिन्दी भाषामें सरल अर्थ दिया हुआ है। सब मिलाकर ४६ मन्त्र हैं।

अत्यन्त सरल एवं सुगम भाषाका प्रयोग हुआ है जो अवश्य ही जनसाधारणके लिये भी समानरूपसे उपादेय होगी। छपाई, सफाई आदि उत्तम एवं परिश्रमपूर्वक की गई है। मुखपृष्ठका रंगीन चित्र अपनी विशेषताओंके साथ बडा आकर्षक है।

वेद संस्थान अजमेरका श्रद्धापूर्ण यह प्रयत्न अवश्य ही स्तुत्य है। यद्यपि उनका यह प्रथम ही प्रकाशन है, तथापि आशा है कि वे इस दिशामें अन्य प्रकाशन भी शीघ्र ही जनताके सम्मुख उपस्थित कर सकेंगे।

पुस्तकमें मन्त्र-सूची होती तो अधिक अच्छा रहता। साथ ही प्रस्तावनाके रूपमें स्वयं लेखक कुछ विशेष लिखते तो और अच्छा होता। आशा है अगले प्रकाशनोंमें व्यवस्थापक इस ओर ध्यान दे सकेंगे।

हम इस प्रकाशनका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

(२) विदेह-अलाप, [मूल्य चार आना]

(ले०- श्री. आचार्य विदेह, प्रकाशक- श्री. विश्वदेवशर्मा, व्यवस्थापक वेद-संस्थान, अजमेर)

१७ गीतोंकी यह छोटीसी पुस्तिका है। छपाई, सफाई उत्तम तथा आकर्षक है। राष्ट्रभाषामें लिखे हुए इन वैदिक गीतों में कुछ शब्दोंका प्रयोग चिन्त्य है। जैसे 'मिशन' 'मिशनरी' 'जिगर' 'तासीर'। ये सारे शब्द पहले ही गीतके हैं। इसी प्रकार मूर्खालू तथा कुवाची शब्द भी चिन्तनीय हैं। पुस्तकका नाम अलापके स्थानपर विलाप सम्भवतः अधिक उचित प्रतीत होता। क्योंकि प्रभु या प्रिय मिलनके मतवाले सन्तोंकी कवितामें जिस प्रकार मिलनकी आतुरता, वियोगकी पीडा, दर्द, मर्म है और इन भावोंकी अभिव्यक्तिके लिये जिस प्रकार उनका विलाप हुआ है, लगभग वही विलापकी छाया इन गीतोंमें भी है।

जैसे वियोगसे पीडित विदेहजी कह उठते हैं—

"वे दिन ये कैसे सुखदाई।

दिन नहीं चैन रात नहीं निद्रा, कलप कलप कलपाई।

तडपा करती थी दर्शनको, देते तुम न दिखाई।

अब "विदेह" से नहीं बिछुडना सही न जाय जुदाई।"

साथ ही वैराग्यभाव, संसारकी असारता भी यत्रतत्र फूटी पडती है। जैसे—

साधो एक दिन जाना होगा।

"साथ नहीं कोई जाता है, दो दिनका रिश्ता नाता है।

कौन किसीका इस सरायमें, इकला पथिक रवाना ... ... होगा।

...काल सवेरा होते ही बस, पिंजडेसे उड जाना होगा।"

इसी प्रकार निराशा, प्रणय, पश्चात्ताप, आसक्तिके अनेक गीत बडी सुन्दरतासे ग्रथित हुए हैं। अपवादात्मक वीरता, आह्वान प्रार्थनाके भी गीत ढूंढनेपर मिलते हैं।

सारांशमें यही पुस्तकका स्वरूप है। अधिक विस्तार अनावश्यक है।

(३) 'भारतीय इतिहासकी रूपरेखा पर एक समीक्षात्मक दृष्टि'

लेखक— अनुसन्धानकर्त्ता, श्री. शिवपूजनसिंह कुशवाहा 'पथिक'

सम्पादक— आचार्य वीरेन्द्रजीशास्त्री, एम्. ए., काव्यतीर्थ

यह १९ पृष्ठकी छोटी सी पुस्तिका 'वैदिक धर्म' पृष्ठ सं० १२५ सन् १९४९में लेखरूपमें प्रकाशित होचुकी है। विद्वान् एवं श्रमशील लेखक महोदयने अत्यन्त अनुसन्धान तथा प्रमाणों द्वारा अपने वक्तव्यको जनताके सामने प्रस्तुत किया है। भारतीय इतिहासकी रूपरेखा नामक ग्रन्थमें श्री पं० जयदेवजी विद्यालंकारने आर्योंके मांसाहारके सम्बन्धमें जो लिख मारा है वह अत्यन्त चिन्त्य है। इसी प्रकार सुराका भी उन्होंने समर्थन किया है। इसी मतकी समीक्षा प्रस्तुत पुस्तिकामें की गई है। अथर्व, निरुक्त, ऋग्वेद, ब्राह्मणग्रन्थ तथा अन्य वैदिक विद्वानोंके मतका निर्देश कर उन्होंने अत्यन्त स्पष्टता एवं पुष्टताके साथ यह सिद्ध किया है कि पं० जयदेवजी विद्यालङ्कारने आर्योंके विषयमें मांसाहार तथा सुरापान संबन्धि जो कुछ आक्षेपात्मक लिखा है वह निराधार है।

इस प्रकारके मत अथवा विचार न केवल श्री पं जयदेवजी विद्यालङ्कारके पल्ले पडे हैं अपितु अन्य अनेक बङ्गाली तथा महाराष्ट्रीय विद्वानोंने भी यही सबकुछ किया है और लिखा है। इसलिये हम तो चाहते हैं कि इस प्रकारके भ्रान्त विचारोंके निराकरणके लिये श्रीयुत कुशवाहाजीने जो पुस्तिका लिखी है उसका अधिकाधिक प्रचार होना चाहिये। बंगला, मराठी तथा अंग्रेजीमें भी इसका शीघ्र अनुवाद होकर इसे प्रचारित किया जाना चाहिये। यदि कुछ संस्थायें इस कार्यको अपने हाथमें लेकर सम्पन्न करें तो अधिक उपयुक्त हो सकता है।

पुस्तिकाके अन्तर्गत विषयों, प्रमाणों एवं युक्तियोंका विशेष वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। क्योंकि उसका मूल्य केवल चार आने है। हम प्रत्येक भारतीयसे निवेदन करेंगे कि वह एकबार इसे अवश्य पढें।

साथ ही हम माननीय विद्वान् लेखक पं. जयदेवजी विद्यालङ्कारसे भी साग्रह विनम्र अनुरोध करेंगे कि वे इस सत्यपर विचार करके अपनी ओरसे भारतीय इतिहासकी रूपरेखामें संशोधन कर उसे प्रकाशमें लावें।

इस विषयमें अधिक स्पष्ट रूपसे तथा विस्तारपूर्वक अध्ययन करनेवालोंके लिये निम्नलिखित × चार पुस्तकोंके नाम मैं देता हूँ। मुझे विश्वास है कि इन्हें पढ लेनेपर वैदिक विचारों एवं आचारोंकी स्पष्ट स्थिति जनता समझ लेगी। अतः अब विस्तार भी अनावश्यक है।

[सह सम्पादक]

× १– यजुर्वेदका स्वाध्याय (३० वाँ अध्याय पुरुषमेध-प्रकरण)
२– ,, ,, (३२ वाँ ,, सर्वमेध-यज्ञ)
३–अथर्ववेदका सुबोध भाष्य (१४ वा काण्ड)
४–गोज्ञान कोष (मूल्य ६) रु. पृष्ठ सं० ३०३)

वैदिक पुनर्जन्म मीमांसा-भास्कर

अर्थात्

श्री नाथुलाल गुप्त पुरुषार्थवाद-मर्दन ।

(लेखक— श्री. पं. जगन्नाथशास्त्री, न्यायभूषण, विद्याभूषण, पो. टी. झज्झर [जि. रोहतक] पू. पंजाब)

" वैदिक धर्म " नवम्बर, दिसम्बर १९४९ तथा जनवरी १९५० के अंकोंमें " गुप्ता " जी का लिखा हुआ " वैदिक पुनर्जन्म-मीमांसा " लेख मैंने साद्यन्त पढा । इस लेखका उत्तर (खंडन) लिखनेका साहस करता हूँ । पाठक इसे भी पढकर यथार्थ स्वरूपको पहिचानें ।

श्री गुप्ताजीने अपने लेखमें कृकलास (गिरगिट) की तरह कई रंग बदले हैं। आरंभमें आस्तिकवादी (ईश्वरमानी) बने, अन्तमें प्रकृतिवादी (सायंसधारी) बने । पदार्थविज्ञानी (सायंसवादी) ईश्वरको स्वीकार नहीं करते परन्तु रासायनिक आधारपर पदार्थोंके संमिश्रणसे ही चेतनता और सृष्टिकी प्रवृत्तिको स्वीकार करते हैं । जिन भागोंका उत्तर लिखूंगा वह क्रम निम्न प्रकार है ।

(१) पुनर्जन्म विषयमें वैदिक सिद्धान्तके रहस्य (धर्माऽधर्म, वैदिक पुनर्जन्ममें आचरणोंके फल, वर्तमानकालमें अनेक शरीरों द्वारा प्रत्यक्ष रूपसे सुख दुःख प्राप्तिका पुरुषार्थवादी ज्ञान) लुप्त हो जानेका कारण केवल धर्माऽधर्मके फलभोगनार्थ उपर्युक्त प्रकारोंके अनेक कपोलकल्पित अनर्गल परोक्ष तथा भ्रमरूप प्रारब्धवादी विकल्प बनाए हुए हैं, जो इस विषयसम्बन्धि वैदिक पुनर्जन्मके रहस्यको जाननेपर उपर्युक्त समस्त कपोलकल्पित विचार इस तरह शीघ्र चले जाते हैं जैसे सूर्यके सामने अंधेरा । (पृ. ४०२)

(२) पौराणिक पंडितोंने स्वा. दयानन्दके भाष्योंमें पौराणिक पुनर्जन्म (कर्मफलवाद) को अपनी ओरसे मिलाया है ।

इन स्वार्थियोंने अपने पुराणोंके पैत्रिक संस्कारोंके कारण ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका व 'सत्यार्थ-प्रकाश' के मुक्ति विषयमें बिना किसी वेदोंके प्रमाणके वैदिक सिद्धान्तके विरुद्ध प्रमाणों द्वारा जीवको स्वरूपसे नित्य बताते हुए मृतक पुनर्जन्म होनेका वर्णन किया है जो महर्षिके उपरोक्त विचारोंके विरुद्ध होनेसे मिथ्या है । क्योंकि यह बात सब विद्वानोंको मान्य है कि ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकाके सब विषयोंमें महर्षि दयानन्दके लिखाये हुए प्रथम वेदमंत्र व तत्पश्चात् संस्कृत-भाष्य ही पंडितोंको लिखाया है । और भाषाभाष्य पौराणिक पंडितोंने अपनी ओरसे लिखा है । (पृ० ४५८)

(३) भूतोंके संयोगसे जन्म तथा वियोगसे मृत्यु होती है इसलिये संसारमें मृत्युके अनन्तर पुनर्जन्म नहीं होता । पुनर्जन्ममें आत्मिक चेतनशक्ति, प्राण व इन्द्रिय तथा शुभगुण धारण करनेवाली बुद्धि और उत्तम शरीरकी उत्पत्तिके लिये प्रार्थना की गई है । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि इन पदार्थोंके अतिरिक्त जीवात्मा कोई अस्तित्व ही नहीं रखता, जो सिवाय सन्तानद्वारा पुनर्जन्म माननेके जीवात्माकी व्यक्तिगत नित्यतामें होना असंभव है और न कोई जीवात्मा मृत्युके बाद जन्म होनेमें आत्माकी उत्पत्तिके लिये प्रार्थना कर सकता है । (पृ० ४१४)

(४) जीवात्मा एकबार जन्म लेनेके पश्चात् इसी जन्ममें अपने आत्मासे उत्पन्न हुए हुए बीजरूपी अंश (बीजात्मा) के द्वारा पुनः स्त्रीके गर्भमें प्रादुर्भूत होकर जन्म लेता है उसे " पुनर्जन्म " कहते हैं । (पृ. ४३९)

पृ. ८ जनवरी १९५० के प्रथम भागमें " बीजमें ही चेतनविशिष्ट " शरीर होता है जिसके कारण स्त्रीके गर्भमें गर्भकी वृद्धि होती है । यदि चेतनविशिष्टसे चेतनविशिष्ट की उत्पत्ति न होती, तो ऐसा नहीं हो सकता ।

(५) ईश्वर सृष्टिकर्ता है इसलिये जीव सृष्टिके अन्तर्गत होनेके कारण वह उत्पन्न होनेवाला कार्य है। पृ० ४४४

(६) पृथिव्यादि भूत अपने आधेय प्राणियोंमें व्यापक है और जीवात्मा अपने बीजात्माओंमें व्यापक होता है। तथा बीजात्मा परिच्छिन्न है वही व्यक्त होकर जीवात्मा हो जाता है। पृ० ४४५ शरीरसहित जीव होता है नकि शरीरसे पृथक्। पृ० ४४६

(७) आधाररूप शरीर अपने आधेयरूपी चेतनताकी अपेक्षासे चिरस्थायी है पृ० ४५० जनवरी १९५० पृ० ७ नियम २३ आधारकी उपलब्धि विना आधेयके हो सकती है किन्तु आधेयकी उपलब्धि विना आधारके नहीं हो सकती। पृ० ४५४ में मृत्युके समय शरीरके सभी परमाणु चेतनता रहित हो जाते हैं जिससे शरीर कोई कार्य नहीं कर सकता।

(८) ब्रह्मसे ब्रह्माण्ड (विराट् पुरुष) व ब्रह्माण्डसे पिण्ड (जीव) पिण्डसे जीवांड (वीर्यके कीडे) वीर्यके कीडोंसे पिण्डरूप जीव पैदा होते रहते हैं। पृ० ४४५ वीर्यकृमि, रजःकृमि, वीर्यका कीडा बडा हो तो रजः कीटको पुच्छद्वारा निगलता है। रजःवृद्धिसे कन्या, वीर्यवृद्धिसे पुरुष, अतः वैज्ञानिक प्रमाणके अनुसार दो जीवित कीडोंसे एक भ्रूण उत्पन्न होनेके कारण इस व्यष्टिजीवात्माकी नित्यताका प्रत्यक्ष रूपसे निराकरण है। पृ० ४१७

(९) जनवरी १९५० पृ० ७ (नियम १९) परब्रह्म बीजरूपसे विराट् पुरुष द्वारा सब जीवोंको चेतनता देता है और हरएक जीवकी मूलशक्ति द्वारा अन्य जीवोंके उत्पत्तिकी वृद्धि होती रहती है।

(१०) त्रिकालवादीके खंडनमें जनवरी पृ० ८ माताने जिस बच्चेको जन्म दिया उस बच्चेका अस्तित्व मातासे पहिले पिताके वीर्यमें था मातासे केवल भ्रूणकी वृद्धि होती है न कि उत्पत्ति।

(११) चेतनसत्ताका नाम अन्तःकरण रखा; चेतन-विशिष्ट शरीरका नाम जीव रखा। पृ० ४५१

(१२) वैदिक मतानुसार इस जन्मके पुण्यपाप रूपी कर्मोंका फल प्रत्यक्ष रूपसे इसी जन्ममें सुखदुःख पानेके अतिरिक्त व्याजसहित वृद्धिके साथ सन्तानों द्वारा अनेक शरीरोंसे सुखदुःख पानेका प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित है।

(१३) श्री महात्मा बुद्ध तथा स्वा० शंकराचार्यजीको अनभिज्ञ बताया। पृ० ४१७

(१४) शरीरके भिन्न अवयवोंके यांत्रिक संगठनको ही जीवात्मा मानते हैं; अतः इनके (वैज्ञानिकोंके) अनुसार संगठनके छूटनेका नाम ही मृत्यु है और संगठनके टूटते ही जीव नष्ट हो जाता है जैसे विद्युत् बल्ब। पृ. ४५४

(१५) जीवात्मा अपनी आयु व्यतीत होनेपर मृत्युको प्राप्त होते हैं। तब उनकी चेतनता विराट् पुरुषकी चेतनतामें लय हो जाती है। जनवरी १९५० पृ० ६

(१) मरणानन्तर पुनर्जन्मके खंडनमें सर्वत्र ही पौराणिक सिद्धान्तको रोंदा है। और आर्यसमाज सभ्योंपर भी यही दोष लगाया कि पौराणिक पंडितोंने श्री स्वा० दयानन्दजीके ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकादि ग्रन्थोंमें संस्कृत भाष्यको छोडकर हिन्दी भाष्यमें ही कपोल-कल्पित बातें लिख दी हैं जो सर्वथा हेय हैं।

अतः मैं केवल वेद संहिता चतुष्टयके प्रमाणों द्वारा वेद-मंत्रोंसे ही मरणानन्तर पुनर्जन्मका चक्र चलता रहता है, जबतक जीवात्मा मुक्त नहीं होता। साथ साथ कहीं कहीं उपनिषदों तथा भगवद्गीताके प्रमाण भी उद्धृत कर दूंगा।

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका संस्कृतभाषा० पृ० २०१ सं० १९३४

हे असुनीते! ईश्वर! मरणानन्तरं द्वितीय शरीर धारणं वयं सदा सुखिनो भवेम। अर्थात् यदा वयं पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा द्वितीयं शरीरं धारणं कुमस्तदा...यतो वयं सर्वेषु जन्मसु सूर्यलोकं निरन्तरं पश्येम। तथा पृ० २०३ यो जीवः पूर्वजन्मनि यादृशानि धर्म कार्याणि कृतवानस्ति (ततः) तस्मात् धर्मकारणात् (वपूंषि) बहूनि उत्तमानि शरीराणि पुन-र्जन्मनि कृणुते धारयति। (धास्युर्योनिः) धास्यतीति धास्युः अर्थात् पूर्वजन्मकृत

पापपुण्य फलभोगशीलो जीवात्मा (प्रथमः) पूर्वदेहं त्यक्त्वा वायु जलौषध्यादि पदार्थान् (आविवेश) पुनः कृतपापपुण्यानुसारिणीं योनिमाविवेश. प्रविशतीत्यर्थः। यश्चाधर्मकृत्यानि चकार स नैव पुनः पुनर्मनुष्य शरीरं प्राप्नोति किन्तु पश्वादीनि हि शरीराणि धारयित्वा दुःखानि भुंक्ते। तथा २०३ यजु० ४।१५ भाष्यम् (पातु दुरितात्) जन्म-जन्मान्तरे दुष्ट कर्मभ्योऽस्मान् पृथक् कृत्य पातु रक्षतु येन वयं निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम। तथा अथर्व. ७।६७।१ से-भाष्यम्(धिष्ण्या यथास्याम हे जगदीश्वर! वयं यथा येन प्रकारेण पूर्वेषु जन्मसु धिष्ण्या धारणवत्या धिया सोत्तमशरीरेन्द्रिया आस्थाम तथैवेहाऽस्मिन् संसारे पुनर्जन्मनि बुद्ध्या सह स्वस्वकार्ये करणे समर्थाः स्याम।... ... पृ० २०४ स पूर्ववद्विद्वच्छरीरं धृत्वा सुखमेव भुंक्ते। तद्विपरीतावरणस्तिर्यग्देहं धृत्वा दुःखभागी भवतीति विज्ञेयम्।

पृ० २०५ यदा जीवः पूर्व शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृ शरीरं मातृ शरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्मनि प्राप्नोति, तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम्।

इस लेखसे " गुप्ताजी " स्वा० दयानन्दजीके भाष्यको देखें। अथवा किसी अन्य चक्षुद्वारा देख सकते हैं कि जो संस्कृत भाष्यमें पाठ है ठीक उसीका अनुवाद ही हिन्दी भाष्यमें है।

श्रीस्वामी दयानन्दजीने " वायुजलौषध्यादिमें भ्रमण करते हुए जीवका पुनर्जन्म—

सविता प्रथमेऽहन्न्ग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चम ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे। मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वे देवा द्वादशे॥ (यजु० ३९।६)

भाष्य— इस जीवको शरीर छोडनेके (प्रथमेऽहन्) पहिले दिन (सविता) सूर्य (द्वितीये) दूसरे दिन (अग्निः) अग्नि (तृतीये) तीसरे दिन (वायुः) वायु (चतुर्थे) चौथेदिन (आदित्यः) महीना (पञ्चमे) पांचवें दिन (चंद्रमाः) चन्द्रमा (षष्ठे) छठे दिन (ऋतुः) वसन्तादि ऋतु (सप्तमे) सातवें दिन (मरुतः) मनुष्यादि प्राणी (अष्टमे) आठवें दिन (बृहस्पति) बडोंका रक्षक सूत्रात्मा वायु (नवमे) नौवें दिन (मित्रः) प्राण (दशमे) दशवें दिनमें (वरुणः) उदान (एकादशे) ग्यारहवेंमें (इन्द्रः) बिजुली और (द्वादशे) बारहवें दिन (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य उत्तम गुण प्राप्त होते हैं।

देह संघात अनित्य; जीवात्मा नित्य है इसकी पुष्टिमें (ऋ० १०।७९।१)

" अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु "

अर्थ—(मर्त्यासु) विनाश धर्मवाली (विक्षु) प्रजाओंमें अर्थात् उत्पन्न होनेवाले पृथिव्यादि संघातमक देहोंमें (अस्य) इस (महतः) बडेसे बडे (अमर्त्यस्य) न मरनेवाले अर्थात् आत्माकी (महत्वम्) बडाईको (अपश्यम्) मैं देखता हूं अथवा मैंने देखा, क्योंकि यह जीवात्मा " अणोरणीयान् महतो महीयान् है यह आत्मा क्षुद्र कीटसे लेकर बडेसे बडे हाथी आदिके शरीरोंमें तत्तद्रूप हो जाती है। अतः आत्मा नित्य है देह संघात अनित्य है।

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु। अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः॥ (य. ६।९।४)

अर्थ—(अयम्) यह आत्मा (प्रथमः) अनादि अर्थात् नित्य है (होता) लेनदेनका काम करता है अर्थात् चक्षुरादि द्वारा रूपरसादिको लेता है और हस्तादि द्वारा देता है। (इमम्) इस आत्माको (पश्यत) ज्ञानद्वारा देखो और (अयम्) यह आत्मा (मर्त्येषु) मरणधर्मात्मक देहोंमें (इदं ज्योतिः) ज्योतिरूप यह तत्त्व (अमृतम्) मरणधर्मसे रहित है। अर्थात् नित्य है। (अयम्) यह आत्मा (ध्रुवः) स्थिररूप नित्यस्वरूप (जज्ञे) देहमें प्रादुर्भूत हुआ (जनि=प्रादुर्भावे) (तन्वा) भिन्न भिन्न शरीर ग्रहण करनेसे (वर्धमानः)

अनुकूल बढता हुआ मशक हस्त्यादि देहानुरूप होता हुआ भी (अमर्त्यः) देहोंके नाश होनेपर भी आप आत्मा नहीं मरता। अतः आत्मा नित्य है देहसंघात अनित्य है।

> असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम्।
> भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितम्॥
> (अथर्व. १७।१।१९)

अर्थ— (असति) असत् विनाशवान् देहमें (सत्) सत्यस्वरूप नित्य अविनाशी आत्मा (प्रतिष्ठितम्) स्थित है अर्थात् देह जीवात्माका वासस्थान है। (भूतम्) पृथिव्यादि भूतोत्पन्न विनाशवान् देह "क्षरः सर्वाणि भूतानि" (सति) नित्यस्वरूप जीवात्माके आश्रयपर स्थित है। अर्थात् जीवात्माके होनेपर शरीर अपना कार्य कर सकता है अन्यथा नहीं। (भूतम्) पृथिव्यादि भूत कार्य (भव्ये) होनेवाले देहादि संघातमें (आहितम्) धारित है (भव्यम्) समग्र संघात कार्य जात (भूते) स्वकारणरूप पञ्चभूतोंमें स्थित है। अतः आत्मा नित्य है और देहादि संघात अनित्य है।

> "सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः।
> न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः॥
> (अथ० ८।२।२४)

अर्थ— हे अरिष्ट! (रेषो हिंसा सा यस्य नास्ति) रेष नाम हिंसाका है वह हिंसा जिसके लिये न हो उसे अरिष्ट कहते हैं, हे न नाश होनेवाले जीवात्मन्! (सः) वह नित्य स्वरूप तू (न मरिष्यसि) मरिष्यसिका द्वितीयवार कथन (ण्यन्तका प्रयोग मारयिष्यसि) है अतः तू किसीको न मारेगा, अतः (मा बिभेः) तू मत डर, न तू मरता है और न किसीको तू मारता है (तत्र) देह और आत्म-संबन्धमें (वै) निश्चयसे (न म्रियन्ते) नहीं मरते क्योंकि आत्मा नित्य है। अतः (अधमं तमः नयन्ति) मरने मारने-वाले नीच विचारको नहीं प्राप्त करते। अतः आत्मा नित्य है और देहसंघात अनित्य है।

> "अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति। देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति"
> (अथर्व. १०।८।३२)

अर्थ— अन्ति सन्तं न जहाति; वह आत्मा देहके पास होनेपर भी देहको नहीं छोडता अर्थात् देहको ही अपना मानता है। देहके दुःखी होनेपर कहता है मैं दुःखी हूं। कभी कभी ऐसा भी कहता है कि मेरा देह दुःखी है। (अन्ति सन्तं न पश्यति) वह अपने देहमें समीप होनेपर भी दृष्टि-गोचर नहीं होता। (देवस्य पश्य काव्यम्) कविः क्रान्त-दर्शी परमात्मा, (तस्यायमिति काव्यः तं काव्यम्) परमा-त्मा स्वरूप इस काव्य अर्थात् आत्माको देख (न ममार न जीर्यति) यह आत्मा न मरता है और न जीर्ण होता है, अतः यह आत्मा नित्य है और देहादिसंघात अनित्य है। ३२ अथवा "इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे" अथ. १०।८।२६। कल्याणमयी अर्थात् सर्वदा एकरस रहनेवाली यह आत्मा मरनेवाले देह संघातके घरमें अमृत है अर्थात् मरनेवाली है।

> न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति। नास्य राय उप दस्यन्ति नोतय ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ॥
> (ऋ. ५।५४।७)

अर्थ— हे मरुतः! हे दैवी जीवो! यथा मरुतः...देवा श० ब्रा. ५।१।४।९ अमरकोष ३ ३।५८ यद्वा विशो वै मरुतो देवविशः तां. ब्रा. २।५।१।१२ विट् वै मरुतः तै. ब्रा. १।८। ३।३ विशो मरुतः श. ब्रा. २।५।२।६, हे ज्ञानी पुरुषो! (यम) जिस (राजानम्) चेतनतासे प्रकाशमान (ऋषिम्) देहोंमें गमन करनेवाले जीवात्माको (सुषूदथ) शुभ कर्मोंमें प्रेरित करो, (सः) वह जीवात्मा (न जीयते) वाय्वग्नि जलादि पदार्थों द्वारा नहीं जीता जा सकता, इसे जलाग्नि वायु गीला, जला, सुखा नहीं सकते। इसलिये वह आत्मा (न हन्यते) अस्त्र शस्त्रोंसे मारा नहीं जा सकता। और (न स्रेधति) इस आत्माको कोई सुखा नहीं सकता "स्रेधतिः शोषणकर्मा" (न व्यथते) यह आत्मा किसीको व्यथा नहीं पहुंचाता (न रिष्यते) यह आत्मा किसीसे मारा नहीं जाता (अस्य) इस आत्माकी (रायः) ज्ञान तथा ज्ञानशक्तियाँ (न उपदस्यन्ति) क्षीण नहीं होती (न ऊतयः उपदस्यन्ति) इस आत्माकी रक्षा भी नाश नहीं होती है अर्थात् सदा सुरक्षित रहती है इसका विनाश कभी नहीं होता। अतः आत्मा नित्य है और देहादि संघात अनित्य है॥ ७॥

अग्निः देवता।

> यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि।

अर्थ— (यः) जो अग्नि अर्थात् जीवात्मा (मर्त्येषु) विनाशवान् देहादि संघातमें (अमृतः) न मरनेवाला अर्थात् अविनाशी (देवः) चेतनतासे प्रकाशमान (ऋतावा) सत्यस्वरूप (देवेषु) इन्द्रियोंमें (अरतिः निधायि) रति न रखनेवाला यद्वा (देवेषु) ज्ञानियोंमें (अरतिः) गमनशील " अरतिः ऋ गतौ बहिवस्यर्तिभ्यश्च " इत्यनेन अति प्रत्ययः। स्थापित हुआ है। अतः आत्मा नित्य है देहादि संघात अनित्य है।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्। जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥ (अ- ९।१०।८)

अर्थ— (पस्त्यानाम्) जीवात्माके घरोंके " अस्तं पस्त्यं दुरोणे " गृहनाम निघं० ३।४ (मध्ये) दरमियान (अनत्) प्राणको धारण करता हुआ (तुरगातु) कर्मफल भोगनेके लिये चलता हुआ (जीवम्) जीवनको (एजत्) चलाता हुआ (ध्रुवम्) स्थिर अर्थात् नित्य आत्मा (आ+शये) वास करता है। (अमर्त्यः) मरण धर्मसे रहित यह जीवात्मा (मर्त्येन) नाश होनेवाले देहके साथ (सयोनिः) समानस्थानमें वास करता है (मृतस्य) काल और कर्मके वशसे नाश हुए हुए शरीरका (जीवः) जीवात्मा (स्वधाभिः) पूर्व शरीर छोडनेके अनन्तर अपनी धारक-शक्तियोंके साथ (चरति) दूसरे देहमें भ्रमण करता है। अतः आत्मा नित्य है और देहसंघात अनित्य है।

स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निर्नाभा पृथिव्याः। अरुषो जातः पद इळायाः पुरोहितो राजन् यक्षीह देवान्॥ (ऋ. १०।१।६)

अर्थ— (राजन्) हे कर्मोंसे प्रकाशमान् जीवात्मन्! अथवा हे देहके स्वामी जीवात्मन्! (सः अग्निः तु) वह आत्मा तो (पृथिव्याः नाभा) पृथिवी लोकपर (वस्त्राणि) वस्त्रोंकी तरह (वस्त्राणि) शरीररूप वस्त्रोंको छोडकर (अध) फिर (इळायाः पदे) उत्तर वेदी अर्थात् उत्तर जन्ममें (एतद्वा इळायास्पदं तदुत्तर वेदिः नाभिः तैः) सं. ५।४।८। पृथिवीपर अपर जन्ममें पेशनानि वस्त्राणि) नूतन मनोहररूपवाले जीवात्माके आचरणरूप शरीरोंको (वसानः) धारण करता हुआ (जातः) संसारमें पुनर्जन्मको पाकर (अरुषः) अपने कर्मोंसे प्रकाशमान् (पुरोहितः) आगे रखे हुए अपने पूर्वजन्मके फलोंके उपभोगके लिये स्थित (इह) इस जन्ममें (देवान्) इन्द्रियोंको (यक्षि) सेवन करता है। इन दोनों मन्त्रोंका भाव " वासांसि जीर्णानि यथा विहाय " भ. २।२२ में पुष्टतया आता है। अतः आत्मा नित्य है और देहादि संघात अनित्य है।

" आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे।
दधाना नाम यज्ञियम्॥ (ऋ० १।६।४१)

अर्थ— (आत) देहत्यागके अनन्तर (अह) भी (स्वधाम् अनु), अपने शरीर धारण की सामर्थ्यानुसार यद्वा अपनी धारणकी प्रवृत्ति या इच्छानुसार वे जीवात्मा (यज्ञियं नाम) अपनी संगत्यनुकूल स्वरूप और नामको (दधानाः) धारण करते हुए (पुनः) फिर भी (गर्भत्वम्) गर्भको (एरिरे) प्राप्त होते हैं अर्थात् पूर्व शरीर छोडकर दूसरे शरीर (पुनर्जन्म) को पाते हैं। अतः आत्मा नित्य है देहादि संघात अनित्य है।

" देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान " (साम. ३।१०।३)

अर्थ— हे जिज्ञासो! (देवस्य) चेतनतासे प्रकाशमान् जीवात्माके (महि) महत्वसे युक्त (काव्यम्) ब्रह्मांशताको अर्थात् नित्यताको (पश्य) तू देख। जो जीवात्मा (ह्यः ममार) आज मर गये। अर्थात् शरीर छोड गया है (सः) वह जीवात्मा (अद्य) आज (समान) फिर प्राप्त हो गया अर्थात् यह आत्मा पुनर्जन्म पा गया अतः आत्मा नित्य है और देहादिसंघात अनित्य है।

" पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा। तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः "॥
(ऋ. १।१६४।१३ अथ. ९।९।११ निरु. ४।२७)

अर्थ— (परिवर्तमाने) पुनः पुनः परिवर्तन होनेवाले अर्थात् नाशवान् (पञ्चारे) पञ्चमहाभूतोंके आरोंवाले (चक्र) देहचक्रमें (विश्वाभुवनानि) सारे प्राणी (आतस्थुः) वास करते हैं ठैरते हैं (तस्मिन्) उस चक्रमें रहनेवाला यह जीवात्मा (अक्षः) न क्षय होनेवाला

है (तस्य भूरिभारः) भारी देहके उठानेसे बहुत भार उठानेवाला (न तप्यते) दाह क्लेशादिसे न तपता और यह आत्मा (सनात्+एव) सदा ही से एकरससे चला आ रहा है अतः इसे सनातन कहते हैं इसलिये यह आत्मा (सनाभिः) एकरूप नाभिवाला (न शीर्यते) नहीं टूटता। जैसे रथके आरे आरसे टूट जाते हैं और अक्षके नाश होनेसे रथकी नाभि मध्यभाग भी मुड जाता है या टूट जाता है वैसे यह आत्मा देहरूपी चक्रके चीरे जानेपर जलसे गीले होनेपर या अग्निसे जल जानेपर, न चीरा जाता है न गलित होता है और न जलता है। अतः आत्मा नित्य है और देहादिसंघात अनित्य है। यद्वा—

'अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति' (अथ. ९।९।४)

जो स्वयं हड्डीरहित हड्डीवालेको अर्थात् देहको उठाता है।

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति। कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे"।

(ऋ. १०।८२।५ यजु. १७।२९ तै. ४।६।२।२)

अर्थ—(यत्) जो आत्मा (एना) इस (पृथिव्याः) स्थूल देहसे (परः) भिन्न है और श्रेष्ठ है। और (देवेभिः) चक्षुरादि इन्द्रियोंसे भी (परः) भिन्न है। (असुरैः परः) प्राणापानादि वायुसे भी भिन्न है। जो आत्मा (दिवा) प्रकाशमान विद्युदादिसे भी (परः अस्ति) उत्कृष्ट है, जो आत्मा इस देहादिसंघातसे भिन्न है। (आपः) जलोंने (कं) किसे (गर्भम्) गर्भकी तरह सबके ग्राहक तत्वको (प्रथमं दध्रे) पहले पहल धारण किया पिताने या माताने (स्वित् इति प्रश्ने) ऐसा प्रश्न होनेपर (पूर्वे देवाः) सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हुए हुए ज्ञानी लोग (यत्र) जिस गर्भमें प्राप्त हुए हुए भी आत्मतत्वको (सम्+अपश्यन्त) अच्छी तरह देखा। अर्थात् जाना। अतः आत्मा देहादिसंघातसे भिन्न है।

श्री गुप्ताजी महाराजने इन वेदमंत्रोंसे जीवात्माकी देहादि संघातसे भिन्नता दीखाई है। आप किस तरह जीवात्माको देहादिसंघात मानते हैं? वेद तो सन्मार्ग बता रहे हैं आप असन्मार्गपर क्यों जा रहे हैं और दूसरोंको भी उसी ओर खेंचनेका प्रयत्न करते हैं।

(२)

जीवात्मा परमात्माका अंश है। अंशांशी परस्पर भिन्न नहीं हो सकते। देखें "अयुतो ह मयुतो म आत्मना" (अथर्व. १९।५१।१) आत्मा देवता, सविता देवता—

अर्थ— परमात्मा उपदेश देता है हे जीवात्माओ! (अहम्) मैं परमात्मा (अयुतः) किसी वस्तुसे जुडा हुआ अथवा संस्कृत हुआ हुआ नहीं हूं अर्थात् शुद्ध स्वरूप हूं। और (मे आत्मा) मेरा स्वरूप यह जीवात्मा भी (अयुतः) किसी पदार्थसे जुडा हुआ नहीं है अर्थात् मेरा ही आत्मा अर्थात् अंश है।

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि। ब्रह्मणा संशितानि यैरेव संसृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः। (अथर्व. १९।९।५)

अर्थ—(इमानि यानि) यह जो (मनः षष्ठानि) छठे मनसहित (पञ्च इन्द्रियाणि) पांच ज्ञानेन्द्रिय (ब्रह्मणा) कर्मसे (ब्रह्माणि कर्माणि निरु० १२।३४ संशितानि) तीक्ष्णतासे युक्त बंधे हुए (मे हृदि) मेरे आत्मामें (संशितानि) आश्रित है" (यैः एव) जिन इन्द्रियोंसे (घोरं संसृजे) मैं घोर कर्म करता हूं (तैः एव) उन इन्द्रियोंसे ही (नः) हम जीवात्माओंकी (शांतिः अस्तु) शांति हो। यहां भी जीवात्माको इन्द्रियोंसे भिन्न माना है इसी मंत्रमें 'मनः और हृदि' दो शब्द एकार्थक प्रतीत होते हैं परन्तु इसी मंत्रमें मनः शब्दका प्रयोग इन्द्रियोंके साथ जुडा हुआ है और 'हृद्' शब्दका अर्थ आत्मा है।

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे। तेन देवा देवतामग्र आयन् तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः। (अथ. ४।१४।१)

अर्थ—(अजः) (न जायते इत्यजः) जो किसीसे पैदा न किया गया हो वह अज अजन्मा जीवात्मा (अग्नेः) सबके प्रकाशक, सबके नेता परमात्मा (शोकात्) ज्ञानमय तेजसे प्रकाशमान शुच् धातुसे उत्पन्न शोक शब्दका अर्थ निरु. ५।३ "ससं न पक्वमविदच्छुचन्तम्" व्याख्यामें श्री यास्कजीने "जाज्वल्यमानम्" अर्थ किया है। (अजनिष्ट) प्रकट हुआ (सः) वह जीवात्मा (अग्रे) अपने सामने पूर्व विद्यमान (जनितारम्) सारे संसारके प्रकट करनेवाले परमात्माको (अपश्यत्) देखता है' (तेन) उस परमात्माके द्वारा (देवाः) चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी

(अग्रे) प्रथमाऽवस्थामें ही (देवताम्) देवभावको प्राप्त हुए देव अर्थात् ज्योतिःस्वरूपसे प्रकट होनेके कारण तद्रूप होनेसे इन्द्रियोंका नाम भी देव कहलाने लगा। (तेन) उस प्रभुके ज्ञान द्वारा ही (मेध्यासः) शुद्ध बुद्धि धारण रखनेवाले जीवात्मा (रोहान्) उच्च लोगोंको (रुरुहुः) प्राप्त होते हैं। इस मंत्रमें जीवात्माको "आज" शब्दसे बताया है वेदके कथनसे जीवात्मा अजन्मा होनेसे सनातन है।

मन आत्मा नहीं है, मनसे आत्मा भिन्न है।

"ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनोजविष्ठं पतयत्स्वन्तः। विश्वे देवाः समनसः संकेताः एकं क्रतुमभिवियन्ति साधु"॥ (ऋ. ६।९।५)

अर्थ—(पतयत्सु) पतनशील विनाशवान् देहोंके (अन्तः) अन्दर (कम्) किस प्रकार (ध्रुवम्) नित्य स्थिर (निहितम्) हृदयमें स्थित हुई हुई (मनोजविष्ठम्) मनसे भी तेज गतिवाली (ज्योतिः) चेतनसत्ताको (दृशये) देखनेके लिये (विश्वे देवाः समनसः) मनके साथ सब इन्द्रियाँ (संकेताः) अपने अपने रूपादि प्रज्ञाके साथ (निघं०- केतः केतुः, प्रज्ञानाम् सुपाठः निघं० ३।९) (एकम्) मुख्य (क्रतुम्) जीवात्माको (साधु) अच्छी तरहसे (अभिवियन्ति) पहुंच जाती है अर्थात् जीवात्मा इनसे ही जगद्व्यवहार करता है अतः ऋग्वेद तथा अथर्ववेदने मनकी इन्द्रियोंमें गणना की। क्योंकि "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि" पाठ दिया है षष्ठ शब्दमें संख्यापूरक प्रत्यय है न कि संख्यावाचक।

पृ. ४५१ में चेतनसत्ताका नाम अन्तःकरण रखा है, परन्तु उपर्युक्त वेदमंत्रोंमें मनको इन्द्रियोंके साथ गणना की है यही सिद्धान्त गुप्ताजीने 'ह्यूमंड' डारविन, आल्फ्रेड' रसैल, जोन्सका लिया है।

जैसे वेदोंने आत्माको देहादि संघातसे पृथक् माना है, अज, नित्य, अमर, माना है ऐसे ही श्री स्वा० दयानन्दजीके मान्य ग्रन्थोंमें कठोपनिषद् अध्या० १ वल्ली ३ मं०३,४ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥३॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥४॥

अर्थ—जीवात्माको रथका स्वामी (उस रथरूपी देहमें बैठकर चलनेवाला) जान। और शरीरको ही रथ (जान) और बुद्धिको सारथि (रथको चलानेवाला कोचवान) जान। और मनको ही लगाम जान ३ ज्ञानी लोग इन्द्रियोंको घोडे बतलाते हैं और विषयोंको उन घोडोंके विचरनेका मार्ग (बतलाते हैं) आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तम्। (आत्मा) देह इन्द्रिय और मनसे युक्त अर्थात् इन सबके साथ रहनेवाला आत्मा ही (भोक्ता) है ऐसा कहते हैं।

इसी विषयको पुनः (कठो. १।३।१०,११) मंत्रमें स्पष्ट किया है।

"इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। १०। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः।"

अर्थ—इन्द्रियोंसे शब्दादि विषय पर हैं, सूक्ष्म हैं अथवा बलवान् हैं और रूपादि विषयोंसे मन प्रबल है और मनसे भी बुद्धि प्रबल है और बुद्धिसे महान् आत्मा (जीवात्मा) (उन सबका स्वामी होनेके कारण) अत्यन्त श्रेष्ठ और बलवान् है। उस जीवात्मासे (अव्यक्त) भगवान्की मायाशक्ति प्रबल है। और मायाशक्तिका स्वामी परमपुरुष श्रेष्ठ है उससे परे कोई श्रेष्ठ नहीं क्योंकि वही सबकी परमगति है। श्री स्वा० शंकराचार्यजीने ब्रह्म सू० अध्या० १, पा० ४, सू० १ में महान् आत्माको जीवात्मा लिखा है फिर इसी सिद्धान्तको कठो अ० २ वल्ली ३ मं. ७,८ में दृढ किया है।

"इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्वमुत्तमम्। सत्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥ अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यं ज्ञात्वा मुच्यते जंतुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८॥

अर्थ—इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ मन, मनसे श्रेष्ठ (सत्वम्) बुद्धि, (सत्वात्) बुद्धिसे श्रेष्ठ (महानात्मा) जीवात्मा। जीवात्मासे श्रेष्ठ मायाशक्ति अर्थात् भगवच्छक्ति। भगवच्छक्तिसे श्रेष्ठ परमपुरुष परमात्मा है जो व्यापक, अलिङ्ग है। मनुष्य जिस परमात्माको जानकर अमरपदको पहुंचता है जिससे उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

ऋ. मं. १० सूक्त ५८ समग्र तथा अथर्ववेद १०।५।१; अथर्व० ७।१२।४ मनको चञ्चल और शरीरसे बाहर जाने-वाला बताते हैं "गुप्ताजीके सिद्धान्तानुसार यदि मन ही केवल निरपेक्ष केवल चेतन है तो मनके दूर होनेपर शरीर-का पात हो जाएगा। वह उन प्रकरणोंको गुरु द्वारा पढ़ें। अतः तथाऽनुभव करें फिर मनसे आत्मा पृथक् है यह ज्ञान होगा।

"यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम्। तत्त आवर्त्तयामसीह क्षयाय जीवसे" "यथा मनो मनस्केतैः परायतत्याशुमत्" अथ "यद्वो मनः परागतं यद्बद्धमिह वेह वा तद्व आवर्तयामसि" यह मंत्र स्पष्टार्थ है।

श्री नाथुरामजीने चेतनसत्ताका नाम अन्तःकरण और चेतनविशिष्ट शरीरका नाम जीवात्मा पृ० ४५१ में बताया है। शरीरसे चेतन सत्ताके दूर होनेसे शरीरका पात होना चाहिये, परन्तु मनके निकल जानेपर शरीरकी चेतनसत्ता दूर हो गई। मनके दूर होनेपर भी शरीरका पात नहीं होता। अतः सिद्ध होता है कि मन वेद वचनानुसार इन्द्रियोंकी गणनामें चला जाएगा, मनसे भिन्न जीवात्मा अपनी सत्ता पृथक् रखता है।

दिगम्बर पृ० ४५६ में बुद्धिको आत्मा न्याय. ३।१।१। "दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्" इसके अर्थमें लिखा है, जो चीज आँख और हाथ दोनों साधनोंके ज्ञानको काममें ला रही है। वह आँख और हाथसे भिन्न पदार्थ है इसीका नाम बुद्धिरूप आत्मा है। "न विषय व्यवस्थानात्" न्या० ३।१।२ में भी-इन्द्रियोंके ज्ञानको बुद्धि ही निश्चय करती हैं इससे भिन्न अन्य आत्मारूप पदार्थकी कल्पना करनी ही असंगत है। न्या० द. ३।१३ को भी इसी अर्थमें लगाया।

समीक्षा=यह सूत्र त्रिकालमें बुद्धिको आत्मा माननेके प्रकरणमें नहीं है। बुद्धि परीक्षारंभ तो न्या० द० अध्या० ३।२ आन्हिकसे आरंभ होकर ४१ सूत्रतक है। ४१ सूत्रके वात्स्यायन भाष्यमें—

"बुद्धि-प्रबन्ध मात्रे तु निरात्मके निराश्रया नोपपद्यते—" बुद्धि-सन्तति मात्रे तु सत्व भेदात् सर्वमिदं प्राणी व्यवहार जातमप्रति-संहितमव्यावृत्तमपरि निष्ठितेच स्यात्। ततः स्मरणाभावात्-नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति स्मरणं च खलु पूर्वज्ञानस्य समानेन मात्रा ग्रहणम् 'अज्ञासिषममुमर्थं ज्ञेयम्' इति सोऽयमेको ज्ञाता पूर्वज्ञातमर्थं गृह्णाति तच्चास्य ग्रहणं स्मरणमिति। तद्बुद्धिप्रबन्धमात्रे निरात्मके नोपपद्यते॥

बुद्धिको सूत्रकार गौतमजीने भी अनित्य माना है, जैसे—

"विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्व प्रसङ्गः" ३।२।२३ वात्स्या० भाष्यं तत्र "तस्मादात्मगुणत्वे सति बुद्धेर्नित्यत्व प्रसङ्गः" अनित्यत्वग्रहाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत्" न्या० ३।२।२४" अनित्या बुद्धिरिति सर्व शरीराणां प्रत्यात्मवेदनीयमेतत्"

गौतमजीने तथा वात्स्यायनजीने "बुद्धि" को आत्माका गुण माना है नकि आत्मा माना है अतः बुद्धि आत्मा है।

"गुप्ताजी" का यह सिद्धान्त अशुद्ध है। और "दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्" इत्यादि सूत्र तो देहादि संघात आत्मा नहीं है उससे भिन्न आत्मा है यह सिद्ध करते हैं जैसे "वात्स्या. भा. 'यं चास्याक्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामि" इत्येक विषयौ चेमौ प्रत्ययौ एक कर्तृकौ, प्रति संधीयेते, नच संघातकर्तृकौ, न वा इन्द्रियेणैक कर्तृकौ, तद् योऽसौ चक्षुषा त्वगिन्द्रियेण चैकार्थस्य ग्रहीता भिन्न निमित्तौ अनन्य कर्तृकौ प्रत्ययौ समान विषयौ प्रतिसंदधाति सोऽर्थान्तरभूत आत्मा "न विषयव्यवस्थानात्" ३।१।२ वा. भा. न देहादि संघातादन्यश्चेतनः विषयव्यवस्थानात्" इस पूर्वपक्षवाले सूत्रका खंडन सू. ३।२।३ में लिखा यथा "तद्व्यवस्थाना देवात्म सद्भावात् अप्रतिषेधः" इंद्रियोंके अपने विषय नियत हैं यह व्यवस्था बनी हुई है, चक्षु रूपको ग्रहण करती है न-कि रसको चमडा स्पर्शको ग्रहण कर सकता है न कि रूपको, बुद्धि अर्थात् ज्ञान स्वयं अचेतन है। यह आत्माका गुण है इसका सम्बन्ध आत्माके साथ रहेगा, बुद्धि गुण

होनेसे देहादि संघातमें चली जाती है अतः देहादि संघात से भिन्न आत्माका सद्भाव प्रतीत होता है अतः "न विषयव्यवस्थानात्" इस सूत्रका खंडन स्वयं हो जाता है, क्योंकि न्याय दर्शनकार गौतमजीने इस पूर्वपक्षका अगले सूत्रमें खंडन करके बुद्धिसे भिन्न आत्माको स्थापित किया है।

बुद्धि आत्माका गुण हैं न कि आत्मा यथा न्या. ३।२।१९ "युगपज्ज्ञेयानुपलब्ध्या यदनुमीयतेऽन्तःकरणं, न तस्य गुणो ज्ञानम्। कस्य तर्हि ज्ञस्य-वशित्वात् वशीज्ञातावश्यं करणं ज्ञानगुणत्वे वा करणाभाव निवृत्तिः, तथा च "इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात् तदनुत्पत्तिः। न्या. द. ३।२।२१ इन सूत्रोंसे और वात्स्यायन भाष्यसे सिद्ध होता है कि बुद्धि आत्माका गुण है, नकि आत्मा है।

और भी—

"यथोक्त हेतुत्वात् पारतंत्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः" (न्या. ३।२।४०)

अर्थ— इच्छाद्वेष प्रयत्न सुखदुःख, ज्ञान आत्माके लिङ्ग हैं। इस बताए हुए हेतुसे भूतेन्द्रिय मन, बुद्धि, आत्मा नहीं हो सकती, क्योंकि यह भूतेन्द्रियादि धारण, प्रेरण और व्यूह कर्मोंमें प्रयत्नके वशसे प्रवृत्त होते हैं। यदि इनमें चेतनता, आत्मत्व होता, तो यह स्वतंत्र होते तथा "परिशेषात् यथोक्त हेतूपपत्तेश्च" न्या० ३।२।४१ भाष्यमें वात्स्यायनजीने लिखा है "आत्मगुणो ज्ञानम्" इति प्रकृतम्। परिशेषो नाम प्रसक्ति प्रतिषेधे अन्यत्राऽप्रसंगात् शिष्यमाणे संप्रत्ययः। भूतेन्द्रिय मनसां प्रतिषेधे द्रव्यान्तरं न प्रसज्यते शिष्यते च आत्मा तस्य गुणो ज्ञानमिति ज्ञायते। यथोक्त हेतूपपत्तेश्च "दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ३।१।१। इत्येवमादीनां आत्म प्रतिपत्ति हेतूनां अप्रतिषेधात्। परिशेष ज्ञापनार्थं प्रकृतस्थापनादि ज्ञानार्थं च यथोक्त हेतूपपत्ति वचनम्" स्पष्टार्थ भाष्य है। गुप्ताजी स्वयं समझ जायंगे। बुद्धि आत्मा नहीं है किन्तु आत्मा गुण है। जैसे वैशेषिक दर्शनमें "बुद्धिर्ज्ञानमिति अनर्थान्तरम्" सूत्र दिया है। बुद्धि और ज्ञान परस्पर पर्यायवाची शब्द है। समग्र कोशोंमें तथा शास्त्रोंमें "बुद्धि, मनीषा, प्रज्ञा, ज्ञान, परस्पर पर्यायवाचक कहे गये हैं। उनमें "मनीषा" की व्युत्पत्ति मनसः ईषा, मनीषा= मनकी स्वामी कही गई है; जो जिसका स्वामी होता है वह उससे भिन्न और श्रेष्ठ होता है यह 'मनीषा' शब्द "मनसस्तु परा बुद्धिः" इस उक्तिको सार्थ करता है। यथा निरु० ९।१० में प्रभरे मनीषया मनस ईषया स्तुत्या, प्रज्ञया वा" लिखा है ऐसे नि० २।२५में भी ऐसा ही पाठ दिया है। ज्ञान अर्थात् बुद्धि आत्माका गुण है।

पृ० ४४६ में लिखा है शरीरसहित जीव होता है नकि शरीरसे पृथक्। समीक्षा=शरीरसे पृथक् जीवात्मा वेदोंने बताया है जैसे—

प्राणापानौ चक्षुःश्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या। व्यानोदानौ वाङ्मनः शरीरेण त ईयन्ते" २६,, "या आपो याश्च देवता या विराट् ब्रह्मणा सह। शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः॥ (अथर्व० ११।८।२६।३०)

अर्थ— प्राण, अपान, चक्षु और श्रोत्र, शरीरकी स्थिति और नाश, व्यान और उदान, वायु, वाणी और मन यह सब शरीरके साथ कार्य करते हैं। अतः इसी काण्ड और इसी सूक्तके २७,२८,२९ मंत्रोंमें यही दिखाया है कि सब आशाएं प्रशासन, अनुज्ञा, और सम्मतियाँ, नाना प्रकारके विशेष रूपसे मनोरथ, विचार और संकल्प (शरीरम् अनु प्राविशन्) शरीरके भीतर प्रविष्ट होते हैं। हृदय और मुखमें विद्यमान रुधिर और थूक, मूत्राशयका जल, शरीरमें वेग, मंद और गुह्य वीर्य जलादि सब वस्तुएं (बीभत्सौ) सुघटित शरीरमें (असादयन्) रखे हुए हैं इस शरीरमें आठों प्रकारके रस हड्डियोंको समिधा बनाकर प्राप्त होते हैं। और (रेतः आज्यं कृत्वा) रेतःको घृत बनाकर प्राणादि देव (पुरुषम् आविशन्) इस पुरुष देहमें प्रविष्ट हो गए। इस पुरुष देहरूप वेदीमें प्रविष्ट होकर "जरामर्य" प्राणाग्नि होत्र करते हैं जिसकी व्याख्या अथर्ववेदीय "प्राणाग्नि होत्रोपनिषद्" में लिखी है (या आपः) जो कर्म और (याः च देवताः) जो चक्षुरादि इन्द्रियाँ यद्वा सूर्यादि देवता (या विराट्) जो विराडात्माकी विशेष शक्ति (ब्रह्मणा सह) ब्रह्मके साथ कर्मके साथ यद्वा अन्नके साथ होकर (शरीरं प्राविशत्) शरीरमें प्रविष्ट होता है (शरीरे अधि प्रजापतिः) उसी शरीरमें प्रजापति आत्मा अधिष्ठाता रूपसे

विद्यमान रहता है। इन मंत्रोंसे सिद्ध होता है कि शरीर निर्मितके साथ विराट् अथवा ब्रह्मका प्रवेश पहिले कहा गया और अन्तमें (शरीरे अधिप्रजापतिः) कहकर जीवात्माको बताया है अतः आत्मा शरीरसे भिन्न है।

" एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा। इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु (अथर्व० १८।२।५७)

अर्थ—परमात्मा उपदेश देता है हे पुरुष ! हे जीव! (यत्) जो तूने (पुरा) पूर्व जन्ममें (अबिभः) धारण किया था (एतत् वासः) यह वस्त्र, चोला अर्थात् यह देह (प्रथमं नुत्वा अगात्) सबसे उत्तम अथवा पहिले प्राप्त हुआ था (एतत् अप ऊह) उसको तू छोड अर्थात् त्याग दे और (इष्टापूर्तं विद्वान्) यज्ञादि कर्मों तथा वापी कूपादि पदार्थोंकी रक्षा करनेसे परोपकारादि कर्मोंको जानता हुआ (अनुसंक्राम) अगले जन्म अर्थात् योनिमें जा। (यत्र) जहां (बहुधा) प्रायः (विबन्धुषु) विशेष बन्धन करनेवाले लोकोंमें (ते) तेरा भाव अर्थात् मन (दत्तम्) दिया हुआ है अर्थात् मरते समय तूने अपने मनको जिस भावमें लगाया था उसी भावके अनुसार उस योनिको प्राप्त हो। भगव० ८।६ में भी लिखा है—

" यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः "।

प्र च्यवस्व तन्वं संभरस्व मा ते गात्रा विहायि मो शरीरम्। मनो निविष्टमनु संविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ " (अथर्व० १८।३।९ यमदेवता)।

अर्थ—हे जीवात्मन् ! तू (तन्वम्) अपने शरीरको (प्र च्यवस्व) अच्छी तरहसे छोड (संभरस्व) फिर दूसरे जन्ममें उत्पन्न होनेवाले शरीरको अच्छी तरह पालन कर (ते) तेरे (गात्रा) हाथ पांव आदि अंग (मा विहायि) मत छूटें अर्थात् तू लूल्हा लंगडा मत हो (शरीरम्) और तेरा शरीर भी तुझसे मत छूटे (यत्र) जिस भावमें (मनः निविष्टम्) तेरा मन अच्छी तरहसे स्थित है (तत्र संविशस्व) उसी भावमें उसी भावको सिद्ध करनेवाली योनिमें मनकी इच्छाके अनुसार प्रवेश कर और (भूमेः) पृथिवीके (यत्र) जिस देशमें (जुषसे) तू प्रीति करता है (तत्र) उसी देशमें (गच्छ) तू जा। यह मंत्र भी मृत्युके अनन्तरके जन्मको बताता है " गुप्ताजी " के सिद्धान्तानुसार पितासे पुत्रका जन्म ही यदि पुनर्जन्म है तो क्या पिता अपने " वीर्य " अर्थात् बीजात्माको कहेगा; या कि गर्भाधान समयमें वह वीर्य मातृगर्भमें प्रवेश कर जाएगा। तब पिता अथवा माता वीर्यको कहेगी अथवा पितृवीर्यके कृमिको मातृरजका कीट जब निगल जाएगा तब कहेंगे। या गर्भस्रावके समय ? ठीक यही भाव तै० आरण्यकमें भी लिखा है—

" उत्तिष्ठतः तनुवं संभरस्व मेह गात्रमवहा मा शरीरम्। यत्र भूम्यै वृणुसे तत्र गच्छ "।

नवम्बर १९४९ पृ० ४१२ में श्री गुप्ताजी ने श्री स्वा० दयानन्दजीके दर्शित ऋ. १०।५९।६,७ " दो मंत्र तथा यजुः ४।१५ दिये हैं उनमें सब प्रकारसे अर्थका अनर्थ किया है, जैसे (पुनरस्मासु चक्षुः) कृपा करके उस शरीरमें नेत्रादि सब इन्द्रियां स्थापन कीजिये। यहां " अस्मासु " का अर्थ उस शरीरमें किया। कितनी व्याकरणाभिज्ञता है "अस्मद्" शब्दका अर्थ हम होता है न कि हमारा और न हीं " उस " हो सकता है क्योंकि " तत् " का अर्थ वह या उस होता है यदि वेदमें (पुनरस्माकं चक्षुः) पाठ होता तो संभव हो सकता था कि हमारे नेत्रादि सब इन्द्रिय; अतः इस अर्थ करनेमें नितान्त भूल है। अतः श्री स्वा० दयानन्दजीका अर्थ सर्वथा शुद्ध और प्रकरणानुसार है। यदि गुप्ताजीके सिद्धान्तको मान लिया जाय कि गर्भाधानके समय पुरुष प्रार्थना करता है तो भी न्यायदृष्टिसे ठीक नहीं क्योंकि गर्भमें वीर्य (बीजांकुर) आनेके बाद प्रार्थना करेगा वा उससे पूर्व। पूर्व प्रार्थना हो नहीं सकती " सति कुड्ये चित्रम् " की लोकोक्ति चरितार्थ होगी। क्योंकि अभी वस्तु तैयार ही नहीं, यदि वीर्य मुक्त्यनन्तर है। तो क्या यह ज्ञान पिताको हो जाएगा कि मातृरज कीटने पितृवीर्य कीटको निगल लिया हो तो वह पिताका आत्मज न होगा, बल्कि माताका होगा, इत्यादि कई प्रकारके दोष आवेंगे।

गुप्ताजीने यह लिखा है कि देहके पात होनेपर जीवात्मा नाश हो जाता है। पृ. ४१२ में लिखा है पौराणिक

सिद्धान्तमें इन्द्रिय व प्राण जीवके साथ नित्यरूपसे रहना माना है। वेदका सिद्धान्त भी वही है जैसे—

"इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात्"
(अथर्व. १८।२।५६)

अर्थ— हे जीवात्मन्! पुरुष! (असुनीताय) प्राणोंसे लोकान्तरमें ले जानेवाले (ते) तेरे आत्माको (वोढवे) वहन करनेके लिये (इमौ) इन दोनों प्राण और अपानको (युनज्मि) जोडता है। (ताभ्याम्) उन दोनों प्राणोंके साथ (यमस्य सादनम्) यमके घर अर्थात् मृत्युको (च) और (सम्+इतीः) अच्छी गतियोंको (अवगच्छतात्) तू प्राप्त हो। इस मंत्रमें स्पष्टतया लिखा है कि मृत्युके अनन्तर प्राणापान वायु जीवात्माके साथ रहते हैं।

पृ. ४१४ में टि. १ में जो सिवाय सन्तानद्वारा पुनर्जन्म माननेसे जीवात्माकी व्यक्तिगत नित्यतामें होना असंभव है। और न कोई जीवात्मा मृत्युके बाद जन्म होनेमें आत्माके उत्पत्तिकी प्रार्थना कर सकता है यह लिखा। (टि. २) में श्री पं. शुकदेवजी विद्यालंकारके वाक्योंका खंडन भी इसी सिद्धान्तपर माना है।

समीक्षा=आत्माका अर्थ "गुप्ताजी" ने आत्मिक चेतना-शक्ति किया है। यह अर्थ सर्वथा अनुचित है इस 'आत्मा' पदका अर्थ श्री स्वा. दयानन्दजीने "प्राणधारकः बलाख्यः आत्मा" इसीका अर्थ हिन्दी भाषामें (पुनरात्मा) अर्थात् प्राणोंको धारण करनेहारा सामर्थ्य मुझको प्राप्त हो। यद्यपि यह अर्थ समीचीन है तो भी (पुनरात्मा) का अर्थ फिर देह प्राप्त हो। यहां आत्माका अर्थ देह है इससे जीवकी प्रार्थना भी पूरी हो जाती है। क्योंकि पुनर्जन्म प्रतिपादक सब मंत्रोंमें चक्षु, प्राण, मन, आयुः, श्रोत्र, द्रविण, (धन) बुद्धि मांगनेकी प्रार्थना की है, परन्तु यह सब वस्तुएं स्वतंत्रतया स्थिर नहीं हो सकती, शरीरके बिना सब व्यर्थ है अतः ऋ. १०।५९।६ में "पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु" इस मंत्रमें (तन्वं ददातु) शरीरको प्रदान करे ऐसे ही "पुनरात्मा म आगन्" यजुः ४।१५ में तथा "पुनरात्मा" ६७।१ में "आत्मा" शब्दका देह अर्थ है नकि आत्मिक चेतनशक्ति। आत्माके देहवाचक अर्थ—

"सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः"
(अथ० १८।२।७; ऋ. १०।१६।३)

अर्थ— हे पुरुष! तू (चक्षुषा) चक्षुद्वारा (सूर्यं गच्छ) सूर्यको जा। अर्थात् तेरी ज्योति सूर्यमें लय हो। (आत्मना वातं गच्छ) देहसे प्राणवायुको प्राप्त कर अर्थात् तेरा यह देह प्राणरूप होकर जावे। (धर्मभिः) अपने धार्मिक कर्मोंसे (दिवं पृथिवीं च) स्वर्गको और पृथिवीको जा (अपो वा गच्छ) तू जलोंको भी प्राप्तकर (यत् ओषधीषु ते हितम्) ओषधिरात्रि चंद्रमामें भी तेरा मनोमय हित है तू उसको भी पा (ते शरीरैः प्रतितिष्ठाः) तू अपने शरीरोंसे अर्थात् जन्मजन्मान्तरके शरीरोंसे लोकलोकान्तरोंमें स्थित हो। इस मंत्रमें आत्माका देह है क्योंकि दोनों मंत्रोंकी संगति देहसे जुडती है।

(अपूर्ण)

राजयोगके मूलतत्त्व और अभ्यास

(प्रकरण तीसरा)

लेखक— श्री.राजाराम सखाराम भागवत, एम्. ए.

अनुवादक— श्री. महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

राजयोग और हठयोग

ध्यान, प्राणायाम, आसन आदि जिन विशिष्ट क्रियाओंका अभ्यास योगमार्गी लोग किया करते हैं, केवल उन्हींको कभी कभी ' योग ' कह दिया जाता है, यह बात पिछले प्रकरणमें कह चुके हैं । योगकी ये जो क्रियाएँ हैं उनके दो प्रकार हैं । इसीसे हठयोग और राजयोग ऐसे दो विभाग योगके किये गये हैं । इस प्रकरणमें इन्हीं दोनों भेदोंका विचार किया, गया है ।

अत्यन्त प्राचीन समयमें हठयोग किस प्रकारका मार्ग था, यह कहना आज कठिन है । किन्तु आजके हठयोगी क्या करते हैं, इसका अन्वेषण होनेपर कोई भी उसे समझ सकता है । आजका प्रचलित हठयोगका मार्ग, प्राचीन कालके हठयोगके समान होगा या उसमें थोडा बहुत अन्तर पड गया होगा । यह पुस्तक योगशास्त्रके इतिहासकी न होकर, योगशास्त्रमें क्या है इसका वर्णन करनेके लिये लिखी गई है । अतः पुराने कालमें हठयोगका मार्ग कैसा था, इस विषयमें यहाँ विचार न करके आजकल हठयोग किसे कहते हैं तथा राजयोग और आजके हठयोगमें क्या अंतर है, इतना ही विवेचन यहाँ अभिप्रेत है ।

मूलभूत अंतर

हठयोग शरीरकी क्रियाओंपर अवलम्बित है तथा राजयोग मनकी क्रियाओंपर अवलम्बित है; यही इन दो योगोंमें मूलभूत अंतर है । शरीर और मनका निकट सम्बन्ध है और एकका दूसरेके ऊपर थोडी बहुत मात्रामें प्रभाव पडता है । मनको अधिक कष्ट होनेपर शरीर–प्रकृति बिगड जाती है । यदि मानसिक प्रसन्नता रही तो शारीरिक स्वास्थ्यपर भी उसका अच्छा परिणाम होता है । ठीक इसी तरह शारीरिक स्वास्थ्यपर मानसिक प्रसन्नता अवलम्बित है । शारीरिक श्रम अधिक हो जानेपर मन भी उत्साहहीन हो जाता है । क्रोध आजानेपर मनुष्यकी आँखे लाल हो– जाती हैं, होंठ फडफडाने लगते हैं, अपमान हो जानेपर चेहरा कुम्हला जाता है । इसीप्रकार अन्नपाचन ठीक न होनेपर अथवा दैनिक व्यायामके लिये समय न मिलनेपर मानसिक आनंद कम हो जाता है । मन और शरीरका इतना अधिक अन्योन्याश्रय सम्बंध है कि दोनोंके पृथक्त्वकी कल्पना भी नहीं हो सकती । शरीर और मनकी जोडी अत्यन्त निकटवर्तिनी है । उनमेंसे मनके लिये ही प्रायः सम्पूर्ण प्रयत्न केन्द्रित करके शरीरके लिये काम चलाऊ चिंता रखनेका दृष्टिकोण राजयोगका ही है । और सारे प्रयत्न शरीरके लिये करके, उसके द्वारा थोडी बहुत मानसिक चिंता रखना ही हठयोगका दृष्टिकोण रहता है । राजयोगीका प्रधान क्षेत्र यदि मन है तो हठयोगीका प्रधान क्षेत्र शरीर है, यही इन दोनोंमें भेद है ।

मन एकाग्र करनेके लिये राजयोगमें पतञ्जलिने ध्यानकी क्रियाका उल्लेख किया है । ध्यान करते समय आसन कैसे लगाना चाहिये इसके लिये पतञ्जलि कहते हैं-- ' स्थिर सुखमासनम् ' (२, ४६) अर्थात् पर्याप्त समयतक स्थिर व निश्चल रहा जा सके, सुखपूर्वक बैठा जा सके, शरीरके किसी भागपर खिंचाव पडकर कष्ट न हो सके, इस प्रकारका आसन होना चाहिये । मनको एकाग्र करना ही केवल उद्देश्य हो तो, शारीरिक सुखके लिये स्वस्थ रह सकनेकी व्यवस्था करके, बादमें शरीरकी ओर ध्यान रखनेकी किंचित् भी आवश्यकता न मानकर राजयोगी अपनी सारी शक्ति मनकी एकाग्रता साधनेमें ही खर्च किया करता है । इसीलिये किसी विशिष्ट ही आसनका विधान पतंजलिने नहीं किया ।

सबका बैठनेका प्रकार एकसा नहीं होता। किसीको पलथी लगाकर बैठनेमें आराम रहता है, किन्हीं देशोंमें हमेशा कुर्सियोंपर बैठनेमें सुविधा मानी जाती है और वे पलथी लगाकर जमीनपर बैठनेमें कष्ट अनुभव करते हैं। यह अपनी अपनी आदत और सुविधा असुविधापर निर्भर है। इसीलिये किसी एक प्रकारका आसन निर्दिष्ट कर देनेपर सभीके लिये वह अनुकूल वा सुविधाकारक नहीं बन सकता। पतंजलिने इसीलिये कहा कि 'स्थिरसुखमासनम्' अर्थात् सुखपूर्वक जिससे बैठा जा सके वह आसन लगाना चाहिये।

इसके विरुद्ध हठयोगके आसन देखिये। पलथी लगाकर बैठना, पैरोंमेंसे हाथ निकालकर उन्हें जमीनपर रखना, हाथपर शरीरका भार रखकर पैर हवामें उठा देना 'कुक्कुटासन' माना जाता है। दोनों पैरोंको लम्बे फैलाकर हाथसे पैरके अंगूठे पकडकर घुटनेसे नाक लगानेको 'पश्चिमोत्तानासन' कहते हैं। 'सिंहासन' में मुँह खुला रखना, जीभ बाहर निकालना और नाकके अग्र भागमें ध्यान केन्द्रित करना आदि क्रियायें करनी पडती हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनको एकाग्र करनेके लिये शरीरको पीडित करनेवाले केवल ये आसन ही उपयोगी नहीं हैं। हठयोग प्रदीपिकामें लिखा है कि मयूरासनसे गुल्मोदरादि रोग × नष्ट हो जाते हैं और पश्चिमतानासनसे जठराग्नि प्रदीप्त होकर पेटका मेद झड जाता है और रोग नष्ट हो जाते हैं।+ अर्थात् शरीरपर प्रभाव डालना ही इन आसनोंका मुख्य उद्देश्य है, यह स्पष्ट रूपसे सिद्ध हो जाता है।

प्राणायामका उदाहरण लीजिये। किसी विषयपर जब हम एकाग्र होकर शान्त रूपसे विचार करते हैं तो हमारा श्वासोच्छ्वास अपने आप ही रुकता जाता है अथवा अत्यन्त धीमे धीमे और शान्त रीतिसे चलने लगता है। अथवा श्वासोच्छ्वासकी गति शान्त या धीमी कर दी जाय तो मन भी शांत होने लगता है। श्वासोच्छ्वास तथा मनका सम्बन्ध इस प्रकारका है। इसलिये मनकी एकाग्रता उत्पन्न करनेके लिये आवश्यकतानुसार प्राणायामकी सहायतासे राजयोगमें ध्यान आरम्भ कर देते हैं।* इसके विरुद्ध हठयोगमें अनेकबार प्राणायाम करते हैं, किन्तु मनकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता। दोनों होठोंके बीच जीभ रखकर श्वासको अन्दरकी ओर खींचना (सीत्कारी), नली जैसी जीभ करके हवा अन्दर खींचना (शीतली), लुहारकी धौंकनीकी तरह श्वास अन्दर और बाहर खींचना और फेंकना (भस्त्रिका), मधुमक्खिकी तरह गुंजन (ध्वनि) करते हुए श्वासको अन्दर खींचना, आदि अनेक प्रकारके भेद हठयोगमें हैं।÷ इन्हें देखनेपर स्पष्ट हो जाता है कि ये मनकी एकाग्रताके लिये उपयोगी नहीं हैं। यदि फुप्फुसमें हवा भरकर थोडी देर वहीं रखकर धीरे धीरे बाहर छोड दी जावे तो इस क्रियासे मनुष्यका स्वास्थ्य सुधरता है। आधुनिक व्यायाम पद्धतिमें कभी कभी यह प्रक्रिया थोडी देर की जाती है। किन्तु हठयोगमें श्वास बंद करनेकी क्रिया बहुत देरतक चालू रखते हैं; उससे कईबार पसीना आ जाता है, कभी कभी कँपकँपी आती है और कभी बेहोशी आ जाती है। पर्याप्त प्राणवायुके अभावमें पसीना आना, मूर्च्छा आना आदि परिणाम स्वाभाविक हैं।

हठयोगमें शरीर-क्रियाओंपर विशेष जोर दिया जाता है यह पहले कहा जा चुका है। हठयोगमें जो क्रियायें प्रचलित हैं उनका वर्णन करनेपर इस विषयमें संशय न रहेगा। शुद्धिके लिये हठयोगी धौती, बस्ति आदि क्रिया करते हैं। एक लम्बा, साफ कपडेका टुकडा गलेमें डालकर अन्ननालिका द्वारा निगलने और बाहर निकालनेकी प्रक्रियाको धौती कहते हैं। गुदाद्वारसे नलीद्वारा आँतोंमें पानी भरकर फिर बाहर निकाल देनेकी क्रियाको बस्ती कहते हैं। ये शरीरकी गन्दगी दूर करनेकी क्रियायें हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रकारकी और भी अनेक क्रियायें इस योगमें

× हरति सकलरोगान् आशु गुल्मोदरादीन्। (१।३१)

+ उदयं जठरानलस्य कुर्यात् उदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम्। (१।२९);

* चलेवाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्। योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥ (हठयोगप्रदीपिका २,२)

÷ हठयोग-प्रदीपिका उपदेश २में इन प्रकारोंका वर्णन है।

वर्णन की गई है। जैसे किसी एक छोटी वस्तुकी ओर एकटक देखनेका अभ्यास किया जाय तथा आँखोंसे पानी आनेपर भी पलके गिरने न दीजाय और न ही आँखें बन्द की जाय। इसी प्रकारकी नौली नामकी एक क्रिया है। जैसे नदीके पानीका भँवर घूमता है, उसी तरह पेटकी आँतोंको घुमानेकी क्रियाको नौली कहा जाता है। इन क्रियाओंमें मनको वशमें करना, उसको सुधारना, शक्तिशाली बनाना, एकाग्र करना आदि बातें नहीं आती।

यदि मनुष्य उत्क्रान्तिके शिखरपर पहुँचना चाहता है तो उसे दुर्गुणोंका विनाश करना आवश्यक है तथा सब प्रकारके सद्गुण, सब प्रकारकी क्रियाशीलता, महत्ता एवं बुद्धिमत्ताकी पराकाष्ठा तक पहुँचना भी आवश्यक है। इस दिशामें बुद्धिमत्ता, भावना, अन्तःप्रज्ञा, निश्चय, निष्ठा आदि मानसक्षेत्रकी बातें प्रमुख हैं। इनके साथ शरीरका सशक्त और स्फूर्तिशाली होना पर्याप्त है। उसके लिये गुदद्वारसे पानी अन्दर खींचनेकी शक्ति अथवा आँतोंको निपीडित कर भँवरकी तरह घुमनेका अभ्यास आवश्यक नहीं है। श्रीकृष्ण और गौतमबुद्ध सच्चे आदर्श पुरुष थे। ऐसे आदर्श पुरुष आँतोंको निपीडित कर अथवा एनिमा लेकर निर्माण नहीं होते।

शरीरको कष्ट देनेवाली हठयोगकी क्रियाओंसे मनुष्यकी सच्ची उत्क्रान्ति नहीं हो पाती। इसीलिये राजयोगकी दृष्टिसे हठयोगके साधन निरुपयोगी तथा हानिकारक सिद्ध होते हैं। हठयोगकी कुछ क्रियायें नियमित रूपसे एवं विचारपूर्वक की जाँय तो जैसे दूसरे व्यायामोंसे लाभ होता है वैसे इससे भी लाभ हो सकता है। इस हद्‌तक हठयोग लाभदायक है यह कहा जा सकता है। किन्तु हठयोगमें अनेक बातें हानिकारक हैं। वे सब छोड देनी चाहिये और जो अच्छी हैं उनका विचारपूर्वक उपयोग करना चाहिये। विवेक रहित होकर हठयोगकी क्रियायें करनेपर अनेक लोग मनसे अशक्त एवं मन्द हो जाते हैं और उनका स्वास्थ्य गिर जाता है, ऐसा अनुभव है। गोमुखासन, धौती, पेट हिलाना, आदि क्रियायें विघ्नकारक होती हैं ऐसा शिव संहितामें कहा गया है। (५,५)

पुस्तकोंमें हठयोगकी क्रियाओंका वर्णन पढनेपर एक बात मालूम होती है कि उन क्रियाओंमें कुछ भाग जान-बूझकर गुप्त रखें गये हैं। महामुद्राका वर्णन करते हुए 'गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्। (३, १८) यह महामुद्रा गुप्त रखनी चाहिये, चाहे जिस किसिको सिखानी न चाहिये। ऐसा हठयोग प्रदीपिकामें उल्लेख है। हठयोगके विषयमें "हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता। भवेत् वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता" (१,११) अर्थात् यदि सिद्धि प्राप्त करनी हो तो योगीको चाहिये कि वह हठविद्या बिलकुल गुप्त रखे, गुप्त रखनेपर वह शक्तिशाली रहती है, प्रकट कर देनेमें निर्वीर्य अर्थात् शक्तिहीन हो जाती है, ऐसा इसी पुस्तकमें उल्लेख है। अतः किसी भी पुस्तकमें ये क्रियायें स्पष्टतः निर्दिष्ट नहीं होंगी यह सिद्ध हुआ। इस हठयोगका अभ्यास गुरुके द्वारा बताये मार्गसे ही करना चाहिये। प्राणायाम भी गुरु द्वारा निर्दिष्ट पद्धतिसे करना चाहिये।+ गलत पद्धतिसे किये हुए प्राणायामसे अनेक रोगोंकी उत्पत्ति हो जाती है× आदि उल्लेख भी उसीमें हैं। मनुष्य जिस समय श्वासप्रश्वास लेता है, तब उसके फेफडोंमें हवा खींची जाती है, वहाँपर हवाके ऑक्सिजन और गन्दे रक्तका रासायनिक संयोग होता है और रक्त शुद्ध हो जाता है, फिर कार्बन डॉयोक्साईड मिश्रित हवाको हम फेंफडोंसे बाहर निकाल देते हैं। यह क्रिया प्रत्यक्ष अवलोकनद्वारा आधुनिक वैज्ञानिकोंने सिद्ध कर दी है। अतः केवल हवा फेंफडोंके अन्दर घुसती है और वहींसे बाहर भी निकल जाती है यह बात संशयातीत है। प्राणायामका अर्थ केवल श्वासोछ्वासके नियम हैं, ऐसा आजके हठयोगी मानते हैं। किन्तु हठयोग प्रदीपके अगले मंत्र देखिये—

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः।
कथं स्यादुन्मनी भावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत्४
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ५
प्राणायामं ततः कुर्यात् नित्यं सात्विकया धिया।
यथा सुषुम्ना नाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयान्ति च ६
(अध्याय २)

+ हठयोग-प्रदीपिका-गुरूपदिष्ट मार्गेण योगमेवं समभ्यसेत् (१, १४)

× अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोग समुद्भवः। (२, १६)

अर्थात्—जब नाडियोंमें मल रहता है तब बिचली नाडीमें वायु नहीं जाता; तब उन्मनीभाव कैसे पैदा हो सकता है और कार्यसिद्धि कैसे हो सकती है। मलसे परिपूर्ण सम्पूर्ण नाडीचक्र जब स्वच्छ होगा तभी योगी प्राणोंका संग्रह कर सकता है। अतः सात्विक वृत्तिसे मनुष्यको प्राणायाम करना चाहिये जिससे सुषुम्णा नाडीका मल शुद्ध होता जाय" यह वर्णन पढकर यह नहीं मालूम होता कि यहाँ केवलमात्र श्वासोच्छ्वासका प्रश्न है। नाडीमें प्रवेश करनेवाले किसी दूसरे पदार्थका वह वर्णन होना चाहिये और नाडीमें मलोंके रहते उसका प्रविष्ट होना सम्भव नहीं है, जैसे जैसे उस मलकी शुद्धि होगी वैसे वैसे प्राणायाम सध सकेगा, इस कथनसे सिद्ध होता है कि श्वासोच्छ्वाससे भिन्न जो प्राण, अपान आदि प्राणोंके पांच प्रवाह हैं उनका सम्बन्ध वहाँ है तथा उसे जानबूझकर स्पष्ट नहीं किया गया है। यदि ऐसा न हो तो केश और नखाग्रतक पहुँच सके, ऐसा कुम्भक करना चाहिये (आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्। २,४९) आदि, अनेक प्रकारके ऐसे विधानोंका कोई मतलब ही नहीं होता।

पतञ्जलिने प्राणायामके लिये इन सूत्रोंका उल्लेख किया है—

' बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घ सूक्ष्मः। बाह्याभ्यन्तरविषयापेक्षी चतुर्थः। (२,५०-५१)

अर्थात् "बाह्य (वायुको बाहर छोडना या रेचक) आभ्यन्तर (वायुको अन्दर खींचना या पूरक) और स्तम्भ (वायुको बंद रखना या कुम्भक) इस प्रकारके प्राणायाम हैं। किन्तु देश, काल, संख्या आदिका विचार किया जाय तो प्राणायाम-विषय बहुत बडा और सूक्ष्म है। इसके अतिरिक्त भी बाहरकी या अन्दरकी वस्तुकी ओर प्रवाह फेंकनेका प्राणायामका एक और भी चौथा प्रकार है।" यह चौथा प्रकार श्वासोच्छ्वासका न होकर बाहरके या अन्दरके किसी पदार्थ तक प्राणोंका प्रवाह पहुँचानेका प्रतीत होता है। +

जो प्राणायामका अर्थ केवल श्वासोच्छ्वासका नियमन ही समझते हैं उन्हें इस सूत्रका विचार करना चाहिये। यह विषय गुप्त रखनेके लिये श्वास और प्राणके अन्दरका भेद जानबूझकर संदिग्ध रक्खा गया प्रतीत होता है।

हठयोगके ग्रन्थोंमें अनेक वर्णन लाक्षणिक हैं। सभी स्थानपर उन्हें स्पष्ट नहीं किया गया है। अगला वर्णन देखिये।

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्य इतरे कुलघातकाः॥
(हठयोग प्र० ३,४७)

अर्थात् मनुष्यको गोमांस सदा खाना चाहिये और शराब पीनी चाहिये। उसे हम कुलीन समझते हैं और दूसरोंको कुलघातक समझते हैं।

ऐसा और भी एक वर्णन देखिये—

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम्॥
(उद्धरण ३,९)

अर्थात् गंगा यमुनाके बीच एक बाल विधवा तप कर रही है। बलात्कारसे उसका ग्रहण करना चाहिये। वही विष्णुका परम पद है।×

हठयोग शास्त्रमें सूर्य और चन्द्र जैसे पारिभाषिक शब्द आते हैं। हठयोग-प्रदीपिकामें एकस्थानपर सूर्य चन्द्रका अर्थ इडा, पिंगला नाडी है, दूसरे स्थानपर प्राणायामका विषय बताते हुए दाहिने बाये नासापुट, यह अर्थ किया है। तथा ऐसा प्रतीत होता है कि सारा विषय स्पष्ट करनेके हेतुसे योगग्रन्थ नहीं लिखे गये हैं। हठयोग-प्रदीपिका ३,२८ में सूर्यचन्द्रका अर्थ पिंगला और इडा, तथा २,७३ में नासापुट किया गया है। इससे यह स्पष्टतः जाना जा सकता है कि प्राचीन हठयोग चाहे जैसा भी हो, किन्तु

+ प्राणायामका जो चौथा प्रकार ऊपर निर्दिष्ट किया है वह बाह्यान्तर विषयापेक्षी अर्थात् मनुष्यके अन्तरङ्गमें रहनेवाली किसी वस्तुकी ओर या बाह्यसृष्टिमें रहनेवाले किसी पदार्थकी ओर प्राणशक्तिक्षेपण करनेका, प्राणशक्ति फेंकनेका प्रकार दिखाई देता है। यह अंश सूत्रमें स्पष्ट नहीं है। पहिले 'विषय प्रवेश' में इस सूत्रका उल्लेख किया है।

× किन्हीं स्थानोंपर ये लाक्षणिक वर्णन स्पष्ट करके बता दिये गये हैं और कहीं कहीं गुप्त रक्खे गये हैं।

इस हठयोगकी जो क्रियायें आज प्रचलित हैं ये अज्ञानसे उत्पन्न क्रियायें हैं। अतः इनसे दूर रहनेमें ही बुद्धिमत्ता है।

हठयोगकी सिद्धियाँ मिथ्या हैं, ऐसा हमारा कहना नहीं है। नाडी बन्द करना, श्वासोछ्वास बंद करके अपनेको गाड़ लेना, पेटके अन्दरके भागमें हलचल पैदा करना, गलेमें पट्टी डालकर फिर निकालना, गुदद्वारसे या मूत्रद्वारसे पानी जैसा पतला पदार्थ सोख लेना, कान हिलाना, जीभ गलेमें डाल लेना आदि क्रियायें करनेवाले मनुष्य आज भी हैं। जिन्हें ये बातें मिथ्या और असम्भव लगती हों, उन्होंने इस विषयका आवश्यक ज्ञान ही प्राप्त नहीं किया है, यही कहा जा सकता हैं। किन्तु ये सिद्धियाँ सत्य होनेपर भी मनुष्यकी उत्क्रान्तिके लिये लाभदायक नहीं है, यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है।

उत्क्रान्ति-प्रवाहके प्रतिकूल

ये सिद्धियाँ उपकारक या लाभदायक नहीं हैं। केवल यही बात नहीं अपितु अनेकबार ये सिद्धियाँ अपकारक भी होती हैं। मानवदेह प्राणीदेहसे क्रमशः उत्क्रान्त होता होता यहाँतक आता है। उस उत्क्रान्तिक्रममें कुछ बातें जानबूझकर बुद्धिकी सीमाके बाहर ही रक्खी गई हैं।

कुत्ता, गाय, बिल्ली आदि प्राणी अपने कान हिला सकते हैं। बैल जुगाली कर सकता है और उस समय वह पेटके अन्दरका खाद्य फिरसे मुँहमें लाकर चबाता है और फिर दुबारा पेटमें डाल लेता है। मनुष्य शरीरमें इस प्रकारकी क्रियायें नहीं हो सकती। मनुष्य कुछ बातें समझबूझकर करता है और कुछ बातें अपने आप ही उसकी बुद्धिके बिना भी होती रहती है। आज मनुष्यको मुख्य रूपसे मन और बुद्धिका विकास करना है। इसके लिये प्रयत्न करनेका अवसर मिल सके, अतः उत्क्रान्ति-प्रवाहके द्वारा बुद्धि-सीमाके अन्तर्गत रहनेवाली पहलेकी अनेक बातें अलग कर दी गई हैं। वे बातें अपने आप चलती रहें, बुद्धिको उसके लिये आवश्यकता न रहे ऐसी व्यवस्था की गई है।

आज मनुष्यकी नाडी चौबीस घण्टे अपने आप चल सकती है, उसके लिये बुद्धिकी आवश्यकता नहीं है। वह बुद्धि अधिकाधिक उच्च विचार एवं क्रिया करनेके लिये, शास्त्रीय संशोधन, कला विकास, यश आदि श्रेष्ठकोटिके हजारों उद्यम करनेके लिये स्वतन्त्र रहनी आवश्यक है। और इसीलिये शरीरकी अनेक क्रियायें बुद्धिक्षेत्रसे हटाकर बुद्धिको स्वतन्त्र रखनेका प्रयत्न किया गया है।

मान लीजिये कि किसी हठयोगीसे प्रयत्नतः अपनी नाडीकी गति कम कर दी, बढा दी अथवा बन्द कर दी, तो उसका यह अर्थ हुआ कि जो नाडीके अन्दरका रक्तप्रवाह उसके बुद्धिक्षेत्रसे बाहर होनेके कारण अपने आप निर्बाध रूपसे चलता था उसे वह बुद्धिके शासनमें ले आया है। किन्तु उससे क्या लाभ? ऐसी बातें आधुनिक शरीर शास्त्रज्ञोंको असम्भव लगती हैं। किन्तु वे सम्भव हैं यह इन प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। प्रमाणकी दृष्टिसे आवश्यकतानुसार शरीरशास्त्रका उपयोग किया जा सकता है, यह सत्य है। किन्तु नाडी बन्द करके मनुष्य किसी प्रकारकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है, ऐसा बिलकुल नहीं है।

एक शीशामें चने भर दिये जाँय और उन चनोंकी संख्या यदि कोई मनुष्य किसी युक्तिसे केवल शीशी हाथमें लेकर ही-बिलकुल ठीक ठीक बता दे, तो लोगोंको अवश्य आश्चर्य होगा। यह बात वह कैसे कर सका, इसपर भी सबको आश्चर्य होगा। किन्तु यदि वह मनुष्य कहने लगे कि मैं अपनी युक्ति आप सबको सिखानेके लिये तैयार हूँ। तो उसे सीखनेके लिये शायद बहुत ही कम लोग तैयार होंगे। क्योंकि शीशीके चनोंकी संख्या बिलकुल ठीक बता देनेकी कला व्यक्ति या समाजके लिये किसी प्रकारसे भी लाभदायक नहीं है। इसी प्रकार हठयोगकी सिद्धियोंमेंसे अधिकतर सिद्धियोंका मनुष्यके लिये कोई उपयोग नहीं है। (हठयोगकी कुछ क्रियाओंके द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य सुधर जाता है और इस दृष्टिसे यदि कोई उनका प्रयोग करना चाहे तो विवेकपूर्वक वे क्रियायें करने जैसी हैं, यह पूर्व ही कहा जा चुका है) अपितु उन क्रियाओंके पीछे पडनेका अर्थ उत्क्रान्ति प्रवाहके विरुद्ध जाना ही होगा।

किसी राष्ट्रीय सभामें हजारों स्त्री पुरुष एकत्रित हों, और उनमेंसे कुछ अपने कान हिलाने लग जाँय, कुछ पेटकी आँतें घुमाने लग जाँय और कुछ जुगाली करने लग

जाँय तो वह कितना विचित्र लगेगा। इसी प्रकारकी स्थिति राजयोगसे सम्भव है, तब भारतीय संस्कृतिके लिये उसका क्या लाभ?

हठयोगका मनपर थोडासा प्रभाव पडता है, प्रभाव नहीं पडता ऐसी बात नहीं है। किन्तु शरीरपर प्रभाव डालकर फिर मनपर प्रभाव डालनेकी अपेक्षा सीधा मन-पर प्रभाव डालनेका प्रयत्न करना अधिक युक्तिसंगत है। हास्य एक प्रकारसे मनका भाव है। वह मनपर सीधे प्रभाव डालकर पैदा किया जा सकता है या पहले शरीरको प्रभावित करके उसके द्वारा अप्रत्यक्षरूपसे प्रभाव जमाकर भी वह हास्य उत्पन्न किया जा सकता है। एक सभा है। उस सभामें जनताके अन्दर हास्यकी भावना हमें पैदा करनी है। उत्कृष्ट प्रकारसे कोई बात कहकर उन सबको हँसाया जा सकता है। इस प्रकार मनद्वारा सीधा प्रभाव मनपर पडता है। ऐसी ही स्थिति और प्रयत्न राजयोगकी है। किन्तु यदि किसीमें विनोदी बात कहनेकी योग्यता न हो तो वह शरीरमें गुदगुदी करके उन्हें हँसा सकता है। यह प्रकार हठयोग जैसा है। गुदगुदी करके उत्पन्न होनेवाला मनका आनन्द और अन्तर्यामी विनोदी बात सुनकर होने-वाला मनका आनन्द, इन दोनोंमें पहला नकली एवं निर्जीव रहता है तथा दूसरा सच्चा, गहरा और सजीव रहता है। इसीलिये राजयोगका मार्ग अधिक सरस है।×

दूसरी बात यह है कि शरीरके लिये ही अधिक ध्यान देनेपर एक जन्ममें कमाई हुई योगविद्या दूसरे जन्ममें हमारे साथ नहीं रह सकती। क्योंकि प्रत्येक जन्ममें मनुष्य नया शरीर धारण करता है। एक जन्ममें मनका सद्‌गुणोंका, बुद्धिका जो विकास मनुष्य कर लेता है वह पैतृक सम्पत्तिकी तरह मनुष्यके साथ ही अगले जन्ममें भी उसे मिल जाता है। इससे सिद्ध होता है कि राजयोग का प्रभाव स्थायी होता है और हठयोगका स्थायी नहीं होता। शरीरको प्रभावित करना सरल है; किन्तु मनको प्रभावित करना कठिन है। शरीर जड होनेके कारण अभ्यास द्वारा उसको यथेच्छ वशमें किया जा सकता है। किन्तु गीताके अनुसार मनुष्यका मन चंचल, उपद्रवी, और शक्तिशाली होता है। उसे वशमें करना हवाकी गठरी बांधनेके समान दुष्कर है। अभ्यास और वैराग्यके साधनों का अवलम्ब लेकर निरन्तर प्रयत्न किये बिना उसे वशमें नहीं किया जा सकता। सरल होनेके कारण शरीरको प्रभावित करनेके हठयोगके मार्गको अनेक लोग पसन्द करते हैं और उसकी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु ये सिद्धियाँ निम्न कोटिकी होती हैं, यह भूलना नहीं चाहिये।

हठयोगकी समाधि

हठयोगकी कुछ सिद्धियाँ ऊपर ऊपरसे देखनेवालेको सच्ची सिद्धिके समान भले ही दीखें किन्तु फिर भी वे खोकली होती है। राजयोगमें समाधि नामकी ज्ञानकी एक श्रेष्ठ स्थितिका वर्णन है। ×वह अत्यधिक प्रयासके बाद प्राप्त हो सकती है। मन एकाग्र करनेके लिये निष्णात

× कुछ लोगोंका मत ऐसा है कि हठयोग, राजयोगकी पूर्व तैयारी है। राजयोगके लिये मनुष्यका शरीर स्वस्थ व सशक्त रहना आवश्यक है। यदि केवल मात्र इतना ही अभिप्राय है तो यह मत ठीक है। किन्तु हठयोगकी क्रियायें केवल शारीरिक स्वास्थ्यके लिये ही नियोजित हैं, ऐसा प्रतीत नहीं होता। जो क्रियायें हठयोगमें वर्णित हैं, उनसे कई बार हानि भी होती है। जैसे प्राणायाम अत्यधिक करनेपर स्वास्थ्य बिगडता है। नाकके अग्रभागपर टकटकी लगाकर बहुत देरतक बैठे रहनेकी क्रिया अधिक दिनोंतक करते रहनेपर आँखें भेंडो होनेकी सम्भावना रहती है। हठयोग प्रदीपिकामें कहा है—

अस्तु वा माऽस्तु वा मुक्तिरत्रैवाऽखंडितं सुखम्। लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥
राजयोगमजानन्तः केवलं हठकर्मिणः। एतानभ्यासिनोमन्ये प्रयासफलवर्जितान् (४,७७-७८)

अर्थ—मुक्ति हो या न हो, इस स्थितिमें अखण्डित सुख रहता है। यह सुख लयोद्भव है तथा राजयोगसे प्राप्त होता है। राजयोग न जानते हुए केवल हठयोगकी क्रियायें जो करते हैं, उनके प्रयत्न निष्फल होते हैं।

× उस स्थितिके विषयमें विस्तारपूर्वक विवेचन इस पुस्तकमें अगले एक प्रकरणमें किया गया है।

हुए बिना उस अवस्थातक मनुष्य पहुँच नहीं पाता। मनुष्यके उस अवस्थामें पहुँच जानेपर यह आवश्यक हो जाता है कि उसका शरीर उस समय निद्रित रहे। शरीरके जागृत रहनेपर और जब कि आँखें देखती हों, कान सुनते हों, मन विचार करता रहे, हाथ पैर विभिन्न उद्योग करते हों, तो ऐसी स्थितिमें जागृत अवस्थाका यह गडबड और कटकट अन्दर, बाहर व चारों ओर जारी रहते हुए समाधिस्थितिमें मनुष्य पहुँच नहीं सकता। फटफटी (मोटर साइकल) का धूमधडाका जब शुरू हो तब वहाँ दिलरुबाके सुमधुर स्वर जैसे मनुष्य नहीं सुन सकता। वे स्वर जिस प्रकार उस धूमधडाकेमें डूब जाते हैं, उसी प्रकार जागृत मनके व्यापार जारी रहनेपर समाधिस्थितिकी कोमल तरङ्गें अन्तर्यामी प्रतीत नहीं हो सकती। उसकी प्रतीतिके लिये शरीरकी क्रियायें रोककर उसे शान्त एवं निद्रित रखना पडता है। किन्तु इससे ऐसा सिद्ध नहीं होता कि जब जब शरीर निद्रित होता है तब तब मनुष्य समाधिमें रहता है। फटफटीकी आवाजके साथ जब दिलरुबाकी भी आवाज जारी हो तो उस समय यदि फटफटीकी आवाज बंद कर दी जावे तो दिलरुबाके स्वर सुनाई पड सकते हैं। किन्तु जब कि कोई दिलरुबा बजाता ही न हो तो उसके स्वर कहाँसे सुनाई पडेंगे। जब दिलरुबा बजेगा ही नहीं तो उसकी मधुर आवाज फटफटी बंद कर देनेपर भी कहाँसे सुनाई देगी। फटफटीकी आवाज भी नहीं और दिलरुबाकी आवाज भी नहीं, स्मशानशान्ति जैसी स्थिति वहाँ हो जायेगी।

राजयोगमें समाधिस्थितिके उत्तुङ्गशिखरतक पहुँचनेके लिये मनका अत्याधिक संयमन करना पडता है। उस स्थितिके ऐश्वर्यका अनुभव प्राप्त करनेके लिये जागृत अवस्थाकी हलचलें बंद करनी पडती हैं; तब उस शान्त-एकान्त स्थितिमें उस ऐश्वर्यकी प्रतीति हो पाती है। हठयोगमें प्राण बंद करके तथा शरीरके लिये जितना अपेक्षित है उससे भी कम ऑक्सिजनका संग्रह रखकर प्राणायामके द्वारा शरीरको मूर्छित कर देते हैं और इसी मूर्छाको समाधि कहते हैं। बाहरूपसे देखनेवाले अज्ञ जिज्ञासूको ये दोनों प्रकारके योगी समान ही निद्रितसे दिखाई देते हैं। किन्तु उन दोनोंमेंसे एक मनके द्वारा समाधि नामकी उच्च अवस्थामें पहुँचकर ज्ञानकी प्राप्ति करता रहता है तथा दूसरा मनसे भी शरीरके समान ही निद्रित रहता है। मनसे ऊँची उडान लगाकर एक उच्च भूमिकापर पहुँचता है और वहाँका अनुभव प्राप्त कर लेता है। दूसरका इस प्रकारका कोई प्रयत्न नहीं रहता; अतः उसे किसी प्रकारका भी अनुभव प्राप्त नहीं होता। केवल उसका शरीर निद्राके वश हो जाता है। डॉक्टरसे नींदकी औषधि लेनेपर जो परिणाम होगा; उसकी तुलनामें हठयोगकी निद्राका परिणाम बिलकुल भी भिन्न नहीं है। हठयोगकी समाधि तथा राजयोगकी समाधिमें इस प्रकार आकाश पातालका अन्तर है।

मनुष्यके दृश्यदेहके अन्दर दूसरे सूक्ष्म कोष रहते हैं। कपडेकी एक गुड्डी पानीमें डुबोकर बाहर निकालनेपर यह दिखाई देगा कि उस गुड्डीके सारे भागमें (अन्दरसे भी) पानी फैला हुआ है। उसी प्रकार मनुष्यके दृश्य शरीरके अन्दर भी ये सूक्ष्म कोष फैले रहते हैं और उनके द्रव्य अत्यन्त विरल तथा हल्के रहते हैं। कपडेकी उस गुड्डीकी किसी नक्शीको यदि हम नखसे रगड दें तो अन्दरकी पानीकी बूंदोंमें हलचल पैदा हो जायेगी। गुड्डीके हाथमें यदि इत्र लगा दिया जाय या स्याहीकी बूंद डाल दी जाय तो अन्दरके पानीपर गन्ध व रंगकी कुछ क्रियायें अवश्य प्रभाव डालेंगी। हठयोगकी क्रियाओंका प्रभाव दृश्य शरीरके कुछ विशिष्ट भागोंपर पडता है। त्राटकका अभ्यास करते समय दीवारपर रंगकी एक बिन्दू बनाकर उसकी ओर मनुष्य टकटकी लगाकर देखता रहता है। इसके कारण उसकी आँखोंपर खिंचाव सा पडता है, आँखोंसे पानी आने लगता है और आँखें थक जाती हैं। आँखके अन्दर आँखको व्याप्त करके जो सूक्ष्म कोषका भाग है उसपर ऐसी क्रियाका प्रभाव पडता है और उस कोषके द्रव्यमें एक प्रकारकी जागृति उत्पन्न होकर मनुष्यको सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

किसी किसी आसनमें और मुद्राओंमें शरीरके विशिष्ट भागोंपर खिंचाव पडता है। इस प्रकारकी क्रियायें बार बार करनेसे अन्दरके सूक्ष्म कोषोंके द्रव्योंमें नवीन जागृति और हलचल पैदा हो जाती है। उनमेंसे कुछ क्रियाओं

तथा प्रवाहोंको प्रेरणा प्राप्त होती है और इस प्रकार सिद्धि प्राप्त हो जाती है। राजयोगमें जडशरीरपर प्रभाव डालकर सूक्ष्म शरीरमें हलचल पैदा नहीं की जाती; अपितु स्वतन्त्ररूपसे सूक्ष्म शरीरपर प्रत्यक्ष प्रभाव डाला जाता है। यही कारण है कि वे प्रभाव उच्च प्रकारके होते हैं। ×

इन सब बातोंसे सिद्ध होता है कि हठयोगकी कुछ सीधी-सादी बातें परिमित प्रमाणसे करनेपर शारीरिक स्वास्थ्यके लिये चाहे उनसे थोडा बहुत लाभ हो तब भी पूर्ण विचार करनेपर उत्क्रान्ति-दृष्टिसे वह मार्ग हानिकारक है। उस मार्गका अवलम्बन न कर राजयोगके मार्गका अवलम्बन करना ही बुद्धिमत्ता है।

× सूचना— हठयोगमें शरीरके विशिष्ट भागोंपर खिंचाव डालकर उसके अन्दर प्राणमयकोषका जो भाग रहता है वह उद्दीपित होकर प्राणमयकोषकी कुछ सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। किन्तु इन सिद्धियोंमें तथा शरीरके चक्रोंपर फुलाकर प्राप्त की गई सिद्धियोंमें बहुत अधिक अन्तर है। उत्तरोक्त सिद्धियाँ श्रेष्ठ प्रति की रहती हैं।

सांख्य-दर्शनमें ईश्वरवाद

(लेखक— श्री० सोमचैतन्य सांख्यशास्त्री, वेदवागीश)

(गताङ्कसे आगे)

इसके पहले कि हम सांख्यदर्शनके ऐतिहासिक विकास पर दृष्टि डालें, भारतीय दर्शनोंके इतिहास कालके सम्बन्धमें भी प्रसंगवश आधुनिकोंके मतका संक्षेपसे उल्लेख करना उचित समझते हैं--

भारतीय दर्शनके इतिहासको आधुनिक विद्वान् तीन कालोंमें विभक्त करते हैं'—

(१) वैदिक काल- इस कालमें ऋग्वेदीय तथा अथर्ववेदीय संहिताओंमें संकेतित तत्त्वोंका विकास ब्राह्मण तथा आरण्यकोंसे होता हुआ उपनिषदोंमें पूर्ण रूपेण सम्पन्न हुआ है। उपनिषदोंमें हम अनेक तत्त्वोंकी पर्यालोचना पाते हैं। इन तत्त्वोंका विवेचन आत्मस्फूर्ति या प्रातिभज्ञानके बलपर इतनी सुन्दर रीतिसे किया गया है कि वे हमारे अन्तस्तलको स्पर्श कर जाते हैं।

(२) आदिम उत्तर वैदिक काल —यह काल वैदिक धर्मके विरोधका युग है। उपनिषद् कालमें ही अनेक वेदविरोधी मतोंकी चर्चा दबी जबान हमें सुनाई पडती है, परन्तु इतनी अस्फुटतासे कि उनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं होता। परन्तु उपनिषदोंके महत्त्वशाली युगके बीतते ही इन विरोधी दलोंने अपनी आवाज बुलन्द की। इन विरोधी दलोंमें आजीवक तथा चार्वाक का प्रभाव थोडे ही समयतक व्यापक था, परन्तु बौद्ध तथा जैन दर्शनोंने अपना प्रभाव इतना जमा लिया कि अवान्तरकालमें ब्राह्मण-दार्शनिकोंसे वे सदा टक्कर लेते रहे।

(३) दर्शनकाल— इस कालको हम दो अवान्तर विभागोंमें बाँट सकते हैं—

(क) सूत्रकाल तथा (ख) वृत्तिकाल। सूत्रकालमें न्याय तथा वैशेषिक, सांख्य तथा योग, मीमांसा तथा वेदान्तदर्शनोंके सूत्रोंकी रचना हुई। उपनिषदोंमें सूचित तथ्योंको ग्रहण कर दार्शनिकोंने विभिन्नमतोंकी स्थापना इसी युगमें की। सूत्रोंकी रचनाका यह अभिप्राय नहीं है कि उसी समयसे दर्शन आरम्भ होता है, प्रत्युत ये सूत्र अनेक शताब्दियोंकी आध्यात्मिक गवेषणाके परिनिष्ठित फल स्वरूप हैं। सूत्रोंमें पारस्परिक निर्देश उपलब्ध होते हैं। वेदान्तसूत्रों ३।४।१८ में मीमांसाका उल्लेख है, न्यायसूत्र (अ० १ आ० २) वैशेषिक सूत्रोंसे परिचित है। सांख्यसूत्र (पञ्चमाध्याय) अन्य दर्शनोंके सिद्धान्तका निर्देश करता है। इन सूत्रोंके रचना-कालके विषयमें विद्वान् लोगोंके

भिन्न भिन्न मत हैं, परन्तु मोटे तौरसे ४०० विक्रम पूर्वसे २०० विक्रमपूर्वतक इनका निर्माण काल स्वीकृत किया जा सकता है।

(ख) वृत्तिकाल— सूत्रोंकी शब्दावली इतनी स्वल्प तथा निगूढ़ है कि वृत्तिकी सहायताके बिना इनका अर्थ बोधगम्य नहीं होता। अतः भाष्य, वार्तिक तथा टीका ग्रन्थोंकी रचना सूत्रोंके रहस्य समझानेके लिये इस युगमें की गई। शबर तथा कुमारिल, वात्स्यायन तथा प्रशस्त पाद, शङ्कर तथा रामानुज, वाचस्पति तथा उदयनके आविर्भाव काल होनेका श्रेय इसी युगको प्राप्त है। टीकाकार होनेसे इनकी रचनाओंकी मौलिकता कम नहीं है, प्रत्युत मूल लेखकके समान ही ये भी नितान्त प्रामाणिक हैं। तार्किक युक्तियोंके द्वारा प्रतिपक्षीके मतका खण्डन करना इस कालकी विशेषता है। उपनिषद्के पृष्ठोंमें स्फुरित तत्वोंकी तर्कके द्वारा स्थापना करना इस युगके लिये एक गौरवकी चीज है। यह काल ३०० विक्रमीसे लेकर १५०० विक्रमीतक माना जा सकता है।

सांख्यदर्शनके ऐतिहासिक विकासपर दृष्टिपात करनेसे निम्नलिखित समय विभाग स्वीकृत किये जा सकते हैं--

(१) उपनिषदों तथा भगवद्गीताका सांख्य (१०००-८०० ई० पूर्व) इस कालमें सांख्यवेदान्तके साथ मिश्रित है तथा ईश्वरवादका समर्थक है। ["सांख्य-तरु-वसन्त" श्री तरविन्द स्वामीलिखित एक पाण्डित्यपूर्ण सुन्दर प्राचीन ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अभीतक अप्रकाशित ही है। इसके मतमें सांख्य और वेदान्तमें मूलतः भेद नहीं है।

(२) महाभारत तथा पुराणोंका सांख्य (लगभग ६००-२०० ई० पूर्व) इस कालमें सांख्य-वेदान्त-सिद्धान्तोंसे पृथक् होकर स्वतन्त्र दर्शनके रूपमें प्रकट होता है। सांख्यसिद्धान्तोंमें विशेष विकास दृष्टिगत होता है। चरकका सांख्य भी इसी कालके सांख्यसे मिलता जुलता है। चरक सांख्यकी अनेक विशेषताएँ (शरीर स्थान, १ अ०) पुरुषको अव्यक्तावस्थामें मानना, तन्मात्राओंका सर्वथा अभाव महाभारत (१२।३१९) में भी उपलब्ध होता है जिससे चरक पञ्चशिखके अनुयायी प्रतीत होते हैं। ईश्वरकी सत्ता इस कालमें भी सांख्यमें विद्यमान है।

(३) ब्रह्मसूत्रमें निर्दिष्ट तथा सांख्यकारिकामें वर्णित सांख्य (३०० ई० पूर्वसे १०० ई० तक) इस कालका सांख्य निश्चित रूपेण निरीश्वरवादी है। प्रकृति तथा पुरुषको अन्तिम तत्त्व मानकर विश्वकी तात्त्विक व्याख्या की गई है।

(४) विज्ञानभिक्षुका सांख्य (१६ वीं सदी) विज्ञानभिक्षु एक विशिष्ट मौलिक दार्शनिक थे। उन्होंने सांख्यसे निरीश्वरवादके लाञ्छनको हटाकर पुनः सेश्वरवादकी प्रतिष्ठा की है। विज्ञानभिक्षुने सांख्यके लुप्त गौरवका पुनः उद्धार किया है तथा उसे वेदान्तके साथ सुन्दर समन्वय उपस्थित कर महाभारत कालीन व्यापकता प्रदान की है।"

भारतीय दर्शनके आधारपर

हमारे लेखका उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि परमर्षि कपिलने अनीश्वरवादका उपदेश नहीं दिया और मौलिक सांख्य सेश्वरवादी था। यह आधुनिकोंके इस लेखसे भली भाँति पुष्ट हो जाता है कि ईसासे एक सहस्र वर्ष पूर्वतकका सांख्य सेश्वरवादी था। ईसाके जन्मकालके बाद निरीश्वरवाद सांख्यमें घुसेड़ा गया।

महर्षि दयानन्दका मत

महर्षि स्वामी दयानन्दजी इस युगके सबसे बड़े महापुरुष हुये हैं। वे वेदोंके अद्वितीय विद्वान् थे। दर्शन शास्त्रके प्रकाण्ड पण्डित थे। सम्पूर्ण आर्यावर्तमें और विद्वानोंकी नगरी काशीमें उन्हें कोई शास्त्रार्थमें जीत न सका था। उन्होंने अपने अनुपम त्याग, तप और पुरुषार्थसे वेद एवं आर्ष ग्रन्थोंके लुप्त हुये गौरवको पुनः प्रतिष्ठापित किया। वे महर्षि कपिलको पूर्ण आस्तिक मानते थे। उन्होंने लिखा है,--

(प्रश्न) १. ईश्वरासिद्धेः (सां १।९२)

२. प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः (सांख्य ५।१०)

३. सम्बन्धाभावान्नानुमानम् (सां. ५।११)

प्रत्यक्षसे घट सकने ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती॥ १॥ क्योंकि जब उसकी सिद्धिमें प्रत्यक्ष ही नहीं तो अनुमानादि प्रमाण नहीं हो सकता॥ २॥ और व्याप्ति सम्बन्ध न होनेसे अनुमान भी नहीं हो सकता। पुनः प्रत्यक्षानुमानके न होनेसे शब्द प्रमाण आदि भी नहीं घट सकते। इस कारण ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती॥ ३॥

(उत्तर) यहाँ ईश्वरकी सिद्धिमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, और न ईश्वर जगत्का उपादान कारण है। और पुरुषसे विलक्षण अर्थात् सर्वत्र पूर्ण होनेसे परमात्माका नाम पुरुष और शरीरमें शयन करनेसे जीवका भी नाम पुरुष है। क्योंकि इसी प्रकरणमें कहा है—

१. प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ॥
२. सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥
३. श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥
(सांख्य ५।८।९।१२)

यदि पुरुषको प्रधानशक्तिका योग हो तो पुरुषमें सङ्गापत्ति हो जाय अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्मसे मिलकर कार्यरूपमें सङ्गत हुई है वैसे परमेश्वर भी स्थूल हो जाय। इसलिये परमेश्वर जगत्का उपादान कारण नहीं, निमित्त कारण है ॥ १ ॥

जो चेतनसे जगत्की उत्पत्ति हो तो जैसा परमेश्वर समग्रैश्वर्ययुक्त है वैसा संसारमें भी सर्वैश्वर्यका योग होना चाहिये, सो नहीं है इसलिये परमेश्वर जगत्का उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण है। २॥ क्योंकि उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत्का उपादान कारण कहता है ॥ ३ ॥ जैसे—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः ॥
यह श्वेताश्वतर उपनिषद् ४.५ का वचन है।

जो जन्मरहित सत्व, रज, तमो गुण रूप प्रकृति है वही स्वरूपाकारसे बहुत प्रजारूप हो जाती है अर्थात् प्रकृति परिणामिनी होनेसे अवस्थान्तर हो जाती है और पुरुष अपरिणामी होनेसे वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूपमें कभी नहीं प्राप्त होता, सदा कूटस्थ, निर्विकार रहता है, इसलिये जो कोई कपिलाचार्यको अनीश्वरवादी कहता है जानो कि वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं ॥

(सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास)

सांख्यमें ईश्वरका स्वरूप

पुरुष शब्दसे ईश्वरका ग्रहण होना

अब हम यह दिखलाते हैं कि प्राचीन शास्त्रोंमें सांख्यके ईश्वरका वर्णन किस प्रकार किया गया है। श्रुतिका मुख्य प्रयोजन ब्रह्म है, इसमें सबका मतैक्य है। यह बात "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओम् इत्येतत्" (कठ. १।२।१५) इत्यादि प्रमाणोंसे भी पुष्ट है। उस श्रुतिको सर्वोपरि प्रमाण माननेवाला सांख्य ईश्वरका प्रतिषेध कैसे कर सकता है? यह ध्यान रखना चाहिये कि सांख्यमें केवल दो ही तत्त्व माने गये हैं- जड और चेतन। चेतन तत्त्वके लिये जिसका प्रयोग किया गया है। पुरुष शब्द लाघवसे परब्रह्म, ईश्वर, (अपरब्रह्म) और जीव इन तीन अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। आत्मा या परमात्मा शब्द सांख्यमें कहीं नहीं आया। पुरुष शब्दके ईश्वर और जीव दो अर्थ होते हैं, इसमें कोई विवाद नहीं है। जिस प्रकार माण्डूक्यमें अवस्था-भेदसे ओङ्कारके चार रूप (१) वैश्वानरः (२) तैजसः (३) प्राज्ञः और (४) प्रपञ्चोपशमम् शिवम् अद्वैतम्—दिखलाये गये हैं, इसी प्रकार सांख्यके चेतनतत्त्वके भी प्रतिबिम्बानुसार नाम भेद हो जाता है। शुद्ध चेतनतत्त्व (पुरुष) जिसे अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्म प्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम कहा गया है वह अपरिणामी निष्क्रिय, निर्विकार, ज्ञानस्वरूप कूटस्थ, नित्य है। इस अपने शुद्ध स्वरूपसे चेतनतत्त्वका नाम परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म, शुद्ध ब्रह्म और परब्रह्म है। शास्त्रोंमें इसको केवल पुरुष या पुरुषः परः या परम पुरुषके नामसे भी निर्दिष्ट किया है। यह ही विशेष है।

जडतत्त्व (मूल प्रकृति) त्रिगुणात्मक, सक्रिय और परिणामी नित्य है। चेतनतत्त्वकी सन्निधिसे जडतत्त्वमें एक प्रकारका ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक विरूप अर्थात् विषम परिणाम हो रहा है। सत्त्वमें क्रिया मात्र रज और उस क्रियाको रोकने मात्र तमका सबसे पहिला विषम परिणाम महत्तत्त्व कहलाता है। यही महत्तत्त्व सत्त्वकी विशुद्धतासे अपने समष्टि रूपमें विशुद्ध सत्त्वमय चित्त कहलाता है जिसमें समष्टि अहङ्कार बीजरूपसे रहता है। यह ईश्वरका चित्त है। इस विशुद्ध सत्त्वमय समष्टि चित्तमें प्रतिबिम्बित चेतनसत्ताका नाम ईश्वर है, यह एक और सर्वज्ञ है। इसीको सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, प्रज्ञानघनः,

सर्वतोमुख, भूतोंका प्रभवाप्यय, कहा है। यही अपरब्रह्म, सगुणब्रह्म और सबलब्रह्म है।

जब वही महत्तत्त्व व्यष्टिरूपमें होता है तब उसमेंसे व्यष्टि अहंकार बीजरूप वर्तमान रहता है तथा साथ ही लेशमात्र तम भी रहता है। यह सत्त्वचित्त कहलाता है जो कि जीवोंका चित्त है तथा संख्यामें अनन्त है। इन असंख्य व्यष्टि चित्तोंमें प्रतिबिम्बित चेतनतत्त्वका नाम जीव है। चित्तोंकी अनन्तताके कारण जीव भी अनन्त माने गये हैं। मूलतः चेतनतत्त्व एक ही है। व्यष्टि चित्तोंमें जो लेशमात्र-तम है, उस लेशमात्रतममें बीजरूप अविद्या विद्यमान है। इस अविद्याक्लेशसे क्रमशः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश क्लेश उत्पन्न होते हैं, ततः सकामकर्म, कर्माशय, जन्मायुभोग और सुखदुःखकी उत्पत्ति, बन्ध आदि होते हैं। ईश्वरके विशुद्धसत्त्वमय चित्तमें तमका लेश नहीं, अतः अविद्या भी नहीं, अविद्याके न होनेसे ईश्वर क्लेश, कर्म-विपाकाशयोंसे अपरामृष्ट नित्य मुक्त नित्येश्वर है। चेतन-तत्त्वमें अपने ज्ञानके प्रकाश डालनेकी और महत्तत्त्वमें उस को ग्रहण करने योग्यता अनादि कालसे चली आ रही है। ईश्वरमें ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक है। उसके सामी-प्यमात्रसे परतन्त्र प्रकृतिमें ज्ञान-व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है॥

'पुरुष' शब्दग्रहणका प्रयोजन

वस्तुतः चेतनतत्त्व एक है, वही उपाधि भेदसे भर्ता, भोक्ता, उपद्रष्टा, महेश्वर और परमात्मा है (गीता १३।२२) इस गूढ़ एकत्वके रहस्यको बतलानेके लिये ही इन सबके वाचक एक 'पुरुष' शब्दका सांख्याचार्यने अपने तन्त्रमें ग्रहण किया है।

'पुरुष' शब्द वाच्य ब्रह्म और ईश्वरका शास्त्रोंमें वर्णन

वेद

वेदोंका प्रमाण परम प्रमाण माना गया है। वे परम पुरुषसे निःश्वासवत् सहज ही प्रादुर्भूत हुये हैं। अतएव उनका स्वतः प्रामाण्य है। चारों वेदोंमें "पुरुष सूक्त" पाया जाता है, जिसमें पर और अपर ब्रह्मका वर्णन किया गया है।

'सहस्रशीर्षा: पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥'
(ऋ. १०।९०, यजु. अ. ३१)

"वह पुरुष हजारों शिरों, हजारों नेत्रों और सहस्रों पावोंवाला है। वह इस ब्रह्माण्डको चारों तरफसे घेरकर भी दश अंगुल ऊपर स्थित है।

यह सगुण ब्रह्म (ईश्वर) का वर्णन है।

"पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्"
(ऋ. १०।९०, यजु. अ. ३१)

जो कुछ इस समय वर्तमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है और जो कुछ उत्पन्न होनेवाला है (भाव्यम्) वह सब पुरुष ही है। इसीको माण्डूक्यने अन्यरूपसे कहा है—

"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव।
यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥"

'ओम् यह अविनाशी है, यह सब उसका फैलाव है, भूत, वर्तमान, भविष्यत् यह सब ओंकार ही है। और जो अन्य त्रिकालातीत है वह भी ओङ्कार ही है।"

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि॥
(ऋ. १०।९०.३, यजु. ३१,)

"यह इतनी बड़ी तो इसकी महिमा है, पुरुष (शुद्ध चेतनतत्त्व परब्रह्म) इससे अधिक कहीं बड़ा है। सम्पूर्ण भूत इसके एक पाद हैं। इसके तीन पाद अमृतस्वरूप अपने प्रकाशमें है।"

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः
परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः
पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (यजु॰)

"अज्ञानान्धकार=तमसे परे वर्तमान स्वप्रकाशस्वरूप इस महान् पुरुषको मैं जानता हूँ। उसको ही जानकर मृत्युका अतिक्रमण कर स्वरूप प्रतिष्ठाको प्राप्त करता है। मुक्तिके लिये अन्य मार्ग नहीं है।"

यह परब्रह्म-शुद्ध चेतनतत्त्वका वर्णन है।

उपनिषद्

उपनिषदोंमें भी इस पुरुषका वर्णन बहुलतया उपलब्ध होता है । यथा—

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥ (ईश०)

जो यह आदित्य=महत्तत्त्व=विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें शुद्ध चेतनका प्रतिबिम्ब पुरुष (ईश्वर) है वह मैं हूँ ।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सत एतद्वैतत् ॥१२॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वैतत् ॥१३॥ (कठ २।४)

अङ्गुष्ठमात्र (अंगुष्ठ परिमाण हृदयदेशमें उसकी उपलब्धि होनेसे उसे अंगुष्ठमात्र कहा है) पुरुष (शुद्ध ब्रह्म) आत्माके मध्य रहता है । वह धूमरहित ज्योतिके समान शुद्ध प्रकाश स्वरूप है । भूत भव्यका स्वामी है । जो वह आज है वही वह कल भी है । यही वह परमात्म तत्त्व है ।

तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथ इति ॥ (प्रश्नोप० ६।६)

उस जाने योग्य पुरुष (परब्रह्म) को जानो, जिससे मृत्यु तुम्हें व्यथित न करे ॥

सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ मुण्डक० १।२।११)

वे रजोरहित होकर आदित्यलोकसे वहाँ जाते है जहाँ अव्ययात्मा अमृत पुरुष विद्यमान है ।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ॥
(मुण्ड० २।१।२)

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥

यह पुरुष अमूर्त है, दिव्य है, बाहरके साथ साथ अन्दर भी विद्यमान है, अजन्मा है ॥

यह अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध एवं कार्यवर्गकी अपेक्षा श्रेष्ठ अक्षर (अव्याकृत प्रकृति) से भी उत्कृष्ट है ॥

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवीह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ (मुण्ड० २।१।४)

जिस पुरुषका अग्नि (द्युलोक) मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कर्ण हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी है, सारा विश्व जिसका हृदय है, पृथिवी जिसके चरणोंसे उत्पन्न हुई है । वह यह पुरुष सब भूतोंका अन्तरात्मा है॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥ मु० २।१।१०

यह सारा जगत्, कर्म और तप पुरुष ही है । वह पर और अमृतरूप ब्रह्म है। उसे जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित जानता है, हे सोम्य ! वह इस लोकमें अविद्या ग्रन्थिका छेदन कर देता है ॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ (मुण्डक ३।१।३)

जिस समय विद्वान् साधक स्वप्रकाश स्वरूप, सर्व जगत्कर्त्ता, ब्रह्मयोनि ईश पुरुषको देखता है तब वह पुण्य पाप दोनोंको त्यागकर विगतक्लेश होकर अद्वय लक्षण निरतिशय साम्यको प्राप्त हो जाता है ।

स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत् ॥(ऐतरेय१।३।१३)

उसने इस ही पुरुष ब्रह्मको फैला हुआ देखा।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥ (छांदोग्य ३।१२।६)

स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किञ्चनानावृतं नैनेन किञ्चनासंवृतम् ॥
(बृहदा० २।५।१८)

वही यह पुरुष सब पुरियोंमें पुरिशय है (व्याप्त है) इससे अनावृत (न घेरा हुआ) कुछ नहीं है, इससे असंवृत (न ढँका हुआ) कुछ नहीं हैं ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् तो सांख्यके सिद्धान्तोंसे भरा पड़ा है । यदि उसे हम सांख्योपनिषद् कहें, तब भी कुछ अत्युक्ति नहीं। परमात्माके वर्णनसे वह ओतप्रोत है। उसके कुछ मन्त्र देखिये,—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ १।३ ॥

कुछ ब्रह्मवादी ऋषियोंको जगत्का कारण जाननेकी जिज्ञासा हुई। उन्होंने विचारना शुरु किया तो १ काल, २ स्वभाव, ३ नियति, ४ यदृच्छा, ५ पञ्चमहाभूत, ६ प्रकृति, ७ पुरुष (८ जीवात्मा) इनका संयोग इन आठोंमेंसे कोई भी कारण निश्चित नहीं हुआ। अन्तमें उन्होंने ध्यानयोगका अनुगमन किया। ध्यानयोगमें उन्होंने छिपी हुई परमात्मशक्तिको देखा जोकि परमात्मा, काल और पुरुषसहित उन समस्त पूर्वोक्त कारणोंका अधिष्ठाता है।

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ (१।८)

इस प्रकृति और जीवात्मा मिले हुये व्यक्त और अव्यक्त सबको ईश्वर धारण करता है। और अनीश जीवात्मा भोक्ता होनेके कारण बन्धनमें पडता है, परन्तु परमात्माको जानकर सब बन्धनोंसे छूट जाता है ॥

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

जिससे अधिक पर (दूर देशमें वर्तमान) और अपर (समीप) कुछ नहीं है। जिससे अतिसूक्ष्म कोई नहीं बडा भी कोई नहीं है। जो अकेला ही आकाशमें वृक्षकी भाँति निश्चल स्थिर है, उस अकेले एक पुरुषसे यह सम्पूर्ण जगत् पूर्ण हो रहा है।

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः ॥ (३।१२)

वह पुरुष महान् है, प्रभु सबका स्वामी है और इस प्रकृतिका सामीप्यमात्रसे प्रवर्त्तक है ॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ॥ (३।१३)

हृदयाकाशमें उपलभ्यमान (अंगुष्ठमात्र) वह अन्तर्यामी पुरुष सब मनुष्योंके हृदयमें प्रविष्ट है॥ उस महान् पुरुषका श्वेताश्वेतर ऋषि लक्षण बताते हैं—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ (३।१९)

वह पाणिपादसे रहित है परन्तु गतिशील और ग्रहण क्षम है, चक्षुरहित है परन्तु देखता है, कान नहीं हैं परन्तु सुनता है, ज्ञानका साधन मन नहीं है परन्तु बिना मनके ही सर्वज्ञत्वेन सम्पूर्ण कार्य कारण कलापको जानता है, उस सबसे श्रेष्ठ ईश्वरको महान् पुरुष कहते हैं।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥(६।८)

न उसका कोई कार्य है और न कारण है। न उसके समान ही और न उससे अधिक कोई दीखता है। उसकी विविध प्रकारकी पराशक्ति सुनी जाती है। ज्ञान, बल और क्रिया उसकी स्वाभाविकी है।

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ (६।१६)

उपादान कारण प्रकृति, क्षेत्रज्ञ जीवात्माका स्वामी है, गुणोंको वशमें रखनेवाला प्रभु है, जगत्के मोक्ष-स्थिति-बन्धका प्रयोजक है, वह विश्वकर्त्ता, विश्ववेत्ता, स्वयंभूः, (चेतन), कालका भी संहारकर्त्ता, गुणी और सर्वज्ञ है।

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको येनेदं सर्वं विचरति सर्वम्। तमीशानं पुरुषं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ (अथर्व शिर. ६)

जो प्रत्येक योनिका एक ही अधिष्ठाता है, जिससे यह सब जगत् चलता है, उस पूजनीय देव ईशान पुरुषको निश्चयसे जानकर अत्यन्त शान्तिको पाता है ॥ (अपूर्ण)

स्वाध्याय मण्डल पारडी. जि० सूरत द्वारा संचालित

संस्कृत भाषा प्रचार परीक्षायें

[१२ अगस्तसे चालू]

सम्पूर्ण भारतमें संस्कृत भाषाके प्रचारके लिये निम्नलिखित चार परीक्षायें चलाई जाती हैं।

१-प्रारम्भिनी, २-प्रवेशिका, ३-परिचय, ४-विशारद

उद्देश्य—१-संस्कृत भाषा सब भाषाओंकी जननी है इसे जानकर ही हम अपनी संस्कृतिको जान सकते हैं।

२-राष्ट्रभाषाको सुदृढ करने एवं पूर्णतः जानने के लिये संस्कृत-भाषाका ज्ञान अनिवार्य है।

३-विदेशोंसे सम्पर्क रखनेमें इसकी अधिक उपयोगिता है।

इन उद्देश्योंको सामने रखकर इन परीक्षाओंकी व्यवस्था की गई है।

प्रार्थना पत्र-१परीक्षा-तिथिसे दो मास पूर्व प्रार्थना पत्र कार्यालयमें आजाने चाहिये।

२ प्रार्थनापत्र तीन मासपूर्व कार्यालयसे प्राप्त किये जा सकते हैं।

पाठ्य पुस्तक सूची

१-संस्कृतभाषा प्रारम्भिनी परीक्षा

शुल्क-१-८-० (प्रश्नपत्र १) अंक १०० समय ३ घण्टे

(१) संस्कृत पाठमाला प्रथम भाग मूल्य ०--८--०
(सम्पूर्ण)

२--संस्कृतभाषा प्रवेशिका परीक्षा

शुल्क--२-८--० (प्रश्नपत्र २) प्रत्येक प्रश्नपत्र ३ घण्टे
पूर्णाङ्क १००

पहला प्रश्नपत्र १- संस्कृत पाठमाला भाग २ मूल्य ०-८-०
(६--७--१२--१३--१८--२६--२७ पाठ छोडकर)
२--संस्कृत पाठमाला भाग ३ मूल्य ०-८-०

द्वितीय प्रश्नपत्र १-संस्कृत पाठमाला भाग ४ ,, ०-८-०
२- ,, ,, ,, ,, ५ ,, ०-८-०

३-- संस्कृतभाषा परिचय परीक्षा

- (प्रश्नपत्र ३ तथा मौखिक परीक्षा)

शुल्क--३--८--० प्रत्येक प्रश्नपत्र ३ घण्टे
पूर्णाङ्क १००

पहला प्रश्नपत्र १-संस्कृत पाठमाला भाग ६ मूल्य ०-८-०
२- ,, ,, ,, ,, ७ ,, ०-८-०

द्वितीय प्रश्नपत्र १- संस्कृत पाठमाला भाग ८ मूल्य ०-८-०
२- ,, ,, ,, ९ ,, ०-८-०

तृतीय प्रश्नपत्र १- संस्कृत पाठमाला भाग १० मूल्य ०-८-०
२- ,, ,, ,, ,, ११ ,, ०-८-०

सूचनाः— (मौखिकके १०० अंक होंगे, मौखिक परीक्षामें उत्तीर्ण होना आवश्यक होगा)

संस्कृतभाषा विशारद परीक्षा

(प्रश्नपत्र ४ लेखन कार्य और मौखिक परीक्षा)

शुल्क ५-०-० प्रत्येक प्रश्नपत्र ३ घण्टे
पूर्णाङ्क १००

प्रथम प्रश्नपत्र १-संस्कृत पाठमाला भाग १२ मूल्य ०-८-०
द्वितीय प्रश्न पत्र १-संस्कृत पाठमाला भाग १३ ,, ०-८-०
तृतीय प्रश्नपत्र १- ,, ,, ,, १४ ,, ०-८-०
२- ,, ,, ,, १५ ,, ०-८-०
चतुर्थ प्रश्न पत्र १- ,, ,, ,, १६ ,, ०-८-०
२- ,, ,, ,, १७ ,, ०-८-०
३- ,, ,, ,, १८ ,, ०-८-०

परिचय
विशारद मौखिकके लिये कुल १०० पूर्णाङ्क। ५० लेखन कार्यके लिये, ५० मौखिकके लिये

लेखन कार्यमें परीक्षार्थीको पांच, पांच निबन्ध संस्कृतमें लिखने होंगे जो क्रमशः परिचय एवं कोविदके लिये लगभग २०० तथा ३०० शब्दोंके होंगे।

पत्र-व्यवहारका पता— श्री परीक्षा मन्त्री,
स्वाध्याय मण्डल, पो० पारडी, जि० सूरत

धान्य आदि अन्नको (अश्नासि) तू खाता है और (यत्) जिस शास्त्रप्रतिपादित (पयः) गौ, महिष्यादिके दूधको, अथवा नदी आदिके जलको (पिबसि) तू पान करता है और (यत्) जो (आद्यम्) समयानुकूल सुखसे भक्षण करने योग्य पदार्थ को और (यत्) जो (अनाद्यम्) स्वयं न ग्रहण करने योग्य दूसरोंके देने योग्य अथवा समयानुकूल न खाने योग्य पदार्थ आप खाता है अथवा दीनों और ब्राह्मणोंको देता है। (ते) तेरे (सर्वम्) परमात्माको अर्पण किये हुए उस सारे (अन्नम्) अन्नपानादि पदार्थोंको (अविषम्) दोषरहित अर्थात् अमृत-मय (कृणोमि) करता हूं ॥ १९ ॥

तुलना— गीतामें भगवानने उपदेश दिया है कि हमारे भक्त जो कुछ करें, वह सब मुझमें अर्पण करते रहें। फिर उनके भलेबुरेका मैं देखनेवाला हूं उनको स्वयं अपनी चिन्ता करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। उनका मुख्य कार्य यह है कि सब कुछ करते हुए आप कर्तृत्वाभिमानरहित होकर अहर्निश मेरे स्वरूप-चिन्तनमें मग्न रहें, उनका योगक्षेम मैं करनेवाला हूं।

वेदमें भी यही उपदेश है कि भगवद्भक्त जो खाता है जो पीता है, जो काम करता है, मैं उसे अमृत कर देता हूं यदि वह सब काम मेरे अर्पण किया होता है ॥

(२८) शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि

(भगव अ. ९, श्लो. २८)

अर्थ— (एवम्) हे अर्जुन! परमात्मार्पण बुद्धिसे ऐसे लौकिक और वैदिक कर्मोंको करता हुआ तू (कर्मबन्धनैः) कर्मोंके बन्धनरूप (शुभाशुभफलैः) सुख और दुःखमय फलोंसे (मोक्ष्यसे) छूट जावेगा। फिर (संन्यासयोगयुक्तात्मा) संन्यास-योग अर्थात् भगवत्में सब कर्मोंके अर्पण कर देनेसे कर्मोंके त्यागरूप संन्याससे युक्त हुए हुए अन्तःकरणवाला तू (विमुक्तः) कर्मबन्धनसे रहित होकर (माम्) मुझ परमात्मा-को (उपैष्यसि) प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

क्रत्वा दा अस्तु श्रेष्ठोऽद्य त्वा वन्वन्त्सु
रेक्णाः। मर्त आनाश सुवृक्तिम् ॥२६॥

(ऋ. ६।१६।२६ तै. ब्रा. २।४।६।२)

अर्थ— हे परमात्मन्! (अद्य) इस मनुष्य जन्ममें (क्रत्वा) तुम्हारी भक्तिमय कर्मसे (त्वा) तुझ परमात्माको (वन्वन्) अच्छी तरह भजन करता हुआ (दाः) सब कर्मोंको तुझमें अर्पण करता हुआ योगी (श्रेष्ठः) सबसे श्रेष्ठ अर्थात् कर्मबन्धनसे विमुक्त होनेसे सबसे श्रेष्ठ (अस्तु) है (सुरेक्णाः) समीचीन ज्ञानवाला (मर्तः) संन्यासयोगसे युक्त मनवाला मनुष्य (सुवृक्तिम्) परमात्म-विषयवाले सुन्दर ज्ञानको यद्वा परमात्मा की सुन्दर स्तुतिको (आनाश) प्राप्त होता है अर्थात् ऐसा योगी सर्वदा आपकी स्तुति करनेवाला होता है ॥ २६ ॥

तुलना—गीतामें सब कर्मोंको भगवदर्पण करनेवाला योगी कर्मबन्धनोंसे रहित होकर विमुक्त हुआ हुआ भगवच्चरणोंमें प्राप्त होता है ऐसा कहा है।

वेदमें भी लौकिक वैदिक कर्म करनेवाला प्राणी सब कर्मोंको भगवदर्पण करता हुआ परमात्माको प्राप्त हो जाता है, ऐसा कहा है।

(२९) समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाऽप्यहम् ॥

(भगव. अ. ९, श्लो २९)

अर्थ— हे अर्जुन! (अहम्) मैं भगवान् कृष्ण वासुदेव स्वरूप (सर्वभूतेषु) सब प्राणियोंमें (समः) समानरूप अर्थात् एकरस हूं। (मे) मेरा (द्वेष्यः) द्वेष करनेयोग्य प्राणी (न अस्ति) नहीं है और (प्रियः) मेरा कोई प्यारा (न) नहीं है। (ये) जो प्राणी (तु) तो (भक्त्या) अनन्यभक्तिसे (माम्) मुझ परमात्माको (भजन्ति) भजते हैं (ते) वह प्राणी (मयि) मुझमें अर्थात् आनन्द स्वरूप ब्रह्ममें रहते हैं (च) और (अहम्) मैं परमात्मा (अपि) भी (तेषु) विशेषकर उन भक्तोंके हृदयमें वर्तमान रहता हूं ॥ २९ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

कृणोत्यस्मै वरिवो य इत्थेन्द्राय सोममुशते
सुनोति। सध्रीचीनेन मनसाऽविवेनन्
तमित्सखायं कृणुते समत्सु ॥ ६ ॥

(ऋ. ४।२४।६)

अर्थ—हे जीवात्मन् ! (यः) जो मेरा उपासक ब्रह्मज्ञानी प्राणी (इत्था) इस प्रकार सब भूतोंमें रागद्वेषसे रहित होकर अनन्य-भक्तिसे (सोमम्) शान्त्यादि गुणवाले भक्तको (उशता) कामना करनेवाले (इन्द्राय) परमात्माका (सध्रीचीनेन) समाहित, सीधे (मनसा) अन्तःकरण (सुनोति) भजन करता है परमात्मा भी (अस्मै) इस ब्रह्मज्ञानी प्राणीको (वरिवः) ज्ञानमय धनवाला (कृणोति) कर देता है। (अविवेनन्) सबमें समरूप, किसीके साथ, रागद्वेष न करनेवाला एकरस परमात्मा (तम्) उस भक्तको (इत्) ही (सखायम्) सखारूप और (समत्सु) सब प्रकारकी प्रसन्नतामें (कृणुते) धारण करता है।

तुलना— गीतामें " परमात्मा सबमें एकरस रहता है वह किसीसे द्वेष या राग नहीं करता। और परमात्माका जो पुरुष रागद्वेषसे रहित होकर भजन करते हैं परमात्मा उनमें वास करता है और वे परमात्मामें वास करते हैं, ऐसा कहा है—

वेदमें भी जो भक्त परमात्माका ध्यान सच्चे मनसे करता है परमात्मा उसे अपना सखा बना देता है और उस भक्तको सब प्रकारका आनन्द प्राप्त होता है ऐसा कहा है।

(३०) अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः॥
(३१) क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(भगव. अ. ९, श्लो ३०, ३१)

अर्थ— हे अर्जुन ! (सुदुराचारः) ब्राह्मणादिवर्णोंमें जो प्राणी पूर्व अवस्थाओंमें अत्यन्त दुराचारी (अपि चेत्) यदि हो, परन्तु पिछली अवस्थामें (अनन्यभाक्) सत्संगतिको पाकर परमात्माकी अनन्य भक्ति करता हुआ यद्वा आत्म चिन्तनके विना किसी देहेन्द्रियके विषयको सेवन न करता हुआ (माम्) मुझ परमेश्वरको ही (भजते) भजता है (सः) वह प्राणी (साधुः) सत्पुरुष ही (मन्तव्यः) पण्डितोंसे माननेयोग्य है (हि) क्योंकि (सः) उसी पुरुषने (सम्यक्) समीचीनतया (व्यवसितः) मैं परमेश्वरके भजनसे सब प्रकारके पूर्वकृतपापोंसे छूट जाऊंगा ऐसा निश्चय किया है ॥३०॥ (क्षिप्रम्) मेरा भक्त बहुत शीघ्र ही (धर्मात्मा) पुण्यात्मा (भवति) हो जाता है फिर (शश्वत्) सदाके लिये (शान्तिम्) सब प्रकारकी विषय वासनाओंको त्याग संसारसे शान्तिके (निगच्छति) प्राप्त हो जाता है (हे कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (मे) मुझ परमेश्वरका (भक्तः) भक्त (न प्रणश्यति) कभी भी नाश नहीं होता (प्रतिजानीहि) इस प्रतिज्ञाको तू निश्चयसे जान ले ॥ ३१ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांसि। तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः॥ १८॥

(ऋ. ३।३०।१; वा. य. ३४।१८)

अर्थ— हे परमात्मन् ! ब्राह्मणादि वर्णोंमें जो प्राणी पूर्व अवस्थाओंमें अत्यन्त दुराचारी भी यदि (प्रयांसि) अपने प्राण, अपानादि हवियोंको भगवदर्पण (दधति) धारण करते हैं अर्थात् पिछली अवस्थामें भगवद्भजन करते हैं। और वह आपके भक्त (त्वत्) आपके लिये अर्थात् परमात्माके लिये ही (जनानाम्) प्रत्येक प्राणीकी (अभिशस्तिम्) उनकी की हुई हिंसादि बुराईको अथवा दुर्वचनात्मक हिंसाको (तितिक्षन्ते) सहन करते हैं अर्थात् वह प्राणी मन, कर्म, वचनको अपने वशमें करते हुए क्षमाशील साधु हो जाते हैं। वही क्षमाशील पुरुष (सोम्यासः) शान्तिको प्राप्त हुए हुए (सखायः) सबको समान दृष्टिसे देखनेवाले सबमें एक रस हुए हुए (त्वा) तुझ परमात्माको (इच्छन्ति) पानेकी इच्छा करते हैं। वही तुम्हारे भक्त (सोमम्) शान्त ब्रह्मको (सुन्वन्ति) सिद्ध करते है अर्थात् मुक्ति पदवीको प्राप्त होते हैं। (इन्द्र !) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! (त्वत्) आपके शाश्वत् अनन्य भक्तिसे भजन करनेसे (आ) सब ओरसे (कश्चन) कोई भी प्राणी (हि) निश्चयसे (प्रकेतः) परिपूर्ण ज्ञानवान् होजाता है ॥ १८ ॥

तुलना— गीतामें कहा है कि " प्राणी पहिले दुराचारी हो परन्तु पिछली अवस्थामें भगवच्छरणमें प्राप्त हो जावे तो उसके पूर्व दुष्कर्मोंका नाश हो जाता है और वह परमपवित्र साधु पुरुष हो जाता है फिर वह कभी संसारमें जन्ममरणके बन्धनको प्राप्त नहीं होता।

वेदमें भी अपने देहेन्द्रियाभिमानका परित्याग करके दूसरे

पुरुषों के कठोर वचनमय बाणोंको सहन करते हुए शान्तिको पाते हैं वे संसारसे उपरम होनेके अनन्तर भगवज्ज्ञान और भगवच्छरणद्वारा मुक्त हो जाते हैं, ऐसा कहा है।

(३२) मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(भगव. अ.९, श्लो. ३२)

अर्थ—(पार्थ!) हे पृथाके पुत्र अर्जुन! (ये) जो (पापयोनयः) अन्त्यजादि नीच या हिंसक जातिमें (अपि स्युः) भी उत्पन्न हुई हुई हो (तथा) वैसे (स्त्रियः) साधारण स्त्रियाँ (वैश्याः) केवल कृषि व्यापारादि कर्मोंमें संलग्न वैश्य और (शूद्राः) सत् शूद्र अर्थात् सेवा करनेवाली जाति है (ते अपि) वे भी (माम्) मुझ पतितपावन परमात्माको (व्यपाश्रित्य) आश्रय करके अर्थात् मेरी शरण आकर (परां गतिम्) परम श्रेष्ठ गतिको (यान्ति हि) निश्चयसे प्राप्त होते हैं॥ ३२ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

ये धीवा॑नो रथका॒राः क॒र्मा॑रा॒ ये म॑नी॒षिणः॑
उ॒प॒स्तीन् प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न् कृण्व॒भि॒तो॒ जना॑न् ॥ ६ ॥ (अथर्व. ३।५।६)

अर्थ=(हे पर्ण!) हे ज्ञानवान्! हे यते! (ये) जो (रथकाराः) रथ, आदिके बनानेवाले कारीगर शूद्रवंशवाले भी (धीवानः) परमात्माकी भक्तिमें बुद्धि रखनेवाले हैं और (ये) जो (कर्मारा) लोह, सुवर्णादि धातुओंके अथवा मृत्तिका पत्थरपदार्थोंके निर्माता शूद्रवंशोत्पन्न भी (मनीषिणः) अपने मनको अपने वशमें रखकर भगवत्की उपासनामें बुद्धिका धारण करनेवाले अर्थात् अध्यात्मविद्याके ज्ञाता हैं (उपस्तीन् तान्) मेरी अर्थात् परमात्माकी उपासनाके लिये उपस्थित हुए हुए (सर्वान्) उन सब लोगों-दुराचारी स्त्री वैश्य शूद्रादिको भी (अभितः) सब ओरसे (त्वम्) तू सदुपदेष्टा ज्ञानी और भक्तपुरुष (मह्यम्) मुझ परमात्माके लिये अपनी सत्संगतिके प्रभावसे (कृणु) तैयार कर ॥६॥

वेदगीता (मंत्रः)

उ॒त त्वा॒ स्त्री शशी॑यसी पुं॒सो भ॑वति॒ वस्य॑सी। अदे॑वत्रादरा॒धसः॑ ॥६॥
(ऋ. ५।६१।६)

अर्थ—हे मनुष्य! [त्वा] एक [स्त्री उत] स्त्री भी [अदेवत्रत्] देवपूजन अर्थात् परमात्माका पूजन न करनेवाले [अराधसः] दानादि धनसे रहित अर्थात् शुभ कर्ममें अपने धनको न लगानेवाले [पुंसः] लोभी पुरुषसे [शशीयसी] अतीव श्रेष्ठ और [वस्यसी] सब स्थानोंमें वासके योग्य अर्थात् मुक्तिधाममें वासके योग्य [भवति] होती है ॥ ६॥

तुलना— गीतामें स्त्रियाँ और वैश्यादि नीच स्त्रियाँ, तथा शूद्रकार्यासक्त वैश्य और सेवा परायण शूद्रादि नीच जातियाँ भी परमश्रद्धाभक्तिसे भगवद्भजन करनेसे परमपदको प्राप्त हो जाती हैं। ऐसा कहा है—

वेदमें भी रथकार, लोहकार, कर्मकार तथा स्त्री जाति भी भगवद्भजन न करनेवाले ब्राह्मणादि वर्णोंके पुरुषोंसे श्रेष्ठ मानी जाती हैं। ऐसा कहा है ॥६॥

(३३) किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥
(भगव. अ. ९, श्लो. ३३)

अर्थ — हे अर्जुन! [पुण्याः] शम, दमादिसे पवित्रात्मा और [भक्ताः] परमात्माकी भक्ति करनेवाले [ब्राह्मणाः] शुद्ध ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए हुए [तथा] वैसे [राजर्षयः] शुद्ध आचरणवाले सूक्ष्मदर्शी क्षत्रिय [पुनः] फिर [किम्] इनके लिये क्या कहना है अर्थात् वह अपना उत्तम कुल होनेके साथ पवित्रात्मा और भगवद्भक्त होनेसे ब्राह्मण और क्षत्रिय क्या परमपदको प्राप्त न होंगे? इसलिये हे अर्जुन! तू [इमम्] इस [अनित्यम्] विनाशी [असुखम्] सुखसे रहित [लोकम्] लोकको अर्थात् मनुष्यलोकको [प्राप्य] प्राप्त करके [माम्] मुझ परमात्माको [भजस्व] भज अर्थात् मुझ परमात्माकी उपासना कर ॥३३॥

वेदगीता (मंत्र)

यं विप्रा॑ उ॒क्थवा॑हसोऽभिप्र॒म॒न्दुरा॒यवः॑
घृ॒तं न पि॑प्य आ॒सन्यृ॒तस्य॒ यत् ॥ १३ ॥
(ऋ. ८।१२।१३)

अर्थ— (विप्राः) ब्रह्मज्ञान रखनेवाले बुद्धिमान् ब्राह्मण और (उक्थवाहसः) शस्त्रों और अस्त्रोंके उठानेवाले राजर्षि अर्थात् क्षत्रिय, (आयवः) मुक्तिकी प्राप्तिके लिये विस्तृत

*

विचारोंवाले भगवद्भक्त मनुष्य (यम्) जिस परमात्माको पाकर (अभिप्रमन्दुः) अत्यन्त आनन्दमें स्थित होते हैं। इस में कहना ही क्या है।

हे जीवात्मन्! इसलिये तू भी (ऋतस्य) सत्यस्वरूप परब्रह्मके (आसनि) मुख अर्थात् मुक्तिपदमें (यत्) जो ज्ञान है उसे (घृतं न) शुद्ध घृतकी तरह (पिप्ये) सेवन कर यद्वा पान कर ॥ १२ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः।
देवासो नित्ययाऽऽशिरा ॥ ५ ॥

(ऋ. ८।३१।५)

अर्थ— (देवासः) हे ब्रह्मज्ञानी विद्वानो! (या) जो (दम्पती) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि स्त्री पुरुष (समनसा) समाहित मनसे (सुनुतः) परमात्मभजनात्मक यज्ञको करते हैं। (च) और जो स्त्री पुरुष (आधावतः) भगवद्भक्तिकी ओर अपने आपको ले जाते हैं यद्वा ब्रह्मज्ञानसे अपने आपको शुद्ध करते हैं। और जो स्त्री पुरुष (नित्यया) सर्वदा रहनेवाले (आशिरा) भगवदाश्रयसे वास करते हैं इस बातमें कहना ही क्या है।

तुलना—गीतामें ब्राह्मण क्षत्रिय यदि भगवद्भक्ति करनेवाले हों तो क्या वह परमपदको प्राप्त न होंगे ? अवश्यमेव परम पदको प्राप्त होंगे ऐसा कहा है—

वेदमें भी ब्राह्मण और क्षत्रिय भगवद्भक्ति करनेसे पवित्र होजाते हैं। और भगवद्भक्तिके प्रभावसे अवश्यमेव परमपदको प्राप्त होते हैं ऐसा कहा है—

उपनिषद्में भी कहा है—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥

(बृहदा. ४।४।१४)

अर्थ— हम लोग इस संसारमें शरीर पाकर अज्ञाननिद्रासे रहित होकर किञ्चित् उस ब्रह्मतत्त्वको जान सकते हैं यदि ऐसा न हुआ तो बड़ी हानि होगी अर्थात् बड़े दुःखके कारण जन्म मरणको प्राप्त होना होगा अतः जो लोग उस अनन्त शक्तिमान् जगदीश्वरको जानते हैं वह अमृत स्वरूप होजाते हैं अर्थात् अमर होकर कैवल्य परमपदको पाते हैं और जो उस परमेश्वरको नहीं जानते वह बार बार सर्व दुःखमय जन्ममरण को प्राप्त होते रहते हैं।

(३४) मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

(भगव. अ. ९, श्लो. ३४)

अर्थ— हे अर्जुन! तू (मन्मनाः) मुझ परमात्मामें मनको लगानेवाला और (मद्भक्तः) मुझ परमात्माका अनन्य भक्त और (मद्याजी) मुझ परमात्माकी प्राप्तिके लिये नित्यनैमित्तिक यज्ञोंके करनेवाला (भव) हो जा और (माम्) मुझ परमात्माको ही (नमस्कुरु) शरीर, मन और वाणीसे नमस्कार कर। (एवम्) इस प्रकार (मत्परायणः) सर्वदा मेरे स्वरूपके ध्यानमें लगा हुआ (आत्मानम्) अपने अन्तःकरण (युक्त्वा) समाधिमें जोड़कर (आत्मानम्) सर्वव्याप्त (माम्) मुझ परमात्माको (एष्यसि) प्राप्त हो जावेगा ॥ ३४ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि॥५॥

(अथर्व. ३।८।५)

अर्थ— हे मुमुक्षु पुरुषो! मैं परमात्मा (वः) तुम अनन्य भगवद्भक्तोंके (मनांसि) चित्तोंको (सं नमामसि) अपने अनुकूल करता हूं अर्थात् तुम्हारे मनकी वृत्तियाँ अपने परमात्माके अनुकूल करता हूं। (वः) तुम मेरे अनन्य भक्तोंके (व्रता) नित्यनैमित्तिक, व्रत, तप आदि यज्ञ (सं नमामसि) अर्थात् परमात्माके अनुकूल करता हूं। अर्थात् तुम्हारी बुद्धि भगवद्भजनशील हो। (वः) तुम्हारे अर्थात् परमात्माके अनन्य भक्तोंके (आकूतीः) संकल्पों अर्थात् आध्यात्मिक विचारों (संनमामसि) स्वानुकूल करता हूं अर्थात् तुम्हारे नमस्कार भी परमात्माके अनुकूल हों। (ये) और जो (अमी)

(विव्रताः) विरुद्ध कर्म करनेवाले अर्थात् परमात्मासे विमुख (स्थन) हैं (तान्) परमात्मासे विमुख उन पुरुषोंको (वः) तुम्हारे सम्मुख ही (संनमयामसि) अपनी मर्यादाके स्थापित करनेके लिये और अपने भक्तोंकी रक्षा करनेके लिये इन सब को अच्छे अच्छे कर्ममें झुकवा देता है जिससे कि वह परमात्माके भक्त बन जावें ॥ ५ ॥

जैसे कहा है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्
(मुंड. ३।२।८)

अर्थ— जैसे भिन्न भिन्न नदियां बहती हुई अपने सिन्धु, गंगा, युमनादि नाम और रूपको त्यागकर समुद्रमें लय हो जाती हैं। वैसे विद्वान् अपने रूप और अपने नामसे रहित हुआ हुआ उस परम पुरुष परमात्मामें जा मिलता है।

तुलना— गीतामें परमात्मामें मन लगानेवाला, परमात्माका भक्त, परमात्माके नामपर संकल्पसे रहित होकर यज्ञ करनेवाला परमात्मामें जा मिलता है ऐसा कहा है—

वेद और उपनिषद्में भी मन, संकल्प और नित्यनैमित्तिक कर्मोंकी निष्कामभावसे परमात्मार्पण करता हुआ संसारसे विमुक्त होकर परम पुरुषोत्तम परमात्माको प्राप्त होता है, ऐसा कहा है॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु राजविद्या-राजगुह्य योगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

इति श्रीसारस्वतान्वयलैयाग्रामवास्तव्य न्यायभूषणोपपद-जगन्नाथशास्त्री-कृतायां वेदगीतार्थबोधिन्यां वेदगीता-हिन्दीभाषाटीकायां अष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ८ ॥

अथ भगवद्गीतायाः दशमोऽध्यायारंभः ।

वेदगीतायाः नवमोऽध्यायारंभः ।

श्री भगवानुवाच—

(१) भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।
[भगव. अ. १० श्लो. १]

अर्थ—श्रीभगवान् [महाबाहो !] बोले-हे महान् पराक्रमयुक्त भुजावाला अर्जुन ! [मे] मेरे [परमम्] परम श्रेष्ठ परमार्थदायक [वचः] वचनको [भूयः] फिर एकवार [एव] निश्चयसे ही [श्रृणु] सुन । [यत्] क्योंकि [अहम्] मैं श्री कृष्ण [हितकाम्यया] तेरी भलाई करनेकी इच्छासे [प्रीयमाणाय] वचनामृतको प्रीतिपूर्वक पान करनेवाले [ते] तुझ अर्जुनभक्तको [वक्ष्यामि] कहूंगा ॥१॥

वेदगीता (मंत्र)

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद्दधिष्व मे गिरः।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम् ।९।
[ऋ. मं. १।१०।९; निरु. ७।६]

अर्थ — [आश्रुत्कर्ण !] सब बातें चारों ओर अच्छी तरहसे सुननेवाले, कान रखनेवाले जन ! [इन्द्र !] हे जीवात्मन् [मम] मुझ परमेश्वरके [हवम्] वचनको [ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च] [नु] शीघ्र [श्रुधी] सुन। [मे] मुझ परमात्माकी [गिरः] वेदमयी वाणीको [दधिष्व] चित्त में धारण कर [चित्] पादपूर्तिके लिये है। [मम] मेरे परमार्थका उपदेश देनेवाले [इमम्] मुझसे उपदेश दिये हुए इस [स्तोमम्] वाक्यसमूहको [युजश्चित्] अपने साथ जुड़े हुए सखारूप मनके ही [अन्तरम्] अन्दर [कृष्व] कर अर्थात् जैसे तू मुझसे उपदेश दिये हुए वचनको प्यारा मानता है वैसे मेरी स्तुतिमें भी प्रीतिको कर ॥९॥

तुलना — गीतामें अर्जुनको फिर श्रद्धासे वचनामृत सुनाने के लिये तैयार किया गया है अर्जुनकी विशेष श्रद्धा और प्रीतिको देखकर भगवान् अर्जुनके संसारिक मोह छुडानेके लिये फिर उपदेश देते हैं ऐसा कहा है।

वेदमें भी भगवान्ने मनुष्योंको यही उपदेश दिया है कि वेदोपदेशको सावधान होकर अर्थात् कान खोलकर सुनना चाहिये । मनको मेरे उपदेशमें लगाना चाहिये ऐसा कहा है ।

(२) न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥५॥
[भगव. अ. १०, श्लो २]

अर्थ — हे अर्जुन ! [सुरगणाः] ब्रह्मादि देवगण [मे] मेरे [प्रभवम्] प्रभाव अर्थात् सामर्थ्यको [न विदुः] नहीं जानते । और [महर्षयः] भृगु, मरीचि, अत्रि प्रभृति दश ब्रह्माके मानसिक पुत्र भी [न] नहीं जानते । [हि] क्योंकि [अहम्] मैं परमात्मा [देवानाम्] ब्रह्मा, इन्द्रादि देवताओं का [च] और [महर्षीणाम्] भृगु अंगिरा आदि ऋषियोंका [सर्वशः] सब प्रकारसे [आदिः] मूल कारण हूं इन महर्षि और देवताओंसे प्रथम भी हूं ॥२॥

वेदगीता (मंत्र)

न यस्य देवा देवता न मर्ता
आपश्चन शवसो अन्तमापुः ।
स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च
मरुत्वान् नो भवत्विन्द्र ऊती ॥१५॥

[ऋ. मंड १।१००।१५]

अर्थ — [देवाः] इन्द्रादि देवता ज्ञानी विद्वान् अथवा वागादि इन्द्रियाँ [यस्य] जिस [देवता] ज्योतिःस्वरूप परमात्माके [शवसः] बल अर्थात् सामर्थ्यके [अन्तम्] अन्तको [न आपुः] प्राप्त नहीं होते । [आपः] भृगु व्यासादि आप्तवक्ता महर्षीगण भी [यस्य] जिस परमात्माके प्रभावके अन्तको [न] नहीं प्राप्त होते और [मर्ताः] मरनेवाले सब साधारण जीव भी [यस्य शवसः अन्तम्] जिस परमात्माके प्रभावके अन्तको [न] प्राप्त नहीं होते । [मरुत्वान्] जीवोंका स्वामी परमात्मा [त्वक्षसा] पापोंका नाश करनेवाले बलसे [क्ष्मः] पृथिवी [च] और [दिवः] आकाशके [प्ररिक्वां] अत्यन्त भिन्न स्थानपर न स्थापित करनेवाला है यद्वा इन दोनोंको भिन्न भिन्न करनेवाला [इन्द्रः] परमैश्वर्यवान् परमात्मा [नः] भक्तोंकी [ऊती] रक्षाके लिये [भवतु] होवे । जैसे उपनिषदोंमें कहा है—

" न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकम् " " न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति " " अचिन्त्यमग्राह्य ... ... " ओं बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति, " न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा "

इन श्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि इन्द्रियाँ और सूर्यादि देवता, तथा महर्षीगण कोई भी उसका अन्त नहीं पाता, तथा च केनोपनिषद्में—

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् । यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्" [केनो. २।९।१]

अर्थ—प्रजापति शिष्यको कहता है हे सोम्य ! यदि तू ऐसा मानता है कि उस ब्रह्मका स्वरूप सुवेद है अर्थात् वह ब्रह्म सुलभतासे जाननेयोग्य है । तब तू निश्चय कुछ नहीं जानता, जो कुछ जानता है वह ' अल्प ' करके जानता है (त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्) क्या तू उस ब्रह्मके स्वरूपको जानता है ? नहीं क्योंकि (यदस्य त्वम्) जो तू इस ब्रह्मको अध्यात्मोपाधि करके जीव और अधिदैव उपाधि करके शरीरसे परिच्छिन्न जानता है (च देवेषु) ब्रह्मा-विष्णु-महेशादिको ब्रह्मरूप करके जानता है यदि ऐसा हो ? तो इतना जाननेपर भी तू अल्प ही जानता है (अथ नु मीमांस्यमेव ते) तू पूर्णतया विचारपूर्वक देख, तू उसके स्वरूपको जानता है या नहीं !

तुलना—गीतामें " परमात्मा ही सब देवता, महर्षियोंका आदि कारण है इसलिये देवता और महर्षिगण परमात्माके अन्तको नहीं पा सकते ऐसा कहा है ।

वेद और उपनिषदोंमें भी यह बताया है परमात्मा दुर्ज्ञेय है उसके अन्तको ब्रह्मादि देवता तथा ऋषि महर्षि, और साधारण पुरुष अन्त नहीं पाते ऐसा कहा है—

(३)यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
[भगव. अ. १०, श्लो ३]

अर्थ—[यः] जो मुमुक्षु पुरुष [माम्] मुझ परमेश्वरको [अजम्] प्राकृतिक जन्मरहित [अनादिम्] कारण रहित अर्थात् नित्य [लोकमहेश्वरम्] सब लोकोंके स्वामी [वेत्ति]

जानता है, [सः] वह मुमुक्षु पुरुष [मर्त्येषु] सब मनुष्योंमें [असंमूढः] मोह रहित अर्थात् ज्ञानी [सर्वपापैः] आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक पापोंसे और पापके कार्य दुःख, दुर्योनि और दुर्गतियोंसे [प्रमुच्यते] अच्छी तरह छूट जाता है ॥३॥

वेदगीता (मंत्रः)

स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान । उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवंशे धीरः शच्या समैरत् ॥३॥

[ऋ. ४।५६।३ तै, ब्रा० २।८।४।७ ।]

अर्थ—[यः] जिस परमात्माने [इमे] दृष्टिगोचर होते हुए इन [द्यावापृथिवी] आकाश और पृथिवीको [जजान] उत्पन्न किया। नकि पृथिव्यादिसे स्वयं उत्पन्न हुआ, अतः उसे अज कहते हैं। [धीरः] वैदिक ज्ञान बुद्धिके देनेवाले [यः] जिस परमात्माने [उर्वी] विस्तीर्ण [गभीरे] हिल-चुल न करनेवाले [सुमेके] शोभनस्वरूप [रजसी] इस लोक तथा परलोकको [शच्या] अपनी शक्तिसे [सम्+ऐरत्] अच्छी रीतिसे चलाता है ऐसा जो जानता है [स+इत्] वह ज्ञानी ही [स्वपाः] अच्छे कर्मोंवाला अर्थात् पाप कर्मोंसे रहित [भुवनेषु] सब भुवनवासी जीवोंमें [आस] है ॥ ३ ॥

तुलना— गीतामें ईश्वरको अज, अनादि सर्वजगत् स्वामी, बताया है। उस ब्रह्मको जाननेवाला सब पापोंसे रहित बताया गया है।

वेदमें भी पृथिवी और आकाशादिके उत्पादक ब्रह्मको स्मरण करता हुआ पुरुष निष्पाप हो जाता है, यह सिद्ध किया है।

(४) बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।
(५) अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ४,५ ॥

(भगव. अ.१० श्लो ४,५)

अर्थ— हे अर्जुन ! (बुद्धिः) तत्त्व और अतत्त्वके निश्चय करनेवाली अन्तःकरण वृत्ति (ज्ञानं) सदसद्विवेक अर्थात् आत्मा क्या है देह क्या है इत्यादि तत्त्वका बोध (असंमोहः) किसी कार्य मोहित न होना अर्थात् किं कर्तव्य विमूढतासे रहित होना (क्षमा) किसीके क्लेश देनेपर अथवा किसी उपद्रवादिका सहन करना (सत्यम्) यथार्थ बातका कहना (दमः) बाह्येन्द्रियोंका निग्रह करना, (शमः) विषयोंसे उपरति अर्थात् शान्ति रखना (सुखम्) पूर्ण आह्लाद (दुःखम्) संताप (भवः) उद्भव (भावः) सत्ता अथवा (अभावः) विनाश (भयम्) डर और (अभयः) निर्भयता (च) और (एव) निश्चयसे (अहिंसा) किसीको किसी प्रकारकी पीडा न देना (समता) रागद्वेषसे रहित होकर शत्रु मित्रमें समान बुद्धि रखना (तुष्टिः) प्रारब्धानुसार यथालाभपर सन्तोष रखना (तपः) चित्तकी एकाग्रता अर्थात् भगवत्प्राप्तिके निमित्त किसी प्रकारका शारीरिक क्लेश उठाना, (दानम्) देशकालानुसार सत्पात्रको दान देना (यशः) शुभ कर्मोंके कारण लोकोंमें अपनी बडाई की प्रसिद्धि (अयशः) अपकीर्ति (एते) यह (पृथग्विधाः) भिन्न भिन्न प्रकारवाले (भूतानाम्) प्राणियोंके (भावाः) कहे हुए या न कहे हुए कामक्रोधलोभादि भाव अर्थात् विकार (मत्तः) मुझ परमेश्वरसे (भवन्ति) प्राप्त होते हैं अर्थात् मुझ परमात्मा द्वारा ही जीवोंको हानि, लाभ, यश, अपयश, सुखदुःखादि सब बातें प्राप्त होती है ॥ ४-५ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च । भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥ १७ ॥ समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः । संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥ १८ ॥

[अथर्व. ११।९।१७,१८]

अर्थ— [ऋतम्] मानसिक संकल्प अर्थात् बुद्धि यद्वा " कर्मोंका फल क्योंकि अन्यत्र कहा है " ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके " [सत्यम्] यथार्थ बातका कहना [तपः] चित्तकी एकाग्रता अर्थात् भगवत्प्राप्तिके निमित्त व्रतोपवासादि किसी प्रकारका शारीरिक क्लेश उठाना [राष्ट्रम्] राज्य सुख अथवा देहरूपी राज्यका सुख भोगना। [श्रमः] परिश्रम, अथवा विश्राम अर्थात् विषयोपभोगसे उपरति [धर्मः] अहिंसादि सर्वसाधारण धर्म [च] और [कर्म] वर्णाश्रमानुसार

शास्त्रविध्यनुकूल यज्ञयागादि कर्म [भूतम्] उद्भव और [भविष्यत्] आगे उत्पन्न होनेवाले सब पदार्थ [वीर्यम्] अभयताका बल, यद्वा सामर्थ्य [लक्ष्मीः] सब प्रकारका ऐश्वर्य, और उससे उत्पन्न हुआ हुआ यश [समृद्धिः] इष्ट फलकी अभिवृद्धि [ओजः] तेज [आकूतिः] इष्ट फलप्राप्तिके विषयका फल [क्षत्रम्] क्षात्र तेज [राष्ट्रम्] राज्यमें शत्रुजन्य दुःख [षट्उर्व्यः] छःउर्वियाँ अर्थात् द्यौ, पृथिवी, दिन, रात्रि, जल और औषधियाँ [संवत्सरः] द्वादश मासात्मक काल [इडा] वाणी [प्रैषाः] यज्ञादि कर्मोंमें चारों ऋत्विजोंके प्रेरणा करनेवाले मंत्र [ग्रहाः [सूर्य, चंद्र आदि ग्रह और उपग्रह [हविः] चरुपुरोडाशादि अन्न, यह तथा और भी नाना प्रकारवाले प्राणियोंके कहे हुए और न कहे हुए काम क्रोध· लोभादि भाव [बले] सबसे बलवान् [उच्छिष्टे] स्वप्रकाश परब्रह्म परमात्मामें रहते हैं ॥१७-१८॥ ज्ञान किसे कहते हैं ? अग्निपुराणमें कहा है—

सर्वभूतेषु गोविन्दो बहुरूपो व्यवस्थितः ।
इति मत्वा महाप्राज्ञः प्रतिकालं न कारयेत् ॥

पद्मपुराणमें मोहका लक्षण यह है·—

" मम माता मम पिता ममेयं गृहिणी गृहम् ।
एतदन्यं ममत्वं यत् स मोह इति कीर्तितः ॥१६॥

इस व्याकुलताके अभावको असम्मोह कहते हैं। मत्स्यपुराणाध्याय . १२ में क्षमाका लक्षण ऐसे कहा है—

आकुष्टोऽभिहितो यस्तु नाक्रोशो न हनेदपि ।
अदुष्टैर्वाङ्मनःकायैस्तितिक्षुश्च क्षमा स्मृता "

पद्मपुराणाध्याय १६ में सत्यका लक्षण यह है—

" यथार्थकथनं यच्च सर्वलोकसुखप्रदम् ।
तत् सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्ययम् ॥

पद्मपुराणमें दमका लक्षण यह है—

" कुत्सितात् कर्मणो विप्र ! यच्च चित्तनिवारणम् ।
स कीर्तितो दमः प्राज्ञैः समस्तैस्तत्त्व दर्शिभिः ॥

तुष्टिः--

"अधिगतार्थादन्यत्र तुच्छत्वबुद्धिः तुष्टिः"
"सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः "

तपका लक्षण यह है—

" मनसश्चेन्द्रियाणांमैकाग्र्यं परमं तपः "

उत्तम दानका लक्षण कूर्मपुराणमें कहा है—

" यदीश्वरप्रीणनार्थं ब्रह्मवित्सु प्रदीयते । चेतसा धर्मयुक्तेन दानं तद्विमलं शिवम् "

तुलना—भगवद्गीतामें बुद्धि, ज्ञानादियोंको परमात्माकी विभूति कहा है ।

वेदमें भी " ऋत, सत्य, तप आदियोंको परमात्मामें वास करनेवाली विभूति कहा है॥

(६) महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावाः मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥
[भगव. अ. १०, श्लो ६]

अर्थ— [पूर्वे] सृष्टिके आदिमें सबसे पहिले [सप्त महर्षयः] भृगु, अत्रि आदि सात महर्षि । [तथा] वैसे [पूर्वे चत्वारः] सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हुए सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कार यह चारों और [मनवः] स्वयंभू आदि मनु [मानसाः जाता] मेरे संकल्पमात्रसे प्रकट हुए हुए [मद्भावाः] मुझ परमेश्वरमें अपने चित्तको लगाये हुए मेरी विभूति रूप हैं । [लोके] इस संसारमें [येषाम्] जिन सप्तर्षि, स्वयंभू आदिकी [इमाः] यह सब दृष्टिगोचर होती हुई [प्रजाः] सारी प्रजाएं है ॥६॥

वेदगीता (मंत्रः)

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः । यत्र विजायते यमिन्यपतुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥१॥ [अथर्व. ३।२८।१]

अर्थ— [एषा] विधातासे प्रकट की हुई यह सृष्टि [एकैकया] एक एक व्यक्तिकी शकलसे [सृष्ट्या] मानस सृष्टिके रूपसे [संबभूव] उत्पन्न हुई । [यत्र] जिस मानसिक सृष्टिमें [भूतकृतः] भूतोंसे की हुई अर्थात् पार्थिवादि भूत विकार [विश्वरूपाः] नाना वर्णोंवाले [गाः] गौएँ तथा गौसे उपलक्षित मानुषी सृष्टि भी [असृज्यन्त] प्रकट हुई । यह प्रथम सृष्टि मानसिक उत्पन्न हुई है नकि मैथुनी [यत्र] जिस उत्पन्न हुई हुई मानसिक सृष्टिमेंसे [अपतुः] अपकृष्ट ऋतु और वीर्यवाली अर्थात् ऋतुकालसे भिन्न समयवाली मनुष्यादि सृष्टि [यमिनी] मैथुनके लिये पुरुषसे संगतिवाली

संस्कृतभाषा प्रचार परीक्षायें

(हमारी दृष्टिमें)

संस्कृतभाषा के प्रति जनताकी उत्तरोत्तर बढती हुई रुचिको ध्यानमें रखकर इन परीक्षाओं-का प्रारम्भ किया जा रहा है। हमारा विश्वास है कि जिस भारतीय (आबालवृद्ध) ने विदेशी भाषा सीखनेमें अपने जीवनके एक बडे भागके रूपमें अनेक वर्ष व्यय किये होंगे वे ही इस अपनी मूल मातृभाषाको केवल दो वर्षमें सीख सकेंगे। प्रत्येक भारतीय माताके स्तनपानके साथ साथ ही अपनी इस मातृभाषाको बहुत कुछ सीख लेता है। किन्तु विद्यार्थी अवस्थामें उसे अपनी शक्ति एवं बुद्धि विदेशी भाषाके अर्पण कर देनी पडती है। क्योंकि हम पराधीन थे; अतः हम वैसा करनेके लिये विवश थे। आज हम पूर्ण स्वतन्त्र हैं तथा उस स्वतन्त्रताके योग्य स्वयंको बनानेके लिये प्रयत्नशील भी हैं। ऐसे शुभ अवसरपर यह शुभकार्य आरम्भ करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है और साथ ही आशा और विश्वास भी।

विदेशी भाषा सीखकर हमें अपनेसे ही घृणा होने लगी थी। उसे सीखकर हम मनु, याज्ञवल्क्य, राम, कृष्ण, चाणक्य और कालिदासकी भाषा समझनेमें असमर्थ हो गये थे। हमें केवल यूरोपके महापुरुषोंकी भाषा समझमें आती थी; हम केवल उन्हीके गुणगानमें इतिकर्त-व्यता मानते थे। किन्तु आज हमें अपनेको समझनेकी और देखनेकी आवश्यकता है। आइये! मां भारतीके मन्दिरके पट आपके लिये खोले जा रहे हैं। बडी सरलतासे आप उसमें प्रविष्ट हो सकते हैं। आपके पूर्वज तो प्रतिदिन उस मां भारतीके चरणोंमें बैठकर ही भारतकी सभ्यता सुरक्षित रखकर सुखी थे। आप भी उनका अनुकरण और अनुसरण कीजिये। बाणभट्ट, भवभूति एवं हर्षके उदात्त एवं मनोरम काव्यारामका आनन्द लूटिये; मनु और याज्ञवल्क्यसे चर्चा कर दण्डशास्त्र का अध्ययन कीजिये; चाणक्यके पास पहुँचकर अर्थनीति और राजनीतिकी शिक्षा लीजिये; महाभारत और रामायणका अनुशीलन कर आर्योंकी विजयका महान् इतिहास जानिये।

कौन ऐसा भारतीय होगा जिसका हृदय यह सब जानने और देखनेको लालायित न हो। यदि यह भय हो कि संस्कृतभाषा अत्यन्त कठिन है तो उसे अपने हृदयसे निकालकर दूर फेंक दीजिये और विश्वास रखिये कि वह केवल दो वर्षके साधारण परिश्रमसे आपको आ जायेगी।

इन्ही अपने शुभ संकल्पोंसे प्रेरित होकर इन परीक्षाओंके प्रचारकी योजना हमने बनाई है। वर्षमें दो बार (प्रति ६ मास) ये परीक्षायें हुआ करेंगी। विवरण-पत्रिका तथा पाठ्यक्रम स्वतन्त्ररूपसे छापे गये हैं। उन्हें मंगानेपर पूरा विवरण ज्ञात हो सकेगा।

परीक्षा-मन्त्री
स्वाध्याय मण्डल, 'आनन्दाश्रम'
पारडी (जि॰ सूरत)

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। 'वैदिक धर्म' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। मूल्य केवल ॥।), डा० व्य० ≈)

सामवेद कौथुमशाखीयः
ग्रामगेय (वेय प्रकृति) गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् 'प्रकृतिगान' तथा 'आरण्यकगान' हैं। प्रकृतिगानमें अग्निपर्व (१८१ गान) ऐन्द्रपर्व (६३२ गान) तथा 'पवमानपर्व' (३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। आरण्यकगानमें अर्कपर्व (८९ गान), द्वन्द्वपर्व (८७ गान) शुक्रियपर्व (८४ गान) और वाचोव्रतपर्व (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल 'गानमात्र' छपा है। इसके पृष्ठ २८४ और मू० ४)रु. तथा डा०व्य०॥)रु. है।

आसन ।

"योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति"

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।≤) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, पारडी (जि. सूरत)

संपादक : पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

वैदिक धर्म

[जून १९५०]

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक
महेशचन्द्रशास्त्री, विद्याभास्कर

स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी (जि. सूरत)

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष ३१] [अङ्क ६

विषयानुक्रमणिका

भूल-सुधार

गताङ्कमें 'भारतीय इ० की रूपरेखा' की समालोचनाके अन्तर्गत भूलसे पं. जयदेवजी विद्यालङ्कार छपा है। पाठक वहांपर पं. जयचन्द्रजी विद्यालङ्कार पढें।

वर्ष ३१

अंक ६

क्रमांक १८

ज्येष्ठ, विक्रम संवत् २००७, जून १९५०

पराक्रमी वीरकी प्रशंसा

इदं नमो वृषभाय स्वराजे सत्यशुष्माय तवसेऽवाचि ।
अस्मिन्निन्द्र वृजने सर्ववीराः स्मत्सूरिभिस्तव शर्मन्त्स्याम ॥

(ऋ. १।५१।१५)

बलशाली, स्वयंतेजस्वी, सत्यपराक्रमी एवं प्रभावशाली वीरको लक्ष्य करके यह स्तोत्र गाया जाता है । हे शत्रुनाशक वीर ! इस संग्राममें हम सब वीर अपने पक्षके सारे विद्वानोंके साथ तुम्हारे पक्षमें आकर रहते हैं ।

जो सचमुच बलवान् होगा, तेजस्वी होगा, वास्तवमें पराक्रमी एवं प्रभावशाली वीर होगा और सचमुच ही शत्रुओंका विनाश कर अपनी रक्षा करता होगा, इस वीरके पक्षमें आकर ज्ञानियों एवं वीरोंको आकरके रहना चाहिये, तथा ऐसे श्रेष्ठ वीरका गुणगान करके उसीका यश बढाना चाहिये । जो निर्बल होगा, निस्तेज होगा, जो दूसरोंपर आश्रित रहता होगा, जो स्वयंका कर्तव्य भलीभांति न कर पाता हो, प्रभावशाली न हो, जिससे शत्रुका विनाश सम्भव न हो, अथवा जिसकी निर्बलताके कारण शत्रुओंकी शक्ति बढती हो, या जो अपनी रक्षा करनेमें समर्थ न हो, जो यह न जानता हो कि अपने पक्षको किस प्रकार समर्थ बनाया जावे, ऐसे के आश्रयमें जाकर रहना सर्वथा व्यर्थ है । वीरों और विद्वानोंको प्रथम यह जांच लेना चाहिये कि हमारा वीर नेता कैसा है और बादमें उसका पक्ष सुदृढ बनानेमें जुट जाना चाहिये । इस संसारमें विजयी होनेका यह तत्व है। निर्बल नेता राष्ट्रकी शक्तिका विनाश करते हैं, किन्तु तेजस्वी नेता अपने राष्ट्रकी शक्ति बढाकर राष्ट्रका वैभव भी बढाते हैं ।

ईश्वर का वर्णन

यह आदर्श शासक का वर्णन है।

हिन्दुधर्मके अधिकतर ग्रन्थोंमें ईश्वरका वर्णन दिखाई देता है। बौद्ध, जैन अथवा इसी प्रकारके जो ईश्वरको न माननेवाले पन्थ हैं उनमें ईश्वरका वर्णन नहीं है। किन्तु उन्होंने पूर्ण पुरुषका वर्णन लोगोंके सामने रखा है।

ईश्वरका वर्णन पढनेसे, उसका मनन करनेसे वक्ता व श्रोताके पाप नष्टप्राय हो जाते हैं, ऐसा समझा जाता है। किन्तु इससे भी अधिक इस ईश्वरवर्णनका प्रत्यक्ष उपयोग है। इस ओर बहुतही कम लोगोंका ध्यान आकृष्ट हुआ है।

ईश्वर इस सम्पूर्ण विश्वका शासक है। यह निर्दोष राजा है। इसके शासनमें दोष नहीं है। यह न्यायशाली है। इसके राज्यमें पक्षपात नहीं होता। यह दुष्टोंको दण्ड देता है, सज्जनोंका उत्तम पालन करता है। जनताके व्यवहारके लिये सुव्यवस्था स्थापित करता है। इस प्रकारका यह निर्दोष शासक है। ईश्वरका वर्णन करनेवाले इन लेखकोंने उच्च एवं निर्दोष शासकका जितना उत्तम वर्णन सम्भव था उतना उत्तम वर्णन उन्होंने अपनी कल्पनानुसार किया है। वही सब ईश्वरका वर्णन है।

विश्वका निर्दोष शासक राष्ट्रके शासकके सामने आदर्श-रूपमें उपस्थित किया जाना उचित है। राजा अथवा शासक अपने लिये ईश्वरको यदि आदर्श मान ले तो उसका वर्णन उसके लिये निःसन्देह मार्गदर्शक बन सकता है। इस दृष्टिसे ईश्वरके वर्णनके सम्बन्धमें विचार होना चाहिये।

ईश्वरीय वर्णनके कुछ गुण केवल उसीके लिये उपयुक्त होने जैसे होंगे, वे यदि हम एक ओर कर दें तथा ईश्वरके प्रचण्ड सामर्थ्यको किंचित् मर्यादित मान लें तो यह ईश्वरका वर्णन आदर्श राजा अथवा शासकका वर्णन हो सकेगा।

आजकल हमारे देशमें 'रामराज्य' की भाषाका प्रयोग प्रायः सभी करते हैं। वह रामराज्य आदर्श शासक हुए बिना नहीं हो सकता। यह आदर्श शासक कैसा हो, यह प्रश्न आज हमारे सामने है। वर्तमानकालमें अध्यक्ष 'अकर्ता' रहता है; उसे हम कूटस्थ आत्मा कह सकते हैं। आत्माको अकर्ता ही माना गया है। उसकी प्रकृति अर्थात् प्रजा, सम्पूर्ण प्रपंच चलानेवाली है। सबकुछ चला-ढाला यह किया करती है। आज हमारे मन्त्री एवं अधिकारी हमारे शासक हैं। इनके साथ ईश्वरका वर्णन लागू करके देखें। यहांपर 'ईश्वर' शब्द भी मननीय है। छोटे अधिकारी 'ईश' हैं तथा उनके ऊपर के अधिकारी 'ईश्वर' हैं।

इस दृष्टिसे ईश ईश्वर, महेश्वर. ये शब्द छोटेसे लेकर बडे अधिकारीतक के वाचक हो सकते हैं। इनके गुणधर्म क्या होवें तथा इनका आचरण कैसा हो, यह ईश्वरके वर्णन द्वारा हमारी समझमें आ सकता है।

परब्रह्म, ब्रह्म निष्क्रिय है। मानो वह हमारा अध्यक्ष है। और हमारी सरकार ईश, ईश्वर और महेश्वरके समान है। प्रकृतिमें व्यवहार करनेवाला यह ईश्वरांश है. प्रजामें स्थित यह राजसत्ता है, ऐसा समझा जा सकता है।

इस दृष्टिसे ईश्वरका एवं देवताओंका वर्णन, आदर्श-शासकके वर्णनके समान उपादेय हो सकते हैं। ग्रामाधिकारीसे लेकर प्रधान मन्त्रीतक सारे अधिकारी हमारी देवमालिकामें इन्द्रके दरबारीके रूपमें माने जा सकते हैं। इन सारे देवताओंका वर्णन एक प्रकारसे आदर्श राष्ट्रशासकोंका वर्णन है। आजतक हमने इस दृष्टिसे विचार नहीं किया। वह हमें करना चाहिये। यही निवेदन है।

-सम्पादक

वेदार्थके करनेमें साधन

(लेखक- पं. श्री. दीनानाथशर्मा शास्त्री, सारस्वत, प्रिन्सिपल सं. हिंदी महाविद्यालय, दरीबा देहली)

× ' वैदिक धर्म, के ३।१२ अङ्कमें हमने " वेदमें केवल यौगिकता भी नहीं है, केवल रूढिता भी नहीं है, किन्तु उसमें रूढि, यौगिक एवं योगरूढि तथा यौगिकरूढ भी शब्द हैं " इस विषयमें प्रकाश डाला है, उसमें हमने सफलता प्राप्त की या नहीं इसमें वैदिकविज्ञान विज्ञ विद्वानोंका अन्तःकरण ही प्रमाण है। अब वेदार्थ करनेके साधनोंपर अपने विचार उपस्थापित किये जाते हैं।

वेदमन्त्रार्थ-विधानमें पुराण-इतिहास, व्याकरण, निघण्टु-अथवा कोष, ब्राह्मणभाग, विनियोग, प्राचीन लोकव्यवहार, तथा स्वयं मन्त्रभाग और उसका देवतावाद, स्मृतियाँ दर्शन एवं निरुक्त आदि सभी मिलकर साधन हो सकते हैं। परन्तु अर्वाचीन कई विद्वान वेदमें पुराण सदृश वर्णन देखकर उसे हटानेके लिये पसीना बहाते हुए केवल निघण्टुकी शरण चले जाते हैं, अथवा अपनी इच्छानुसार केवल ब्राह्मणभागका उपयोग उसमें ले लेते हैं, पर ऐसा होनेपर उसमें अपूर्णता ही रह जाती है।

: जो केवल उस विषयमें निघण्टुपर ही निर्भर रहते हैं, वे कहते हैं कि " निघण्टु वैदिक कोष है, निघण्टुमें इस पदका यह अर्थ है, अतएव यहांपर यही अर्थ होना चाहिये। निघण्टुसे विरुद्ध अर्थ भला कैसे मानें " पर यह बात ठीक नहीं, क्योंकि निघण्टु ही वेदके अधीन होता है, वेद निघण्टुके अधीन नहीं होता। ' **निघण्टु** ' नामक वैदिक कोषमें उन उन शब्दोंके जो जो अर्थ लिखे हैं, वे उपलक्षण मात्र ही हैं, उनपर इयत्ताके निर्धारण की सीमा नियमित नहीं की जा सकती।

निघण्टुमें सारे वैदिक शब्द आये भी नहीं हैं, किन्तु थोडे ही आये हैं। वेदमें निघण्टुसे निर्दिष्ट अर्थोंसे भिन्न हुए शब्दोंके अर्थ ही नहीं होते-यह बात तो ठीक नहीं। देखिये ' निघण्टु ' ९।२।३ में ' विशः ' यह मनुष्यका नाम है, परन्तु वेदमें ' विशः ' का अर्थ ' गण ' अथवा प्रजा भी है। जैसे कि ' मानुषीणां विशां दैवीनामुत ' (अथर्ववेद. शौ. सं. २०।११।२) " दैवीर्विशः ' (यजु. वा. यं. ६।७) ' दैवीर्विशो मानुषीश्च ' ' यजु. वा. सं. १७।८६ ' ' मरुतो देवविशः (यजुः-शतपथ ब्रा. २।५।१।१२) यदि निघण्टुके अनुसार ' विशः, का ' मनुष्य ' ही अर्थ माना जाय, तो ' मानुषीणां विशाम् ' ' मानुषीश्च विशः ' यहांपर ' मानुषी ' शब्द व्यर्थ या पुनरुक्त होगा, क्योंकि-तब तो वहां ' विशः ' शब्द ही पर्याप्त है। इधर ' दैवीश्च-विशः ' ' दैवीनां विशाम् ' यहांपर भी ' विशः ' शब्द देना व्यभिचरित हो जाता है, क्योंकि-उक्त मन्त्रमें (अथर्व० २०।११। २) ' उत ' शब्दसे और यजुः १७। ८६। मन्त्रमें ' च ' शब्दसे दोनोंको पृथक् पृथक् कहकर दोनोंको परस्पर भिन्न सिद्ध करदिया गया है। इससे स्पष्ट है कि ' विशः ' का निघण्टुसे अनिर्दिष्ट ' गण ' प्रजा वा वैश्य, अर्थ भी प्रकरणानुसार हो सकता है। स्वा० दयानन्द जी ने भी अपने यजुर्वेदके भाष्यमें (१७।८६) ' विशः ' का ' प्रजाजन ' यही अर्थ किया है। इस विषयमें हम स्वा० दयानन्द जी की अन्य उक्तिसे भी अपने पक्षकी पुष्टि करते हैं-यह उनके अनुयायी भी देखें।

' निघण्टु ' [१। १४] में ' ब्रध्न ' शब्दका अर्थ अश्व [घोडा] है, यह बात स्वा० दयानन्दजीके ' निघण्टु ' की शब्दानुक्रमणिकाके ४८ पृष्ठमें भी देखी जा सकती है। परन्तु स्वा० दयानन्दजीने ' सत्यार्थ प्रकाश ' के अष्टम समुल्लास १४३ पृष्ठमें ' ब्रध्न ' का अर्थ ' सूर्य ' किया है। केवल ' सूर्य ' अर्थ ही नहीं किया, अपितु ११ वें समुल्लास १७४ पृष्ठमें ' निघण्टु ' के अनुसार किया हुआ भी मैक्समूलरका ' अश्व ' अर्थ खण्डित कर दिया है। देखियेइसपर स्वा० दयानन्दजीके शब्द " युञ्जन्ति ब्रध्नं " [ऋ० १। १६। १] इस मन्त्रका अर्थ मोक्षमूलर साहबने ' घोडा ' किया है। इससे तो जो सायणाचार्यने ' सूर्य ' अर्थ किया है, सो अच्छा है, परन्तु

× मेरे कवच सम्बन्धी गत लेखमें ' गुणहीनके उदाहरणमें , गुण होनेका यह शब्द छप गया है, पाठकगण सुधार लें। इसी प्रकार दूसरे ' यौगिकता ' वाले मेरे लेखमें ' रूढ वा योगरूढ शब्द ही विशेष्य रहा करते हैं, यहां विशेष छप गया है, पाठक गण सुधार लें।

इसका ठीक अर्थ ' परमात्मा ' है । मेरी बनाई ' ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकामें देखो । ''

इस विषयमें ' ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका ' के १७० पृष्ठमें स्वा० दयानन्दजीने लिखा है–

' क्वचिन्निघण्टौ अश्वस्यापि ' ब्रध्नारुषी ' नाम्नी पठिते। परन्तु अस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति, शतपथादि व्याख्यान विरोधात्, मूलार्थ विरोधात्, एक शब्देन अनेकार्थ ग्रहणाच्च। एवं सति भट्टमोक्षमूलरैः ऋग्वेदस्य इङ्गलण्ड भाषया व्याख्यानं यद् अश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतम्, तद्भ्रान्तिमूलमेवास्ति। सायणाचार्येण अस्य मन्त्रस्य व्याख्यायामादित्यस्य ग्रहणात् एकस्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं सम्यक् कृतमस्ति, परन्तु न जाने भट्ट मोक्षमूलरेण अयमर्थः आकाशाद् वा पातालात् गृहीतः "

अर्थात् किसी निघण्टुमें अश्वके भी ' ब्रध्न ' ' अरुष ' नाम पढे हैं, परन्तु इस मन्त्रमें वह अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें शतपथ आदिकी व्याख्यासे विरोध पडता है, मूल अर्थसे विरोध पडता है. और एक शब्दसे अनेक अर्थ भी लिये जाते हैं। जब ऐसा है तो मैक्समूलर साहबने ऋग्वेदकी अंग्रेजी भाषाकी व्याख्यामें जो कि घोडेका ही अर्थ लिखा है, वह भ्रान्तिमूलक ही है। सायणाचार्यने इस मन्त्रकी व्याख्यामें सूर्यका अर्थ करके एक अंशमें ठीक किया है, परन्तु न मालूम मैक्समूलर साहबने इस [घोडेके] अर्थको आकाशसे लिया, या पातालसे ? '

मान्य पाठक गण ? आपने देखा होगा, कि स्वा० दयानन्दजीने निघण्टुके अनुसार किया हुआ भी अर्थ नहीं माना। इस प्रकार ' निघण्टु के विषयमें स्वा० दयानन्दजीका अन्य मत भी देखें। ' भ्रान्ति निवारण ' [शताब्दी संस्करण ८८२ पृष्ठ] में स्वामीजीने पं. महेशप्रसाद न्यायरत्नको प्रत्युत्तर देते हुए लिखा है–" कदा-चित् वे [पं महेशजी] कहें कि ' निघण्टु ' में जो इश्वरके नाम हैं, उनमें अग्नि शब्द नहीं आता। इससे मालूम हुआ कि ' अग्नि ' परमेश्वरका वाची नहीं समझना चाहिये। जैसे ' निघण्टु ' के अ० २ खं० २२ में जो राष्ट्री, अर्यः, नियुत्वान, इनः, ये चार ईश्वरके अप्रसिद्ध नाम हैं और यह नहीं हो सकता कि जो नाम इश्वरके ' निघण्टु ' में हों, वे ही मानें जांय, औरोंको विद्वान् लोग छोड देवें। परमेश्वरके तो असंख्यात नाम हैं, और आप क्या चार ही नाम ईश्वरके समझते और क्या ' निघण्टु ' में न लिखनेसे ब्रह्म, परमात्मा आदि ईश्वरके नाम नहीं हैं ? यह पण्डितजी की बिल्कुल भूल है। जैसे ब्रह्म आदि ईश्वरके नाम निघण्टुके बिना लिखे भी लिये जाते हैं, वैसे अग्नि आदि भी परमेश्वरके नाम हैं "। इस स्वा० दयानन्दजीके ही कथनसे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि–वेदोंके अर्थका अवलम्बन केवल निघण्टुपर निर्भर करना उचित नहीं।

गत लेखमें हम बता चुके हैं कि जो अर्वाचीन विद्वान् वेदमें यौगिकतामात्रको मानते हैं, और रूढि रूपसे अर्थ करने वालों पर आक्षेप करते हैं, वे भी रुढि रूपसे अर्थ करनेसे अपने आपको नहीं बचा सकते। स्वयं वे ' हस्तग्राभस्य दिधिषोः (ऋ० १० । १८ । ८) ' पुनर्भुवा परः पतिः ' (अथर्व० ९ । ५ । २८) इत्यादिमें ' दिधिषोः ' आदिका ' गर्भस्य निधातुः ' इत्यादि यौगिक अर्थ छोडकर ' पुनर्भूर्दिधिषू रुढा द्विस्तस्या दिधिषूः पतिः, [२ । ६ । २३] इस प्रकार ' अमर कोष ' का अवलम्बन करते हैं। परन्तु यदि कोई प्राचीन विद्वान् मन्त्रका वास्तविक अर्थ करे तो उसके प्रभावको हटानेके लिये कहा जाता है कि यह वेदके अर्थ करनेमें ' अमर कोष ' का अवलम्बन करता है ! ! "

पर वस्तुतः यह आक्षेपका स्थान नहीं। वेदमें यदि कतिपय शब्दोंमें निघण्टुका उपयोग होता है, तो शेष शब्दोंका अर्थ करनेके लिये 'अमर कोष' आदिका उपयोग भी अयुक्त नहीं है। क्या उक्त आक्षेपकर्ता भी वेदके दो-तीन शब्दोंको छोडकर शेष वैदिक शब्दोंमें 'अमर कोष' आदि लौकिक कोषोंका अवलम्बन नहीं करते ? क्या वे वैदिक प्रक्रियासे साध्य कतिपय प्रयोगोंके अतिरिक्त वेदस्थित प्रयोगोंकी सिद्धिके लिये व्याकरणके लौकिक सूत्रोंका उपयोग नहीं लेते ? यदि ऐसा वे करते हैं; तो कई वैदिक शब्दोंके लिये यदि निघण्टुका उपयोग किया जाता है, तो वेदके कतिपय शब्दोंके लिये लौकिक 'अमर कोष' आदिका उपयोग भी किया जा सकता है।

क्या निघण्टुमें वेदके सब शब्द आ गये हैं जिससे वेदमें 'अमर कोष' आदिके अनुसारअर्थ करते हुए प्राचीन विद्वानोंपर आक्षेप किया जाता है ? वस्तुतः यहांपर वादियोंका केवल स्वार्थ ही है। स्वयं वे अपने अवसरमें निघण्टुकी उपेक्षा करते हैं, परन्तु दूसरेके लिये वे निघण्टुका सार्वत्रिक प्रवर्तन चाहते हैं। यह कहांका न्याय है ? 'अमर कोष' भी उसके कर्ताकी स्वतन्त्र कृति नहीं है, अपितु 'अग्नि पुराण' तथा व्याकरणके

आधारसे वह बनाया गया है। इसी बातको अमरसिंह स्वयं **समाहृत्याऽन्य तन्त्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः। सम्पूर्णमुच्यते वर्गैर्नाम लिङ्गानुशासनम्।** (अमरकोष १।१।२) इस पद्यसे कहते हैं। तब वेदके भाष्यरूप पुराणनें, तथा वेदके मुख्य अङ्ग व्याकरणने यदि वेदास्थित उन उन पदोंके वे वे अर्थ बताये हैं, तब उसमें अन्य किसको आपत्ति हो सकती है? क्या हम पुराण कोषको न मानकर वादियोंके कल्पना कोष-को ही जो कि अप्रामाणिक है—प्रमाणीकृत करें, क्योंकि 'निघण्टु' में तो सम्पूर्ण वैदिक शब्द है ही नहीं? इसपर आक्षेप्ताओंको विचार करना चाहिये। फिर प्राचीन विद्वानोंपर आक्षेप क्यों? क्या 'अमर कोष' आदिसे निर्दिष्ट शब्द वेदमें नहीं आते?

जिस 'अग्नि पुराण' से 'अमर कोष' संगृहीत किया गया है, उसी 'अग्नि पुराण' के विषयमें स्वाध्याय शील विद्वान् पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी की सम्मति पढें। 'महा भारतकी समा-लोचना' के प्रथम भाग पृष्ठ १२ पर वे लिखते हैं – "पुराण ग्रन्थोंमें सम्पूर्ण प्राचीनतम कथाओंका संग्रह है, और उससे अर्वाचीन ऐतिहासिक कथाओंका संग्रह 'रामायण' 'महाभारत' नामक इतिहास ग्रन्थोंमें किया गया है। संग्रहकी दृष्टिसे पुरा-णोंमें 'अग्निपुराण' और इतिहासोंमें 'महाभारत' श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। आजकल जिस प्रकार 'विश्वकोष' अर्थात् सारग्रंथ बनते हैं उसी प्रकार प्राचीन ऋषि मुनियोंके बनाये विश्व ग्रन्थ ये हैं। **सबसे प्राचीन आर्योंका विश्वकोष 'अग्नि पुराण' था,** और उसके पश्चात् बना हुआ विश्वकोष 'महाभारत' है।'

यदि ऐसा है; तो वैदिक शब्दोंका भी यदि प्राचीन विद्वान् लौकिक शब्दोंकी तरह अर्थ करते हैं, तो इसमें निर्मूलता क्या है? 'मीमांसा दर्शन' में 'प्रयोग चोदनाऽभावात् अर्थैकत्वमवि-भागाद्' (१।३।३०) इस सूत्रके शाबर भाष्यमें सिद्धान्तपक्ष, कहा गया है कि—**य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः, त एव एषामर्थाः** – इति

......न तेषांमेषां च विभागमुपलभामहे। अतो नान्यत्वं च वदामः। ...... यदि च अन्ये वैदिकाः [शब्दा अर्था वा]' तत उत्तानादीनामर्थो न गम्येत। तत्र नतरां शक्येत अविज्ञात लक्षणं गोत्वं विज्ञातुम्। ...... तस्मात् [वेदे] त एव शब्दा अर्थाश्च, यहांपर लौकिक वैदिक शब्दोंमें वा अर्थोंमें भेद नहीं कहा गया है। यहां अधिकरण भी 'लोकवेदयोः शब्दैक्याधिक-रणम् (१०)' यही रक्खा गया है। 'अविशिष्टश्च वाक्यार्थः [१।२।४०] इस मीमांसा सूत्रका शाबरभाष्य भी यही है–' अविशिष्टस्तु लोके प्रयुज्यमानानां वेदे च पदानामर्थः' इस प्रकार हमारे पक्षकी पुष्टि हुई।

कई लोग वेदमें इतिहास पुराणानुरूप अर्थको होता हुआ देखकर उसमें परिवर्तनार्थ **ब्राह्मण भागका** आश्रय करने लग जाते हैं। इसपर हम उन लोगोंके सन्तोषार्थ स्वयं कुछ न कहकर आर्यसमाजी विद्वान् अथर्ववेद भाष्यकार श्री राजाराम शास्त्रीजीका मत देते हैं। अथर्ववेदके भाष्यकी भूमिका १९-२० पृष्ठमें वे लिखते हैं—

कालकी दृष्टिसे मन्त्रोंके सबसे पुराने व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। उनका **मुख्य विषय** यज्ञोंकी प्रक्रिया और उनके फलोंका वर्णन है, **नकि मन्त्रोंका व्याख्यान।** तथापि प्रस-ङ्गसे कई मन्त्रों वा मन्त्रखण्डों वा पदोंका व्याख्यान भी उनमें पाया जाता है, और यह भी कि–उनमें कहे मन्त्रोंके विनियोगसे भी मन्त्रार्थपर प्रकाश पडता है। इस प्रकार 'ब्राह्मण' हमें मन्त्रार्थ जाननेमें एक उत्तम सहायता देते हैं। पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ब्राह्मणोंमें भक्तिवाद बहुत है।..... यदि कोई ब्राह्मणोंके उन प्रमाणोंके आश्रयसे किसी शब्दके भक्तिवाद-वाले अर्थ ले, तो वह ऐसी भूल करेगा, जैसे कोई 'आयुर्वै घृतम्' प्रमाणके सहारेपर 'आयु' का अर्थ 'घृत' और 'घृत' का अर्थ 'आयु' करे। इसलिये ब्राह्मण भागके भक्ति-वाद मन्त्रार्थके निर्धारणमें प्रमाण नहीं माने जासकते...सो यह स्पष्ट है कि–ब्राह्मणग्रन्थोंसे भी मन्त्रार्थका निर्धारण करनेमें पूरी सावधानता चाहिये"।

निरुक्तकारने भी इस विषयमें प्रकाश डाला है। 'वैश्वानर' शब्दके अर्थके प्रकरणमें वादीने 'आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः, इस ब्राह्मण भागके प्रमाणसे सूर्यको ही वैश्वानर सिद्ध करनेकी चेष्टा की थी, परन्तु उसके उत्तरपक्षमें श्री यास्कने कहा–' **यथा एतद् ब्राह्मणं भवतीति, बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति** पृथिवी वैश्वानरः [शत. १३।३।८।३] संवत्सरो वैश्वानरः [शत. ५।२।५।१५] 'ब्राह्मणो वैश्वानरः' [तै० ब्रा. ३।७।३।२] [निरुक्त ७।२४।६] इससे सिद्ध हुआ कि–ब्राह्मण भागमें भक्तिवाद [अर्थवाद] बहुत है, तब उससे कहे हुए एक अर्थको लेकर वेदसे पौराणिक अर्थ हटानेका प्रयत्न साहसमात्र है। तब वेदके अर्थ निर्णयमें जहां इन सभीकी आवश्यकता है, वहाँ **पुराण-इतिहासकी**

भी आवश्यकता है,क्योंकि इतिहास पुराणोंने भी वेदार्थके विशदीकरणमें पर्याप्त चेष्टा की है। तब '**इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् । बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति**' [महाभा० आदिपर्व १। २६७] '**भारत व्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः**' (श्रीमद्भागवत १।४।२९) इस उक्तिसे इतिहास-पुराणानुसार एक वाक्यताकी नीतिसे किया हुआ वेदार्थ लाभदायक तथा न्याय्य होगा। यह बात विद्वानोंको याद रख लेनी चाहिये। इस विषयमें 'वैदिक धर्म' सम्पादक पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर महोदयकी सम्मति भी उध्दृत की जाती है। 'महाभारतकी समालोचना' के प्रथमभाग १७। १८ पृष्ठमें उन्होंने लिखा है-

'इतिहास और पुराणोंसे वेदके अर्थका प्रकाश करें, क्योंकि थोडी विद्या पढे हुए जनसे वेदको भय उत्पन्न होता है कि-यह मुझे बिगाडेगा। इसका तात्पर्य यह है कि इतिहास और पुराण ग्रन्थोंमें ऐसी कथाएं हैं कि-जो वेदके अर्थका प्रकाश करनेवाली हैं। इसलिये वेदका सत्य अर्थ जाननेके लिये उक्त कथाओंका जानना अत्यावश्यक है। अथवा यों कहा जा सकता है कि-वेदका सत्य अर्थ जाननेके जो अनेक साधन होंगे, उनमें एक यह भी साधन है कि वेदके मूल मन्त्रोंके साथ पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओंकी तुलना करना"। **व्याकरण** तो वेदार्थके निर्णयार्थ मुख्य ही है। इसी कारण 'महाभाष्य' पस्पशान्हिकमें कहा गया है-**षट्सु अङ्गे प्रधानं व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति**'। अन्यथा स्वेच्छानुसारितासे अर्थका अनर्थ हो सकता है। व्याकरणके विना तो नहीं जाना जा सकता कि वेदमें 'नताद् ब्राह्मणम्' यहांपर 'नताद्' यह पञ्चम्यन्त है या द्वितीयान्त? 'तुरीयस्ते मनुष्यजाः' (अथर्व. १४। २। ३) यहांपर 'मनुष्यजाः' शब्द बहुवचनान्त है अथवा एकवचनान्त? तथापि व्याकरणका दुरुपयोग भी वेदके विषयमें नहीं करना चाहिये, जैसा कि आजकल किया जाता है।

इस प्रकार **प्राचीन लोकव्यवहार** भी कभी वेदार्थ निर्णयार्थ उपयुक्त साधन सिद्ध होता है, क्योंकि लोग परम्परासे वेदोक्त कार्य करते रहे हैं, उसमें कहीं विपरिणाम वा कहीं ह्रास होगया हो-यह भिन्न बात है, परन्तु वैसे लौकिक व्यवहारका ज्ञान न होनेसे कई महाशय उन मन्त्रोंका स्वेच्छाकल्पित अर्थ कर दिया करते हैं, इसका निम्न उदाहरण पर्याप्त होगा। 'अथर्ववेद, के छठे काण्डमें १४० वें सूक्तका विनियोग यह है कि उत्पन्न हुए शिशुके ऊपरके दो दांत यदि पहले उगें, तो उस दोषके परिहारार्थ धान्य जौ तथा तिलोंका होम करना पडता है। धान, जौ, तिल तथा माषको उक्त सूक्तसे अभिमान्त्रित करके उन दांतोंसे कटवाया जाता है। उसी सूक्तमें यह मन्त्र है—

'**यौ व्याघ्रौ अवरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च। तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते ! शिवौ कृणु जातवेदः !** (अथर्व० शौ० सं० ६। १४०। १) यहांपर अवरूढ अर्थात् ऊपरकी पंक्तिमें निम्न मुख होकर उत्पन्न हुए दो दांतोंका अशुभ-फल माता पिताकी मृत्युरूप कहा है, यहांपर उक्त दुष्फलके दूर करनेकी प्रार्थना है। ऊपरके दो दांतोंके पहले उगनेमें दुष्फलका कारण यह है कि-पहले शिशुके निचले दाँतोंका उत्पन्न होना ही प्राकृतिक तथा शुभ जनक है, इसीलिये 'अथर्ववेद' के 'गोपथ ब्राह्मण' में कहा गया है कि '**तस्माद् अधरे दन्ताः पूर्वे जायन्ते, परे उत्तरे.** (१। ३। ७)। इसीलिये ही उपरके उगे हुए दो दाँतोंसे निम्न मन्त्र द्वारा प्रार्थना की जाती है कि-'**व्रीहिम् अत्तं यवं अत्तम्** (युवां) **अथो माषम् अथो तिलम्। एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ ! मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च**' (अथर्व. ६। १४०। २) हे उपरके दाँतों ! तुम धान, जौ, माष, और तिल खाओ। यही तुम्हारे लिये भाग रक्खा गया है, माता पिताको मत मारना, यही (माता-पिताको मारना) उन ऊपरके दाँतोंका दुष्फल है। यहांपर उक्त विनियोग चरितार्थ होता है। इस प्रकार आगे भी मन्त्रमें कहा है—'**अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु दन्तौ! मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च,** (अ० ६। १४०। ३) अर्थात् हे उपरके दो दाँतों ! तुम दोनोंका अशुभ फल कहीं अन्यत्र पडे, तुम अपनी उत्पत्तिके दुष्फलस्वरूप माता पिताको मत मारना।

यह बात हमारे मुलतान जिलेकी स्त्रियाँ भी जानती हैं, क्योंकि-परम्पराका ज्ञान स्त्रियोंको भी रहा करता है। तभी तो धर्मसूत्रोंमें कहा गया है—'**यत् स्त्रिय आहुस्तत् कुर्वन्ति**' (आपस्तम्ब धर्मसूत्र २। १५। ९) इसी प्रकार 'अग्निवेश्य गृह्यसूत्र' में भी बहुत वार आया है। इसीकारण स्त्रियां अपने शिशुके पहले निचले दाँतोका उगना चाहती हैं। परन्तु इस लौकिक व्यवहारसे अनभिज्ञ पुरुष उक्त मन्त्रका अर्थ अन्य ही करेगा। जैसे कि '**शक्तिरहस्य**' पुस्तकमें श्री यशःपाल सिद्धान्तालंकारने उक्त मन्त्र (अ० ६। १४०। २ का) यह

अर्थ किया है । हे दाँतों ! तुम धान खाओ, जौ खाओ, माष खाओ तथा तिल खाओ । यह अन्न ही तुम्हारा नियत हिस्सा है। इसके भक्षणसे तुम्हें रमणीय फल मिलेगा । तुम पितृशक्ति और मातृशक्तिसे सम्पन्न पशुओंकी हिंसा न करो '(पृ. ११७) इस मन्त्रको लेखकने बलात् मांसभक्षणके निषेधमें जोड दिया है। इस प्रकार अर्थ करनेपर जहां मन्त्रस्थित ' दन्त ' शब्दका द्विवचन व्यर्थ होता है । वहांपर गोधूम (गेहूं) के वर्णन न होनेसे वह अभक्ष्य भी सिद्ध हो जाता है । फिर मातृपितृ शक्तिसे रहित, नपुंसक वा वन्ध्या पशुओंका मारना तब वैध सिद्ध हो जायगा । परन्तु यह अनिष्ट है । इस कारण मन्त्रार्थमें लोकव्यवहार भी अपेक्षित होता है ।

इससे **विनियोगकी** व्याख्या भी हो गई । श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, तथा ब्राह्मण भाग आदिसे कहा हुआ मन्त्रोंका विनियोग भी मन्त्रार्थमें सहायक सिद्ध होता है । बहुत मन्त्र वेदमें बार-बार आते हैं । यदि विनियोग न हो तो वेदमें पुनरुक्ति दोष हो जाय । परन्तु भिन्न भिन्न विनियोगवश उस मन्त्रके अर्थमें भेद भी-चाहे वह थोडा ही क्यों न हो-अनिवार्य हो जाता है। तब पुनरुक्तिको अवकाश नहीं रहता ।

इस प्रकार पदपाठसे भी अर्थमें सहायता मिलती है। **' उत शूद्रे उतार्ये '** (१९ ६२।१) यह मन्त्र 'अथर्ववेद' का है यहांपर **'उतअर्ये'** यह छेद है, अथवा 'उत आर्ये' यह सन्देह उपस्थित होता है । उसमें पदपाठका प्रामाण्य होता है । पदपाठ इतना प्रमाणभूत होता है कि जिस मन्त्रका पदपाठ नहीं होता, उस मन्त्रको खैलिक माना जाता है । पदपाठने उक्त मन्त्रका ' उत शूद्रे उत आर्ये, यही छेद किया है । यही बात स्वा० दयानन्दजीने ' सत्यार्थ प्रकाश ' (८ समुल्लास १४० पृष्ठ) में स्वीकृत की है । यही बात श्री नरदेव शास्त्रीजीने अपने 'ऋग्वेदालोचनमें, श्री राजारामजी शास्त्रीने अपने ' अथर्ववेद भाष्यमें ' श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी महोदयने अपने ' वेदामृत ' वा ' छूत अछूत ' पुस्तकमें, श्री रामगोपाल जी वैद्यने अपने अस्पृश्य निर्णय ' में तथा चतुर्वेद भाष्यकार श्री जयदेव विद्यालंकार तथा श्री क्षेमकरण दास त्रिवेदी महाशयने अपने अथर्ववेदके भाष्यमें स्वीकृत की है । ये प्रायः आर्य समाजी विद्वान् हैं । इस प्रकार दूसरे विद्वान् भी स्वीकार करते हैं । इस मन्त्रसे वेद शूद्रको आर्यसे भिन्न सिद्ध करता है । परन्तु ' जाति निर्णय ' में श्री शिवशंकर काव्यतीर्थने इन सबसे विरुद्धता की है, यहां ' अर्थे ' (वैश्ये) ऐसा पदच्छेद माना है । अतः उनका अर्थ भी माननीय नहीं । इस प्रकार पदपाठमें ' अवसाय पद्वते रुद्र मृळ (ऋ० १० । १६९ । १) इस मन्त्रमें ' अवस ' शब्दके चतुर्थ्यन्त होनेसे अवग्रह नहीं किया जाता । ' अवसाय अश्वान् ' (ऋ० १ । १०४ । १) वहांपर ल्यप् अन्तवाला होनेसे भिन्न भिन्न पद होनेके कारण अवग्रह (पदच्छेद) किया जाता है, इससे मन्त्रार्थमें सहायता मिलती है ।

इस प्रकार अर्थ विधानमें ' **निरुक्त** ' का प्रयोजन भी व्याख्यात हो गया । स्वयं **मन्त्रभाग** भी अपने अर्थमें इस कारण प्रमाण है, क्योंकि वह एक स्थलमें जिस सिद्धान्तको कहता है, दूसरे स्थलमें भी वह कहीं उसका अनुवाद देता है वा उसका संकेत देता है । इसीलिये मीमांसामें तात्पर्य निर्णयमें अभ्यास (द्विरुक्ति) को भी स्वीकृत किया गया है । वैदिक **देवता वाद** तो उस उस मन्त्रके अर्थ विधानमें प्राण अथवा अवलम्ब भूत है-यह तो स्पष्ट ही है । इस प्रकार **स्मृतियां दर्शन** तथा **शिक्षा-प्रातिशाख्य** आदि भी जहाँ-तहाँ वेदका अनुवाद करते हैं, इस कारण ये सब भी वेदार्थमें साधन रूपसे गणनीय हैं । इन सबके उदाहरण देनेके लिये यहाँ स्थान नहीं है, पर इस विषयमें हमने स्वप्रणीत दश-सहस्रपृष्ठात्मक ' श्री सनातन धर्मलोक ' (अभीतक भी जन साधारणकी उपेक्षासे अप्रकाशित) महाग्रन्थमें पर्याप्त विवेचनाकी है ।

इसके अतिरिक्त अनेकार्थक पदोंके अर्थ निर्धारणके अवसरमें-

' संयोगो १ विप्रयोगश्च २ साहचर्यं ३ विरोधिता ४ ।
अर्थः ५ प्रकरणं ६ लिङ्गं ७ शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ८ ।
सामर्थ्यम् ९ औचिती १०, देशः ११, कालो १२ व्यक्तिः १३ स्वरादयः १४ । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः '
(२ । ३१६-३१७)

इनके× ' वाक्यपदीय ' से कहे हुए ' संयोगादियोंका भी उपयोग अवश्य करना चाहिये । इनके क्रमसे उदाहरण देखिये-

१ 'सशङ्खचक्रो हरिः ' यहांपर शङ्खचक्रके संयोगसे ' हरि ' विष्णुका नाम है, वानर-आदिका नहीं । २ ' फणहीनो नागः '

× मेरे गतलेखमें मुद्रकोंकी असावधानतासे मेरे लेखमें ' वाक्यपदीय ' के स्थान ' वाक्यप्रदीप ' शब्द छप गया है, पाठक गण सुधार लें ।

यहांपर फणके वियोगसे ' नाग ' ' सर्प ' वाचक है, ' गज '- वाचक नहीं। ३ ' रामलक्ष्मणौ ' यहां लक्ष्मणके साहचर्यसे ' राम ' दाशरथि वाचक है, बलरामादि वाचक नहीं। ४ ' कर्णार्जुनौ ' यहांपर अर्जुनके विरोधी होनेसे ' कर्ण ' सूतपुत्र प्रसिद्धिवाला विवक्षित है ' कान ' नहीं। ५ ' स्थाणुं भज भवच्छिदे ' यहां भवच्छेद रूप प्रयोजन (अर्थ) होनेसे ' स्थाणु ' शिव है, ' शाखा विहीन वृक्ष नहीं। ६ ' यथाऽऽज्ञापयति देवः ' यहांपर प्रकरणानुसार ' देव ' का अर्थ ' राजा ' है, ' देवता ' नहीं। ७ ' कुपितो मकरध्वजः ' यहांपर ' कोप ' रूप चिन्हसे ' मकरध्वज ' कामदेव है, समुद्र नहीं। ८ ' स्थलारविन्दश्रियम् ' यहांपर ' स्थलारविन्द ' शब्दकी सन्निधिसे ' श्रीः ' शब्द ' शोभा ' है, दिव्यकमल वाली ' लक्ष्मी ' नहीं। ९ ' मधुना मत्तः कोकिलः ' यहांपर कोयलको मस्त करनेकी सामर्थ्य ' वसन्त रूप ' मधु ' में है, शहदमें नहीं। १० ' गौरेका तु मनस्विनः ' यहांपर ' गो ' शब्दके गाय तथा वाणी इन दोनों अर्थोंमें वाणीका अर्थ करनेमें ही औचित्य है। ११ ' विभाति गगने चन्द्रः ' यहांपर ' चन्द्र ' आकाश रूप देशके कारण ' चन्द्रमा ' ही लिया जायगा, ' कर्पूर ' नहीं। १२ ' रात्रौ चित्रभानुः ' यहांपर रात्रिरूप काल होनेसे ' चित्रभानु ' अग्नि मानी जावेगी ' सूर्य ' नहीं। १३ ' मित्रो विभाति ' यहां पुंव्यक्तिमें ' सूर्य ' तथा नपुंसक लिङ्गमें सुहृद ' लिया जावेगा। १४ ' इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व ' यहांपर आद्युदात्त होनेपर बहुव्रीहि समासका अर्थ ' इन्द्र जिसका मारनेवाला है, वह होगा, अन्तोदात्तस्वरमें ' इन्द्रका मारनेवाला अर्थ होगा।

इन सबमें भी ' प्रकरण ' बलवान होता है। अनुक्रमाणिकाकारोंने वेदमें बहुत परिश्रम करके ' देवता ' शब्दद्वारा उसे व्यक्त किया है, अतः वेदमन्त्रार्थ भी तत्तद् देवताके अनुसार करना पडता है। इससे स्पष्ट है कि-वेदमें सब प्रकरण परमात्मपरक नहीं है, जैसे कि-अद्यतनीय विद्वान् लगाते हैं किन्तु वे सूक्त भिन्न भिन्न देवताओंके हैं। यदि सब सूक्त परमात्मपरक ही हों, भिन्न भिन्न देव परक नहीं, तो ' सर्वानुक्रमणी ' वा ' बृहद् देवता ' आदिके प्रणेताओंका परिश्रम व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि तब तो सब प्रकरणोंका परमात्मा ही देवता है-इस लाघवसे आदिमें सूचनीय बातको छोडकर हमारे उन पूर्वजोंने भिन्न-भिन्न देवताओंके उपन्यासका परिश्रम क्यों किया? (१।२।४) आकमें यदि शहद मिल जाय, तो पहाड तक जानेका परिश्रम क्यों करना? इससे स्पष्ट है कि-मन्त्रोंका अर्थ उन-उन देवताओंके अनुसार हुआ करता है, स्वतन्त्रतासे नहीं, जैसे कि-आज-कल किया जाता है।

देवताओंके विषयमें वेदके क्या क्या भाव हैं-इस विषयमें श्रीपाद दामोदर सातवलेकरका- 'दैवत संहिता' विषयक परिश्रम स्तुत्य है। यद्यपि उनसे संगृहीत दैवत संहितायें हमने नहीं देखीं, तथापि विषय सूची देखकर उनका अनुमान सहजमें ही हो जाता है। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो श्रीपाद दामोदर सातवलेकर महोदयकी वेद विषयक निष्ठा तथा वेदके प्रचारकी उत्कट लालसा। दूसरा देवता विषयक वेदके तात्पर्य ज्ञाननेकी इच्छा। क्योंकि-देवताओंके बिखरे हुए भिन्न भिन्न ऋषियोंके मन्त्रोंको इकट्ठा करनेसे वेदका देवताओंके विषयमें क्या विचार है यह समुचित रूपसे ज्ञात हो सकता है। इससे सातवलेकर जी की जहां वेदप्रचार विषयक निष्ठा प्रकट होती है, वहां यह भी मालूम पडता है कि-वे वेदको अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तोंके पीछे वे चलाना नहीं चाहते, किन्तु वेदके तात्पर्यानुसार ही वे वैदिक सम्प्रदाय चलाना चाहते हैं। इससे वेदके प्रचलित क्रमको भी हटाना नहीं चाहते। वे वेदोंकी प्रचलित चार संहिताओंको तो यथाशक्ति शुद्ध छपवा ही चुके हैं, उनमें हो चुकी हुई त्रुटियोंको भी सर्वदा सुधारनेको तैयार रहा करते हैं, इससे वेद सम्मेलनके भाषणमें श्री ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुका श्री सातवलेकर जी को खरी खोटी सुनाना व्यर्थ है। ऐसा करके वे अपना साम्प्रदायिक दलदलमें बहुत दूरतक घुसे हुए होना व्यक्त कर रहे हैं। ' देवकामा ' होना इत्यादि उनके सत्प्रयत्नका व्यर्थ विरोध हो रहा है।

फलतः वेदार्थ विधानमें साधन पुराण-इतिहास, वैदिक देवतावाद, रूप प्रकरण, स्मृतियाँ, दर्शन ' पदपाठ श्रौतगृह्य, धर्मसूत्र आदिसे किये हुए वेदमन्त्रोंके विनियोग, निरुक्त, निघण्टु ब्राह्मण भाग, स्वयं मन्त्रभाग, प्राचीन लोक-व्यवहार, व्याकरण आदि सभी साधन उपादेय हैं। केवल निघण्टु वा केवल ब्राह्मण भागके आश्रयसे वेदका अर्थ नहीं जाना जा सकता-यह बात इस निबन्धके पढनेसे ' वैदिक धर्म ' के स्वाध्यायशील पाठकोंको मालूम हो गई होगी।

वेदोंका अर्थ मुख्यतया देवतावादके अनुसार किया जाना चाहिये, तभी उसमें यौगिक, योगरूढ, रूढि आदिकी व्यवस्था, जो सभी प्रकारकी भाषाओंका प्राण है-रह सकती है, अन्यथा

फिर भाषाकी हत्या हो जाती है। देवता मन्त्रका विशेष्य होता है, उसका तो अर्थ सदा रूढ वा योगरूढ ही होगा, हाँ विशेषण सदा ही यौगिक हुआ करता है। इस विषयमें 'क्या वेदमें केवल यौगिकता है' यह मेरा निबन्ध 'वैदिक धर्म (३।१२।)' में द्रष्टव्य है। कुछ इस विषयमें फिर भी लिखा जावेगा। पर आजकल अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तोंको वेदपर लादनेके लिये मन्त्रस्थित विशेष्य (देवता) के भी यौगिक अर्थ किये जाते हैं, इससे हजार व्याख्याकारोंके अर्थ भी हजार तरहके हो जाते हैं, फिर उन्हींके आपसमें विवाद छिड जाते हैं। इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

श्री सातवलेकरजीने श्रीमद्दयानन्द शताब्दीके अवसर पर 'वेदामृत' लिखा था जिसे पंजाबकी आर्य प्रतिनिधि सभाने समर्थन पूर्वक प्रकाशित किया था, पर उसके अर्थ बहुतसे आर्यसमाजी सज्जनोंको रुचिकर प्रतीत न हुए। उनमें यमयमी सूक्त श्री सातवलेकरजीने देवतावादानुसार भ्रातृ भगिनि सम्वाद परक लगाया था, पर श्री चमूपतिजीने अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तकी उससे हानि देखकर उसमें यौगिकतामात्र लेकर पतिपत्नी संवाद तथा नियोगार्थ सिद्ध किया, उसपर श्री सातवलेकरजीने बहुत सुन्दर प्रत्युत्तर दिया पर श्री चमूपतिजी आदिने उधर ध्यान ही नहीं दिया।

इधर श्री चमूपतिजीने श्री प्रियरत्न आर्षजीके अर्थ इसलिये अनादृत कर दिये कि–वे यौगिक अर्थ न करके अतियौगिक अर्थ करते हैं, पर श्री प्रियरत्नजीने उन्हें बताया कि आप भी तो वेदके अतियौगिक अर्थ करते हैं। 'यास्कयुग' पर कुछ विवाद प्रारंभ हो गया था। श्री आर्ष जी बताते थे कि–हमारी लिखित पुस्तकको देखकर ही आपने उक्त पुस्तक मुझसे पूर्व छपा दी। पर श्री चमूपतिजीने निषेध कर दिया कि–मैं आपके समान अतियौगिक अर्थ नहीं किया करता। इसपर 'यास्कयुगका युग' शीर्षकमें श्री आर्षजीने 'हिन्दी मिलाप' लाहौर (१३।१०।३५) में लिखा—

"अपने अर्थोंकी अपेक्षा आप मेरे अर्थोंमें अतियौगिकता बताते हैं। ...... आपकी **दृष्टिविन्दु बस एक है। आपको अध्यात्म ही अध्यात्म दीखता है, जिसमें न व्याकरणकी जरूरत है, न धातुपाठकी और न निघण्टु, निरुक्त आदि प्रमाणोंकी बस एक शास्त्र आपके पास है, वह है कविकल्पना। फिर क्या था जो चाहे डींग मार दी।** विना आधारके जमीन आसमानका **तखता पलट दिया,** कौन पूछे! ... 'यास्कयुग' पृ० ७८–७९ पर '**उपप्रवदमण्डूकि! वर्षमावद तादुरि। मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः,** आपने यहां 'मण्डूकि' का अर्थ 'बुद्धि' किया है। बताइये किस शास्त्रमें 'मण्डूकि' का अर्थ 'बुद्धि' है। ...... फिर प्रत्यक्षकी कल्पना कट नहीं सकती। जब वर्षा ऋतुमें मेंडकियां जलाशयमें चारों पैर फैलाकर सुन्दर नाद करती हुई दिखलाई पडती है, तब इसको मिथ्या कैसे कर सकते हैं! 'यास्कयुग' पृ० ७१ पर 'अगस्त्य' का अर्थ 'पापी' और पृ० ७८ पर 'गुरु' किया है। **कहिये मेरे अर्थोंमें अतियौगिकता है वा आपके अर्थोंमें?'** इत्यादि।

श्री चमूपतिजीके विषयमें श्री भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालरने भी "वैदिक वाङ्मयका इतिहास' द्वितीय भागकी भूमिकामें (ख) पृष्ठमें लिखा है–' **वैदिक विषयोंमें उनका ज्ञान इतना परिमित और सङ्कीर्ण है कि** इस पुस्तकमें मैंने उनके लेखोंके सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। आशा है जब वे कुछ वर्ष और वैदिक ग्रन्थोंका मनन करेंगे, तो मेरे सदृश ही विचार धारण करेंगे।

इस प्रकारके तोड मरोड करनेवालोंके लिये श्री सातवलेकरजीने भी लिखा है – ' पुराणों और इतिहासोंकी कथाओंका [वेदादिमें] मनन करनेके समय यौगिक अर्थको बीचमें मरोडकर लाकर भी कई लोग उनका (ऐतिहासिक सत्य नष्टभ्रष्ट करनेका निन्दनीय यत्न करते हैं' उनके प्रयत्नका निकृष्ट रूप भी इस लेखमें व्यक्त हो जायगा। हम यह कदापि नहीं कहते कि–इन देव आदि शब्दोंके यौगिक भाव नहीं है। हमारा भी पक्ष है कि–इन शब्दोंका यौगिक अर्थ भी है, परन्तु वह अर्थ आध्यात्मिक तत्वज्ञान विषयके विचार करनेके समय उपयोगी है। ऐतिहासिक खोजके लिये वह अर्थ लेना योग्य भी नहीं। **निरुक्तकार अध्यात्मिक अर्थकी सूचना** यौगिक अर्थके द्वारा **बताते हुए ऐतिहासिक तात्पर्य भी साथ साथ बताते** हैं, इसका कारण यही है, (महाभारतकी समालोचना द्वितीय भाग ११७ पृष्ठ)।

अब श्री प्रियरत्न आर्षजीकी अतियौगिकता भी सुनें। सन् १९३० में श्री मङ्गलदेव तडित्कान्त वेदालंकारजीने

'यम और पितर' पुस्तक बनाया, जिसमें उन्होंने १५०० मन्त्र उद्धृत करके यमराज और मृतक पितृश्राद्ध वैदिक बताया; पर श्री आर्षजीने अतियौगिक अर्थ करके 'यम पितृपरिचय' पुस्तक बनाया; पर काङ्गडी गुरुकुलके भूतपूर्व आचार्य श्री पं. देवशर्म्माजीने, उसमें बहुत अंशोंपर तोड मरोड बतायी, कई जगह खण्डनको ठीक न बताया। कहीं-कहीं साफ खटकना बताया।

एक स्थानपर तो श्री प्रियरत्नजीने रामायणपर भी हाथ चलाया; मारीच मृग जिसे श्री रामचन्द्रजीने मारा था--उसका अर्थ 'सिंह' कर दिया। इस विषयमें गुजरानवाला आर्य-समाजके प्रधान श्री इन्द्र एम. ए. महाशयने लिखा--'पण्डित-जी! सहस्रों वर्षोंसे प्रचलित विचारोंका केवल नवीनता उत्पन्न करनेकी खातिर सर्वथा खण्डन कर देना अत्यन्त साहसपूर्ण कार्य है। ...मृगेन्द्र शब्द शेरका पशुओंके स्वामी होनेसे प्रसिद्ध है, नकि शेरोंके स्वामी होनेसे। 'मृगयूथानि गच्छन्ति, (अरण्य. ४२।२६) सिंह यूथोंमें नहीं रहता, अकेला ही रहता है। सीता कहती है--हमारे आश्रममें पहले ही कई चमर सृमर आदि मृग हैं। सिंहसे खेलना सम्भव नहीं। ये नाम हिरनके हैं, उनमें हिरन ही रक्खा जा सकता है न कि शेर। '**विट-पीनां किसलयान् भक्षयन् विचचार ह**' वह मृग पत्ते चर रहा था; पर शेर वृक्षके पत्ते नहीं खाता। श्री रामचन्द्रजीका सुवर्ण मृगको मारना इसलिये क्षम्य हो सकता है कि--वे जानते थे--ये मृग नहीं, परन्तु राक्षस हैं (३।४३।३८) लक्ष्मणने भी उन्हें कह दिया था कि-- **तमेवैनमहम् मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम्**'। इस तरह मृग मारनेसे श्री रामचन्द्रजीके विशुद्ध चरित्रमें कलङ्ककी सम्भवना नहीं; **जिससे डरकर ऐतिहासिक सत्यताका खून** किया जावे' (हिन्दी मिलाप २७।१०।३५)--

कहनेका तात्पर्य यह है कि--देवतावाद छोड देने और यौगिकतामात्र दृष्टिबिन्दुमें रख लेनेपर अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्त तो कदाचित् बच जावें या सिद्ध हो जावें; यह प्रकृति जो साधारण जनताको गुमराह करती है, हटाई जावे; जो वेदादि ग्रन्थ अपने शब्दोंद्वारा कहते हैं; उसे जनताके सामने रखा जावे। इसपर हम गुरुकुल ज्वालापुरके आचार्य श्री पं० नरदेवजी शास्त्रीकी सम्मति उनके 'आर्यसमाजका इतिहास' प्रथम भागसे उद्धृत करते हुए इस निबन्धको समाप्त करते हैं--

"मनुष्यको अधिकार है कि वह अपना जो चाहे मत रखे; पर उसको यह अधिकार कदापि नहीं कि- वह वक्ता या ग्रन्थ कर्त्ताके आशयको मनमानी रीतिसे तोड-मोड कर उस ग्रन्थकर्त्ताके आशय या अभिप्रायसे विरुद्ध जो चाहे निकाले। कतिपय...... पुराणोंकी कथाओंको अलङ्कारके साँचेमें ढालकर सब पुराणोंको एकदम आर्यसमाजकी लायब्रेरी बनाते; पर अनुभवने उन्हें सचेत कर दिया है। ...... इन आर्य-समाजिक टीकाकारोंमें हम श्री पं० राजाराम शास्त्री श्री पं० भीमसेन शर्मा आगरा निवासीको विशेष सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। ये न तो अपनी ओरसे मूलग्रन्थोंमें कुछ मिलाते हैं, न कुछ अपनी इच्छानुसार निकालते ही हैं। मूल ग्रन्थका तदनुसार ही व्याख्यान कर जो कुछ स्वतन्त्र वक्तव्य हो, वह पृथक् देते हैं" (पृ० २३६-२३७)।

जब सबके विचार ऐसे हो जायँगे; तब सभीको 'वेदार्थ के करनेके साधन' वे सब दीख पडेंगे; जिन्हें हम लिख चुके हैं॥

संस्कृत की उपादेयता

[लेखक— हुसन लाल नैयड देहली]

" वैदिक धर्म " वैशाख संवत् २००६ के पृष्ठ १७२ पर श्रीयुत पण्डित सातवलेकरजीका- " अफगानिस्थानके विश्वविद्यालयमें संस्कृतकी शिक्षा और मद्रास-प्रान्तमें संस्कृतका अपमान"-शीर्षक अग्र-लेख प्रकाशित हुआ है। उसके उपसंहारमें पण्डितजी लिखते हैं- " अफगानिस्थानमें जिस समय संस्कृतके अध्ययनका प्रारम्भ हुआ है, उसी समय मद्रासकी रेड्डी सरकारने मद्रासके विद्यालयोंसे संस्कृतका उच्चाटन करनेका यत्न चलाया था। पठान तो संस्कृत सीख रहे हैं, और भारतीय विमुख हो रहे हैं !! कैसी दुरवस्था है देखिये !!!" पठानोंकी संस्कृतकी ओर प्रवृत्ति तो " वैदिक धर्म " के पाठक जान ही चुके हैं, इस प्रसंगको अधिक जाननेके जिज्ञासु " कल्याण " के वैशाख २००६ के पृष्ठ ९६७ से ९६८ तक मुद्रित डॉ० रघुवीर जी का-" काबुल विश्वविद्यालयमें संस्कृतकी शिक्षा "-शीर्षक लेख अवलोकन करनेका कष्ट करें।

मद्रासियोंका संस्कृत-प्रेम

भारतमें अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा मद्रासमें संस्कृतका प्रचार अधिक प्रतीत होता है। अन्य प्रान्तोंमें तो संस्कृतज्ञ प्रायः वही हैं, जो संस्कृतका अध्यापनादि कार्य करते हैं, परन्तु मद्रासमें शिक्षासे भिन्न क्षेत्रोंमें कार्य करनेवाले भी संस्कृतके अनुरागी दृष्टि-गोचर होते हैं। इस प्रसंगमें पाठकोंको स्वर्गीय राइट ऑनरेबल श्री वी० एस० श्रीनिवास शास्त्रीजीको स्मरण करना चाहिये। उन्होंने मद्रासकी " संस्कृत विद्वत्परिषद् " (Sanskrit Academy) में वाल्मीकीय रामायण पर भाषण दिये थे, जो कि एक बृहद् ग्रन्थके रूपमें- " The Lectures on the Ramayana " -नामसे प्रकाशित हो गये हैं। इनकी संस्कृतमें निष्ठाकी प्रशंसा विश्ववन्द्य महात्मा गान्धीजी भी किया करते थे।

श्री एस० वी० राममूर्ति, जो कुछ देर मुम्बई प्रान्तके स्थानापन्न गवर्नर भी रह चुके हैं, ने दिनाङ्क २२ अप्रैल, ४५ ई० को मद्रासमें " कुप्पुस्वामी शास्त्री संशोधन मन्दिर " (Kuppuswami Sastri Research Institute) के उद्घाटनोत्सव पर अपने भाषणके अन्तमें कहा था-

"...... There have been ages in the past which have been called after atoms of matter-copper and iron-which were the main pointers in life. The coming is, I believe, the age of Siva, who is an atom, not of matter, but of spirit and mind. With the seed of India, out of the loins of humanity, there shall be a new birth, and humanity witness once again a Kumar Sambhavam. May this Research Institute with care, with reverence and with love attend on this new birth. "

(देखो— The Bharata Dharma, Volume XIII, No. 5, पृष्ठ ४०-४१)

ऐसे उद्गार संस्कृतज्ञके अतिरिक्त और किसके हो सकते हैं।

सर एस० वरदाचारी संस्कृतके अच्छे ज्ञाता हैं।

श्री के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री मद्रास विश्वविद्यालयके इतिहासके प्राध्यापक पदसे अभी सेवा-निवृत्त हुये हैं। आप सुरभारतीके अच्छे रक्षक प्रतीत होते हैं। पाठकोंके विनोदार्थ, उनके एक लेख- " Sanskrit in greater India "— से कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

" ... ... The question arises; Was Sanskrit ever spoken? Different views have been held on the subject. I would only say that if you peruse the Avadanas of Buddhist literature, or the early Bhasyas like the Mahabhasya of Patanjali, or that of Sabarasvamin on the Mimansa-sutras, the conclusion is apparent enough that Samskrita, for all its 'artificiality', must have been spoken very widely at one time. It was only the

other day at the Samskrit Sammelan that we saw some very learned pandits handling Samskrit with a facility which all envied, and today you had a set of elegant verses from Dr. Kunhan Raja which show how well we can use Samskrit for our purposes. I would only draw your attention particularly to the very effective pun on Dussasana, comparing the danger to Samskrit studies to the fate that befell Draupadi in the Sabha of Kauravas.

दुर्दैवाभिभवात्प्रनष्टविभवा पञ्चालपुत्री यथा गीर्वाणी विविधैश्छलैः परजनैः स्थानात्स्वकाच्च्याविता। सा दुश्शासनदूषिता प्रियजनैस्साधं च निर्वासिता; देशादद्य तु काननैकशरणा यानोन्मुखीवेक्ष्यते ॥

(देखो-The Journal of Oriental Research Madras, Volume XVI, Part III, पृष्ठ १२१-१२२)

इस पद्यमें कैसा उत्तम श्लेषालङ्कार है, इसका रस रसिक ही ले सकते हैं।

इसी विश्वविद्यालय के दर्शन (Philosophy) विभागकी ओरसे एक ग्रन्थावली प्रकाशित हो रही है। उसमें सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "सांख्यकारिका" को भी स्थान प्राप्त हुआ है। इसके सम्पादक तथा अनुवादक हैं—इसी विश्वविद्यालयके दर्शन शास्त्रके प्रधान स्वर्गीय श्री एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री। इस पुस्तककी सपर्मण-पुष्पिकाके शब्द देखिये—

To
The Race of Pandits
Who despite the neglect and contumely
That have fallen to their lot
Have kept alight the
Lamp of Learning
In our Land.

(देखो—सांख्यकारिका। द्वितीय संशोधित संस्करण। सन १९३५ ई०)

कृतज्ञता-द्योतक ऐसी श्रद्धाञ्जली संस्कृतानुरागीके अतिरिक्त और कौन अर्पण कर सकता है।

ग्रन्थ-संग्रहालयों (Library) में पुस्तकोंके वर्गीकरण (Classification) की अधिक प्रचलित पद्धति श्री. मेलविल डेवी (Melvil Dewey's Decimal System) की है। अच्छे ग्रन्थागारोंमें इसीका आदर है। इस पद्धतिके अच्छे होते हुये भी, इसका जनक एक पाश्चात्य है, अतः इसमें भारतीय पुस्तकोंके वर्गीकरणका प्रकार सुचारु नहीं। इस ओर भी ध्यान एक मद्रासी सज्जनका गया। उन्होंने कोलन सिस्टिम (Colon System) नामसे एक नूतन पद्धति आविष्कृत की। इस पद्धतिमें संस्कृत ग्रन्थोंके विन्यासके लिये विशेष ध्यान दिया गया है। संस्कृतानुरागीके अतिरिक्त ऐसा घोर परिश्रम और कौन करनेकी क्षमता रख सकता था। इन महानुभावका शुभ नाम-है रावसाहब श्री. एस० आर० रंगनाथन। आपने ग्रन्थागार-विज्ञानपर बहुतसे ग्रन्थ रचे हैं। जिनका प्रकाशन "मद्रास ग्रन्थागार समिति" (Madras Library Assosiation) द्वारा हुआ है। स्वर्गीय म०म० श्री कुप्पुस्वामीजी शास्त्रीके मतानुसार आप ग्रन्थागारिक (Librarian) को आचार्य समझते हैं। एतदर्थ "मद्रास ग्रन्थागार समिति" द्वारा प्रकाशित- "Essays By Diverse Hands" —नामकी पुस्तकमें- "Kosavan Acharyah" (कोशवान् आचार्यः)—शीर्षक लेख देखिये। ग्रन्थागारिकका महत्त्व आपने मनु-स्मृतिके एक श्लोक द्वारा प्रदर्शित किया है। वह श्लोक यह है—

यो दद्याज्ज्ञानमज्ञानां कुर्याद्वा धर्मदर्शनम्।
स कृत्स्नां पृथिवीं दद्यात्तेन तुल्यं न तद्भवेत्॥

यह श्लोक "निर्णय-सागर" से मुद्रित "मनुस्मृति" में नहीं मिलता। काशी विद्या-पीठने श्री डॉ० भगवान्दासजीके तत्त्वावधानमें एक "मनु पादानुक्रमणी" प्रकाशित की है, उसमें भी यह श्लोक नहीं है, तथापि इस श्लोककी उत्तमतामें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। इन पंक्तियोंके लेखकने श्री रावसाहबजीसे पूछा था, कि उन्होंने इसको किस संस्करणसे उद्धृत किया है। आपने उत्तर दिया था, कि उनको श्री कुप्पुस्वामी जी शास्त्री (मद्रासके एक प्रसिद्ध स्वर्गीय पण्डित) ने दिया था। प्रतीत होता है, कि शास्त्रीजीको किसी हस्त-लिखित पोथीमें यह मिला हो। आपके ग्रन्थोंका आदर्श-वचन

(Motto) भी— "गौर्गौः कामदुघा" —संस्कृत का ही है। इसका अंग्रेजीमें अनुवाद आपने इस प्रकार किया है– "To be literate is to possess the cow of plenty"। काव्यादर्शके कर्ता आचार्य दण्डीके एक श्लोकका यह अंश है। समग्र पद्य निम्न प्रकार है—

गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥
(काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद, श्लोक ६)

इनके विचार और देखिये —

The following is from the third section (Anuvaka) of the first chapter (Siksadhvava) of the Taittiriva Upnisad.

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।
अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः।
अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्।
अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः।
प्रवचनं संधानम्। इत्याधिविद्यम्॥

Together may we two attain to glory; may illumination from the Infinite shine forth in us. Now let us reveal the (secret) lore of (fruitful) union ··· ··· In the matter of basis of knowledge, the teacher is the type, the pupil the example, knowledge the relation. And the means to it is the forth going word.

The words of the Veda express a fundamental truth about the establishment of knowledge.

[देखो— Library classification, Fundamentals and Procedure. By Rao Sahib, S. R. Ranganathan. Page 17-18 Conspectus.]

पाठक ही विचारें, कि सुरभारती के भक्त के अतिरिक्त ऐसा और कौन कर सकता है।

रावसाहबके कार्यकी सराहना वही कर सकते हैं, जिनको पुस्तकालयोंमें जाकर संस्कृत ग्रन्थोंको अवलोकन करनेका अवसर प्राप्त हुआ है। संस्कृतसे अनभिज्ञ ग्रन्थागारिकोंने इन ग्रन्थोंका वर्गीकरण नितान्त असंगत किया है। अधिक जिज्ञासु "Classified Catalogue Code' के पृष्ठ १११ से ११९ तक— "Polyonymy And Homonymy In Sanskrit Literature" —इस निबन्धको अवलोकन करनेका कष्ट करें। उनकी— "Colon Classification" —पुस्तकमें पाठक देखें, कि ग्रन्थागारिकोंके सुभीतेके लिये 'अलंकार', 'दर्शन' आदि शास्त्रोंके ग्रन्थोंके वर्गीकरणके लिये कितनी सामग्री प्रस्तुत की है।

त्रिवांकुर (Travancore) रियासतके भूतपूर्व दीवान सर सी० पी० रामस्वामीका संस्कृतप्रेम तो जगद्विख्यात है। ई० ४६ दिसम्बरमें "अखिल भारतीय दार्शनिक परिषद" (All India Philosophical Conference) का अधिवेशन "दिल्ली विश्वविद्यालय" में हुआ था। सभापति श्री रामस्वामी जी ही थे। कार्यवश वे स्वयं उपस्थित नहीं हो सके थे। उनका मुद्रित भाषण वितरण किया गया था। उक्त परिषद्का उद्घाटन भूतपूर्व गवर्नर जनरल श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारीजी, जो कि उस समय शिक्षा-सचिव थे, ने किया था। आपने अपने भाषणमें, दीवानजीके भाषणके विषयमें कहा था—" यह तो रोमन लिपिमें संस्कृत होगी "।

इस प्रकार विभिन्न कार्य-क्षेत्रोंमें (संस्कृत प्राध्यापकादिके अतिरिक्त) कार्य करनेवाले मद्रासिओंके संस्कृत प्रेमका दिङ्मात्र दर्शन कराया है। कहीं कहीं विषयके महत्त्वके कारण विस्तारपूर्वक वर्णन हो गया है। पाठक उसे अकाण्डताण्डव न समझें। ऐसा जोड अन्य प्रान्तोंमें दुर्लभ है। अभी पाठकोंने समाचार-पत्रोंमें पढा होगा, कि "मद्रास विश्वविद्यालय" के संस्कृतके अध्यक्ष श्री डॉ० कुञ्जराजन् जी "तेहरान (ईरान) विश्व-विद्यालय" में संस्कृतके प्राध्यापक नियुक्त हुये हैं। क्या मद्रास सरकार इससे कुछ बोध प्राप्त करेगी। इन पंक्तियोंके लेखकका अभिजन पूर्वपञ्जाब है। वहां तो गीर्वाणीके ऐसे उपासक दृष्टिगोचर नहीं होते। जो कुछ हैं, वे स्कूलों तथा कालेजोंके अध्यापक तथा प्राध्यापक ही हैं। उनमेंसे अधिकांशका संस्कृतज्ञान पल्लवग्राही मात्र है। सारस्वत-सरका कण्ठ्य पान उन्होंने नहीं किया। सम्भवतः इसी दुरवस्थाको लक्ष्य रख कर किसीने इस श्लोककी रचना की होगी—

पञ्चानां सिन्धु षष्ठानामन्तरं ये समाश्रिताः।
वाहीका नाम ते देशा न तत्र दिवसं वसेत ॥

[देखो—पाणिनीय व्याकरण महाभाष्यम्, सूत्र १।१।७४॥ पर नागोजी भट्ट विरचित उद्द्योत टीका। तथा महाभारत कर्ण-पर्व ४४।७॥ (म० म० काणेविरचित साहित्य दर्पणके नोटसके आधार पर)]

पाश्चात्योंका संस्कृत प्रेम

सप्टेम्बर अथवा अक्टूबर ४८ में पैरिस (Paris) विश्वविद्यालयके संस्कृतके प्राध्यापक श्री लूई रेणू (Louis Renou) भारतमें आये थे। वे यहां पांच छः मास रह कर गये हैं। संस्कृत की इदानीन्तनी परिस्थिति आदिका ज्ञान प्राप्त करनेके उद्देश्यसे उन्होंने इस देशके विभिन्न नगरोंका भ्रमण किया। कई जगह उनके व्याख्यान भी हुये। उन्होंने मद्रासके रानाडे हालमें २६ नवम्बर ४८ को—" The Significance of Sanskrit Studies in the West." अर्थात्..." पश्चिममें संस्कृत अध्ययनका महत्त्व "–इस विषय-पर व्याख्यान दिया था। वह परिस, जिसका नाम मात्र स्मरण करनेसे हमारे देशके युवक कुछ मोहितसे हो जाया करते हैं, उसी पैरिसको किसी रमणीका अपनी जानिद्वारा यौवन हरण कर उसे सार्थक करनेवाले एक महानुभावने उपरोक्त विषयपर, रेडा सरकारके मद्रासमें ही प्रवचन किया था। वह भाषण किसी अनुसन्धान-पत्र (Rereârch Journal) में छप गया होगा या छपेगा। इस देशके निवासी पैरिसको किसी और ही रूपमें जानते हैं। पश्चिम संस्कृतका महत्त्व अनुभव करता है, दुर्भाग्यवश यह देश उसकी आवश्यकता नहीं समझता। नागपुरके रेडियो स्टेशनसे आपके शब्द सुनिये--

Promote Study of Sanskrit
Prof. Renou's Appeal to Indians.

Nagpur, April 22— Prof. Louis Renou, a well-known French Indologist, in a broadcast from the Nagpur Station of A. I. R. on Wednesday said, India was loved and respected in the world at large, because of her long heritage, intellectual, moral and spiritual. " This heritage is preserved in the treasures of Sanskrit literature " he added.

Speaking on " Sanskrit culture through western eyes," Prof. Renou said that in India Sanskrit was the background of almost all religious, philosophic and scientific traditions which had made her what she was. All the ancient civilizations and cultures had disappeared except that of India.

Observing that the elite of " our students " is attracted by Sanskrit, Prof. Renou declared that the Germany before the last war was at the head of the researches concerning ancient Indian culture. Sanskrit was taught in every German university. Paris university, he said, was the first in the West to institute Indian studies as early as 1816 by creating a professorship for Sanskrit.

Prof. Renou urged the people of India not to give up the study of Sanskrit in their Universities and schools, and to promote by every means the interpretation of the thought of ancient India to the West.— A. P. I.

(देखो-- दिल्लीसे प्रकाशित होनेवाला प्रमुख दैनिक पत्र--The Hindustan Times, दिनांक २३ एप्रैल ४९)

इनके " दिल्ली विश्वविद्यालय " में ८ और ९ फैब्रुअरी ४९ को २ व्याख्यान हुये थे। दूसरे दिनके भाषणका विषय था--"Vedic Studies past and present" अपने इस व्याख्यानके अन्तमें आपने उस सभाके सभापतिके शब्दोंको संस्कृतमें सुननेकी उत्कण्ठा प्रकट की थी। तदनुसार सभापतिने अपना उपसंहारात्मक वक्तव्य संस्कृतमें ही दिया था। इन भावोंके साथ तुलना कीजिये अपने देशवासियोंसे, जिन्होंने अंग्रेजीको अत्यधिक महत्त्व दे रखा है।

इस महानुभावने एक लेखमें इस विषय पर कई दृष्टिकोणोंसे प्रकाश डाला है, पाठकोंकी सुविधाके लिये वह समग्र लेख उधृत किया जाता है--

Sanskrit In Modern India.

If India is loved and adored throughout the world, it is chiefly because of her being the repository of a long and venearble tradition–intelectual, moral and spiritual–embodied

in the treasure of Sanskrit literature. It is not my intention to underrate in any way the provincial languages and literatures either in the South or in the North. I am only too conscious of the fact that the Dravidian languages also possess a unique position on account of their literary fecundity. But if there is a form of expression which gives unity to India and makes Indian civilization appeal to the entire world, it is Sanskrit and nothing else.

Let me draw a comparison. In France we have a Greco-Latin cultural background. Every cultured man there yearns to know Latin. Nobody thinks that Latin is opposed to French; on the contrary, everyone believes that Latin is useful and many believe that it is indispensable for a better understanding of French. And we heve in French a literature superior in quality and age to Latin literature, and Greco-Latin literature for us is something rather remote. Our religion, for instance, is Christianity which is entirely alien to classical antiquity.

In India Sanskrit is the basis of all the religious, philosophical and scientific tradition, and it is this that makes India a country incomparable with any other. There are Dravidian literatures as well as literatures of the new Indo-Aryan languages. Nevertheless, all of them are invariably inspired by Sanskrit and they owe their present position to its enlivening influence. I sometimes hear the view that Sanskrit is the property of the Brāhmanas. Have the Lyrics, the Arthaśāstra and Ayurveda and other technical subjects anything to do with one particular caste? Im I a Brāhmana, myself to have devoted my life to Sanskrit studies? Or if anybody thinks that material progress alone is beneficial to mankind, I must say that material progress has entangled the world in two ferocious wars and it may entangle it in a third one even more ferocious.

I donot wish to take part in the controversy regarding the national language for India, but I may say that Switzerland, a very small country, is getting on well with three or even four national languages which do exist in perfect harmony. I hear that there is a move in the Tamil country to oppose the introduction of Hindi as the national language. But those who wish to oppose Hindi must logically yearn for the strengthening of Sanskrit, because Sanskrit alone might be accepted without hurting the susceptibility of anybody, as a cultural language from Kashmir to Cape Comorin. Sanskrit alone is both a national and inter—national language. The Sanskrit civilization has penetrated by the intervention of Buddhism into Afganistan and Turkistan on the one side, and into China, Japan and the South-east of Asia on the other. As for those who are larger in number and will accept Hindi, what is Hindi if it is deprived of its natural connection with Sanskrit, if it is detached from Sanskrit back ground?

In the course of my short sojourns in different parts of India, I have come across thousands of pandits and Sāstris capable of soeaking Sanskrit fluently and thoroughly ancient texts. I have met a large number of students devoted to that sort of study. I admire these men and I salute their disinterestedness and self-abnagation. They maintain the great tradition of India. I say with a particular sadness that the Indian Govern—ment does not do all its duty towards them. The number of professors in Iudian universities has to be increased.

Every one of them should be given adequate leisure and the material means of working. Facilities must be given for researches of manuscripts, excavations, editing of texts of

publications of every kind. Teachers better trained and more encouraged may bring up better students more intellectually equipped, of whom many be able to apply themselves to scientific research. There is no reason why teachers of Sanskrit should be less favourably treated them teachers of Latin in France or England. While Latin is only a small part of our heritage, Sanskrit is all in all in Indian culture. The small countries of Europe possess seminars where students of Orientalism gather to prepare works of interpretation and criticism

Why does India possess few of these research institutes ? Why has she not, as France or U. S. A., besides the University, a School for higher studies exclusively devoted to prepare young research workers and to direct their work ? What could succeed at Poona in the form of those undertakings of a national interest like the critical edition of the Mahābhārata or the Sanskrit Thesaurus, could as well succeed elsewhere.

The Occident during the last one hundred and fifty years hss created little by little the Sanskrit philology. It has raised what we call Indology to the level of the major disciplines of humanity. The great Indianists came one after another and taught to Indians, we may say, the method and the criticism at the time when they gave them the treasures of their living experience in the form of Original texts.

Now-a-days most of the countries of Europe are weakened, reduced to silence. India herself has to pursue the task to take the first place in the peaceful competition. She can afford it, thanks to the immensity of her resources in men. She ought to do it, because she is the home of Sanskrit, the fountain of one of the foremost spiritual powers of mankind, because she has the privilege, unique in contemporary humanity, to be the repository of a living tradition, which goes back to the origion of human knowledge.

(देखो— Journal of the Travancore University Oriental Manuscripts Library, Volume V, No. 2. April 1949, पृष्ठ १९ से २२ तक.)

विचारशील पाठक देखेंगे कि प्राध्यापक रेणू ने अपने इस लघु लेखमें संस्कृतसे सम्बन्धित प्रायः सभी समस्याओं पर सूत्ररूपसे उल्लेख किया है। विद्वान् स्वयं इसका विस्तार करेंगे।

अमेरिकासे एक अत्युत्तम—" हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज "-प्रकाशित हो रही है। उसके भूतपूर्वक प्रधान सम्पादक स्वर्गीय श्री रौकवेल लेनमेन (Rockwell Lanman) महोदयके उद्गार देखिये—

—I have increasingly high opinion of the value of Sanskrit as a disciplinary study. Quite a number of present or prospective lawyers have studied it under my instruction, and as I hope, not without profit.

(देखो—हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज संख्या ११ में प्रकाशित " पञ्चतन्त्र " पृष्ट XXXI)

संस्कृत-विरोधी एतद्देशीय लोगोंको, जो कि संस्कृतसे स्वयं अनभिज्ञ हैं, परन्तु किसी गुणके कारण उनको उच्च पदादि प्राप्त हैं, सुरभारतीके उपासक इस विद्वान्के इन शब्दोंसे लज्जित होना चाहिये।

श्रीयुत् प्राध्यापक बेट्टी हेमन (Betty Heimann) का एक अत्युत्तम लेख-" Why Study Sanskrit "-(अर्थात्--संस्कृत क्यों पढें ?) प्रकाशित हुआ है। सहृदयों के ऊहापोहार्थ तथा वामपक्षियोंके मुख-मुद्रणार्थ उसका कुछ अंश उद्धृत किया जाता है--

Thus the linguist, the artist, and the psychologist can find in the study of Sanskrit through the very fact of its antiquity an inexhaustible material for studies. The student of comparative religion similarly finds in the Sanskrit Literature a most inspiring field of

research. Through the early conception of a Nature-religion, as represented in Sanskrit religion and Hindu representative art, he comes near to the source out of which all later more abstract religious have developed.

Not only are the later Indian religious indebted to Sanskrit texts for their origion, but also the student of comparative religion in general has to be a humble pupil of anci— ent Indian religious concepts. Western Monotheism cannot be exclusively studied by itself, but has to be confronted with the various shades of Polytheism, Pantheism, Henotheism-ramnants of all these clearly survived in India's religions.

(देखो— Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Volume XXVIII, Part III-IV, पृष्ठ २९७)

आज लोग कह रहे हैं कि संस्कृतके ग्रन्थोंका हिन्दी आदिमें अनुवाद करके काम चलाना चाहिये ! आर्य-समाजका एक नियम है- वेदका पढना पढाना सुनना सुनाना आर्योंका परम धर्म है। उसी आर्य-समाजकी वेदी पर, दिल्लीमें आर्य-समाजके एक तथा-कथित नेताने कहा था कि हवनादिके समय मूल मन्त्रोंकी अपेक्षा अनुवाद-मात्र पढना चाहिये। उस नेता तथा उसके पिच्छलगुओंको उपर्युक्त पाश्चात्य विद्वान्‌के अनुभवपूर्ण शब्द कान खोलकर सुनने चाहिये—

As to the question of representing Sanskrit in modern translations, its richness of thought and forms cannot be reproduced in languages of later limited formation. Secondly, as men- tioned above, all its irrational and acoustic implications 'cannot be transferred into a language of less acute sound-perception. And thirdly, all translations are, as the very name suggests, only translations and subjective interpretations of the translator concerned. Thus none of them can provide an objective and full representation of the original. Again, Sanskrit is near to the foundation of thought and linguistic expression of the whole Indo- European language—group. As such Sanskrit cannot be exhausted in its inner wealth by a translation into any of its later and, as it were, deformed sister or daughter languages.

From all the above given aspects and reasons the claim can be upheld that the study of Sanskrit is an essential and a most fruitful task.

(देखो—उपरिनिर्दिष्ट पत्रिकाके पृष्ट २९९-३००)

वस्तुतः उक्त नेताका ऐसा कहना, एक अनाधिकार चेष्टा थी। वे लक्ष्मीवान् हैं, अतः समाजमें उनको सम्मान्य पद प्राप्त है। उन्होंने वेद पढे नहीं। संस्कृत तथा अन्य भी किसी भाषाके वे गम्भीर विद्यार्थी नहीं हैं। आर्य समाज आज अपने लक्ष्यसे च्युत हो चुका है। उसका कारण है, कोरे धनी व्यक्तियोंके पीछे लगना। प्रत्येक व्यक्तिको यथा-गुण उचित स्थान मिलना चाहिये। समाजकी चतुरस्र उन्नतिके लिये सभी प्रकारके व्यक्तियोंकी आवश्यकता है। जिसमें जो गुण है, उसको उसी द्वारा समाजकी सेवा करनी चाहिये। जिसमें जिस जिस क्षेत्रकी विशेषता नहीं हैं, तत्तद्विषयक कार्यको तत्तत्सम्पन्नके लिये रहने देना चाहिये। मानव पूर्ण नहीं है, उसमें कुछ अपूर्णता रहेगी ही। उसका लक्ष्य पूर्णता ही है। अथवा हम सभी मिलकर पूर्ण हैं।

कुछ पाश्चात्य विद्वानोंके मत और देखिये—

डब्ल्यू० सी० टेलर (W. C. Taylor)

" Sanskrit is a language of unrivalled richness and variety, a language, the parent of all those dialects that Europe has finally called classical.

(Journal of Asiatic Society
Volume II of 1934)

फ्रेड्रिक शालीगल (Friedrich Schlegel)

Sanskrit is the greatest language in the world, the most wonderful and the perfect. It is difficult to give an idea of the enormous extent and variety of that literature. The achievements in Gramm- atical analysis are still unsurpassed in Grammatical literature of any country.

*

सर डब्ल्यू० हण्टर (Sir W. Hunter)

Grammar of Panini stands supreme among the Grammars of the world ··· ··· It stands forth as one of the most splendid achievements of human inventiona nd industry.

Hindus have made a language, a literature and a religion of rare statelidess.

प्राध्यापक ह्राइटनी (Whitney)

Its exceeding age, its remarkable conservation of primitive materials and forms, its unequalled transparency of structure, give it (i. e. Sanskrit) an indisputable right to the first place among the tongues of the Indo-European family.

प्राध्यापक बोप्प (Bopp)

Sanskrit was at one time the only language of the world.

श्री एम्. डुबोइस (M. Dubois)

Sanskrit is the origion of the modern langurges of the Europe.

प्राध्यापक वेबर (Weber)

Panini is universally admitted for his shortest and fullest Grammar in the world.

प्राध्यापक विल्सन (Wilson)

No nation but the Hindu has yet been able to discover such a perfect system of phonetics.

प्राध्यापक थोम्पसन (Thompson)

The arrangement of consonants in Sanskrit is a unique example of human genius.

ये मत— " Memorandum on claims of Sanskrit As the State Language of India "— नामक पुस्तिका के परिशिष्ट ' ए ' (A) से उद्धृत किये गये हैं ।

आधुनिक भारतीयोंकी दृष्टिमें संस्कृत

विज्ञ पाठक बंगालके गवर्नर श्री कैलाश नाथ जी. काटजूके विचारोंसे भली भान्ति परिचित ही होंगे । इस विषयमें पं० नेहरूजीके विचारोंको जाननेके लिये उनकी प्रसिद्ध पुस्तक— " The Discovery of India " -के पृष्ठ १८२ से १८८ तकमें लिखित— " The vitality and persistence of Sanskrit " शीर्षक लेख अवलोकन करनेका कष्ट करें ।

कलकत्तासे " विश्वभारती क्वारटर्ली " (Vishva Bharati Quarterly) पत्रिका प्रकाशित होती है । कुछ काल हुये उसका एजूकेशन (Education) विशेषांक निकला है । उसकी समालोचनाके अवसर पर श्री ए० एस० नटराज एय्यर, लखनऊ विश्व-विद्यालयके प्रख्यात प्राध्यापक श्रीयुत राधा कुमुद जी मुखर्जीके शब्दोंमें लिखते हैं-

The Volume under review would stem the the tide which, in the words of Radha Kumud Mukerjee in his ' Ancient Indian Education (1947) ', is sweeping India off her traditional moorings, the anchor of her soul, to drift into the unfathomed waters of unchartered seas and it is, therefore, of utmost concern to her future that she must not drift away from her national heritage and basic ideals in the sphere of culture and learning where her achievements constitute to this day her tide to recognition in the comity of nations of the world. India is still in request in the world for the treasures of her thought. These treasures are embedded in Sanakrit and its off—shots; Pali and the Prākrits which will remain in the literature of the world remarkable for its vastness, volume, variety, quality and longevity and justifies the education of which it is the product.

(देखो— The Journal of the Ganga Nath Jha Research Institute, Volume V, Part 3, पृष्ठ २६१)

लखनऊमें स्वर्गवासी पं० शालग्रामजी शास्त्री संस्कृतके अद्वितीय विद्वान् रहा करते थे। यद्यपि उनके विचार आर्य-समाजी नहीं थे, तथापि आर्य--समाजके सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० बुद्धदेवजी विद्यालंकारने "शतपथ" ब्राह्मणकी टीकाके अवसर पर मंगलाचरणके श्लोकके निम्न शब्दों द्वारा यथार्थ भक्ति प्रदर्शित की है—

श्रीगुरोः शालग्रामकृपा यदि पुनः पाण्डित्यलेशः क्वचित् ॥

साहित्य दर्पणके टीकाकार, लगभग चालीस वर्ष पूर्व जब युक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) की धारा सभामें एक कर्नलके आयुर्वेदकी अवैज्ञानिकता पर एक दीर्घ भाषणका "आयुर्वेद महत्त्व" नामक लगभग २५० पृष्ठकी पुस्तक द्वारा उत्तर देनेवाले, इन्हीं पं० शालग्रामजी की एक कविता लगभग ३५ वर्ष हुये "सुरभारती सन्देशः" नामसे सरल संस्कृतमें प्रकाशित हुई थी। उस कविताका महत्त्व आज भी उतना ही है, अतः उसको उद्धृत कर इस लेखको समाप्त किया जाता है--

॥ सुरभारती सन्देश ॥

(गीतिः)

अयि वन्दनीयभावाः! सदया! महानुभावाः।
भवतोऽवतो रसज्ञान् सुरभारतीदमाह ॥ १ ॥

विनयो नयोचितश्चेन्न निरादरो विधेयः।
दरकारणं विचेयं गदवारणं विधेयम् ॥ २ ॥

अधिकर्णमर्पणीया सुचिरं विचारणीया।
हृदये निवेशनीया सुरभारती कथेयम् ॥ ३ ॥

"इदमस्ति भारतं मे ननु भारतीयमास्मि।
सुरतामुपेतवन्तो मम भावमाश्रिता ये ॥ ४ ॥

प्रलयोदयौ तु सृष्टेः शतशो मयानुभूतौ।
जगदादिसंविधा मे नयनाग्रतः स्फुरन्ति ॥ ५ ॥

कमलासनः स वक्ता ऋषयः श्रुतार्थिनस्ते।
सहचारिणी च साऽहं जगतः पितामहस्य ॥ ६ ॥

नवसर्गवर्ग वेदी वेदोपदेशयज्ञे।
स्मृतिगोचरीभवन्ती परिमोहयन्त्यजस्रम् ॥ ७ ॥

कुरुते पुरोगलं याऽखिल भूतभाविभव्यम्।
मयि सा समाधिविद्या बहुभिः समाहितेयम् ॥ ८ ॥

मनसामनेषणीयं वचसामगोचरं यत्।
न तदक्षरं विदूरे ननु मे स्तनन्धयानाम् ॥ ९ ॥

विषयावली वलीढा ज्वलदाधयो विदूनाः।
मम सन्निधौ समेता शममाशु संश्रयन्ते ॥ १० ॥

× जगतीतलं च जित्वा बहुलैर्बलैरुदग्राः।
मम सूनुसंगमेन महिमानमुत्सृजन्ति ॥ ११ ॥

परिचारिता पृथिव्यामिह सा मयैव नीतिः।
अबलो यया बलीयान् बलवत्सु निर्विशङ्कम् ॥ १२ ॥

इह धर्मभीतिरेषा परलोकगीतिरेषा।
परिलक्षिताऽन्यगेहे कतमेत्त वा ? क्व वेयम् ॥ १३ ॥

स्मरणीय नीतिविद्या निखिलावनी हिता या।
रामादिभूप भूषा परिशेषिता मयेयम् ॥ १४ ॥

ऋषयो वशिष्ठ मुख्या मम रक्षिणो यदाऽऽसन्।
परिचारिका तदा मे जगदाधिराज्यलक्ष्मीः ॥ १५ ॥

कपिलः पतञ्जलिस्तौ कणभुक् प्रशस्तपादौ।
पुलिनोद्भवो महर्षिः सच जैमिनिमुनीशः ॥ १६ ॥

अमृतं निषिक्तवन्तो मम यत्कले वरे ते।
न हि तद्धिया यमो मे दिशि दत्तदृक् कदापि ॥ १७ ॥

अजरीकरः प्रयोगः पणिनात्मजेन यो मे।
मुनिना कृतः शरीरे, परिवर्तनं स रुन्धे ॥ १८ ॥

कविकालिदासदत्तं नयनाम्रतं मदीये।
कुरुते दृशौ सशक्ते परि लोकितुं दिगन्तम् ॥ १९ ॥

इतिवृत्तमेतदेवं हहहा गतं तदेतत्।
अधुना तु शोचनीयं कुदशान्तरं गताऽहम् ॥ २० ॥

अलसो विमूढचेताः सकलोपि मे स्ववर्गः।
सकलेशताविहीना बत दुर्गतिं वहेऽहम् ॥ २१ ॥

जगदाधिराज्यलक्ष्मी ललितौ यदीय पादौ।
वसनाशनाय साऽहं सदयं "सभासु" याचे ॥ २२ ॥

× श्री कन्दर (सिकन्दर) स्य ऋषिसमागमकथाऽत्रानु सन्धेया।

वसनाशनैर्मदीयैरुपजीविता यदम्बा ।
कथयन्ति हन्त ! ते मां ' हतभागिनी मृतेयम् ' ॥ २३ ॥
भृशमास्मि जातलज्जा भवदीयपौरुषेषु ।
दलितामहो, यदन्यैर्ननु मातरं सहध्वम् ॥ २४ ॥
वरमास्मि बन्ध्यगर्भा न पुनर्निरीहमन्दैः ।
अलसैः सुतैरसंख्यैरिहपुत्रिणी भवेयम् ॥ २५ ॥
मम दुर्गतं न चिन्त्यं मरणं वरं मदीयम् ।
न पुनः सपत्नजानां कटुभाषितं सहेयम् ॥ २६ ॥
किमिदं न शोचनीयं निमिषत्सु हा भवत्सु ।
यदहं स्वयं सशस्त्रा समराय साधयेयम् ॥ २७ ॥
स्मरणीयमेतदद्धा ननु सा समाधिसिद्धिः ।
विपदेकरक्षिणी मे जगदादि भूविसृष्टा ॥ २८ ॥
तदहं बहु प्रदूना न च रक्षिता भवद्भिः
करुणामयान्तरां तां सुसखीं समाश्रयेयम् ॥ २९ ॥
शयिता तदङ्कशय्यामधिशय्य निर्विशङ्कम् ।
चिरकालजातबोधा पुनरप्यहं वहेयम् ॥ ३० ॥
परमेतदेव चिन्त्यं वदनेषु वो विलग्ना ।
मलिना कलङ्कलेखा सुशका विमार्जितुं किम् ॥ ३१ ॥
जननीमरक्षयित्वा सुकृतं च भक्षयित्वा ।
किमु जीवनाय कश्चिद् वरसंश्रयं गतोऽहम् ॥ ३२ ॥
तदतः परं न शक्ता गदितुं सगद्गदाऽहम् ।
रहसिस्थिता विशङ्कं करुणञ्च रोदयेयम् " ॥ ३३ ॥
विनयो नयोचितश्चेन्न निरादरो विधेयः ।
दर कारणं विचिंत्य गदवारणं विधेयम् ॥ ३४ ॥
अधिकर्णमर्पणीया सुचिरं विचारणीया ।
हृदये निवेशनीया सुरभारती कथेयम् ॥ ३५ ॥

राजस्थान की जनता के नाम

अपील

राजस्थानका प्रत्येक व्यक्ति इस बातको जानता है कि यहांके प्रत्येक कोनेमें गाय-बैल-सांड-अमरबकरा-मोर-चीलके वध करने पर किसी न किसी प्रकारका राजाज्ञा द्वारा आज तक प्रतिबन्ध था ।

इसका केवल कारण यही था, कि जनता इस बातकी ओरसे जागृत थी, कि यह धन हमारा जीवन-केन्द्र है व इसकी जीवन रक्षा व उन्नतिसे हमारी धार्मिक, शारीरिक, आर्थिक, व कृषि उन्नति होगी, जनताकी इन्हीं भावनाओंका आदर करके राजस्थानके तत्कालीन राज्योंने इनका वध विशेष आज्ञाओं द्वारा निषेध कर दिया था, उदाहरणार्थ मारवाडमें पीनल कोडमें दफा २९८ अ जोड दी गई थी ।

यह जानकर अत्यन्त दुःख होता है, कि जब कि भारतवर्षमें जहां ऐसा विशेष प्रतिबंध विदेशी शासकोंके कारण पूर्व नहीं था, वहां तो अब इस प्रकारके प्रतिबन्धकी आवश्यकताओंको समझकर स्थान २ पर लगाये जारहे हैं, किन्तु हमारे राजस्थानमें यह प्रतिबंध होते हुवे भी उठा लिया गया है । राजस्थान पीनल कोड (एडेपटेशन) आर्डीनेन्स १९४९ ता० ११-११-४९ जो राजस्थान राज-पत्र में प्रकाशित हुआ है, वह इसी बातका द्योतक है ।

इस प्रतिबन्धके हटजानेसे यहांकी जनताको दूध, घी, दहीकी कमी होगी, घी अशुद्ध मिलेगा, पशुधन मिलना कठिन होगा, व जनता की आर्थिक कठिनाइयां बढ जावेंगी व धार्मिक विश्वासों पर भी कुठाराघात होगा । इसके आतीरिक्त राजस्थानमें गायों-बैलों आदिके बूचडखाने खुल जावेंगे ।

अतः हमारी जनतासे सादर विनय है कि यह अपनी इस आवश्यकताको समझकर इस प्रतिबन्धको पुनः लगवानेका वैधानिक तौरपर भरसक प्रयत्न करे । जनतन्त्रीय सरकार जनताकी आवाजका अवश्य सत्कार करेगी ।

राजस्थानके प्रत्येक नागरिकका इस समय परम कर्तव्य है कि वह व्यक्तिगत व सामूहिक रूपसे इस कार्यमें सहयोग देकर भारतीय परम्पराको अक्षुण्ण रखे ।

डीडवाना
दिनाङ्क... ... ...

विनीत
श्री वैदिक धर्म सभा, डीडवाना.

राजयोगके मूलतत्त्व और अभ्यास

(प्रकरण ४ था)

लेखक-- श्री. राजाराम सखाराम भागवत, एम्. ए.
अनुवादक— श्री. महेशचन्द्रशास्त्री, विद्याभास्कर

मनुष्य और उसके आसपासका क्षेत्र

राजयोगी घोडेपर बैठकर अपनी मंजिल शीघ्र पूरी करनेवाला मनुष्य होनेके कारण ज्ञानेश्वरने उसके लिये जो उल्लेख किया है वह मराठीमें इस प्रकार है " जो राजयोगतुरंगी । आरूढला " (१८, १० ४७) जिसका उपर्युक्त भाव है। स्वाभाविक रूपसे उत्क्रान्ति भावनाके अनुसार जिस उन्नतिके शिखरपर मनुष्य धीरे धीरे पहुँच जाता है। उस शिखरको व्यवस्थित प्रयत्न करके शीघ्र पा लेनेका जो प्रयत्न है उसीको योग कहते हैं। यह बात पहले कही जाचुकी है। इस उन्नति शिखरतक पहुँचनेके लिये जो प्रयत्न किया जाता है, उसका क्या स्वरूप है, इस बातका ब्योरेवार विचार किये बिना योगका विषय स्पष्ट नहीं हो सकता। इसलिये उसके विषयमें इस प्रकरणमें विचार किया जायेगा।

मनुष्यके उन्नति शिखरतक पहुँच जानेका अभिप्राय यह है कि उसके दोष पूर्णतः नष्ट हो जावें और उसके अनेक गुणोंका एवं शक्तियोंका चरम सीमातक विकास हो जावे। साधारण कोटिके मनुष्यमें दोष कौनसे रहते हैं तथा गुण कौनसे रहते हैं यह बात प्रत्येक विचारशील व्यक्ति जानता है। उसके वे दोष जब पूर्णतः विनष्ट हो जावें और गुणोंकी चरम सीमातक जब उसका उत्कर्ष हो जावे; नीतिमत्ता, बुद्धिमत्ता, और पराक्रम इन तीनों ओरसे जब मनुष्यकी उन्नति परिपूर्ण हो जावे तो वह ईश्वरके समान हो जाता है; ऐसा कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं है। ईश्वरका वर्णन पतञ्जलिने इस प्रकार किया है ' **क्लेशकर्मविपाकाशयैः अपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।** (१, २४ से २६) अर्थात् जिसे क्लेश नहीं है, कर्मके परिणाम जिसे नहीं भोगने पडते ऐसा जो उत्तम प्रकारका पुरुष (अथवा व्यक्ति) है, वही ईश्वर है। उसमें सर्वज्ञताके बीज पराकाष्ठामें रहते हैं। पूर्व समुत्पन्न हुये व्यक्तियोंका वह गुरु है। कालकी मर्यादा उसे नहीं है। ऐसी स्थिति तक ईश्वर पहुँचा हुआ है। इस स्थितितक पहुँचनेका ही अभिप्राय उन्नतिशिखरतक पहुँचना है। जो मनुष्य इस स्थितितक पहुँच जाता है वह ईश्वरसे एकरूप हो जाता है और ईश्वरके समान हो जाता है। ऐसे मनुष्यको मुक्त, स्थितप्रज्ञ, जीवन्मुक्त, ऋषि आदि नामोंसे संबोधित किया जाता है। उनका मूल्य हमारी अपेक्षा बिल्कुल भिन्न होता है। सत्यको समझनेकी अनेक नवीन खिडकियाँ उसके अन्तरङ्गमें खुली रहती हैं। इन मनुष्योंमें और ईश्वरमें अन्तर नहीं होता। कमसेकम ऐसा अन्तर तो नहीं होता जो हम और आप पहचान सकें। हम और आप पहली कक्षाके विद्यार्थीके समान हैं। विश्वविद्यालयके उपाधिधारी, प्राध्यापक, कुलगुरु ये सबके सब उस विद्यार्थीको समानरूपसे सुचतुर दिखाई पडते हैं। उसी प्रकार सभी स्थितप्रज्ञ व्यक्ति साधारण मनुष्यको ईश्वरके समान प्रतीत होते हैं। उनमें यदि कोई पारस्परिक सम्बन्ध हो तो वह उन्हे दिखाई नहीं देता। यदि दीख भी जावे तो उसकी चर्चा उनके लिये अत्यन्त अव्यवहार्यसी है। जो मनुष्य कमरतकके पानीमें पैर रखनेमें भी डरता हो वह यदि यह चर्चा करने लगे कि मेरे लिये पॅसिफिक महासागरमें गोता लगाना कठिन होगा या अटलांटिक महासागरमें गोता लगाना कठिन रहेगा, तो यह चर्चा जिस प्रकार उसके लिये अव्यवहार्य है उसी प्रकार ईश्वर एवं ईश्वरके समान हुए व्यक्तिमें कौनसा पारस्परिक सम्बन्ध है, इस प्रकारकी चर्चा भी अव्यवहार्य है।

मनुष्यकी सभी शक्तियोंका यदि परम विकास होना है तो उस परम विकासकी कल्पना करते समय वे शक्तियाँ कौन कौनसी हैं, इसका हिसाब लगा लेना आवश्यक है। मनुष्य अपने चारों ओरके संसारमें नाना प्रकारके व्यवहार करता है वह संसार किस प्रकारका है इसकी जांचपडताल किये बिना उसके व्यवहारोंकी तथा व्यवहारशक्तियोंकी कल्पना हम नहीं कर सकते।

आजका मानव प्राणी इस प्रकारका है जैसा अर्ध विकसित वृक्ष। इस वृक्षके जड है, तना है, थोडीसी शाखायें हैं, किन्तु जड अभी बहुतबडी और बहुत गहराई तक पहुँची हुई नहीं है। तना बहुत मोटा नहीं है, उँचाई मध्यम है, शाखायें और पत्ते हैं किन्तु अधिक नहीं है। जब यह वृक्ष और बढेगा तब उसमें अधिक शाखायें और पत्ते निकलेंगे और वह जमीनमें चारों ओर अधिक गहराईतक पहुँचेगा। तना बडा होगा, उँचाई बढेगी, शाखायें बडी बडी और अत्यधिक होंगी और पत्ते घने हो जायेंगे। इतना ही नहीं, अपितु पहिले उसमें जो कलियाँ नहीं थी, फूल न थे, फल न थे, वे सब नवीन पैदा हो जायेंगे। मनुष्य इसी प्रकारके वृक्षके समान है। उसके गुणधर्म एक विशिष्ट मर्यादातक ही आज विकसित हुए हैं। वे आगे उत्क्रान्तिक्रमसे और भी विकसित होने हैं। इसके अतिरिक्त आज अन्तःप्रज्ञा, अन्तःस्फूर्ति आदि जो बातें उनमें कुछकुछ प्रकटसी हो गई हैं, वे पुष्पित होनी हैं और आज जो बातें उनमें बिलकुल दिखाई नहीं देती वे नई पैदा होकर आगे विकसित होनी है। इन सब बातोंकी कल्पना हो सकनेके लिये मनुष्य और उसके आसपासके क्षेत्र इन दो बातोंका सूक्ष्मरूपसे विचार करना आवश्यक है।

आसपासका संसार

मनुष्यके चारों ओरका यह संसार है। उसमेंका कुछ भाग हमें दिखाई पडता है और कुछ भाग दिखाई नहीं पडता। पृथ्वीके चारों ओर हवाका आवरण है, उसे हम अपनी आँखोंसे नहीं देख सकते। पृथ्वीके चारों ओर ईश्वर नामका एक दूसरा विरल पदार्थ फैला हुआ है, ऐसा अनेक शास्त्रज्ञोंका कहना है। वह पदार्थ भी मनुष्यको दिखाई नहीं देता। अनेक सूक्ष्म रोगजन्तु हमारे शरीरमें घुसकर रोग पैदा कर देते हैं, उन्हे देखनेकी शक्ति भी मनुष्यकी आँखोंमें नहीं है। निष्कर्ष यह कि चारों ओरके जगत्का कुछ भाग मनुष्यके लिये इन्द्रियगम्य है तथा कुछ भाग इन्द्रियगम्य नहीं है या अज्ञात एवं अदृश्य है। मनुष्यकी अपने स्वयंके विषयमें भी ऐसी ही स्थिति है। उसके शरीरका कुछ भाग हमें दिखाई देता है; किन्तु पेटकी हवा दिखाई नहीं देती, फेंफडोंकी हवा दिखाई नहीं देती, खूनमें प्रवाहित होनेवाले सफेद और लाल रक्त गोलक दिखाई नहीं देते।

मनुष्य जब कानोंसे कोई ध्वनि सुनता है तो उस ध्वनिके हवाके अन्दरके कम्प कानके पडदेपर गिरते हैं और पर्देके पीछे आस्थि, स्नायु और मज्जाकी जो एस दूसरेसे गुंथी हुई जालीसी है, उससे होकर आगे मस्तिष्कमें घुसती है; किन्तु मस्तिष्कमें घुसकर आगे कहाँ जाती है यह दिखाई नहीं देता हवाके कम्प या लहरें अन्य जड पदार्थों जैसा पदार्थ है। किन्तु वे लहरें कानोंमें घुसनेपर ध्वनि नामकी प्रतीति मनको होती है। यह प्रतीति ज्ञानमय है; अन्य पदार्थोंकी तरह जड या निर्जीव नहीं है। लहर जैसे निर्जीव पदार्थसे ज्ञान जैसी ज्ञानमय वस्तु किस प्रकार पैदा होती है, कहाँ पैदा होती है, यह भी मनुष्यके लिये अदृश्य है।

ये बातें अदृश्य क्यों हैं? उनका अनुभव लेनेकी शक्ति मनुष्यके मन और इन्द्रियोंमें नहीं है। मनुष्यकी इन्द्रियोंकी शक्ति आज एक विशिष्ट समितक विकासित हुई है। इस सीमाके अन्दरकी सब बातें वह प्रत्यक्ष देख सकता है और जान सकता है। समिाके बाहरकी बातें उसके लिये अज्ञात होती हैं; इसलिये उन बातोंके लिये वह 'अज्ञात' शब्दका प्रयोग करता है। सृष्टिका और मनुष्यका यह जो अज्ञात भाग है; उसका ज्ञान अपनी इन्द्रियोंकी शक्ति बढाकर अनेक अधिकारी पुरुषोंने प्राप्त किया है। हमेशा की इन्द्रियोंका उपयोग करके हम जिस प्रकार अपने शरीरके चारों ओरके जगत्का अवलोकन करते हैं; उसी प्रकार अत्यधिक विकसित इन्द्रिय शक्तियोंसे इन अधिकारी पुरुषोंने अपने अन्तर की अदृश्य बातें तथा सर्वत्र व्यापक जगत्के अदृश्य पदार्थोंका अवलोकन करके वे बातें या ज्ञान संसारके सामने रक्खा है। वह ज्ञान संसारके सब धर्मोंमें है। हिन्दू धर्ममें तो विशेष रूपसे स्पष्ट है। उसमेंका बहुत सा अंश 'थियोसफी' नामक आधुनिक आन्दोलनमें कुछ मनुष्योंने पुनः अवलोकन कर नये रूपमें संसारके सामने रक्खा है।

इस नईपुरानी जानकारी पर विचार करनेके बाद मनुष्यके चारों ओर एक ही सृष्टि या एक ही जगत् न होकर अनेक प्रकारकी सृष्टि और अनेक प्रकारके जगत् हैं, ऐसा कहना पडता है। इस प्रत्येक सृष्टिके लिये हिन्दू धर्मने 'लोक' नाम रक्खा है। भू लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक इत्यादि अनेक लोकोंका वर्णन हिन्दू धर्ममें वर्णित है। ये सब लोक पृथ्वीके चारों ओर फैले हुए हैं।

एक स्पंज लेकर उसे सोडावाटरमें डुबाकर बाहर निकाला जाय तो उसमें स्पंज, पानी और गैस ये एक दूसरेमें मिली हुई, एक ही स्थानपर आश्रित दिखाई देंगी। स्पञ्जका द्रव्य घन है, उसके अन्दरका पानी प्रवाही द्रव्य है और पानीके अन्दरका

गॅस वायुरूप द्रव्य है। एक द्रव्य दूसरेकी अपेक्षा अधिक विरल होनेके कारण एक ही अवकाशमें स्पंज, पानी और गॅस ये परस्पर बाधक न होकर रह सकते हैं। इस उदाहरणसे पाठक समझ सकेंगे कि पृथ्वीके चारों ओर अनेक लोक किस प्रकार बसे हुए हैं।

घन पृथ्वी, उसके आसपासका समुद्रवलय और उसके ऊपर वायुका आवरण इत्यादि द्रव्योंका जो 'लोक' है उसे **भूलोक** कहते हैं। इस भूलोकके ही स्थानपर अधिक पतला और विरल द्रव्यका एक दूसरा आवरण पृथ्वीको लिपटकर है। इस आवरणको **भुवर्लोक** कहते हैं। भुवर्लोकके द्रव्यसे एक अंश और अधिक विरल द्रव्यका और एक आवरण पृथ्वीके चारों ओर है। उसे हिन्दूधर्ममें **स्वर्लोक** कहते हैं। पृथ्वीके आसपास ऐसे अनेक लोक हैं। एकका द्रव्य दूसरेकी अपेक्षा अधिक विरल होनेके कारण वे लोक एकत्र ही अर्थात् पृथ्वीके आसपास ही बसे हुए हैं। ध्वनि निर्माण करनेपर घण्टेके द्रव्यमें और आसपासकी हवामें कम्प पैदा हो जाता है और सर्वत्र फैल जाता है अर्थात् भूलोकमें फैल जाता है। अतः ध्वनि फैलनेका क्षेत्र भूलोक है ऐसा कहें तो कुछ गलत न होगा। मनुष्यके मनमें संतापकी स्वार्थी भावना पैदा हो जाये तो हवामें कोई हलचल नहीं होती। किन्तु भुवर्लोकके जो द्रव्य हमारे आसपास फैले हुए हैं, उसमें कम्प होता है ओर चारों और फैलते हैं ऐसा अनुभव है। तर्कके विचार मनमें आनेपर उसका परिणाम हवापर नहीं होता; किन्तु स्वर्लोकके जो द्रव्य हमारे आसपास हैं उनमें हलचल पैदा होती है और सर्वत्र फैल जाती है। इससे स्थूलरूपसे ऐसा कहा जासकता है कि हमारे आसपास भूलोक नामका एक लोक है, उसके अन्दरके द्रव्य ध्वनिसे कम्पित होते हैं, भुवर्लोक नामका दूसरा एक लोक है, उसके अन्दरका द्रव्य मनुष्य हृदयमें होनेवाले स्वार्थी व्यापारोंसे-वासना-भावनाओंसे-कम्पित होता है, और स्वर्लोक नामका जो तीसरा लोक है, उसके अन्दरका द्रव्य उसके अन्तरङ्गमें विचरनेवाले विचारोंसे कम्पित होता है। इस प्रकारके और भी लोक मनुष्यके चारों ओर बसे हुए हैं।

इन प्रत्येक लोकोंमें कुछ प्रक्रियाएँ जारी रहती हैं, दृश्य होते हैं और किन्हीं किन्हीं जीवोंकी बस्ती भी रहती है। भुलोकमें प्रमुखतः क्रियाकी हलचल जारी रहती है। मनुष्य पशु पक्षी, वनस्पति आदि जीव उस लोकमें रहते हैं और नदियोंके सर्पाकार प्रवाह, पर्वतोंके उत्तुङ्ग शिखर, धरित्रीपर फैली हुई हरियाली और नील आकाशमें घूमनेवाले बादल इत्यादि दृश्य होते हैं। भुवर्लोकमें वासना-भावनाओंकी प्रक्रिया जारी रहती है। मृत मनुष्य और देव देवता उसमें रहते हैं तथा देवमानवोंकी हृदय वृत्तियोंसे आन्दोलित हुए रंगबिरंगे द्रव्योंका दृश्य वहाँ रहता है। स्वर्ग एवं अन्य लोकोंमें भी कुछ विशिष्ट प्रक्रियायें जारी रहती हैं। वहाँ भी नाना प्रकारके जीवोंका अस्तित्व होता है और कुछ भिन्न प्रकारके दृश्य होते हैं। इन अनेक लोकोंमेंसे मनुष्यको केवल भूलोक अंशतः दिखाई देता है। बाकीके लोक उसके चारों ओर फैले हुए होनेपर भी वे विरल होते हैं तथा इन्द्रियोंके लिये अदृश्य द्रव्योंके बने हुए होते हैं; अतः वे लोक आसपास होनेपर भी अदृश्यसे लगते हैं और उन लोकोंकी प्रक्रिया, जीव एवं दृश्य उसके लिये बिलकुल अज्ञेयसे रहते हैं।

मनुष्यके शरीर

जिस प्रकार एकसे अधिक लोक अस्तित्वमें हैं, उसी प्रकार मनुष्यके अेकसे अधिक 'शरीर' भी अस्तित्वमें हैं। किन्हीं ग्रन्थोंमें उनके लिये स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि नामोंका प्रयोग किया गया है। अन्य ग्रन्थोंमें उन्हे कोष कहा है तथा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय इत्यादि नामोंसे उल्लेख किया गया है। मनुष्यका हाडमांसका जो शरीर है, उसके अन्दर और बाहर ये दूसरे शरीर रहते हैं। विरल द्रव्योंके होनेके कारण वे हमें दिखाई नहीं देते। एकका द्रव्य घन, दूसरेका विरल, तीसरेका उससे भी अधिक विरल, इस प्रकार होनेके कारण ये सारे शरीर बिना एक दूसरेको बाधा पहुँचा ये एक ही स्थानपर रह सकते हैं। प्रत्येक शरीर और प्रत्येक लोकका जांच पडताल की हुई रहती है।

प्रत्येक लोकमें काम करनेके लिये मनुष्यके पास एक एक शरीर होता है, × जैसे किसीको जमीनसे, पानीसे और हवासे यात्रा करके कुछ काम निपटाना है। उसके पास साइकल, नांव और हवाईजहाज ये तीन साधन हैं। वह जब जमीनसे यात्रा करेगा तो साइकलका उपयोग करेगा, पानीसे जब यात्रा करनी होगी तो नांवका उपयोग करेगा और हवामें उडकर जाना होगा तो हवाई जहाजका उपयोग करेगा। जमीन, पानी और हवा ये तीनों उसके व्यवहार क्षेत्र हैं और साइकल, नांव तथा

× अधिक जानकारी अपेक्षित हो तो डॉ० एनी बेसेन्ट कृत The Man and His Bodies तथा मि. लेड बीटरकृत The Man Visible and invisible ये पुस्तकें देखनी चाहिये।

हवाई जहाज ये उन क्षेत्रोंमें उद्योग करनेके साधन हैं। इसी प्रकार मनुष्यके आसपास भूलोक है। वह इस भूलोकमें रहता है और इस भूलोक नामक क्षेत्रमें व्यवहार करनेके लिये दृश्य शरीर (जड शरीर, स्थूल शरीर) उसे साधन रूपसे प्राप्त है। मनुष्यके आसपास भुवर्लोक, स्वर्लोक आदि इस प्रकारके और भी लोक हैं, वह केवल भूलोकमें ही नहीं रहता अपितु इन दूसरे लोकोंमें भी वह उसी समय रह सकता है। इन प्रत्येक लोकोंमें व्यवहार करनेके लिये और भी एक एक शरीर रहता है।

इस प्रकार लोक और शरीरका अन्योन्य सम्बन्ध एवं समानता रहती है। साइकलपर बैठनेवाले मनुष्यकी विशेष प्रकारकी अवस्था रहती है। साइकलपर बैठा हुआ मनुष्य साइकल रुकजानेपर उसके ऊपर स्थिर नहीं रह सकता। साइकलको तेजीसे चलाना जैसे सरल है, वैसे उसको धीरे धीरे चलाना सरल नहीं है। साइकल अत्यन्त सकरे मार्गसे जा सकती है किन्तु पैडियोंके ऊपर उसे चढाया और उतारा नहीं जा सकता। पैदल चलनेवाला मनुष्य जिस प्रकार एकदम पलट कर आये हुए रास्तेसे सरलतापूर्वक लौट सकता है वैसे साइकल सवार नहीं लौट सकता; किन्तु चलनेके वेगकी दृष्टिसे साइकल तेजीसे जाती है और कम समय तथा कम परिश्रमसे उसे उद्दिष्ट स्थानपर लेजाया जा सकता है। इस प्रकार साइकलके ये विशिष्ट गुणदोष और नफा--नुकसान हैं; अतएव यह मानना पडेगा कि साइकल सवार एक विशिष्ट अवस्थामें रहता है।

साइकलसवार और नावपर यात्रा करनेवाले व्यक्तियोंकी अवस्था भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है। एकका व्यवहार दूसरे के व्यवहारकी अपेक्षा भिन्न प्रकारका रहता है। इन व्यवहारों--को करते समय जिस प्रकार उनकी एक विशिष्ट अवस्था रहती है; उसी प्रकार एक शरीरसे भूलोकमें उद्योग करते समय मनुष्यकी एक विशिष्ट प्रकारकी स्थिति या अवस्था हुआ करती है और दूसरे शरीरसे भुवर्लोकमें व्यवहार करते समय कुछ भिन्न प्रकारकी स्थिति या अवस्था रहा करती है। इन प्रत्येक अवस्थाओंमें रहते समय मनुष्य बहिर्मुख होकर एक प्रकार की क्रिया करता है या अन्तर्मुख होकर दूसरे प्रकारकी क्रिया करता है। साइकल सवार बहिर्मुख होकर साइकलका धक्का दूसरेको न लग सके इस बातका ध्यान रखता है और रास्ते की बहुतसी बातें देखता रहता है और अन्तर्मुख होकर यह सोचता रहता है कि मैं कितने समयमें अपने अभीष्ट स्थानपर पहुँच जाऊँगा। इसीतरह प्रत्येक लोकमें उस उस शरीरसे व्यवहार करते हुए जिस अवस्थामें रहता है; उस अवस्थामें वह बहिर्मुख होकर आसपासकी सृष्टिका अवलोकन एवं उसके अन्दरके व्यवहार आदि कर सकता है तथा अन्तर्मुख होकर अन्तरङ्गकी शक्तियोंका उपयोग करके दूसरे प्रकारके व्यवहार भी कर सकता है। ÷ यह विषय अगले कोष्ठकके द्वारा और अधिक स्पष्ट हो जायेगा---

आदर्शमानव भिन्न भिन्न भूमिकाओंपर भिन्न भिन्न व्यवहार किया करता है, अनुभव लिया करता हैं और लोक-संग्रह किया करता है। कनिष्ठ भूमिकापर जब वह व्यवहार करता है तब उसे 'वैश्वानर' कहते हैं। ऊपरकी भूमिकापर व्यवहार करते समय उसे 'तैजस' कहते हैं। उससे भी ऊपरकी भूमिकापर कार्य करते समय उसे 'प्राज्ञ' कहा जाता है भिन्न भिन्न भूमिकापर कार्य करनेवाले उन मनुष्योंके ये नाम हैं। उन सबका इस सन्दर्भमें उल्लेख किया है। उन उन भूमिकाओंपर व्यवहार करनेके लिये उनके कौनसे देह आवश्यक हैं वह दूसरे संदर्भमें दिखाये गये हैं। अत्यन्त कनिष्ठ भूमिकाका व्यवहार स्थूलदेहसे होता है, उससे एक भाग ऊपरका व्यवहार सूक्ष्म देहसे होता है और इसी प्रकार आगे भी होता है। उन व्यवहारोंको करते समय जो परिस्थिति, जो क्षेत्र जो सृष्टि या जो लोक उसके आसपास फैला रहता है और जिन लोकोंमें वह व्यवहार चलता है, उन लोकोंके नाम तीसरे संदर्भमें देकर सब से निचला जो भूलोक है वह प्रथम दिया है और अगले लोकोंका निदर्शन क्रमशः उसके बाद किया है। इन व्यवहारोंके जारी रहते हुए मनुष्यकी जो अवस्था हुआ करती है उसका नाम चौथे कालममें रक्खा है। पांचवे कालममें व्यवहारका निर्देश है और उसके जो दो प्रकार-अन्तर्मुख और बहिर्मुख है, उनका वर्णन किया है।

वास्तवमें जितने शरीर उतने लोक, उतनी ही अवस्थायें और उतने ही प्रकारके व्यवहार, ऐसा होना चाहिये। किन्तु

÷ कुछ परमश्रेष्ठ अवस्थायें ऐसी होती हैं कि उनमें बहिर्मुखता और अन्तरमुखताका भेद नहीं रहता। किन्तु ये अवस्थायें इतने उच्चकोटिकी हैं कि राजयोगमें जो व्यक्ति बहुत आगे जा चुके होते हैं वे ही वहाँ तक पहुँच पाते हैं। किन्तु पाठक यह न भूलें कि केवल इस बातको अपवादात्मक मानकर अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता का उल्लेख हमने यहाँ किया है।

संस्कृत ग्रन्थोंमें ऐसा एक सूत्रीत्व न होनेके कारण प्रत्येक सन्दर्भ (विभाग) में परीक्षणात्मक उतने ही नाम आमने सामने रक्खे न जा सके। एक तो इसमें भावी उत्क्रान्तिका भाग बहुत कुछ होनेके कारण उसका सुव्यवस्थित एवं स्पष्ट कोष्ठक किसीने तैयार नहीं किया। संस्कृत तत्व-चिन्तनके अन्तर्गत छः दर्शन हैं और प्रत्येक दर्शनका दृष्टिकोण भिन्न होनेके कारण विषयकी आसानीके लिये उसमेंके विभाग भिन्न भिन्न प्रकारसे दर्शनकारोंने किये हैं।

शहरके विभाग म्युनिसिपल चुनावकी दृष्टिसे किये जाँय तो एक विशेष प्रकारसे करने होंगे, जनताको पानी पहुँचानेकी दृष्टिसे ऊँचे नीचे हिस्सोंका ध्यान रखकर विभाग किये जाँय तो वे दूसरे ही प्रकारके होंगे और जनताके अल्पाधिक सुसंस्कृत प्रमाणके आधारपर किये जांय तो वे एक तीसरे ही प्रकारके होंगे। लोक, देह, अवस्था आदिका वर्गीकरण इसीलिये हिन्दू धर्ममें भिन्न भिन्न ग्रन्थ कर्ताओंने भिन्न भिन्न प्रकारसे किया है। अतएव जितने शरीर उतने ही लोक और उतनी ही अवस्थायें हैं ऐसा ऊपर दिखाया नहीं जा सका, किन्तु उसके कारण परीक्षणात्मक सुसम्बद्धताकी मूलभूत कल्पनाका आकलन करनेमें पाठकोंको शायद किसी प्रकारका कष्ट न होगा।

थिऑसफी नामक जो नवीन धार्मिक आन्दोलन पिछले ६०।७० वर्षोंसे संसारमें चल रहा है उसके साहित्यमें उपर्युक्त बातोंका निर्देश नवीन रीतिसे किया है और परिभाषा भी नवीन है। परिभाषाके विषयमें उन्होंने आधुनिक भौतिक शास्त्रका दृष्टिकोण अङ्गीकार किया है। अतः उन्हें समझना अधिक स्पष्ट तथा सरल होगया है। इस कारणसे इन पुस्तकमें अब उसी परिभाषाका मुख्यतः प्रयोग किया जाएगा।

मनुष्यकी भावी उत्क्रान्ति

उत्क्रान्तिके परमोच्च शिखरपर शीघ्र पहुँच जानेके लिये व्यवास्थित रूपसे जो प्रयत्न किया जाता है, उसीको योग कहते हैं। उत्क्रान्तिके परमोच्च शिखरपर पहुँचनेका अर्थ क्या है? इस प्रश्नका अंशतः उत्तर ऊपर आही चुका है। किन्तु परमोच्च शिखरपर पहुँचनेका एक विशेष अर्थ भी है। मनुष्य अपने स्थूल व सूक्ष्म शरीरोंका उपयोग करके आसपासके दृश्य व अदृश्य सम्पूर्ण लोकोंमें जा सके, वहां की अवस्थाओंका अनुभव ले सकें, वहाँ बहिर्मुख एवं अन्तर्मुख इन दोनों अवस्थाओंमें रहकर वहाँका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सके, वहाँके नाना प्रकारके व्यवहार कर सके, वहाँके विभिन्न गुणों एवं शक्तियोंको संवर्धित कर समझदार बन सके तो उसका अर्थ यह होता है कि वह उत्क्रान्तिके परमोच्च शिखरपर पहुँचा है।

अभी मनुष्यकी उत्क्रान्ति अधकचरी है। मनुष्यरूपी वृक्षकी अभी और भी बहुत सी उन्नति होनी है। नये पत्तोंका उगना, नई शाखाओंका आना, कलियों, फूलों और फलोंका आना, उनका पकना आदि बातें अभी भविष्यमें होनी है। उत्क्रान्ति प्रवाहमें ये सब बातें क्रमशः होगी। उन्हे क्रमसे पूर्व ही सम्पादन कर लेना, उसके लिये व्यवस्थित रूपसे प्रयत्न करना, योगीका काम है। आज मनुष्यकी कहाँतक उत्क्रान्ति हो चुकी है, इसका विचार प्रथम सामान्य दृष्टिसे कर लेना चाहिये। संसारके अधिकतर जन समूहको देखा जाये तो उनका स्थूल शरीर प्रत्येक दृष्टिसे कार्यक्षम है, निरोगी, सशक्त एवं चंचल है। जिनकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उत्तम स्थितिमें हैं, ऐसे मनुष्य अधिक नहीं मिलेंगे। अधिकतर ऐसे ही मिलेंगे जिनकी इन्द्रियोंकी ऐसी स्थिति न होकर उनमें वैगुण्य है तथा वे स्तिमित एवं मन्द हैं।

यदि मनुष्योंकी भावनायें देखीं जाय तो पैसेकी, विषय-वासनाकी, स्वार्थकी भावना जिनमें बिलकुल नहीं है, ऐसे मनुष्य बहुत ही कम मिलेंगे। कोई ऋषि तप आरम्भ करता है और देवता उसके तपको भङ्ग करनेके लिये किसी अप्सराको भेज देते हैं और स्त्री-मोहके पाशमें फँसकर उसका तप भ्रष्ट हो जाता है, इस प्रकारकी कथायें पुराणोंमें वर्णित हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि एक अच्छा भला आदमी भी किस प्रकार विषय लम्पटताका सहजमें शिकार हो जाता है। वॉलपोलने इसीका समर्थन करते हुए कहा है कि- Every man has his price। काम, क्रोध, लोभ, मोह मद मत्सर आदि षड्रिपुओं को जिन्होंने अपने स्वभावसे निकाल बाहर कर दिया है, ऐसे लोगोंकी संख्या संसारमें बहुत अधिक नहीं है। भावनाको छोड विचारके क्षेत्रमें जाँय तो, जो तर्क शुद्ध पद्धतिसे मनको वशमें रखकर ठीक ठीक सोच विचार कर सकते हैं तथा क्रम क्रमसे विचारोंके सूत्र पकडकर आगे बढनेकी जिनमें शक्ति है, ऐसे लोग भी संसारमें अधिक नहीं दिखाई देते। जिसे अर्धाङ्ग वायु हो जाता है वह व्यक्ति जिस प्रकार हाथ पैरकी हलचल स्वच्छन्दरूपमें, सफाईसे और सरलता पूर्वक नहीं कर सकता;

उसी प्रकार मनको इधर उधर भटकने न देकर और उसे स्वाधीन रखकर तर्कसे क्रमशः निरन्तर, अधिकारपूर्वक उसे आगे लेजानेकी क्रिया अधिक लोगोंके लिये साध्य नहीं है। तात्विक विचार करनेकी योग्यता तो बहुतोंमें बिल्कुल भी नहीं होती। प्रतिभा, स्फूर्ति, अन्तःप्रज्ञा आदि शब्द बहुतोंको मालूम होनेपर भी उनके अर्थोंका प्रत्यक्ष अनुभव जिन्होंने किया है, ऐसे लोग संसारमें आज बहुत ही कम है। वृक्षकी घनी छाया-में भी सूर्य प्रकाशकी छोटी सी प्रतिच्छाया दिखाई दे जाती है। इसी प्रकार कुछ मनुष्योंके हृदयमें प्रतिभा, स्फूर्ति, अन्तःप्रज्ञा आदिकी कभी कभी प्रतिच्छाया दिखाई दे जाती है। किन्तु इन शक्तियोंने स्थायीरूपसे जिन हृदयोंमें अपनेको जमा लिया है ऐसे लोग संसारमें इतने कम हैं कि यदि कोई यह कहे कि ये अलौकिक बातें मुझमें हैं तो उसके इस कथनको अधिकांश जनसमूह सत्य माननेको भी तैयार न होगा। अधिकांश जनसमूह उत्क्रान्ति क्रममें इतना अधिक पिछडा हुआ है।

शास्त्रीय रीतिसे भी इसका स्पष्टीकरण हो सकता है। मनुष्यके पास स्थूल शरीर है। वह शरीर भूलोकमें अनेक प्रकारके उद्योग करनेके लिये है। श्रेष्ठ और सुरक्षित मनुष्यका उदाहरण लिया जाय तो मालूम होगा कि वह भूलोकके उद्योग साधारणतः अच्छी प्रकारसे कर सकता है। उसके स्थूल शरीरकी उत्क्रान्ति साधारणतः अच्छी हो चुकी होती है, ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु वह अभी पूर्ण नहीं हुई है। मस्तिष्ककी पिनीयल ग्लैंड, पाय ट्यूटरी बॉडी ये जो दो गांठें हैं वे बहुत ही थोडे लोगोंमें विकसित एवं कार्यक्षम हुई होती हैं। वे धीरे धीरे भविष्यमें विकसित होंगी और स्थूल शरीरको दो नवीन इन्द्रियाँ प्राप्त होंगी। भूलोकके अतिरिक्त जो दूसरे अदृश्य लोक हमारे आसपास हैं, उनका अस्तित्व भी आजके सुशिक्षित मानवको मान्य नहीं है। उन लोकोंमें कार्य करनेके लिये हमें दूसरे शरीर प्राप्त हैं, इसकी उसे कल्पना भी नहीं है। अर्थात् उसमें उस क्षेत्रमें कार्य करनेकी योग्यता अभीतक बिल्कुल उत्पन्न नहीं हो सकी है। यह स्वाभाविक है। इससे अधिक स्पष्टतः इसे कहा जाय तो यों कहना चाहिये कि भूलोकमें कार्य करनेके लिये मनुष्यको जो स्थूल शरीर मिला है उसके दो विभाग हैं। एक अन्नमय कोष जो हाडमांस निर्मित शरीर है वही अन्नमय कोष है। इस अन्नमय कोषसे सटा हुआ दूसरा एक और भाग है। उसे प्राणमय कोष कहते हैं। थिऑसफी परिभाषामें उसे Etheric Double कहते हैं।

आकृतिसे यह अन्नमय कोषके समान है किन्तु वर्णमें कुछ राखी रंग जैसा है और प्राण, अपान आदि भिन्न भिन्न रंगके प्राणप्रवाह उसमेंसे प्रवाहित होते रहते हैं। जीवित अवस्थामें सामान्यतः ये दो भाग एक दूसरेसे अलग नहीं होते। भुवर्लोकमें व्यवहार करनेके लिये मनुष्यको वासना-शरीर प्राप्त है। थिऑसफीमें उसे Astral Body कहा जाता है। उन लोकोंमें वासना--भावनाकी प्रधानता रहती है। मनमें वासना-भावना आते ही पहले वासना--शरीरमें हलचल होकर चारों ओर फैलती है। वासना--शरीर ही वासना-भावनाका उद्गम-स्थान है। प्रत्येक मनुष्यको वासना-शरीर प्राप्त है; इसीलिये उसके अन्तरङ्गमें वासनायें उत्पन्न हो सकती हैं। मनुष्य को आँखें हैं इसीलिये उसकी दर्शनशक्ति काम कर सकती है। इसी प्रकार मनुष्यके वासना देह है; इसीलिये उसके हृदयमें वासना निर्माण होती है। मनुष्यका वासना--शरीर उसके जड शरीरको अन्तः बाह्यसे व्याप्त किये रहता है, सबाह्याभ्यन्तर्निविष्ट रहता है और जड शरीरसे बाहर चारों ओरसें घिरा हुआ तथा दीर्घ वर्तुलाकार दिखाई देता है। निर्मल मनके मनुष्यका वासना शरीर तेजस्वी, नयनमनोहर और रंगबिरंगा दिखाई देता है। बुरी वासना रहनेवालेका मैला कुचैला और मटमैलासा दिखाई देता है। वासना शरीरके द्रव्य सारे शरीरमें घूमा करते हैं। किन्ही विशिष्ट स्थानोंपर उन द्रव्योंमें छोटे छोटे भँवरे होते हैं। जिस प्रकार दृश्य शरीरमें ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय रहती हैं उसी प्रकार वासना शरीरके ये भँवरे (इन्द्रियोंको छोडकर) रहा करते हैं।

हम आजके सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत मनुष्यका उदाहरण लें तो उसके हृदयमें बहुत अधिक बुरी वासनायें न होनेके कारण उसका वासना शरीर रंगमें अच्छे प्रकारका दिखाई देता है; किन्तु उसमेंके भँवरे आकारमें मध्यम रहते हैं।÷ ऐसा मनुष्य जब सो जाता है उस समय उसका वासना शरीर बिछौनेके निद्रित जड शरीरसे निकलकर बाहर जा सकता है। किन्तु यद्यपि वह बाहर हो जाता है तथापि वह अन्तर्मुख

÷ ये चक्र जब बडे होजाते हैं तो उन्हे चक्र कहा जाता है। इनका वर्णन इस पुस्तकमें आगे किया जायगा।

रहता है। आसपासके भुवर्लोकमें क्या क्या हो रहा है इसे मालूम करनेकी शक्ति उसके शरीरमें नहीं रहती।

एक महीनेका छोटा बच्चा जब एक कमरेमें रहता है तो अपने आसपासके भिन्न भिन्न आनेजानेवाले व्यक्ति और उनकी अनेक क्रियायें समझ नहीं पाता और उस कमरेका सामान आदि भी देख नहीं पाता। वही स्थिति भुवर्लोकमें सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत मनुष्यके वासना-शरीरकी रहती है। इस वासना-शरीरको कार्यक्षम करना, उसमेंकी गन्दी वासनाओंको व्यक्त करनेवाले दूषित द्रव्योंको निकालकर उसे अधिक तेजस्वी और सुन्दर बनाना, उसमेंके भँवरे बडे बनाकर उनको इन्द्रिय दृष्टिसे विकसित करना, उस शरीरको आसपासका भुवर्लोक देखनेकी, उसमें सर्वत्र संचार करके विभिन्न प्रकारके उद्योग करनेकी योग्यता प्राप्त करना, ही सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत मनुष्यके भावी उत्क्रान्तिका भाग है। ये काम उसे योग शास्त्रमें सिद्ध करने होते हैं।

वासना शरीरके अतिरिक्त स्वर्लोकमें व्यवहार करनेके लिये मनुष्यके पास मन शरीर एवं कारण शरीर इस प्रकारके दो शरीर रहते हैं। स्वर्लोकके दो विभाग हैं। उनमेंसे कनिष्ठ स्वर्गमें मनः शरीर काम करता है। वह शरीर मध्यम प्रकारके विचारोंका और मनोव्यापारोंका उगम स्थान है। सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत मनुष्यके बीचमें इस शरीरका विकास बहुत नपा--तुला सा ही होता है; इसीलिये वह चाहे जिस विषयके सम्बन्ध-में व्यवस्थितरूपसे विचार नहीं कर सकता।

बहुतसोंके दिमागमें गणित विषय आता ही नहीं है। बहुतसे तर्क शुद्ध विचार नहीं कर सकते। इसका कारण यही है कि इस शरीरका आवश्यक विकास नहीं हुआ है। श्रेष्ठ स्वर्गमें व्यवहार करनेवाला कारण शरीर होता है। उसका विकास सुसंस्कृत मनुष्यमें मनःशरीरकी अपेक्षा कम हुआ रहता है। उच्च कोटिके विचारोंका, तत्व--विचारोंका, अमूर्त मनोव्यापारों--की उत्पत्ति कारण शरीरमें होती है। ये दोनों शरीर जड शरीरको अन्दर बाहरसे व्याप्त किये रहते हैं और जडशरीरके चारों ओर दीर्घ वर्तुलाकार दिखाई देते हैं। उन दोनोंमें भँवर रहते हैं! इन दोनों शरीरोंमें उत्तम द्रव्योंका निर्माण किया हुआ रहता है, उसमेंके भँवरोंका विकासित होना, उन शरीरोंको अन्य शरीरोंमेंसे पृथक् होकर उन उन शरीरोंमें घूमने फिरनेकी और ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति प्राप्त होना ही भविष्यकालीन उत्क्रान्ति है। कारण शरीरके परे भी अधिक उच्च प्रकारके शरीर मनुष्यको प्राप्त हैं, किन्तु उनके विकासकी कल्पना इतने दूरकी कल्पना है कि उसे यहाँ विवरण पूर्वक लिखना आवश्यक नहीं है।

संक्षेपमें यों कहा जा सकता है कि सुशिक्षित और भले आदमीके स्थूल शरीरका गुणविकास बहुत कुछ होचुका होता है। वासना शरीरका भी साधारणतः अच्छा हो चुकता है। मनः शरीरका उस अनुपातसे कुछ कम, कारण शरीरका बहुत साधा--रणसा और उससे परे की भूमिकाओंके लिये अद्यापि समुचित अवसर अप्राप्तसा रहता है, उसकी ऐसी परिस्थिति रहती है। बुद्धिमत्ता, तत्वविचार, अन्तःस्फूर्ति, सर्वात्मभाव, प्रतिभा आदिका प्रयत्न करके मनः शरीर एवं कारण शरीरके अन्तर्गत द्रव्योंका अधिकाधिक विकास उसे करना है। उस प्रकारके विचारोंका मनमें पुनः पुनः चिन्तन करके उनके लिये स्थान बनाना ही उसका वर्तमान कार्य या ध्येय है। उसी प्रकार वासना शरीरका विकास आज साधारणतः ठीक हो चुकनेके कारण भुवर्लोकमें सुबुद्ध रीतिसे घूमफिरकर अनेक कार्य करनेकी शिक्षा लेना भी उसका वर्तमान कार्य व ध्येय है। इस समय यह उसके लिये अगला कदम है। इस अगले कदम पर बढनेके बाद मनः शरीर एवं कारण शरीरके लिये उस उस क्षेत्रमें घूमने फिरनेकी शक्ति उत्पन्न करनी पडती है। जिससे अन्तमें सम्पूर्ण शरीरोंमें कार्यक्षमता आकर वह सम्पूर्ण लोकोंमें कार्य करनेवाला बन सकेगा।

आज मनुष्यका वासनाशरीर वासना-निर्माण करता है, मनः शरीर विचार-निर्माण करता है, कारण शरीर तत्वोंपर थोडा बहुत विचार करता है। ये विचार और ये वासनायें प्रथम उन उन शरीरोंमें उत्पन्न होती हैं और ये सारे शरीर एक दूसरेसे संलग्न होनेके कारण उनका परिणाम स्थूल शरीरान्तर्गत मस्ति-ष्कपर हुआ करता है। जिससे वे वासनायें तथा वे विचार हमें स्थूल शरीरमें प्रतिभासित होते हैं। हम जब किसी टाइप-राइटर (टंकलेखक) पर जब कुछ छापते हैं तो उस समय काले कागज बीचमें रखकर उसकी बहुतसी नकलें छाप सकते हैं। टाइप ऊपरके कागजपर आधात करता है, निचला काला कागज उस आघातको और निचले कागजपर चिन्हित करता है, उससे निचला काला कागज और निचले कागजपर उसे चिन्हित करता है। इस प्रकार अनेक प्रतियाँ छापी जासकती हैं। पहली प्रति

कुछ अस्पष्ट रहती है, दूसरी उससे कुछ अधिक अस्पष्ट रहती है और तीसरी उसकी अपेक्षा भी अस्पष्ट रहती है। इन प्रतियोंकी तरह एक शरीरकी प्रेरणा दूसरे शरीरपर प्रतिचिन्हित होती है यदि यह उपमा दी जाय तो असङ्गत न होगा। जितने जितने क्रमसे नीचे उतरेंगे उतने उतने क्रमसे अस्पष्टता आधिकाधिक होती रहती है। यदि कारण शरीर तात्विक विचारोंकी कुछ तरङ्गे अपनेमें उत्पन्न करे तो उसका प्रथम आधात मनः शरीरपर प्रतिचिन्हित होता है, उसके बाद वासना शरीरपर प्रतिचिन्हित होता है और उसके बाद मस्तिष्कमें प्रतिचिन्हित होता है। प्रत्येकके बाद उसकी कुशाग्रता एवं तीव्रता कम कम होती जाती है। आजकल वासना शरीर एवं मनः शरीरका उपयोग केवलमात्र टाइप रायटरके कागजके समान हुआ करता है। भविष्यमें क्रमसे उन शरीरोंको स्वतन्त्र रूपसे घूमफिरकर कार्य करनेका सामर्थ्य प्राप्त होना है।

सूक्ष्म लोक-प्रवास और उसकी स्मृति

एक अच्छा आदमी है और जब वह निद्रित अवस्थामें रहता है तो उसका वासना शरीर उसके निद्रित स्थूल शरीरसे बाहर निकलकर चारों ओर घूमता रहता है। जिसे योग सम्बन्धि कुछ भी ज्ञान नहीं है ऐसा यदि यह मनुष्य होगा तो उसका वासना शरीर बहुधा अन्तर्मुख स्थितिमें रहेगा। यदि बाहिर्मुख होकर इधर उधर घूमता रहा तो भी आसपासके भुवर्लोकका वह निरीक्षण नहीं कर सकता।

यदि कोई चतुर व्यक्ति उस वासना शरीरको प्रयत्न पूर्वक जागृत करे तो वासना शरीर आसपासकी वस्तुस्थितिका, प्रक्रियाओंका और दृश्योंका अवलोकन कर सकता है, भुवर्लोकके अनेक अनुभव ले सकता है तथा अपने सामर्थ्यके अनुसार वहाँ भिन्न भिन्न कार्य कर सकता है। यह कार्य जारी रहते समय उसका स्थूल शरीर बिछौनेपर सोता हुआ पडा रहेगा। जो अनुभव वासना शरीर कुछ अन्तरपर जाकर करता है उसका निद्रित स्थूल शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये प्रातः जागनेपर यद्यपि वासनाशरीर स्थूलशरीरमें लौटकर उससे संलग्न हो जाता है तथापि स्थूल शरीरमें वासनाशरीर द्वारा किये गये कार्योंकी स्मृति उतर नहीं सकती। एक दूसरेसे सटकर दो कमरे हों और उनके बीचमें द्वार न हो तो एक कमरेका सामान दूसरे कमरेमें नहीं ले जाया सकता है। उसी प्रकार वासनाशरीरने जो प्रयत्न भुवर्लोकमें किये होंगे उसका ज्ञान जागृतिमें मनुष्य नहीं कर सकता। मनुष्य जागृतिमें एक कमरेमें बैठकर स्थूल शरीरसे कार्य करता है; स्वप्नस्थितिमें वह वासना शरीरसे दूसरे कमरेमें कार्य करता है। इन दोनों कमरोंके बीचकी दीवारोंकी ईंटें निकालकर जब वहाँ दरवाजा बना दिया जायगा तभी वासनाशरीरके कार्योंका ज्ञान जागृतिके कमरेमें लाया जासकता है। यह प्रयत्न करना भी योग शास्त्रका एक महत्वका भाग है। ऊपरके अनेक लोकोंमें मनुष्य जो प्रयत्न करता है, उन्हे नीचेके लोकोंमें लाकर मस्तिष्कतक पहुँचानेके लिये बीचमें दरवाजे बनानेका कार्य करना पडता है। उसे करनेसे पूर्व भिन्न भिन्न लोकोंमें अभ्यासी मनुष्योंके प्रयत्न जारी रहते हैं। किन्तु जब द्वार तैयार होंगे तभी उस ऊपरके दालानके ज्ञान विज्ञान मनुष्य जागृतिमें उपलब्ध कर सकेगा।

उत्क्रान्तिकी अन्तिम सीमापर पहुँचना हो तो किस किस प्रकारका गुणविकास मनुष्यको सम्पादन करना आवश्यक है, इसकी थोडी बहुत कल्पना ऊपरके वर्णनसे पाठक कर सकेंगे। साथ ही सम्पूर्ण दोषोंका निष्क्रमण एवं सम्पूर्ण गुणोंका सब प्रकारका अभ्युदयका क्या अर्थ है यह वे स्वल्परूपमें भी क्रमसे कम समझ सकेंगे ऐसी आशा है।

संस्कृत भाषाया महत्त्वम्

[लेखक— **फादर लेओपोल्ड महोदयः**]

फादर लेओपोल्डके इस महत्वपूर्ण संस्कृत भाषणको अनुवाद सहित हमने इसलिये उद्धृत किया है कि विदेशी लोग भी संस्कृतके प्रति कितना प्रेम रखते हैं तथा उसके अध्ययनका उनपर कितना, अच्छा प्रभाव पड रहा है। यह खेदकी बात है कि हमारे अनेक देशवासी अभीतक संस्कृतकी उपेक्षा कर रहे हैं। आर्य नर नारियोंको स्वयं संस्कृतका विशेष रूपसे अध्ययन कर इसके प्रचारकी उत्तम व्यवस्था अपने २ ग्राम और नगरमें करनी चाहिये।

सम्पादक–'**सार्वदेशिक**'

श्रीमन्तः संस्कृतानुरागिणः सज्जनाः।

अहमत्यल्पं संस्कृतं जानामि। अहमन्यदेशनिवासी संस्कृतस्य महान्तमादरं करोमि। सर्वे जानन्ति यत्पुरा संस्कृत भाषा संसार-भाषा आसीत् सर्वस्मिन् संसार अस्य उपयोगः लेखने पठने भाषणे च अभूत्। इयं संसारस्य सर्वभाषाभ्य उत्तमा प्राचीना च अस्ति। अस्यामेव भाषायां वेदाः सन्ति येषां द्वारा आदौ संसारेण उपदेशाः प्राप्ताः। संसारस्य सर्वा भाषाः संस्कृतात् उत्पन्ना। मम समानाः संस्कृते अनभिज्ञाः संस्कृतमालाद्वारा देवभाषां पठेयुः। संस्कृतमाला पण्डितेन दामोदरेण लिखिता अस्ति देवभाषा पठने मम महान् यत्नः अस्ति।

अथ संसारस्य उत्थाने संस्कृतभाषायाः महती आवश्यकता, अस्यां भाषायां गीता उपनिषदादयः सन्ति येभ्यः ज्ञानस्य लाभः मनुष्याणामात्मोन्नतिश्च भवति ईश्वरप्राप्तिश्च। ईश्वरस्य अनुग्रहेण अस्माकं संस्कृतपठने रुचिर्भवेत्। इति प्रार्थये।

अहं विश्वासं करोमि यत् एक दिनम् ईदृशं आगमिष्यति यदा संसारस्य प्रत्येकः मनुष्यः संस्कृतं पठिष्यति आशा करोमि भवतां संस्कृत-प्रसार-समिति संस्कृत-प्रसारे संसारस्य मार्गदर्शिका भविष्यति। अत्यल्प संस्कृतस्य अध्ययनेन ज्ञानं मया यत् संस्कृतेन संसारस्य परमं हितं भविष्यति। संस्कृत पठित्वा अहं वेदस्य संदेशं संसारस्य कोणे कोणे प्रापयिष्यामि—

" सह नाववतु
सह नौ भुनक्तु
सह वीर्यं करवावहै।

संसारे शान्तिं स्थापयिष्यामि अस्माकं मनः अस्माकं वाणीम् अस्माकं कार्यञ्च निर्मलं करिष्यामि। आत्मानं च ज्ञास्यामि। संस्कृतं जयतु।

फादर लेओपोल्डः

" आजमगढ संस्कृत सभामें श्री फादर लेओपोल्ड महोदयने यह भाषण संस्कृत भाषामें दिया था। **यह सज्जन कनाडा के रहनेवाले रोमन कैथलिक बिशप हैं। इनके भाषणका सारांश यह है—**

मैं बहुत थोडी संस्कृत जानता हूं। यद्यपि मेरा जन्म अंग्रेजी भाषा भाषी देशमें हुआ था तथा मेरे हृदयमें संस्कृतके लिए बडा आदर है। सब जानते हैं कि किसी समयमें सारे संसारमें बोलने लिखने और पढनेमें संस्कृत भाषाका ही प्रयोग होता था। संसारकी आधुनिक सब भाषाओंमेंसे संस्कृत ही सबसे प्राचीन भाषा है। इसी भाषामें ही वेद उपनिषद् गीतादि धार्मिक ग्रन्थ हैं कि जिनसे आज भी संसार धर्म और कर्तव्या-कर्तव्यका ज्ञान प्राप्त कर रहा है।

मैंने पण्डित दामोदर सातवलेकर जी द्वारा रचित संस्कृत पाठमालासे ही देव भाषा सीखी है। और ईश्वरसे प्रार्थना है कि सबकी रुचि संस्कृत पढनेमें हो। मेरा विश्वास है कि एक दिन ऐसा आयेगा जब कि संसारका प्रत्येक मनुष्य चाहे वह किसी भी जाति रंग अथवा सम्प्रदायका हो संस्कृत अवश्य पढेगा। संस्कृतके थोडेसे ही अध्ययनसे मैंने जान लिया है कि संस्कृतसे ही संसारका अत्यन्त कल्याण होगा। मैं संस्कृत भाषा पढकर वेदका संदेश संसारके कोने २ में फैला दूंगा। मन वाणी और कर्मको पवित्र करके आत्मज्ञान प्राप्त करूंगा और संसारमें शान्तिकी स्थापना करूंगा।

बोलो "संस्कृत भाषाकी जय"

फादर लेओपोल्ड (सार्वदेशिकसे)

संस्कृत भाषाके विषयमें पूज्य बापूके

विचार प्रदर्शक कुछ अमूल्य पत्र

भाइ सातवलेकरजी,

आपका पत्र आज ही मिला। संस्कृत पाठमाला पहले ही मिल गई थी। पत्रकी राह देख रहा था। पाठमालाके लिये अनुग्रह मागुं? आपके तरफसे मुझको कितनी पुस्तक मिल चुकी है। "पुरुषार्थ" इत्यादि भी आते ही हैं। आप जानकर खुश होंगे कि सरदार श्रींने दो भाग पूरे कर लिये हैं। तीसरा चल रहा है। जितने दोष देखनेमें आते हैं उसकी नोंध हो रही है। सूचना देनेका निश्चय पत्र आनेके पहले ही हो चुका था। यों तो पाठमालाकी सारी रचना बहुत अच्छी ही है उसमें कोई सन्देह नहीं है। पाठमालाकी उपयोगिता बढानेके लिये ही जो कुछ दोष हमलोगोंको प्रतीत होंति हैं बताये जायंगे।

मेरे हाथमें कुछ इतना बहुत दर्द नहीं है। एक प्रकारकी गति देनेसे ही बांय हाथकी कोहीनीको हड्डीमें जो दर्द है उसका कारण वायु नहीं है। अबतक तो दाक्तर लोग बता रहे हैं कि उसका कारण उस भागको चर्खेके मार्फत निरंतर काममें लाया गया वही है। इस कारण मैंने चर्खे चलानेमें बांय हाथका उपयोग करीब एक महीनेसे छोड दिया है। उससे भी कुछ लाभ हुआ है ऐसा नहीं कहा जाय। इस कारण अब ज्यादा चिकित्सा होनेवाली है। कोई चिंताका कारण नहीं है। स्वास्थ्य ऐसे अच्छा ही रहता है।

विश्वरूप दर्शन योगके बारेमें जो आपने लिखा है वह सब यथार्थ है। तदपि मैंने जो उस अध्यायकी भूमिकामें लिखा है उसमें कोई फरक नहीं होता है। सारा जगतको जो मनुष्य वासुदेव रूप मानेगा वह विश्वरूपका दर्शन अवश्य करेगा। परंतु रूप अपनी कल्पनाकी ही मूर्ति होगा। खीस्ती जगतको ईश्वर रूप मानता हुआ अपनी कल्पनाके अनुकूल मूर्ति देखेगा। जो जैसे भजता है वैसे ईश्वरको देखता है। हिंदु सभ्यतामें जो पैदा हुआ है और उसीकी शिक्षा जिसने पाई है वह ग्यारहवा अध्याय पढते हुए थकेगा नहीं और उसमें अगर भक्तिकी मात्रा होगी तो उसमें जैसा वर्णन है वैसा ही विराटरूपका दर्शन करेगा। परंतु ऐसी कोई मूर्ति जगतमें उसकी कल्पनाके बाहर नहीं है। ब्रह्म, आत्मा, वासुदेव जो कुछ भी विशेषण उस शक्तिके लिये हम इस्तेमाल करें निराकार ही है। भक्तके लिये वह आकार रूप बनती है। यह उस शक्तिकी माया है। यही काव्य है। हम उसका निचोड एक ही खींच सकते हैं जो आपने खींचा है। डाकूमें भी हमको वासुदेवका रूप देखना होगा। और हमारेमें यह शक्ति आ जायगी तो डाकू डाकूपन छोड देगा और जबतक हमारेमें यह शक्ति नहीं आई तबतक हमारा सब अभ्यास और सब ज्ञान निरर्थक ही है। आपने विश्वरूप दर्शनपर जो लिखा है उसके बारेमें उत्तर नहीं मांगा है। मैंने दिया है क्योंकि मैं भी वैसे विचारोंमें ग्रस्त रहता हूं। और आपके साथ पत्र द्वारा ऐसे वार्तालाप करनेसे मुझको आनन्द होता है।

अभयजीका "वैदिक विनय" मैंने पढ लिया। अब वैदिक मुनि हरिप्रसादजीकृत "स्वाध्याय संहिता" पढ रहा हूं। लेकिन वैदिक मंत्र पढनेमें मुझको बडी मुसीबत है। मेरा संस्कृत ज्ञान तो आप जानते ही हैं कनिष्ठ श्रेणीका हैं। वेदकी भाषाका तो नहीं सा परिचय है। मैं इतना जानता हूं कि वैदिक मंत्रोंके विद्वान् लोग बहुत अर्थ कर लेते हैं। सनातनी एक आर्यसमाजी दूसरा पश्चिमके लोग तीसरा। सनातनीयोंमें भी भिन्नता पाता हूं। सब आर्यसमाजी भी एक अर्थ नहीं करते हैं। आपके बीचमें और वैद्यजीके बीचमें जो संवाद मैंने करवाया था उसका तो स्मरण होगा ही। यह सब दृष्टिमें रखता हुआ मैं जब वैदिक मंत्र पढनेकी कोशिश करता हूं तो घबराहटमें पड जाता हूं। अपना निश्चय करनेकी कुछ योग्यता नहीं पाता हूं। ईशोपनिषद् आजकल कंठ कर रहा हूं। मुझे ख्याल है कि शंकरने उसका एक अर्थ किया है, अरविंद बाबूने और किया है आपका भी कुछ लिखा हुआ गत साल जब जेलमें था तब देखा था, उसमें कुछ और चीज है। अब मेरे पास एक गुजराती अनुवाद आगया है उसमें और हरिप्रसादजीके अनुवादमें भी और कुछ है। मैंने अपने लिये कुछ इस उपनिषद्का अर्थ बना लिया है लेकिन संस्कृत भाषाका अल्पज्ञान होनेके कारण इस तरहसे अर्थ बना लेना धृष्टसा लगता है। क्या कोई ऐसा पुस्तक है कि जिससे वैदिक व्याकरणका कुछ ज्ञान हो सके और जितने अर्थ भिन्न भिन्न विद्वानोंने आजतक किये हैं उसका संग्रह मिल सके? तात्पर्य मेरे जैसा मनुष्य वैदिक मंत्रोंका अर्थका निश्चय करनेके लिये क्या करे? किसी संप्रदायवालोंपर मेरी ऐसी श्रद्धा नहीं है जिससे उनके अर्थको ही मैं वेदवाक्य मान लूं। सद्भाग्य या दुर्भाग्य वशात् संस्कृतका इतना ज्ञान भी रखता हूं जिससे मेरे सामने जब दो चार अर्थ आजाते हैं तब मैं अपनी पसंदगी कर लूं। लेकिन इस जेलमें मैं इतनी बडी लाइब्रेरी बनाना नहीं चाहता। न इतना गहरी अभ्यासमें भी पडना चाहता हूं। आत्मसंतोषके लिये गीताजी काफी है। परंतु वेदोंमें चंचुपात करना मुझको प्रिय है। इसलिये कुछ सूचना दे सकते हैं तो देनेकी कृपा करें। हम सब अच्छे हैं।

येरवडा आपका
१९-७-३२ **मोहनदास**

भाई श्री सातवळेकरजी,

आप शायद जानते होंगे कि मेरे साथ यहाँ सरदार वल्लभ भाई और महादेव हैं। सरदारकी इच्छा संस्कृतका परिचय कर लेनेकी है। महादेव उनको मदद करेंगे। कृपया आप अपनी संस्कृत पाठावलि (१-२४) भेज दीजिए। आप कुशल होंगे। हम तीनों कुशल हैं।

येरवडा मंदिर आपका
१-७-३२ **मोहनदास**

भाई सातवळेकरजी,

सरदार संस्कृत सीख रहे हैं, जानकर दूसरोंने भी सीखनेका विचार किया है। वे सब दूसरे स्थानपर रहते हैं। उनके लिये एक और सेट भेजनेकी कृपा करें। मैं नहीं जानता आपकी संस्था पुस्तकोंका दान कहाँतक कर सकती है। यदि आवश्यक समझा जाय तो मूल्य भेजनेका प्रबन्ध करूंगा।

ईशोपनिषदादि ग्रन्थ मिल गये थे। मैं दूसरे खतकी प्रतीक्षा कर रहा था, इतनेमें यह खत लिखनेका अवसर आया। ईशोपनिषद् ध्यानसे पढ रहा हूँ। कंठ कर लिया है। दूसरे ग्रन्थ भी पढूंगा।

येरवडा आपका
९-८-३२ **मोहनदास**

\+ \+ \+

संस्कृत भाषाके विषयमें भारतीय नेताओंके महत्वपूर्ण विचार

१ प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू--

"यदि मुझसे पूछा जाय कि-भारतकी सबसे महान् निधि कौनसी है? तो मैं कहूँगा कि 'संस्कृत भाषा और उसका साहित्य'। संस्कृत-भाषा इस देशकी एक सजीव परम्परा है। मैं चाहूंगा कि कुछ अच्छे संस्कृतके विद्वान् हों और वे संस्कृत-साहित्यका अन्वेषण करके उत्तम वस्तुओंका आविष्कार कर उसको प्रकाशित करें।"

"हमें इसका अत्यन्त खेद है कि संस्कृतका गुणगान करने पर भी हम उसकी सेवा केवल मौखिक रूपमें ही कर रहे हैं। पहला दुःख तो यह है कि हम संस्कृत भाषाकी सेवाकी दिशामें ध्यान ही नहीं देते।"

२ उडीसाके गवर्नर माननीय श्री आसफ अली-

"संस्कृत भाषा समस्त भाषाओंकी जननी है। उर्दू भाषामें भी

बहुतसे संस्कृत शब्द समाविष्ट हैं। ज्ञानकी वृद्धिके लिये उसका अध्ययन सबके लिये आवश्यक है। मुसलमानोंको भी संस्कृत भाषा पढनी चाहिये।"

३ राजर्षि श्री टण्डनजी—

मैंने संस्कृतका ठीक अध्ययन नहीं किया, इसके लिये मैं लज्जित हूँ। संस्कृत साहित्यके महासागरमें चञ्चु-प्रवेश किया, किन्तु उससे संस्कृत बोलनेकी योग्यता न हुई। संस्कृतके रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थोंकी तुलना संसारके किसी भाषाके ग्रन्थ नहीं कर सकते। यद्यपि अंग्रेज चले गये तथापि उनके मानस-पुत्र अभी शेष हैं, यह दुःखकी बात है। मैं चाहता हूँ कि भारतमें वही राजनीति प्रचलित हो, जो संस्कृत ग्रन्थोंमें भारतके पुरातन राजनीति विशारदोंने लिखी है और जिसका भारतपर चिरकालिक प्रभाव रहा। मेरी यह सम्मति है कि संस्कृतके विद्वान् राजनैतिकक्षेत्रमें प्रवेश करें। मैं चाहता हूँ कि भारतीय राजदूतोंके साथ संस्कृत विद्वान भी विदेशोंमें जावें और अपनी संस्कृतिका प्रचार करें। भारतीयोंका विधान किसानोंकी भाषामें प्रकाशित हो यह मैं नहीं चाहता।"

४ वङ्गालके गवर्नर माननीय कैलाशनाथ काटजू –

यह सन्तोषका विषय है कि कुछ अर्सेसे देशकी उन्नतिके लिये प्रयत्नशील व्यक्तियोंमें इस प्राचीन भाषाके लिये अनुराग बढ रहा है। हमारी विशाल भारतीय संस्कृति मुख्यरूपसे संस्कृत भाषामें ही विकसित हुई है। प्रान्तीय भाषाओंका मूलाधार संस्कृत है। इसीसे उनका पोषण होता है कोटिकोटि मानवोंकी दैनिक चर्यामें इसका नियन्त्रण रहता है। स्वतन्त्र भारतकी राष्ट्रभाषा संस्कृत भाषा ही होनी चाहिये। समस्त प्रान्तीय भाषाओंकी जननी संस्कृत भाषा है।

५ बिहारके गवर्नर माननीय माधव श्री हरि अणे

नवोदित स्वतन्त्र भारतीय राज्यके लिये ज्ञान विज्ञानकी अत्यन्त आवश्यकता है। प्राचीन संस्कृत भाषा ग्रन्थोंमें आधुनिक विज्ञानके भी ग्रन्थ हैं। अतः उनके ज्ञानके लिये संस्कृत भाषाके प्रचारकी और उसके राष्ट्रभाषात्वकी आवश्यकता तो है ही। प्रयत्नसे कुछ भी असाध्य नहीं है। कौन विश्वास करता था कि स्वराज्य मिल जायेगा? जैसे वह हुआ वैसे संस्कृतका राष्ट्रभाषा होना भी सम्भव है। जनताकी जैसी भावना होगी, उनका राज्य भी वैसा ही कार्य करेगा। हमारा भी यह अभिमत है कि संस्कृत भाषाका प्रसार हो। क्योंकि भारतीय संस्कृति उसीके अन्तर्गत है।

× × ×

यूरोप और ईरानके विद्वानोंके

अमूल्य विचार

प्रख्यात पुरातत्त्वज्ञ पेरिस विश्वविद्यालयके भारतीय विद्याभवन के प्रधानाचार्य **डॉ० लुई रेणु—**

'मैं भारतके अनेक विश्वविद्यालयों एवं शिक्षणालयोंमें गया, किन्तु मैंने वर्तमान राजनीतिपर अथवा किसी भी अन्य विषय पर संस्कृतमें वार्तालाप या वादविवाद करते हुए न किसी छात्रको और न किसी अध्यापकको देखा। .... आजके अन्धकारपूर्ण समयमें यूरोपका उद्धार भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत भाषाके सहारे हो सकता है। ..... मैं एक ही दुःख लेकर भारतसे जारहा हूँ, कि हम यूरोपीय जिस संस्कृत भाषाको अमर भाषा मानकर उसका अनुशीलन करते हैं और अनुसन्धान करते हैं उसीको भारतीय मृतभाषा कहकर पुकारते हैं। भारतका सम्पूर्ण गौरव एवं सम्पूर्ण सम्पत्ति संस्कृत भाषामें ही निहित है।

जो भारतीय संस्कृत भाषा नहीं जानता वह भारतीय कैसे हो सकता है?

भारतवासियोंका यह दुर्भाग्य है कि उनका शिक्षासचिव संस्कृतसे अनभिज्ञ है।

भारतमें राष्ट्रभाषाके विषयमें भारतीय व्यर्थ ही भ्रान्तिमें पड़े हुए हैं। भारतकी सांस्कृतिक भाषा संस्कृत है। **संस्कृत भाषा ही भारतकी राष्ट्रभाषा हो सकती है।** भारत ही क्या सम्पूर्ण एशियाकी भी सांस्कृतिक और राष्ट्रीय भाषा संस्कृत ही हो सकती है। **संस्कृत भाषामें ही जगद्भाषात्वके लक्षण पूर्णरूपसे संनिविष्ट हैं।"**

२ अफगानिस्तानके सुप्रसिद्ध पत्र 'अनीस' के सम्पादक श्री मुहम्मद हाशिमसे मद्रासमें एक पत्रकार सम्मेलनके अवसर पर जब पूछा गया कि 'अफगानिस्तानके मुसलमान क्या संस्कृतका विरोध नहीं करते? क्या वे फारसी और अरबीके अध्ययन पर जोर नहीं देते?' उत्तरमें 'अनीस' के सम्पादक बोले- **'अरबी सेमेटिक भाषा है, हम आर्य हैं।** अतः **संस्कृत भाषाके अन्तर्गत ही हमारी भाषा है** हम

फारसी और अरबीसे क्या लेना देना है ? अरबी और फारसी कोई अफगान अपने घरमें नहीं पढ सकता। संस्कृत भाषा अकेली ही पर्याप्त है जो अनेक भाषाओंकी जननी है। "

" मैं भारत और अफगानिस्तानका सांस्कृतिक सम्बन्ध दृढ करनेके लिये आया हूं। भारत और अफगानिस्तानके निवासी आर्य हैं। **दोनों देशोंकी प्रधानभाषा संस्कृत है।** इस अवस्थामें दोनों देशोंका सम्बन्ध दृढ होना ही है।"

विद्वानोंकी सम्मति

१ ' समस्त देशका ध्यान इस प्रश्नकी ओर आकृष्ट है कि इस देशकी राष्ट्रभाषा कौनसी हो ? हमारा व्यक्तिगत विचार है कि-सरल संस्कृत भाषा ही इसके लिये योग्य है। सांस्कृतिक विचारसे भी संस्कृतमें ही राष्ट्रभाषात्व है।

—डॉ० **सुनिति कुमार चटर्जी**

२ ' ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत सुगमतया भारत देशमें जनभाषा हो सकती है ।'

—डॉ० **ईश्वरीप्रसाद** (प्रयाग विश्वविद्यालय)

३ संस्कृत समस्त भाषाओंको पयःपान कराकर उन सबकी न केवल वृद्धि करती है, अपितु उसमें प्रजनन शक्ति भी है। आश्चर्य है कि इसे मृतभाषा कहा जाता है। भारतमें संस्कृतके अतिरिक्त और कोई भी भाषा राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती।

—**म. म. पं. गिरिधर शर्मा** (जयपुर)

४ ' मुझे ' संस्कृत भाषा प्रचार परीक्षा ' ओंसे पूर्ण सहानुभूति है। मैं भी सहयोग दूंगा। इन्हे ' वैदिक युनिवर्सिटीकी परीक्षाएँ ' इस नामसे प्रसिद्ध कीजिये।'

पं. श्री **हरिदत्तजी शास्त्री सप्ततीर्थ** एम. ए.
वेदान्ताचार्य (आगरा)

५ ' आज स्वतन्त्र भारतमें संस्कृत भाषा-ज्ञानकी आवश्यकता प्रत्येक नर-नारीको है। भारतीय संतान कहलानेके लिये देववाणीका ज्ञाता होना प्रथम पण है।'

–श्री **सोमचैतन्य** सांख्यशास्त्री वेदवागीश (पंजाब)

' राष्ट्र भवनके निर्माणमें ' स्वाध्याय-मण्डल ' की यह संस्कृत भाषा प्रचार योजना निःसन्देह उसकी नींवकी एक सुदृढ शिला होगी। प्रत्येक राष्ट्र भक्तको उसका हृदयसे स्वागत करना चाहिये।'

—श्री सम्पादकजी ' **राष्ट्रधर्म** ' (लखनऊ)

७ ' आप तो यह महान कार्य कर रहे हैं। संस्कृतकी परीक्षाओंका कार्य यथार्थमें सराहनीय है '

—श्री **गोकुल प्रसादजी नेमा** बी. ए.
साहित्यरत्न (आकोला)

संस्कृत भाषाके प्रचारार्थ परीक्षाएँ प्रारम्भ करना एक महान् शुभारम्भ है। हमारी प्राचीन राष्ट्रभाषा और आजकी समस्त भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत देववाणी नहीं जनवाणी बन सके। इसके अर्थ आपका प्रयास सफल हो, ऐसी कामना है। स्वतंत्र भारतके प्रत्येक नागरिकको संस्कृतका प्रारम्भिक ज्ञान होना ही चाहिए।

राजीवलोचन अग्निहोत्री,
संपादक ' युगधर्म '

वैदिक पुनर्जन्म-मीमांसा-भास्कर

अर्थात

श्री नाथुलाल गुप्त पुरुषार्थवाद-मर्दन ।

(लेखक— पं. श्री. जगन्नाथशास्त्री, न्यायभूषण, विद्याभूषण, ओ, टी. झज्झर [जि. रोहतक] पू. पंजाब)

(गतांकसे आगे)

आत्माका अर्थ-देह वाचक और मंत्र देखिये ।
" आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् " (अथ. १४।२।१४)

अर्थ—(आत्मन्वती उर्वरा इयं नारी आगन्) सुदृढ शरीर-वाली पुत्रोत्पादन करनेमें अति उत्तम उपजाऊ भूमिकी तरह यह स्त्री तुम्हें प्राप्त हुई है,, इसमें आत्माका अर्थ देह है । ऐसे ही **" आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चराति देव एषः । घोषा इदस्य श्टण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम "** ऋ. १०।१६८।४॥ यहां भी आत्मा शब्द देह वाचक है । और भी **" यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आ दधे । आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा,,** ऋ. १०।९७।११ **(अहम् ओषधीः हस्ते आदधे जीवगृभ यथा पुरा यक्ष्मस्य आत्मा नश्यति,,)**

अर्थ= ज्योंही मैं हाथमें औषधियोंको पकडता हूं, जीते पक्षीके पकडे हुएकी तरह यक्ष्मरोगका अर्थात् क्षयका स्वरूप अर्थात् देह नाश हो जाता है । यहां भी आत्माका अर्थ देह है ।

नवम्बर १९४९ पृ० ४ १५ " अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदया-दधि जायसे । आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ (निरु० ३।४) और " अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव आत्माऽसि पुत्र मा मृथा स जीव शरदः शतम् '' ब्रा. १।५।१८ एवं ब्रा. १।५।१६ एवं पराशर गृह्यसूत्र. १।१६।१८ सब प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि इनमें भी " आत्मा " पदका अर्थ देह ही है ' न कि " गुप्ताजी " प्रोक्त चेतनाशक्ति । पिता पुत्रको कहता है–हे पुत्र ! तू मेरे अंग अंगसे उत्पन्न हुआ है हृदयसे उत्पन्न हुआ है इन श्लोकोंमें कहीं नहीं लिखा कि हे पुत्र ! तू मेरी चेतनाशक्ति है तू आत्मा है अर्थात् तू मेरा ही देह है । पुत्ररूपमें परिवर्तित हुआ हुआ मेरा देह सौ वर्षोंतक जीता रहे । पत्थर हो या कुल्हाडा, सुवर्णकी तरह चमकदार हो, यह सब बातें देहमें हो सकती है नकि चेतनाशक्तिमें, अतः यह सिद्धान्त भी गुप्ताजीका अग्राह्य है ।

पितासे उत्पन्न होनेवाले पुत्र (पुत्री) के देह निर्माणके लिये आठ गुण पार्थिव इकठ्ठे होते हैं जिससे " गर्भ " देहकी अवस्थाको धारण करता है जैसे–

अन्योऽनुवर्तते स्रष्टा द्रष्टा विभक्ताऽतिमात्रोऽहमिति गम्यते स--आकाशाद्वायोः प्राणश्चक्षुषश्च वक्तारं च तेजसोऽद्भ्यः स्नेहं पृथिव्या मूर्तिः। पार्थिवांस्त्वष्टौ गुणान् विद्यात् त्रीन् मातृतः त्रीन्पितृतोऽस्थिस्नायुमज्जानः पितृतस्त्वङ् मांस शोणितानि मातृतोऽन्नपानमित्यष्टौ सोऽयं पुरुषः सर्वमयः सर्वज्ञानोऽपि क्लृप्तः "

अर्थ=(अन्यः) दूसरा अर्थात् जीवात्मा (अनुप्रवर्तते) प्रलयकालमें घूमता हुआ रहता हुआ सृष्टिकालमें अपने कर्मोंद्वारा रचनेवाला (शरीर आदिका) देखनेवाला, बाँटनेवाला, मात्राओंसे परे (अहम्) मैं इस प्रकार जाना जाता हूँ। वह मिथ्या ज्ञानोंसे महाभूतोंमें लिप्त आकाशसे अवकाश, वायुसे प्राण, तेजसे नेत्र और वाक्, जलोंसे स्नेह, पृथिवीसे ठोस मूर्तिको पाता है इस देहमें आठ पार्थिव गुणोंको जाने । जिनमेंसे तीन पितासे आते हैं, हड्डी, नाडी, और चर्बी, तीन मातासे त्वचा, मांस और रुधिर । अन्न और पान यह आठ हैं सो यह पुरुष सर्वमय (मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, औषधि आदि स्थावर, जंगम सारे शरीरोंवाला) और देखना, सुनना आदि सारे ज्ञानोंवाला माना गया है । तथा निरु. १४।६ देखें—

" मृतश्चाऽहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः । नाना योनि सहस्राणि मयोषितानि यानि वै ।

आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधास्तना। मातरो विविधा दृष्टा पितरः सुहृदस्तथा २ अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः। सांख्यं योगं समभ्यस्येत् पुरुषं वा पञ्चविंशकम्,, यह श्लोक स्पष्टार्थ है इसमें प्रमाण—

नवम्बर १९४९ पृ. ४१८ (९) में पूर्वजन्मस्मृति खंडन किया। केवल गर्भावस्थाको ही स्मृतिका कारण माना है। समीक्षा- **"अहंमनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवान् ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा"** । ऋ. ४।२६।१ देवता इन्द्रः आत्मा वा—

अर्थ-(अहं मनु अभवम्) मैं सृष्टिके आदिमें धर्मशास्त्रानुसार राज्यचर्या चलानेवाला " मनु " हुआ था। तथा (अहं सूर्यः अभवम्) कर्मयोग और ज्ञानयोगके उपदेश देनेवाला विवस्वान् हुआ था, (अहं विप्रः कक्षीवान् ऋषि आस्मि) इस जन्ममें मैं मेधावी कक्षीवान् ऋषि हूं (अहम् आर्जुनेयं कुत्सम् न्यृञ्जे) मैं इस समय उषाके पुत्र कुत्स मुनिको अपने पास रखता हूं अर्थात् कुत्समुनि भी मेरे पास हैं (अहं कविः उशना) मैं उशना कवि हूं। मुझे देखो यह मंत्र स्पष्ट बताता है कि वामदेव ऋषिने अपने पूर्वजन्मोंको बताया। यदि इस मंत्रमें पूर्वजन्मके वृत्तको न बताना होता, तो मंत्रमें " अस्मि " वर्तमानिक अस् धातुके साथ " अभवम् " का भूतकालका प्रयोग न देते, अतः सिद्ध है वर्तमान जन्मसे पूर्व शुद्धात्माओंको पूर्वजन्मकी स्मृति रहती है। केवल गर्भकालिक नहीं प्रत्युत् दोनों ही होती है यदि इस मंत्रका अर्थ परमात्मा किया जावे अर्थात् परमात्मा कहता है कि मैं (मनुः अभवम्) मनु हुआ था। (सूर्यश्चाहमभवम्) विवस्वत हुआ था तो आपको परमात्माके अवतारवादको स्वीकार करना पडेगा अथवा वेदमें इतिहासवाद मानना पडेगा। " उभयतः पाशा रज्जुः " "गुप्ता" जी पर प्राप्त हो जायगी।

" शतं मा पुर आयसी ररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम् " ऋ. ४।२७।१ वामदेव ऋषिः—

अर्थ—(मा) मुझे (शतं आयसी पुरः) सैकडों लोहेके समान कठोर शरीरोंने (अरक्षन्) अवरुद्ध कर रखा था (अधः) अब मैं (श्येनः) बाज पक्षीकी भाँति (जवसा) वेगसे (निरदीयम्) उन सबको तोडकर उनसे अलग हो गया हूं अर्थात् अब उन शरीर रूप पिंजरोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा है मैं सदाके लिये उन शरीरोंसे मुक्त हो गया हूं। जिन मंत्रोंका अनुवाद वेदो. सू. १।१। ३० " शास्त्र दृष्ट्या तूपदेशो वामदेव वत् " में भी लिख गया। और " तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे " **अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति** " बृहदा. उप. १।४। १० में भी यही लिखा गया। अर्थात् अपने आपको पृ. ४०६ में " नेजमेष परापत सुपुत्रः पुनरापत। अस्यै ये पुत्र कामायै गर्भमाधेहि यः पुमान् " ऋ. २।३५।३५, लिखा है यह मंत्र ऋग्यजुः सामाथर्व इन चारों वेदोंमें नहीं है और नहीं ऋग्वेदके परिशिष्टमें है। स्वा. जीने संस्कारविधिमें लिखा, परन्तु ग्रंथका प्रतीक नहीं दिया। "श्री नाथूराम गुप्ताजी" ग्रन्थोंको अच्छीतरह देखें। यह प्रतीक तो " राकामहम् " आदि मंत्रोंके दिये हैं। यह मंत्र किसी ब्राह्मण ग्रन्थका होगा। यहांपर भी स्वामीजीका सिद्धान्त यही है कि पुत्रकी कामनावाली स्त्रीके गर्भमें पिताका आत्मा अर्थात् देह ही तद्रूप होकर आवे ऐसी प्रार्थना की गई है।

इसी पृ. ४०६ में " पुरुषो ह वा- " ऐतरेयोपनि० १।२।३।४ तक जो पाठ दिया है। इन चारों भागोंमें—

" सर्वेभ्यः अंगेभ्यः तेजः सम्भूतम् आत्मनि एव आत्मानं विभर्ति " १ म जन्मस्त्रियः आत्मभूतं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा " तस्मादेनं न हिनस्ति साऽस्यैतमात्मानं भावयति ...... आत्मानमेव भावयति" द्वितीयं जन्म

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते, इतर आत्मा कृतकृत्वो वयोगतः प्रैति। इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीय जन्म ऐसे तीन जन्म बताये हैं।

समीक्षा=सब मंत्रोंमें अंग प्रत्यंग आत्मा शब्द आए हैं तथा वीर्यमें अन्नविकार स्थूलरूप होता है जिस वीर्यसे आत्मा अर्थात् देहनिर्माण होता है उस देहकी ३ अवस्थाएं लिखी है पिताने वीर्यद्वारा जो देह दिया, वह पहिला जन्म। माताके गर्भसे उत्पन्न हुआ २ य। ३ य जन्म देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण, मनुष्यपर शास्त्रोंने तीन ऋण लिखे हैं। पितृऋणके अदा कर देनेपर इसका तृतीय जन्म होता है " गुप्ताजी " ने ४ भागके अन्वयमें बडी तोड मोडकर अपना उल्लू सीधा करना चाहा जो सर्वथा अशुद्ध है। " यह संस्कृत पद्यबद्ध कविता नहीं हैं किसी पदकी किसी पदके साथ संगति करते जाओ। अतः पहिले ४ थे भागके पाठसमन्वयको देखें फिर अर्थ सोचें कौनसा अर्थ ठीक है

" सोऽस्याऽयमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते । अथ अस्य अयम् इतर आत्मा कृतकृत्यः वयोगतः प्रैति । स इतः प्रयन् एव पुनर्जायते तत् अस्य तृतीयं जन्म " ।

अर्थ—(सः अयम् आत्मा) पुत्र रूपमें उत्पन्न हुआ वह पिताका ही आत्मा अर्थात् देह (पुण्येभ्यः कर्मभ्यः) शुभ कर्मोंके आधारसे " क्योंकि संसारमें देखा जाता है कि कई मनुष्य निरपत्य होकर संसारसे चले जाते हैं वही अपने आपको तथा शास्त्रको ' ही पापका फल बताते हैं; अतः पिताके ही शुभ कर्मोंसे (प्रतिनिधीयते) उसका अर्थात् पिताका प्रतिनिधि बना दिया जाता है अर्थात् जैसे पितृऋणसे पिता मुक्त हुआ इसी तरह उसे भी पितृऋणसे मुक्त होना होगा । (अथ) पुत्र उत्पन्न होनेके अनन्तर (अस्य) इस पुत्रका (इतरः आत्मा कृतकृत्यः) यह पितारूप दूसरा आत्मा देह अपने कर्तव्यको पूरा करके (वयोगतः) आयु पूरी होनेपर (प्रैति) इस देहको छोड देता है । (स इतः प्रयन् एव) वह यहांसे जाकर ही (पुनः जायते) फिर उत्पन्न होता है (तत् अस्य तृतीयं जन्म) वह इसका तीसरा जन्म है " पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः " न्याय० द. १।१।१९ अर्थात् देहका गर्भमें आना १ म. जन्म, अपने देहसे अपना पुत्ररूप देहोत्पादन २ य जन्म, मृत्युके अनन्तर ३ य जन्म होता है। शास्त्र सिद्धान्त यह है कि पूर्वोक्त प्रकारसे इस पिताका ही आत्मस्वरूप पुत्र जब कार्य करने योग्य हो जाता है, तब वह पिता उसको अपना प्रतिनिधि बना देता है, अग्निहोत्र, देवपूजा, सेवादिकर्मोंका भार उसको सौंप देता है, गृहस्थ का पूरा दायित्व उसपर छोडकर स्वयं कृतकृत्य होजाता है अर्थात् अपनेको पितृऋणसे मुक्त मानता है । उसके बाद इस शरीरकी आयुपूर्ण होनेपर जब वह पिता इसे छोडकर संसारसे विदा होजाता है । तब यहांसे जाकर दूसरी जगह कर्माऽनुसार जहां जिस योनिमें जन्म लेता है वह इसका तीसरा जन्म है इसी तरह यह जन्म जन्मान्तरकी परम्परा चलती रहती है।

नवम्बर पृ० ४०८ में **" तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः रेतो जुह्वति—"** इसमें **रेतः** शब्दको लिया ।

समीक्षा-(देवाः) प्राकृतनियम व नियम प्रेरित पुरुष (रेतः जुह्वति) वीर्यकी आहुति करता है यह लिखा " गुप्ताजीने "देवाः" को एकवचन और "जुह्वति" को भी एकवचन बना दिया उन्हें ध्यान रखना चाहिये **"देवः देवौ देवाः"** देवाः यहां बहुवचन है, तथा जुहोति. जुहुतः, जुह्वति,, यहां जुह्वति बहुवचन है यह शब्दार्थ ज्ञानकी बातें हैं इसे छोडता हूं । यहां देव शब्दमें बहुवचनान्त रखनेमें ऋषियोंका विशेष अभिप्राय है वह ऐसे हैं " अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता" इस यजुर्वेद मंत्रके आधारपर रखा है पृथिव्यादि देवताओंके भागोंसे इस वीर्यकी निर्मिति होती है अतः देवाः अर्थात् पृथिव्यादि देवता (रेतः) अपने २ अंशोंको स्त्रीके गर्भाशयमें प्रवेश करते हैं जिससे पार्थिव अर्थात् स्थूल शरीर उत्पन्न होता है इसे छान्दोग्यने भी स्थूल देहोत्पत्तिका वर्णन किया है ।

" पतिः भार्यां संप्रविश्य " यह मनुका वचन भी स्थूल देहोत्पादक " वीर्य " का वर्णन करता है जो कि पञ्चभूतोंसे उत्पन्न होता है स्वयं भी केवल पाञ्चभौतिक हैं । गर्भमें भी पाञ्चभौतिक शरीर बढता और क्षीण होता है जैसा कि पहले अथर्व कां १८।२।५६के मंत्रमें प्रतिपादन किया है उसे देखें । प्रत्युत मनुजीने आत्माको देहसे पृथक् माना है। श्रीमनुजीने भी वेदोंका अनुसरण किया है । जैसे

" योऽस्यात्मनः कारयितः तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोति स कर्माणि भूतात्मेत्युच्यते बुधैः १२ जीवसंज्ञोऽन्तरात्मा ऽन्यः सहजः सर्व देहिनाम् येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु " (मनु.१२ अध्या. १२, १३ श्लोक)

अर्थ–जो (अस्य आत्मनः) इस लोक सिद्ध आत्माका (कारयिता) कर्मोंमें प्रवृत्त करानेवाला है (तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते) उसे क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) कहते हैं (यः कर्माणि करोति) जो हाथ, चक्षु, पांव, आदिसे कर्मोंको करता है (बुधैः भूतात्मा उच्यते) वह शरीर नामवाला है वह पृथिवी आदि भूतोंसे बननेके कारण पण्डितोंसे भूतात्मा कहा जाता है। अर्थात् शरीर भूतात्मा है और क्षेत्रज्ञ जीवात्मा १२ (अन्यः) शरीरसे भिन्न और (अन्तः) शरीरके अन्दर (सर्व देहिनां सहजः) सब जीवोंका सहज रूप बना हुआ (जीवसंज्ञः आत्मा) जीवसंज्ञावाला आत्मा है अर्थात् जीवात्मा देहसे भिन्न है । (येन) जिस जीवात्मासे (सर्वं सुखं दुःखं च वेदयते) प्रतिजन्ममें सुख और दुःखको जानता है और

अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदाऽनुशिष्टः । एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम् " ऋ. मं. १० सू. ३२ मं. ७

अर्थ-(अक्षेत्रवित्) क्षितेनिवासगत्योः, क्षीयते गम्यतेऽनेनेति क्षेत्रं देहः; मुक्तिपद इससे पाया जाता है अतः इसे क्षेत्र देह कहते हैं। यद्वा क्षितेः संसारात्मकात् निवासात् शमादिप्रयुक्तं पुरुषं त्रायते इति क्षेत्रं देह; यद्वा सदा दीपशिखावत्स्वयं क्षिणोतीति क्षेत्र देहः। यद्वा सुखदुःखादिफलोत्पादक होनेसे खेतकी तरह यह भी क्षेत्र है अतः इस देहकी वास्तविकताको न जाननेवाला (क्षेत्रविदं हि अप्राट्) क्षेत्रके वास्तविक भावको जाननेको जीवात्मासे ही पूछता है। क्षेत्रको जीवात्मा समझनेवाला वह पुरुष (क्षेत्रविदा अनुशिष्टः) क्षेत्रके जाननेवालेसे "देह क्षेत्र जीवात्मा देहसे भिन्न है ऐसी शिक्षा पाकर जब (प्रैति) मृत्युको प्राप्त होता है। (अनुशासनस्य) यह देह यह आत्मा है इस उपदेशका (एतत् वै भद्रम्) यह वचन उसका कल्याणकारी होता है (उत) और (अञ्जसीनाम् स्नुतिम्) सीधे मार्गको (विन्दति) पा लेता है।

यह वचन भग० १३।२ में कहा है—

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः"
तथा च
"महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः"
"इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रम्" (भग० १३।५।६)

तथा श्रीगुप्ताजीको स्मरण रखना चाहिये कि "रेतः" वीर्य भी पार्थिव विकार है न कि पञ्चमहाभूतोंसे भिन्न जैसा कि "पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नम् अन्नात् रेतः" अन्न पृथिवीसे है और रेतः अन्नसे अतः, रेतः पार्थिव विकार है,

दिसम्बर १९४९-पृ.४४८, ४९ में "**एकः आत्मनः शरीरे भावात् वेदां ३।३५५३ तथा "व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वात्"** वे० द० ३।३।५४ तथा "शांकरभाष्य "**अत्रैके देहमा ... ... त्राहुः**" तक **तथा "न स्वर्गगमनागम ... ... प्रतिजानते**" तक। **तथा प्राण चेष्टा चैतन्य ... ... तस्माद् व्यतिरेको देहात्मनः**" तक जितने पाठ दिये वह सारे पूर्वपक्षके हैं न कि सिद्धान्तपक्षके। समीक्षा– श्री नाथुराम गुप्ताजीने "शरीरे" का अर्थ किया जीवित शरीरमें" एक आत्माकी व्याप्ति–केवल शरीर शब्दसे जीवितादिका उपलक्षण किस लक्षणादि वृत्तिसे ग्रहण किया है तथा भाष्योंमें तथा १म सूत्रमें पूर्वपक्ष दिखाया है। जैसे–

"इह देह व्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः समर्थ्यते बन्धमोक्षाऽधिकार सिद्धये। असति देह व्यतिरिक्ते आत्मनि परलोकफलाश्चोदना न उपपद्येरन्। कस्य वा ब्रह्मात्मत्वमुद्दिश्येत्।

अर्थ-सूत्रारंभ भाष्य यहांसे है यहां देहसे भिन्न आत्माका सद्भाव मोक्षाऽधिकार सिद्धिके लिये है। देहसे भिन्न आत्माके नहोनेपर परलोक फलादिकी प्रेरणा नहीं हो सकती। इस सूत्रका भाष्य करनेके लिये श्री स्वा० शंकराचार्यजी लिखते हैं,

"अपि च पूर्वस्मिन्नधिकरणे प्रकरणोत्कर्षाभ्युपगमेन मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वं वर्णितम्॥ कोऽसौ पुरुषः यदर्थाः एते मनश्चिदादयः इत्यस्यां प्रसक्ता विदं देह व्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुच्यते। तदस्तित्वाक्षेपार्थञ्चेदमाद्यं सूत्रम्। आक्षेप पूर्विका हि परिहारोक्तिर्विवक्षितेऽर्थेस्थुणा निखननन्यायेन दृढा बुद्धिमुत्पादयेदिति॥ अत्रैके देहमात्रात्म—

यह "गुप्ताजीका प्रदर्शित पाठ लिखा है। इस सूत्रके समग्र भाष्यमें श्री शंकराचार्यजीने पूर्वपक्ष रखा है। "गुप्ताजी प्रदर्शित वे० द० ३।३।५४ के आरंभमें श्री शंकराचार्यजीने लिखा है "एवं प्राप्ते ब्रूमः" ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर कहते है "व्यतिरेक स्तद्भावाभावित्वात् नतूपलब्धिवत्" इस सूत्रका जो अर्थ "गुप्ताजीने लिखा है वह उनके वेदान्त सूत्रके विज्ञानका परिचय देता है। वह कितने तक पढे हुए हैं। साथ यह भी देखें इसी सूत्रके भाष्यका जो भाग "**अपि च सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवत्यसत्सु भवति,** यह भी पूर्वपक्ष ही दे दिया है इस भाष्यका उत्तर पक्ष नहीं दिखाया इसके आगे।

न चैतावता प्रदीपादिधर्म एवोपलब्धिर्भवति। एवञ्च सति देहभावे उपलब्धिर्भवाति असतिच न भवतीति देह धर्मो भवितु मर्हति। उपकरणत्व मात्रेणाऽपि प्रदीपादिवद्देहोपयोगोपपत्तेः। न चात्यन्तं देहस्योपलब्धावुपयोगो दृश्यते। निश्चेष्टेऽपिह्यस्मिन् देहे स्वप्ने नाना विद्योपलब्धि दर्शनात्। तस्मादनवद्यं देह व्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वम्॥ ५४॥

अब पाठक इन पाठोंको मूल ग्रंथोमें पढें; देखें, तो 'गुप्ताजी-की' वञ्चनाका ध्यान हो जाएगा इसी सूत्र ५४ के भाष्यका आरंभ भी देखें—

यदुक्तमव्यतिरेको देहादात्मनः इति न त्वेतदस्ति। व्यतिरेक एवाऽस्य देहाद्भवितुमर्हति। तद्भावाभावित्वात् यदि हि देहभावे भावाद्देह धर्मत्वमात्मधर्मणा मन्येत, ततो देहभावेऽप्यभावादतद्धर्मत्वमेषां किं न मन्येत। देहधर्मं वैलक्षण्यात्। ये हि देहधर्मा रूपादयः, ते यावद्देहं भवन्तु। प्राणचेष्टादयस्तु सत्यापि देहे भूताऽवस्थायां न भवन्ति। देहधर्माश्च रूपादयः परैरप्युपलभ्यन्ते। न त्वात्मधर्माश्चैतन्यस्मृत्यादयः॥

श्री शंकराचार्यके सिद्धान्तानुसार भी आत्मा देहसे भिन्न है न कि जीवित शरीर ही आत्मा है। क्योंकि आत्माके होनेपर शरीर क्रिया कर सकता है आत्माके न होनेपर देहक्रिया नहीं कर सकता वह केवल निश्चेष्ट नहीं होता प्रत्युत गल सड भी जाता है जैसा कि श्री नाथुरामजीने अपने लेख पृ. ४४७ तथा पृ. ४५४ दिसम्बर १९४९ में लिखा है, मृत्युके समय शरीरके सभी परमाणु चेतनतारहित हो जाते हैं जिससे शरीर कोई काम नहीं कर सकता। और शरीरके जीवित रहनेपर जीवात्मा रहता है "जैम्स" "का सिद्धान्त भी" चेतना शरीरका गुण है न कि शरीरसे अलग आत्मा इन सबके सिद्धान्तोंका खंडन वैदिक सिद्धान्त तथा मनु और उपनिषदें तथा श्री शंकराचार्यके सिद्धान्तानुसार समझ सकते हैं।

इस जन्मके अनन्तर शरीर छोडनेपर भी जन्मोपलब्धि तब-तक होती रहती है जबतक मुक्ति नहीं होती। देखो ऋ. १०।३७।११ अस्माकं देवाः! उभयाय जन्मने शर्म यच्छत द्विपदे चतुष्पदे।"

(अपूर्ण)

सांख्य-दर्शनमें ईश्वरवाद

(लेखक— श्री० सोमचैतन्य सांख्यशास्त्री, वेदवागीश)

(गताङ्कसे आगे)

सहोवाच याज्ञवल्क्यः सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। तन्नित्यमुक्तमविक्रियं सत्यज्ञानानन्दं परिपूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। तस्मिन् लोहित शुक्ल कृष्णगुणमयी साम्या निर्वाच्या मूल प्रकृतिरासीत्। तत्प्रति विम्बितं यत्तु तत्साक्षिचैतन्यमासीत्। सा पुनर्विकृतिं प्राप्य सत्वोद्रिक्ताऽव्यक्ताख्यावरण शक्तिरासीत्। तत्प्रतिविम्बितं यत्तदीश्वर चैतन्यमासीत्॥ स स्वाधीनमायः सर्वज्ञः सृष्टिस्थिति लयानामादिकर्त्ता जगदङ्कुररूपो भवति॥ पैङ्गलोपनिषद्, प्रथमोऽध्यायः॥

"उस याज्ञवल्क्यने कहा—हे सोम्य! सृष्टिके आदिमें यह सत् ही था। वह नित्यमुक्त, अविक्रिय, सत्यज्ञानानन्द परिपूर्ण सनातन एक अद्वितीय ब्रह्म है। उसमें लोहित शुक्ल कृष्ण गुणमयी गुणसाम्या अनिर्वाच्या मूल प्रकृति थी। वह पुनः विकृतिको प्राप्त होकर सत्त्वोद्रिक्ता अव्यक्तनामवाली आवरण शक्ति बनी। उसमें जो प्रतिविम्बित था वह ईश्वर चैतन्य था। वह स्वाधीनमायः (मायाको जिसने अपने आधीन किया हुआ है), सर्वज्ञ, सृष्टिस्थितिलयोंका आदिकर्त्ता जगदङ्कुर रूप होता है।

उस पुरुषेश्वरके कर्तृत्वाकर्तृत्वको महोपनिषद्में इस भाँति दिखाया गया है,—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते।
सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः ॥१३॥

अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने।
निरिच्छत्वादकर्त्तासौ कर्ता सन्निधिमात्रतः १४
(अध्याय ४)

यथा रत्न (चुम्बक) के निरिच्छ संस्थित रहनेपर लोह प्रवृत्त होता है तथैव सत्तामात्र रूप परतत्त्वके रहनेपर यह जगत समूह प्रवृत्त होता है। ॥ १ ॥ हे मुने! इसीलिये आत्मामें कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों हैं। निरिच्छ होनेसे यह अकर्त्ता है और सन्निधि मात्रसे कर्त्ता है॥ २ ॥

परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूप तेजोमय शाश्वतं शिवम्। कविं पुराणं पुरुषं सनातनं सर्वेश्वरं सर्व देवैरुपास्यम् ॥
(महोपनिषद् ४।७१)

जो परसे भी परे है और महान्से भी महान है, जो प्रकाश स्वरूप, शाश्वत, शिव, कवि, पुराण, सनातन सर्वेश्वर पुरुष है, वह सब देवोंका उपास्य है।

भगवद्गीता

गीतामें भी पुरुष ईश्वरको प्रकृतिका अधिष्ठाता माना गया है और उसकी शरणमें सर्वभावसे जानेको गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया॥
(१८।६१-६३)

गीताकी दृष्टिमें सांख्य और योगमें कोई भेद नहीं है। अविवेकी ही इनमें (निरीश्वर सेश्वर या अन्य ढंगसे) भेद बतलाते हैं, पण्डित नहीं। योगी परमात्मप्राप्तिरूपी जिस फलको पाते हैं, सांख्य भी उसीको पाते हैं। चाहे कोई योग करे चाहे सांख्य-दोनों एक ही फलको पाते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
(गीता. ५।५, ४)

गीताके पुरुषेश्वर विषयक कुछ स्थल देखिये—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८।८

हे पार्थ! अभ्यास योगयुक्त नान्यगामी चित्तसे अनुचिन्तन करता हुआ परम दिव्य पुरुष (परमात्मा) को प्राप्त होता है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(८।२२)

हे पार्थ, जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्व भूत है और जिससे यह सब जगत् व्याप्त है—

वह परम पुरुष अनन्य भक्तिसे प्राप्त होने योग्य है।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥ (९।१०)

हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाता पुरुषके सान्निध्यसे यह प्रकृति सचराचर जगत्को उत्पन्न करती है। इस (उपरोक्त) हेतुसे ही यह संसार विपरिवार्तित (आवागमनरूप चक्रमें घूम) रहा है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्। वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ (११।३८)

हे, अनन्तरूप, आप आदि देव और सनातन पुरुष हैं, इस जगत्के परम आश्रय तथा जाननेवाले, और जानने योग्य एवं परमधाम हैं। आपसे यह सब जगत् परिपूर्ण (व्याप्त) है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥
(१३।२२)

पुरुष इस देहमें स्थित हुआ भी पर ही है, केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता एवं सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीव रूपसे भोक्ता तथा ब्रह्मादिकोंका स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्द धन होनेसे परमात्मा ऐसा कहा गया है।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ १५।४

सुविरूढमूल संसाररूप अश्वत्थ वृक्षको असङ्ग शस्त्रसे काटकर उसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको अच्छी प्रकार खोजना चाहिये कि जिसमें गये हुये पुरुष जीव फिर संसारमें

नहीं आते हैं और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृति प्रसृत हुई है उन्ही आदि पुरुषके शरणको मैं प्राप्त होता हूँ।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१५।१७

उत्तम पुरुष तो अन्य ही है जो 'परमात्मा' इस नामसे कहा गया है एवं जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण पोषण करता है।

× इस प्रकार जिस पुरुषरूप निर्गुण और सगुण ब्रह्मकी इन शास्त्रोंमें विवेचना की गई है। वही पुरुष सांख्यमें वर्णित है। "**तत्त्वसमास**" में परमर्षिकपिलने 'पुरुषः' सूत्रमें जीवके साथ इसी पुरुषका वर्णन किया है। यही नहीं, इस सम्बन्धमें साङ्ख्य ग्रन्थोंकी अन्तःसाक्षी भी विद्यमान है। चौखम्बा, काशीसे प्रकाशित 'सांख्यसंग्रह' नामक संग्रह ग्रन्थमें सांख्य परिभाषा' नामक एक ग्रन्थ है। इसमें सांख्यका बहुत सुन्दर वर्णन है। इसके लेखकका पता नहीं परन्तु ग्रन्थ अतीव प्राचीन मालूम होता है। उसने पुरुष शब्दसे गृहीत ईश्वर और जीवका पृथक् पृथक् लक्षण लिखा है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥४॥

इति ईश्वरः।

पुरुषः प्रकृतिस्थोहि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ ९॥
(सांख्यसंग्रहेसांख्यपरिभाषा पृ० २१४)

इति जीवः।

इससे सिद्ध होता है कि सांख्यशास्त्रोंमें पुरुष शब्दसे ईश्वर और परमात्माका भी ग्रहण अभिप्रेत है। फलतः परमर्षि कपिल और सांख्यशास्त्र ईश्वरवादी हैं, निरीश्वरवादी नहीं।

सांख्यशास्त्रोंमें ईश्वरका वर्णन

श्री षिमानन्द (क्षेमेन्द्र) दीक्षित विरचित सांख्यतत्त्वविवेचनमें निम्न लिखित वचन पाये जाते हैं,—

तत्त्वसमास सूत्र ३॥ पुरुषः॥ की व्याख्यामें— **तदुक्तं गीतासु— अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः॥** (पृष्ठ १२)

अनादि और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा है। स्फोटके विचारमें लिखा है—

तथा हि प्रणवस्याकारोकारमकाररूप मात्रा त्रयं ब्रह्मादि देवतात्रयात्मकमुक्त्वा प्रणवं देवतात्रयातिरिक्त परब्रह्मात्मकं चतुर्थमात्रां श्रुतय आमनन्ति—

जैसे कि प्रणवके अकारोकारमकाररूप मात्रात्रयको ब्रह्मादि देवतात्रयात्मक कहकर प्रणव (ओङ्कार) की चतुर्थमात्राको देवतात्रयातिरिक्त परब्रह्मात्मक श्रुतियाँ कहती हैं॥ पृष्ठ २९॥

सृष्टि उत्पत्ति प्रकरणमें लिखा है—

"तत एव चादि पुरुषात् व्यष्टिपुरुषाणां विभागादन्तेच तत्रैव लयात् स एव चैक आत्मेति श्रुतिस्मृत्योर्व्यवह्रियते अतो न व्यवहारपरतया नारायण एव सर्वभूताना मात्मेत्यादि श्रुतिस्मृति विरोध इति"॥ पृष्ठ ४१॥

उसी आदि पुरुषसे व्यष्टि पुरुषोंका विभाग होनेसे और अन्तमें वहीं लय होनेसे वह ही एक आत्मा है ऐसा श्रुति और स्मृतिमें व्यवहृत होता है, इसलिये व्यवहारपरतया नारायण ही सर्वभूतोंका आत्मा है इत्यादि श्रुतिस्मृति विरोध नहीं है।

एतेन सर्व भूतेषु समताज्ञानम् आत्मनः सर्वात्मकत्वादि ज्ञानं च श्रुतिस्मृत्योर्गीयमानं विवेकज्ञानस्यैव शेषभूतं सर्व दर्शनेषु मन्तव्यम्। ज्ञानान्तराणां साक्षादभिमानानिवर्तकत्वात् ब्रह्ममीमांसायां त्वयं विशेषो यत्परमात्मविवेकशेषत्वम्। साख्यशास्त्रे तु सामान्यात्मविवेकशेषत्वमिति दिक्॥ पृष्ठ ४५॥

इतनेसे सर्वभूतोंमें समताज्ञान और आत्माका सर्वात्मकत्वादि ज्ञान श्रुतिस्मृतियोंमें गीयमान विवेकज्ञानका ही शेषभूत सर्व दर्शनोंमें समझना चाहिये। अन्य ज्ञानोंका साक्षात् अभिमानका

× **स्मृति— रूक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥** मनु०॥
समाधि बुद्धिसे जानने योग्य उस स्वप्रकाशस्वरूप परमपुरुषको जानो॥

अनिवर्तक होनेसे। ब्रह्ममिमांसामें तो यह विशेष है जो परमात्मविवेकशेषत्व है, सांख्यशास्त्रमें तो सामान्यात्मविवेकशेषत्व है। इति दिक्।

अर्थात् ब्रह्ममीमांसामें तो विशेष तौरपर परमात्मविवेकका वर्णन है और सांख्यशास्त्रमें परमात्मा और जीवात्मा दोनोंका सामान्यात्म विवेकके द्वारा वर्णन है।

तत्वयाथार्थ्य दीपन

भावागणेश श्री विज्ञानीभिक्षुके प्रधान शिष्य थे। इन्होंने तत्त्वसमासकी विद्वतापूर्ण व्याख्या "तत्त्वयाथार्थ्य दीपन" नामसे की है। सांख्यके ये विशेषज्ञ थे। अपनी व्याख्यामें बुद्धि निरूपण प्रसङ्गमें लिखते हैं—

इदमेव महत्तत्त्वं कार्येश्वरस्यस्वयम्भुव उपाधिस्तेनैवोपाधिना स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्व कर्ता सर्व पालकः सर्वसंहर्त्ता च। स क्रियाशक्तिमत् केवलमहत्तत्त्वोपाधिकः सूत्रात्मेत्युच्यते। स एवार्द्धसुषुप्तावर्द्धलयात् प्राज्ञ इत्युच्यते। समग्र सुषुप्तौ तु समग्रलयेन निर्विशेषचिन्मात्रस्वरूपेणावस्थानादीश्वर इत्युच्यते श्रुतिस्मृतिपुराणेषु॥ पृष्ठ ५५।५६॥

यह ही महत्तत्त्व कार्येश्वर स्वयम्भूकी उपाधि है। उसी उपाधिसे वह सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वकर्ता, सर्वपालक और सर्व संहर्ता है। और वह स्वयम्भू क्रियाशक्तिवाले केवल महत्तत्त्व उपाधिसे युक्त 'सूत्रात्मा' कहे जाते हैं। वह ही अर्द्धसुषुप्तिमें अर्द्धलय होनेसे 'प्राज्ञ' कहे जाते हैं। और उन्हींको समग्रसुषुप्तिमें समग्र लय होनेपर निर्विशेषचिन्मात्र स्वरूपसे अवस्थित होनेसे श्रुतिस्मृति पुराणोंमें ईश्वर कहा गया है।

पुरुष इस तीसरे सूत्रपर लिखा है—

"पुरुष इति तृतीयं सूत्रम्। अनादिः सूक्ष्मश्चेतनः सर्वगतः निर्गुणः कूटस्थो नित्यो द्रष्टा भोक्ता क्षेत्रवित् अमनः अप्रसवधर्माचेति स्वरूपम्। कूटस्थनित्य इत्येकं लक्षणम्। गुणभोक्तृत्वमित्यपरम् लक्षणम्। वृत्तिसाक्षित्वमिति तृतीयं लक्षणम्। अथ पर्यायाः पुरुष आत्मा पुमान् पुद्गल जन्तुः जीवः क्षेत्रज्ञः नरः कविः ब्रह्म अक्षरः प्राणः ज्ञः यः कः सः एकः इति॥" पृष्ठ ६०॥

*

"पुरुषः यह तीसरा सूत्र है। अनादि, सूक्ष्म, चेतन, सर्वगत, निर्गुण, कूटस्थ, नित्य, द्रष्टा, भोक्ता, क्षेत्रवित्, अमनः, और अप्रसवधर्मा-यह उसका स्वरूप है। कूटस्थ नित्य—यह एकलक्षण है। गुणभोक्तृत्व-यह दूसरा लक्षण है। वृत्ति साक्षित्व-यह तीसरा लक्षण है। उसके ये पर्याय हैं-पुरुष, आत्मा, पुमान्, पुद्गल, जन्तुः, जीवः, क्षेत्रज्ञः, नरः, कविः, ब्रह्म, अक्षर, प्राण, ज्ञः, यः, कः, सः, एकः॥"

इसमें ब्रह्म भी पुरुषके पर्यायोंमें है यह ध्यान रखना चाहिये। ग्रन्थके अन्तमें भावागणेश लिखते हैं,—

अन्यच्चात्र सांख्यविद्यायां भगवद्भक्तेरेवासाधारणकारणत्वं ज्ञेयम् अन्यथा देवकृत विघ्नैर्योगध्वंसो भवत्येव। ... नारदीये च सांख्यविद्याधिकारे-
माया प्रवर्तके विष्णौ कृता भक्तिर्दृढा नृणाम्।
सुखेन प्रकृतेरन्यं स्वं दर्शयति दीपवत्॥
चित्ते हि स्ववशे योगः सिद्धयेत् तत्तु जगत्पतिम्।
कोऽनाश्रित्य निगृह्णीयादव्यक्तमतिचञ्चलम्॥
तस्मान्मुमुक्षोः सुसुखो मार्गः श्रीविष्णुसंश्रयः।
चित्तेन चिन्तयानेन वञ्चते ध्रुवमन्यथा॥ इति।
गीतायां चतुर्दशाध्याये।
मां च योऽव्यभिचारेण भक्ति योगेन सेवते।
सगुणान् समतीत्यैव ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ इति।
(पृष्ठ ९० से ९२)

इस सांख्यविद्यामें भगवद् भक्तिका ही असाधारण कारणत्व जानना चाहिये अन्यथा देवकृत विघ्नोंके द्वारा योगध्वंस होता है।... ... और नारद पुराणमें भी सांख्य विद्याधिकारमें कहा है।—

माया प्रवर्त्तक विष्णुमें मनुष्योंकी की हुई दृढभक्ति आसानी से प्रकृतिसे अन्य स्वरूपको दीपकी भाँति दिखाई देती है। चित्तके स्ववशमें होनेपर योगसिद्ध होता है, उस अव्यक्त अतिचञ्चल चित्तको जगतपतिका आश्रय किये विना कौन निग्रह कर सकता है! इसलिये मुमुक्षुका सबसे सुखदायीमार्ग ईश्वराश्रय है। अन्यथा चिन्ता करते हुये चित्तसे वह निश्चय ही ठगा जाता है। गीतामें भी चौदहवें अध्यायमें कहा है,— मुझ ईश्वरको जो अनन्य भक्तियोगसे सेवन करता है, वह गुणोंका अतिक्रमण करके-गुणाभिमानशून्य होकर ब्रह्मभूय-मोक्ष-स्वरूप प्रतिष्ठाके लिये समर्थ होता है।

सांख्य परिभाषा

सांख्य परिभाषा ग्रन्थमें जिसका हम पहले वर्णन कर आये हैं; ईश्वर विषयक वर्णन बहुत मिलता है। प्रारम्भमें ही ग्रन्थकारने ईश्वरको नमस्कार किया है—

ॐ नमोनारायणाय प्रकृत्यै पुरुषाय च ।
वेदान्तसार गुह्याय सांख्यतत्त्वस्वरूपिणे ॥

वेदान्तसार-गुह्य, सांख्यतत्त्व स्वरूपी नारायण पुरुष और प्रकृतिको नमस्कार हो ॥ वैराग्यका वर्णन करते हुये लिखा है—

पदमिच्छसिब्रह्मत्वं तदा विज्ञानतः शृणु ।
सर्वार्थेषु च वैराग्यं सर्वभूतेषु चात्मता ॥ ८ ॥
कदा शम्भो भविष्यामि कर्म निर्मूलनक्षमः
एकाकी निःस्पृहः शान्तो पाणि पात्रो दिगम्बरः१५

(पृष्ठ २०१ सांख्यसंग्रहे सांख्यपरिभाषा)

यदि तू विवेकज्ञानके द्वारा ब्रह्मपदको चाहता है तो सुन–सब विषयोंमें वैराग्य तथा सब भूतोंमें आत्मभावको दृढ कर ॥ ८ ॥ हे शम्भो मैं कब कर्म निर्मूलनमें समर्थ, एकाकी, निःस्पृह, शान्त, पाणिपात्र दिगम्बर होऊँगा ॥ १५ ॥

अद्वैतभक्ति प्रकरण (पृष्ठ २०४) में लिखा है—

" सर्वेश्वरमयं भक्तिर्ज्ञानं चाभेददर्शनम् " ॥

सब कुछ ईश्वररूप है ऐसा भाव होना भक्ति है और अभेद दर्शन होना ज्ञान है ॥

" किन्तु चाण्डालादि ब्रह्मपर्यन्तं सर्वभूतेषु ईश्वररूपं भावयेत् " ।

चाण्डालादि ब्रह्म पर्यन्त सब भूतोंमें ईश्वररूपकी भावना करे॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

जब भूतोंके पृथक् पृथक् भावको एक ही में स्थित देखता है और उसीसे विस्तारको देखता है तब ब्रह्मको प्राप्त करता है।

समाधि शब्द वाक्यार्थं ब्रह्माकारतया वृत्तिः ७

(पृष्ठ २०६)

ब्रह्माकाररूप वृत्ति होना समाधि शब्दका अर्थ है।

अव्यक्तस्य कथं ध्यानं व्यापकस्य विसर्जनम् ।
अमूर्तस्य कथं पूजा स्वयं ब्रह्म सनातनम् ॥६२॥

(पृष्ठ २११)

अव्यक्तका ध्यान किस प्रकार हो सकता है, व्यापकका त्याग कैसे हो सकता है, अमूर्त की पूजा किस प्रकार हो सकती है-ब्रह्म स्वयं सनातन है।

अथ जीवेश्वरयोर्लक्षणम् । तत्र प्रमाणं श्रुतिः । द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ (पृष्ठ २४९)

अर्थ जीव और ईश्वरका लक्षण। उसमें श्रुति प्रमाण है-द्वा सुपर्णा०–शोभन गुणोंसे युक्त, सदा साथ रहनेवाले परस्पर मित्र ईश्वर और जीव रूप दो पक्षी एक ही त्रिगुणात्मक प्रकृति रूपवृक्षको आलिङ्गन किये हुए हैं। उनमेंसे एक जीवरूपी पक्षी (जन्म आयु और भोग रूपी सुख दुःख) स्वादवाले फल को खाता है और दूसरा ईश्वररूप पक्षी न खाता हुआ केवल साक्षी रूपसे उसे देखता है॥ (यहांके उपद्रष्टा अनुमन्ता० और पुरुषः प्रकृतिस्थो हि ये दो श्लोक पहले उद्धृत कर दिये जानेसे फिर उद्धृत नहीं किये गये हैं।)

ॐमिति ब्रह्म ॐमितीदं सर्वम् ॥ (पृष्ठ २१५)

ओङ्कार यह ब्रह्म है। ओम् यह सब कुछ है।

वेदोक्त कर्मयोगके वर्णन पृष्ठ २१७ में लिखा है—

ब्राह्मणं नाम सर्वस्वं ब्रह्मैव न तु यागादि।

जिसका सर्वस्व ब्रह्म ही है, यागादि नहीं, उसे ब्राह्मण कहते हैं॥ अन्तमें " **अथ सांख्यराजयोगः** " प्रकरणमें लिखा है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाण पटवः कर्तेति नैयायिकाः
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सर्वे धूर्णिपराः प्रपञ्चविकलाः साङ्ख्यात्परं नान्यथा ॥ (पृष्ठ २२२)

जिसे शैव ' शिव ' यह कहकर उपासते हैं, ' ब्रह्म ' ऐसा वेदान्ती कहते हैं। जिसे बौद्ध ' बुद्ध ' कहते और प्रमाणपटु नैयायिक " कर्त्ता " कहकर उपासना करते हैं। जैन जिसे ' अर्हन् कहते और मीमांसक " कर्म " कहते हैं। ये सब धूर्णि (भँवर) में पडे हुये प्रपञ्चविकल हैं। सांख्यके शुद्ध चेतनतत्त्व (परब्रह्म) से उत्तम अन्य कुछ नहीं है।

सांख्य कारिकामें ईश्वर

माठर वृत्ति

सांख्य कारिकाको निरीश्वरवादी कहा जाता है परन्तु वस्तुतः यह ठीक नहीं। इसकी उपलब्ध वृत्तियोंमें माठर वृत्ति सबसे प्राचीन है। उसने प्रारम्भमें ईश्वरको नमस्कार किया है, ततः महर्षि कपिलको।--

सर्वविद्याविधातारमादित्यस्थं सनातनम्।
नतोऽस्मि परया भक्त्या कपिलं ज्योतिरीश्वम्॥ १॥

आदित्यस्थ (विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें प्रतिविम्बित शुद्ध चेतन) सनातन, सर्व विद्याके विधाता; कपिल वर्णकी ज्योति-वाले स्वप्रकाशस्वरूप ईश्वरको परम भक्तिसे प्रणाम करता हूँ॥ कारिका १७ पर पृष्ठ ३०में इस वृत्तिमें लिखा है--

अपि चोक्तं षष्टि तन्त्रे "पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते" इति। ततः पश्यामोऽसौ परमात्मा अस्ति पुरुषो येनाधिष्ठितं प्रधानं महदहङ्कार तन्मात्रेन्द्रिय भूतान्युत्पादयति॥

"और षष्टि तन्त्रमें भी कहा है-" पुरुषसे आधिष्ठित प्रधान प्रवृत्त होता है" इति। अतः हम देखते हैं कि यह पुरुष पर-मात्मा है कि जिससे अधिष्ठित प्रधान महदहङ्कार तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, और भूतोंको उत्पन्न करता है।

गौडपाद भाष्यमें भी षष्टितन्त्रका यह वचन उद्धृत किया गया है।

कारिका २३ में "**अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्विकमेतद्रूपम्**" से सात्विक बुद्धिके चार रूप धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य बतलाया गया है। सभी वृत्तिकार और भाष्यकार धर्मका अर्थ "यमनियम लक्षणः धर्मः" करते हैं। ये यमनियम भी पातञ्जल योग शास्त्रोक्त ही हैं, इनसे भिन्न नहीं। इनमें स्वाध्यायसे प्रणवके जपका तथा ईश्वर प्रणिधानका भी ग्रहण है, तब कारिकामें निरीश्वर वादका प्रवेश कहां है। धर्मपर माठर वृत्तिने लिखा है।

तत्र धर्मो नाम वर्णिनामाश्रमिणां च समयाविरोधेन यः प्रोक्तो यमनियम लक्षणः स धर्मः तत्र पञ्च यमाः पञ्च नियमाः। अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः। शौचसन्तोष तपः स्वध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः। एभिर्यमनियमैर्यः साध्यते स धर्मः। स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपः। ईश्वर प्रणिधानं क्रियाणां परम गुरावर्पणं तत्फल संन्यासो वा। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि" इति। (पृष्ठ ३८,४०)

"वर्णियों और आश्रमियोंका समयाविरोधसे जो यमनियम कहा गया है वह धर्म है। उनमें पाँच यम हैं और पाँच नियम हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह--ये यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान ये नियम हैं। इन यम नियमोंसे जो साधा जाता है वह धर्म है। ओङ्कार गायत्री आदि पवित्र मन्त्रोंका जप करना स्वाध्याय है। परम गुरु ईश्वरमें सब क्रियाओंका अर्पण कर देना वा उनके फलका त्याग करना ईश्वर प्रणिधान है। "**ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः**" इस गीताके श्लोकमें भी ईश्वर प्रणिधानका वर्णन है।"

ऐसा ही गौडपाद भाष्यमें भी लिखा है। तत्त्वकौमुदीमें वाचस्पति मिश्रने लिखा है—

"अभ्युदयनिःश्रेयसहेतु धर्मः, तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजन्योऽभ्युदयहेतुरष्टांगयोगानुष्ठान जनितश्च निःश्रेयसहेतुरिति॥

"अभ्युदयनिःश्रेयहेतु धर्म है। उसमें यागदानाद्यनुष्ठान जन्य अभ्युदय हेतु है। और अष्टांग योगानुष्ठानजनित निःश्रेयस हेतु है॥

अष्टांङ्ग योगका आधार ही ईश्वर है, इसे कौन नहीं जानता। इसलिये धर्मका वर्णन होनेसे ईश्वरका वर्णन हो जानेके कारण कारिकाकार भी ईश्वरवादी है इसमें कोई सन्देह नहीं रहा।

कपिल ईश्वर मानते थे

हम पहले लिख आये हैं कि सांख्य द्वैतवादी है। इसके मतमें जड और चेतन दो ही पदार्थ हैं। चेतनत्वेन ईश्वर और जीवका साधर्म्य है। पुरुषके अर्थ जीवके अतिरिक्त ईश्वर और परब्रह्म भी है। पीछे हम वेदादि शास्त्रों के सप्रमाण उदाहरण देकर सिद्ध कर आये हैं कि बहुलतया शास्त्रोंमें पुरुष शब्दसे निर्गुण–सुगुण ब्रह्मका वर्णन है। तत्त्व समासके तीसरे सूत्र '**पुरुषः**' में महर्षि कपिलने इन तीनों पुरुषोंका वर्णन किया है। ईश्वर इन दो तत्त्वोंसे पृथक् नहीं हो सकता। दो में से जड वह हो नहीं सकता। सुतरां वह चेतन ही है। चेतन होनेसे तथा पुरुष शब्द वाच्य होनेसे जीव और ईश्वर तथा पर--ब्रह्मका एक साथ ही वर्णन किया गया है। सांख्य शास्त्रोंका

धर्म और श्रुति स्मृतिकी व्यवस्थाको मानना भी उन्हें आस्तिक ही सिद्ध करता है। इसके पश्चात् जितने सांख्यके ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं वे सभी ईश्वरवादी हैं, यह सिद्ध किया है। माठर वृत्ति और गौडपाद भाष्यमें वार्षगण्याचार्यप्रणीत षष्टि तन्त्रका एक सूत्र—"**पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रधानं प्रवर्तते**" उद्धृत किया गया है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि कपिल की शिष्य परम्परा प्रकृतिका अधिष्ठाता ईश्वरको मानती चली आरही है। स्वयं अविवेकी जीव पुरुष तो अधिष्ठाता हो नहीं सकता, अतः ईश्वर ही अधिष्ठाता है, जैसा कि माठरवृत्तिने उल्लेख किया है।

तत्त्वसमासके अतिरिक्त महर्षि कपिल रचित अन्य ग्रन्थ नहीं मिलता। महाभारतके शान्तिपर्व और मोक्षधर्ममें इनका विचार मिलता है। श्रीमद्भागवत पुराणमें तृतीय स्कन्धमें कपिल देवहूति संवाद मिलता है, जिसमें उन्होंने अपनी माता देवहूतिको सांख्य ज्ञानका उपदेश देकर उनके अविवेक पाशको छेदन किया है। यही संवाद कपिलगीताके रूपमें प्रसिद्ध है। उस संवादमें भी परमर्षि कपिलने भगवद्गीताका मनोहारी वर्णन किया है। भगवान्का भी वर्णन सर्वत्र भरपूर है। इसके कुछ उदाहरण स्थल पाठकों की जानकारी के लिये उद्धृत किये जाते हैं,—

तदा पुरुषमात्मानं केवलं प्रकृतेः परम्।
निरन्तरं स्वयं ज्योतिरणिमानमखण्डितम्॥१७॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्॥१८॥
न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्म सिद्धये१९
(कपिल गीता, अध्याय १)

तब प्रकृतिसे परे केवल, अखण्डित, आतिशय सूक्ष्म, निरन्तर स्वयं ज्योति; व्यापक उदासीन पुरुष ईश्वरको और हतौजा प्रकृतिको ज्ञान वैराग्य भक्ति युक्त आत्माद्वारा देखता है॥ योगियोंको ब्रह्म सिद्धिके लिये अखिलात्मा भगवान्में लगी हुई भक्तिके समान मंगलमय मार्ग अन्य नहीं है।

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धिर्गरीयसी॥
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥
(कपिल गीता १।३३)

अहैतुकी भगवान्की भक्ति बडी सिद्धि है। जैसे जठराग्नि खाये हुये अन्नको भस्म कर देता है, वैसे यह अनिमित्ता भगवद् भक्ति कर्माशयको जला देती है॥

भक्ति योगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत्॥ ५।३५॥

हे मानवी! मैंने भक्तियोग और योग दोनोंका वर्णन कर दिया है। इनमेंसे किसी एकका आश्रय लेनेसे पुरुष-जीव पुरुष-परमात्माको प्राप्त होता है॥ (पाठक यहां दो अर्थमें पुरुषके प्रयोग को देखें और हमारे कथन का गम्भीरतासे अनुभव करें॥)

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम्॥८।२३॥

भगवान्में की हुई भक्ति शीघ्रही वैराग्य और ब्रह्मका दर्शन करानेवाला ज्ञान उत्पन्न करती है।

ज्ञानमात्रं परब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवान् एक ईयते॥८।२६॥

परब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर–पुरुष ज्ञानस्वरूप है। दृश्यादि भावोंसे पृथक् वह भगवान् एक है।

आत्मा तत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च।
ईयते भगवानेभिः सगुणो निर्गुणस्स्वदृक्॥८।३६

अनेक प्रकार की शुभक्रिया. दान, तप, स्वाध्याय, अनेक अंगके योगाभ्यास, भक्तियोग, दृढवैराग्य और आत्मतत्त्वावबोध इन साधनोंसे सगुण निर्गुण स्वदृक् भगवान् की प्राप्ति है।

इस प्रकार आदि विद्वान्, महामुनि परमर्षि कपिल वेद और परमात्माके परमभक्त सिद्ध होते हैं। कौन उनपर अनीश्वरवादी होनेके लाञ्छन लगानेका दुःस्साहस कर सकता है? अतएव हम भी महर्षि दयानन्दके शब्दोंमें कहेंगे कि जो कपिलाचार्यको अनीश्वरवादी कहे जानो वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं॥

सांख्य सूत्रोंमें ईश्वरका वर्णन

सांख्य सूत्र भी ईश्वरका वर्णन करता है, निषेध नहीं करता। इसके पूर्व कथित हेतुओंको स्मरण करना चाहिये। इसके अतिरिक्त इसकी अन्तःसाक्षी विद्यमान है।

(१) सांख्य दर्शन श्रुतिका परमभक्त है। इसमें तेईस बार

प्रमाणके लिये श्रुतिका उल्लेख किया है। प्रथमाध्यायमें सूत्र ५, ३६,५३,७७,८३,१४७,१५४,१५७ में, द्वितीयाध्यायमें सूत्र २० में, तृतीयाध्यायमें सूत्र १४,१५,८० में, चतुर्थाध्यायमें सूत्र २२ में, पञ्चमाध्यायमें सूत्र १,१२,४५,७० में, और षष्ठाध्यायमें सूत्र १०,३२,३४,५१,५८,५९ में श्रुति शब्द आया है। इतनी बहुलतासे किसी दर्शनकारने भी प्रमाणके लिये श्रुतिका उल्लेख नहीं किया है। यही नहीं, सूत्र ६,३४ में श्रुति विरोधीको सूत्रकारने कुतर्की और नीच कहा है। इस प्रकारके श्रुतिके परमभक्तको अनीश्वरवादी कहना भी पाप है। क्योंकि–
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति– सब वेद उस ब्रह्मका ही वर्णन कर रहे हैं। निम्न मन्त्रमें ब्रह्मको सबका अधिष्ठाता बताया गया है—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
(अथर्ववेद)

जो भूत, भविष्यद् और वर्तमान-तीनों कालका तथा चराचर सम्पूर्ण जगत्का अधिष्ठाता है। जो केवल सुखस्वरूप है उस ज्येष्ठ ब्रह्मको नमस्कार है।

इस प्रकार वेद ब्रह्मका वर्णन करते हैं. सांख्य-सूत्र वेदके परमभक्त हैं, अतः सूत्रकार भी पूर्णरूपसे ब्रह्मवादी हैं।

(२) सूत्रकार स्मृतिको भी प्रमाण मानते हैं, अध्याय ५ के सूत्र १२३ में " स्मृतेश्च " से प्रमाण रूपेण स्मृतिका उल्लेख है। और स्मृति ब्रह्मका इस प्रकार वर्णन करती है--

प्रशासितारं सर्वेषामणियांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ १॥
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ २॥

सम्पूर्ण जगत्के प्रशासक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धिसे जानने योग्य उस परम पुरुषको जानो ॥ १॥ इसे कोई अग्नि कहते हैं, कोई मनु, तो कोई प्रजापति कहता है। कुछ इसे इन्द्र कहते हैं, दूसरे इसको प्राण कहते हैं, और कई लोग इसे शाश्वत ब्रह्म कहते हैं ॥ २ ॥ इस प्रकार स्मृति प्रमाणसे भी सांख्य सूत्रकार ब्रह्मवादी सिद्ध होते हैं।

(३) **समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता** (५।११६)

इस सूत्रमें सूत्रकारने समाधि सुषुप्ति और मोक्षमें ब्रह्मरूपता कहा है। यदि इनके मतमें ब्रह्म था ही नहीं तो ब्रह्मरूपताका वर्णन कैसे कर दिया। समाधि सुषुप्तिमें वृत्तियोंका निरोध होकर स्वरूपमें स्थिति होती है। सुषुप्तिमें तंत्रकी अधिकतासे उसका ज्ञान नहीं होता। समाधिमें सत्त्वकी अधिकता होनेसे अपने स्वरूपका भान होता है।

सूत्र २।३४ में कहा है, 'तन्निवृत्तौ उपशान्तोपरागः स्वस्थः :' वृत्तियोंकी निवृत्ति हो जानेपर उनके प्रतिबिम्बकी निवृत्ति हो जानेसे स्वरूपमें स्थित होता है। जीवका अपना स्वरूप शुद्ध चेतन है। विशुद्ध सत्त्वमय चित्त और व्यष्टि सत्वचित्तके उपाधि भेदसे उन, उनमें प्रतिबिम्बित शुद्ध चेतनका ही नाम ईश्वर, और जीव है। सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञात समाधिमें इन उपाधियोंकी निवृत्ति होनेपर जीव अपने ही सगुण निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपमें अवस्थित होता है। एक ही चेतनतत्त्व उपाधि भेदसे भिन्न प्रतीत होता है। उपाधिके नष्ट होनेपर भिन्नता स्वयं नष्ट हो जाती है। जो शुद्ध चेतनतत्त्व (**निर्गुण ब्रह्म**) व्यष्टि चित्तरूप उपाधिमें प्रतिबिम्बित जीव प्रतीत होता है, चित्तरूप उपाधिके नष्ट होनेसे (यही मुक्ति है) अपने ब्रह्म स्वरूपमें स्वयं प्रतिष्ठित हो जाता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि सांख्य मतमें बन्ध मोक्ष सब चित्तके ही हैं, अविकारी. अपरिणामी नित्यशुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य चेतनके नहीं। इस प्रकार समाधि सुषुप्ति मोक्षमें जीवको ब्रह्मरूपता होती है और इस प्रकार ब्रह्मरूपताके वर्णन करनेवाले सूत्रकार ब्रह्मवादी हैं।

(४) **धारणासन स्वकर्मणा तत्सिद्धिः** ॥ ३।३२ ॥

इस सूत्रमें धारण, आसन, स्वकर्मद्वारा ध्यानकी सिद्धि कही गई है। अनिरुद्ध लिखते हैं,— "**आसनं स्वस्तिकादिः, अनेन यमनियमप्राणायाम प्रत्याहारा उपलक्षिताः।**" आसन स्वस्तिकादि है, आसन कहनेसे यम नियम प्राणायाम प्रत्याहार भी उपलक्षित हैं। विज्ञानभिक्षु कर्म शब्दसे यम नियम प्रत्याहारका ग्रहण करते हैं, एवं पातञ्जल सूत्रमें प्रोक्त योगके अष्टाङ्गका भी ग्रहण होता है। यम नियमोंमें ईश्वर प्रणिधान, स्वाध्याय भी हैं, इससे पूर्वकथित रीतिसे साङ्ख्यसूत्र ईश्वरवादी है। आश्रम विहित कर्मोंमें सन्ध्योपासन मुख्य माना गया है। मनुस्मृतिमें कहा है—

नोपासते तु यः पूर्वांनोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः नास्तिकोवेदनिन्दकः॥

जो दोनों काल सन्ध्यावेलामें परब्रह्मकी उपासना नहीं करता, वह नास्तिक है, वेद निन्दक है, सत्पुरुषोंको चाहिये कि उसका बहिष्कार कर दें।

सांख्य और योग दोनों समानतन्त्र हैं। सांख्यमें मुख्यरूपसे तत्त्वज्ञानका विवेचन किया गया है और योगमें उस तत्त्वज्ञानको साक्षात्कार करनेकी प्रक्रिया बताई गई हैं। सांख्य ज्ञानरूप है और योग क्रियारूप है। सांख्यसूत्रने सर्वत्र तत्त्व साक्षात्कारके लिये योग विधिका निर्देश किया है। सांख्य सर्वत्र योगपरके प्रहारको रोकता है-- ५।१२९ में लिखा है-

योगसिद्धयोऽप्यौषधादि सिद्धिवन्नापलपनीयाः॥

योगसिद्धियाँ भी औषध आदिकी सिद्धिकी तरह अपलपनीय नहीं है। योगविधि ईश्वरका आलम्बन लेतीं है। इस प्रकार योग प्रक्रियाका निर्देशक सांख्यसूत्र ईश्वरवादी सिद्ध है।

अब हम सांख्यसूत्रोंके उन स्थलोंकी जाँच पडताल करेंगे जिन्हें ईश्वर निषेधपरक बतलाया गया है। प्रथम अध्यायमें जहाँ **ईश्वरासिद्धेः** १।९२ सूत्र है वह प्रकरण ईश्वर खण्डन का नहीं है, अपितु प्रत्यक्ष प्रमाणके अव्याप्ति दोष परिहारका है। दर्शनकार प्रमाणका लक्षण करनेके पश्चात् उसकी परीक्षा करते हैं कि इसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन दोषोंमेंसे कोई दोष उक्त लक्षणमें तो नहीं है। यदि कोई दोष उक्त लक्षणमें रह जाय तो वह लक्षण दूषित समझा जायगा। यहाँ भी सूत्रकारने १।८९ में '**यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्**' इससे प्रत्यक्षका लक्षण किया है। " इन्द्रिय और विषयके सन्निकर्षसे उत्पन्न (**सम्बद्धंसत्**), विषयके समानाकारको धारण करनेवाला अन्तःकरणवृत्तिरूप जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है।"

प्रत्यक्ष दो तरहका होता है- लौकिक और अलौकिक। चक्षुः श्रोत्र, त्वचादि इन्द्रियों द्वारा जो विषयके सन्निकर्षसे इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्यज्ञान होता है,वह लौकिक प्रत्यक्ष अलौकिक प्रत्यक्षके दो भेद हैं- (१) योगियोंको जो योग धर्मके उत्कर्षसे अतीतानागत व्यवहित वस्तुका प्रत्यक्ष होता है। (२) ईश्वरका प्रत्यक्ष-जिससे सब प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मोंका साक्षी होता तथा वेदका उपदेश करता है। इनमेंसे प्रथम योग प्रत्यक्ष विषयक अव्याप्तिका परिहार करते हैं—

अब इस लक्षणमें यह अव्याप्ति दोष आज्ञा है कि योगियों को जो अतीतानागतव्यवहित वस्तु विषयक अलौकिक प्रत्यक्ष होता है, उसमें सम्बद्धवस्त्वाकाराभाव होता है। अतः योगियोंके अलौकिक प्रत्यक्षमें उक्त लक्षणकी अव्याप्ति है। इसका परिहार करते हैं—

योगिनामबाह्य प्रत्यक्षत्वान्न दोषः॥९०॥

यह लक्षण ऐन्द्रियक प्रत्यक्षका है। आभ्यन्तर प्रत्यक्षका नहीं। योगियोंको जो अतीतानागत वस्तुका प्रत्यक्ष होता है, वह आभ्यन्तर है, बाह्य नहीं। उक्त प्रत्यक्ष लक्षण बाह्य प्रत्यक्षका होनेसे आभ्यन्तर प्रत्यक्षकी अव्याप्तिका दोष नहीं है। अथवा--

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वा अदोषः॥९१॥

अथवा अव्यक्तमें लीन जो वस्तु लोकमें अतीतत्वेन भविष्यत्वेन वा व्यवहियमाण है उसमें योगिके योगबल सिद्ध इन्द्रियादि गत उत्कर्ष विशेषका सन्निकर्ष होनेसे अव्याप्ति दोष नहीं है।

ननु योगी प्रत्यक्षमें लब्धातिशय सम्बन्ध होनेसे अव्याप्ति दोष नहीं हैं, परन्तु ईश्वर प्रत्यक्षमें तो ऐसा कोई अतिशय सम्बन्ध है नहीं। "**कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च**" "**यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै**" "**विश्वचर्षणि**" इत्यादि श्रुतियोंसे ईश्वर सबके कर्मोंका प्रत्यक्ष कर शुभाशुभ फल देनेवाला, साक्षी, विश्वद्रष्टा, अपने ज्ञानसे यथार्थ अर्थके प्रतिपादक वेदोपदेष्टा सिद्ध होता है। अतः ईश्वर प्रत्यक्षमें "**सम्बद्धं सत्तदाकारोल्लेखि विज्ञान**" का अभाव होनेसे उक्त प्रत्यक्ष लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है, इसका उत्तर देते हैं।

ईश्वरासिद्धेः॥९२॥

पूर्व सूत्रसे अदोषःकी अनुवृत्ति आती है। सूत्र हुआ— अदोषः, ईश्वरासिद्धेः। हाँ आपकी बात ठीक है, उक्त लक्षण ईश्वर प्रत्यक्षमें नहीं घटता। हम लोकमें रहते हैं। लौकिक हैं। लौकिक शास्त्र और लोकमें रहनेवाले योगियोंके प्रत्यक्ष ज्ञानका ही हमने लक्षण किया है। अतर्क्य, अचिन्त्य, मन इन्द्रियोंसे अग्राह्य ईश्वरके प्रत्यक्षका लक्षण करना हमारा विषय नहीं। अतः उक्त लक्षणमें ईश्वर प्रत्यक्षकी असिद्धि होनेसे अव्याप्ति दोष नहीं है।

(**ईश्वर प्रत्यक्षं तु न लक्ष्यम्। "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति सूत्रे तथैवोक्तत्वात्।- न्याय सिद्धान्तमुक्तावली** का० ५२)॥

(अपूर्ण)

उपनिषदोंका प्रकाशन

हमनें उपनिषदोंकी व्याख्या प्रकाशित करनेका कार्य प्रारंभ किया है। (१) **ईश उपनिषद्, (२) केन उपनिषद्** और (३) **कठ उपनिषद्** छप कर प्रकाशित हुए हैं। (४) **प्रश्न उपनिषद्** छप रहा है। आगे क्रमशः अन्य उपनिषद् छपते रहेंगे और एक वर्षमें दसों उपनिषद् ग्राहकोंको मिलेंगे।

इस व्याख्याकी विशेषता

हमारी उपनिषद् व्याख्याकी निम्न लिखित विशेषताएं हैं- उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान उच्च तत्त्वज्ञान है, जो मनुष्योंके जीवनमें ढालनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। नरकी उच्चता होकर उसे ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होनी है। यह उच्च अवस्था उपनिषदोंकी केवल चर्चा करने मात्रसे नहीं प्राप्त हो सकती। यह ज्ञान साधकके जीवनमें ढाला जाना चाहिये। इस तरह ज्ञानका जीवनमें ढालनेका जो प्रयत्न होगा उससे ही मानव की उन्नति हो सकती है। **यह ज्ञान मानवी जीवनमें कैसे ढाला जाय इसका विचार इस व्याख्यामें विशेषतः किया** है। जो पाठक इस व्याख्याको पढेंगे उनको यह पता लग जायगा कि, उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान जीवनमें किस तरह प्रवाहित किया जा सकता है और साधारण मनुष्यका श्रेष्ठ मानव उससे कैसे बन सकता है।

उपनिषदोंका तत्त्वज्ञान व्यक्तिके जीवनमें ढाला जानेसे उसकी श्रेष्ठ व्यक्ति बन सकती है, **समाजमें ढाला जाय तो वह श्रेष्ठ समाज बन सकता है, इसी तरह मानवोंके राष्ट्रीय शासनमें ढाला जायगा तो वही आदर्श राज्यशासन बन सकता है।** राष्ट्रके अन्तर्गत शासन व्यवहार और राष्ट्रके बहिर्गत राष्ट्रान्तरीय व्यवहार वैदिक अध्यात्मके आधार पर किस तरह चलाये जा सकते हैं, यह विषय पाठक इसी टीकामें देख सकते हैं। किसी भी अन्य टीकामें, जो टीकाएं आज तक संस्कृत-हिंदी-गुजराती मराठी-अंग्रेजीमें प्रकाशित हुई हैं, यह बात नहीं लिखी, वह प्रथम ही पाठकोंके सामने इसी टीकाके द्वारा रखी जा रही है। यही इसकी विशेषता है।

ईश्वरका शासन

ईश्वर विश्वका शासन करता है, ईश्वर निर्दोष शासक है, उसके विश्व शासनमें प्रमाद नहीं होते। वह संपूर्ण विश्वका एक मात्र अद्वितीय शासक है। अर्थात् **वह ईश्वर विश्वका राजा है और उसका विश्व राज्यका शासन अपूर्व अद्वितीय और निर्दोष है। मानवोंके राजाओंके लिये यही आदर्श राज्य शासन हो सकता है।**

वेद उपनिषद् आदि ग्रन्थोंमें परमेश्वरका वर्णन है। यहां यह वर्णन ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, परमात्मा परम धाम आदि अनेक शब्दों द्वारा किया है। ये सब नाम ईश्वरके ही नाम हैं और उसीके गुणोंका यह वर्णन है। **परमेश्वरके गुणोंका वर्णन परमेश्वरके विश्व राज्यके शासनका वर्णन है, जो मानवोंके सामने निर्दोष राज्यशासन अथवा आदर्श राज्य शासनके रूपमें सदा रहने योग्य है।**

अध्यात्म ज्ञान पर अधिष्ठित मानवी जीवनके आदर्शका वर्णन तो सब शास्त्र कण्ठ रवसे करते ही हैं, परंतु परमात्माके ये गुण राज्य शासनकी किस शासन पद्धतिके दर्शक हैं, इसका विवरण आजतक विस्तार पूर्वक किसी भी टीकामें नहीं किया है, जो इस टीकामें विस्तारसे किया गया है। छोटेसे **इस ईशोपनिषद्के अडतीस सिद्धान्त आदर्श राज्य शासनका स्वरूप किस तरह बता रहे हैं, यह इसी व्याख्यामें पाठक देख सकते हैं।** इस व्याख्यासे यह वैदिक तत्त्वज्ञान मानवी जीवनमें ढाला जा सकता है और इससे भारतीय समाज इस भूण्डलपर आदर्श समाज हो सकता है।

उपनिषदोंमें दर्शाये अध्यातम ज्ञानसे महान आत्मिकबल प्राप्त करके भारतने अनेक आदर्श पुरुष निर्माण किये हैं। **अब अवसर आया है कि उसी तत्त्वज्ञानसे हम अपना कुटुंब अपना समाज और अपना राष्ट्र आदर्श बनावें और विश्वके सन्मुख रखें कि भारतीय आदर्श यह है।** आज तक भारतीय आदर्श वैयक्तिक शुद्धता और श्रेष्ठताके रूपमें विश्वके सामने आया है और वह आदर्श है ऐसा सभीने माना है। अब हमें उसी उपनिषदोंके तत्त्व ज्ञानके आधारसे अपने समाज और अपने राष्ट्रकी नव रचना करके अपने समाज और राष्ट्रको विश्वके सामने आदर्श करके बतानेका अवसर भारतकी स्वतंत्रता प्राप्त होनेसे आया है।

इस आदर्श राष्ट्र शासनकी प्रद्धति पाठकोंके सामने इसी टीकामें प्रकट हो रही है। इस टीकामें ऐहिक तत्त्वज्ञान मानवी जीवनमें ढालनेपर ही विशेष बल दिया है।

हमारे उपनिषदोंके प्रकाशनकी यही विशेषता है।

ईश उपनिषद्

ईश उपनिषद्में विद्या-अविद्या, संभूति-असंभूति आदि अनेक प्रकरण ऐसे हैं कि जिनका विवरण समाधान कारक रीतिसे आजतक किसी भी टीकामें नहीं हुआ है। हमने इस टीकामें अत्यंत सुबोध रीतिसे और अदन्तर्गत वैदिक प्रमाणोंसे इन सब कठिनसे कठिन प्रकरणोंको अत्यंत सुबोध और स्पष्ट किया है। **यह विवरण इतना सरल और सुबोध है कि जो केवल भाषा जानता है वह इसको निःसंदेह समझ सकता है।**

इस तरहकी यह टीका जनताके सामने प्रथम ही प्रकाशित हो रही है। आजतक उपनिषदोंकी चर्चा वृद्धोंके लिये सीमित थी पर इस टीकासे तरुणोंके जीवनमें अध्यात्म तत्त्वज्ञान ढाल कर, उसका आदर्श नवीन वैयक्तिक सामाजिक और राष्ट्रीय कार्य क्षेत्रमें किस तरह अपूर्व आदर्श जीवन हो सकता है यह बताया है।

इस टीकासे पाठकोंके सामने सार्वजनिक विस्तृत आदर्श कार्यक्षेत्र खुल गया है। इससे भारतीय राष्ट्रका उज्वल भविष्य तो सिद्ध होगा ही, पर भूमंडलके सभी राष्ट्रोंके सामने वैदिक जीवनका आदर्श भी प्रकाशित होगा।

केन और कठ उपनिषद्

ये दोनों उपनिषद् इसी तरह प्रकाशित हुए हैं।

केन उपनिषद्में देवी भागवतकी कथा, इसी उपनिषद्के ज्ञानको प्रकाशित करनेवाले अर्थके साथ दी है। कठ उपनिषद्में तैत्तिरीय ब्राह्मण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें जो नचिकेतोपाख्यान आये हैं, वे दिये हैं। और इन सबकी तुलना की है। उपनिषदोंका अध्ययन करनेके लिये जिस जिस साधनकी आवश्यकता है, वे सब साधन यहां पाठकोंके सामने उपस्थित किये हैं।

१ ईश उपनिषद्	मूल्य २)	डा० व्य॥)
२ केन उपनिषद्	,, १॥)	,, ॥)
३ कठ उपनिषद्	,, १॥)	,, ॥)
४ प्रश्न उपनिषद् छप रहा है।		
५ मुण्डकउपनिषद्,, ,, ,,		

म० आ० द्वारा मूल्य आनेसे डा० व्य० माफ हो सकता है। वी० पी० द्वारा मंगानेवालेको डा० व्य० देना पडेगा। पुस्तक विक्रेता इन उपनिषदोंको अतिशीघ्र मंगावें और प्रचारमें सहायता करें और लाभ उठावें—

मन्त्री—स्वाध्याय-मण्डल,
'आनन्दाश्रम' किला-पारडी
(जि. सूरत)

संस्कृतभाषा प्रचार परीक्षायें

(भारती-भक्तोंकी सेवामें सादर सूचना)

संस्कृतभाषाके प्रति जनताकी बढती हुई रुचिको ध्यानमें रखकर इन परीक्षाओंका प्रारम्भ किया जा रहा है। हमारा विश्वास है कि जिस भारतीय (आबालवृद्ध) ने विदेशी भाषा सीखनेमें अपने जीवनके एक बडे भागके रूपमें अनेक वर्ष व्यय किये होंगे वे ही इस अपनी मूल मातृभाषाको केवल दो वर्षोंमें सीख सकेंगे। प्रत्येक भारतीय माताके स्तनपानके साथ साथही अपनी इस मातृभाषाको बहुत कुछ सीख लेता है। किन्तु विद्यार्थी अवस्थामें उसे अपनी शक्ति एवं बुद्धि विदेशी भाषाके अर्पण कर देनी पडती है। क्योंकि हम पराधीन थे; अतः हम वैसा करनेके लिये विवश थे। आज हम पूर्ण स्वतन्त्र हैं तथा उस स्वतन्त्रताके योग्य स्वयंको बनानेके लिये प्रयत्नशील भी हैं। ऐसे शुभ अवसरपर यह शुभकार्य आरम्भ करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है और साथ ही आशा और विश्वास भी।

इन्ही अपने शुभ संकल्पोंसे प्रेरित होकर इन परीक्षाओंके प्रचारकी योजना हमने बनाई है। वर्षमें दो बार (प्रति ६ मास) ये परीक्षायें हुआ करेंगी। विवरण-पत्रिका तथा पाठ्यक्रम स्वतन्त्ररूपसे छापे गये हैं। उन्हे मंगानेपर पूरा विवरण ज्ञात हो सकेगा।

मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)

Regd. No. B 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, पारडी (जि. सूरत)

क्र २

वैदिक धर्म

वर्ष ३१

फर्वरी १९५०

निर्मल अंतःकरण

संपादक : पं. श्री. दा. सातवलेकर

वैदिक धर्म

[फर्वरी १९५०]

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल
'आनन्दाश्रम' पारडी (जि. सूरत)

वार्षिक मूल्य
म. आ. से ५) वी. पी. से ५।)
विदेशके लिये १९ शिलिंग
प्रति अंकका मूल्य ।)

विषयानुक्रमणिका

माघ, विक्रम संवत् २००६, फर्वरी १९५०

शत्रुओंका पराभव करो

अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि, नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान् ।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु ॥

(अथर्व० ११।१।६)

" हे तेजस्वी प्रभो ! तू बलवान् है । तू निःसन्देह शत्रुका पराभव करनेवाला है । हमारा सतत द्वेष करनेवाले शत्रुओंको नीचे दबा दे । यह मातृभूमि उचित मापोंसे तोली जाकर, उत्तम रीतिसे नापी गई है। उस मातृभूमिकी प्रेरणासे तेरे सारे शत्रु तुझे कर लाकर देनेवाले होवें ।

वीरोंको तेजस्वी बनना चाहिये, बलिष्ठ, ओजिष्ठ और दृढ होना चाहिये । शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति अपनेमें तथा अपने राष्ट्रमें बढानी चाहिये । जो शत्रु सतत हमारा द्वेष करते हैं, उन्हें खुला नहीं छोडना चाहिये। उनको दबा देना चाहिये यही राजनीति है । जो हमारी मातृभूमि है उसे ठीक ठीक नापतोलकर रखना चाहिये । अमुक स्थानपर अमुक प्रकार की है यह निश्चित करके रखना चाहिये । इस विषयमें किसीको संशय न रह जाय । इस मातृभूमिकी स्फूर्तिसे अपने सभी शत्रुओंको कर देनेवाले आश्रित बनावें ।

एशियाखण्डस्य नेतृपदम्

(लेखक— माधव वैद्य)

द्वितीयमहायुद्धेन एशियाखण्डस्य स्थितौ परिवर्तनमिव निर्मितम् । महायुद्धपूर्वकाले जपानदेशं विहाय वस्तुतः न कोऽपि देशः स्वतन्त्रः आसीत् । इराण-अफगानिस्तान-इराकादिदेशाः नाम्नैव स्वतन्त्राः आसन् । चीनदेशस्य अपि अवस्था न एतेभ्यो भिन्ना । महायुद्धादूर्ध्वमस्मद्देशः स्वातन्त्र्यमापन्नः तथा च ब्रह्मदेशः अपि । इण्डोनेशियादिदेशैरपि स्वातन्त्र्यपथे पदं निहितमेव । केवलं जपानः अधुना पारतन्त्र्ये निमग्नः ।

अपरमपि एकं परिवर्तनं जातम् । चीनदेशस्य शासनं यद् चँग-कै-शेक-महाशयानां कोमिंतांगपक्षस्य अधीनं आसीत् तदधुना साम्यवादीयानां हस्ते आगतम् । साम्यवादस्य अधुना न अल्पं सामर्थ्यम् । निरतिशयसामर्थ्योपपन्नस्य रशियादेशस्य साहाय्यं तत्कृते विद्यते । अमेरिकादिबलवद्राष्ट्रैः दत्तसाहाय्यस्य चँग-कै-शेकस्य पराभवं कृत्वा भारतवर्षादपि महत्तरस्य चीनस्य सिंहासनं साम्यवादः अधिष्ठितः । पारतन्त्र्यपङ्के निपतितः परकीयशासकैः असितरां निष्पीडिताः अस्य खण्डस्य दारिद्र्यादिपीडाभिभूताः जनाः नितरां निकृष्टां स्थितिमनुभवन्तः वर्तन्ते । एतेषां कृते तु विद्यते महदाकर्षणं साम्यवादस्य । अतः, अपि नाम स्वीकृतसाम्यवादः चीनदेशः एशियाखण्डस्य नेतृपदमलंकृत्य स्वीये मार्गे इतरानपि राष्ट्रान् आकर्षितुं प्रभवेत् । अथवा…

परमन्यः अपि देशः चीनदेशस्य प्रतिस्पर्धी वर्तते इति कथ्यते । स च अस्मद्देशः । स्वशासन-प्रस्थापनं परिवर्तिते वातावरणे अतीव दुष्करमिति निश्चित्य प्रदत्तमिंग्लैण्डदेशेन अस्मभ्यं स्वराज्यम् । तदेव स्वबलस्य गण्कं मत्वा स्वराज्यप्राप्तेः अनन्तरम्, आन्तरराष्ट्रीयप्रकृतिभिः अस्मन्महामात्यैः एशियाखण्डे ये ये देशाः अधुनाऽपि परकीयशासनं बलाद् अनुभवन्ति, तेषां दास्यमोचनार्थं प्रयत्नाः प्रारब्धाः । इंडोनेशिया-प्रकरणे एशियाखंडस्थानां राष्ट्राणामेका परिषदपि तैः आयोजिता आसीत् इति स्मर्यते एव सर्वैः ।

परं किमपि नेतृपदं न केवलं परिषदामायोजनेन अथवा परकीयशासनस्य निन्दया, अथवा 'पीडितजनोद्धारार्थं वयम्' इति घोषणामात्रेण प्राप्यते । नेतृपदं सर्वथा बलायत्तम् । यस्य अधिकतरं बलं, तच्च परोपयोगि, स एव नेतृपदभाग् भवति । चीनदेशस्य बलमस्ति वा न वा इति तु न यथायथं ज्ञायते । परं यस्तैः अमेरिकादेशेन दत्तहस्तस्यापि चँग-कै-शेकस्य पराभवं कृत्वा स स्वदेशान् निष्कासितः, ततः तेषां बलं स्यादिति मतिः भवेत् । भारतस्य न तथाविधमपि बलम् । अस्मभ्यं राज्यं परैः प्रदत्तम् । न स्वबलेन तत् प्राप्तम् । स्वदेशसम्बन्धिनीः अपि समस्याः निराकर्तुं न वयं समर्थाः । अन्यदेशीयसमस्यानिराकरणं तद्दूरापास्तमेव । नेतृपदस्य एकमात्रं बलं, तदेव पारतन्त्र्यस्य कारणभूतैः परिणामभूतैश्च दुर्गुणैः बलहीने जाते अस्मिन् देशे नास्ति । तत्प्रथममुत्पादयितव्यम् । विदेशीयसंस्कृतेः अन्धानुकरणेन न तत् सिध्येत् । अपि तु या अस्मद्देशस्य अतिप्राचीना संस्कृतिः तस्याः एव सुदृढमाधारं स्वीकृत्य तद्बलनिर्माणं कर्तव्यम् । एवं स्थिरबलेनोपपन्ने भूते अस्मद्राष्ट्रे, एशियाखंडस्य नेतृत्वं स्वयमेव वृणुयात् तद्, न अन्यथा ।

सहस्रों वर्ष पहले वैदिक समयमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघमें प्रवेशका पवित्र संस्कार

वैदिक समयमें " राष्ट्रीय-स्वयंसेवक-संघ " था, अर्थात् नाम कुछ भिन्न होगा, पर " राष्ट्रसेवा करनेवाला संघ " अवश्य था। इस संघमें प्रविष्ट होनेके लिये एक संस्कार किया जाता था, उसको आज ' उप-नयन ' संस्कार कहते हैं। बहुत ही थोडे विद्वान् इस संस्कारका यह कार्य जानते होंगे। पर निम्नलिखित पंक्तियोंको देखनेसे इस बातका निःसंदेह पता लग जायगा कि इस संस्कारसे संघ जैसी एक विशाल संस्थामें या संघटनामें कुमारोंकी भरती होती थी, जो कुमार भरती होनेके पश्चात् घरवालोंके नहीं रहते थे, परन्तु वे ' राष्ट्रके सेवक ' बन जाते थे ' धर्मके स्वयंसेवक होते थे। वे घरवालोंके लिए मानो मर ही जाते थे।

मृत्योः अहं ब्रह्मचारी अस्मि। [अथर्व ६।१३३।२]

' मैं मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी हूँ ' यह गुरूके पास आनेवाला छोटा आठ वर्षका बालक कहता है। मेरा घरका पाश छूट गया है, और राष्ट्रसेवाके लिए मैं समर्पित हुआ हूँ, मैं अब घरका नहीं हूँ। परन्तु मैं अब ' राष्ट्रका पुत्र ' हूँ। यह इसका आशय है।

राष्ट्रके पुत्र

' उपनयन ' संस्कारका अर्थ ' पास पहुँचानेका ' संस्कार है। राष्ट्रसेवकोंको संगठनमें इस बालकको पहुँचाया जाता है। जो मातापिताका बालक था, उसकी इस समय मृत्यु होती है। अब यह विद्यादेवीके गर्भमें प्रविष्ट होकर गुरुके ज्ञानवीर्यसे द्वितीय जन्म पाता है। गुरुकुलमें यह कमसे कम १२ वर्ष रहता है और वह राष्ट्रसेवाके लिए योग्य हो जाता है। इन १२ वर्षोंमें उसको माता-पिता, घर-परिवार आदिका दर्शन कहीं नहीं होता। वह गुरुके विद्यागृहमें पाला जाता है। उसका विद्या-नाम भी दूसरा रखा जाता है। अर्थात् घरका सम्बन्ध संपूर्णतया छूट जाता है।

गुरुकुलमें धनवान् और निर्धनोंमें पुत्रसम भाव रहते हैं। धनवान्का पुत्र यहां धनी नहीं है। और गरीबका पुत्र गरीब नहीं है। ये दोनों राष्ट्रपुत्र हैं, ये समभावसे रहते हैं। कितना उच्च आदर्श यह है! इसका नाम है वैदिक समयका " राष्ट्रीय-स्वयंसेवक-संघ। " इसमें प्रवेश पाते ही उसको मेखला-बंधन किया जाता है।

मेखला-धारण

कमरपट्टा धारण करके कमर कसनेका नाम मेखला धारण है। इसका मन्त्र यह है—

> इयं दुरुक्तात् परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्। प्राणापानाभ्यां बलं आदधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्।
>
> [साम मन्त्रब्राह्मण १।६।२७]

" यह मेखला अर्थात् यह कमरपट्टा है। यह प्राण और अपानका बल बढाती, मेरा भाग्य बढाती, बहनके समान हित करती है, मेरा वर्ण पवित्र करती है और [दुरुक्त] शत्रुके बुरे शब्दोंको दूर करती है। " ऐसी यह मेखला है। इसको मैं धारण करता हूँ। शत्रुके बुरे शब्दोंको न सहना यह शक्तिसे ही हो सकता है। कमरमें पट्टा बाँधनेसे बल आता है और शत्रुको धिक्कार करनेका साहस प्राप्त होता है।

उपनयनमें कमरपट्टेके धारणका यह मन्त्र स्वयंसेवकोंको सिखाता है कि वे शत्रुके अपशब्दोंको न सहें और अपनी शक्तिसे उसका प्रतिकार करें।

दण्ड-धारण

ब्रह्मचारीको कमर कसनेके पश्चात् हाथमें दण्ड दिया जाता है, इस विधिका मन्त्र देखिये—

> यो मे दण्डः परा पतद् वैहायसो अधिभूम्याम्।
> तं अहं पुनरादवे आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय॥
>
> [पा० गृ० २।२।१२]

" जो यह दण्ड स्वर्गसे भूमिके ऊपर आया है यह मेरा दण्ड है, इसको मैं धारण करता हूँ, इससे मुझे दीर्घ आयु

ज्ञान और बडा सामर्थ्य प्राप्त होगा। ”

यह दण्डधारणका मन्त्र है। इस कुमारको दीर्घ आयु चाहिये, ज्ञान चाहिये और बडा सामर्थ्य चाहिये। क्योंकि यह राष्ट्रकी सेवा करनेके लिए सिद्ध हुआ है। देखिये ये आदेश वैदिक समयमें दिये जाते थे।

इसके साथ-साथ वैदिक समयमें उपनयनके समय परशु, धनुष-बाण, पाश, शक्ति, तोमर आदि शस्त्र तथा अस्त्रोंकी शिक्षा दी जाती थी। कश्यप ऋषिके आश्रममें गणेशके उपनयनकी कथा देखिये। उपनयनमें सब शस्त्रास्त्रोंकी शिक्षा देनेका वहां वर्णन है। [गणेश पुराण देखो] प्राचीन वैदिक प्रणाली ऐसा वीर उत्पन्न करनेवाली थी। आज इनमेंसे केवल मेखला-बंधन और दण्ड धारण ही रहा है। यहां दण्ड शस्त्रअस्त्रोंका उपलक्षण माना जा सकता है।

यदि ये कुमार उपनयनसे प्राचीन वैदिक समयके ' राष्ट्रीय स्वयंसेवक-सङ्घ ' में प्रविष्ट नहीं होते थे और ये केवल वेदपाठी ही होते होंगे, तो उनको मेखला [कमरपट्टा] भी किसलिए और दण्ड धारण भी किस लिए ? परशु, कुल्हाडा, धनुषबाण, तोमर, शक्ति आदि शस्त्रोंका प्रयोग करना भी सिखाया जाता था। इसमें सन्देह ही नहीं है। परशुराम इसी गुरुकुलमें तयार हुआ था। इसी तरह कई वीर वैदिक समयमें दीखते हैं। वे इसी शिक्षासे तैयार हुए थे।

निःसंदेह हम कह सकते हैं कि उपनयनके पश्चात् गुरुके घरसे जो संस्था थी वह राष्ट्रीय स्वयंसेवकोंकी संस्था थी। इसमें वीर और ज्ञानी तरुण निर्माण किये जाते थे और १२ वर्ष कमसे कम वे इस अनुशासनमें रहते थे। कौन कह सकता है कि इन गुरुकुलोंके इन ब्रह्मचारियोंको ज्ञान प्राप्तिकी पढाईके साथ-साथ वीरताका पोषण करनेवाली सैनिकीय शिक्षा नहीं दी जाती थी ? हम तो कह ही रहे हैं कि यह उपनयन संस्कार राष्ट्रीय-स्वयंसेवक संघके समान ही वीरताके शुभसंस्कार करानेवाला संस्कार था, जो आज अवनत होकर केवल मिष्टान्न खानेवालोंका संस्कार रहा है ! जब भारतीय प्राचीन सभ्यताका उद्धार करनेका अवसर आयेगा उस समय इस संस्कारको भी राष्ट्रीय स्वयंसेवकसंघमें प्रवेश करनेका संस्कार बनाया जायेगा।

स्वयंसेवकोंके लिये समताका आदेश।

वैदिक सभ्यतामें सब स्वयंसेवक समान भावसे राष्ट्रपुत्र करके पाले जाते थे। वहां भगवान श्रीकृष्ण जैसे धनवान्के और सुदामा जैसे गरीबके पुत्र एक जैसा खानपान, एक जैसे वस्त्र आवरण, एक जैसी वेशभूषा, एक जैसे कार्य सबके समान होते थे। वह युग था समानताका, इसलिए उस समय इस तरह स्वयंसेवक पाले जाते थे—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः । सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥
[ऋ० ५।५९।६]

“ वे राष्ट्रीय-स्वयंसेवक हैं, इनमें कोई श्रेष्ठ नहीं, कोई कनिष्ठ नहीं और कोई मध्यम भी नहीं है। सब समान ही हैं। ये [उद् भिदः] अपनी परम उन्नति करनेके लिये तत्पर हैं और ये [महसा वि वावृधुः] महान् परम उच्च ध्येयकी पूर्ति करनेके लिये विशेष परिश्रम कर रहे हैं। ये सबके सब [जनुषा सुजातासः] जन्मसे बडे कुलीन हैं, [पृश्निमातरः] मातृभूमिको माता मानकर उसकी सेवा करनेके लिए तत्पर गोमाताकी सुरक्षा करनेके लिए सिद्ध हैं इसलिए ये [दिवो मर्याः] स्वर्गकेही वीर हैं और इस कारण वे सब हमारे पास आ जायँ और हमारा सत्कार ग्रहण करें।”

कितना सुंदर वर्णन है ? आजके राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघके सदस्य अपने वैदिक कालके भाइयोंका यह वर्णन पढें और उनके समान वीर तथा ज्ञानी बननेका यत्न करें। अपने अन्दर कोई श्रेष्ठ नहीं, कोई मध्यम नहीं और कनिष्ठ भी नहीं ऐसा समझें और सब मिलकर अपने राष्ट्रकी परम उन्नति करनेके लिये अपना बलिदान देनेके लिये सिद्ध रहें।

जो राष्ट्रीय-स्वयंसेवक-संघमें नहीं आए हैं वे हिन्दु अपने उपनयन संस्कारके अन्दरका यह तत्त्व देखें और अनुभव करें कि इसके अन्दर भी वे हाव-भाव हैं कि जो राष्ट्रीय-स्वयंसेवक-संघ तरुणोंमें उत्पन्न करना चाहता है। इतने प्राचीनतम कालके वैदिक ऋषि अपने तरुणोंकी जो उन्नति करना चाहते थे वही सांस्कृतिक वीरोचित उन्नति राष्ट्रीय-स्वयंसेवक-संघ करना चाहता है। यह देखें, अनुभव करें और स्वयं इस संघमें प्रविष्ट होकर अपने इष्टमित्रोंको भी लायें और अपने भारत-राष्ट्रको परम वैभवके शिखरपर अतिशीघ्र पहुँचानेका यत्न करें।

(भारत राष्ट्रका उदय हो।)

क्या ऐलूष कवष शूद्र थे?

(लेखक— पं० श्री दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वत, प्रिन्सिपल सं. हिंदी महाविद्यालय, दरीबा, देहली)

'वैदिक धर्म' (के ३०१२ अङ्क) में 'क्या महिदास शूद्र' यह मेरा निबन्ध स्वाध्यायशील पाठकोंके समक्ष प्राप्त हुआ है, अब अपनी पूर्व-प्रतिज्ञानुसार ऐलूष कवषके विषयमें लिखा जाता है। जिस प्रकार ऐतरेय महिदासके शूद्रत्व विषयमें इदानीन्तन विद्वानोंका भ्रम हम दिखला चुके हैं, वैसे ही ऐलूष कवषकी शूद्रतामें भी उन लोगोंको भ्रम हुआ है।

श्रीयुत सत्यव्रत सामश्रमी * ने 'ऐतरेयालोचन' में ये शब्द लिखे हैं— 'दासीपुत्रस्य ब्राह्मणग्रन्थप्रवक्तृत्वं तु किं तुच्छम्, मन्त्रद्रष्टृत्वमपि ज्ञायते दासीपुत्रस्यापि। तद् यथा-श्रुतं तावत् तत्रैव (ऐतरेय ब्राह्मणे) कवषैलूषोपाख्यानम्' इति। अर्थात् दासीपुत्र (शूद्र) ब्राह्मणग्रन्थका प्रवक्ता हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, जबकि दासीपुत्र (शूद्र) मन्त्रद्रष्टा भी हो चुका है। इसी मतको आजकलके विद्वान् श्री शिवशंकर काव्यतीर्थ, श्री भगवद्दत्तजी रिसर्च स्कालर-श्री सातवलेकरजी आदि बहुतोंने अपनाया है। पर हमारा विचार है कि यहांपर भी इन महाशयोंको शाब्दिक भ्रम हुआ है। स्वाध्यायशील 'वैदिक धर्म' के पाठकगण आशा है इधर अवहित होंगे।

'ऐतरेय ब्राह्मण' में ऐलूष कवषके विषयमें निम्न कण्डिका पाई गई है—"ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। ते कवषमैलूषं सोमादनयन्। 'दास्याः पुत्रः' कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये अदीक्षिष्ट इति? तं बहिर्धन्व उदवहन्नत्रैनं पिपासा हन्तु सरस्वत्या उदकं मा पाद् इति। स बहिर्धन्व उदूढः पिपासया वित्तः, एतद् अपोनप्त्रीयमपश्यत्। ते वा ऋषयोऽब्रुवन्-विदुर्वै इमं देवाः, उप इमं ह्वयामहे इति।"

अर्थात् ऋषियोंने सरस्वती नदीके किनारे एक यज्ञ प्रारम्भ किया। उसमें इलूषके लडके कवषने भी दीक्षा ली थी। पर ऋषियों-मन्त्रद्रष्टाओंने उसे उस सोमयज्ञसे निकाल दिया। उनका यह आशय था कि-यह नीच, वेदानभिज्ञ, जुआरी हमारे बीच दीक्षा क्योंकर ले सका?। वे उसको बाहर निर्जल प्रदेशमें ले गये कि-यह यहां प्यासा होकर मरे, सरस्वती नदीका पानी यह न पीये। कवषको उस समय प्यास लगी हुई थी। उसी समय उसे 'अपां नपात्' वाला वैदिक सूक्त दीख गया। ऋषियोंने कहा कि- ऐं! इसे तो देवता जानते हैं। अब इसे यज्ञमें बुला लिया जाय। (ऐतरेय ब्रा. २।३।१९)।

उक्त कण्डिकामें कवषके लिये कहे गये 'दास्याः पुत्रः अब्राह्मणः' ये शब्द आजकलके विद्वानोंको उत्पन्न हुए भ्रमके आधार हैं। परन्तु यहांपर यह जानना चाहिये कि-'दास्याः पुत्रः' का 'शूद्राका पुत्र' यह अर्थ नहीं, किन्तु उसकी निन्दार्थ ऋषियोंने अपशब्द (गाली) प्रदान की तरह उस शब्दका प्रयोग किया। इसी कारण उक्त कण्डिकाके सायणाचार्यकृत भाष्यमें सायणने लिखा है- 'दास्याः पुत्रः इत्युक्तिरधिक्षेपार्था' अर्थात् 'दास्याः पुत्रः' यह उक्ति निन्दार्थक है। इससे स्पष्ट है कि-वह शूद्र नहीं, किन्तु उसके अपमानार्थ वह वचन है। यदि वह वास्तवमें दासीपुत्र था, तो यह उसको वैसा कहना अपमान नहीं था, यह बात तो तब सत्य थी।

इसीलिये आर्यसमाजियोंके नेता स्वा० दयानन्दजीने भी सत्यार्थ-प्रकाशमें ५९ पृष्ठमें लिखा है 'गुणेषु दोषारोपणमसूया' अर्थात् दोषेषु गुणारोपणमपि असूया। गुणेषु गुणारोपणं, दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः (पृ. ५९), इसी प्रकार 'षष्ठ्या आक्रोशे पुत्रस्य' (पा० ८।४।४८) इस सूत्रसे पुत्रादिनी त्वमसि पापे' इस प्रयोगमें असत्य होनेसे आक्रोश (निन्दा) होनेके कारण 'पुत्र' शब्दको द्वित्वका निषेध हो गया। परन्तु 'पुत्रादिनी सर्पिणी' यहांपर तो सत्य होनेसे आक्रोश (निन्दा)

---

* मेरे गत लेखमें 'सामश्रमी' शब्दके स्थानपर 'सामश्रयी' शब्द बार बार छपा है, श्री सत्यव्रतजीकी 'सामश्रमी' यह उपाधि है। उसका अर्थ है- 'सामवेदमें श्रम करनेवाला'। पाठक गण सुधार लें। पाणिनिके लिये 'दासीपुत्र' छप गया है, जब कि मेरे लेखमें 'दाक्षीपुत्र' था।

न होनेसे 'पुत्र' शब्दको द्वित्व हो ही जाता है; इस प्रकार यहां भी जानना चाहिये ।

वैयाकरण लोग जानते हैं कि 'षष्ठ्या आक्रोशे' (पा० ६।३।२१) इस सूत्रकी अनुवृत्तिमें 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्, (६।३।२२) इस सूत्रके उदाहरणमें अलुक् समासमें 'दास्याः पुत्रः' यह तथा लुक्में 'दासीपुत्रः' यह निन्दाका स्पष्ट उदाहरण है । आक्रोश अतत्त्ववचन (असत्यवचन) होता है, तत्त्व (सत्य) वचनमें समासमें तो अलुक् सर्वथा नहीं होता । इस प्रकार उक्त श्रुतिमें भी 'दास्याः पुत्रः' यह समस्त शब्द आक्रोश-अधिक्षेप (निन्दा) वाचक है । इससे कवष वास्तवमें शूद्रा-पुत्र सिद्ध नहीं होता । किन्तु ब्राह्मण होनेपर भी उसकी उक्त शब्दसे निन्दा इष्ट है। 'नागानन्द' नाटकके तृतीय अंकमें इस प्रकार 'अभिज्ञान शाकुन्तल, नाटकमें भ्रमरके लिये, विदूषकद्वारा झुंझलाकर 'दास्याः पुत्रः' यह शब्द प्रयुक्त किया जाता है । क्या भ्रमर भी दासी (शूद्रा) का पुत्र होता है ? इसीप्रकार 'मृच्छकटिक' नाटकमें भी जीर्णवृद्ध ब्राह्मणके लिये सूत्रधारने प्रथम अंकमें 'दास्याः पुत्रः !' यह सम्बोधन दिया है । तो क्या ब्राह्मण भी शूद्रापुत्र होता है ? यदि नहीं तो स्पष्ट है कि- 'दास्याः पुत्रः' यह पद उक्त अवसरोंपर अलुक् समासवाला गालीप्रदानकी तरह निन्दार्थद्योतक अथवा निन्दा-प्रयोजनक हुआ करता है, वास्तविक शूद्रापुत्र अर्थको बतानेवाला नहीं हुआ करता ।

'ऐतरेय ब्राह्मण' की उक्त कण्डिकामें अन्य सन्देहप्रद शब्द है 'अब्राह्मण'। वह भी यहांपर ब्राह्मण व्यतिरिक्तवाचक नहीं, किन्तु यहांपर वही 'अब्राह्मण' शब्द 'कितव' शब्दके साहचर्यसे (अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः) के 'अपशवः' पदकी तरह निन्दामात्रका वाचक है; अन्यथावादियोंके अनुसार 'दास्याः पुत्रः' इस पदसेही उसके शूद्रापुत्र सिद्ध हो जानेपर पुनः 'अब्राह्मण' ग्रहण व्यर्थ वा पुनरुक्त हो जायगा। इससे स्पष्ट है कि यहांका 'अब्राह्मण' शब्द भी निन्दामात्र का ही वाचक है। जैसे कि- 'नञ्' (पा० २।२।६) सूत्रके 'महाभाष्य'में गुण होनेके उदाहरणमें 'अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति, 'अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् भक्षयति' इत्यादि वाक्यमें खडे होकर पेशाब करनेवाले, तथा खडे होकर खानेवाले ब्राह्मणको भी उसकी निन्दार्थ 'अब्राह्मण' शब्दसे प्रयुक्त किया है— इसी कारण उक्त स्थलके प्रदीपमें कैयटने लि[खा] है—" तपः श्रुतयोरभावात् निन्दयाऽत्र 'अब्राह्मण' शब्द प्रयोगः । तत्र जातिमात्रे अवयवे समुदायरूपारोपाद् [ब्राह्मण] शब्द प्रयोगः । नञातु स्वाभाविकी तपःश्रुतिनिवृत्ति द्योत्यते " । अर्थात् इस ब्राह्मणजातिवालेमें न तो है तप, नहीं है वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन, जोकि यह खडे हो[कर] पेशाब करता है । अतः यहां निन्दार्थ 'अब्राह्मण' शब्द प्रयोग है । यहां जाति रूप अवयवको समुदाय मानकर 'ब्राह्मण' कहा गया है, नञ्से उसके तपःश्रुतका अभाव दिखलाया गया है ।

इसी प्रकार ऐतरेयकी उक्त श्रुतिमें भी ऐलूष कवषके कितव (द्यूतक्रीडाप्रिय) होनेसे 'अब्राह्मण' शब्दसे उसकी ब्राह्मणजातिकी निन्दा की गयी है । अथवा 'अब्राह्मणः' का यह अर्थ भी है कि- यह 'अक्षैर्मा दिव्यः' (ऋ. १०।३४।१३) इस 'ब्रह्म' अथवा ब्राह्मण अर्थात् वैदिक मन्त्रको नहीं जानता वा उसका अनुसरण नहीं करता । अतः यह 'अ-ब्राह्मण' है । इस प्रकार यहांपर 'अब्राह्मण' यह पारिभाषिक शब्द उसकी निन्दामात्रको बतानेके लिये प्रयुक्त किया गया है ।

फलतः 'दास्याः पुत्रः' यहांपर भी अलुक् समास ही है; अतः यह आक्रोश (निन्दा) को द्योतित करता है । इसी प्रकार 'अब्राह्मण' शब्द भी 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः।' इन नञर्थोंके कारण 'अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः' की तरह अप्रशस्तार्थक नञ्से युक्त हुआ निन्दावाचकपद है । तब 'दास्याः पुत्रः' तथा 'अब्राह्मणः' इन शब्दोंके यहांपर निन्दा, मात्र फलवाला होनेसे ऐलूष कवष जाति-शूद्र सिद्ध न हुआ, किन्तु उनका अधिक्षेप निन्दनमात्रमें पर्यवसित हो गया। इसी कारण 'ऐतरेय' की उसी कण्डिकापर श्रीसायणाचार्यने इस प्रकार भाष्य किया है- कि 'कितवो-द्यूतकारः, तस्माद् अब्राह्मणोऽयम् । ईदृशो नोऽस्माकं शिष्टानां मध्ये स्थित्वा कथं दीक्षां कृतवान्-इति तेषामभिप्रायः " । अर्थात् ऋषियोंने कवषको जुआ खेलनेवाला होनेसे ही अब्राह्मण कहा है कि- ऐसा व्यक्ति हमारे बीचमें दीक्षा कैसे ले सकता है, इससे कवष जन्मसे शूद्र सिद्ध न हुआ, जैसा कि वादियोंका अभिप्राय है ।

श्रीसायणाचार्य वेदादि शास्त्रोंके भाष्यकार हम लोगोंकी अपेक्षा अधिक शास्त्रदर्शी तथा इतिहासदर्शी थे। उन्होंने देखा कि-कवष वास्तवमें शूद्र नहीं अतएव उसने दिखलाया कि-यह कितव (जुआरी) होनेसे ही 'दास्याः-पुत्रः' शब्दसे अधिक्षिप्त किया गया; तथा 'अब्राह्मण' शब्दसे प्रशस्त ब्राह्मण दिखलाया गया। वादियोंके पास इस प्रकारका कोई इतिहास नहीं; जिसमें कवषको शूद्र लिखा गया हो। प्रत्युत 'ब्रह्मपुराण' (१३९ अध्याय) में 'ऐलूष इति विख्यात कवषस्य सुतो द्विजः' (१९३।२) इस पद्यमें ऐलूषको द्विज (ब्राह्मण) कहा गया है। उक्त ब्राह्मण कण्डिकामें 'दास्याः पुत्रः' शब्दसे ऐलूष कवषको यदि सचमुच दासी (शूद्रा) का पुत्र बताना इष्ट होता तो फिर 'अब्राह्मण' कहना उसका व्यर्थही था। तब यहां उसकी उक्त शब्दोंसे निन्दा बतानी ही विवक्षित है; यह अतीव स्पष्ट है। इसीलिये 'वीरमित्रोदयके' उपनयन संस्कार-उपनेय-निर्णयप्रकरणमें (३९२ पृष्ठमें) महामहोपाध्याय श्री मित्रमिश्रने लिखा है 'दास्याः पुत्रः, 'कितवोऽब्राह्मणः' इत्याक्षेपमात्रम्, नतु वस्तुगत्यैवतन्मातु दासीत्वम्-इति भाष्यव्याख्यानात्।" अर्थात् ऐलूषके लिये कहे गये 'दास्याःपुत्रः' 'अब्राह्मणः' ये शब्द आक्षेपमात्र हैं; वस्तुतः कवषकी माता दासी नहीं थी। इससे-" ब्राह्मणोंके पाठसे पता चलता है कि-ये चारों वर्ण साधारणतया जन्मसे माने जाते थे...पर ब्राह्मणोंका पाठ यह भी बताता है कि-जन्मसे वर्ण-एक कडा नियम न था। तपसे, ज्ञानसे, घोर परिश्रमसे एक अब्राह्मण भी ब्राह्मण बन सकता था। इसी प्रकार विद्यागुणहीन एक ब्राह्मण भी नाममात्रका ब्राह्मण रह जाता था। ब्राह्मणमें कहा है-' ऋषयो वै सरस्वत्यां...दास्याःपुत्रः, 'कितवो ऽब्राह्मणः, कथं नो मध्येऽदीक्षिष्ट। इति ' ऋषिजन सरस्वतीके तटपर यज्ञ करने लगे, उन्होंने कवष ऐलूषको सोमसे परेकर दिया ' दासीकापुत्र ' धोखा देनेवाला, अब्राह्मण किस प्रकार यह हमारे यज्ञमें दीक्षित हुआ है। वह बाहर जंगलमें गया पिपासासे संतप्त। उसने यह अपोनप्त्र देवतावाला सूक्त देखा।' (ऐ० २।३।१९) इससे प्रतीत होता है कि एक अब्राह्मण भी मन्त्रोंका द्रष्टा बन गया। उसे ही ऋषियोंने वेदार्थ द्रष्टा ब्राह्मण मानकर पुनः अपने यज्ञमें बुलाया" (वैदिक वाङ्मयका इतिहास)" द्वितीय भाग (२२१-२२२ पृ०)- यह कहते हुए श्री भगवद्दत्तजीका भ्रम भी भ्रममूलक सिद्ध हुआ।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं उस-उस पुरुषको वह-वह न होनेपर भी उस-उस शब्दसे प्रयुक्त किया जाता है, जैसे कि ४।१।४ सूत्रके 'महाभाष्य' में लिखा है- चतुर्भिः प्रकारैः 'अतस्मिन् सः' इत्येतद् भवति। तात्स्थ्यात्-ताद्धर्म्यात्-तत्सामीप्यात्-तत्साहचर्यादिति। तात्स्थ्यात् तावद्-मञ्चाः हसन्ति, गिरिर्दह्यते। ताद्धर्म्यात् जटिनं यान्तं ब्रह्मदत्त इत्याह-, ब्रह्मदत्ते यानि कार्याणि, जटिन्यपि तानि क्रियन्ते, इत्यतो जटी ब्रह्मदत्त इत्युच्यते। तत्सामीप्याद् गंगायां घोषः, कूपे गर्गकुलम्। तत्साहचार्यात्- कुन्तान् प्रवेशय, यष्टीः प्रवेशयेति"

यहां 'प्रदीप'में कैयटने लिखा है-- आरोप्यते तादूरूप्यं नतु मुख्यमित्यर्थः। बालेषु मञ्चस्थारोपाद् 'मञ्च' शब्द प्रवृत्तिः हसन्तीति पदान्तरयोगात् [एवं कितवपदान्तर योगाद् 'अब्राह्मण' शब्दप्रयोगः कवषकृते] विज्ञायते। 'जटिनं' ब्रह्मदत्तवद् धर्मलाभात् तद्रूपारोपः। सिंहो माणवकः, गौर्वाहीकः, इत्यादावपि ताद्धर्म्यात् तादूरूप्यारोपात् तच्छब्द प्रवृत्तिः। तदुक्तं हरिणा- ' गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्ताद् कैश्चिदिष्यते। अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः इति (वाक्यप्रदीपे)

तात्पर्य यह है कि- जिस प्रकार 'मञ्चाः हसन्ति' में 'हसन्ति' इस पदके योगसे 'मञ्च' का अर्थ मञ्चकस्थित बालक होता है। वैसे 'कितवोऽब्राह्मणः' यहांपर 'कितव' पदके योगसे कितव शब्द प्रयुक्त निन्दाके द्योतनार्थ 'अब्राह्मण' शब्दका प्रयोग औपचारिक (गौण) अथवा निन्दार्थवाद है। इस प्रकार श्री सत्यव्रतसामश्रमी महाशयका मत सिद्ध न हो सका। इसी कारणही 'तेह वा ऋषयोऽब्रुवन्-- ' विदुर्वै इमं देवाः, उप इमं ह्वयामहे' 'ऐतरेय ब्राह्मण'की (२।३।१९) उक्तकण्डिकामें श्री सायणाचार्यने कहा है ' ते भृग्वादयः परस्परमिदमब्रुवन्, इमं कवषं देवाः सर्वेऽपि विदुर्वै- जानन्त्येव। अतोऽस्य कितवत्वादि दोषो नास्ति, तस्मादिममस्य समीपं प्रत्याह्वयाम इस कवषको देवता सभी जानते हैं। अतः इसे द्यूतक्रीडाका दोष नहीं, अतः इसे अपने पास बुला लें। यहां भी उसे शूद्र नहीं कहा गया।

जो कि कहा जाता है कि-'ऐसा कहकर ऋषियोंने दासीपुत्र कवष ऐलूषको अपनेमें शामिल कर लिया' विद्वानोंके

कारण मनुष्यका सम्मान किस प्रकार होता था इसका यह अच्छा उदाहरण है, जिन लोगोंने उसे नीचकुलोत्पन्न कह कर त्याग दिया उन्होंने उसकी वेद विद्याको जानकर अपने में शामिल किया' यहांपर प्रष्टव्य यह है कि वह जन्मसे ही विद्वान् था; अथवा ऋषियोंसे बाहर निकालनेके समय विद्वान् हो गया ? यदि जन्मसेही वह विद्वान् था, तब उसको अब्राह्मण क्यों माना गया ? यदि वह अभी विद्वान् हो गया; तो क्या यह संभव है ? बल्कि- इस वचनसे तो यह सिद्ध है कि-वर्णव्यवस्था जन्मसे हुआ करती है 'अब्राह्मण' सरस्वती नदीके जलका पान भी नहीं कर सकता, तथा शूद्र यज्ञका अधिकारी भी नहीं हो सकता । इस ऊपर के कथनकी हम पूर्व आलोचना कर चुके हैं ।

अपोनप्त्रीय सूक्त जो कवषने देखा था; वह 'ऋग्वेद' के दशम मण्डलमें तीसवां सूक्त है। उसका ऋषि अजमेरके वैदिक यन्त्रालयमें प्रकाशित 'ऋग्वेद' में भी ' ऐलूष कवष ' लिखा है । पीछे उसको कितवत्व (द्यूतक्रीडा) से भी घृणा हो गई। तब उसे 'अक्षैर्मा दीव्यः' (ऋ. १०।३४) द्यूतक्रीडा निषेधक इस सूक्तका भी दर्शन हुआ। अजमेरके वैदिक यन्त्रालयके 'ऋग्वेद' में भी इस सूक्तका ऋषि कवषही माना गया है ।

फलतः 'दास्याः पुत्रः' 'अब्राह्मणः' इन शब्दोंको देखकर श्री सत्यव्रत सामश्रमी महाशयको जो ऐलूष कवष दासी पुत्र वा शूद्र होनेमें भ्रम हुआ; तथा उनके पिछलगु आजकलके विद्वानोंने जो कवषके दासीपुत्र होनेका ढंढोरा पीट रक्खा है; आशा है वह भ्रम हमारी इस मीमांसासे हट गया होगा, तथा हट जानाही चाहिये । संक्षेप यह कि- 'दास्याः पुत्रः' अलुक् समासान्त प्रयोग है जिसका पर्यवसान वास्तविक शूद्रा पुत्रमें न होकर उसका अभिप्रेत-निन्दार्थवादमें है, और 'अब्राह्मण' शब्द भी उसके कितवत्व (द्यूतक्रीडा निरतत्व) प्रयुक्त निन्दार्थवादमें ही विश्रान्त है, उसके वास्तविक ब्राह्मण वर्णत्वाभावमें नहीं। वस्तुतः वह ब्राह्मणही है। जैसे अजा आदि पशुओंको गाय घोडे आदिकी प्रतियोगितामें 'अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः' इस प्रकार 'अपशु' शब्दसे कहा गया है; वैसेही ऋषियोंकी प्रतियोगितामें कितव कवषको भी ' अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति' की तरहसे भाक्ति (गौण) रूपसे 'अब्राह्मण' कहा गया है, आशा है ' वैदिकधर्मके ' स्वाध्यायशील पाठकोंके चित्तसे महिदास तथा कवषकी शूद्रत्वविषयक भ्रान्ति सर्वथा हट गयी होगी ।

औषधिराज सोम।

(ले. पं. श्री. सोमदेव शर्म्मा सारस्वत, ए; एम्; एल्; लखनऊ [यू पी.])

* सोमनामकी औषधिका वैदिक साहित्य और आयुर्वेदिक साहित्यमें स्पष्ट वर्णन होते हुए भी आज वह संदिग्ध और अप्राप्य बना हुआ है कुछ विद्वान् वेदोंमें उसका वर्णन आलंकारिक समझते हैं और अन्य कुछ गिलोय आदि अर्थ लेते हैं। इसलिये इसपर इस लेखमें विचार किया जाता है।

वैदिक संहिताओंमें सोम देवताके अनेक सूक्त हैं जिनमें सोम औषधिका वर्णन प्राप्त होता है। आयुर्वेदमें सोमको औषधिराज और वैदिक संहिताओंमें औषधिसम्राट् लिखा है, वास्तवमें गुणोंकी दृष्टिपर विचार करनेसे यह औषधियोंका राजा ही प्रमाणित होता है।

सोमके कन्दमेंसे निकलनेवाला रस सोमरस कहलाता है। जिसका वैदिक यज्ञोंमें पीनेका विधान सर्वविदित है। ऋतुओंके १ अनुसार सोमरस पानका उल्लेख भी वेदोंमें मिलता है।

---

*— सोम नामौषधिराजः (चरकसंहिता चिकित्सा अ. १ चतुर्थपाद) । ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा । सोमा किलौषधीनां सम्राट् ।

१— इन्द्र सोमं पिब ऋतुना । (ऋग्वेद १।१५।१)

सोमरस--पानकी विधि ।

सोमलता (बेल) जातिकी औषधि है पृथ्वीके भीतर सका कन्द निकलता है उस कन्दके ऊपरके गहरे हरे रंगके छिलकेको हटाकर पत्थरोंसे × कूट और कुछ पानीसे गोकर दृढतापूर्वक अंगुलियोंसे दबाकर सोमरस निकाला ा था फिर इसको कम्बल की बनी हुई चलनी (कम्बल-टुकडे) से छानकर, दूध, सत्तू, शहद, दही या पुरोडाश लाकर यज्ञोंमें सोमरसका पान किया जाता था। यथा—

(अ) तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः ।
(ऋग्वेद ८।२।३)

(आ) इमे त इन्द्र सोमास्तीव्रा अस्मे सुतासः ।
शुक्रा आशिरं याचन्ते ॥

(इ) ताँ आशिरं पुरोळाशमिन्द्रेमं सोमं श्रीणीहि ।
(ऋ. ८।२।१०-११)

(ई) तीव्राः सोमास आ गह्याशीर्वन्तः सुता इमे ।
(ऋ. १।२३।१)

(उ) शुचिरसि पुरुनिष्ठाः क्षीरैर्मध्यत आशीर्तः ।
दध्ना मन्दिष्ठः शूरस्य ॥ (ऋ० ८।२।९)

यह सोमरस तीक्ष्ण तथा कसैला होता है इसलिये इस सोमरसमें गोदुग्ध आदि मिलाकर इसका पान किया जाता था, ऐसा मन्त्रोंमें आये हुए आशीर्वन्त (मिला हुआ सोमरस), गवाशिर, दध्याशिर तथा यवाशिर पदोंसे प्रमाणित होता है ।

सोमरसके गुण तथा वर्ण आदि ।

सोमरस बलवर्द्धक, धारण शक्ति पोषक, ओज बढाकर उत्साह बढानेवाला, कार्य करनेकी शक्ति बढानेवाला, और विष्टम्भी होता है, ऐसा (ऋग्वेद ९।२।४१-४३) के सोम देवताके मन्त्रोंमें आये हुये तथा 'सोमके' विशेषण रूपमें प्रयुक्त वृष वेधा तथा सुक्रतु आदि शब्दोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है। सोमका रंग गहरा हरा कालासा, दर्शनीय, अन्धकारमें चन्द्रमाके समान चमकनेवाला तथा तेजस्वी होता है । ऐसा सोमका वर्णन करनेवाला मंत्रोंके हरिः, दर्शतः, इन्दुः तथा द्युमत्तम शब्दोंसे प्रकट होता है ।

सोमकी आकृति तथा उत्पत्तिस्थान।

सोम मोरकी कलंगीके समान विचित्र कलंगी १ अथवा मोर पंखके चँदवे (मंडल) वाला, स्थिर जलयुक्त कठिन (पथरीली) भूमि, गुफा, नदी और मौञ्जवान २ पर्वतके अत्युच्च शिखरोंपर प्रत्येक ऋतुमें प्राप्त होता है, परन्तु दुर्गम स्थानोंमें उत्पन्न होनेके कारण कठिनतासे प्राप्त होता है । अथर्ववेदमें कुष्ठ (कूठ) औषधिको सोमके साथ हिमालयके अत्युच्च शिखरोंपर उत्पन्न होनेके कारण 'सोमका' सखा ३ माना गया है । हिमालय ४ के अत्युन्नत शिखरोंपर बर्फकी अधिकताके कारण सोमके चारों ओर कोई अच्छा वृक्ष नहीं होता है । इसलिये सूर्य और चन्द्रमाकी किरणें इन दोनोंको खूब पुष्ट करती है ।

'सोमका' यह संक्षिप्त परिचय मधुच्छन्दा, मेधातिथि तथा मेध्यातिथि ऋषिके मंत्रोंके आधारपर पाठकोंको कराया गया है, विशद विवेचन और परिचय तो अवशिष्ट मंत्रोंके मननके पश्चात् ही उपस्थित किया जा सकेगा ।

+— कृष्णां त्वचमपघ्नत । (ऋग्वेद १।१५।१)

×— (अ) सोता हि सोममद्रिभिरेमेनमप्सु धावत ।
गव्या वस्त्रेव वासयन्त इन्नरो निर्धुक्षन् वक्षणाभ्यः ॥ (ऋग्वेद ८।१।१७)
(आ) नृभिर्धूतः सुतो अश्नैरव्यो वारैः परिपूतः । अश्वो न निक्तो नदीषु ॥ (ऋग्वेद ८।२।२)

१— ऋग्वेदके मंत्रोंमें आये हुये ' चित्रबर्हि ' आदिशब्दोंसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है तथा सुश्रुत संहिताके " तथान्यैर्मण्डलैश्चित्रैश्चित्रिता इव भान्ति ते " इस श्लोकसे भी ऐसाही प्रमाणित होता है ।

२— सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः । (ऋग्वेद १०।३४।१)

३— देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः (अथर्व. ५।४।७)

४— उदङ् जातो हिमवतः— ...... । (अथर्व ५।४।८)
सुपर्ण सुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि ॥ (अथर्व. ५।४।२०)

सोमकी अप्राप्ति ।

वैदिक कालीन यज्ञोंमें ओज, उत्साह तथा बलकी वृद्धि के लिये 'सोमरस पान' किया जाता था, उस समय (त्रेता युग) में यज्ञ अधिकतासे हुआ करते थे, इसलिये सोमका अधिक उपयोग होनेसे तथा दुर्गम स्थानोंमें कम मात्रा में उत्पन्न होनेसे यह सोम शनैः शनैः अप्राप्त होने लगा, और शारीरिक कष्ट सहनेमें समर्थ केवल धार्मिक वृत्तिके सात्विक पुरुषोंको उच्च पर्वत शिखरोंकी गम्भीर गुफाओं, दुर्गम नदी, झील और तालाबोंके समीपही कठिनतासे यह सोम मिलने लगा, ऐसी दशामें आलसी, विलासी और शारीरिक कष्ट सहनेमें असमर्थ साधारण एवं अधार्मिक वृत्तिके पुरुषोंको यह कहां दृष्टिगोचर हो सकता था। इसी भावको सुश्रुतसंहिताका निम्नलिखित श्लोक प्रकट करता है । यथा—

न तान् पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः ।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ॥
(सुश्रुत० चि० अ० २९।३२)

आयुर्वेदमें सोमका वर्णन ।

सोमके वेदोक्त गुणोंको देखकर आयुर्वेदज्ञ महर्षियोंने भी इसको सर्वोतम रसायन मान लिया क्योंकि दीर्घ आयु, १ स्मृति, कान्ति, बुद्धि तथा बलकी कामनाको पूर्ण करनेमें रसायन ही समर्थ होती है, वह रस, रक्त आदि शरीरकी प्राप्तिके साधनोंमें श्रेष्ठ साधन समझी जाती है। यद्यपि साधारणतया रसायनके कार्यको दुग्ध २ और घृत उत्तमतासे सम्पादित करते हैं, तथापि इनकी अपेक्षा दि[व्य] औषधियाँ अधिक उत्तमता और शीघ्रतासे पूर्ण करती हैं और उन सबमें भी सोम ३ अधिक श्रेष्ठ हैं। इसलिये इसको औषधिराज ४ एवं सर्वश्रेष्ठ दिव्यौषधि माना गया है। यहांपर 'दिव्यौषधिका' अर्थ स्वर्गीय औषधि नहीं है किन्तु सेवन करनेपर देवताओंके समान वृद्धावस्थाको [दूर] कर तथा रोगोंको नष्टकर दीर्घायु, उत्तम वर्ण, स्वर आकृति, बल और कान्ति प्रदान करनेवाली औषधि है जैसा कि ' सोम ' को सेवन करनेपर उसका गुण बतलाते हुए महर्षि चरक तथा सुश्रुतने लिखा है—

१-- षण्मासेन देवतानुकारी भवति वयोवर्णस्वराकृतिबलप्रभाभिः, स्वयं चास्य सर्ववाचो गतानि प्रादुर्भवन्ति, दिव्यं चास्य चक्षुः श्रोत्रं भवति गतिर्योजनसहस्रं दशवर्षसहस्राणि चास्यायुरनुपद्रवं चेति ॥
(चरक. चिकित्सा. अ. १, चतुर्थपाद)

२- चरत्यमोघसंकल्पो देववच्चाखिलं जगत्।
(सुश्रुत. चिकित्सा. अ. २९)

३- इस प्रकारके दिव्य गुण प्रदान करनेवाली ' सोम' औषधिकी खोज करना परमावश्यक था, इसलिये आयुर्वेदज्ञ महर्षियोंने दिव्यौषधियोंके सर्वश्रेष्ठ उत्पादक एवं विशाल भण्डार हिमालय * पर्वतमेंही सर्व प्रथम खोजकी और वहां पता लगनेके पश्चात् अर्बुद (आबू पर्वत) सह्य, महेन्द्र, मलय, श्री पर्वत, देवगिरी, देवसह आदि दक्षिणभारतके

१— दीर्घमायुःस्मृतिर्मेधामारोग्यं तरुणं वयः ।
प्रभावर्ण स्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलोदयम् ।
वाक्सिद्धिं वृषतां कान्तिमवाप्नोति रसायनात् ।
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥ (अष्टांग संग्रह० उत्तर अ० ४९)

२— क्षीरघृताभ्यासो रसायनानां (श्रेष्ठतमः) (चरक सूत्र अ० २५)

३— सोमं औषधीनाम् (श्रेष्ठतमः) (अष्टांग संग्रहः सूत्र० अ० १३)

४--(अ) सोम नामौषधिराजः (चरक० चिकित्सा० अ० १ चतुर्थपाद)
(आ) सोमे चाप्यौषधी पतौ (सुश्रुतः चिकित्सा० अ० २९)
(इ) औषधीनां पतिं सोमम् । (सुश्रुत० चिकित्सा० अ० २९।१४)

*१-- हिमवतः...दिव्याश्चौषधयः प्राप्तवीर्या । (चरक० चि० अ० १ चतुर्थपाद)
२-- हिमवानौषधि भूमीनाम् (श्रेष्ठतमः) । (चरक० सूत्र० अ० २५)
३-- औषधीनां पराभूमि हिमवान् शैलसत्तमः । (चरक० चिकित्सा० अ० १ पाद ३)

...त पारियात्र (मथुराप्रान्तके गोवर्धन आदि पर्वत), ...न्ध्याचल पर्वत, देवसुन्द ह्रद, सिन्धुनदी× तथा ...श्मीर क्षुद्रक मानस सरोवरमें सोमको ढूँढकर प्राप्त किया, ...ा कि सुश्रुत-संहिताके निम्नलिखित श्लोकोंसे प्रकट ...ता है—

...हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा।
श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा॥
पारियात्रे च विन्ध्ये देव सुन्दे ह्रदे तथा।
उत्तरेण वितस्ताया प्रवृद्धा ये महीधराः॥
पञ्चतेषामधोमध्ये सिन्धुनामा महानदः।
हठवत् प्लवते तत्र चन्द्रमा सोमसत्तमः॥
तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुंजवानंशुमानपि।
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम्॥
गायत्र्यस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाङ्करस्तथा।
अत्र सन्त्यपरे चापि सोमाः सोमसमप्रभाः॥
(सुश्रुत. चि. अ. २९।३१)

सोमका स्वरूप और उसके भेद।

सोम यह एक लता (बेल) रूपकी दिव्यौषधि है जो उत्पत्तिस्थानके नामकी विशेषता तथा आकृति और वीर्यकी विशेषतासे २४ प्रकारकी मानी जाती है। सुश्रुत संहिताके अनुसार इसके निम्ननिर्दिष्ट भेद है—

१-- अंशुमान्, मुंजवान, चन्द्रमा, रजतप्रभ, दूर्वासोम, कनीयान्, श्वेताक्ष, कनकप्रभ, प्रतानवान्, तालवृन्त, करवीर, अंशुवान्, स्वयंप्रभ, महासोम; गरुडाहृत, गायत्र, त्रैष्टुभ, पङ्क्ति, जागत, शांकर, अग्निष्टोम, रैवत, उडुपति।

लताके अतिरिक्त क्षुप (पौधा) के रूपमें भी सोम मिलता है। यथा—

विशेषतस्तु वल्लीप्रतानक्षुपाख्याः सोमा भक्षयितव्याः। (सुश्रुत चिकित्सा. अ. २९।१२)

सोम--वृक्ष।

रससिद्ध ' मन्थान भैरव ' ने 'सोमवृक्ष' का भी निर्देश किया है और उसका उपयोग पारदको मूर्तिबद्ध करने तथा मारणके लिये लिखा है यथा —

करोति सोमवृक्षोऽपि रसबन्धवधादिकम्।

सोमलताकी श्रेष्ठता—

सोमक्षुप तथा सोमवृक्षकी अपेक्षा सोमलतामें अधिक गुण होनेसे वह श्रेष्ठ मानी जाती है।

यथा— तयोर्वल्लीगुणाधिका।

(रसेन्द्र चूडामणि)

* सोमके पत्ते कन्द और रस—

सब प्रकारके ' सोम ' पर शुक्लपक्षकी अन्तिम तिथि पूर्णिमाके १५ पत्ते होते हैं, परन्तु यह स्थायी नहीं रहते हैं, कृष्णपक्षकी प्रतिपदा (१) तिथिसे प्रतिदिन प्रति तिथिको एकएक पत्ता स्वयं टूटकर गिरता जाता है और अमावास्याके दिन सब पत्ते गिर चुकनेसे सोमलता पत्तोंसे रहित अकेलीही रह जाता है, फिर शुक्लपक्षकी प्रतिपदा तिथिसे

×-- सिन्धु नदी, कैलास पर्वतके उत्तर भागमें मानस सरोवर तालाबसे निकलती है जो कि १६००० फीटकी ऊँचाईपर तिब्बतमें है।

१— 'रसकामधेनु' ग्रन्थमें भी अंशुमान आदिके भेदसे २४ प्रकारका सोम बताया है। यथा—

चतुर्विंशतिसंख्याताः सोमास्त्वंशुमदादयः।

तालावमें रसकामधेनुका आधार सुश्रुत-संहिताका निम्नलिखित वचन है—

एक एव खलु भगवान् सोमः स्थाननामाकृतिवीर्यविशेषैश्चतुर्विंशतिधाऽभिद्यते।

'सोम' के जो यह २४ भेद बताये गये हैं उन सबके रसायनरूपमें सेवन करनेकी एकही विधि है और इनके गुण भी समान ही हैं यथा—

सर्वेषामेव चैतेषामेको विधिरुपासते।
सर्वे तुल्यगुणाश्चैव विधानं तेषु वक्ष्यते॥ (सुश्रुत)

* सर्वे एव तु विज्ञेयाः सोमाः पञ्चदशच्छदाः।
क्षीरकन्दलतावन्तः पत्रैर्नानाविधैःस्मृताः॥ (सुश्रुत-चिकित्सा-अ- २९।२१)

२

एक एक नवीन पत्ता प्रतिदिन प्रति तिथिको उत्पन्न होता जाता है। और इस प्रकार पूर्णिमाको * १५ पत्ते हो जाते हैं। इस भाँति चन्द्रमाकी कलाके क्षय और वृद्धिके अनुसार सोमलताके पत्तोंका क्षय तथा वृद्धि हुआ करती है। सोमलताकी जडमें कन्द होता है जिसको 'सोमकन्द' कहते हैं, इसमें सूई+ चुभाकर दूधकी भाँतिका सोमरस निकलता है जो स्वादमें कुछ कसैला होता है इसको एक साथ ही पी लेना चाहिये ऐसा सुश्रुत मुनिने निर्देश किया है। यथा—

सोमं सुवर्ण सूच्या विदार्य पयो गृह्णीयात्,
अञ्जलिमात्रं ततः सकृदेवोपयुञ्जीत नास्वादयन्।
(सुश्रुत चिकित्सा अ० २९।४)

सोमके भेदोंका वर्णन

'सोम' के जो २४ भेद सुश्रुतसंहितामें लिखे हैं उनमेंसे ×अंशुमान्, मुंजवान् रजतप्रभ, चन्द्रमा, गरुडाहृत तथा श्वेताक्षके स्वरूपका ही निर्देश मिलता है।'

१ अंशुमान्–इसमें घृतकी सुगन्धिकी भाँति गन्ध आती है। इसकी उत्पत्ति सिन्धुनदीके किनारे बतलाई गई है।

२ मुंजवान्–इसके पत्ते, लशुनके पत्तोंके समान होते हैं सिन्धुनदीके किनारेपरही इसकी उत्पत्तिका निर्देश किया गया है।

३ रजतप्रभ–इसकी कन्द, केलाके कन्दकी भाँति होती है।

४ चन्द्रमा–इसकी कान्ति, स्वर्णकी कान्तिकी भाँति होती है, यह सिन्धुनदीके जलमें होता है।

इसके पत्ते जलकुम्भोके पत्तोंके समान जलमें तैरते हैं और आकारमें ÷पलाण्डुके पत्तोंके तुल्य होते हैं, इनके रससे पारद बंध जाता (मूर्तिबद्ध हो जाता) है। इस सोमको रसशास्त्रोंमें 'प्रयाग राक्षस' तथा 'निशाचर' नामसे पुकारा गया है।

५ +गरुडाहृत– } यह दोनों पाण्डु (श्वेत तथा पीतवर्ण
६ श्वेताक्ष– } मिश्रित वर्ण) वर्णके समान वर्णवाले साँपकी केंचुलीके तुल्य होते हैं और वृक्षोंके आगेके भागपर लटके रहते हैं। इनकी लतामें पर्व (गांठें) ही होते हैं जिनका वर्ण

---

* सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पंच च। तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च॥
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तथा। शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत् पञ्चादशच्छदः॥
शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः। कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला॥

+ सुवर्णकी सुईसे कन्दको बींधना चाहिये। यथा—
सोमं सुवर्णसूच्या विदार्य। (सुश्रुत)

× अंशुमानाज्यगन्धस्तु कन्दवान् रजतप्रभः।
कदल्याकार कन्दस्तु मुंजवाँल्लशुनच्छदः॥
चन्द्रमा कनकाभासो जले चरति सर्वदा। [सुश्रुत–चिकित्सा–अ० २९-२३]
......सिन्धुनामा महानदः।
हठवत् प्लवते तत्र चन्द्रमा सोमसत्तमः। तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुंजवानंशुमानपि॥
[सुश्रुत. चिकि. अ. २९।२८-२९]

÷ १ तत्र पलाण्डु पत्राभो जलचारी च चन्द्रमा। [रसकामधेनु, पृष्ठ ३९०]

२ [अ] गरुडाहृत नामा च श्वेताक्षश्चापि पाण्डुरौ।
सर्पनिर्मोकसदृशौ तौ वृक्षाग्रावलम्बिनौ॥ [सुश्रुत. चि. अ. २९]

[आ] पञ्चांगयुक् पंचदशच्छदाढ्याः। सर्पाकृतिःशोणित पर्वदेशा॥
सा सोमवल्लीरसबन्धकर्म। करोति चैकादिवसोपनीता॥ [रसेन्द्र–चूडामणि]

[इ] सोमवल्लीद्विधा ज्ञेया श्वेता रक्ता सकन्दका।
रसो रक्तो भवेद्यस्यास्तिथिसंख्या दलानि च॥ [रससार]

होता है। पारदके बन्धन कर्ममें इनके पत्तोंका स्वरस रक्त होता है। यह दोनों काश्मीरके क्षुद्र मानस सरोवरमें होते हैं। " मन्थान भैरवासिद्ध " ने इन्हीं दोनोंको सोमवल्ली बताया है। ' रससार ' नामके रस ग्रन्थमें वर्णित सोमवल्लीके रक्त और श्वेत भेद यह दोनों सोम प्रतीत होते हैं। ७ गायत्र्य, ८ त्रैष्टुभ्, ९ पांक्त, १० जागत, ११ शांकर, २४। यह सब +काश्मीरके क्षुद्र मानस सरोवरमें उत्पन्न होते हैं, यह मोरपंखके अद्भुत चँदवों (मंडलों) से चित्रित प्रतीत होते हैं। संभव है ऋग्वेदमें 'चित्रबर्हि' आदि शब्दोंमें इनका ही वर्णन किया गया हो, क्योंकि ऋग्वेदके चित्रबर्हि और सुश्रुतके 'मण्डलैर्विविधैश्चित्राः' इन शब्दोंमें समानता भी है।

रसशास्त्रोंमें सोमका वर्णन।

चरक और सुश्रुतके उपरान्त वैद्योंने आलस्यवश 'सोम' को अप्राप्य समझकर ढूँढना बन्द कर दिया, परन्तु बहुत समय पश्चात् रससिद्धोंने पारदके बन्धन आदिके लिये हिमालयमेंसे ६४ दिव्यौषधियों* को ढूँढ निकाला, इनमें ही इनको ' सोम ' भी प्राप्त हो गया था।

इन रससिद्धोंके लिखे हुए ' सोम ' के लक्षणोंसे प्रतीत होता है कि इनको गरुडाहृत श्वेताक्ष और चन्द्रमा नामका 'सोम' प्राप्त हुआ था, क्योंकि रसार्णवमें निर्दिष्ट ' प्रयाग '× 'राक्षस' तथा 'निशाचर' शब्द 'चन्द्रमा' नाम सोमके भेदके वाचक है और मन्थान भैरवके आधारपर 'रसेन्द्र चूडामणि' के कर्ता सोमदेवने जो सोमवल्लीका सर्पाकार लक्षण निर्दिष्ट किया है वह सुश्रुत-संहिताके अनुसार गरुडाहृत तथा श्वेताक्ष नामके सोमके भेदोंका लक्षण प्रमाणित होता है। 'रससार' कर्ता गोविन्दाचार्यने जो रक्त और श्वेत भेदसे दो प्रकारकी सोमवल्ली लिखी है उनमेंसे रक्त सोमलता ' गरुडाहृत ' सोम और श्वेत सोमलता ' श्वेताक्ष ' सोम प्रतीत होती है।

सोमके उपयोगी अंश और उनका उपयोग।

सुश्रुत तथा चरक मुनिने सोमके कन्दसे निकलनेवाले दुग्धसदृश 'सोमरस' का केवल रसायन रूपमें सेवन करनेका निर्देश किया है परन्तु रससिद्धोंने इसके कन्दके अतिरिक्त इस सोमके पत्तोंके रसका भी पारदके मूर्च्छन, बन्धन और मारण कार्यके लिये प्रयोग किया है। परन्तु इसके लिये पूर्णिमाके दिनही 'सोम' वृक्ष या वल्लीके पत्तोंको तोडकर प्रयोग करनेका निर्देश किया है क्योंकि पूर्णिमाके दिनही 'सोम' पूर्ण वीर्यशाली होता है।

सोमके विषयमें आधुनिक विभिन्न मत।

१— बद्रिकाश्रम तथा केदारनाथके पर्वतोंमें असंख्य औषधियाँ मिलती हैं। यहांके लोगोंके कथनसे ज्ञात होता है कि वहाँपर 'सोमलता' होती है जो एक हाथ लम्बी होती है। इसके पत्ते वट (बरगद) के पत्तोंके समान होते हैं जिनका रस खटमिठा होता है और उसका उपयोग दिलघबडाने तथा मूर्च्छा (बेहोशी) दूर करनेके लिये किया जाता है। आयुर्वेद-शास्त्रमें वर्णित गुणोंकी परीक्षा इसमें किसीने नहीं की है।

+[अ] काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम्।
गायत्र्यस्त्रैष्टुभः पांक्तो जागतः शांकरस्तथा ॥
अत्र सन्त्यपरे चापि सोमाः सोमसमप्रभाः। [सुश्रुत. च. अ. २९।३०-३१]

[आ] तथाऽन्यैर्मण्डलैश्चित्रैश्चित्रिता इव भान्ति ते। [सु. चि. अ. २९।२५]

* मन्थानभैरवमहागमसंप्रदिष्टा। दिव्यौषधीर्वदति संप्रति सोमदेवः ॥
वार्धक्य रोगहरणाय रसायनाख्याः। सूतेन्द्रबन्धवधजारणकर्मणीष्टाः ॥
[रसेन्द्र चूडामणि अ. ६]

× गंगायमुनयोर्मध्ये प्रयागो नाम राक्षसः।
तस्यमध्ये वरारोहे ? क्षणाद्बध्येत सूतकः ॥ [रसार्णव-१२।३]

व्याख्या — गंगायमुनयोः शुक्लकृष्णपक्षयोर्मध्ये पौर्णमास्यामित्यर्थः। प्रयागः, प्रकृष्टो यागो यज्ञो यस्मात् सोमभेदश्चन्द्र नाम, राक्षस इति निशाचरत्वात्। [रसकामधेनु]

२— डाक्टर एचीसन, डा० जोसफ और डा० वाइसुकर आदि अनेक यूरोपियन विद्वान् पुरुषोंने भी 'सोम' के विषयमें पर्याप्त अन्वेषण किया है और सरकोस्टेमा ब्रेविस्टिग्मा (Sarcostemma Brevistigma), पैरीप्लोका एफिला (Periploca Aphylla) और एफिड्रा वलगेरिस (Ephedra Vulgeris आदि नामकी औषधियोंको 'सोम' नामसे प्रसिद्ध किया है, इनमेंसे एफिड्रा वलगेरिसका वर्णन निम्नलिखित है।

पारसी लोग अपने यज्ञोंमें* सोमवल्लीके स्थानमें जिस 'सोमलियां' औषधिका प्रयोग करते हैं और जिसको बिलोचिस्तानमें 'हुमहोम' कहते हैं, उसीका नाम एफिड्रा वलगेरिस या सोम है यह अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान, काबुल, कन्दहार, काश्मीर, बद्रिकाश्रम और केदारनाथ आदिकी पहाडियोंपर १०००० फीटकी ऊंचाईपर उत्पन्न होता है।

सोमका स्वरूप।

'सोम' कटीला [कांटेदार] गुच्छेदार, ग्रन्थियुक्त [गांठदार] चिकनो और हरीशाखावाला पौधा होता है। इसके मध्यभागमें मंजरीयुक्त, अत्यन्त पतला, लम्बा और पत्तेकी आकृतिके समान होता है। इसका ऊपरी भाग $\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{2}$ इंचतक लम्ब पत्रवाले गुच्छाकार आवर्तसे युक्त होता है। इसके फल बहुत छोटे और लाल रंगके होते हैं और उनके बीज एक या दोनों ओर उन्नतोदर या नतोदर होते हैं।

संग्रहकाल और रक्षणविधि।

बर्फके गिरनेसे पहिले शरद् ऋतुमेंही इसका संग्रह कर लिया जाता है क्योंकि उसी समय यह पूर्ण वीर्यशाली होता है, फिर इसको छायामें सुखाकर सूखे स्थानमें रखें। क्योंकि आर्द्र [गीले तर] स्थानमें रखनेसे यह गुणहीन हो जाता है।

उपयोग।

एफेड्रा वगलेरिस [सोमलियां] में दो प्रकारके [एफेड्रिन आदि] क्षार होते हैं जिनके कारण वह हृदयकी प्राणदा नाडी [वागस नर्व Vagus nerve] को प्रभावित कर देता है और श्वासमार्गकी शाखा प्रशाखाओंको प्रसारित कर देता है। इसको चूर्ण, क्वाथ तथा आसवके रूपमें श्वासके प्रबल वेगके समय देनेपर तुरन्त लाभ होता है। इसके चूर्णकी मात्रा ५ से ७ रत्ती तक है। यह 'माहौङ्ग' नामसे चीन देशमें ५००० वर्षसे श्वास रोगमें प्रयुक्त होता आया है।

उपसंहार।

वेदोंके सूक्तों और मंत्रोंमें जिसके गुणगान किये गये हैं, सुश्रुत मुनिने जिसको वृद्धावस्था तथा मृत्युका नाशक + अमृत समान मानकर 'औषधिपति' नामसे तथा चरक मुनिने 'औषधिराज' नामसे पुकारा है तथा वाग्भटने सर्वोत्तम रसायन माना है और रससिद्धोंने जिसके द्वारा पारदका मूर्च्छन मारण और बन्धन किया था, उसका थोडासा भी गुण इस आधुनिक सोम (सोमलियां) (या एफिड्रा वलगेरिस) में नहीं मिलता है, इसलिये आयुर्वैदिक संहिताओं और रसग्रन्थोंके गुण न मिलनेके कारण इस एफेड्रा वगलेरिस (सोमलियां) वास्तविक 'सोम' नहीं मान सकते हैं।

आयुर्वेदशास्त्रोंमें वर्णित गुणधर्मवाले सोमकी प्राप्ति तो अभी भविष्यके गर्भमें अन्तर्हित है। यदि उद्योगी वैद्यबन्धु परिश्रमपूर्वक अन्वेषण करें तो वे इसका अन्वेषण कर आयुर्वेदको गौरवान्वित कर सकते हैं। आशा है कि परमपिता परमेश्वरके अनुग्रहसे धन्वन्तर और भारद्वाजकी समर्पित आयुर्वेद-निधिका यशोगान करनेवाले वैद्यवर्य औषधिराज 'सोम' का अन्वेषण कर वास्तविक यशके भागी बनेंगे।

---

* करोति सोमवृक्षोऽपि रसबन्धवधादिकम्।
पूर्णिमा दिवसानीतस्तयोर्वल्ली गुणाधिका॥ (रसेन्द्र चूडामणि अ. ६)

+ ब्रह्मादयोऽसृजन् पूर्वममृतं सोमसंज्ञितम्।
जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्य वक्ष्यते॥ (सुश्रुत चिकित्सा. अ. २९।१७)

ऋषि और महात्मा

(ले०— श्री. वसिष्ठजी, देहली)

अनेक व्यक्तियोंकी बहुविध प्रकृतिके अनुसार उनको कार्य करनेके लिये प्राचीन कालके ऋषियोंने— न कि मनीषियोंने चातुर्वर्ण्यका विधान बनाकर उसके अनुसार उनके स्वभाव-गुण (योग्यता) के अनुरूप वर्णव्यवस्था स्थापित की थी। मनीषी अपनी बुद्धिके अनुसार किसी सत्यके खण्डको जानकरही कुछ विधान बना सकता है किन्तु ऋषि बहुत दूरतक "देख" कर व्यक्तियोंके स्वभाव व गुणको जान लेता है। वह कभी किसी विधानको सर्वोपरि मानकर सब व्यक्तियोंके सिरपर नहीं थोपता। इससे कई लाभ होते हैं— व्यक्तियोंको व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, अपनी प्रकृति, स्वभाव, गुण और रुचिके अनुसार कार्यका चुनाव करके सोत्साह, प्रफुल्ल, त्रुटिहीन सफलता; समाज व राष्ट्रमें सुसंगति सामंजस्य व एकताकी स्थापना तथा सफल कार्योंका प्राचुर्य।

किन्तु मनीषियोंने बुद्धिके द्वारा केवल सत्योंका खण्डही समझा और उसे उन्होंने सर्वोपरि माना। ब्राह्मणत्व प्राप्त करके ब्राह्मण होना सर्वश्रेष्ठ है किन्तु सबको ब्राह्मणत्व ही प्राप्त करके केवल ब्राह्मणही बनाना चाहिये यह असम्भव है।

क्षत्रियकी भी राष्ट्रको आवश्यकता है और समाजमें ऐसे व्यक्ति भी हैं जो केवल क्षत्रियही बन सकते हैं, यदि क्षत्रियसे भिन्न वे कुछ बनाये गये तो वे असफल होंगे, निराश, हताश होंगे और अपनी मनोनीत भूमिकासे बलात् पृथक् किये जानेके कारण एक अप्रिय, उदासीन, नीरस मार्गके पथिक बनेंगे।

पर मनीषि तो एक भूमिकाका मनन करता है, उसके पास प्रखर, कुशाग्र बुद्धि है और एक विस्तृतपर ससीम अनुभव किन्तु उसके ज्ञानचक्षु बन्द हैं। विचारद्वारा निर्णय करके वह उस भूमिकाको या तो त्यागही देता है, या सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ मान लेता है। यदि वह अपने व्यक्तिगत जीवनके लिये ऐसा करे तो अधिक हानि नहीं है किन्तु जब वह अपने मनोनीत सिद्धान्तको, मार्गको सबके लिये श्रेष्ठ या एकमात्र श्रेष्ठ मानने लगता है तब वह उसका प्रचार जनसाधारणमें करने लग जाता है और यहींसे अनर्थका विस्तार आरम्भ होता है। ब्रह्मचर्य, आजन्म ब्रह्मचारी रहना, उत्तम, अत्युत्तम है किन्तु ऋषिकी दिव्य दृष्टि देखती है कि सब आजन्म ब्रह्मचारी नहीं रह सकते पर मनीषिको दिव्य दृष्टि प्राप्त नहीं है अतः वह सर्वश्रेष्ठ भूमिकामें सबको खींच ले आना चाहता है। आंशिक सत्यकोही सर्व समझनेवाला 'मन' जीवनकी प्राण-शक्तिको एक अविराम प्रचारमें जोड देता है। आजन्म ब्रह्मचर्यके दुर्गम मार्गपर चलने व अपने अनुयायियोंको चलनेके लिये सचेष्ट ऐसे मनीषिको हम "महात्मा" पुकारने लगते हैं। किन्तु सब ब्रह्मचारी नहीं बन सकते। कामवासनाको मारनेकी, बदलनेकी या कुछ और कर डालनेकी सामर्थ्य न गुरुमें है न शिष्योंमें। ब्रह्मचर्य-पालनमें शिष्यकी न रुचि है, न उत्साह, सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि मार्ग समझकर वह इनपर डाल दिया गया है या स्वयं पड गया है। ऐसे ब्रह्मचर्य-सम्प्रदायको चलानेवाला मनीषि "महात्मा" माना जाने लगता है क्योंकि उसने इस "ब्रह्मचर्य- सम्प्रदाय" को सर्वोपरि जो घोषित किया होता है। परिणाम यह होता है कि उसके शिष्य— दो चार को छोडकर—आदित्य ब्रह्मचारी तो नहीं बन पाते आदित्य अविवाहित व्यभिचारी बन जाते हैं।

दूसरा मनीषी अनुभवसे योगके कुछ चमत्कार प्राप्त करता है तो "योग सर्वश्रेष्ठ है" इस सत्यको इस रूपमें ले लेता है कि योग सबके लियेही सर्वश्रेष्ठ है बल्कि अनिवार्य है और तब वह जनसाधारणको, जघाई, मघाईको योगीराज बनानेको उत्सुक हो उठता है जब कि वह स्वयं एक साधारण साधक होनेके कारण उस सूक्ष्म दृष्टिसे वंचित होता है जो यह देख सके कि किसमें योगकी आन्तरिक पुकार है। चाहे कोई उस "सर्वश्रेष्ठ योगमार्ग" का अधिकारी हो या न हो, उसकी प्रवृत्ति, रुचि, सामर्थ्य हो या न हो वह सबको उसमें खींच लानेकी चेष्टा करता है।

परिणाम यह होता है कि योगी तो कोई बनता नहीं अलबत्ता " जोगी " सम्प्रदाय बन जाता है, जो गृहस्थ भोगता है, भगवा वस्त्र पहनता है, भीख मांगता है और शिव-पार्वतीके भजन गाया करता है और वह मनीषि उस जोगी सम्प्रदायका महात्मा माना जाता है । विचित्र वेशधारी, बहुरूपी, निरक्षर ' नाँगा ' सम्प्रदाय इसी आजन्म ब्रह्मचर्य व योगसाधनाका वंशवृक्ष है ।

अहिंसाकी भी एक भूमिका है। उस भूमिकामें अहिंसा सर्वश्रेष्ठ साधन है किन्तु उस भूमिकासे अन्यत्र वह घातक है। किसी मनीषिको किसी खण्डमें-किसी देश, काल या पात्रमें अहिंसाद्वारा सफलता मिला तो वह उसपर ऐसा आसक्त हुआ कि उसे सार्वदेशिक, सार्वकालिक, सार्वजनिक बनानेके लिये उत्सुक हो उठा। ज्येष्ठमासकी प्रचण्ड गर्मीमें झांसी जैसे उष्ण प्रदेशमें कोई पित्तप्रधान हृष्ट पुष्ट युवक खसकी टट्टियें लगाकर रात्रिमें खुली छतपर बिजलीका पंखा खोलकर सोता है। यदि वह युवक स्वानुभवकी भित्तिपर मुग्ध होकर इस अनुभवको साम्प्रदायिक रूप देकर सार्वदैशिक, सार्वकालिक व सार्वजनिक बनानेका प्रचार करने लगे तो शिमला-शैलपर या पौष मासकी रात्रिमें अथवा क्षीणकाय किसी दुर्बल वृद्धपर यह सर्वश्रेष्ठ अतिसुखदायक अनुभव कितना सांघातिक होगा ! पर मनीषि ऋषि नहीं है, वह केवल झांसी प्रदेश, ग्रीष्मकाल व पित्तप्रधानयुवक पात्रको ही जानता है। इसी प्रकार अहिंसाका मनीषी न देशको देखता है न कालको और न पात्रको।

ईरान, उपगणस्थान [अफगानिस्तान] व प्रतिष्ठानस्थान [वर्तमान पठानस्थान व सीमाप्रदेश] के अहिंसावादी बौद्धोंपर जब पश्चिमके बर्बर यवनोंने आक्रमण किया तो उन्होंने यही निर्णय किया "जिस अहिंसाके द्वारा हमारे पूर्वजोंने इस देशके मूल निवासी शान्तिप्रिय ब्राह्मणों, वैष्णवों व वाणिकोंको अहिंसाद्वारा तथागतका भक्त बना लिया उसी प्रकार इन महोम्मदियोंको भी हम यही मन्त्र देंगे—

'सत्यं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि संघं, शरणं गच्छामि।" किन्तु आक्रान्ता महोमदी न वे पात्र थे, न वह काल था और न वह देश जिसपर अहिंसाकी 'तरबहरीतकी' ने चमत्कार दिखाया था। फल हुआ कि ईरान, उपगणस्थान, पठानस्थानके महात्मागण मनीषी बौद्ध और उनकी समस्त श्रावक या तो वध कर दिये गये या महोमदी बना लिये गये। एक शताब्दिके भीतर ही वहां बौद्धोंका ऐसा अभाव हुआ कि प्रदर्शनीके लिये ढूंढनेपर भी वहां बौद्ध न मिल सके। तत्कालीन महात्मा बौद्धोंकी सामर्थ्यहीन अहिंसा व पवित्रता न उनकी अपनी रक्षा कर सकी, न उनके प्रजाजन, और न भक्तों, शिष्यों व श्रावकोंकी। उन बौद्धोंके वंशजों, महोमदी हो जानेपर अपने पूर्वज बौद्ध महात्माओंकी पवित्रता या शक्तिकी कोई सहायता मिली हो सो भी नहीं हुआ। महोमदी आक्रान्ताओंके हाथोंसे वध होकर उन महात्मागणको किसी वैकुण्ठ विशेषमें राज्याभिषेक मिला हो सो वधिकद्वारा वध किये गये दैनिक बकरोंके स्वर्गारोहणसे जाना जा सकता है।

अपने अपने युगमें सब महात्मागण प्रतिष्ठाके शिखरपर सुशोभित होते हैं और उनके आंशिक सत्य व हितकर " वाद " सर्वोपरि, सत्य सिद्ध किये जाते हैं जो किसी देश, काल या पात्रसे अन्यत्र घोर अहितकर व अधिकांश असत्य होते हैं पर उन युगोंमें उन महात्मागणके विरुद्ध बोलना पाप समझा जाता है। वैसा ही आजकल भी होता है। यह एक प्रवाह है जो पवित्र, परम पवित्र प्रतीत होता है। इसे घातक समझकर भी अनेक इसलिये मौन या उदासीन रहते हैं कि वह ' महात्मापन" से प्रवाहित हुआ है और "महात्मापन " का विरोध पातक है। पर भविष्यमें जब उसके विषके अंकुर फूटते हैं तब तत्कालीन [भावी] जनता व मनीषीगण आलोचना करते हैं अपने अदूरदर्शी पूर्वजोंके भ्रान्त व विषाक्त " वादों " की।

शस्त्र, यन्त्र, साधन शब्द पर्याय हैं। एक समय था कि युद्धमें लाठी सफल शस्त्र था। कालान्तरमें तलवार, भाला व धनुष बाणके आविष्कारने उसपर विजय पाई और उसके पश्चात् कालान्तरमें आग्नेय अस्त्रोंने धनुष बाण आदिपर। अणु-बम अब आग्नेय अस्त्रोंपर विजयी हो गया है। लाठीकी उपयोगिता अणु-बमके युगमें आज भी है किन्तु लाठीको कोई साम्प्रदायिक सर्वोपरि नहीं मानता। तलवार, भाले आदि सब हैं, उनकी उपयोगिता आज भी है पर वे सर्वोपरि नहीं।

अहिंसाकी उपयोगिता है लेकिन अपनी जगह देश विशेषमें, कालविशेषमें व पात्रविशेषमें। किन्तु जब कोई

...षी- जो स्वभावतः सूक्ष्म दृष्टिसे वंचित होता है, अपनी एकांगी, एकदेशीय आंशिक धारणाको सार्वत्रिक "वाद" का रूप दे देता है और उसके शिष्य उसको महात्माकी उपाधि दे देते हैं तब उसका "वाद" विशेष एक सम्प्रदाय बन जाता है जिसको सार्वदेशिक, सार्वकालिक सार्वजनिक रूपमें श्रेष्ठ सिद्ध करनेके लिये कतरव्यौंत की जाती है, मन-बुद्धिको हुक्म दिया जाता है कि वे येन केन प्रकारेण सब युक्तियोंको तोड मरोड कर "वाद" विशेषको सर्वोपरि सिद्ध व प्रसिद्ध करें ।

हिन्दुधर्मका जो वर्तमान पौराणिक रूप है वह ऐसे मनीषी "महात्माओं" के कारणही सम्प्रदायोंका अखाडा बन गया है और नये-नये मनीषी "महात्मा" बनकर नये-नये "वाद" बनाकर नये-नये सम्प्रदाय खडे करते जा रहे हैं, मानो बावन जातिके तुमुल युद्धको मिटानेके लिये वे तरेपनवीं जाति बना रहे हैं ताकि कलसे तरेपन युद्ध आरम्भ हो जावें । किन्तु संतोषकी बात है कि यह रोग वैज्ञानिकोंमें, कलाकारोंमें नहीं फैला। गणितज्ञोंने कभी नहीं कहा गणितही श्रेय है, शेष सब हेय हैं, ना ही चित्रकारों, गन्धर्वों तथा अन्यान्य कलाकारोंने ऐसा किया । उन्होंने केवल पात्रोंको प्रमुखता दी । जो पात्र जिस कलाके योग्य समझा गया दीक्षित किया गया । ऋषियोंने भी इसी प्रकार पात्रोंके "स्वभाव" को प्रमुखता देकर "स्वधर्म" की स्थापना कि थी जिससे व्यक्तित्वका सामर्थ्यानुसार विकास हो सके । ब्राह्मणके अधिकांश जीवनकी भूमिका अहिंसा थी किन्तु आवश्यकता पडनेपर क्षत्रियके अधिकांश और कभी कभी समूचे जीवनकी भूमिका हिंसा बन जाती थी । किन्तु साधु-मनीषियोंके महात्मा बन जानेपर सबके लिये सार्वत्रिक और सार्वकालिक रूपमें अहिंसा स्वेच्छासे या कठिन, कठोर अनिच्छासे धारण कराई जाती है ।

उधर आसुरी मनीषियोंके "महात्मा" बन जानेपर "कत्ले आम" की घोर हिंसा । किन्तु जब ये दुधारी प्रवृत्तियां साथ साथ चलती हैं तब आसुरी मनीषीकी भयंकर विजय होती है क्योंकि दोनों एक दूसरेकी पूरक धारणाकी स्थापना कर असुरके, घोर रजस्के ताण्डवनृत्यको व्यापक बना देती हैं । राजसिक आसुरी-मनीषी प्रचार करता है "जो हाथ लगे उसे मिटा दो" तब सात्त्विक मनीषी महात्मा प्रचार करता होता है, "मर जाओ" पर हाथ न उठाओ, दूसरेकी क्षुधा-निवृत्तिके लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर दो, कहो— अपने कटनेका हमें गम नहीं कातिल, डर है कहीं खम न आजाये तेरी तलवारमें— वह धन, सम्पत्ति, नगर और देशको चाहता है तो जो वह चाहता है उसके हवाले कर दो"। मानो एकही आसुरी प्रवृत्ति अपने नग्नरूपमें भेडियेसे कहती है "मार खा" और तमसावृत साधु सी सीधी भेडसे साधु-वचनोंमें कहती है, "मैं, मैं करती बलिदान होजा"।

आज हम अतीतके महात्माओंकी और उनके सम्प्रदायोंकी आलोचना करते हैं और उनको हिन्दु जातिको रसातलमें ले जानेवाला बताते हैं किन्तु अपनी धारणाके पक्षपात की आसक्तिके वशीभूत हम आजके विचारक अपने वर्तमान महात्माओंके आंशिक खण्ड सत्यको सम्पूर्ण मानकर उन्हें वर्तमान और भविष्यके लिये सार्वत्रिक, सार्वजनिक श्रेष्ठ मार्ग मानते हैं किन्तु आनेवाला राष्ट्र हमारी इस बुद्धि-दुर्बलता-जन्य अदूरदर्शितापर पश्चात्ताप करेगा जब वह देखेगा कि उसके पूर्वजोंने भिन्न प्रकृतिवालोंको उनके स्वभावके प्रतिकूल एकही पंथमें हांककर मानवताका वध किया था। यही हाल गुह्य ज्ञान, गुह्य दृष्टिसे वंचित हमारे वर्तमान महात्माओंके सम्प्रदायोंका होनेवाला है जो सबको तमसावृत सात्त्विक साधु बनानेपर तुले हैं ।

जबतक हमारे देशमें इस प्रकारके महात्माओंकी बात आती रहेगी जो एकही "तत्व हरीतकी" को सब रोगोंकी पेटेन्ट दवा कहकर सर्व देशों, कालों तथा पात्रोंके लिये अनिवार्य उपयोगी सिद्ध करते रहेंगे तबतक देश इन सम्प्रदायोंके द्वन्दका कुरुक्षेत्र बना रहेगा और प्रत्येक आनेवाला नया महात्मा अपने "वाद" को सर्वोपरि सिद्धकर पुराने "वादों" को हिन्दु जातिका कलंक व छुआ छूतका भूत बताता रहेगा। एक मात्र ऋषि, आध्यात्मिक आत्मदर्शी, आत्मरत व्यक्तिही वह अभिव्यक्ति है जो खण्ड सत्योंको, अंशोंको उनका उचित स्थान दे सकता है, जो गीताकी भाषामें सब कुछका आलिंगन करता हुआ, शुभ और अशुभको, पाप और पुण्यको केवल सामर्थ्यके न्यूनाधिक्यके क्रमसे देखता है और अशुभसे शुभमें, पापसे पुण्यमें लानेके लिये क्रमशः प्रगतिको स्वीकार करता है । वह बालकको हेय

न मानकर अशक्त मानता हुआ उसे सशक्त यौवनकी ओर प्रगति देता है किन्तु युवकसे बालककी असमर्थ, अशक्त चेष्टाओंको न छीन लेता है न उन्हें उसके लिये सर्वथा हेय कर देता है। सशक्त युवकको भी आवश्यकता पडनेपर बालककी अशक्त चेष्टाओंको उपयोगमें लानेका अधिकार देता है। ऋषिका लक्ष्य होता है भागवत चैतन्यमें, भागवत चैतन्यकी ओर, भागवत चैतन्यके द्वारा विवर्तन, प्रगति, विकास, जनसाधारणको उसके स्वभाव व सामर्थ्यके अन्तर्गत सब "वादों" को यथोचित रूपसे करणरूपमें ग्रहण करते हुए आगेकी ओर ले चलना, उन्नति करना।

व्यक्ति और समाज

(ले०— श्री पं. ऋभुदेव शर्मा शास्त्राचार्य, आचार्य गुरुकुल घटकेश्वर, हैदराबाद [दक्षिण])

समाजका अर्थ है मनुष्योंका समूह। ' समूदोरजः पशुषु।' शब्दानुशासन ३।३।६९ इस सूत्रपर काशिकामें लिखा है ' अजगतिक्षेपणयोरिति पठ्यते। स सम्पूर्वः समुदाये वर्तते, प्रपूर्वश्च प्रेरणे। समजः पशूनां, समुदाय इत्यर्थः। उदजः पशूनां, प्रेरणामित्यर्थः। पशुष्विति किम्। समाजो ब्राह्मणानाम्। उदाज क्षत्रियाणाम्। ' इसका सार यह है कि पशुओंके समुदायका नाम समाज नहीं, अपितु समज है। समाज समुदाय है परन्तु पशुओंका नहीं, मनुष्योंका। समाज शब्दसे ही हम पशुओंसे भिन्न हो जाते हैं।

प्रायः समुदाय दो प्रकारका होता है। रजःकणका राशि भी समुदाय है तथापि वह घट नहीं बना सकता। उन्हीं धूलिकणोंको पानी द्वारा संश्लिष्ट होनेयोग्य कर देते हैं तब उनमें एक अद्भुत शक्ति आ जाती है। उनसे हम छोटे बडे, पात्र और ऊँचासे ऊँचा दीवार बना देते हैं। धूलिके समुदायमें वायुके रोकनेकी भी शक्ति नहीं, उन्हीं कणोंका एक विशेष आयोजन इतना कठोर और शक्तिशाली बन जाता है कि उसपरसे धान्य और मनुष्य लदी गाडियाँ पार हो सकें। समाज धूलिकणके समान बिखरा हुआ समुदाय नहीं है वह तो गीली मिट्टीके समान एक दूसरेसे मिला और बँधा हुआ समूह है। जैसे धूलिकणोंके मेलसे मिट्टीका गोला बनता है वैसे ही व्यक्तियोंसे समाज बनता है।

मनुष्य यदि समुदायरूपमें है उसमें कोई शक्ति नहीं आती। समाज बनते ही उसमें अपूर्वशक्ति आ जाती है। व्यक्तिसे समाज बनता है तथापि वह शक्तिमें व्यक्तिसे कई गुना बडा है। व्यक्ति और समाजके शक्तियोंकी तुलना नहीं हो सकती। समाजको शक्ति तो व्यक्तिसे ही प्राप्त होती है तथापि व्यक्तिकी शक्तियोंमें भेद है। व्यक्तिकी शक्तियोंका एकीकरण समाजमें होता है। व्यक्ति रूपसे धनी-निर्धन, पठित-मूर्ख, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, राजा-प्रजा भिन्न हैं परन्तु समाजकी रचनामें सब आवश्यक और समान हैं। समाजकी दृष्टिसे व्यक्तियोंमें भेद नहीं किया जा सकता कारण कि केवल धनी या केवल निर्धन, केवल बालक या केवल युवा, केवल स्त्री या केवल पुरुष समाजकी सब आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं कर सकते।

इसी प्रकार केवल व्यापारी या केवल मजूर, केवल सैनिक या केवल अधिकारी, केवल किसान या केवल अध्यापक भी समाजकी आवश्यकता पूरी नहीं कर सकते। व्यक्तिकी शक्तिमें भेद रहा है और रहेगा परन्तु समाज भेद नहीं कर सकता। किसीको छोटा या बडा नहीं कह सकता। प्राचीन परिभाषामें कहें तो समाजकी दृष्टिसे ब्राह्मण और शूद्रमें कोई भेद नहीं है। शरीरकी दृष्टिसे जिस प्रकार मुँह-और पाँवमेंसे किसीको बडा और छोटा नहीं कहा जा सकता वैसे ही ब्राह्मण और शूद्रको समझना चाहिये।

सामाजिक विषमता समाजका बहुत बडा रोग है। यह रोग समाजको अस्वस्थ बनाकर उसे शीघ्र निर्बल और मृत्युग्रास बना देता है। आर्यजातिने इस रहस्यको भुला दिया और उसने व्यक्तिगत वैषम्यको सामाजिक संगठनमें स्थान देकर इसको निर्बल बना दिया। व्यक्तिकी बडी शक्ति भी समाजके लिये उपयोगी नहीं हो सकी। अब जो समाजरचना होगी उसमें व्यक्ति-वैषम्यको अधिक बढने न देकर उसे समाजके लिये उपयोगी बनाया जायेगा। हमारे अंग सीधे भी हैं, टेढे भी; परन्तु वे शरीरकी सुन्दरतामें बाधक नहीं होते। बाधक होते ही काट-छाँट आरंभ कर दी जाती है। व्यक्ति और समाजका तादात्म्य और ऐकात्म्य ही दोनोंको सबल और सुखी कर सकेगा। इति।

क्या वेदमें केवल यौगिकता है?

(लेखक— पं० श्री दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वत, प्रिन्सिपल सं. हिंदी महाविद्यालय, दरीबा, देहली)

आजकल वेदमें अपने मनमाने अर्थ निकालनेके लिये अर्वाचीन विद्वानोंका बहुत प्रयत्न दीख पडता है। 'वेद क्या कहता है' यह उपेक्षित करके 'वेदमें हमारे सिद्धान्त निकलने चाहियें' इसमें उनका ध्यान रहता है। इसी कारण उन्होंने वेदमें केवल यौगिकतावादका आश्रय ले रखा है।

उनका अभिप्राय यह है कि 'वेदमें यौगिकही शब्द हैं, रूढ अथवा योगरूढ नहीं'। अपने पक्षकी 'पुष्टिमें वे श्री यास्कके 'सर्वाणि आख्यातजानि नामानि' (१।१२।२) इस सिद्धान्तको संकेतित करते हैं। परन्तु उनका यह प्रयत्न वहाँ रहता है; जहाँ कोई पुराण, इतिहाससे सम्बन्ध रखनेवाला प्रकरण हो। पुराण-विषयसे तटस्थ वेदस्थलमें तो वे स्वयंही रूढ-योगरूढ अर्थ किया करते हैं।

जैसे कि निम्न शब्दोंमें-'गोक्षीर' (अथर्व. २।२६।४), 'सूर्य' (अथर्व. १।१०।३४), 'पृथिवी' (अ० १२।१।१), 'पिप्पली' (अ० ६।१०९।१), 'गुग्गुलु' (अ० १९।३८।१), 'पृश्निपर्णी' (अ० २।२५।१), 'स्त्री' (ऋ० ५।६१।६)' 'क्रिमि' (अथ० ५।३३।३), 'आर्य' (ऋ० ९।६३।५), 'आलिगी, विलिगी' (अ० ५।१३।७), 'ताबुव' (अ० ५।१३।१०) 'तैयात' (अ० ५।१८।४) एतदादिक वैदिक शब्दोंको वे रूढ वा योगरूढ शब्दोंकी तरह व्याख्यात करते हैं। यदि हम उसकी सारी सूची तय्यार करें, तो एक लघु पुस्तक बन जाय।

वास्तवमें उन आधुनिक विद्वानोंका यह सिद्धान्त कि-वेदमें यौगिकता ही केवल हुआ करती है-सर्वथा निर्मूल है। वेदमें प्रकरण आदिकी व्यवस्थासे रूढ भी शब्द होते हैं, यौगिक भी; योगरूढ भी शब्द होते हैं यौगिकरूढ भी। जोकि-वे विद्वान् केवल यौगिकताको सिद्ध करनेके लिये यास्कके सिद्धान्तका सङ्केत देते हैं; इसमें उनकी ही भ्रान्ति है; श्रीयास्कका वैसा आशय नहीं है। यास्कका सिद्धान्त ठीक है कि-सब संस्कृत नाम आख्यात (धातु) से बनते हैं। कोई भी नाम (शब्द) चाहे वह रूढ हो वा योगरूढ-आख्यातसे रहित नहीं हुआ करता; यह श्री यास्कका अभिप्राय है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि-वेदमें यौगिक ही शब्द हैं, भिन्न नहीं।

इसका तात्पर्य तो यह है- कि न केवल वेदमें (क्योंकि-उसने वेदका नाम नहीं लिया) प्रत्युत सर्वत्र ही-चाहे लोक हो वा वेद-'नाम' आख्यातज हुआ करते हैं इसी कारण ही लौकिक 'अमरकोष' आदिकी 'सुधा' व्याख्या आदिमें रूढ-योगरूढ शब्दोंमें भी प्रकृति-प्रत्यय दिखलाकर व्युत्पत्तियाँ की गई हैं।

परन्तु जिस नाम (शब्द) में उस-उस आख्यात (धातु) के विद्यमान होनेपर भी उस आख्यातके अनुसार अर्थ नहीं मिलता। वह रूढिशब्द है अर्थात् वहाँ रूढिसे अर्थ होता है। जैसे कि-स्वा० दयानन्दजीने भी 'नामिक' के द्वितीय पृष्ठमें लिखा है-" रूढि उसको कहते हैं, जिनमें प्रकृति और प्रत्ययका अर्थ न घटता हो; किन्तु वे संज्ञादि बोधक हों; जैसे-खट्वा, माला, शाला इत्यादि"। इस स्वामीजीके वचनसे सिद्ध होता है कि रूढि शब्दोंमें भी अन्य शब्दोंकी तरह प्रकृति-प्रत्यय तो होते हैं; केवल उस शब्दमें प्रकृति-प्रत्ययका अर्थ नहीं मिलता। इससे हमारा पक्ष सिद्ध हुआ वेदमें इस प्रकारके शब्द दुर्लभ नहीं हैं।

अथवा— 'चित्रकर्मणि कुशलः' यहाँपर 'सर्वाणि आख्यातजानि नामानि' इस सिद्धान्तके अनुसार 'कुशान् लाति' यह आख्यातके अनुसार अर्थ है और वह मुख्य है; परन्तु वह प्रकरणमें नहीं घट सकता; तब रूढिसे चतुर अर्थमें हो जाता है। यही इस शब्दकी आख्यातज होनेपर भी रूढिता हुआ करती है। इसलिये 'मीमांसा-दर्शन' शाबर--भाष्यमें कहा है- 'कुशलः-प्रवीण इति, बहुषु कुशानां लातुगुंणेषु सत्सु निपुणतायामेव कुशल शब्दो रोहात् रूढि शब्द एव भवति। बहुषु च वीणावादस्य गुणेषु सत्सु निपुणे एव प्रवीण-शब्दो वर्तमानो रूढ इत्युच्यते। तस्मात् सत्यपि लक्षणात्वे श्रुतिसामर्थ्यात् रोहति शब्दः' (६।७।२२) इसी प्रकार किसी अन्धेका नाम कमल-

मथन है। यहाँपर आख्यातजत्वके सिद्धान्तवश ‘ कनक-मथन ’ पदकी व्युत्पत्ति होनेपर भी उस पुरुषमें वह अर्थ न मिलनेसे वह शब्द आख्यातज होता हुआ भी रूढि शब्द गिना जाता है ।

वैयाकरणोंको मालूम होगा कि–‘महाभाष्य’ में प्रत्याहाराह्निकमें ‘ ऋलृक् ’ इस शिवसूत्रमें वार्तिककारने यदृच्छा शब्दोंका खण्डन करके जाति-शब्द, गुणशब्द तथा क्रियाशब्द ये तीन शब्द स्वीकार किये हैं। भाष्यकारने भी इनका खण्डन न करके उसमें अपनी अनुमति सूचित की है। परन्तु उस भाष्य-सन्दर्भका यह आशय नहीं कि–‘यदृच्छा’ शब्द (रूढिशब्द) संस्कृत-संसारमें है ही नहीं; वरन् यह आशय है कि—यदृच्छा-शब्द भी व्याकरणानुगृहीत ही होने चाहियें; जैसे कि-‘ लृतक ’ नाम न रखकर ‘ ऋतक ’ नाम रखना चाहिये। इस प्रकार जब वे यदृच्छा शब्द भी व्याकरणानुशिष्ट होंगे; तब उनका गुण, क्रिया अथवा जाति शब्दमें अन्तर्भाव हो जानेसे वे पृथक् नहीं गिने जाएँगे। परन्तु गुणशब्द वा क्रिया शब्द माने जानेपर भी जिसमें वह गुण वा क्रिया न मिले, जैसे ‘ ऋतक ’ नामवाले पुरुषमें ऋति-क्रिया न दिखलाई पड़े; वह गुणशब्द वा क्रियाशब्द होता हुआ भी यदृच्छा नामवाला या रूढि नामवाला होता है। जैसे कि—

किसीका नाम ‘ तुलसीराम ’ है। यदि वह तुलसीमें वा तुलसीसे रमण (क्रीडा-मनोरञ्जन) करता है, वा तुलसीको प्रसन्न रखता है; तब तो वह गुणशब्द वा क्रियाशब्द है। यदि वैसा गुण वा क्रिया नहीं रखता; तब वह गुणशब्द अथवा क्रियाशब्द होता हुआ भी यदृच्छा शब्दही है। इसी कारण ही ‘ काव्यप्रकाश ’ प्रणेता भट्ट मम्मटने द्वितीय उल्लासमें सङ्केतित निरूपणमें ‘ न सन्ति यदृच्छा शब्दाश्चतुर्थाः ’ इस भाष्योक्तिको जानते हुए भी “ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकारः ” यह महाभाष्यका मत दिया है। अन्यथा भट्ट मम्मट मूर्ख नहीं थे कि–उनके सिद्धान्तके विरुद्ध उनका मत देते। उनका तत्त्व हमने पहले बता दिया है।

इधर ‘ महाभाष्य’ में सन्ति यदृच्छा शब्दा इति कृत्वा प्रयोजनमुक्तम्, न सन्ति-इति परिहारः। समानं चार्थे शास्त्रान्वितोऽशास्त्रान्वितस्य व्यावर्तको भवति। यथा-देवदत्त शब्दो देवदिण्ण शब्दं व्यावर्तयति, न गाव्यादीन् ’ इस पूर्वपक्षका– ‘ नैष दोषः; पक्षान्तरैरपि परिहाराः भवा[न्ति] ’ यह दीला उत्तर देखनेसे रूढि शब्दोंकी सत्ता सिद्ध होती है। इससे स्पष्ट है कि-जो शब्द आख्यातज हो; पर उसका अर्थ तच्छब्दवाच्य उसमें न घटे; वही रूढि शब्द है। ‘ महाभाष्य ’ १।१।१ सूत्रमें भी “ वेदेऽपि याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति-स्फ्यो यूपश्चषालः-इति। तत्र भवतामुपचारः। अन्येऽपि जानन्ति- इयमस्य संज्ञा इति ” इससे भी वेद-संज्ञाशब्द रूढिशब्द सिद्ध हुए।

‘ श्री ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने ’ वेद-सम्मेलन (२३।१०।१९४३) के भाषणमें वेदमें केवल यौगिकतावादकी पुष्टि करते हुए उसमें यास्ककी जो कि–यह साक्षी दी है कि–“ यास्क यौगिकवादका परम पोषक है। यास्कके समस्त निर्वचन इसीके प्रमाण हैं। “ अयमपि इतरः शिर एतस्मादेव ” इत्यादि वचनोंका क्या अभिप्राय है ? ” यह कथन तो व्यर्थ है। यदि यास्कके अनुसार वेदमात्रमें ‘ शिरः ’ शब्द केवल आदित्यवाचक होता, ‘ सिर ’ वाचक नहीं; तब तो जिज्ञासुजीका वचन कथंचित् ठीक था; परन्तु ऐसा है नहीं।

‘ इन्द्रः शिरो, अग्निर्ललाटम् ’ (अथर्व० ९।७।१) इत्यादि बहुत मन्त्रोंमें ‘ शिरः ’ शब्दका अर्थ लोकका तरह ‘ सिर ’ ही है। बल्कि यास्कने भी जिज्ञासुजीके अनुसार लोकप्रसिद्ध ‘ शिरः ’ शब्दमें भी वही धातु मानी है जिसे आदित्य-वाचक ‘ शिरः ’ शब्दमें माना था। इससे उसके मतमें भी लोक तथा वेदमें सभी स्थलमें यौगिकता तथा योगरूढिता है। उसके मतमें यौगिकताका एकमात्र नियम नहीं। तब इससे जिज्ञासुजीकी कोई भी इष्टसिद्धि नहीं, बल्कि उनके मतमें अनिष्टापत्ति ही है। क्योंकि लोकरूढ शब्द भी वेदमें लोकरूढ अर्थमें भी देखे गये हैं। तब इससे हमारा ही अभिमत सिद्ध हुआ।

आधुनिक विद्वान् लोग भी पाणिनिको भी माननीय मानते हैं। श्री पाणिनिने औणादिक शब्दोंको प्रकृति-प्रत्ययसे रहित अव्युत्पन्न माना है। इसीलिये ही तो ‘ अतः कृकमिकंस- ’ (८।३।४६) इस सूत्रमें ‘ कमु ’ धातुसेही ‘ कंस ’ का ग्रहण हो सकता था, (जैसे कि– इस सूत्रमें ‘ कृ ’ धातुसे ‘ कारः ’ का ग्रहण हो जाता है) तथापि वैयाकरणोंके प्रसिद्ध शत्रु ‘ गौरव ’ से भी न डरकर भी पाणिनिने उस ‘ कंस ’ शब्दका प्रयोग किया है; इसमें केवल यही कारण है कि– श्री पाणिनि औणादिक शब्दोंको

...कई वेदमें भी सुलभ हैं- रूढ मानते हैं।

...कई वेदमें भी पाणिनि कृत् तद्धितसे भिन्न अव्युत्पन्न शब्दों ... श्री पाणिनि ... 'अर्थवद् धातु- (१।२।४५) इस सूत्रसे प्रातिपदिक संज्ञा करके उनके आगे विभक्ति लगाते हैं। तब पाणिनिके मतमें वेदमें भी रूढि शब्दोंकी सत्ता सिद्ध हुई, क्योंकि- वेदमें सभी कृदन्त तथा तद्धितान्त शब्द नहीं। इसी ...में स्वा० दयानन्दजीने 'नामिक' के द्वितीय पृष्ठमें लिखा है, "पाणिनि आदि रूढि भी मानते हैं।"

यदि ऐसा है, और पाणिनिकी 'अष्टाध्यायी' वेदाङ्ग मानी जाती है, और उसकी व्याख्याको 'वेदाङ्गप्रकाश' माना जाता है; और पाणिनिको वेदज्ञ भी माना जाता है, तब वेदमें भी पाणिनिके अनुसार रूढ शब्दोंकी सत्ता सिद्ध हुई। इसीलिये ही श्री यास्कने 'न सर्वाणि आख्यातजानि नामानि' इस पक्षका पोषक गार्ग्यको कहकर फिर 'वैयाकरणानां चैके' (निरु० १।१२।२) इस स्थलमें अपने प्राग्भव पाणिनिका सङ्केत किया है। इसलिये 'महाभाष्यकार' ने भी 'आयनेयी' (७।१।२) इस सूत्रमें 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि' यह माना है। इसी प्रकार 'आदेश प्रत्यययोः' (८।३।५९) इस सूत्रमें भी उन्होंने औणादिक शब्दोंमें प्रकृति--प्रत्ययके विभागका व्युत्पादन है, या नहीं है ये दो पक्ष माने हैं। इस प्रकार वेदमें भी रूढ-योगरूढ शब्द सिद्ध हुए।

इसके अतिरिक्त जिस शब्दके अर्थगत धर्म उस शब्दसे वाच्यमें भी प्राप्त हों; अन्यत्र भी अतिव्याप्त हों, उनमें एकमें ही नियमन करनेपर योगरूढिता हुआ करती है। रूढि शब्द सिद्ध होनेपर भी जैसे वह यास्कका सिद्धान्त विघात को प्राप्त नहीं होता, वैसेही योगरूढिता माननेपर भी उक्त सिद्धान्तमें क्षति नहीं पड़ती। 'पङ्कज' पद यौगिक होनेपर कीट, कमल आदि बहुतोंका वाचक होता हुआ भी कमलमें नियमित होता है। अतएव यह शब्द आख्यातज होनेपर भी योगरूढ है। स्वा० दयानन्दजीने योगरूढका उदाहरण 'नामिक' के द्वितीय पृष्ठमें 'दामोदर' शब्द दिया है। श्री यास्कने भी 'परिव्राजको भूमिजः' (निरुक्त ११।४।२) इस प्रकार 'बिल्वादः, लम्बचूडकः' (नि० ११।४।७) एतदादि योगरूढ शब्द स्वयं उदाहृत किये हैं। वहाँ उनका यह अभिप्राय है कि कई संन्यासी आदि परिव्रजन क्रियासे उस शब्दसे कहे जाते हैं, और कई भिन्न पुरुष व्रजन (गमन) क्रियासे युक्त होनेपर भी 'परिव्राजक' नामसे नहीं कहे जाते। यही योगरूढिता हुआ करती है। आगे बिल्वका फल खानेवाला होनेपर भी; भविष्यमें लम्बी शिखावाला होनेपर भी अब उस क्रियाका अर्थ न मिलनेसे बिल्वाद तथा लम्बचूडक नाम रूढि होनेके योग्य हैं।

वेदमें यौगिक शब्दोंको तो आधुनिक विद्वान् भी मानते ही हैं, पूर्व कहे हुए प्रकारसे अब उसमें रूढि तथा योगरूढि शब्द भी सिद्ध हो गये। स्वा० दयानन्दजीने 'नामिक' के द्वितीय पृष्ठमें रूढि शब्दोंके विषयमें लिखा है- 'रूढि उनको कहते हैं कि- जिनमें प्रकृति और प्रत्ययका अर्थ न घटता हो, किन्तु वे पदार्थवाचक हों, जैसे खट्वा, माला, शाला इत्यादि' अब देखना चाहिये कि वेदमें इनमें कोई शब्द मिलता है वा नहीं? यदि मिल जाए; तो मानना पड़ेगा कि- वेदमें भी रूढि शब्द हैं। अब देखिये वेदमें 'शाला' शब्द। 'शालाया विश्ववारायाः (अथर्व० ५।३।१) यहाँ पर स्वा० दयानन्दजीकी 'संस्कार-विधि' का २१६ पृष्ठ देखना चाहिये। इस प्रकार अन्य शब्द भी ढूंढे जा सकते हैं।

यौगिक रूढ शब्द भी वेदमें हैं। बल्कि उनका उदाहरण वेदकाही 'उद्भिद्' पद प्रसिद्ध है। 'उद्भिदा यजेत' यह श्रुति 'मीमांसा--दर्शन' (१।४ १-२ सूत्रके भाष्य) में उद्धृत की गई है। वह 'उद्भिद्' पद यौगिकतामें वृक्षको तथा रूढितामें यज्ञविशेषको बतलाता है। यदि वेदमें रूढि शब्द सर्वथा नहीं; तो 'अपि वा नामधेयं स्यात्' (मी० द० १।४।२) यहाँपर मीमांसाकारने 'उद्भिद्' आदिको वेदमें कर्मविशेषका नाम कैसे माना है? तब वेदमें भी रूढ, योगरूढ, यौगिक और योगरूढ ये चार प्रकारके शब्द सिद्ध हो गये। तब वेदमें केवल यौगिकता मानना ठीक नहीं है।

वेदमें 'मर्य इव योषाम्' (अथर्व० १४।२।३७) इस मन्त्रमें यदि 'मर्य' शब्द 'मनुष्य' अर्थमें रूढ है, तो 'स मर्यः' (ऋ० १।७७।३) इस मन्त्रमें अग्निका विशेषण होनेसे 'मारक' अर्थमें यौगिक भी है। इस प्रकार 'यत्रा नरो देवयन्तः' (अथर्व० २०।१०७।१५) यहाँ यदि 'नृ' शब्द मनुष्य अर्थमें रूढ है, तो 'दिवो नरः' (ऋ० २।६४।७)

इस मरुत् देवताके मन्त्रमें ' नेतारः ' इस अर्थमें यौगिक भी है। इसी प्रकार 'नृणां नृतम।' (ऋ० ६।२३।२) इस इन्द्र-देवताके मन्त्रमें 'नेतॄणां मध्ये अतिशयेन नेतः।' इस तरह सायण आदियोंने यौगिक अर्थ करके युक्तताही की है। ' पुरुषः पशुः ' (अथर्व० ८।२।२५) इस मन्त्रमें यदि ' पशु ' शब्द गज आदि शब्दोंमें रूढ है; तो 'विद्वान् अनष्ट-पशुः ' (ऋ० १०।१७।३) इस पूषा देवताके मन्त्रमें 'पशु' शब्द ' ज्ञान ' अर्थमें यौगिक है। ' अनष्ट-पशुः ' अर्थात् अप्रतिहत ज्ञानवाला।

इस प्रकार ' तस्मै पावक। ' (ऋ० १।१३।९) यहाँपर यदि 'पावक' शब्द अग्निमें रूढ है, तो ' समुद्रार्था याः शुचयः पावकाः, ता आपो देवीरिह मामवन्तु ' (ऋ० ७।४९।२) यहाँपर अप् देवता होनेसे 'पावका' शब्द यौगिक है। 'पुरन्धियोंषा ' (वा. य. २२।२२) इस मन्त्रमें यदि ' योषा ' शब्द स्त्रीके अर्थमें रूढ है; तो ' शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपः ' (अथर्व. ११।१।१७) इत्यादि मन्त्रोंमें 'योषित्' शब्द जलोंके अर्थमें यौगिक है। यदि ' देवान्, मनुष्यान्, असुरान्, (अथर्व. ८।९।२४) यहाँपर ' असुर ' शब्द देव विरोधी दैत्य अर्थमें रूढ है, तो ' ये च देवा रक्षा नून् पाहि असुर। त्वमस्मान् ' (ऋ० १।१७४।१) यहाँपर ' असुर ' शब्द इन्द्र-देवके लिये ' बलवान् ' इस अर्थमें यौगिक रूपसे प्रयुक्त हुआ है। ' माऽप स्थातं महिषेव अवपानात् ' (ऋ० १०।१०६।२) यहाँपर ' महिष ' शब्द ' पशुविशेष ' अर्थमें रूढ है; तो ' अपामुपस्थे महिषाः ' (ऋ०६।८।४) यहाँपर 'महान्' अर्थमें वह यौगिक है, जैसा कि-- 'निरुक्त' में ' महान्तो माध्यमिका देवगणाः ' (निरु. ७।२६।१)।

यदि ' वह्नि ' शब्द वेदमें 'वह्निं यशसं' (ऋ० १।६०।१) इत्यादि मन्त्रोंमें अग्नि अर्थमें रूढ है; तो ' यदी मातरो जनयन्त वह्निम् ' (ऋ० ३।३१।२) इन मन्त्रोंमें ' वह्नि ' शब्द ' पुत्र ' अर्थमें यौगिक है। इस प्रकार वेदमें यौगिक योगरूढ और यौगिकरूढ शब्द सिद्ध हो गये।

जो आधुनिक विद्वान् लोग ' वेदमें केवल यौगिकता है ' इस हठमें विराजमान हैं, वे स्वा० दयानन्दजीके वचनोंको सुनें। अपनी ' नामिक ' पुस्तकके द्वितीय पृष्ठमें स्वामीजीने लिखा है– "यास्क-मुनि आदि निरुक्तकार और वैयाकरणोंमें शाकटायन मुनि सब शब्दोंको धातुसे निष्पन्न अर्थात् यौगिक और योगरूढि ही मानते हैं और पाणिनि रूढि भी मानते हैं; परन्तु सब ऋषि मुनि वैदिक शब्दों को यौगिक और योगरूढि तथा लौकिक शब्दोंको रूढि भी मानते हैं "

इसी प्रकार स्वा० श्री दयानन्दजीने 'निघण्टु वैदिक कोष' नामक अपनी पुस्तककी भूमिकामें भी लिखा है--' यह स्पष्ट वेदमें यौगिक और योगरूढि आते हैं, केवल रूढि नहीं। कितने स्पष्ट शब्द हैं। यहाँपर स्वामीजीने वेदमें योगरूढ शब्द भी माने हैं, जिन्हें कई आधुनिक विद्वान् नहीं मानते जिनसे हमारे पक्षकी पुष्टि होती है। वेदमें केवल रूढि शब्दोंको हम भी नहीं मानते, किन्तु रूढि भी, तथा योग रूढि भी, यौगिक भी और यौगिक रूढ भी। इस पुस्तककी भूमिकामें स्वा० दयानन्दने लिखा है कि--वेदमें ' पर्वत ' शब्दका अर्थमें यौगिकतामें ' मेघ ' है, पर पौराणिक लोग ' पहाड ' यह रूढार्थ उसमें लिया करते हैं। पर स्वामीजीने भी वेदमें जहाँ 'पर्वत' शब्दका अर्थ 'मेघ' किया है, वहाँ यजुर्वेदके १७।१; १८।१३ आदि मन्त्रोंमें ' पर्वत ' शब्दका ' पहाड ' यह रूढार्थ भी भाष्यमें किया है।

श्रीसायणाचार्यने अपने भाष्यमें 'पर्वत' का मेघ अर्थ भी प्रकरणानुसार किया है। श्री सायणको पौराणिक भाष्यकार माना जाता है। इस प्रकार वहीं स्वामीजीने लिखा है कि वेदमें ' अहि ' शब्दका ' मेघ ' अर्थ है; पर पौराणिक उसमें 'सर्प' का अर्थ करते हैं; परन्तु हम कहते हैं कि वेदमें उक्त दोनोंही अर्थ हैं- 'अरसास इह अहयः' (अथर्व. १०।४।९)

यहाँपर ' अहि ' का ' सर्प ' अर्थ स्पष्टही है। पौराणिक कहे जाते हुए सायणने भी प्रकरणानुसार ' मेघ ' अर्थ भी किया है। इससे स्पष्ट है कि-- यदि वेदमें यौगिक शब्द हैं, तो उसमें रूढ, योगरूढ शब्द भी हैं, अन्यथा वेदमें मिला हुआ ' वेद ' शब्द भी रूढ नहीं माना जाना चाहिये किन्तु सर्वत्र ज्ञानका पर्यायवाचक मानकर उसे यौगिक मानना चाहिये। वृषादि गण (अष्टाध्यायी ६।१।२०३) में पढा हुआ ' वेद ' शब्द रूढ माना जाता है, उञ्छादि गणमें (६।१।१६०) पढा हुआ ' वेद ' शब्द यौगिक माना जाता है।

इससे सिद्ध हुआ कि- जो आधुनिक लोग वेदमें पुराण

[दे]खा देखकर वहाँपर यौगिकताके करनेमें परिश्रम करते [हैं], उनका वह परिश्रम व्यर्थ है। वेदोंके निष्पक्ष भाष्यकार श्रीपाद दामोदर सातवलेकर महोदयने भी अपने वेदभाष्य [में] प्रकरणानुसार रूढ, यौगिक, योगरूढ आदि सभी शब्द [मा]नकर वैसेही अर्थ किये हैं। उन्ही महोदयने अपनी [']महाभारत 'की समालोचना ' के दूसरे भाग पृष्ठ ११७में [लि]खा है-- हमारा भी पक्ष है कि-- इन शब्दोंका यौगिक [अ]र्थ भी है; परन्तु वह अर्थ आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानविषय[क]का विचार करनेके समय उपयोगी है। ऐतिहासिक [ख]ोजके लिये वह अर्थ लेना योग्य भी नहीं है। निरुक्तकार आध्यात्मिक अर्थकी सूचना यौगिक अर्थके द्वारा बताते हुए ऐतिहासिक तात्पर्य भी साथ साथ बताते हैं।"

जो आधुनिक लोग अपने इष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये वेदमें यौगिकतामात्र चाहते हैं, और वेदमें रूढि, योगरूढि अर्थ माननेवालोंपर आक्षेप करते हैं; वे ही अपने अर्थकी सिद्धिके लिये, अपने सिद्धान्तके लिये वेदमें रूढ अर्थ भी करने लग जाया करते हैं। वे ' हस्तग्राभस्य दिधिषोः ' (ऋ० १०।१८।८)' पुनर्भवापरः पतिः ' (अथर्व० ९।५।२८) इत्यादि मन्त्रोंमें ' दिधिषोः ' का ' गर्भस्य निधातुः ' इस यौगिक अर्थको छोडकर ' पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विरस्या दिधिषूः पतिः ' (२।६।२३) इत्यादि ' अमर-कोष 'के वचनका अवलम्बन करके रूढिसे अर्थ करते हैं। इस प्रकार ' पुनर्भू ' शब्दका। इस प्रकार वे मरुत्सूक्तोंमें ' नरः ' का ' नेतारः ' यह यौगिक अर्थ छोडकर रूढिसे मनुष्य अर्थ लेने लग जाते हैं।

अवशिष्ट यह प्रश्न रह जाता है कि-- यदि वेदमें यौगिक अर्थ न किया जाय; तो वसिष्ठ आदिके वर्णनमें लगे वे वेद-स्थल अर्वाचीन मानने पड जायँगे, इसपर निवेदन यह है कि-क्या ऐसा कहनेवाले परमात्माके ज्ञानको ऐसा शिथिल मानते हैं कि-वह भविष्यद् दृष्टिसे वेदमें वसिष्ठ आदिका नाम वर्णित नहीं कर सकता ? इस विषयमें ' वेदान्त दर्शन 'के १।३।२९ सूत्रका शाङ्करभाष्य स्मर्तव्य है। वहाँ लिखा है-- ' चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठन् ' तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात् तमर्थमनुतिष्ठति, इति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दाः मनसि प्रादुर्बभूवुः। पश्चात् तदनुगतान् अर्थान् ससर्ज-इति गम्यते। तथा च श्रुतिः-' स भूरिति व्याहरत्, स भूमिमसृजत, (तै० ब्रा. २।२।४।२) इत्येवमादिका भूरादि शब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान् सृष्टान् दर्शयति "। ' जब कोई किसी पदार्थको बनाना चाहता है; तब उसके वाचक शब्दका पहले स्मरण करके पीछे उस पदार्थको बनाता है इस रीतिसे सृष्टिकर्ता ब्रह्माके भी मनमें पूर्व वैदिक शब्द प्रादुर्भूत हुए। पीछे उन वाचक शब्दोंसे वाच्य पदार्थको बनाया। इसमें एक श्रुति है कि-पहिले ब्रह्मा (प्रजापतिने) ' भू ' इस वैदिक शब्दको स्मरण किया, फिर भू पदार्थ (पृथिवीको) बनाया।,

' अथर्ववेद ' में ' सुहवमग्ने ! कृत्तिका, रोहिणी चास्तु, भद्रंमृगशिरः, शम् आर्द्रा। पुनर्वसू सूनृता, चारु पुष्यो, भानुराश्लेषा अयनं मघा मे (१९।७।२) पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ, चात्र हस्तः, चित्राः शिवा, स्वाति सुखो मे अस्तु। राधे विशाखे, सुहवाऽनुराधा, ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्टमूलम्. (१९।७।३) ' अन्नं पूर्वा रासन्तां मे अषाढा, ऊर्जं य हि उत्तरा आवहन्तु। अभिजित् मे रासतां पुण्यमेव, श्रवणः, श्रविष्ठाः (धनिष्ठा) कुर्वतां सुपुष्टिम्। (१९।७।४) ' आ मे महत् शतभिषग् वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा (पूर्वा भाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा) सुशर्म। आ रेवती चाऽश्वयुजौ (अश्विनी) भगंमे, आ मे रयिं भरण्य-आवहन्तु ' [अ० १९।७।५] इन मन्त्रोंमें क्रमसे २८ नक्षत्रोंके रूढि नाम हैं; और उनसे कल्याणकी प्रार्थनाकी गई है।

' सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्, दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ' [ऋ० १०।१९०।३] इसका अर्थ स्वा० दयानन्दजीने ' ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकाके ' २८ पृष्ठमें इस प्रकार किया है--" सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थम्। यथापूर्वकाले सूर्यचन्द्रादि रचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीत्; तथैव तेनास्मिन् कल्पेऽपि रचनं कृतम् "। यहाँपर स्वामीजीने भूतकालका अर्थ किया है स्वामी शङ्कराचार्यने इस मन्त्रका यह अर्थ किया है-यथा पूर्वस्मिन् कल्पे सूर्याचन्द्रमः प्रभृति जगत् क्लृप्तम्; तथा अस्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयत्-इत्यर्थः (वेदान्तदर्शने १।३।३०)।

' नासदासीत्, नोसदासीत् तदानीम् (ऋ० १०।१२९।१)

तम आसीद् तमसा गूळ्हमग्रे, अप्रकेतं सलिलं सर्वम् आः (आसीत्) इदम् (ऋ० १०।१२९।३) यहाँपर भी भूतकालका वर्णन स्पष्ट है। 'अग्ने! देवेषु प्र वोचः' (ऋ० १।२७।४) इस मन्त्रके भाष्यमें स्वा० दयानन्दजीने कहा है-'हे अनन्त विद्यामय जगदीश्वर! देवेषु सूर्यादि आप्तेषु अग्नि वाय्वादित्याङ्गिरस्सु मनुष्येषु प्रवोचः— प्रोक्तवान्'। यहाँपर स्वामीजीने वेदमेंही वेदके ग्रहण करनेवाले अग्नि आदि ऋषियोंका [?] यद्यपि वे ऋषि नहीं, किन्तु अङ्गिरा को छोड़कर देवता हैं— वर्णन किया है।

अब पूर्व मन्त्रोंको स्मरण करके यह कहना चाहिए कि [ऋ० १०।१९०।३] मन्त्र पूर्वकल्प या इस कल्पके सूर्य-चन्द्रकी रचनासे पीछे बनाया गया? क्या २८ नक्षत्रों की रचनाओंके बाद 'अथर्ववेद' बनाया गया? यदि यहाँ भविष्यत् कहकर समाधान किया जाय तो अन्य इतिहासोंमें भी वैसा माना जा सकता है, फिर यहाँ केवल यौगिकताका अवलम्बन किसलिये?

इसके अतिरिक्त यौगिकतामात्र माननेपर हजार व्याख्याकार वेदके हजार अर्थ कर देंगे। अध्याहृत किये जानेवाले पदके अध्याहारमें परस्पर विवाद उपस्थित होंगे। लाहौरके दैनिक 'हिन्दी मिलाप' पत्रके पाठकोंको स्मरण होगा कि उस पत्रमें [१३।१०।३५के अङ्कमें] श्रीचमूपति तथा श्रीप्रियरत्न आर्षका 'यास्क युग'के विषयमें विवाद चला था। उसमें श्री चमूपतिजी श्री प्रियरत्नजीको उलहना देते थे कि आप वेदके अतियौगिक अर्थ करते हैं, श्री प्रियरत्नजी श्री चमूपतिजीको यही उपालम्भ देते थे। इसके उदाहरण कभी फिर दिये जाएँगे।

कहनेका तात्पर्य यह है कि--यौगिकतामात्रके अवलम्बन करनेपर तरह-तरहके विवाद उपस्थित हो जायेंगे। तब तो वेदमें 'भर्ता'का अर्थ 'भ्राता' तथा 'भ्राता'का 'भर्ता' 'पिता'का अर्थ 'पति' और 'पति'का पिता, जाया का अर्थ 'माता' और 'भगिनी'का अर्थ पत्नी-- इस प्रकार अर्थ हो जायेंगे। कोई व्यवस्था नहीं रहेगी; बहुत उपप्लव [गड़बड़ी] उपस्थित होगा, अन्यथा वेद, वेद नहीं रह जायेंगे; वे मानवी बुद्धियोंका अड्डा बन जायेंगे।

अपने सिद्धान्तको बलात् निकालनेके लिये यदि यौगिकता वेदमें सिद्ध की जाएगी; तो इसी नीतिसे जैनी, बौद्ध, ईसाई तथा मुसलमान भी वेदसे बलात् अपने सिद्धान्त भी निकालनेमें सक्षम हो जायेंगे। दूसरी हानि स्व-सिद्धान्तके माननेवालोंकी होगी कि वे लोग जिन सिद्धान्तोंको मानते हैं, उसमें कारण है कि--वर्तमान काल उनको उनमें सुविधा है। सुविधाप्रियोंके लिये यदि उस मन चाही सुविधा सिद्धान्तित कर दी जाए, तो भविष्य कालमें उनको अबकी सुविधा भी असुविधा बन जाए; तब वे अन्य सुविधा चाहेंगे। तब उसे भी सिद्धान्त दिया जावे; तब पूर्व सुविधा उसके विरुद्ध जा बैठेगी। तब पूर्व सुविधावाले सिद्धान्तके अनुसारही किया हुआ वेदार्थ भी तब उन्हें अप्रिय होगा। तब वे भी इस केवल यौगिकतावादको अवलम्बन करके अपनी सुविधाके अनुसार वेद मन्त्रार्थ करके आधुनिकोंके वेदार्थको निराकृत कर देंगे। इसीका यह फल है कि पहले जिन मंत्रोंका नियोगपरक अर्थ माना जाता था; अब उन्हींका नियोगार्थ न करके विधवा विवाह परक अर्थ किया जाता है। तब तो यौगिकतामात्र सिद्धान्तवालोंकी दशा बगुलेके समान होगी।

एक बगुलेके बच्चोंको उसके निकटकी बिलमें रहनेवाला साँप खा जाता था। दुखी हुए बगुलेने साँपके मारनेके लिये केकड़ेसे उपाय पूछा। उसने अपना जातिशत्रु मानकर उसे आपाततः हितजनक उपाय बताया है कि तुम नेवलेका बिल ढूंढो। उसके बिलसे आरम्भ करके साँपके बिलतक मत्स्यमांसके टुकड़े रखते जाओ। उस मार्गसे चलकर नेवला साँपके बिलमें पहुँचकर उसे मार डालेगा। वैसाही हुआ। उस मार्गसे जाते हुए नेवलेने साँपको तो मार ही डाला, साथही स्त्रीसहित बगुलेको भी खा लिया। इस प्रकार जो यौगिकताका मार्ग आधुनिकोंको जिसने पहिले पहल दिखाया होगा; तो फिर आधुनिक अपने अभीष्ट अर्थ करके उसके अर्थको भी न मानेंगे। फिर इसके पीछे होनेवाले व्यक्ति अतियौगिक अर्थ करके इन आधुनिकोंके अर्थ भी खण्डित कर देंगे। यही अपने पैरोंपर आप कुल्हाड़ी मारना है, यह बात आधुनिक व्यक्ति नहीं सोचते।

अन्य बात यह है कि--वेदमें रूढि वा योगरूढि शब्द स्वीकार न करनेपर वेदमें सभी विशेषण शब्दही रह जाएँगे विशेष्य एक भी न रहेगा, क्योंकि रूढ वा योगरूढ शब्दही विशेष्य रहा करते हैं। यौगिक शब्द तो गुणवाची वा क्रियावाची होनेसे सदा विशेषणही रहा करेंगे। परन्तु यह बात

होगी। वेदमें विशेष्य शब्द भी हैं; तब उन्हें रूढि योगरूढि मानना पड़ेगा। इससे हमाराही पक्ष सिद्ध

स्वा० दयानन्दजी ने 'संस्कारविधि' में वेदारम्भ संस्कार …२ पृष्ठमें लिखा है– 'यौगिक, योगरूढि और रूढि– प्रकारके शब्दोंके अर्थ यथावत् जानें,। इसकी टिप्पणीमें …मीजीने लिखा है— 'यौगिक जो क्रियाके साथ सम्बन्ध …; जैसे- पाचक, याजक आदि। योगरूढि जैसे- पङ्कज …आदि। रूढि, जैसे- धन, वन इत्यादि। यहाँपर स्वामीजीने रूढि शब्द धन वन आदि माने हैं। क्या ये शब्द वेदमें नहीं आते ? आते ही हैं। जैसे कि 'धनं न स्पन्द्रम्' (ऋ१०।४२।१) 'वनेषु' (वा० सं० ४।३१)। इस प्रकार यदि आते हैं; तो वेदमें रूढि शब्द भी सिद्ध हुए। योगरूढ तो वेदमें स्वामीजी भी मानते हैं- इस विषयमें हम उनकी साक्षी दे ही चुके हैं। इन्हीं स्वामीजीने अपने 'पारिभाषिक' के ११ पृष्ठमें २२ परिभाषामें कहा है–' उणादि प्रातिपदिक अव्युत्पन्न अर्थात् उनका सर्वत्र प्रकृति, प्रत्यय, कारक आदिसे यौगिक यथार्थ अर्थ नहीं लगता, अर्थात् उणादि शब्द बहुधा रूढि होते हैं''। यदि ऐसा है; तो उणादि प्रातिपदिक भी वेदमें दिखलाई पड़ते हैं; तो वेदमें रूढि शब्द भी सिद्ध हुए।

यदि रूढि- योगरूढशब्द वेदमें न माने जाएं; तो वेदका निघण्टु शब्दकोष ही व्यर्थ जाता है, क्योंकि निघण्टुमें वेदके रूढ-योगरूढ पर्यायवाचक ही तो संगृहीत हैं। आधुनिकोंके मतानुसार यौगिकतामात्र माननेपर तो वह वह शब्द नियत-वस्तुवाचक कभी नहीं हो सकता।

जैसे 'अमरकोष' लौकिक शब्दोंका संग्रहकोष है; वैसेही 'निघण्टु' भी वैदिक शब्दोंका संग्रह है। यदि उस उस शब्दके उस उस अर्थमें नियमन होनेसे 'अमरकोष' को रूढि शब्दोंवाला माना जाता है; तो 'निघण्टु' में भी तो वैसा ही है। यदि निघण्टु' में शब्दों के निर्वचनोंके कारण यौगिकता अथवा योगरूढिता मानी जावे; तो 'अमरकोष' में भी वैसे मानना चाहिये।

देखिये—उसकी 'व्याख्या सुधा' तथा अन्य व्याख्यायें। उनमें भी उन शब्दोंके निर्वचन किए हुए हैं। अब इस प्रकार दोनोंमें साम्य सिद्ध हुआ; तो 'अमरकोष' में केवल रूढिताका आक्षेप व्यर्थ है। महाभाष्यकार आदियोंने लोकमें भी 'न सन्ति यदृच्छाशब्दा:' कहकर रूढि शब्दोंकी सत्ता निषिद्ध कर दी है। इसीलिये श्री भानुजी दीक्षितने भी 'अमरकोष' की व्याख्या के आरम्भमें कहा है- ''यद्यपि 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति:' इति पक्षे संज्ञा शब्देषु व्युत्पत्तिर्नावश्यकी, तथापि शाकटायनाद्यभिमत त्रयीपक्षे व्युत्पत्तिः प्रदर्श्यते''

इस प्रकार लोक तथा वेदमें रूढि शब्दोंकी सत्ता तथा अमत्ता में साम्य ही सिद्ध हुआ। निश्चय तो 'सत्यार्थ प्रकाश' 'स्वामी दयानन्द' परोपकारिणी सभा' 'आर्यसमाज' गुरुकुल' आदि शब्दोंका भी हो सकता है; तथापि ये शब्द रूढि ही माने जाते हैं; केवल यौगिकता माननेपर इनकी पृथक् सत्ता ही नष्ट हो जायगी। फलतः, वेदमें योगरूढि तथा रूढिशब्द भी हैं। तब वेद जो कहे; वही मानना चाहिए; अपनी इच्छानुसार बलात् यौगिकताके द्वारा उससे मनमाने अर्थ निकालने अनुचित हैं।

गीताका राजकीय तत्त्वालोचन

श्रीमद्भगवद्गीतामें राज्यशासनसंबंधी जो निर्देश हैं, उसका स्पष्टीकरण करके भागवत-राज्यशासनका स्वरूप बतानेवाले …(पृष्ठ-संख्या। मूल्य २) डा० व्य० ॥)

व्यवहार-शुद्धि मंडल

[श्री. केदारनाथजी]

मानव-समाजका स्वास्थ्य, उत्कर्ष और उन्नति मानवोंके सद्‌गुणोंपर अवलंबित है। सत्य, प्रामाणिकता, उदारता, प्रेम, मित्रता, परस्पर उचित सहकार और सहानुभूतिके सिवा मानवी व्यवहारोंका चलना और मानव-समाजका कायम रहना बिलकुल असंभव है। मनुष्यको अगर मनुष्यका जीवन जीना हो तो, उसको मानव-धर्मका आश्रय कर लेना ही चाहिये। ये सारी बातें बिलकुल सत्य और साफ होते हुए भी, आज हम इन्हें भूल गये हैं। समाजमें हर तरह का असत्य और दुर्व्यवहार आज चल रहे हैं। धनही आज सबकी आराध्य वस्तु हो रही है। यह धन कमाते न्याय-अन्याय, नीति--अनीति वगैरहका ख्यालही नहीं किया जाता। बिना अनाजके लोग भूखे मरते हों, या बिना दवा के बीमार मर जाते हों तो, उसकी परवाहही नहीं की जाती। यह है आजकी लोगोंकी मनोदशा। इसीसे तो आज कालाबाजार, रिश्वतखोरी, अनुचित्त भ्रष्ट मिश्रण वगैरह दुर्व्यवहार बडे जोरों पर चल रहे हैं। स्वार्थ, द्रव्य-लाभ और तृष्णाके कारण, मानव अपनेही समाज पर आज अत्यंत निर्दय और कठोर प्रहार कर रहा है। इसीसे हम अपनी संतानके लिये, भविष्यकी पीढियोंके लिये, एक ऐसी दुनिया बना रहे हैं कि, जिसमें सुख और सदाचारसे जीवित रहना किसीको भी असंभव हो जाए।

भारत अब स्वतंत्र हो गया है। अब उसके हरएक दोष की जिम्मेवारी उसी पर है। भारतको दुनियाके स्वतंत्र और सुखसंपन्न राष्ट्रोंके बराबरीका दर्जा प्राप्त कराना, उसको वैभवशाली बनाना हमारा भारतीयोंका कर्तव्यही है। यह कर्तव्य पूरा करनेके प्रयत्नोंमें, पहले पहल हमें अपने प्रचलित व्यावसायिक पापचक्रको नष्ट कर देना चाहिये। यह पापचक्र करनेका एक मात्र सही सही उपाय है कि, हरएक व्यक्ति अपना अपना व्यक्तिगत व्यवहार शुद्ध करे। जिससे इस पापचक्रकी गति धीमी होते होते, एक दिन लोगोंके सामुदायिक प्रयत्नोंसे वह सदाके लिये नष्ट भी हो जाएगा।

इस उपाय योजना पर, खुद मेरी और मेरे अनेकों मित्रोंकी पूरी श्रद्धा होनेसे, इस प्रकारका प्रयत्न करनेके लिये हम उद्युक्त हो रहे हैं। हमने 'व्यवहार शुद्धि मंडल' की स्थापना की है। मंडलके उद्देश और मंडलकी कार्य-पद्धति निम्नानुसार है।

[१] प्रचलित व्यावसायिक दुर्व्यवहारोंसे पूरी तरह मुक्त होनेका भरसक प्रयत्न करनेवाला ही इस मंडलका सदस्य माना जाता है।

[२] व्यावसायिक दुर्व्यवहारोंको एकदम और सम्पूर्ण तया छोडनेवालोंको, सामान्य सदस्य और इन दुर्व्यवहारों को अपनी शक्तिके अनुसार आहिस्ता आहिस्ता छोडनेकी भरसक कोशिस करनेवालोंको, सहायक सदस्य माना जाता हैं। दोनों तरहके सदस्योंके लिये अलग अलग प्रवेश पत्र बनाने गये है।

[३] व्यवहारशुद्धिके सिद्धान्तको जो पूरी तरहसे मानते हैं, लेकिन किसी कारणवश जो प्रवेश पत्र नहीं भर दे सकते वे मंडलके हितचिंतक माने जाते हैं।

[४] प्रवेश पत्र भर देनेका उद्देश किसी सदस्यपर बाहरी दबाव डालनेका कदापि नहीं है। उसका उद्देश केवल यही है कि प्रवेश पत्र भर देनेवालेका हृदय उसे जागृत रखे और चेतावनी देता रहे।

[५] मंडलके प्रयत्नोंका एक मात्र उद्देश है कि, व्यवसायमें द्रव्यका लोभ कम होता जाए और व्यावसायिक शुद्धता बढती रहे। व्यवसाय करनेवाले अपने व्यवसायमें द्रव्य प्राप्तिका एक मात्र उद्देश न रखें।

हम लोगोंकी पूरी श्रद्धा है कि, मानव-जातिका स्वास्थ्य, उत्कर्ष और उन्नति मानवोंके सद्गुणों और सद्भावोंपरही निर्भर हैं।

पत्र व्यवहारका और मिलनेका पताः— शांतिकुंज नायगांव क्रॉस रोड. टे. नं. १०११७ दादर मुंबई नं १४

कुर्आन और बाइबलमें सूर्योपासना

' ला इलाह इल्लल्लाहु ' के वैदिक अर्थ

[लेखांक ४— अध्याय १०, ११]

(लेखक— श्री० गणपतराव या० गोरे, ३७३ मंगलवार 'यो' कोल्हापूर.)

(अध्याय १०)

इस्लामी कलमेके पूर्वार्धका मूल स्रोत

जिस कलमेके पूर्वार्धमें सारा इस्लाम समाया है, जो १० बार कुर्आनमें आया है, उसका मूल उगम वेदमें ही है।

इस लेखमालामें हमने इस्लामी कलमेके पूर्वार्धके अर्थ अपनी बुद्धिके अनुसार कई स्थानोंपर लगाए हैं। आज उन्हींको वेद तथा कुर्आनके प्रमाणोंसे पुष्ट करते हैं कि शंका शेष न रहे—

१. ला इलाह इल्लल्लाहु=बिना इलाके नहीं अल्लाह।

२. बिना आपः [प्रकृति=मरियम्] के नहीं अग्निः॥ वा० य० २७।२५॥

३. बिना उषाके चित्रं [सूर्य] नहीं ॥ ऋ १।९२।१३ ; वा० य० ३४।३३॥

४. बिना अदिति [मारियम्] के पुत्र [आदित्य=ईसा] नहीं ; ॥ ऋ ७।४१।२॥

५. बिना अदिति [कुमारी] के कुमार [ईसा=ब्रह्मचारी] नहीं ॥ ऋ. ७।४१।२॥

६. बिना अदिति [अक्षत योनि] के वन्ध्यापुत्र [सूर्य] नहीं ॥ ऋ ७।४१।२॥

७. बिना अदिति [प्रकृति=उषा] के अतृप्तस्य पुत्रः नहीं ॥ ऋ ७।४१।२॥

८. बिना अदितिके मन्यमानः नहीं ॥ ऋ ७।४१।२॥

९. " " तुरः नहीं ॥ ऋ. ७।४१।२॥

१०. " " भगः नहीं ॥ ऋ ७।४१।२॥

११. बिना अदितिके अपुत्रस्य पुत्र नहीं ॥ऋ७।४१।२॥

१२. बिना पृथिवी [प्रकृति=मरियम्] के ईसा [सूर्य] नहीं ॥ कुर्आन ३।५९, १९।३५॥

१३. बिना पृथिवीके आदम [आ = गति करता हो + दम्=प्राण जिसमें=प्राणी] नहीं ॥ कुर्आन ३।५९, १९।३५॥

१४. बिना ईसा [ईशा=सूर्य] के आदम [मनुष्य वा प्राणी] नहीं ॥ कुर्आन ३।५९; १९।३५॥

१५. बिना अमैथुनी उत्पत्ति=' कुन् ' के सृष्ट्यारंभ नहीं ॥ कुर्आन ३।५९; १९।३५ तथा कससुलंबियाकी कथा॥

१६. बिना प्रकृतिके वृक्ष नहीं ॥ कससुलंबियाकी कथा॥

१७. बिना मरियम्के ईसा नहीं ॥" " " तथा कुर्आन ३।५९; १९।३५॥

१८. बिना मरियम् [प्रकृति] के अल्लाहका ' कुन '=होजा=निमित्त नहीं ॥ कससुलंबियाकी कथा; कुर्आन ३।५९; १९।३५ आदि आदि॥

१९-२५ मुसलमान त्रैतवादी हैं !

१९. बिना मादे [प्रकृति] के अल्लाह [निराकार परमात्मा अथवा सूर्य अथवा आदम = जीवात्मा ये तीनों] नहीं ॥ कुर्आन ३।५९; १९।३५ आदि॥

स्पष्टीकरण—यहूदी, ईसाई और मुसलमान ये तीनों स्वयं बाइबल तथा कुर्आनके प्रमाणोंसे त्रैतवादी सिद्ध होते हैं ! इनमेंसे मुसलमान तो कदापि त्रैतवादी कहलाना नहीं चाहते ! साथ ही वे अल्लाहके साथ ही शैतान = इब्लीस = शर तथा अनेकों मलायकोंके अस्तित्वको

आदमसे पूर्व उपस्थित भी समझते हैं !!! ये प्रकृति और जीवात्मा ही तो हैं ! देखिए—

शैतान=क्षयतानः=नश्वर धागा = प्रकृतिजन्य पदार्थ = दृश्यमान जगत् Satan, Devil

इब्लीस = इलीविषः = एक राक्षस जिसे इन्द्रने पछाड़ा था। मायावी देव। प्रकृति।

शर = क्षर = क्षर पुरुष = प्रकृति।

अरबीके तीनों शब्द संस्कृत वा वैदिक है, और प्रकृति के वा मायाके अर्थ रखते हैं। शेष रहे मलायक=Angels इनका अर्थ है देव, विद्वान् पुरुष, देवदूत, रक्षक, देवता, परोपकारी पुरुष. इन सबका समावेश जीवात्माओंमें होता है। अतः कुर्आन त्रैतवादी सिद्ध होता है ! परंतु एक इससे भी बढिया युक्ति बाइबल-कुर्आन प्रतिपादित और भी देखिए—

२० वाणीसे जगदुत्पत्ति

१. बृहदारण्यकोपनिषद् १।२।५ में है—

तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत।

अर्थ— (तया वाचा) उस वाणीके द्वारा (तेन आत्मनः) उस आत्माने (इदं सर्वं) इस जडजंगम जगत्को (असृजत) उत्पन्न किया ॥ ५ ॥

यह वचन बाइबल तथा कुर्आनके अमैथुनी उत्पत्तिका मूल है। वाणीका अर्थ वेदवाणी है।

२. बाइबलमें अमैथुनी उत्पत्तिवाणीसे।

And God said, Let there be light: and there was light (Genesis 1:3)

अर्थ— और परमेश्वरने कहा, उजियाला हो; सो उजियाला हो गया ॥ उत्पत्ति १।३ ॥

३. कुर्आनमें अमैथुनी उत्पत्ति वाणीसे। अल्लाहके 'कुन'=Be=होजा कहनेसे जड चेतन जगत् सृष्ट्यारंभ में उत्पन्न हुआ, ऐसा सर्वत्र उल्लेख है— देखो कुर्आन ३।५९, १९।३५ जिनपर इसी अध्यायमें विचार हो चुका है।

भावार्थ— उपनिषद् कहता है कि वेदज्ञान अनश्वर अपौरुषेय है, अतः कल्पारंभमें उसीके अनुसार अमैथुनी या मैथुनी रचना हुआ करती है। इसके विपरीत बाइबल और कुर्आन कहते हैं कि अल्लाहके 'होजा' कहने ही अमैथुनी सृष्टिका प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न हो जाया करता है। हम वैदिक धर्मी उनकी इस युक्तिको भी मानकर उनसे पूछते हैं कि पादरी और मौलवीजी बताएं कि अल्लाहने जब प्रकृतिको कहा 'होजा' तो सूर्य, पृथिवी आदि बने और जब जीवको कहा 'होजा' तो आदम [आदि मनुष्य] उत्पन्न हो गया वा नहीं? इससे सिद्ध हुआ कि प्रकृति और जीव अल्लाहकी आज्ञा माननेके लिए सदा वर्तमान रहते हैं, और यही ईश्वर जीव प्रकृतिका त्रैत है, Triad वा Trinity है ! कुर्आन और बाइबलके ही आधारपर दी गई इस युक्तिका यहूदी ईसाई और मुसलमान कुछ भी उत्तर दे नहीं सकते ! अतः उन्हें स्वीकार ही करनी चाहिए। पाठक देखें कि सत्यको यदि ये तीनों बाइबल और कुर्आनमें से ही ग्रहण करें तो भी वे वैदिक धर्मी बन सकते हैं, अर्थात् वे वेद, बाइबल तथा कुर्आनके भेदभावको मिटाकर विश्वबंधुत्वकी प्राप्तिमें सहायक बन सकते हैं।

यहांतक हमने दो विभिन्न युक्तियोंसे सिद्ध किया है कि मुसलमान स्वयं कुर्आनकी शिक्षाके अनुसार भी त्रैतवादी सिद्ध होते हैं ! जब बिना मादेके अल्लाह भी नहीं रह सकता है, तो जीव किस प्रकार रह सकेगा? यहींसे आवागमनके सिद्धान्तकी उत्पत्ति होती है। अब तीसरी अकाट्य युक्ति भी सुनिए—

२१—बिना संपत्तिके संपादक नहीं =
बिनामिल्कियतके मालिक नहीं।

बिना धनके धनी नहीं

Without Property there is no proprietor.

बिना लक्ष्मीके विष्णु नहीं।

स्पष्टीकरण—वेद बाइबल और कुर्आन तीनों परमात्माको जीव और प्रकृतिका शाश्वत= अजली व अबदी= Eternal मालक समझते हैं। यह तभी हो सकता है, जब जीव और प्रकृति अल्लाहके साथ साथ सदा सर्वदा उपस्थित रहें ! इस प्रकार तीसरी बार स्वयं कुर्आनने सिद्ध किया कि १९ वां विधान सत्य है, और तदनुसार मुसलमान त्रैतवादी हैं !

अब १९ वें विधानका समर्थन चौथीवार कुर्आनसे ही लिए—

१९. बिना इलाके नहीं अल्लाह= बिना देवीके देव नहीं।

स्पष्टीकरण— 'इला' पदका अर्थ स्वयं अरबी-उर्दू कोशमें देवी दिया हुआ है। अतः भावार्थ हुआ, 'देवी नहीं तो देव नहीं'! अर्थात् स्वयं देव वा अल्लाहका अस्तित्व देवीके आस्तित्वपर आश्रित है! देवी मुखिया है—अल्लाह गौण सिद्ध हो रहे हैं! प्रकृतिके बिना अल्लाह ठहर नहीं सकते! फिर भला जीव किस प्रकार प्रकृतिसे परे रह सकेगा? कदापि नहीं!

१ प्रश्न— यह तो अल्लाहपर कलंक लगाना है।

उत्तर—जी हां! पर इसका उत्तरदायित्व आर्यजातिपर भी है, मुसलमानोंपर सर्वथा नहीं! जिस प्रकार वैदिक धर्मके कई स्थलोंका यथातथ्य अवतरण कुर्आनमें हुआ है, उसी प्रकार वैदिक अलंकारोंके अक्षरशः भाषान्तर और वेदमंत्रोंके हमारे किए हुए मिथ्या अर्थ भी कुर्आनको प्रभावित कर रहे हैं— देखिए—

क— अदितिको आदित्यकी, और उषाको सूर्यकी माता. वेदने अलंकारिक रूपमें बताया है, परंतु कुर्आनने इसको 'बिना इलाके नहीं अल्लाह' समझ लिया। अलंकारको न समझनेका फल!

ख— द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया.।

(ऋ. १।१६४।२०; अ. ९।९।२०)

इस मंत्रका प्रायः सभीने ऐसा अर्थ किया है कि साथ मिले हुये दो पक्षी (ईश्वर तथा जीव) एक ही (प्रकृतिरूपी) वृक्षपर साथ साथ रहते हैं इत्यादि॥ २०॥

यहां भी प्रकृतिका वृक्ष बडा और उसपर रहनेवाले ईश्वर और जीवस्वरूपी दो पक्षी छोटे सिद्ध हो रहे हैं। प्रकृति आश्रय देनेवाली और ईश्वर तथा जीव आश्रित सिद्ध हो रहे हैं। मुण्डकोपनिषद्में महात्मा नारायण स्वामीने इसी बातको विस्तारसे समझाया है। दैवत संहिता में विश्वे देवाः के 'गुणबोधकपदानि' के अंतर्गत ऋ० १।१६४।२० को निम्न प्रकार दिखाया गया है—

द्वा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

जीवात्मा स्वादु पिप्पलं अत्ति।

परमात्मा अनश्नन् अभि चाकशीति॥दै० सं० विश्वेदेवाः पृ० १५२॥ इससे भी परमात्माका प्रकृतिके वृक्षपर उपवास करते हुए देखते रहना सिद्ध हो रहा है। यहीं हमारी विचारधारा कलमेके पूर्वार्धमें 'ला इलाह इल्लल्लाहु = बिना प्रकृतिके वा देवीके नहीं अल्लाह' इस रूपमें उतरी! यह हमारेही मिथ्या अनुवाद की प्रतिच्छाया है!

२ प्रश्न-फिर भला मंत्रका वास्तविक अर्थ कैसा होना चाहिए था?

उत्तर-वृक्ष धातुका अर्थ है To accept = स्वीकारना; To select = चुनाव करना; To cover=आच्छादन करना; ढांकना, वा व्यापना॥ आपटे॥

अब विचारिये कि हमारी प्रार्थना कौन स्वीकार करता है? परमात्मा!

आवागमन वा मुक्तिके लिए जीवोंका चुनाव कौन करता है? परमात्मा!

वृक्षके समान जीवोंपर कौन छाया किये हुए है? परमात्मा!

ऋषि हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः। देवता कः (प्रजापतिः)

यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः॥ ऋ १०।१२१।२॥

कः = ब्रह्मन्, विष्णु, अग्नि, सूर्य॥ आपटे॥

'सूर्य' को हम कुर्आनका अल्लाह = परमात्मा पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं। यही कः 'प्रजापति' है —प्रकृति नहीं! अतः वृक्ष पदका अर्थ परमात्मा है—प्रकृति नहीं!

अर्थ—(यस्य) जिस सूर्य वा परमात्माकी (छाया) धूप, प्रकाश वा आश्रय (अमृतं) अमरपन = मुक्ति दिलानेवाला है, और (यस्य मृत्युः) जिससे मृत्यु भी प्राप्त होता है॥२॥

भावार्थ—सूर्य-किरणें ही मुक्त जीवोंको सूर्यलोक = मुक्ति-स्थानतक पहुंचाती हैं, और वहां जीवोंको आवागमनके चक्रपर चढाकर वारंवार मृत्युका दर्शन कराती है। अथवा मुक्ति और मृत्यु ये दोनों निराकार परमात्माकी अध्यक्षतामें प्राप्त होते हैं॥२॥

वृक्ष = सूर्य वा परमात्माकी छायाका इतना प्रभाव है।

अथर्ववेद १०।७ का स्कम्भ-सूक्त इसी सूर्य वा परमात्मा-रूपी वृक्षका वर्णन कर रहा है, यथा—

तस्मिञ्छ्रयन्ते स उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥अ० १०।७.३८॥

अर्थ—(ये उ के च देवाः) जितने देव हैं वे सब (तस्मिन्) उसी ' महत् यक्ष ' वा सूर्यमें (श्रयन्ते) इस प्रकार रहते है, (इव) जिस प्रकार (वृक्षस्य स्कन्धः) वृक्षके स्तंभ वा तनेके सहारे (परितः शाखाः) चारों ओर शाखाएं होती हैं ॥३८॥

इस प्रकार ' वृक्ष ' का अर्थ ' सूर्य ' वा परमात्मा करनेसे ऋग्वेद १।१६४।२० से २२ तक इन तीनों मंत्रोंका अर्थ सुसंगत हो जाता है । यही नहीं ऋ० १०।१३५।१ का यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे०, मुण्डकोपनिषद् ३।१।२ का समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो०, कठोपनिषद् ६।१ का ऊर्ध्व मूलोऽवाक् शाख, भगवद्गीता १५।१ का उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं०, वा० य० १७।२० का किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस० इन सब मंत्रोंका अर्थ भी सुसंगत हो जाता है ।

वेदका ऐसा भाष्य जो आजसे १४०० वर्ष पूर्व किया गया हो और जिसमें ऋ. १।१६४।२० वा इसी प्रकारके किसी अन्य मंत्रका अर्थ इसी प्रकार भ्रमोत्पादक किया गया हो उसका पता विद्वान लगाएं। मेरी तो दृढ धारणा यही है कि ला इलाह इल्लाहु पदके जो श्लेषात्मक अथवा मूर्तिपूजाके प्रतिपादक अर्थ कुर्आनमें किए गए हैं, उसका कुछ उत्तरदायित्व हमारे किए हुए मिथ्या वेदार्थ आदिपर भी पड सकता है ।

३ प्रश्न— आप ऐसा क्यों नहीं कहते कि यह प्रभाव मूर्तिपूजाके पक्षपाती पुराणोंसे कुर्आनमें उतरा है ?

उत्तर— १. पुराणोंकी बनावट अर्वाचीन कालकी अर्थात् आजसे लगभग १५०० वर्षोंके इधरकी ही है, अतः इनका प्रभाव १४०० वर्ष पूर्व बने हुए कुर्आनपर अरब स्थानमें जाकर पडना असंभव है।

२. पुराण मूर्तिपूजाके पोषक हैं, और कुर्आन कट्टर विरोधी ! इससे भी सिद्ध है कि कुर्आनपर पुराणका प्रभाव नहीं पडा है ।

३ पुराणोंसे प्राचीन वा कइयोंका समकालीन ईसाई मत है, और अध्याय ४ में हमने दिखाया है कि पूर्वार्धका उपयोग ह० ईसाने भी किया था।

४. ईसाइयोंसे प्राचीन यहूदी मत है । इस मतके प्रवर्तक ह० मूसा आजसे ३५२० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे और इस्लामी कलमेका पूर्वार्ध कुर्आनसे भी अधिक शुद्ध रूपमें उनकी पुस्तकोंमें मिलता है, जिसके १३ प्रमाण अध्याय ४ में दिए गए हैं । यद्यपि इन १३ प्रमाणोंमें श्लेष नहीं और नहीं ये अर्थ मूर्तिपूजाकी ओर झुकते हैं, तो भी इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि कुर्आनने यह वाक्य न इसाइयोंसे नकल किया है न यहूदियोंसे कारण बाइबलमें जो इस्लामी कलमेके रूपान्तर हैं वे भावार्थ मात्र हैं, शब्दार्थ नहीं !!

५. यहूदियोंसे प्राचीन पारसी मत है। उनका कलमा है—

नेस्त एजद् मगर यजदान्। इसका संस्कृत रूपान्तर होगा—

न अस्ति एजतिः ऋते यजदानः

१. लौकिक अर्थ— (ऋते यजदानः) हवन और दानके बिना (न अस्ति एजतिः) इस विश्वका कोई चलानेवाला वा प्रेरक नहीं ।

भावार्थ— पारसी लोग अग्निपूजा और दानके लिए प्रसिद्ध ही हैं ।

२. वैदिक अर्थ— यज वा यज्ञ पदका अर्थ सूर्य वा अग्नि भी है। अतः जिस प्रकार यजमानः का अर्थ है ' यज्ञ करानेवाला ' उसी प्रकार यजदानः का अर्थ है ' अग्नि वा सूर्यका [विश्वको] दान देनेवाला '=निराकार परमात्मा। अतः पारसियोंने ठीक इसी अर्थको ग्रहण करके परमात्माको यज़दान कहा। इसी प्रकार एजत् पद पारसियोंने तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। (वा० य० ४०।५) से लिया है।

अर्थ— (ऋते यजदानः) निराकार परमात्माके बिना (न अस्ति एजतिः) [इस विश्वको] चलानेवाला कोई नहीं।

भावार्थ— निराकार परमात्मा सूर्य वा अग्निद्वारा

...गतिमान कर रहा है। इस प्रकार चौथी वार सिद्ध ... कि मुसलमान त्रैतवादी है।

...अतः लेखकका विश्वास है कि इस्लामी कलमेका आदि ... तो वैदिक धर्म ही है, परंतु कुर्आनमें यह वाक्य पारसी ...से लिया गया है। देखिए—

२३— ला इला इल् अल्लाह= नेस्त् एजद् मगर् ...दान्।

भावार्थ-- नहीं देव बिना अल्लाह= नहीं देव बिना ...यज्दान्।

आंग्ल-अर्थ- No God but God = No God but God।

स्पष्टीकरण-पारसी कलमेमें चार शब्द थे, तो कुर्आनमें भी चार ही शब्दोंमें कलमा उतारा गया है। 'इला' पदका अर्थ पारसियोंने एजतिः = पुरुषलिंग god = ...योग किया, तो कुर्आनने भी इसी अर्थको सर्वत्र स्वीकारा (देखो अध्याय २)।

Nest ezad magar Yazdan का उर्दू अनुवाद भी चार ही शब्दोंमें 'नहीं माबूद मगर अल्लाह' इ० शाह रफी उद्दीनने किया है। इससे सिद्ध होता है कि कुर्आनने कलमा पारसियोंसे ही लिया है!

४ प्रश्न-- अब बताइए कि इस्लामी कलमेका मूल वेदादि शास्त्रोंमें कहां कहां और किस किस रूपमें मिलता है?

उत्तर-- १ एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः (निरुक्त १।१५।७)

अर्थ-- एक ही रुद्र (अवतस्थे) ऊपरसे नीचेतक व्याप रहा है, (न द्वितीयः) न दूसरा कोई ॥ ७ ॥ रुद्र = सूर्य वा निराकार परमात्मा।

२. एको रुद्रो न द्वितीयाय ॥ अथर्व० शिर० ५ ॥

अर्थ-- एक ही रुद्र है, दूसरा नहीं ॥ ५ ॥

३. सदेव इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। (छान्दोग्य ६।२।१)

अर्थ-(इदं अग्रे) इस सृष्टिके पूर्व (सत् एव आसीत्) केवल सत् ही था, (एकम् एव) अकेला ही (अ-द्वितीयम्) बिना दूसरेके ॥१॥

४. तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ अ० १३।४।१२ ॥

ऋषि-ब्रह्मा। देवता-रोहितादित्यदैवत्यम्।

अर्थ—(तम्) उसको ही (इदं सहः) यह सामर्थ्य (निगतम्) पूर्ण रूपसे प्राप्त है। (सः एषः एकः) वह यह एक ही है। (एकवृत्) अकेला रहनेवाला (एक एव) अद्वितीय है ॥१२॥

देवता-रोहित्+आदित्य = ऊपर चढा हुआ अर्थात् 'मध्याह्नका सूर्य' है।

५ एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ॥ऋ० १।१६४।४६॥

ऋषि-दीर्घतमा औचथ्यः।-देवता सूर्यः।

अर्थ—(विप्राः) ज्ञानी लोग (एकं सत्) उस एक-सत् = सूर्यको (बहुधाः) अनेक नामोंका धारण करने-वाला (वदन्ति) कहते हैं ॥ ४६॥

इनमेंसे पहले ४ प्रमाण इस्लामी कलमेके पूर्वार्धके पोषक हैं। परंतु कलमेका शब्दशः मूल तो 'बिना इलाके नहीं अल्लाह' 'बिना अदितिके नहीं आदित्य,' 'बिना उषाके नहीं है सूर्य' इत्यादि वैदिक वाक्योंमें पूर्वही बताया गया है।

इतना होते हुए भी कुर्आनमें कलमा पारसी धर्मसे ही लिया गया है, यह निश्चित है। अब एक युक्ति और देखिए—

२४—ला इलाह इल् अल्लाह=बिना इलाके नहीं अल्लाह-यह नकारात्मक वाक्य है। इसे उलटिए तो होगा साथ इलाके है अल्लाह = साथ प्रकृतिके है पुरुष! इससे १९में किए हुए विधानकी पुष्टि पांचवी बार हुई! अर्थात् इस्लामी कलमा त्रैतवादका पोषक सिद्ध होता है! पुरुष पद ईश्वर+जीववाची है।

२५—अब एक अन्तिम युक्ति भी सुन लीजिए— "ला इलाहः इलल्लाह" — आपटेके कोशकी साक्षी आपटेके कोशमें इलाहः पदके अर्थ हैं A spotted or variagated horse

अर्थ—कलंक वा धब्बेदार घोडा। पाश्चात्य ज्योतिषियों-ने सूक्ष्मदर्शक यंत्रोंद्वारा सूर्यमें कलंक वा काले धब्बे देखे हैं, अतः यह धब्बेदार घोडा = Spotted horse

सूर्य ही है। Variagated शब्दका एक अर्थ है चित्र-विचित्र, और ऋ० १।११५।१ में और अ० २०।१०७।१४ में सूर्यको चित्र कहा गया है। यही मंत्र अ० १३।२।३५ में पुनरुक्त है और वहां देवता है, रोहितादित्य = चढा हुआ सूर्य! Variagated पदका दूसरा अर्थ है बहुरंगी, सूर्य विष्णुका=व्यापक परमात्माका सतरंगी घोडा है ही! सूर्यमें सात रंगोंकी किरणें सभी मानते हैं। अतः यह बहुरंगी घोडा भी सूर्य ही है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता० ॥ श्वेता० उप० ३।१९ ॥ अर्थात् निराकार परमात्माने हाथ पाओंके न होते हुए भी (जवनः) तीव्रगामी घोडेको पकड रखा है।

यही वह गरुड है जिसपर विष्णु लक्ष्मी = प्रकृति सहित विराजमान रहते हैं। कुर्आनमें सात स्थानोंपर इसी बहुरंगी घोडे वा शुभ्र गरुडको अल्लाह की कुर्सी = Chair वा अर्श [अरुष = सूर्य] = सिंहासन कहा गया है—देखो कुर्आन २।२५५, १०।३, १३।२, २०।५, २५।५९ ३२।४ तथा ५७।४. अतः कुर्आनका 'ला इलाह इल् अल्लाह' का संस्कृत मूल

ला हलाह इल् अल्लाह = बिना घोडे, गरुड = कुर्सी अर्श वा सिंहासन = सूर्यके अल्लाह = निराकार परमात्मा नहीं! अर्थात् सूर्य ही अल्लाहके रहनेका मुख्य स्थान है। यही वैदिक सिद्धान्त है! इस युक्तिके अनुसार ऐसा सिद्ध होता है कि हलाहः पुल्लिंग ही कुर्आनमें इला बन गया। इसी कारण कुर्आनके अनुवादकोंने उसे पुल्लिंग ही बनाए रखा। साथ ही अर्थ भी हलाह् का उन्होंने देव=god ही किया कारण सूर्यको वैदिक धर्मी भी देव ही मानते हैं। इस युक्तिके अनुसार इस्लामी कलमेका पूर्वार्ध सीधा वेदसे लिया हुआ सिद्ध होगा—पारसियोंसे लिया हुआ नहीं। ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों सूर्यमें हैं, अतः १९ वें विधानका समर्थन छठी वार करते हुए हमने सिद्ध किया कि मुसलमान स्वयं कुर्आनके आधारसे सिद्ध होते हैं त्रैतवादी।

ख–अरबी-उर्दूडिक्शनरीकी साक्षी

हल, यहुल, हल्ला-खूब बरसना; निकलना या दिखाई देना। (नये चांदका), खुशी मनाना।

हल्लल—खुदाकी तारीफ करना; ला इलाह इल् (नहीं कोई खुदा अल्लाः तालाके सिवा); कलमए तय्य पढना ॥

Published by the Punjab Adviso Board for Books with the permission imrs. Horney porter-1938 ॥

प्रिय पाठको! वर्षाका संबंध इलाह = सूर्यसे है। प्रतिदिन दिखाई देता है। वही सुखका कारण है। हमा अनुसन्धानका समर्थन इससे बढकर और क्या हो सकता है कि जिस संस्कृतके हलाह् पदको हमने तर्कसे इस्लामी कलमेसे जोडा था, उसे स्वयं अरबी साहित्य आजसे न्यूनसे न्यून १४०० वर्ष पूर्व से ठीक उसी रूपमें मानता आया है। और पीछे चलिए—

ग-बाइबलकी साक्षी

१. HELI = हेली पद इब्रानी भाषामें ELI [अरबी अली—ग०] का अर्थ रखता है, जिसका अर्थ है High priest [ब्रह्मन् = सूर्य-ग०] (कन्कार्डन्स)

२. बाइबलके लैव्य व्यवस्थाके २२।२ और २२।३२ में Holy = पवित्र और Hallow = पवित्र करना ये दोनों शब्द वैदिक हलाह् से बने हैं, कारण सूर्य ही पवित्र कर्ता है।

३. मत्ति २६।४९ तथा २८।९ में Hail शब्द प्रणाम, सुस्वागतम्, नमस्कारके अर्थोंमें आया है, यह भी 'इलाह' का रूप है सूर्य ही नमस्कार करनेयोग्य है।

घ-आंग्ल-शब्द कोशकी साक्षी

Halo- हाला, चंद्रमण्डल, सूर्यकुण्डल; Circle of light round luminious body especially Sun and moon. Disk of light surrounding head of saint.

HALLELUYAH (हलेलुयह) Praise ye jehovah = यहोवा= सूर्य ही स्तुति करो। [बाइबलमें भी है –ग०]

Hallow = Holy person; Saint = पवित्र पुरुष; सन्त।

HELIO = यूनानी भाषामें HELIOS (हेलि

नाम सूर्यका है। [आगे सूर्यचलित विद्याओं वा ...के नाम इस प्रकार दिए हुए हैं— गं०]

...Heliochromy, Heliography, Heliometer, ...lioscope, Heliotropism, Heliotype, Heli...e, Heliotrope, Helium, (The Concise ...ord Dictionary)

...दिक इलाह शब्दका यूनानी और आंग्लभाषापर ...तना प्रभाव है, यह इन नामोंसे स्वयं सिद्ध है। क्यों न ...? सूर्य सर्वव्यापक है !

ङ--कविताकी दृष्टिसे भी 'इलाह-अल्लाह' ये दो पद 'इलाह-अल्लाह' से अधिक सुसंगत हैं।

च--व्याकरणकी दृष्टिसे भी पूर्वके दोनों शब्द पुल्लिंग होनेसे ग्राह्य हैं, और उत्तरके इसलिए अग्राह्य हैं, कि ...बीमें 'इला' का अर्थ 'देवी' = स्त्रीलिंग होते हुए भी कुर्आनके मुस्लिम अनुवादकोंने इसे सर्वत्र पुल्लिंग ही समझा है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि इस्लामके प्रारंभिक समयमें पुल्लिंग 'इलाह' पद ही बोला जाता था, जो बादमें 'इला' बोला जाने लगा।

छ-'इलाह' हो वा 'इला' वैदिक धर्मकी दृष्टिसे अर्थ किए जाएं, तो दोनों अवस्थाओंमें किस प्रकार ठीक उतरते हैं, ...ह देखकर संस्कृत और वेदके बडे बडे पण्डित भी दांतों ...के उंगली दबा लेंगे ! साथ ही कलमेके पूर्वार्धके अध्याय ...में स्वयं मुसलमानों द्वारा किए हुए अर्थोंको देखकर ...ड़ा मुल्ला मौलवी भी कह देंगे कि ये अर्थ न केवल सरल ...ही हैं परंतु श्लेषयुक्त और कुर्आनके सिद्धान्तके विरुद्ध मूर्ति-पूजाके समर्थन करनेवाले भी हैं !

ऐसा आज क्यों सिद्ध हो रहा है ?

कारण— आर्य पंडितोंने नहीं पहचाना कि कुर्आन भी पुराणोंके समान वैदिक धर्मके ही प्रत्येक अंशोंका समर्थक है, और वह वैदिक धर्मका ही यथाशक्ति अरबी भाषामें प्रचारक है।

२. बाइबल उत्पत्ति १०।२१ के अनुसार यहूदियों और ईसाइयोंने निश्चय किया कि इब्रानी, अरमी, फोनिशी, अरब और असारी (Hebrews, Arameans, Phoenicians, Arabs and Assyrians) ये जातियां हज़रत नूह [Noah = मनु] के पुत्र Shem [शेम = श्याम ?] की सन्तान हैं अतः Semite = समाइट कहलाएं। इसीको मुसलमानोंने स्वीकार किया। अतः ये जातियां आर्य परिवारसे अलग हो गई !

उत्पत्ति १०।१ के अनुसार नूह वा मनुको शेम, हाम और येपेत (Shem, Ham and Japheth) ये तीन पुत्र थे। अतः उनके ही हिसाबसे आर्यजाति जो भी अपनेको मनुकी वंशज समझती है, इन अरब आदियोंकी उत्पादक सिद्ध होती है, क्योंकि पं० लेखरामके अनुसार मनुस्मृतिको बने बारा कोटि वर्ष होते हैं !! उन दिनों उक्त जातियां उत्पन्न भी नहीं हुई थीं !!!

आजके वैदिक धर्मियोंको सिद्ध करना चाहिए कि स्वयं बाइबल तथा कुर्आनके अनुसार उक्त सभी जातियां मनुकी वंशज होनेके कारण आर्योंसे अभिन्न हैं ! यही कार्य वैदिक धर्म मासिकमें हो रहा है।

ऐ ला इलाह इल्लल्लाह के अर्थ पुकार पुकार कर कह रहे हैं, कि हे मुसलमानो हमारा आदि मूल तो वैदिक धर्म ही है ! अतः आओ ! आर्योंसे मिल जाओ ! विश्वमें विश्व-बन्धुत्वको फैलाओ ! फूटको दूर भगाओ !

गत १४०० वर्षोंमें कुर्आनको वैदिक धर्मकी कसौटीपर रखकर किसीने नहीं परखा था, इसी कारण आज पंडित और मौलवी दोनों आश्चर्यचकित हो रहे हैं।

(अध्याय ११)

कुर्आन मूर्तिपूजाका कट्टर विरोधी है !

१ प्रश्न अध्याय२के पढनेसे सिद्ध होता है कि इस्लामी कलमेका पूर्वार्ध मूर्तिपूजाका विधायक है। परंतु पश्चात् के अध्यायोंमें आपने ऐसा सिद्ध किया है कि कलमेका मूल वैदिक है, और वेदके अलंकारों आदिको न समझनेके कारण ही ऐसे विपरीत अर्थ हो गए हैं। यही नहीं अब भी यदि वैदिक दृष्टिकोणसे अर्थ किए जाएं तो बडे सुंदर तथा व्यापक अर्थ बन जाते हैं। परंतु यह आपका विधान तो तभी सत्य समझा जायगा जब आप कुर्आनके प्रमाणोंसे सिद्ध करेंगे कि कुर्आन मूर्तिपूजाका विरोधी है और कलमेके सिवा सर्वत्र कुर्आनमें मूर्तिपूजाका खण्डन ही खण्डन भरा हुआ है।

उत्तर--प्रश्न सर्वथा उचित है। बाइबल तथा कुर्आन दोनों मूर्तिपूजाके सचमुच कट्टर विरोधी हैं, यद्यपि यहूदी, ईसाई, तथा मुसलमान ये तीनों जातियां अनेक प्रकारकी मूर्तिपूजा किया करती हैं। यही नहीं इन्हें हिंदुओंकी मूर्तिपूजा तो बडी खटकती है, परंतु ईसा, मरियम् काबे के शिवलिंग = संग् अस्वद् = Black stone जीते पीर, मरे हुओं की कब्रें, ताबूत, ढाल साहेब, नाल साहेब, पंजे आदिकी पूजामें बडा आनंद आता है, और वे बाइबल तथा कुर्आनका विरोध करके भी इन्हें स्वयं पूजते और हिंदुओंसे भी पुजवाते हैं !

इतना ही नहीं, प्राचीन यहूदी आर्योंके समान गाय बैलको अघन्य = न मारने योग्य समझते थे, और उन्हें पूजते भी थे ! पश्चात् इस पशुपूजाको हटानेके लिए ही गो-बैलका वध तथा गोमांस-भक्षण ह० मूसाने यहूदियोंमें प्रचलित कराया, और वहींसे ईसाइयों तथा मुसलमानोंमें नकल होती आ रही है। सारांश गोमांस-भक्षण तथा गो-हत्या के विषय भी मूर्तिपूजाके लपेटमें आजाते हैं, इतनी इसकी व्यापकता है !

और गहरा विचार करनेसे पता चलता है कि वास्तवमें वह गौ वेदकी उषा और वह नंदी बैल वेदका उक्षा = अनड्वान् = सूर्य ही था जिसे यहूदी पूजते थे ! परंतु वैदिक अलंकारोंको न समझनेके कारण यहूदियोंमें गोहत्या प्रचलित हो गई ! लंबा विषय है, अतः इसे स्वतंत्र मूर्तिपूजा के लेखमें ही विचारना योग्य है। अतः ला इलाह इल्लिल्लाहु की लेखमालाको ११ अध्यायोंमें हम यहीं ... कृपासे समाप्त करते हैं। आगामी मूर्तिपूजा का लेख ही वास्तवमें ११ वां अध्याय होगा—इत्योम् !

संस्कृत-भाषाकी अनिवार्यता

(लेखक—श्री. महेशचन्द्रशास्त्री, विद्याभास्कर)

आज जिस भाषाको राष्ट्रभाषात्व का गौरव प्राप्त हुआ है वह अपनी अन्य प्रान्तीय भाषारूपी बहनोंमें सबसे बडी है। बडी बहनके इस न्याय्य व निसर्गसिद्ध सत्कारसे उसकी अन्य बहनें भी अवश्यही गौरवान्वित ही हुई है। सबसे अधिक इस विषयमें प्रसन्नता तो उस जननीको है जिसकी वे सब पुत्रियाँ हैं। सचमुच ही देववाणी संस्कृत को, अपनी ही एक सुयोग्य पुत्री को इस प्रकार सम्मानित देखकर अपार हर्ष है। आज भी संस्कृत-माताकी ममतामें वह शक्ति है जिसे पाकर उसकी सन्ताने विश्वकी सर्वोपरि महत्ताकी अधिकारिणी बन सकती हैं। हमतो देख रहे हैं कि आजकी राष्ट्रभाषा उसीकी छत्रछायामें पल्लवित और पुष्पित होती जा रही हैं। वह जाय भी कहाँ? माताकी ममतासे बढकर दूसरी शक्ति ही कौनसी है, जो अपनी सन्तान को इस प्रकार आश्रय दे सके और उसकी इस प्रकार दिन-दूनी और रात चौगुनी उन्नति हो सके।

संस्कृतकी प्राचीन महत्ता

यही तो वह संस्कृत भाषा है जो भारतके स्वर्णिम युगोंमें अनेक शताब्दियोंतक राष्ट्रभाषाके रूपमें सम्मानित होती रही। विश्वकी सुपरिष्कृत भाषाओंमें संस्कृत प्राचीनतम है। भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे दो ही भाषायें ऐसी हैं, जिनके बोलनेवालोंने संस्कृति एवं सभ्यताका निर्माण किया है। एक है आर्यभाषा और दूसरी है सेमेटिक भाषा। आर्यभाषाके अन्तर्गत दो विशिष्ट शाखायें हैं— पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी शाखाके अन्तर्गत यूरोपकी सभी प्राचीन तथा आधुनिक भाषायें सम्मिलित है- ग्रीक, लैटिन, ट्यूटानिक, फ्रेंच, जर्मन, इंग्लिश आदि-ये सब भाषायें मूल आर्यभाषासेही उत्पन्न हुई हैं। पूर्वी शाखामें दो प्रधान विभाग हैं-- ईरानी और भारतीय। ईरानी भाषाका नाम 'जेन्द' है, जिसमें पारसियोंके मूल धार्मिक ग्रन्थ लिखे गये हैं। भारतीय शाखामें संस्कृत ही प्रधान है और आर्यभाषाओंमें यही सबसे प्राचीन है।

इसी देवभारतीके चरणोंमें बैठकर आज भारतके महान् हिन्दी पुत्र राष्ट्रभाषा का कलेवर परिपुष्ट, सुशोभित एवं पूर्ण बनानेमें तल्लीन हैं। राष्ट्रभाषाका जो दिव्य एवं भव्य मन्दिर बन रहा है उसके लिये सामग्रीभूत इसीके धातु, उपसर्ग और प्रत्यय तो हैं। अन्यथा हम कहाँसे लाते वे साधन, जिनके द्वारा हमारा यह विशाल कार्य पूर्ण होता। सभी विषयोंके जो बडे बडे कोष बन रहे हैं तथा उच्च श्रेणियोंके अध्ययनके लिये जो पाठ्य ग्रन्थ निर्माण किये जा रहे हैं, वे सब इसी देवभाषा पर ही तो आधारित हैं। देवभारती, देववाणी आदि मेरे प्रशंसात्मक विशेषणोंसे किसी उदारचेता समदर्शीको असन्तुष्ट न हो जाना चाहिये। क्योंकि मैं यह अत्युक्ति नहीं कर रहा हूँ। जो है उसे भी मैं तो अत्यन्त साधारण रूपसे प्रकट कर रहा हूँ। नहीं तो कौन नहीं जानता कि यही संस्कृत-भाषा हमारे देशके स्वर्ण युगकी राष्ट्रभाषाके पदपर समासीन रहकर विश्वका गौरव बनी हुई थी।

आजसे ढाई हजार वर्ष पूर्व आचार्य पाणिनिने जन साधारणमें प्रचलित इस भाषाको व्यवस्थित एवं शुद्ध बनाये रखनेके लिये अपना प्रसिद्ध व्याकरण बनाया-जो आठ अध्यायोंमें विभक्त होनेके कारण 'अष्टाध्यायी' नामसे प्रसिद्ध हुआ। यदि यह व्याकरण न होता तो आजतक संस्कृत--भाषामें जो एकरूपता तथा व्यवस्था दिखाई देती है वह न दिखाई देती। इसलिये जो यह आक्षेप करते हैं कि- पाणिनिने उसे जकड दिया- सर्वथा अनुचित है। पाणिनिके समयतक इस आर्यभाषाके लिये 'संस्कृत' यह शब्द प्रयुक्त नहीं होता था जैसे, 'भाषायां सदवसश्रुवः' (अष्टाध्यायी ३।२।१०८) अर्थात् भाषामें केवल

यही रूप होते हैं। उसके एक शताब्दीबाद (आजसे चौबीस सौ वर्षपूर्व) आचार्य कात्यायनके समयमें तथा पतञ्जलिके समयमें (आजसे तेईस सौ वर्षपूर्व) यह भाषा उन्नत होती चली गई। पाणिनिके बाद नवीन प्रचलित शब्दों एवं मुहावरोंकी व्यवस्थाके लिये कात्यायन ने वार्तिकें लिखीं। जैसे पाणिनिके समय 'हिमानी' तथा 'अरण्यानि' शब्दोंका प्रयोग केवल स्त्रीलिंगमें माना है, किन्तु कात्यायनके समयमें इनका प्रयोग किसी विशिष्ट अर्थमें भी होने लगा। इसी तरह अन्य नवीन शब्दोंकी व्युत्पत्तियाँ भी कात्यायनद्वारा हुई। विक्रमपूर्व द्वितीय शतकमें अष्टाध्यायीके ऊपर महर्षि पतञ्जलिने 'महाभाष्य' लिखा-जो व्याकरण-शास्त्रकी अमूल्य निधि है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन लोकभाषाको इन तीन महर्षियोंने पूर्णतः संस्कारसम्पन्न बनाकर अमर कर दिया। महाकवि दण्डीने अपने 'काव्यादर्श' में लिखा है कि 'संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः' इनके बाद जितने व्याकरण ग्रन्थ लिखे गये वे सब इन्हीके भाष्यमात्र थे।

सारांश यह कि जिस भाषाका हम वर्णन कर रहे हैं, वह भाषा विक्रमके हजारों वर्ष पूर्वसे लेकर विक्रमके सदियों बाद तक भी, हमारे देशकी प्रसिद्ध बोलचालकी भाषा थी। व्याकरण-ग्रन्थोंमें आनेवाले सैकडों मुहावरे तथा संवाद इसके लिये विशेष प्रमाणरूप हैं। राजशेखरने लिखा है कि उज्जयिनीके राजा साहसांक पदवीधर विक्रमादित्यने यह नियम बना रक्खा था कि उनके अन्तःपुरमें संस्कृत ही बोली जाय। धारा नरेश राजा भोज (११ वी शताब्दि] के समयमें भी संस्कृत बोलने तथा लिखनेका रिवाज था। तत्कालीन एक कथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिससे यह प्रमाणित हो जाता है कि एक साधारण जुलाहा भी कितनी अच्छी संस्कृत बोल सकता था। वह अपना परिचय इन शब्दोंमें देता है— 'काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि, यत्नात् करोमि यदि, चारुतरं करोमि। भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठ! हे साहसांक! कवयामि वयामि यामि।'

आजके विद्वानोंका दृष्टिकोण

और आज स्वतन्त्र वायुमण्डलमें भारत-पुत्र पुनः संस्कृत भाषाके श्रेष्ठत्वको समझनेमें गौरवान्वित होते दिख रहे हैं। मान० माधव श्री हरि अणेका मत है कि 'स्वतन्त्र भारतमें विज्ञानकी उन्नति आवश्यक है। उसके लि प्राचीन विज्ञानग्रन्थ बडे उपयोगी हैं जो संस्कृतमें हैं। अत उसे जाननेके लिये भी संस्कृत भाषाके प्रचारको तथा उसे राष्ट्रभाषात्वतक उन्नत करनेकी बडी आवश्यकता है। क्यों कि संस्कृत राष्ट्रभाषा हो सकती है। भारतीय संस्कृ इसीमें निहित है। मान० कैलाशनाथ काटजू तो इसके लिये अत्यन्त प्रयत्नशील हैं। उनका मत है कि 'संस्कृत-भाषामें ही भारतीय संस्कृतिका विकसितरूप दिखाई देता है, प्रान्तीय भाषाओंका मूल आधार भी संस्कृत है; इसीके द्वारा वे पोषित होती हैं। संस्कृतभाषा केवल धर्मग्रन्थोंकी न होकर गणित, आयुर्वेद, रसायन, ज्योतिष एवं अन्य कलाओं और विज्ञानोंकी भी भाषा है। असंख्य वर्षोंतक उसने हमारे राष्ट्रका भार वहन किया है। आज भी स्वतन्त्र भारतकी राष्ट्रभाषा संस्कृत होनी चाहिए।' राजर्षि टण्डन कहते हैं कि 'अंग्रेजोंके चले जानेपर उनके मानसपुत्र आज भी भारतमें हैं यह खेदकी बात है। मैं चाहता हूं कि भारतकी राजनीति भी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थोंमें उल्लिखित राजनीति हो। भारतीय राजदूतोंके साथ विदेशोंमें संस्कृतके विद्वान् भी जाँय और अपनी संस्कृतिका विदेशोंमें प्रचार करें।

विदेशी विद्वान्

अफगानिस्थानके सुप्रसिद्ध पत्र 'अनीस' के सम्पादक श्री मुहम्मद हाशिमने पत्रकारोंके सन्मुख बोलते हुए मद्रास में कहा था कि 'अफगानिस्थानके मुसलमान संस्कृतकी अनिवार्यताका बिलकुल भी विरोध नहीं करते। हम भी आर्य हैं। अतः आर्यकुलकी भाषासे हमारी भाषाका भी निकट संबन्ध है।' काबुल विश्वविद्यालयमें भी संस्कृतको अनिवार्य रूपसे रक्खा है। वहाँ की पाठविधि देखकर अभिमान होता है. उस पाठ्यक्रममें धार्मिक एवं राजनैतिक ग्रन्थोंका कितना सुन्दर समावेश किया है। किन्तु दुःख है कि भारतमें आजतक भी संस्कृत अनिवार्यरूपसे नहीं पढाई जाती। मध्यप्रान्तकी सरकारने एक वर्षपूर्व आठवीं कक्षामें अनिवार्य संस्कृत रक्खी थी। किन्तु एक वर्ष बाद उसने भी उसे बन्द कर दिया। ये हमारी मानसिक दुर्बलता

…न्द हैं। हम स्वयं यदि इस विषयमें विवेक और साहसपूर्वक आगे नहीं बढ सकते तो विदेशोंका ही कुछ अनुकरण कर अपना भला कर लें। इस विषयमें पेरिस विश्वविद्यालयके अध्यापक डॉ० लूई रेणुका वक्तव्य हरएक भारतीयके हृदयमें अंकित होने जैसा है। अपनी छः मास की भारतयात्राकी समाप्तिपर उन्होंने कहा 'मैं एक ही …ख लेकर भारतसे लौट रहा हूं कि जिस संस्कृतभाषाको अमर भाषा मानकर हम यूरोपीय उसका अन्वेषण और अनुशीलन करते हैं, उसी भाषाको भारतीय मृतभाषा कहते हैं। भारतका सारा गौरव और सम्पत्ति संस्कृत भाषामें निहित है। जो भारतीय संस्कृत भाषाको नहीं जानता वह भारतीय कैसे माना जा सकता है! भारतीयोंका यह दुर्भाग्य है कि उनका शिक्षा-सचिव संस्कृतसे अनभिज्ञ है।' 'भारतकी सांस्कृतिक भाषा संस्कृत है, संस्कृत भाषा ही भारतकी राष्ट्रभाषा हो सकती है। भारत ही क्या सारे एशिया और यूरोपकी सांस्कृतिक और राष्ट्रीयभाषा संस्कृत हो सकती है। संस्कृतभाषामें ही विश्वभाषात्वके लक्षण विद्यमान हैं।'

मान० प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरूने कहा है कि 'यदि मुझसे पूछा जाय कि भारत की सबसे बडी निधि कौनसी है? तो मैं कहूँगा कि "संस्कृत भाषा और उसका साहित्य" संस्कृत भाषा इस देशकी सजीव परम्परा है। मैं चाहूँगा कि कुछ ऐसे संस्कृतके विद्वान् हों जो संस्कृत-साहित्यका अन्वेषण करें और उसे प्रकाशित करें।'

संस्कृत-भाषामें परिवर्तनकी आवश्यकता

समय, आवश्यक ज्ञान तथा सरलता की दृष्टिसे संस्कृतकी कुछ ऐसी पुस्तकें तैयार हों जिनसे उसका अधिकाधिक प्रचार हो। भारतमें आजतक संस्कृत अध्यापनकी जो पारम्परिक प्रणालियाँ प्रचलित हैं उनमें भी बहुत परिवर्तन की आवश्यकता है। क्योंकि उसके अनुसार 'लघुकौमुदी' के लिये चार वर्ष, सिद्धान्त कौमुदीके लिये चार वर्ष और उसके बाद फिर तीन वर्षमें 'नवाह्निक तथा विधिशेष आदि भाष्यांश पढानेकी प्रथा प्रचलित है। ध्यान देनेकी एक विशेष बात यह है कि इन ग्यारह वर्षोंमें केवल व्याकरणका ही अध्ययन हो सकता है या दूसरे भी किसी एक ही विषयका अध्ययन हो सकता है। परिणाम यह रहता है कि इतना श्रम व समय अर्पण करके भी व्याकरणका छात्र बोलचालके योग्य संस्कृतसे भी अनभ्यस्त रहता है। ऐसी स्थितिमें संस्कृत का और उसके व्याकरण का अध्ययन करने का साहस कौन कर सकता है? इसी कठिनताने लोगोंके लिये संस्कृतके दरवाजे बन्द कर रक्खें हैं।

इसीलिये आज उसमें परिवर्तन आवश्यक है। बिना इसके संस्कृतको मृतभाषा कहनेवालोंका मुंह कैसे बन्द होगा? केवल आत्मश्लाघा और संस्कृतिकी दुहाई देनेसे कोई लाभ नहीं। आज तो वह समय है जब रचनात्मक रूपसे हम यह प्रमाणित कर सकें कि सचमुच संस्कृत अन्य भाषाओंकी तुलनामें सरल है; उसका अधिकसे अधिक प्रचार व प्रसार हो सकता है।

प्रसन्नताकी बात है कि इस दिशामें भारतके कुछ संस्कृत विद्वान् प्रयत्नशील हैं। संस्कृत को सरल बनानेकी दृष्टिसे आज वे जो ऐतिहासिक परिवर्तन कर रहे हैं उनका हम हार्दिक अनुमोदन करते हैं। कुछ मास पूर्व आगरेमें अखिल भारतीय संस्कृत महासम्मेलन हुआ था उसमें भी इस पर विद्वानोंने चर्चा की। वहींसे अभी अभी 'कीदृशं संस्कृतम्?' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसमें जो बहुमूल्य विचार प्रदर्शित किये गये हैं वे सभीके लिये माननीय हैं। जबतक ऐसे विचारोंपर आचरण न होगा तबतक संस्कृतको सबके हृदयों तक पहुँचाना असंभव है।

यह भ्रान्तधारणा

जनतामें प्रायः यह धारणा फैली हुई है कि संस्कृत भाषा अत्यन्त कठिन है। किन्तु यह धारणा गलत है। क्योंकि यह भाषा अत्यन्त सरल है; हाँ इसकी पाठन प्रणालि अवश्य अत्यन्त दोषपूर्ण और इसलिये कठिन है। अतः यह कहना गलत है कि भाषा ही कठिन है। सारे भारतमें हिन्दीकी अपेक्षा भी संस्कृत का प्रचार अधिक सरलता एवं शीघ्रतासे किया जा सकता है। बहुत थोडे समयमें वह सीखी जा सकती है। गुजराती, मराठी, बंगला और द्राविडी भाषाओंके बोलनेवालोंकी अपेक्षा हिन्दी भाषा-

भाषी ही संस्कृत की कठिनता की शिकायत अधिक..करते हैं।

भारतमें अंग्रेजों साथ अंग्रेजी आई। भारतके लाखों विद्यार्थियोंको वह आज भी अनिवार्य रूपसे पढाई जाती है। उसे सीखनेके लिये जीवनका अधिकसे अधिक भाग अर्पण कर देना पडता है। एक एक शब्द याद करनेके लिये अनेक अक्षरोंको क्रमबद्ध याद करना पडता है। वचनों, कारकों तथा लिङ्गोंके विचारके लिये भी विशिष्ट नियमोंको ध्यानमें रखना पडता है। वाक्य रचनाके समय शब्दोंका चयन भी एक निश्चित नियमके अनुसार ही करना पडता है। इसके विरुद्ध संस्कृतमें लगभग पचास प्रतिशत शब्द तो प्रत्येक भारतीय माताके स्तनपानके साथ ही सीख लेता है। अच्छा साहित्यज्ञ होनेके लिये तो उसे संस्कृत शब्दोंका ज्ञान व प्रयोग और भी अधिक आवश्यक है। बंगला और द्राविडी भाषाओंमें तो पचास प्रतिशतसे भी अधिक संस्कृतके शब्द आ जाते हैं। वाक्य-रचनामें पूर्ण सरलता रहती है। केवल शब्दोंका संग्रह चाहिये फिर आप चाहे जैसे उनका प्रयोग कर सकते हैं संस्कृतके द्विवचनका प्रयोग दैनिक व्यवहारके लिये छोडा जा सकता है तथा उसके स्थानपर बहुवचनका प्रयोग किया जा सकता है। लिंगके अनुसार क्रिया बदलनेकी आवश्यकता नहीं। काल संस्कृतमें चाहे कितने ही हों हम अपने दैनंदिन व्यवहारके लिये केवल तीन काल (पांचवे वैदिक लकारको छोडकर शेष आठमें भी पांचको छोडकर) से भी अच्छी तरह काम चला सकते हैं। कुछ सर्वनामोंके रूप तथा केवल दस, बारह शब्दोंके रूप एवं ५०।६० क्रियापद याद कर लेनेसे ही कोई भी बडी सरलतासे कुछ महिनोंके अन्दर ही प्रतिदिन केवल एक घण्टा समय देकर संस्कृत सीख सकता है। दक्षिण भारत तथा पूर्वमें तो इसका प्रचार और भी सरल है; क्योंकि वहाँ की भाषाओंमें अनुपातसे संस्कृत शब्द अधिक हैं। रात दिन व्यवहारमें आनेवाले जलम्, शाकम्, वस्त्रम्, माता, पिता, बन्धु, घृतम्, दुग्धम्, आसनम्, वृक्षम्, पर्वतम्, मेघम्, ऋतुः, चैत्रादि नाम, रवि आदिनाम अंग्रेजीकी तरह किसी भी भारतीयको याद नहीं करने पडेंगे।

संस्कृत सीखना अनिवार्य भी है।

ज्यों ज्यों अंग्रेजी को दूर करके हिन्दीका प्रयोग हम आरम्भ कर देंगे त्यों त्यों हमें संस्कृत के निकट जाना ही पडेगा। इसके बिना आदरणीय विद्वान् रघुवीरजी तथा श्री राहुलजी आदिके तत्वावधानमें लिखे जानेवाले शासन-कोष, विज्ञानकोष, रसायनकोष आदिके शब्दोंको समझ भी कैसे सकेंगे। Advocate के स्थानपर ऋग्वेदका ' अधिवक्ता ' शब्द octroi के स्थानपर राजतरंगिणीकी ' द्वारादेय ' शब्द time-barred के स्थानपर कौटिल्यका ' काल-तिरोहित ' शब्द, invention के स्थानपर पाणिनिका ' उपज्ञा ' शब्द और इसी तरह government के लिये ' शासन ' administration के लिये ' प्रशासन, ' chamber के लिये 'वेश्म' जैसे सैकडों ही नहीं, हजारों और लाखों शब्द जब हमारी राष्ट्रभाषामें रहेंगे तो उन सबको यथाशीघ्र हृदयंगम करने के लिये हमें संस्कृत सीखनी ही पडेगी। सभी आज इस बातसे तो अवश्य रुष्ट हैं कि पन्द्रह वर्षतक भी अंग्रेजी क्यों रखी गई; उसे तो पांच वर्षके अन्दर ही उठा देना चाहिये। किन्तु भावनाके स्वप्न लोकके इन यात्रियोंने यह कभी न सोचा कि उसके स्थानपर आनेवाली भाषाके लिये हम उचित क्षेत्र तो तैयार कर लें। बिना इसके पांच तो क्या पचास वर्षमें भी वे अपनी भाषाको ठीक ठीक नहीं अपना सकेंगे। क्या केवल कोष निर्माण कर लेनेमात्रसे हमारा कर्तव्यपूर्ण हो जाता है ? और मुझे तो अत्यन्त खेदके साथ कहना पडता है कि कोष निर्माण करनेवाले उन धुरन्धर कर्मठ विद्वानोंके लिये भी हमारे मनमें यथेष्ट आदर और सहानुभूति नहीं है। अस्तु। राष्ट्रभाषाका प्रचार करनेवाली बडी बडी संस्थायें; हिन्दीको राज्यभाषा घोषित करनेवाली सरकारें यदि अनिवार्य रूपसे संस्कृतके प्रचारकी ओर ध्यान न देंगी तो किस तरह हम अपनी राष्ट्रभाषाको सचमुच राष्ट्रभाषा कह सकते हैं। क्या मैं आशा करूँ कि संस्कृतके इस महत्वको ध्यानमें रखकर सभी संस्थायें, सरकारें तथा विद्वज्जन संस्कृत प्रचारकी अनिवार्यताको आज भी अनुभव करेंगे !

भक्तके भगवान्

(लेखक— श्री. रलियाराम कश्यप, एम्. एस्, सी. लुधियाना)

जब १५ अगस्त सन्. १९४७ ई० की आधी रात भारत डोमीनियन बन गया और उससे पहिली अर्थात् १४की रातको पाकिस्तान बन गया। उसके बाद भी हम अपनी लाहौरके मालरोडकी कोठीमें ही १५ सितम्बर सन् १९४७ तक बैठे रहे। ईश्वर विश्वासके कारण ऐसा ही भासता रहा कि यहां ईश्वरके घरमें कौन आ सकता है। परन्तु ईश्वरने तो हमें भी सुरक्षित स्थानपर लाना ही था सो मुझे दो स्वप्न आये जिनसे मुझे ख्याल हुआ कि अब चलना ही चाहिये—

१— यहाँ लुधियानेमें दण्डी स्वामी चिरकालसे रहते हैं- ईंटोंके बागमें। लाहौरमें मुझे इसी बागका स्वप्न आया कि उसमें मैं दो साधुओंके साथ सैर कर रहा हूं। वे आपसमें कह रहे हैं कि 'कहीं कोई घात न कर दे' बस इस स्वप्नने मुझे चौकन्ना कर दिया कि अब लाहौरमें अधिक ठहरना हमारे लिये उचित नहीं।

२— आर्य समाजके प्रसिद्ध भक्त पूज्य स्वा० सत्यानन्दजीका स्वप्न आया कि एक डबल ईंटोंकी सूखी चिनवाईका किला हमारा खडा है; परन्तु ४०=५० सहस्र मनुष्योंने उसे अपने कन्धोंपर उठा रक्खा है। बीचमें ये स्वामीजी भी हैं, उन्होंने भी कन्धा दिया हुआ है। किला उठाया हुआ है, वे मुझे कह रहे हैं कि 'देखलो भाई, ऐसी बात है, तुमने भी इसी तरह उठाना है तो बेशक आजाओ' इस दूसरे स्वप्नने मुझे हिन्दुस्तान आनेके लिये बाधित कर दिया।

इन दो स्वप्नोंद्वारा मैं समझता हूँ कि मेरे उपरोक्त, शुभचिन्तक, गुरुसदृश दो महानुभावोंने अपनी भक्ति-शक्ति भगवत् चमत्कारद्वारा मुझे किसी वैयक्तिक या पारिवारिक अनिष्ट होनेसे पहले ही यहांसे बुला लिया।

१४ सितम्बर शाम ५-३० बजेके लगभग मैंने अपनी भौजाई आदिसे कहा— "सब भक्त, गुरु, मित्र आदि हमें छोड भाग गये, हमारे पैरोंको मजबूत चिपका गये कायर निकले जो इस तरह हमें यहां फँसा गये।"

अगले दिन प्रातःकाल ७ बजे ही मुझे हार्नियाका शिकञ्जा पड गया और मेरे लिये जीवनमृत्युका प्रश्न खडा हो गया। दोपहर दो बजेतक चीखें मारते हुए समय कटा। घबरा कर यही मुँहसे निकला कि कल सायं भक्तोंको गालियाँ दी थीं। बस फँस गये। परन्तु दो बजेके कुछ पहिले भाई साहबका प्रेमी साला आ गया कि मैं आपको लेने आया हूं। मैंने और मेरी पत्नीने कहा कि चीखें मारते मारते सात घण्टे हो गये, कैसे जा सकेंगे? वह बोले 'मोटरमें लिटाकर ले जाऊँगा।' महिमा भगवान्की। शिकञ्जा फौरन खुल गया और मैं तन्दुरुस्त हो गया। पांच बजेसे पहिलेही ट्रकमें बैठ अमृतसरके लिये चल पडे।

पिछली शाम–जब भक्तोंको बुरा भला कहा था–उस समयसे पहले अगले ही दिन हम लाहौरसे निकल चुके थे। धन्य है भगवान् और धन्य है उसके भक्त!

अमृतसरमें ३१ अक्टूबरको दोपहरतक रुकना पडा, यद्यपि हम अपने प्रेमी बन्धुओंके ही घर अतिथि थे, पर वहीं १॥ मासतक रुके रहना पडा। क्योंकि उन दिनों रेलगाडियां सारीकी सारी कत्ल हो जाती थीं। आना जाना अतीव कठिन था। एक रात तंग आकर अपनी पुत्री एवं जामाताको कडारा घाट एक पोस्टकार्ड लिखा, जिसमें अपना संकट सुविस्तृत वर्णन करके यहाँतक भी लिख डाला कि लाहौरसे तो किसी न किसी तरह निकल आये, अब यहाँसे तो निकलना सम्भव ही नहीं प्रतीत होता। भगवान्की अद्भुत लीला देखिये कि वह कार्ड डाकमें छोड भी नहीं पाये कि अगले ही दिन दोपहर घरसे निकलना पडा। शामको गाडीमें बैठे, रातको बदलकर दूसरे डिब्बेकी छतपर चढे। प्रातःकाल तीन बजेके बाद गाडी चली। अगले दिन रातको ९ बजे लुधियाना पहुँचे। उससे अगले दिन उसी

कार्डपर दूसरी प्रकारकी पंक्तियों वा अक्षरोंमें यह लिखा ,Thanks to Divinity in Vira and Durga Dass. We have reached home, ईश्वरीय मायाके लिये वीरा और दुर्गादासके अन्तर्गत भगवान्को धन्यवाद। हम घर पहुँच गये।

धन्य है भगवान् कार्ड पोस्ट होनेसे पहिले ही उसमें लिखा हुआ काम उनकी कृपासे पूर्ण हो गया तब कार्ड पोस्ट हो सका।

१५ सितम्बरको आते हुए लाहौरसे हम रजाइयाँ, गरम कपडे, गहने, किताबें, यहाँतक कि सारी उम्रकी कमाई– अपने लेख वा कविताओंकी हस्तलिखित प्रतियाँ–भी अपने साथ नहीं ला सके थे। मेज, कुर्सी, पलंग आदि तो क्या ला सकते थे। अमृतसरमें २-३ दिन वर्षा खूब हुई। सर्दी बढ गई। वैसे भी ऋतु बदलनी ही थी। मजबूर होकर दो रजाइयोंके कपडे सिलाए गये। भरवानेसे पहिलेही कोई भाई, बन्धु वा मित्र पाकिस्तानसे कई रजाइयाँ लानेमें सफल हो गये। ठीक आवश्यकता पडते ही भगवान ने रजाइयाँ भिजवा दीं।

यहाँ हम १ नवम्बर सन् १९४७ रातके नौ बजेके बाद पहुँचे। दिसम्बर आते आते सर्दी खूब बढ गई। मैं सख्त बीमार और कमजोर तो था ही। घरवालोंने मजबूर किया कि गरम कोट सिलवा लो, नहीं तो सरदी आदि लगकर बीमारीमें फंस गये तो हमारे पास तो इलाज करानेके लिये भी खर्च नहीं है। मजबूरन ३२) रु. का कोटका कपडा लिया। सीनेको दर्जीको दिया। सूट काटनेसे पहले ही वही प्रेमी बन्धु गरम कपडे भिजवानेमें सफल हो गये। धन्य है प्रभु जो अपने जनोंकी ठीक समयपर रक्षा करते हैं।

अमृतसरमें जब कभी चर्चा चलती कि आपकी तो जन्म-भरकी कमाई अर्थात् काव्य वहीं रह गये तो मेरा होता था कि जिस ईश्वरके वे गीत हैं, यदि उसको उनकी पर्वाह नहीं तो मैं कौन हूँ जो उसकी चिन्ता करूँ मैने बना दिये, अब वह जाने और उसका काम। अस्तु उन्ही भाईसाहबके साले भाईसाहबके लडकेके साथ जा लगभग ९-१० भाग मेरे काव्योंके लानेमें सफल हो गये। धन्य भगवान्! धन्य उनके गीत!! धन्य उसके लानेवाले!!!

यहां हमारे संबन्धियोंको इस बातका बडा खेद था कि गहने भी हमारे करीब दस भागोंमेंसे नौ वहीं रह गये थे। इनके लिये मेरा जबाब यही होता था कि यह कन्याओंका भाग है। तो कौन उन्हे ले सकता है। अस्तु, एक रात मेरी धर्मपत्नीको स्वप्नमें सफेद दूध जैसे रुपयोंकी थैली मिली। प्रातःकाल उसने उठकर कहा–स्यात् हमारे गहने आज आही जाँय। उसी दिन पूज्य भाईसाहब बहुत कमजोर वा बीमार होते हुए भी हमारी अमानत लेकर आ पहुँचे। सब हैरान हो गये। भगवान्की महिमा।

यहां मेरी दो लडकियोंको– अलग अलग सोती हुई को अलग अलग स्वप्न आया कि उनके बीर महेशचन्द्रजी आये हैं। उसी दिन वे आ पहुँचे। हैरानी है कि दोनोंको ही वही स्वप्न आया और वह सच्चा सिद्ध हुआ।

ये सब स्वप्न या भगवत् चमत्कार इसलिये लिखे गये हैं कि क्योंकि ये भगवद् लीलाके निदर्शक होनेके कारण भक्तोंकी भगवान्में श्रद्धा बढाते हैं। एक प्रकारसे ये भगवत् शक्तिके दिखलावे हैं; बल्कि इन्हें ईश्वर साक्षात्कार का रूप भी कहा जा सकता है क्योंकि 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' योगसूत्रके अनुसार जहां सर्वज्ञता सबसे बढकर है वही ईश्वर है। वह सब अतीन्द्रिय ज्ञान और मानस प्रत्यक्ष होनेके कारण ईश्वर–दर्शनका एक प्रकार सा है।

रोग निदान

(लेखक— श्री.चिमनलाल कपूर एम. ए., धर्मशाला, [पू. पंजाब])

भारतवर्षमें, भारतीय क्षयरोग एसोसिएशनकी हालकी वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार, लगभग २५लाख लोग तपेदिकसे बीमार हैं। रिपोर्टमें यह भी बतलाया गया है कि न्यूनतम अनुमानके अनुसार देशमें १२ मेंसे १० व्यक्तियों की तपेदिकसे मृत्यु हो जाती है और इस तरह प्रतिवर्ष ५ लाख लोगोंकी मृत्यु हो जाती है। जिस प्रकार क्षयरोग देशमें बढता चला जाता है उसी प्रकार अन्य रोगोंका प्रकोप भी तेज ही है। इसका क्या कारण है? क्या देशमें डाक्टरों वैद्योंकी संख्या कम हो रही है? कोई भूलकर भी ऐसा नहीं कह सकता। डाक्टरोंके पडोसी ही आपको रोगी मिल सकते हैं। अथवा डाक्टरोंके घरोंमें भी बीमारियां कम नहीं। तो क्या डाक्टरोंके पास उचित मात्रामें औषधियां नहीं? यह भी कहना ठीक नहीं। आधुनिक साइंस दिन प्रतिदिन नई नई औषधियां नए नए टीके और नए नए रोगोंकी खोजकर मानव-विज्ञानमें बहुत तेजीके साथ वृद्धि कर रही है। परन्तु परिणाम कुछ नहीं दीखता। किसीने ठीक कहा है कि "जितने डाक्टर उतनी बीमारियां" और इस बातमें एक महान् सचाई छिपी हुई है।

डाक्टर रोगका निदान कीटाणुओंकी परीक्षासे करते हैं। प्रत्येक रोगके भिन्न भिन्न कीटाणु होते हैं। जबतक मनुष्यके शरीरमें वे कीटाणु जीवित हैं रोगीको स्वास्थ्य लाभ नहीं हो सकता। अतः रोगके कीटाणुओंका नाश करना अत्यन्त आवश्यक है। इस कार्यके लिए मनुष्यके शरीरमें विरोधी कीटाणुओं अथवा कीटनाशक विषोंको प्रविष्ट किया जाता है। जिससे रोगके कीटाणु मर जाते हैं और रोग कुछ शांत हो जाता है। इसी नियमके आधारपर जिस किसी मनुष्य-को किसी विशेष रोगसे रक्षित रखना अभिप्रेत हो उसके शरीरमें पहलेसे ही विरोधी कीटाणुओं अथवा कीटनाशक विषोंको मुखद्वारा अथवा टीकेद्वारा प्रविष्ट कर दिया जाता है। इसलिये आज प्रायः देखनेमें मिलता है कि स्वस्थ मनुष्य भी रोगोंसे भयभीत होकर अस्पतालोंमें टीके लगवाते फिरते हैं और भिन्न भिन्न प्रकारकी औषधियोंका सेवन करते रहते हैं। शायद ही कोई ऐसा मनुष्य मिले जो इस आदतसे मुक्त हो। इन सब रक्षाके उपायोंका परिणाम क्या होता है?

रोगसे बचनेके लिये जिस औषधिको शरीरमें दाखिल किया वह भी तो अपना विशेष प्रभाव रखती है जोकि प्रायः विषैला होता है। इसी कारण टीके लगवानेसे कई बार शरीरका तापमान बढ जाता है। अब जिन विशेष कीटाणुओं अथवा विषको हम अपने रुधिरमें प्रविष्ट करते हैं वे कीटाणु या विष धीरे धीरे अपना प्रभाव दिखलाते हैं। जिस रोगसे बचनेके लिये उनका सेवन किया था उस रोगसे तो शायद बच जाते हैं परंतु उससे भिन्न रोग बैठे बिठाये हमें आ घेरते हैं। इसी कारण दवाइयां करते हुए भी मनुष्य बीमार रहते हैं। और वे नई बीमारियां प्रायः औषधियोंकी प्रतिक्रिया रूप होती हैं। इसीलिये जितनी औषधियां और जितने डाक्टर बढते चले जाते हैं उतने ही रोग भी बढ रहे हैं। और विशेष कर वे रोग जिनका आक्रमण सूक्ष्म मर्म स्थलोंपर है। क्योंकि विषैके प्रभाव और कीटाणुओंके आक्रमण उन स्थानोंपर शीघ्र हो सकते हैं। और उन रोगोंमेंसे तपेदिक, वीर्यरोग, शीर्षरोग, स्नायुरोग आदि विशेष हैं। अब तो एक कुचक्र चल रहा है। ज्यों ज्यों औषधियोंका सेवन बढ रहा है त्यों त्यों रोग बढ रहे हैं और ज्यों ज्यों रोग बढ रहे हैं औषधियोंका सेवन अधिकाधिक हो रहा है।

इस कुचक्रसे बचनेका उपाय ?

इससे बचनेका उपाय रोगके मूल कारणको ठीक ठीक समझनेमें है। डाक्टरोंने कीटाणुओंसे जो रोगोंकी उत्पत्ति मानी है वह दोषयुक्त है। कीटाणु स्वयं मूल कारण नहीं अपितु मूल कारणसे उत्पन्न विकारमात्र हैं। इसलिए उनसे संघर्ष करनेके बजाए यदि मूल कारणको शान्त किया जाय तो अधिक उचित होगा। मूल कारण क्या है? प्रत्येक कीटाणु गन्दगीसे उत्पन्न होते हैं। शरीरके जिस भागमें कहीं मल सञ्चित हुआ झट कीटाणुओंने जन्म लिया और मनुष्य रोगी हुआ।

इसलिये प्रत्येक रोगकी शान्तिके लिये शरीरकी भीतरसे स्वच्छता और रोगोंसे बचनेके लिये भी यही उपाय जब मनुष्य सेवनमें लाएंगे तभी रोगोंसे बच सकते हैं। अन्यथा कभी नहीं।

रोगोंसे बचनेके लिये विशेषकर किन किन भीतरी भागोंकी सफाई करनी चाहिये? वैसे तो शरीरके भीतर प्रत्येक नसकी स्वच्छता होनी चाहिये परन्तु मुख्य स्थान नीचे लिखे हैं।

१—ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् नाककी नली।

२—फेफडे और श्वास प्रणालिका।

३—भोजन नलिका।

४—आमाशय।

५—आंतें और गुदद्वार।

इन सब स्थानोंकी सफाई कैसे हो ?

इनकी सफाईके लिये योगके षट्कर्म करने चाहिये। वे ये हैं—

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥

अर्थात्— मनुष्य (शोधनार्थ) धौति, बस्ति, नेति, नौलिकी, त्राटक और कपालभाति करे।

इन साधनोंकी वैज्ञानिक रूपमें व्याख्या पाठक कभी फिर पढेंगे। परन्तु इतना समझ लें कि भारतवर्षमें प्राचीन कालमें भीष्मपितामह जैसे मृत्युञ्जयी वीर और ऐसे ऐसे दीर्घजीवी ऋषिमुनि जिन्होंने कभी रोगका नाम न सुना था इन्हीं साधनोंके अभ्याससे ही थे।

यावद्वा इन्द्र एतमात्मानं न विज्ञौ
तावदनमसुरा अभिबभूवुः ”

[अ. ४।२०]

जब तक वह इन्द्र अर्थात् जीवात्मा अपने इस आत्माको नहीं जानता तब तक उसे असुर लोग दबाते रहते हैं अर्थात् जब तक यह प्राणी इस ज्ञानको लाभ नहीं करता, तब तक उनकी आसुरी बुद्धि उसको संसार बन्धनमें गिराती रहती है।

तुलना = गीतामें ज्ञानमें श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष अन्य कुमार्गोंमें लगाकर संसारमें जन्म मरणके बन्धनमें फंसे रहते हैं, ऐसा कहा है।

वेदमें भी जो प्राणी क्रूर कर्म करते हैं वह संसारके बन्धनमें जकडे रहते हैं क्यों कि अश्रद्धा मनकी स्वच्छता तथा मुक्ति सुखको दबा लेती हैं।

(४) मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः

[भगव. अ. ९ श्लो. ४]

अर्थ = हे अर्जुन ! [मया] मैंने [अव्यक्तमूर्तिना] इन्द्रियोंसे अग्राह्य सच्चिदानन्दरूपसे [इदम्] यह [सर्वम्] सम्पूर्ण [जगत्] चर और अचर विश्व [ततम्] व्याप्त हो रहा है अर्थात् मेरा स्वरूप अगोचर है इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकती जिसे ब्रह्मादि देवता भी नहीं देख सकते। इसलिये [सर्व भूतानि] ब्रह्मासे लेकर तृणतक सारा चराचर [मत्स्थानि] मुझमें स्थित हैं [च] परन्तु [अहम्] मैं [तेषु] उन भूतोंमें [न अवस्थितः] स्थित नहीं हूं अर्थात् मैं महदव्यक्त स्वरूपसे सर्वत्र व्यापक हूं परन्तु किसीके अन्दर रुक नहीं जाता क्यों कि मैं असंग हूं और एकदेशी नहीं हूं ॥ ४ ॥

वेदगीता (मंत्र)

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत् स भुवत् पुनर्मघः। स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्वः १ स इदं विश्वमभवत् स आभवत् ॥२॥

(अथ. ७।१।२)

अर्थ = (सः) वह परमात्मा (पुत्रः) आत्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंको अनर्थरूप संसारसे रक्षा करनेवाला। संसाररक्षक (पुत्रः पुरु त्रायते निरु. २।११) (पितरम्) सबके आवरणरूप द्युलोकको (वेद) जानता है। (सः) वह परमात्मा (मातरम्) पृथिवी माताको (वेद) अच्छीतरह जानता है। (द्यौः पिता पृथिवी माता तै. ब्रा. ३। ७।५।५) और कहा है —

ताभ्यामिदं विश्व एजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरञ्च।

(ऋग्वेद १०।८८।१५)

क्योंकि द्यौ और पृथिवीके मध्यमें विश्वकी स्थिति है इसलिये इन दोनोंको माता और पिता शब्दसे व्यवहृत किया है। क्योंकि इस विश्वका पिता समग्र जगत्का आश्रय परं ब्रह्म है और चेतनताके प्रतिबिम्बवाली मूल प्रकृति माता है परमात्मा उन दोनोंको अपनेसे अभेदभावसे जानता है। (सः) वह परमात्मा (सूनुः) सारे जगत्के पदार्थोंको अपने अपने कर्म करनेमें प्रेरणा करनेवाला (भुवत्) होता है (पुनः) फिर (सः) वह परमात्माही (मघः) कर्मका फल (भुवत्) होता है (सः) वह परमात्मा (द्याम्) दैवी पुरुषोंसे प्राप्त होने योग्य द्युलोकको भी (और्णोत्) अपने आपसे व्याप्त करता है। और वह परमात्मा (अन्तरिक्षम्) आकाशको भी (और्णोत्) व्याप्त करता है। और (स्वः) स्वर्गलोकादिको व्याप्त करता है (सः) वह परमात्मा (इदम्) दृष्टिगोचर होते हुए नाम रूपात्मक (विश्वम्) समग्र ब्रह्माण्ड है। अर्थात् विश्वरूपसे वही वास करता है और (सः) वह (आभवत्) चारों ओर व्याप्त होकर रहता है ॥ २ ॥ और —

ओं बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।

(मुंडको. ३।१।७)

अर्थ = जो परमात्मा बडेसे बडा है सर्वत्र व्यापक है, वह दिव्य है अचिन्त्यरूप है और प्रकाश स्वरूप है और वह सूक्ष्म से भी बहुत सूक्ष्म शोभित होता है ॥

तुलना = गीतामें भगवान् सारे संसारमें ओत् प्रोत है, परमात्मा वस्तुओंमें व्याप्त होता हुआ भी उनमें बन्धनमें नहीं आता अर्थात् उनमें रुकता नहीं, परन्तु समग्र चराचर जगत् उस परमात्मामें रुका हुआ है ऐसा कहा है। उपनिषद् और वेदमें भी भगवान् सर्व व्यापक, सूक्ष्मसे सूक्ष्म, अचिन्त्यरूप सारे विश्वमें समाया हुआ है क्योंकि परमात्मा परंब्रह्म है इसलिये उन भूतोंमें रुका नहीं उनसे बाहर भी है परन्तु भूत मात्र उनमें ही रहते हैं।

(५) न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
(भगव. अ. ९ श्लो. ५)

अर्थ = हे अर्जुन ! (मे) मेरे (ऐश्वरम्) ऐश्वर्ययुक्त अर्थात् असाधारण प्रभाववाले ईश्वरीय (योगम्) योगकला अर्थात् अघटित घटनाकी चतुराईको (पश्य) देख, कि (भूतानि) यह स्थावर और जंगम पदार्थ (मत्स्थानि) मुझमें स्थित (च) भी (न) नहीं हैं और फिर (मम) मेरा (आत्मा) सच्चिदानन्द स्वरूप (भूतभृत्) सब भूतमात्रको धारण करनेवाला है (च) और (भूतस्थः) सब पदार्थोंमें निवास करनेवाला (न) नहीं है अर्थात् न कोई मुझमें है और न मैं किसीमें हूं, मैं तो असंग ही हूं ॥ ५ ॥

वेदगीता (मंत्र)

नाधृ॑ष॒ आ द॑धृषते धृषा॒णो धृ॑षि॒तः शवः॑ ।
पुरा यथा॑ व्य॒थिः श्रव॒ इन्द्र॑स्य॒ नाधृ॑षे॒ शवः॑ ॥२॥
(अथ. ६।३३।२)

अर्थ = हे जीवात्मन् ! वह परमात्मा अव्यक्तस्वरूप (नाधृषे) किसी पदार्थ नहीं दबाया जा सकता अर्थात् परमात्मा अपनेसे प्रकट किये हुए भूतोंका आश्रय पर नहीं रहता । क्योंकि वह परमात्मा [धृषाणः] दूसरोंको दबानेवाला अर्थात् दूसरोंको अपने अन्दर रखनेवाला होता हुआ [धृषितः] दूसरोंके दबानेवाले (शवम्) बलको (आधृषते) दबा लेता है (पुरा) सृष्टिके आदिमें (व्यथिः) पापियोंको पीडित करने वाले (श्रवः) सबसे श्रेष्ठ (श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम् निरु. ४।२४) (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् परमात्माके (शवः) त्रैकालिक बलको (नाधृषे) जिस किसी प्रकारसे दूसरोंसे नहीं दबाया जा सकता क्योंकि वह असंग है ॥ २ ॥

तुलना = गीतामें परमात्माकी अघटित घटनाकी कलासे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड परमात्मामें भासता है परन्तु ब्रह्माण्डका एक तृण भी परमात्मामें नहीं है, क्योंकि वह असंग है । ऐसा कहा है ।

वेदमें भी परमात्माके बलकी सबसे बडा कहा है वह सब पदार्थोंको दबाता है परन्तु उसे कोई नहीं दबा सकता, क्योंकि वह असंग है ।

(६) यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥
(भगव. अ. ९ श्लो. ६)

अर्थ = (यथा) हे अर्जुन ! जैसे (सर्वत्रगः) सब दिशा विदिशाओंमें जानेवाली (महान्) बहुत ही बडी (वायुः) हवा (नित्यम्) सदा (आकाशस्थितः) आकाशमें रहनेवाली है (तथा) वैसे (सर्वाणि) सब (भूतानि) स्थावर और जंगमपदार्थ (मत्स्थानि) मुझमें निःसंगरूपसे वास करते हैं (इति) ऐसा (उपधारय) तू निश्चय कर ॥ ६ ॥

वेदगीता (मंत्र)

वा॒यो॒ः स॑वि॒तु॒र्वि॒दथा॑नि मन्महे॒ यावा॑त्म॒न्वद्
वि॒शथा॒ यौ च॒ रक्ष॑थः । यौ विश्व॑स्य परि॒भू
ब॑भूवथुस्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥१॥
(अथ. ४।२५।१)

अर्थ = गुरु शिष्यको उपदेश देता है हे शिष्य ! (सवितुः) जगत्के प्रकट करनेवाले (विदथानि) व्यापकता और निःसंगतादि जानने योग्य गुणोंको (वायोः) सब जगह सदा विचरण करनेवाले वायुके गुणोंकी तरह (मन्महे) हम महाज्ञानी लोग मनन करते हैं । (च) और (यौ) जो दोनों वायु और परमात्मा (आत्मन्वत्) स्थावर और जंगमात्मक जगत्में (विशथः) बडे परिमाण वाले होकर भी प्रविष्ट हो जाते हैं । (च) और (रक्षथः) वायु प्राणरूप होकर रक्षा करता है और परमात्मा सर्वान्तर्यामी रूप होकर रक्षा करता है । (यौ) जो परमात्मा और वायु (विश्वस्य) सारे संसारमें (परिभू) सब जगह व्याप्त (बभूवथुः) होकर रहते हैं । " वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो — " श्र. (तौ) वह दोनों अर्थात् वायु और परमात्मा (अंहसः) मलिनता रूपी पापसे (मुञ्चतम्) छुडावे अर्थात् बचावें ।

तुलना = गीतामें वायुको सर्वव्यापक अर्थात् आकाशादि पदार्थोंमें विचरणशील बताया है और परमात्माको सब वस्तुओंमें व्यापक कहा है ।

वेदमें भी वायुके दृष्टान्तद्वारा परमात्माको सर्वत्र व्यापक बताया है वही पापसे छुडानेवाला है ।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

(भगव. अ. ९ श्लो. ७)

अर्थ = हे (कौन्तेय !) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (कल्प-) कल्पके विनाशमें अर्थात् प्रलयकालमें (सर्वभूतानि) स्थावर और जंगम पदार्थ (मामिकाम्) मेरी (प्रकृतिम्) परा प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मक मायामें (यान्ति) प्राप्त हो जाते अर्थात् लय हो जाते हैं। (पुनः) फिर (कल्पादौ) कल्पके आदिमें अर्थात् सृष्टिकालमें (अहम्) सृष्टिकी इच्छा करनेवाला मैं परमात्मा (तानि) उन सब स्थावर और जंगम पदार्थोंको (विसृजामि) विविध प्रकारसे पूर्ववत् रचता हूं ॥ ८ ॥

वेदगीता (मंत्र)

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः। स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश ॥ १ ॥

(ऋ. १०।८१ मं. १ यजुः १७।१७ तै. सं. ४।६।२।१)

अर्थ = (यः) जो विश्वकर्मा (ऋषिः) सबका द्रष्टा और सर्वज्ञ परमात्मा (इमा) इस (विश्वा) सारे (भुवनानि) स्थावर और जंगम पदार्थोंको (जुह्वत्) कल्पके क्षयमें खाजानेवाला सबको अपनेमें लीन करलेनेवाला (नः) हम प्राणी और अप्राणी पदार्थोंका (पिता) रक्षा करनेवाला और पालना करनेवाला (न्यसीदत्) स्वयं स्थित रहता है अर्थात् प्रलय कालमें सब लोकोंको अपनेमें संहार कर लेता है और सृष्टिके आदिमें फिर उत्पन्न कर देता है (सः) ऐसा वह परमेश्वर (आशिषा) मैं एक हूं बहुत हो जाऊं इस प्रकार संसारके रचनेकी इच्छासे (द्रविणम्) जगत्में जीवोंसे भोगने योग्य पदार्थोंको रचनेकी [इच्छमानः] इच्छा करता हुआ [प्रथमच्छद्] प्रथम और मुख्य अव्यक्त स्वरूपको आच्छादित करता हुआ [अवरान्] दूसरे रचना किये हुए स्थावर जंगम पदार्थोंमें [आविवेश] प्रवेश कर जाता है क्योंकि कहा है " तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् " अर्थ = उस संसारको रच कर उसमें प्रवेश कर गया ॥ १ ॥

तुलना = गीतामें " सब पदार्थ कल्पके अन्तमें मुझमें लीन हो जाते हैं और फिर कल्पके आदिमें भगवान् अपने अपने स्थानपर उनको स्थापित करता हूं ऐसा कहा है वेदमें भी जो परमात्मा सारे जगत्को प्रलय कालमें भक्षण कर जाता है वही परमात्मा फिर सृष्टिके आदिमें सब पदार्थोंको रचकर उनमें प्रवेश कर जाता है ऐसा कहा है '

(८) प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

(भगव. अ. ९ श्लो. ८)

अर्थ = हे अर्जुन! मैं [स्वाम्] अपनी [प्रकृतिम्] त्रिगुणात्मक मायाको [अवष्टभ्य] अपने आधीन करके [प्रकृतेः] उस प्रकृतिके [वशात्] कारण द्वारा [अवशम] परतंत्र स्व स्व कर्माधीन [इमम्] इस [कृत्स्नम्] सम्पूर्ण [भूतग्रामम्] स्थावर और जंगम पदार्थोंके समूहको [पुनः पुनः] फिर फिर [विसृजामि] नाना प्रकारसे रचता हूं अर्थात संसारको उत्पन्न करता हूं फिर नाश करता हूं फिर उत्पन्न करता हूं फिर नाश करता है इस क्रमको चलाता रहता हूं ॥ ८ ॥

वेदगीता (मंत्र)

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि। क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥ १ ॥

(अथर्व. ११।८।१)

अर्थ = हे जीवात्मन [यत्] जब [मन्युः] सब कुछ माननेवाले आवरण रहित ज्ञान वाला परमात्मा

(" मन्युर्भगो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो विश्ववेदाः " (तै. ब्रा. २।४।१।११)

मन ज्ञाने औणादिकप्रत्ययः) [संकल्पस्य] " मैं एक हूं बहुत हो जाऊं " इस इच्छाके [गृहात्] ग्रहण करनेकी सामर्थ्यसे [जायाम्] [जायतेऽस्यां सर्वं जगत् इति जाया] सिसृक्षाऽवस्थामें प्राप्त हुई हुई भूम्यादि अष्टविध मूल प्रकृतिको [अवहत्] अपने अधीनही धारण करता है। जिसके द्वारा सृष्टिका आविर्भाव करता है। [के जन्याः आसन्] प्रकृतिके स्तम्भनके समय कौन कौनसी वस्तुएं सृष्टिके उत्पन्न करनेवाली हुईं। " तपश्चैवास्तां कर्म " अथ. ११।८।२ इस उक्तिसे पूर्व

कल्पमें प्राणियोंके किये हुए कर्मही सृष्टिकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं। [के वराः] अपने अपने देहोंसे कौन कौन वरने योग्य हुए थे [क उ ज्येष्ठ वरः अभवत्] उस समय सबमेंसे श्रेष्ठ और बड़ा कौन था। "ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत्" अथर्व — सबमें अत्यन्त श्रेष्ठ और ज्येष्ठ ब्रह्मही था॥ ९॥

तुलना = गीतामें प्रकृतिको परमात्माके अधीन, और प्रकृति द्वारा भगवान् सृष्टि करते हैं। परमात्मा ही सृष्टिको बार बार उत्पन्न करता है और लय करता है ऐसा कहा है।

वेदमें भी परमात्मा अपनी शक्तिद्वारा प्रकृतिको वशमें करके सृष्टिको बार बार प्राणियोंके कर्मानुसार उत्पन्न करता है और लय करता है ऐसा कहा है।

(९) न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥

[भगव. अ. ९ श्लो. ९]

अर्थ = [धनञ्जय!] हे अर्जुन! [उदासीनवत्] सब पदार्थसे उदासीनकी तरह अर्थात् तटस्थके समान [आसीनम्] चुप चाप अलग बैठे रहनेवाले और [तेषु] उन उन [कर्मसु] सृष्टिके निमित्त वाले कर्मोंमें [असक्तम्] आसक्तिसे रहित [माम्] मुझ परमेश्वरको [तानि कर्माणि] वह सब काम [च] भी अर्थात् भूतादिकी रचना, पालना और संहारादि किये हुए काम [न निबध्नन्ति] मुझे बाधा नहीं करते अर्थात् मेरे बन्धनके कारण नहीं होते। ९॥

वेदगीता (मंत्र)

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतींरसनोदन्तरिक्षम्। बिभेदवलं नुनुदे विवाचोथाभवद्दमिताभिक्रतूनाम्॥१०॥

[अथ. २०।११।१०]

अर्थ = [इन्द्रः] सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्माने [ओषधीः] तृणगुल्मादि पदार्थोंको [असुनोत्] प्राणियोंके उपभोगके लिये पृथिवी पर प्राणियोंको दिया। और उस परमात्माने [अहानि] प्राणि और अप्राणियोंको अपने अपने कार्यसाधनके लिये दिन और रात आयु की कल्पनाके लिये [असनोत्] दिये और उस परमात्माने [वनस्पतीः] यज्ञके लिये यद्वा सांसारिक व्यवहार के लिये खदिर पलाश आदिवृक्षोंको यद्वा अग्निको और [अन्तरिक्षम्] वासके लिये आकाशको [असनोत्] पदार्थ... प्रदान किया [यथाह यास्कः = तत्को वनस्पतिः। यूप इ... काथ कः। अग्निरिति शाकपूणिः निरु. ८।१७] और परमात्मा [बलम्] आत्मज्ञानके रोकनेवाली शक्तिको (विभे... काटता है (विवाचः) भक्तिके प्रतिबन्ध करनेवाली वि... वाणियोंको [नुनुदे] भक्तोंकी रक्षाके लिये दूर करता है [विवाचः] विविधा प्रकारकी वेद वाणियोंको [नुनुदे] संसार... कल्याणके लिये प्रेरणा करता है [अथ] और [अभिक्रतूनाम्] सर्वदा युद्धके कर्मको करनेवाले अर्थात् बलवान् पुरुषोंके भी [दमिता] दमन करनेवाला [अभवत्] होता है अर्थात् परमात्मा सृष्ट्यादिके करनेसे प्रजाके हित करनेसे और और अहितके दूर करनेसे सारी प्रजाकी पालना और संहार करता हुआ उसमें आसक्ति नहीं रखता॥ १०॥

तुलना = भगवद्गीतामें कहा है कि विवेकी पुरुषको स्वर्ग और नर्कमें प्राप्त करनेवाले कर्म बन्धनमें नहीं डालते किन्तु विवेकी पुरुष सब कर्मोंके फलकी इच्छा न करता हुआ उदासीनकी तरह रहता है।

वेदमें भी परमात्माने सब जीवोंके लिये सारे संसारको उत्पन्न किया उसमें वास करता हुआ भी निर्लेप रहता है ऐसा कहा।

(१०) मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

[भगव. अ. ९ श्लो. १०]

अर्थ = [कौन्तेय] हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन! [मया] मुझ [अध्यक्षेण] स्वामीसे अर्थात् मुझ परमेश्वरकी आज्ञासे [प्रकृतिः] मेरी त्रिगुणात्मक माया यद्वा मेरी शक्ति [सचराचरम्] जड और चेतन समग्र संसारको [सूयते] पैदा करती है अर्थात् प्रकट करती है [अनेन] इस [हेतुना] कारणसे [जगत्] यह चराचर सारा संसार [विपरिवर्तते] बार बार उत्पन्न होता है।

वेदगीता (मंत्र)

इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः। तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तुप्रथमाय धास्यवे॥२॥

[अथ. ४।५।१]

अर्थ = [पित्र्या] जगत्के पालना करनेवाले परमपिता परमात्मासे प्रेरणा की हुई [इयम्] यह [राष्ट्री] संसारमय जगत्की स्वामिनी प्रकृति अर्थात् परमात्माकी शक्ति [भुवनेष्ठाः] परमात्मप्रदत्त सर्जन शक्तिसे चराचर जगत्में स्थित हुई हुई [प्रथमाय] प्रारंभिक [जनुषे] संसारके प्रकट करनेके लिये [अग्रे] सृष्टिके आरंभमें [एतु] कार्यरूपताको प्राप्त होती है [तस्मै] उस प्रकृतिके स्वामी [प्रथमाय] अनादि अर्थात् सारे संसारमें प्रथम स्वस्वरूपसे स्थित [धास्य वे] सारे जगत्के धारण और पोषण करनेवाले परमात्माको [सुरुचम्] अत्यन्त रोचक [ह्वारम्] मानसिक सद्विचारके आह्वान करनेवाले [अह्रुम्] हीनतासे रहित [धर्मम्] पूजामय यज्ञको [श्रीणन्तु] अर्पण करें ॥ २ ॥

तुलना = गीतामें प्रकृतिका स्वामी भगवान् प्रकृतिद्वारा चराचर जगत्को उत्पन्न कराता है इसलिये यह संसार बार बार उत्पन्न होता है । ऐसा कहा है ॥

वेदमें भी परमात्मा संसारको उत्पन्न करनेके लिये प्रकृतिको अपनी शक्तिको प्रेरित करता है जिससे सारा संसार बार बार उत्पन्न होता है और नाश होता है अतः प्रत्येक जीवको उस परमात्माकी भक्ति करनी चाहिये ।

(११) अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

(१२) मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

[भगव. अ. ९ श्लो. ११।१२]

अर्थ = [मोहिनीम्] मोह करके बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाली और [राक्षसीम्] हिंसादि करनेके निमित्त द्वेषमयी तामसी बुद्धिको [च] और [आसुरीम्] नाना प्रकारके भोगविषयकी लालसा करनेवाली [प्रकृतिम्] स्वभावको [एव] ही [आश्रिताः] आश्रय करनेवाले अर्थात् धारण करनेवाले [मोघाशाः] व्यर्थ आशा रखनेवाले (मोघकर्माणः) व्यर्थ कर्मोंके करनेवाले (मोघज्ञानाः) व्यर्थ ज्ञान रखनेवाले [विचेतसः] विवेक शक्तिसे रहित [मूढाः] सांसारिक मोहग्रस्त मूढ पुरुष [भूतमहेश्वरम्] सब भूतोंके महान् ईश्वर [मम] मेरे [परं भावम्] अत्यन्त श्रेष्ठ भावको अर्थात् मुझ परमेश्वरके निःसंगरूपके [अजानन्तः] न जानते हुए [मानुषीम्] इस समय अर्थात् अवतारावस्थामें मनुष्य सम्बन्धी [तनुम्] शरीरको [आश्रितम्] आश्रय करके मनुष्यवत् व्यवहार करने वाले [माम्] मुझ परमात्माको [अवजानन्ति] अपमान करते हैं अर्थात् मूर्ख लोग मेरे इस कूटस्थस्वरूपको अनादर करते हैं ॥ ११-१२ ॥

वेदगीता [मंत्रः]

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम् । अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुतश्रद्धेयं ते वदामि ॥
तां मायामसुरा उप जीवन्ति ॥

(अथर्व. ४।३०।४,८।१०।४-४)

अर्थ= (श्रुत !) हे श्रवण करनेवाला जीवात्मन् ! (श्रुधि) मुझसे कहे जानेवाले वचन को सुन (ते) तुझे (श्रद्धेयम्) श्रद्धा रखने योग्य उपदेशको (वदामि) उपदेशरूपसे कथन करता हूं । (यः) जो प्राणी (पश्यति) सांसारिक पदार्थोंको देखता है अर्थात् जो जीवमें देखनेकी शक्ति है (यः) जो प्राणी (प्राणिति) श्वास, उच्छ्वासादि प्राण लेता है (यः) जो प्राणी (ईम्) इस वैदिक (उक्तम्) वचन अर्थात् उपदेशको (शृणोति) सुनता है (मया) यह सब कुछ मेरे द्वारा अर्थात् मेरी शक्तिद्वारा करता है (सः) वह प्राणी (अन्नम्) अन्नको (अत्ति) खाता है (मया) वह भी मेरी कृपासे यद्वा मेरी शक्ति द्वारा खाता है (माम्) मुझे इस प्रकार (अमन्तवः) न माननेवाले प्राणी हैं (ते) वह मूढ पुरुष (उपक्षियन्ति) सर्वदा सब कार्योंमें विनाशको प्राप्त होते हैं । (ताम्) उस मेरे वास्तविक स्वरूपको न माननेवाली मायाके आश्रय पर (असुराः) आसुरी वृत्तिवाले जीव (उपजीवन्ति) जीवित रहते हैं न कि ज्ञानी पुरुष ॥ ४ ॥

तुलना= गीतामें परमात्माके परमतत्त्वको न जाननेवाले सांसारिक कर्मोंमें संलग्न व्यर्थ सांसारिक आशाओंको रखते हुए मूढ संसारके कल्याणके लिये अवतार रूपमें आए हुए परमात्माको मनुष्यवद्व्यवहार करता हुआ देखकर मनुष्य ही कहते हैं और अवतारका अनादर करते हैं ऐसा कहा वेदमें भी जीवात्मा प्रभुकी दी हुई शक्ति द्वारा खाता पीता है देखता है और सुनता है परन्तु आसुरी जीव उस परमात्माके स्वरूप

वैसा नहीं मानते और उस स्वरूपका अनादर करते हैं इसलिये वह क्षीण होते जाते हैं अर्थात् संसारमें पुनः पुनः उनका जन्म मरण होता हैं ऐसा कहा है।

(१३) महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
(भगव. अ ९, श्लो. १३)

अर्थ=(पार्थ !) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! (दैवीम्) शम, दमादि युक्त सात्विक ज्ञानमयी (प्रकृतिम्) स्वभावको (आश्रिताः) आश्रय करते हुए (अनन्यमनसः) मेरे बिना किसी अन्य वस्तुका ध्यान न करनेवाले अर्थात् मुझमें एकाग्र चित्त हुए (महात्मानः) महात्मा अर्थात् विवेकी पुरुष (तु) तो (माम्) मुझ परमेश्वरको (भूतादिम्) आकाशादि सब भूतोंका आदि कारण और (अव्ययम्) निर्विकार (ज्ञात्वा) जानकर (भजन्ति) भजन करते हैं।

वेदगीता (मंत्रः)

कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमानशुः। इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥१६॥

(ऋ. ८।३।१६, अथर्व, २०।१०।२)

अर्थ— (प्रियमेधासः) भगवत् प्रेमवाली पियारी बुद्धिवाले (आयवः) मनुष्य (आयोरयनस्य मनुष्यस्य निरु. १०।४१) (कण्वा इव) भगवत्स्तुति करनेवाले यद्वा सब कामोंमें परमात्माके नामको लक्ष्य करके चलनेवाले यद्वा बाह्येन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर परमात्माका ध्यान करनेवाले ईश्वरोपासक मेधावी, (भगवः) ज्ञानमय तपसे प्रकाशमान तेजस्वी पुरुषोंकी तरह दैवी प्रकृतिमें रहते हुए (सूर्याः) सूर्य की तरह तेजस्वी प्राणी (धीतम्) सबसे ध्यान करने योग्य (विश्वम् इत्) समग्र विश्वमें व्याप्त परमात्माको (आनशुः) प्राप्त करते हैं अर्थात् अनन्यमन हुए हुए सर्वदा परमात्मामें लीन रहते हैं। ऐसा पुरुष (इन्द्रम्) परमात्माको (महयन्तः) पूजते हुए (स्तोमेभिः) स्तोत्रोंसे अर्थात् स्तुतियोंसे (अस्वरन्) ईश्वरके यश और नामको गायन करते हैं ॥ १६ ॥

तुलना— गीतामें दैवी प्रकृतिमें वास करने वाले पुरुष अनन्यमनसे परमात्माका भजन करते हैं जो परमात्मा अव्यय और सबका मूल कारण है ऐसा कहा है। वेदमें भी भ[illegible] करनेवाले तपसे तेजस्वी पुरुष सूर्यकी तरह प्रकाश[illegible] मेधावी पुरुष भगवद्भजन करते हुए मुक्तिको पाते हैं ऐ[illegible] कहा है।

(१४) सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
(भगव. अ. ९।१४)

अर्थ— हे अर्जुन ! मेरे भक्त (सततम्) सर्वदा काल (माम्) मुझ परमात्माको (कीर्तयन्तः) गोविंद दामोदर, हरे मुरारे, ऐसे ऐसे नाम कीर्तन करते हुए (यतन्तः) शम दमादि और अहिंसाका यत्न करते हुए (च) और (दृढव्रताः) शम दमादि दृढ व्रतवाले (माम्) मुझ परमात्माको (भक्त्या) परम अनन्य भक्तिसे (नमस्यन्तः) नमस्कार करते हुए (च) भी (नित्ययुक्ताः) सदा एकाग्र चित्तसे मेरे स्वरूपके ध्यानमें लगे हुए (उपासते) मेरी उपासना करते हैं।

वेदगीता (मंत्रः)

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः। शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमूर्वं गव्यं परिषदन्तो अग्मन् ॥१७॥

(ऋ. ४।२।१७ अथर्व. १८।३।२२)

अर्थ—(सुकर्माणः) अच्छे कर्मोंवाले अर्थात् भगवन्नामादि शुभ कर्मोंके करने वाले (सुरुचः) परमात्मामें सुन्दर रुचिसे युक्त प्रीति रखनेवाले (देवयन्तः) सर्वदा सर्वथा परमात्माकी कामना करते हुए यह ईश्वर भक्तिसे देदीप्यमान यति पुरुष (अयो न) अग्निमें परितप्त हुए हुए लोहकी तरह (जनिम्) अपने मनुष्य जन्मको (आधमन्तः) चारों ओर सब प्रकारसे भक्तिसे फूंकते हुए (अग्निम्) अग्निवत् प्रकाशमान ज्योतिः स्वरूप ज्ञानमय आत्माको (शुचन्तः) ज्ञानसे प्रदीप्त करते हुए यद्वा ज्ञानसे शुद्ध करते हुए (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्यवान् परमात्माको (वावृधन्तः) स्तुतिसे अपने अन्तःकरण में बढाते हुए और (परिषदन्तः) चारों ओर नित्ययोगसमाधिसे स्थित होते हुए (ऊर्वम्) महान्से महान् (गव्यम्) वाङ्मय परब्रह्मको अर्थात् शब्दब्रह्मको (अग्मन्) उपासना करते हैं अर्थात् शब्दब्रह्मकी शरणको प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

[तुल]ना— गीतामें भगवान् कृष्णने ब्रह्मचर्यादिका धारण [कर]ना, और भगवन्नाम कीर्तन करना तथा परमात्माके आगे [झु]कना यह तीन रीतियां अपने भजनकी बताई हैं।

[और] वेदमें भी अच्छे कर्मोंका करना, भगवान्में अच्छी रुचि [रख]नी, नित्य परमात्माकी प्राप्तिकी कामना करना, सारे जन्ममें [धर्म] कर्ममें तत्पर रहना, आत्माको ज्ञानसे शुद्ध करना, भगवत् [प्रा]प्तिका साधन बताया है।

> ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
> एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥
> (भगव. अ. ९ श्लो, १५)

अर्थ— (अन्ये) कई एक भजन करनेवाले मेरे भक्त (च) भी (अपि) निश्चय करके (ज्ञानयज्ञेन) ब्रह्मात्मैकत्व विषयवाले ज्ञानयज्ञसे (एकत्वेन) केवल एक ही ब्रह्म है अन्य कुछ नहीं इस एकता बुद्धिसे अथवा मैं " अहं ब्रह्माऽस्मि " मैं और ब्रह्म दोनों एक ही हैं ऐसी एकत्व बुद्धिसे (यजन्तः) पूजन भजन करते हुए (माम्) मुझ परमेश्वरकी (उपासते) उपासना करते हैं और कई एक कर्म यज्ञोपासक प्राणी (पृथक्त्वेन) भेद दृष्टिसे अर्थात् वह ब्रह्म सच्चिदानन्द मेरा स्वामी है और मैं उसका दास हूं ऐसी पृथक्त्व बुद्धि करके (विश्वतोमुखम्) चारों ओर मुखपादादिवाले विराट् मूर्तिको (बहुधा) अनेक प्रकारसे अर्थात् इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, वरुण, आदि रूपसे (उपासते) उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

ई॒जे य॒ज्ञेभि॑ः शश॒मे शमी॑भिर्ऋ॒धद्वा॑राया॒ग्नये॑ ददाश । ए॒वा च॒न तं य॒शसा॒मजु॑ष्टि॒र्नांहो॒ मर्तं॑ नशते॒ न प्रदृ॑प्तिः ॥२॥

(ऋ. ६।३।२)

अर्थ— हे जीवात्मन् ! जो प्राणी (ऋधद्वाराय) सबसे बढे हुए अधिक तेजस्वी (अग्नये) ज्योतिःस्वरूप परमात्माको (ददाश) अनन्य भक्तिसे अपने मनको अर्पण कर देता है। वह प्राणी (यज्ञेभिः) अभेदोपासनात्मक यज्ञोंसे (ईजे) परमात्माका पूजन करता है। और कई कर्मयज्ञोपासक प्राणी (शमीभिः) बहुत प्रकार अग्निष्टोमादि कर्मोंसे (शशमे) भगवत्पूजनसे अपने आपको शान्त करते हैं अर्थात् कर्मयोग से ही मुक्तिको प्राप्त करते हैं। (एव च न) और (तम्) उस एकत्वोपासक प्राणीकी और भेदोपासक कर्मठकी (यशसाम्) यशोंकी (अजुष्टिः) अप्राप्ति (न नशते) नष्ट नहीं होती किन्तु उन दोनोंको यशोपलब्धि प्राप्त हो जाती है। और (तम्) उस एकत्वोपासक और कर्मयज्ञोपासक प्राणीको (अंहः) किसी प्रकारका पाप भी (न नशते) नहीं प्राप्त होता और (प्रदृप्तिः) अनर्थका कारण अभिमान न उसके पास प्राप्त नहीं होता ॥ २ ॥

तुलना— गीतामें ज्ञानी और कर्मी लोग अभेदभावसे और भेदभावसे उपासना करते हैं ऐसा कहा है।

वेदमें भी " यज्ञेभिः, शमीभिः " इन दोनों शब्दोंसे यही स्पष्ट कहा है ज्ञानी लोग अभेदोपासनासे और कर्मी लोग भेदोपासनासे परमात्माका पूजन करते हैं। दोनोंही भगवद्धाम को प्राप्त होते हैं ऐसा कहा है वेद और गीताने अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तोंको " एकत्व " " पृथक्त्व " और " विश्वतोमुख " से सिद्ध कर दिया है।

> अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
> मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥
> (भगव. अ. ९, श्लो. १६)

अर्थ— हे अर्जुन ! (अहम्) मैं परमात्मा (क्रतुः) यूपादि सामग्री सहित अश्वमेधादि यज्ञ हूं (अहं) मैं ही (यज्ञः) पञ्चमहायज्ञ, तथा देवपूजा, सत्संगत्यादि हूं। और मैं ही स्वधा हूं (अहम् औषधम्) मैं परमेश्वर ही मनुष्योंको साधारण भोजन अन्न तथा रोगादि दूर करनेके लिये औषध अर्थात् दवाई हूं (अहम्) मैं परमेश्वर ही (मंत्रः) देव, पितृ, परमात्मापूजाके लिये उच्चारण करनेवाला मंत्र हूं। (अहमाज्यम्) मैं आयु बढानेवाला, तथा बल बढानेवाला, अग्नि कुण्डमें हवन करनेका घृत हूं (अहम्) मैं परमेश्वर ही (अग्निः) हवन किये जाने वाली और हविको भक्षण करनेवाली आग हूं (अहं हुतम्) मैं परमेश्वर ही हवन करनेकी क्रिया अर्थात् यज्ञाग्निमें जो हविः डाली जाती है वह मैं हूं ॥ १६ ॥

वेदगीता [मंत्रः]

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् अर्क स्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥

(ऋ. ३।२६।७, साम. अ. ६।३७, यजु. १८।६६)

अर्थ— हे जीवात्मन्! (अग्निः अस्मि) मैं परमेश्वर ही हवन किये जानेवाली और हवि को भक्षण करनेवाली आग हूं। और मैं परमेश्वर ही (जन्मना) आरंभसेही (जातवेदाः) प्रत्येक प्राणीके किये हुए, और क्रियमाण, और किये जानेवाले कर्मोंको जाननेवाला हूं इसलिये मैं क्रतुरूप हूं और (घृतम्) आयु बढानेवाला, तथा बल बढानेवाला और अग्निमें हवन करनेवाला घृत अर्थात् आज्य (मे) मुझ परमात्माका (चक्षुः) चक्षु है जैसे चक्षु दूसरे पदार्थोंको देखता है ऐसे मेरा स्वरूप घृत भी हवन द्वारा मेरे स्वरूपको प्रकट करता है। और (अमृतम्) अन्न और औषध जगत्‌में अमृत स्वरूप होते हुए (मे) मुझ परमात्माके (आसन्) मुखमें वास करता है अर्थात् अन्न और औषधका अमृत प्रभाव मेरे अमृतमय मुखका दर्शन कराता है मुझ परमेश्वरका (नाम) नाम (अर्कः) अर्चनीय, अथवा स्तुति योग्य यज्ञ है अर्थात् मैं ही अर्क नामसे प्रसिद्ध हूं। (त्रिधातुः) ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अर्थात् वेदत्रयीवाले जन्ममात्रको धारण करनेवाले मंत्र मैं हूं। (रजसः) पितृ लोकको (विमानः) पहुंचानेवाला स्वधामय विमान मैं हूं। (अजस्रः) न क्षीण होनेवाला अर्थात् सर्वदा एकरस (घर्मः) जगत्‌को प्रकाश देनेवाला सूर्य मैं हूं। और मैं परमेश्वर ही (हविः) हवन करनेयोग्य क्रिया अर्थात् यज्ञाग्निमें जो हवि डाली जाती है वह मैं ही हूं ॥ ८ ॥

और उपनिषद्‌में भी कहा है—

" अन्नाद्धिखल्विमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभि संविशन्ति "

अर्थ— अन्नसे ही सब प्राणी अप्राणी उत्पन्न होते हैं और अन्नसे ही जीते हैं और उसमें ही लय हो जाते हैं। तथा च—

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मात् इमाः प्रजायन्त इति।

(प्रश्नोप. १।१४)

अर्थ— अन्न ही निश्चय करके प्रजापति है क्योंकि इसी वीर्य होकर प्रजाओंकी उत्पत्ति होती है ॥

तुलना— भगवद्गीता और वेद और उपनिषद्‌में क्रतु यज्ञ, स्वधा, औषध, मंत्रादि सब भगवत्स्वरूप ही हैं, ऐसा कहा है।

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

[भगव. अ. ९, श्लो. १७]

अर्थ— [अहम्] मैं परमेश्वर [अस्य] इस दृष्टिगोचर होते हुए [जगतः] जगत्‌का [पिता] उत्पन्न करनेवाला पिता और [माता] गर्भमें रखनेवाली माता और [धाता] कर्मानुसार पोषण करनेवाला तथा [पितामहः] जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले ब्रह्माका भी पिता अर्थात् सारे संसारका पितामह [वेद्यम्] जगत्‌में जानने योग्य और [पवित्र] परम-पवित्र ओंकार तथा [ऋक्] ऋग्वेद और [साम] सामवेद तथा [यजुः] यजुर्वेद [एव] ही हूं ॥१७ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ॥५

[ऋ. ६।१।५]

अर्थ— हे परमात्मान् [त्वम्] तू [त्राता] जगत्‌की रक्षा करनेवाला [चेत्यः] पूजने योग्य और [भूः] सबको उत्पन्न करनेवाला आधार रूप है। हे परमात्मन् आप [मानुषाणाम्] सब प्राणीमात्रका [पिता] और [माता] माता है। और भी—

पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः।
सक्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥ १६ ॥

[अथर्व. ११।७।१६]

अर्थ— [उच्छिष्टः] सब पदार्थोंके नाश होनेपर भी शेष रहनेवाला परमात्मा [जनितुः] जगत्‌के उत्पन्न करनेवाले ब्रह्माका तथा पदार्थमात्रके कारणोंका भी [पिता] उत्पन्न

विश्वकर्मा-ऋषि

[लेखक—पं० ऋभुदेव शर्मा 'वेदरत्न' अध्यक्ष-वेदानुसन्धान-सदन; हैदराबाद (दक्षिण)]

विश्वकर्मा एक वैदिक देवता है। यह ऋषी भी है। लोकमें यह शिल्पियोंका पूर्वज और गुरु मानी गई है। इस देवताका परिचय देना आवश्यक है जिससे जनता वैदिक विश्वकर्माका प्रकाश पा सके और शिल्पियों का कुछ गौरव भी बढ सके।

ब्राह्मण-ग्रन्थ—

(१) अथो विश्वकर्मणे। विश्वं वै तेषां कर्म कृतं, सर्वं जितं भवति ये संवत्सरमासते। (शतपथ ४।६।४।५)

(२) वाग् वै विश्वकर्म ऋषिः, वाचा हीदं सर्वं कृतम्। (श० ८।१।२।९)

(३) प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा। (श० ७।४।२।५)

(४) संवत्सरो विश्वकर्मा (ऐतरेय ४।२२)

(५) असौ वै विश्वकर्मा योऽसौ (सूर्यः) तपति। (गोपथ० उ० १।२३)

(६) विश्वकर्मा त्वाऽऽदित्यैरुत्तरतः पातु। (श० ३।५।२।७)

(७) असौ (द्यौः) विश्वकर्मा। (तै० ३।२।३।७)

(८) तस्य (इन्द्रस्य) असौ (द्युः) लोको नाभिजित आसीत् तं (इन्द्रः) विश्वकर्मा भूत्वाऽभ्यजयत्। (तै० १।२।३।३)

(९) इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा विश्वकर्माऽभवत् प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माऽभवत्।(ऐ०४।२२)

(१०) विश्वकर्माऽयमग्निः। (श० ९।२।२।२)

(११) अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवत एष हीदं सर्वं करोति। (श० ८।१।१।७)

(१२) वैश्वकर्मण एक कपालः पुरोडाशो भवति। विश्वं वा एतत् कर्म कृतं, सर्वं जितं देवानामासीत् साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानाम्। (श० २।५।४।१०)

(१३) (प्रजापतिः) वैश्वकर्माणं पुरुषं (आलिप्सत) (श० ३।२।१।५)

अर्थ—

(१) अब विश्वकर्माके लिये। जो संवत्सरकी उपासना करते हैं उनका सारा कर्म पूर्ण होता है और वे सब कुछ जीत लेते हैं।

(२) वाणी ही विश्वकर्मा ऋषि है, वाणीसे ही सब कुछ किया जाता है। अर्थात् वाणी सब कार्य करती है इससे विश्व=सब, कर्मा=कर्मवाली है।

(३) प्रजापति ही विश्वकर्मा है।

(४) संवत्सर (वर्ष) विश्वकर्मा है।

(५) आकाशमें तपनेवाला सूर्य विश्वकर्मा है।

(६) विश्वकर्मा आदित्योंसे उत्तरकी ओर तुझे बचाये।

(७) द्यौ लोक विश्वकर्मा है।

(८) इन्द्र द्युलोक नहीं जीत सका था, उसे विश्वकर्मा बनकर जीता।

(९) इन्द्र वृत्रको मारकर, विश्वकर्मा बना। प्रजापति प्रजाओंको रचकर विश्वकर्मा बना।

(१०) यह अग्नि विश्वकर्मा है।

(११) जो यह चल रहा है वह यह वायु विश्वकर्मा है क्योंकि यही वायु यह सब करता है।

(१२) विश्वकर्माका पुरोडाश एक कपालका होता है। साकमेधसे यज्ञ करनेवाले विजयी देवोंने यह सब कर्म किया और यह सब कुछ जीत लिया।

(१३) प्रजापतिने वैश्वकर्म पुरुषको प्राप्त करना चाहा।

उपर्युक्त सारे वाक्योंके पढनेसे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि 'य विश्वं कर्म करोति स विश्वकर्मा भवति।' अर्थात् जो सब कर्म करता है वह विश्वकर्मा कहलाता है। प्रथम उद्धरणमें ही कहा गया है 'विश्वं हि तेषां कर्म कृतम्' उन्होंने 'विश्वं

कर्म ' सम्पूर्ण कर्म किया । नवममें कहा गया है 'वृत्रं हत्वा विश्वकर्माऽभवत्' इन्द्र वृत्रको मारकर ही विश्वकर्मा बना। अशेषता वृत्रके मारनेपर ही हुई । जो देव अपना कार्य शेष नहीं छोडता और जो सारे कर्मोंके करनेमें समर्थ है उसका नाम विश्व-कर्मा है ।

निरुक्तकार विश्वकर्मा को मध्यम स्थानीय देव मानते हैं। विश्वकर्मा का अर्थ ' सर्वस्य कर्ता ' = सबका करनेवाला, करते हैं। विश्वपूर्वक कृञ् धातुसे कर्ता अर्थमें मनिन् प्रत्यय लगाकर ' विश्वकर्मन् ' शब्द सिद्ध होता है। 'विश्वं करोतीति विश्वकर्मा । जो समस्त कार्य करता है वह विश्व-कर्मा कहलाता है। उपपद समास न करके बहुव्रीहि समास करें तो ' विश्वं कर्माऽस्यास्तीति विश्वकर्मा ' जिसमें सब कर्मों की योग्यता है उसका नाम विश्वकर्मा होगा। परमेश्वरके अर्थमें 'विश्वस्य कर्ता' अर्थात् संसारका बनाने-वाला, यह अर्थ लेना पडेगा ।

निरुक्तके व्याख्याकार मुकुन्द शर्मा लिखते हैं—

(१) ' विश्वकर्मा (१६) वक्तव्यः । स एव यावदिदं किंचिद्भूतं करिष्यमाणं क्रियमाणं च तस्य सर्वस्य कर्त्ता वाय्वात्मकत्वात् सर्वचेष्टानाम् । करोतेः कर्तरि मनिन् मध्यम स्थानो वायुः । स हि वृष्टिद्वारेणापि सर्वस्य कर्त्ता ।

(२) पार्थिवाप्यौ हि धातू तेजसा परिपच्यमानौ वायु-व्यूहेन विचरन् सर्वभावानुप्रवेशी । सर्वमिदमत्यद्भुतम-चिन्त्यमकृतात्मभिर्जगत्करोतीति स मध्यमः। विश्वकर-णाद् विश्वकर्मा, विज्ञायते हि वैश्वकर्माणं हविरधिकृत्य साकमेधेषु-" अथैष वैश्वकर्मणो विश्वानि मे कर्माणि कृतान्यासन्निति विश्वकर्मा सोऽभवदिति ।' इत्यादि दुर्ग-व्याख्यानमत्र द्रष्टव्यम् ॥ (निरुक्त १०।३)

भावार्थ— (१) वायुरूप होनेसे विश्वकर्मा भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब कार्योंका कर्त्ता है । यह मध्य स्थानमें रहता है, यह वृष्टिद्वारा भी सब पदार्थोंका निर्माता है ।

(२) पृथिवी और जलके धातुको तेज (अग्निकी उष्णता) से पकाकर वायुसमूहसे प्रेरित घूमते हुए सब भाव पदार्थोंमें प्रवेश किया हुआ है । यह मध्यम सब ही अचिन्त्य जगत् को अनिर्मित शक्तिसे बनाता है । वि[illegible] के करनेसे उसका नाम विश्वकर्मा है । साकमेधोंमें आता है ' उसने सोचा, सारे कर्म मेरे किये हुए थे, इ[illegible] कारण यह विश्वकर्मा हुआ । ' इत्यादि वाक्य दुर्गाचार्यके निरुक्त व्याख्यानमें देखने चाहिये ।

' विश्वानि मे कर्माणि कृतान्यासन् ' इस वाक्य-से स्पष्ट है कि जिसने सारे कार्य किये वह विश्वकर्मा अर्थात् सब कर्मोंवाला, कहलाया । निरुक्तकारने आदित्य (सूर्य) और आत्माको भी विश्वकर्मा बताया है। यथा—

विश्वकर्मा-विभूतमनाः व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च संद्रष्टा भूतानाम् । तेषामिष्टानि वा, कान्तानि वा, क्रान्तानि वा, गतानि वा, मतानि वा, नतानि वाऽद्भिः सह संमोदन्ते, यत्रैतानि सप्त ऋषीणानि ज्योतींषि, तेभ्यः पर आदित्यस्तान्येतास्मिन्नेकं भवन्तीति -अधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम् -- विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयितेन्द्रियाणा-मेषामिष्टानि वा, कान्तानि वा, क्रान्तानि वा,गतानि वा, मतानि वा, नतानि वाऽन्नेन सह सम्मोदन्ते, यत्रेमानि सप्त ऋषीणानि इन्द्रियाणि, तेभ्यः पर आत्मा, तान्येतस्मिन्नेकं भवन्ति इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ (निरुक्त १०।३।२६)

सारांश यह कि यह सूर्य विश्वकर्मा है उसके सात किरण सात ऋषि हैं जो उसके साथ एक होकर रहते हैं। अध्यात्मपक्षमें यह आत्मा विश्वकर्मा है उसके सात इन्द्रिय सात ऋषि हैं । ये सात ऋषि आत्माके साथ अन्नद्वारा आनन्द करते हैं । आत्मा सबसे बडा है । निरुक्तकार एक इतिहास देते हैं—

तत्रेतिहासमाचक्षते-विश्वकर्मा ह भौवनः सर्व-मेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार स आत्मा-नमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार ॥

भावार्थ--विश्वकर्माके विषयमें इतिहास कहते हैं। भुवनके पुत्र विश्वकर्माने सर्वमेध यज्ञमें सब भूतोंकी आहुति कर दी अन्तमें अपने को भी यज्ञमें डाल दिया ।

…बसक संवत्सर, वाणी, प्रजापति, सूर्य, द्यौ, इन्द्र, …न, वायु, पुरुष, आत्मा, भुवनका पुत्र इतने अर्थोंमें विश्वकर्माका प्रयोग देखा जा चुका है।

…मन विश्वकर्मा —

प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सा-…न्यप्सरस एष्टयो नाम। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु, …स्मै स्वाहा वाट्, ताभ्यः स्वाहा ॥

(वा० य० १८।४३)

अर्थ— (महीधरकृत) प्रजापतिः प्रजायाः पालकः। विश्वकर्मा विश्वं सर्वं करोतीति 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० ३।२।७५) इति करोतेर्मनिन्। 'स हीदं सर्वमकरोदिति ॥

(९।४।१।१२)

श्रुतेः। तस्य मनसो गन्धर्वस्य ऋक् सामान्य-प्सरसः। नाम प्रसिद्धम्। कीदृश्यः। एष्टयः इष्यते काङ्क्ष्यतेऽभीष्टं याभिस्ता एष्टयः। 'मनो ह गन्धर्वः ऋक्सामैरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्रामे-ष्टयो नाम। इति। ऋक् सामानि वा एष्टय ऋक् सामैर्ह्याशासत इति नोऽस्तु इत्थं नोऽस्तु। (९।४।१।१२) इति श्रुतेः।

(प्रजापतिः) प्रजाओंका पालक और (विश्वकर्मा) सब इन्द्रियोंके साथ मिलकर कार्य करनेवाला यह (मनः) मन (गन्धर्वः) गन्धर्व है। (एष्टयः नाम) एष्टि नामसे प्रसिद्ध (ऋक् सामानि) ऋग् और साम मन्त्र (तस्य) उस मन गन्धर्वकी (अप्सरसः) अप्सरायें हैं। (सः) वह मन गन्धर्व (नः) हमारे (इदम्) इस (ब्रह्म) ब्राह्मण और (क्षत्रम्) क्षत्रिय की (पातु) रक्षा करे। (तस्मै) उस मन गन्धर्वके लिये (स्वाहा वाट्) शक्ति, वर्द्धक आहुति प्राप्त हो तथा (ताभ्यः) उन एष्टि नामकी अप्सराओंके लिये (स्वाहा) यह आहुति प्राप्त हो।

यहां मन भी विश्वकर्मा है। जो गन्धर्व और अप्सराओं की विचित्र कल्पना करते हैं वे देखें कि मन और ऋक्-साम गन्धर्व और अप्सरा बताये गये हैं जो शरीरधारी नहीं है।

मन विश्वकर्मा का पुत्र है—

अयं दक्षिणा, विश्वकर्मा; तस्य मनो वैश्वकर्मणं, ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुब्ग्रैष्मी त्रिष्टुभः, स्वारं स्वाराद्, अन्तर्यामोऽन्तर्यामात्, पञ्चदशः पञ्चदशात्, बृहत्, भरद्वाज ऋषिः, प्रजापति-गृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥

(वा० य० १३।५५)

महीधरकृत टिप्पणी-'विश्वं करोति सर्वं सृजाति इति विश्वकर्मा वायुः,' अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योऽयं पवते, एष हीदं सर्वं करोति तद् यत् तमाह दक्षिणेति तस्माद् दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति०। तस्य विश्वकर्मणो ऽपत्यं मनोऽत एव वैश्वकर्मणं विश्वकर्मण इदं०।

अर्थ--(अयम्) यह (विश्वकर्मा) विश्वकर्मा वायु (दक्षिणा) दक्षिण दिशामें बहता है। (तस्य वैश्वकर्मणम्) उस विश्वकर्माका पुत्र (मनः) मन है। (मानसः) मनका पुत्र (ग्रीष्मः) ग्रीष्म ऋतु है। (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् छन्द (ग्रैष्मी) ग्रीष्मसे उत्पन्न हुआ है। (त्रिष्टुभः) त्रिष्टुप् छन्दसे (स्वारम्) स्वार नामक साम उत्पन्न हुआ। (स्वारात्) स्वार नामक सामसे (अन्तर्यामः) अन्तर्याम नामक ग्रह=पात्र उत्पन्न हुआ है। (अन्तर्यामात्) अन्तर्याम पात्रसे (पञ्चदशः) पञ्चदश स्तोम, (पञ्चदशात्) पञ्चदश स्तोमसे (बृहत्) बृहत् पृष्ठ उत्पन्न हुआ। इस दिशामें (ऋषिः) ऋषि (भरद्वाजः) भरद्वाज है। हे इष्टके! (प्रजापति गृहीतया) प्रजापतिसे स्थापित (त्वया) तुझसे, मैं (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके लिये (मनः) मन (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं।

ऊपर वायुका नाम विश्वकर्मा बता चुके हैं। वायु और मनका घनिष्ठ सम्बन्ध होनेसे मन वायुका है, वायुका पुत्र है। वायुसे प्रेरित होकर क्रियाशील होता है। वेदने वायुको विश्वकर्मा नाम देकर उसकी महत्ता बढा दी है। इधर मनको विश्वकर्माका पुत्र कहकर उसे भी विश्व-कर्मा बना दिया है। इसी कारण न्याय भाष्यकार वात्स्यायन-मुनि मनको 'सर्वविषय' कहते हैं।

भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि, सगु-णानां चैषामिन्द्रियभाव इति, मनस्त्वभौतिकं सर्वविषयं च। (न्या० भा० १।१।४)

अर्थ— इन्द्रिय भौतिक हैं और प्रत्येक इन्द्रियके विषय नियत हैं। ये एक एक विषयके साथ एक एक इन्द्रिय माने गये हैं और भूतोंके गुण इनमें विद्यमान रहते हैं। मन अभौतिक है। यह पंचभूतोंमेंसे किसीसे नहीं बना इस कारण यह एक ही विषय नहीं ग्रहण करता। यह सब इन्द्रियोंके सब विषयोंको ग्रहण करता है। इसमें इन्द्रियोंसे प्राप्त सब विषयोंके ग्रहण करनेकी शक्ति है। सब इन्द्रियोंके कार्य करनेके कारण इसे विश्वकर्मा या विश्वकर्माका पुत्र कहना उचित ही है।

काल विश्वकर्मा

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः
समवर्तताग्रे। तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति
तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥
(वा० य० ३१।१७)

यह पुरुष (अद्भ्यः) जलसे, (पृथिव्यै) पृथिवीके (सम्भृतः) धारण किये हुए (रसात्) रससे (च) और (विश्वकर्मणः) कालसे सबसे (अग्रे) पूर्व (सम् अवर्तत) उत्पन्न हुआ। (त्वष्टा) परमात्मा (तस्य) उसका (रूपम्) रूप (विदधत्) बनाता हुआ (एति) प्राप्त होता है। (अग्रे) पहले (तत्) वही (मर्त्यस्य) मनुष्यका (आजानम्) अमैथुन (देवत्वम्) देवत्व है।

इस सृष्टि पुरुषकी रचना, पृथिव्यादि भूत और कालसे हुई है। आदिकालके मनुष्य माता-पितासे नहीं उत्पन्न हुए। उस समयतक मनुष्यकी रचना ही नहीं हुई थी। परमात्मा ने पृथिव्यादि भूतोंसे ही उन आजान देवोंकी रचना की। अमैथुनी सृष्टिके पुरुष आजान देव कहलाते हैं। महीधरने कर्मदेव और आजानदेव, देवोंके दो भेद बतलाये हैं। आधार बृहदारण्यक उपनिषद्का दिया है। 'सृष्ट्यादावुत्पन्ना आजानदेवाः' अर्थात् सृष्टिके आदिमें उत्पन्न आजान देव कहलाते हैं।

काल विश्वकर्म है क्योंकि वह विश्वका कर्ता है।

यज्ञकर्ता विश्वकर्मा

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं
तन्वते विश्वकर्माणः। यस्यां मीयन्ते स्वरवः
पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना। (अथर्व. १२।१।१[illegible])

(विश्वकर्माणः) सम्पूर्ण कर्मोंमें निपुण याज्ञिक लो[illegible] (यस्याम्) जिस (भूम्याम्) भूमिपर (वेदिम्) वेदि[illegible] (परिगृह्णन्ति) ग्रहण करते हैं, बनाते हैं और (यस्या[illegible]) जिस भूमिपर (यज्ञम्) यज्ञका (तन्वते) प्रारम्भ कर[illegible] हैं, (यस्याम्) जिस (पृथिव्याम्) पृथिवीपर (आहुत्याः) आहुतिसे (पुरस्तात्) पूर्व (ऊर्ध्वाः) ऊँचे (शुक्राः) सुन्दर (स्वरवः) यज्ञस्तम्भ (मीयन्ते) बनाये जाते हैं (सा) वह (वर्धमाना) बढती हुई (भूमिः) पृथिवी (नः) हमें (वर्धयत्) वृद्धियुक्त करे।

यज्ञका विस्तार करनेवाले ऋत्विक्, पुरोहित, याज्ञिक लोग विश्वकर्मा हैं इस मन्त्रसे स्पष्ट विदित होता है। विश्वकर्मा नाम अतीव उच्च आदर्शका द्योतक है।

ऋग्वेदके विश्वकर्म-सूक्त

ऋषिः- विश्वकर्मा भौवनः। देवता-विश्वकर्मा।
(ऋग्वेद. १०।८१।१-७)

(१) य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद्-ऋषिर्होता
न्यसीदत् पिता नः। स आशिषा द्रविण-
मिच्छमानः प्रथमच्छद् अवराँ आ विवेश ॥

अर्थ— (यः) जिस (ऋषिः) सर्वव्यापक (होता) सृष्टियज्ञकर्ता (नः) हमारे (पिता) पालक विश्वकर्माने (इमा) इन (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) लोकोंको प्रकृतिमें (जुह्वत्) हवन करते हुए, लीन करते हुए (नि असीदत्) विश्राम किया था, (सः) उसने ही (आशिषा) कामनासे जगद्रूप (द्रविणम्) धन उत्पन्न करनेकी (इच्छमानः) इच्छावाला होता हुआ स्वयं (प्रथमच्छद्) महत्तत्त्वका आश्रय लेकर (अवरान्) अहंकारादिमें भी (आविवेश) प्रवेश किया।

भावार्थ— यह कि यह कार्य जगत् कारणमें लीन होता है। जब विश्वकर्मा प्रभुकी इच्छा होती है कि विश्वका निर्माण करूं तब प्रकृतिसे महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहंकारादि कार्य जगत्को बनाता है। वह सब जगत्में व्यापक रूपसे वर्तमान रहता है। प्रकृतिका प्रथम कार्य महत्तत्त्व है उसे ही निरुक्तमें महान् आत्मा, कम्, ब्रह्म, आपः, ऋत, सत्यादि

...दिया गया है। जल और महत्तत्वके नाम समान हैं। ...रायणका निवास जलमें है' उसका अर्थ यही है कि ...नारा (जल) अर्थात् महत्तत्वका आश्रय लेकर सृष्टिको ...ना करता है। उसी कारण उसे प्रथमच्छद् भी ... हैं।

(...)किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्
स्वित् कथाऽऽसीत्। यतो भूमिं जनयन्
विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥

अर्थ—(विश्वचक्षाः) सबके द्रष्टा (विश्वकर्मा) विश्वके निर्माता प्रभुने (यतः) जिस सामग्रीसे (भूमिम्) पृथ्वीको और (द्याम्) द्युलोकको (जनयन्) उत्पन्न करते हुए (महिना) अपनी शक्ति(वि और्णोत्) प्रकट किया, उस सामग्रीका (अधिष्ठानम्) आश्रय स्थान (किंस्वित्) क्या (आसीत्) था। (आरम्भणम्) आरम्भक द्रव्य (कतमत् स्वित्) कौन ? और वह (कथा) किस प्रकारका (आसीत्) था ?

सृष्टिके निवासस्थान और उपादान कारणका प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है। निमित्त कारण या कर्ता साक्षात् विश्वकर्मा ही हैं।

(३)विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो
बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं
पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥

अर्थ— वह (विश्वतः-चक्षुः) सर्व ओर आँखोंवाला (उत) और (विश्वतः-मुखः) सब ओर मुखवाला (विश्वतः-बाहुः) सब ओर भुजा (उत) और (विश्वतः-पात्) सब ओर पाँववाला (एकः) एक ही (देवः) देव (द्यावा-भूमी) द्यौ और पृथ्वीको (जनयन्) बनाते हुए (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओंसे-निर्माण और संहार दोनों शक्तियोंसे (पतत्रैः) सूक्ष्म द्रव्यों-परमाणुओं द्वारा इस सृष्टिको (सं सं धमति) गर्म करता है, धौंकता है, तपाता है।

प्रथम प्रश्न— किस स्थानपर सृष्टि बनाता है ?

उत्तर मिला— 'सर्वत्र'। उसकी शक्तियाँ सब ओर कार्य कर रही हैं।

द्वितीय प्रश्न— सृष्टि निर्माणका मूल द्रव्य क्या है ?

उत्तर— पतत्र। उड़नेवाले पदार्थ, परमाणु।

तृतीय प्रश्न— कैसे बनाता है ?

उत्तर— उसमें निर्माण और संहारकी दो शक्तियाँ हैं उनसे ही वह संयोग-वियोग करता रहता है। लोहारकी धौंकनीके द्वारा उसकी भट्टी जैसे सदा तप्त रहती है उसी प्रकार विश्वकर्माकी भट्टी भी सदा जलती रहती है। उसकी भट्टीमें से सूर्य सदृश अग्निके बड़े बड़े गोले निकलते रहते हैं।

(४)किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्
यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥

अर्थ —(यतः) जिस वनके वृक्षसे (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (निः-ततक्षुः) बनाये गये वह (वनम्)वन (किंस्विद्) क्या था (उ) और (सः) वह (वृक्षः) वृक्ष (कः) कौन (आस) था ? हे (मनीषिणः) विद्वान् लोगों ! (मनसा) मनसे (तत्) उसको (पृच्छत इत् उ) पूछो ही, विश्वकर्माने (भुवनानि) लोकोंको (धारयन्) धारण करते हुए (यत्) जिसको अपने (अधि अतिष्ठत्) आधीन किया था।

इस मंत्रमें सृष्टिके कारणों पर स्वयं विचारनेकी प्रेरणा की गई है। इससे पता चलता है कि वैज्ञानिक अन्वेषणद्वारा हमें स्वयं भी सृष्टिके तत्वोंका अनुसन्धान करना चाहिये। मनसे पूछनेका अर्थ है स्वयं विचारना।

(५)या ते धामानि परमाणि यावमा या
मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा। शिक्षा सखिभ्यो
हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥

अर्थ — हे (स्वधावः) अन्नवाले (विश्व-कर्मन्) विश्वकर्मा! (ते) तेरे (या) जितने (परमाणि) उत्तम (धामानि) लोक या सुख हैं (या) जितने (अवमा) छोटे सुख हैं (उत) और (या) जो (इमा) ये (मध्यमा) मध्यम कोटिके सुख हैं वे सब (हविषि) यज्ञके समय (सखिभ्यः) मित्रोंके लिये (शिक्ष)दो अपने (तन्वम्) शरीर या शक्तिको (वृधानः) बढाते हुए (स्वयम्) आप ही (यजस्व) यज्ञको चलाओ।

विश्वके रचयिता भगवान् यह सृष्टि यज्ञ स्वयं चला रहे हैं इस यज्ञ द्वारा वे जीवोंको उनके कर्मोंका फल प्रदान करते हैं। जीव उनके मित्र हैं। कर्मफल ही स्वधा है।

(६)विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यज-
स्व पृथिवीमुत द्याम्। मुह्यन्त्वन्ये अभितो
जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥

अर्थ — हे (विश्वकर्मन्) विश्वकर्म देव! तुम (हविषा) हविर्द्रव्यसे (वावृधानः) बढाते हुए (स्वयम्) आप ही (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) द्यौके निर्माण-रक्षण रूप यज्ञको (यजस्व) चलाओ। हमारे (अन्ये) शत्रु (जनासः) लोग (अभितः) सब ओरसे (मुह्यन्तु) मोहित हो जायँ, भयसे कर्तव्यहीन बन जायँ तथा (सूरिः) बुद्धिमान् (मघ-वा) इन्द्र (इह) इस लोकमें, यज्ञमें, युद्धमें (अस्माकम्) हमारे पक्षका (अस्तु) हो जाय।

विश्वकर्म देव यज्ञ करते - कराते हैं। वे स्वयं यज्ञ करते और दूसरोंके विजय प्राप्त्यर्थ यज्ञ करा कर विजयकी बडी शक्ति इन्द्रको यज्ञकर्त्ताओंके आधीन कर देते हैं। जो सृष्टि के, बडे यज्ञको समझता है वह स्वयं इन्द्र बनकर शत्रुओं-पर विजय प्राप्त करता है।

(७)वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं
वा जे अद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि
जोषद् विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥

अर्थ — हम (अद्य) आज अपनी (ऊतये) रक्षाके लिये (वाचःपतिम्) वाणीके स्वामी (मनः-जुवम्) मनके समान वेगवान् (विश्व-कर्माणम्) विश्वकर्माको इस (वाजे) यज्ञमें (हुवेम) बुलाते हैं (सः) वह (विश्व-शम्भूः) सबके लिए कल्याण रूप (साधु-कर्मा) उत्तम कर्मोंवाला विश्वकर्मदेव (अवसे) रक्षाके लिये (नः) हमारी (विश्वानि) सारी (हवनानि) स्तुतियोंको (जोषत्) सेवन करे, स्वीकार करे।

विश्वकर्मा यज्ञके समय स्तुति प्राप्त करता है। यह यज्ञिय देव है। स्तुति प्राप्त करके स्तोताओंकी रक्षा करता है। यजुर्वेदमें इस मंत्रद्वारा इंद्रकी स्तुति की गई है और इंद्रको विश्वकर्मा कहा गया है जिसका अर्थ यह है कि कलाकारोंको राष्ट्रके निमित्त कलाकौशलकी वृद्धि करनी ही चाहिये उन्हें युद्धमें भी भाग लेकर शत्रुओंसे लडना चाहिये। शिल्पी केवल घरमें बैठकर युद्धके साधनोंका निर्माण न करते रहें वे युद्धमें जाकर वैज्ञानिक ढंगसे लडें भी।

(ऋग्वेद. १०।८२।१-७)

(१)चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने
अजनन्नम्नमाने। यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद्
द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥

अर्थ— (यदा इत्) जब (पूर्वे) पूर्व प्राणादिने द्यौ और पृथिवीके (अन्ताः) ऊपरी भागोंको (अददृहन्त) दृढकर दिया, कठोर बना दिया (आत् इत्) इसके पश्चात् ये (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी (अप्रथेताम्) प्रसिद्धिमें आ गई अर्थात् इनपर वृक्ष तथा अन्य देहधारी उत्पन्न हुए। इसी समय (हि) ही (चक्षुषः) नेत्र आदि इन्द्रियोंके (पिता) पालक (धीरः) बुद्धिके प्रेरक विश्व-कर्माने (नम्नमाने) नम्र बनी हुई (एने) इन द्यौ और पृथिवीके निमित्त (घृतम्) जल (अजनत्) उत्पन्न किया।

इस मंत्रमें सूर्य विश्वकर्मा नामसे स्तुत हुआ है। वायु पृथिवी आदिके ऊपरी भागोंको कठोर बना देता है जिससे उसपर वनस्पति प्राणधारी उत्पन्न हो सकें। तत्पश्चात् सूर्य जल बरसा कर वनस्पतियोंको उगाता और अनेक जीवोंको उत्पन्न करता है। सूर्य विश्वकर्मा बनकर सृष्टि उत्पन्न करता है।

(२)विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता
विधाता परमोत संदृक्। तेषामिष्टानि समिषा
मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः ॥

अर्थ— यह [विश्वकर्मा] विश्वकर्मा [वि-मनाः] व्यापक मनवाला, [आत्] और [विहायाः] महान् है। [धाता] सबका धारक [विधाता] निर्माणकर्त्ता [उत] और [परमः] बडा [संदृक्] द्रष्टा हैं। [यत्र] जिस [परः] सबसे परे विश्वकर्मामें [सप्त-ऋषीन्] सात ऋषियोंको [एकम्] एक बने हुए [आहुः] कहते हैं उसमें [तेषाम्] उन सातों ऋषियोंके [इष्टानि] अभिल-

[इषा] भोजनरूपसे [सं मदन्ति] खेलते हैं।

निरुक्तकारने सूर्य और आत्माको विश्वकर्मा मानकर किरण और सात इन्द्रियोंको सात ऋषि बताया है। सूर्यके साथ एक होकर रहते हैं और इन्द्रिय आत्मा य। इनकी शक्ति भी विश्वकर्माके दिये हुए भोजन ही बढती है। किरणोंका भोजन जल और इन्द्रियोंका जन अपने अपने विषय हैं। सारे देव सृष्टिके निर्माता विश्वकर्मासे मिले हुए रहते हैं। विश्वकर्मा उनमें शक्ति भरता रहता है।

(३) यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

अर्थ— [यः] जो विश्वकर्मा [नः] हमारा [पिता] पालक और [जनिता] उत्पादक है [यः] जो हमारा [वि-धाता] धारक है जो [विश्वा] सारे [भुवनानि] लोकों और [धामानि] स्थानोंको [वेद] जानता है [यः] जो [एकः] अकेला [एव] ही [देवानाम्] देवोंको [नाम-धा] प्रसिद्धिमें लाता है [अन्या] दूसरे [भुवना] लोकलोकान्तर [तम्] उसी [सम्-प्रश्नम्] पूछनेयोग्य विश्वकर्माके [यन्ति] पास जाते हैं।

विश्वकर्मा भुवन अर्थात् उत्पन्न हुए सब लोकों और पदार्थोंका उत्पादक है, धारक है। अग्नि, वायु आदि देवों-का निर्माण कर प्रसिद्ध करनेवाला भी वही है। उसीके विषयमें सबको चर्चा करनी चाहिये।

(४) त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना। असूर्तें सूर्त्ते रजासि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥

अर्थ— [रजसि] आकाशमें [नि-सत्ते] स्थित [असूर्ते] प्राणके संचालक और [सूर्ते] अच्छे प्रेरक [ये] जिन ऋषियोंने [इमानि] इन [भूतानि] पदार्थोंको [सम् अकृण्वन्] बनाया [ते] उन [जरितारः] स्तुति करनेवाले [पूर्वे] पूर्वके [ऋषयः] ऋषियोंने [असमै] इस लोकके लिये [न भूना] बहुत अधिक नहीं अर्थात् युक्त परिमाणमें जलरूप [द्रविणम्] धन [सम् आ-यजन्त] दान किया।

वैदिक इतिहासके अनुसार विश्वकर्माने वसिष्ठादि ऋषि-योंको बनाया। उन ऋषियोंने अपनी स्तुतिद्वारा जल-वृष्टि कराई। वास्तवमें सूर्य प्राण आदि प्राकृतिक शक्तियोंको प्रेरणा देकर वृष्टि करता है। 'प्राण ही वसिष्ठ ऋषि है' इस प्रकारके वाक्य ब्राह्मण ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। ऐतिहासिकका अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थ लेने चाहिये।

(५) परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति। कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ॥

अर्थ— [यत्] जो इस [दिवा] द्युलोकसे [परः] बडा, [एना] इस [पृथिव्या] पृथिवीसे [परः] बडा [देवेभिः] देवों और [असुरैः] असुरोंसे भी [परः] बडा [अस्ति] है। उस [कंस्वित्] किस [गर्भम्] गर्भको [प्रथमम्] पूर्व कालमें [आपः] जलदेवियोंने [दध्रे] धारण किया [यत्र] जहाँ [विश्वे] सारे [देवाः] देव [सम् अपश्यन्त] एक दृष्टि बन गये।

विश्वकर्मा द्यु, पृथिवी, देव, असुर सबसे बडा है। वह जलमें अग्निरूपसे विराजमान है। सृष्टिके कार्य समय सब देवोंकी दृष्टि इसी भगवान्की ओर लगी रहती है।

(६) तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे। अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥

अर्थ— [यत्र] जहां [विश्वे] सारे [देवाः] देव [सम् अगच्छन्त] एक हो गये [यस्मिन्] जिस देवमें [विश्वानि] सम्पूर्ण [भुवनानि] लोक [तस्थुः] स्थित हुए हैं [आपः] जलोंने [अजस्य] मुख्य कारण अजन्मा प्रकृतिके [नाभौ अधि] बीच [अर्पितम्] स्थापित [तम् इत्] उसी [एकम्] एक [गर्भम्] गर्भको सबसे [प्रथमम्] पूर्व [दध्रे] धारण किया।

विश्वकर्माने प्रकृतिसे महत्तत्व की रचना की। उसमें वह स्वयं कार्य करता रहा इस कारण उसका नाम नारायण हो गया क्योंकि महत्तत्वका नाम आपः, नाराः इत्यादि हैं। इस महत्तत्वमें वह साक्षात् कार्य करता है, इस कारण यही इसका अयन अर्थात् स्थान कहा गया है। इस मन्त्रसे प्रतीत होता है कि ब्रह्मा और विश्वकर्मा एक ही शक्तिके नाम हैं।

(७)न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्मा-
कमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चा-
सुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥

अर्थ— हे मनुष्यो ! [तम्] उस विश्वकर्माको तुम लोग [न] नहीं [विदाथ] जानते हो [यः] जिसने [इमा] इन लोकोंको [जजान] उत्पन्न किया है [युष्मा-कम्] तुम्हारे [अन्तरम्] भीतर रहनेवाला वह तुमसे [अन्यत्] भिन्न ही [बभूव] हैं। [असु-तृपः] प्राण-पोषक मूर्ख और जो केवल [उक्थ-शासः] मंत्रपाठ करते हैं वेदका अर्थ नहीं जानते ये सारे [नीहारेण] अविद्या [च] और [जल्प्या] कुतर्कसे [प्र-आवृताः] घिरे हुए इधर उधर अन्धकारमें [चरन्ति] भटकते हैं।

इस मन्त्रमें विश्वकर्माको सर्वव्यापक बताया गया है। वह हम लोगोंके भीतर है और हमसे भिन्न है। जो लोग दिन रात धन कमाने और शरीरको सुखी रखनेकी ही चिन्तामें लगे हुए हैं वे इस विश्वकर्माको नहीं जानते। वे पशुओंके समान अज्ञान दशामें हैं। कई एक कर्मकाण्डी केवल मंत्रपाठसे मुक्ति मानते हैं वे भी अन्धकारमें हैं। कई एक तर्कबलसे ईश्वरका खण्डन करते हैं वे भी अन्ध-कारमें ही विचर रहे हैं।

यजुर्वेदमें कुछ और भी मन्त्र पाये जाते हैं जो ऋग्वेदके सूक्तपाठसे अधिक हैं—

(१)विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्र-
मकृणोरवध्यम्। तस्मै विशः समनमन्त पूर्वी-
रयमुग्रो विहव्यो यथाऽसत्॥

(वा० य० १७।२४)

हे [विश्व-कर्मन्] विश्वकर्म देव ! तुमने [वर्धनेन] वृद्धिकारक [हविषा] आहुतिद्वारा [त्रातारम्] पालक, रक्षक [इंद्रम्] इंद्रको युद्धमें [अ-वध्यम्] अवध्य [अ-कृणोः] बना दिया। [यथा] जिस कारण वह [उग्रः] कठोर और [वि-हव्यः] पुकारने योग्य [असत्] इस कारण [पूर्वीः] पुराने [विशः] लोगोंने भी [...] उसे [सम् अनमन्त] नमस्कार किया।

यहाँ विश्वकर्मा इंद्रके पुरोहित बनकर यज्ञद्वारा ... की शक्ति बढाते हैं और उसे अपराजित कर देते हैं।

(२)विश्व कर्मा ह्यजनिष्ट देव आदिद् गन्धर्वो
अभवद् द्वितीयः। तृतीयः पिता जनितौषधीना-
मपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा॥

अर्थ — सबसे पूर्व [विश्व-कर्मा] विश्वकर्मा [देवः] देव [हि] ही [अजनिष्ट] उत्पन्न हुआ। [आत् इत्] इसके पश्चात् [द्वितीयः] दूसरा [गन्धर्वः] गन्धर्व देव [अभवत्] उत्पन्न हुआ [तृतीयः] तीसरा [ओषधीनाम्] ओषधियोंका [जनिता] उत्पन्न करनेवाला और [पिता] पालक देव उत्पन्न हुआ उसने [अपाम्] जलोंके [गर्भम्] गर्भको [पुरुत्रा] बहुत प्रकारसे [वि अदधात्] रखा।

सबसे पूर्व सूर्यकी उत्पत्ति हुई, उसके पश्चात् अग्निकी और तदनन्तर मेघकी। मेघने जल बरसाकर ओषधियोंमें गर्भ स्थापित किया। इस मंत्रमें विश्वकर्मा सूर्य है। गन्धर्व अग्नि और पिता पर्जन्य-मेघ है।

इसका अध्यात्म अर्थ इस प्रकार होगा —

सबसे पूर्व परमेश्वर ही विद्यमान था। उसने जीवोंको देहोंके साथ संयुक्त किया। उसने ही पृथिवी जल और ओषधियोंकी रचना की। उसने ही सबमें गर्भकी रचना की जो जलरूप होते हुए भी स्त्रीशरीरमें जाकर कठोर होता है और सब प्रकारके शरीरोंके रूपमें बढता है।

मैंने विश्वकर्माके ऊपर यह संक्षिप्त विचार इसलिये लिखा है कि पाठक इस देवतासे परिचित हों। वेदोंके उच्च आशयको पढकर उनके प्रति श्रद्धा बढायें और पुरा-णादि ग्रन्थोंसे उन देवताओंका मेल करके सत्यासत्य कथाओंका निश्चय करें।
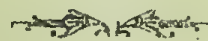
ऋग्वेद-संहिता

इस ग्रन्थमें प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है, उसके पश्चात् **मण्डलानुक्रमणिका** तथा **अष्टकानुक्रमणिका** है, पश्चात् सूची तथा **देवता-सूची** है। इसमें मण्डलों और अष्टकोंका क्रम तथा सूक्तक्रम भी दिया है। इतनाही नहीं, पर सूचीमें प्रत्येक सूक्तमें आये देवता कौनकौनसे मन्त्रमें हैं यह भी दर्शाया है। इसी तरह इसकी टिप्पणीमें वे देवता दिये हैं जो मन्त्रोंमें तो हैं, पर सर्वानुक्रमणीमें दिये नहीं हैं। यह सूची मन्त्रक्रमके अनुसार है, इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कौनसा देवता है, यह हरकोई देख सकता है। इसके नंतर **अकारक्रमसे ऋषिसूची** है। प्रत्येक ऋषिके कितने मंत्र हैं और वे कहां हैं यह सब यहां दर्शाया है। इस सूचीमें इन ऋषियोंके गोत्र दिये हैं और प्रत्येक गोत्रमें कितने ऋषि हैं यह भी इसी सूचीमें है।

इसके पश्चात् **अनुवाक-सूत्र** स्पष्टीकरणके हु थ दिया है। प्रत्येक अनुवाकमें कितने मंत्र हैं और वे कहां हैं, यह सब यहां बताया है। इसी तरह अध्यायानुक्रमणी वैसेही स्पष्टीकरणके साथ यहां दी है।

इसके नंतर '**सांख्यायन-संहिता**' का पाठक्रम तथा '**बाष्कल-संहिता**' का पाठक्रम दिया है।

इसके पश्चात् **संपूर्ण ऋग्वेद-संहिता** मण्डल और अष्टकोंके साथ दी है। इसमें **प्रत्येक मंत्र स्वतंत्र और पृथक् पृथक् छपा है। तथा मन्त्रके चरण, मंत्रके अर्धभाग, मंत्रके बहुतसे पद पृथक् पृथक् दिये** और प्रत्येक सूक्त पृथक् पृथक् स्पष्ट दर्शाया है। प्रति सूक्तके प्रारंभमें ऋषि, देवता और छन्द दिये हैं और मंत्रोक्त-देवता भी कई स्थानोंपर दर्शायी है।

इसके बाद मण्डलान्तर्गत तथा अष्टकान्तर्गत **सूक्त-संख्या, वर्गसंख्या, मन्त्रसंख्या** तथा **अक्षरसंख्या** दर्शानेवाले कोष्टक दिये हैं।

नंतर सब **परिशिष्ट** दिये हैं तथा उनके पाठभेद भी दिये हैं। ऋग्वेदसंहिताके अन्यान्य शाखाओंमें जो अधिक सूक्त मिलते हैं वेही ये परिशिष्ट हैं। ये कुल ३७ हैं।

इसके पश्चात् **अष्टविकृतियाँ**, उनकी बनानेकी विधिके साथ दी हैं। इनकी विधि जानकर पाठक अन्यान्य मंत्रोंकी भी विकृतियाँ स्वयं कर सकते हैं। यहां **पञ्चसंधि** भी दिये हैं जो विशेष महत्त्वके हैं।

इसके पश्चात् **कात्यायनमुनि-** विरचित **सर्वानुक्रमणिका** टिप्पणीके साथ संपूर्ण दी है। उसके बाद **शौनकाचार्यकृत अनुवाकानुक्रमणी** है। इसके बाद छन्दोंके उदाहरण लक्षणोंके साथ दिये हैं। इसमें **११ छन्द** और उनके अनेक **उपछन्द** उदाहरणोंके साथ दिये हैं। इसके देखनेसे किस मन्त्रका कौनसा छन्द है इसका ज्ञान हो सकता है।

इसके बाद अकारक्रमसे ऋग्वेदके संपूर्ण **मंत्रोंकी सूची** है। ये मंत्र अन्य वैदिक संहिताओंमें कहां हैं, उनका भी पता यहां दिया है। इससे ऋग्वेद मंत्र अन्य संहिताओंमें कहां हैं इसका ज्ञान हो सकता है।

इतनी सूचियोंके साश इतने परिमश्रसे यह ऋग्वेद-संहिता छापी है। इस समय जो ऋग्वेदके प्रंथ हैं उनमेंसे किसीमें इतने ज्ञानके साधन नहीं हैं। वेदका अनुसंधान करनेवालोंके लिये यह एक अनुपम साधन है। इसकी कुल पृष्ठसंख्या १०५० है। मूल्य केवल ६) डा. व्य. १॥) है।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' पारडी, (जि. सूरत)

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। 'वैदिक धर्म' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता--श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। मूल्य केवल ॥।), डा० व्य० ≈)

सामवेद कौथुमशाखीयः
ग्रामगेय (वेय प्रकृति) गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् 'प्रकृतिगान' तथा 'आरण्यकगान' है। प्रकृतिगानमें अग्निपर्व (१८१ गान) ऐन्द्रपर्व (६३३ गान) तथा 'पवमानपर्व' (३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। आरण्यकगानमें अर्कपर्व (८९ गान), द्वन्द्वपर्व (७७ गान) शुक्रियपर्व (८४ गान) और वाचोव्रतपर्व (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० हैं।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल 'गानमात्र' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४) रु. तथा डा० व्य० ॥) रु. हैं।

आसन ।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अल्प मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।≥) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक व० श्री० सातवलेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, पारडी (जि. सूरत)

वैदिक धर्म
मार्च १९५०
मूल्य आठ आना
संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर,
अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल

वैदिक धर्म

[मार्च १९५०]

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल
' आनन्दाश्रम ' पारडी (जि. सूरत)

वार्षिक मूल्य
म. आ. से ९) वी. पी. से ९।।)
विदेशके लिये १९ शिलिंग
प्रति अंकका मूल्य ।।)

विषयानुक्रमणिका

वर्ष ३१ : **वैदिकधर्म** : अंक ३

क्रमांक १५

फाल्गुन, विक्रम संवत् २००६, मार्च १९५०

वीरके लक्षण

स युध्मः सत्वा खजकृत् समद्वा तुविम्रक्षो नदनुमाँ ऋजीषी ।
बृहद्रेणुश्च्यवनो मानुषीणामेकः कृष्टीनामभवत् सहावा ॥

(ऋग्वेद ६।१८।२)

वह वीर युद्धमें प्रमुख स्थानमें रहनेवाला, सत्त्ववान् अर्थात् सामर्थ्यवान्, युद्ध करनेमें कुशल, सब लोगोंके साथ आनन्दसे रहनेवाला, बहुतोंके साथ प्रेम करनेवाला, वक्तृत्व करनेमें प्रवीण, रसपान करनेवाला, युद्धके सेनासंचालनमें बडी धूली उडानेवाला, शत्रुको उखाडनेवाला, मानवी किसानोंका एकही उद्धारक और शक्तिमान् है ।

वीर कैसा हो, आदर्शवीरके लक्षण क्या हैं सो इस मन्त्रमें कहे हैं, युद्धमें प्रमुख स्थानमें रहकर शत्रुसे लडनेवाला, सामर्थ्ययुक्त, दुष्ट शत्रुओंके साथ सत्वर युद्ध करनेवाला, लोगोंके आनन्दमें स्वयं आनन्द माननेवाला, अनेक लोगोंके ऊपर प्रेम करनेवाला, वक्ताओंमें उत्तमसे उत्तम वक्तृत्व करनेवाला, रसपान करनेवाला, शत्रुपर आक्रमण करनेके समय अपने सेनासंचालनसे बहुत धूली उडानेवाला अर्थात् वेगसे सेनाका संचालन करनेमें कुशल, शत्रुको स्थानसे उखाडकर फेंकनेवाला, किसानोंका उद्धार करनेवाला और महा सामर्थ्यवान् जो होता है वह वीर कहलाता है। ऐसे वीर अपने राष्ट्रमें हों और वे राष्ट्रकी वीरता बढावें ।

वानराः स्युः नरश्रेष्ठा रामराज्यं तदा भवेत् ।

(लेखकः, श्री न. ना. भिडे)

स्वतन्त्रेऽस्मिन् भारतवर्षे रामराज्यं निर्मातुकामा अस्माकं नेतारो, यं यं उपायं प्रयुञ्जते, तं तं विफलं पश्यन्तः, स्वयमेव कांदिशीकत्वं प्राप्ता, दरीदृश्यन्ते । परं रामराज्यनिर्माणाय किं नूनं आवश्यकं इति तु न कस्यचिदपि चेतसि स्फुरति । रामराज्यं इति शब्द एव सूचयति यत् रामेण कृतं तदेव अस्माभिरपि करणीयं इति । रामेण वानरा अपि नरोत्तमत्वं नीत्वा, तेषामेव साहाय्येन राष्ट्रं प्रतिष्ठापितं इति सर्वेषां सुविदित एव । अद्य तावत् सुचिरं यावनमुस्लानां आंग्लानां आधिपत्यात् देवसदृशा अपि भारतीया वानरत्वं प्राप्ताः ।

अरण्ये पशव इव स्वार्थपराः सर्वे स्वजनस्यापि प्राणान् लीलया हरन्ति । निर्मला प्रीतिः, हृदयगरिमा, दया, त्यागः, सौहार्दम्, परदुःखापहारपरता चेति ये संस्कृतमानवस्य सहजा गुणास्तेषां सर्वत्र अत्यन्ताभाव एव जातः । अतएव केवलं निर्बन्धबलेन ये नेतारः अधुनातनान् पूर्वदेवान् संनियन्तुं कामयन्ते, ते खलु शृंखलाबन्धैरेव वानरसंघान् विजेतुं इच्छन्ति । न खलु अयं पन्था रामराज्यनिर्माणस्य ।

त एव नूनं नेतारो राष्ट्रस्य ये स्वीयैः परमपवित्रैः चरित्रैः पशुकल्पानां अपि नराणां पशुभावं दूरीकृत्य संस्कारैः तेषु हृदयगरिमाणं निर्मिमते । विश्वगताः सर्वे मे भ्रातरः, सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु, सर्वे निरामयाः सन्तु, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखं आप्नुयात् इति यदि सर्वे चिन्तयन्ति भारते, सकलमपि दैन्यं स्वयमेव पलायिष्यते । सत्येवं हृदयस्य गरिमणि का खलु आवश्यकता अन्ननियन्त्रणस्य मूल्यनियंत्रणस्य वा । यत् यत् परमेश्वरेण उत्पादितं तत् तत् सन्तोषेण परस्परे विभज्य, विभागेऽपि परदुःखहरणपरत्वं स्वीयं आविष्कुर्वाणा यदि सर्वे त्यागेनैव विकसन्ति तर्हि स्वयं आविर्भविष्यति रामराज्यम् ।

अतएव अद्य राष्ट्रे पशुभावविघाताय संस्काराणां भवति महत्त्वम् । संस्कारकर्तॄणां नेतॄणां च जीवनं त्यागमयं यदि स्यात्, तर्हि शिलापि शीतवती भवति, वानरा अपि नरोत्तमा भवन्ति ।

(युगधर्म)

राजयोगके मूलतत्त्व और अभ्यास

(पहला प्रकरण)

विषय--प्रवेश

लेखक—राजाराम सखाराम भागवत एम. ए
अनुवादक— महेशचन्द्रशास्त्री विद्याभास्कर

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने एकबार गंगाके किनारे घूमते समय बहता हुआ एक मुर्दा देखा। 'हठयोग प्रदीपिका' आदि ग्रन्थोंमें उन्होंने यह पढ़ा था कि मनुष्यके शरीरमें चक्र होते हैं। इसकी जांचपड़ताल करने के लिये उन्होंने वह मुर्दा खींचकर बाहर निकाल लिया और चाकूसे उसे चीर फाड़ देखा; किन्तु ग्रन्थोंमें वर्णित चक्र उन्हें दिखाई न दिये। फलतः योगशास्त्रोंमें उल्लिखित बातोंपर उनका विश्वास न रहा *।

दयानन्द जैसे धर्माभिमानी एवं जिज्ञासु व्यक्ति की श्रद्धा यदि इस प्रकार नष्ट हो सकती है तो आधुनिक शिक्षित व्यक्तियों की श्रद्धा योगशास्त्रपर न रहे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। वर्तमान समय में डाक्टर लोग शरीरकी पूरी चीरफाड़ करके उसके अन्दर के प्रत्येक पदार्थ को अच्छी-तरह देख सकते हैं। आधुनिक शरीरशास्त्र प्रत्यक्षपर अवलंबित है। अतएव ज्ञानेश्वरादि योगियों द्वारा उल्लिखित शरीरस्थ कुण्डलिनी, मूलाधार आदि बातोंपर आधुनिक सुशिक्षित व्यक्तियोंको विश्वास नहीं हो पाता। क्योंकि वे सब चक्रादि आंखोंसे नहीं देख सकते। तब यह स्वाभाविक ही है कि आजके बुद्धिवादी व्यक्तियोंको योगशास्त्रपर विश्वास न रहे।

'राजयोगशास्त्र' नामका एक ग्रन्थ भी अस्तित्व में है। इसका विश्वास भी आज लोगोंको नहीं है। जिन्हे थोडा बहुत है, उनमें से भी अधिकांश के मनमें इस राजयोगके विषयमें आज बहुत अधिक भ्रान्ति है। योगशास्त्रको अधिकांश व्यक्ति प्रायशः अस्वाभाविक या कृत्रिम ही मानते हैं। कुछ योगी श्वासोच्छ्वास बंद किया करते हैं; कुछ नख और जटा बढ़ा लेते हैं; कुछ अपने आपको भूमिमें गाडकर बंद कर लेते हैं; कुछ लोहेकी कीलोंपर आसन जमा लेते हैं- इस प्रकार जब देखा या सुना जाता है तो योग एक विचित्र सी चीज है, ऐसी धारणा हो ही जाती है। 'योग' शब्द का अर्थ भी इतना अनिश्चित है कि उसके कारण मनुष्यकी बुद्धि भी चकरा जाती है। ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि शब्द धार्मिक साहित्यमें अनेकबार आते हैं। 'भक्ति-योग' सबसे सरल है, उसीका ग्रहण सबको करना चाहिये, क्योंकि वही सबके लिये साध्य है, ऐसा अनेक ग्रन्थोंमें लिखा है।

दूसरी ओर कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि भक्तियोग भोलेभाले नासमझ लोगोंके लिये है, बुद्धिमानोंके लिये वह ग्रहण करने योग्य नहीं है। लोकमान्य तिलक और उनके अनुयायी मानते हैं कि 'कर्मका परित्याग कर देनेमें कोई बुद्धिमत्ता नहीं है' 'मनुष्य निरन्तर कर्म करता रहे' अन्य योगोंकी अपेक्षा 'कर्मयोग' ही अधिक श्रेष्ठ है। प्रायः यही देखनेमें आ रहा है कि, ज्ञान, भक्ति और कर्म इस प्रकार तीनों योग मार्गोंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा सी रहती है। इस लिये मनुष्योंकी प्रायः यह इच्छा सी हो जाती है कि हम किसी न किसीको अपने लिये अवश्य चुन लें और तब वे

* देखिये — श्री सदाशिव कृष्ण फड़के कृत श्रीमद्दयानन्द, पृ. ३३ जिस समय दयानन्द तरुण थे तथा जब वे जिज्ञासासे-प्रेरित होकर किसी सद्गुरु की खोज में थे। उस समयकी यह घटना है।

जिस तरह चुनावमें खडे हुए पक्ष प्रतिपक्षके उम्मीदवारोंमेंसे किसी एकको अपना मत देनेके लिये चुन लेते है, उसी तरह किसी एक योगको अपने जीवनके लिये भी चुन लेते हैं। किन्तु ऐसा करते हुए योगके विषयकी उनकी धारणायें नितान्त अस्पष्ट एवं भ्रमोत्पादक ही रहती हैं। इन तीनों योगोंके अतिरिक्त राजयोग तथा हठयोग शब्द भी धार्मिक साहित्यमें दृष्टिगोचर होता है।

लोग समझ बैठते हैं कि मखमली गद्दोंपर बैठनेवाला, बदाम पिश्ते मिला हुआ दूध पीनेवाला और राजसी वैभव का उपभोक्ता ही राजयोगी है तथा शरीरके स्नायुओंको अस्वाभाविक रीतिसे तोड मरोडकर मुर्गेकी तरह (कुक्कुटासन) बैठनेवाला या पेटको चक्रकी तरह घुमाकर दिखानेवाला ही हठयोगी है। संस्कृत भाषामें योग शब्दके विभिन्न अर्थ हैं। भगवत् गीताके पहले अध्यायमें अर्जुन के विषादका वर्णन है; अतः उस अध्यायका नाम विषाद योग पड गया। इसी तरह अन्य अध्यायोंके नाम भी पड गये; जैसे- ध्यानयोग, संन्यासयोग, पुरुषोत्तमयोग, मोक्ष-संन्यासयोग आदि। इसलिये योगके सम्बन्धमें इस प्रकार की सन्देहोत्पादक एवं भ्रामक कल्पनाओंसे निकलकर कोई स्पष्ट मार्ग प्रकाशित हो सके; इसी उद्देश्यसे प्रस्तुत पुस्तक लिखनेका उपक्रम किया जा रहा है।

पातञ्जल-सूत्र

' पातञ्जल योगसूत्र ' राजयोग शास्त्रका आधारभूत ग्रन्थ है। + इस ग्रन्थके सूत्र अत्यन्त कठिन होनेसे स... नहीं आ पाते और इसीलिये योगशास्त्रके सम्बन्धमें ... भ्रम है। सूत्र बिलकुल छोटे और स्पष्ट होने चाहिए; जि... उनका पाठ सरलतापूर्वक हो सके। क्योंकि ऐसा न हो... केवल थोडे शब्दोंमें अत्यधिक अर्थ गाम्भीर्य लानेके प्रयत्न... भ्रम होनेकी अधिकाधिक सम्भावना रहती ही है। जैसे-

' योगः चित्तवृत्तिनिरोधः ' ' तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्। ' ' वृत्ति सारूप्यमितरत्र। '

ये सूत्र ' पातञ्जल योगसूत्र ' के बिलकुल आरम्भके हैं। योगका अर्थ चित्तवृत्तियोंका निरोध है। चित्तवृत्तिके निरोध के समय द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित रहता है और अन्य समय वृत्तियोंके साथ सरूप रहता है। यह सूत्रोंका अर्थ होता है। किन्तु इसका ठीक अभिप्राय समझना बुद्धिमानों के लिये भी दुःसाध्य है क्योंकि अनेक पूर्वमान्य सिद्धान्तों पर आधारित इन सूत्रोंकी रचना हुई है और अत्यल्प शब्दों में अति विस्तृत अर्थ संगृहीत करनेका प्रयत्न उनमें किया गया है! इस प्रकारके सूत्रोंद्वारा यह विषय सुलभ करनेका प्रयत्न ठीक इसी तरहका होगा जैसे टिट्टिभ द्वारा समुद्रको पाट देनेका प्रयत्न। 'ध्यान' का अर्थ स्पष्ट करते हुए "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (३, २) ऐसा कहा गया है। प्रत्यय की एकतानता हो जाना ही ' ध्यान ' है; यह सूत्रका अर्थ है। किन्तु साधारण व्यक्तिको इस अर्थ द्वारा स्पष्टतः कुछ भी बोध होना कठिन है।

+ हिन्दूधर्मके अनेक संस्कृत ग्रन्थोंमें राजयोगका स्पष्टीकरण तथा उल्लेख मिलता है। किन्तु वह सब अव्यवस्थित है। व्यवस्थित रूपसे लिखा हुआ तो " पातञ्जल-योगसूत्र ' ही एकमात्र ग्रन्थ है। इसीलिये इसे आधार ग्रन्थ कहा जा सकता है। 'ईश्वरके समान हो जाना' 'उससे मिल जाना' उसके कार्य एवं भाव मेरे हैं, ऐसा मानकर ईश्वरकार्य सम्पादित करना, यही राजयोग का ध्येय है। योगमार्ग का अनुसरण करनेवाले किन्हो योगियोंको वह पसन्द नहीं। उनमें अहंकार रहता है। ' मेरी अपेक्षा दूसरा कौनसा ईश्वर श्रेष्ठ है ?' 'मैं स्वयं सामर्थ्यवान बनूंगा;' ईश्वर से एकरूप न होकर स्वतन्त्र व भिन्न रहूँगा तथा अभीप्सित कार्य करता रहूँगा; चाहे वह कार्य ईश्वरीय संकल्प से विरुद्ध हो ऐसे भाव उनमें विद्यमान रहते हैं। इस मार्गसे योग सीखनेवाले व्यक्तियोंको " वाममार्गी " कहा जाता है। यह वाममार्ग सर्वथा त्याज्य है।

उच्च श्रेणीके वाममार्गी योगी व्यवहारमें आत्मसंयमी होते हैं; किन्तु अहंकार की पक्की गांठ उनके हृदयमें मजबूत बंधी रहती है। निम्न कोटीके वाममार्गी योगी गन्दे, व्यसनी, क्रूर और स्वार्थी होते हैं। ' पातञ्जल-योगसूत्र ' राजयोग शास्त्र के सूत्र हैं; उनमें वाममार्गका जरा भी संबंध नहीं है। अन्य योगग्रन्थोंमें ऐसा नहीं है। किन्हीं योगग्रन्थोंमें तो स्पष्टरूपसे वाममार्गी आचरणका वर्णन किया गया है। ' पातञ्जल-योगसूत्र ' के अतिरिक्त ' शिवसंहिता ' ' घेरंड संहिता ' एवं ' हठयोग प्रदीपिका ' ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें राजयोग और हठयोग का बीचबीच में संमिश्रण दृष्टिगत होता है और किन्हीं स्थानोंपर वाममार्गी प्रवृत्ति की छाया दिखाई देती है। अतः वे उत्तम होनेपर भी निर्दोष नहीं हैं।

...ग्रन्थोंका तो यह उद्देश्य ही नहीं है कि किसी विषय ...रूपसे सुलझाकर रख दिया जावे। अपितु उनका उद्देश्य यह होता है कि गंभीर विषय भी अत्यन्त सूक्ष्म... रख दिया जावे। इसी तरह सूत्रोंमें ग्रथित सिद्धान्तों ...किसी भी दृष्टिसे कोई तर्क न किया जा सके, अव्याप्ति ...अतिव्याप्ति आदि दोष न आसकें आदि सभी बातें बिलकुल ...तोलकर फिर कहीं सूत्रों की रचना की गई है! जिस तरह एक वकील कानूनसे मर्यादित भाषाका प्रयोग करता है, जिससे प्रतिपक्षके आक्षेप की कोई गुंजाइश ही न रहे; ठीक इसी तरह सूत्रग्रन्थोंकी भाषा भी है। कानूनी लोगों की भाषा एवं व्यवहार सहजमें समझने योग्य कभी नहीं होती और वह साधारण व्यक्तियोंको विचित्र सी लगती है। किन्तु न्यायालय में उस कानूनी भाषाका मूल अभिप्राय स्पष्ट रूपसे सामने आ जाता है। हिन्दूधर्ममें अनेक सूत्रग्रन्थ अपने मतका प्रतिपादन तथा दूसरेका खण्डन करनेके अभिप्राय से लिखे गये है। साथ ही अपने विरुद्ध किस प्रकारका प्रतिवाद सम्भवनीय है इसका ध्यान भी रक्खा गया है तथा उससे बचने का मार्ग ध्यानमें रखकर ही ऐसे सूत्र रचे गये हैं। अतएव ऐसे ग्रन्थ सरल एवं सुबोध नहीं हो सकते।

परीक्षामें पूर्णतः सफल होनेके लिए प्रश्नोत्तरोंके रूपमें कुछ पुस्तकें तैय्यार की जाती हैं। इनमें प्रश्न और उनके उत्तर भरे रहते हैं। परीक्षामें जिन उत्तरों के पूछे जाने की सम्भावना रहती है, उन्हींको चुनकर संक्षेप में लिख दिया जाता है। ये उत्तर विद्यार्थियोंको समझाने की दृष्टिसे नहीं लिखे जाते; अपितु इसलिये लिखे जाते हैं कि जिनसे परीक्षकपर यह प्रभाव पड जावे कि विद्यार्थी काफी जानता है। तब ऐसी पुस्तकों को कण्ठस्थ करके-अपने विषय को यथावत् ग्रहण किये बिना भी-विद्यार्थी आगे प्रगति करते रहते है।

एकदृष्टिसे सूत्रग्रन्थ भी इन्हीं पुस्तकों की तरह हैं; यदि ऐसा कहा जावे तो अनुचित न होगा। इन ग्रन्थोंमें गलतियाँ नहीं मिलेंगी। किसी विशिष्ट बातका सम्बन्ध रहा तो उसका एक अंश भी बिना छूटे सम्पूर्णतः वर्णन रहेगा। वर्गीकरण पूरी दक्षताके साथ किया हुआ होगा और उसका विवेचन भी तर्कपूर्ण होगा; किन्तु इतना सब कुछ होनेपर भी विषय का प्रतिपादन अच्छी तरह नहीं रहता। किसी विशिष्ट हेतुको दृष्टिमें रखकर ऐसे सूत्र-ग्रन्थ लिखे गये हैं। अतः ऐसे दोषोंका होना अपरिहार्य है। 'पातञ्जल योग सूत्रमें योगसिद्धि किस प्रकार प्राप्त होती है, यह दर्शानेके लिये—

जन्मौषधिमंत्रतपःसमाधिजाःसिद्धयः। (४, १) यह सूत्र है। किन्हीं लोगोंका जन्मतः ही सिद्धि प्राप्त रहती है; किन्हींको औषधियों द्वारा प्राप्त रहती है; इसी प्रकार मन्त्र तप और समाधि द्वारा भी उसकी प्राप्ति होती है। इस प्रकारकी सिद्धियोंके पाच उद्गम स्थान इस सूत्रमें वर्णित हैं। सम्पूर्णताकी दृष्टिसे यह सूत्र निर्दोष है; किन्तु समाधिद्वारा प्राप्त होनेवाली सिद्धि और औषधि द्वारा प्राप्त होनेवाली सिद्धि में जो बहुत बडा भेद है, उसका थोडासा भी वर्णन इस सूत्रमें नहीं है। श्वा, युवा और मघवा (श्वान, तरुण एवं इन्द्र) इन शब्दोंके लिए व्याकरणकी दृष्टिसे एकसा ही नियम लागू है। अतः यदि पाणिनीने उन्हे एकही सूत्रमें ग्रथित किया है। तब भी इन तीनोंमें जो महदन्तर है वह सर्वविदित है। क्योंकि श्वान, युवक तथा इन्द्र शब्दके अर्थ सभी जानते हैं।

किन्तु योगमें अविदित बातें एक सूत्रमें समाविष्ट हो जाएँ तो साधारणतः उनमेंका अन्तर समझमें नहीं आता। मनकी चंचलता कम होकर उसमें एकाग्रता किस तरह आ सकती है, इसका स्पष्टीकरण पतञ्जलिने इस प्रकार किया है। वह प्राणायाम द्वारा साध्य है (प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां प्राणस्य। १, ३४) किसी विषयमें मनुष्यकी अन्तरङ्गप्रवृत्ति लीन हो जाए तो वह प्रवृत्ति उसके मनको एकाग्र बना देती है, (विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी। १,३५) दुःखरहित अन्तर्ज्योति मनमें प्रकाशित हो जाए तो (विशोका वा ज्योतिष्मती। १,३६) अथवा चित्त इच्छा रहित हो जाए तो (वीतरागविषयं वा चित्तम्। १।३७) या स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाका ज्ञान जागृतावस्थामें उतारनेका प्रयत्न किया जाए तो (स्वप्ननिद्राज्ञानालंबनं वा। १,३८) अथवा रुचिकारक बातोंका ध्यान किया जाए तो— (यथाभिमतध्यानात् वा। १. ३९) चित्त स्थिर हो सकता है। मन एकाग्र करनेके सभी प्रकार पातञ्जलि

मे यहाँ बता दिये हैं और जहाँ तक बन सका है उनमेंसे कोई उपाय छूटने नहीं पाया है।

इस प्रकार सम्पूर्णताकी दृष्टिसे यह सारा वर्णन निर्दोष होता हुआ भी जन साधारणके लिये वह विशेष उपयोगी नहीं हो सकता। क्योंकि उसमें की बहुतसी बातें साधारण व्यक्तियोंके लिये अज्ञात रहती है। यही कारण है कि वे प्रायः भ्रमके शिकार हो जाते हैं। जिसने स्वयं ध्यानका अभ्यास किया होगा उसे प्रतीत होगा कि उपर्युक्त सूचामेंसे मन स्थिर करनेके लिये प्राणायामका उपयोग होता है। किन्तु वह सीमित सा ही होता है।

मनमें विशिष्ट प्रकार की मनीषा यदि उत्पन्न हो जाए तो उससे चित्तकी एकाग्रता संभवनीय है। किन्तु वह मनीषा किसी विशिष्ट दिशामें होनेके कारण प्रत्येक स्थितिमें या सर्वत्र एकाग्रता उत्पन्न करानेमें असमर्थही रहेगी। दुःख रहित होकर एक अन्तर्ज्योतिका प्रकाश मनमें होना, चित्तका इच्छा रहित होना, स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाके ज्ञानको जागृत अवस्थामें अनुभव करना आदि बातें साधारण मनुष्योंकी शक्तिके बाहर की हैं। किसी प्रिय वस्तुपर ध्यान केन्द्रित करके एकाग्रताकी सिद्धि कर सकनाही केवल मात्र उनके लिए सम्भव है। जिसने ध्यानस्थ होनेके लिए चित्तकी एकाग्रता का प्रयत्न स्वयं न किया होगा उसे इन सूत्रोंके वाचनमात्रसे चित्तकी एकाग्रताके इन साधनोंकी पारस्परिक सम्बद्धता समझमें आही नहीं सकती।

एक विशिष्ट दृष्टिकोण

धर्म सम्बन्धि कुछ बातें जानबूझकर गुप्त रखी जाती रही हैं। इसीलिये योगशास्त्र सम्बन्धि पातञ्जल-योगसूत्र जैसे ग्रन्थ समझने कठिन हो गये हैं। प्रत्येक धर्ममें जो विद्वान् मनुष्य होते हैं, वे अपना सम्पूर्ण ज्ञान साधारण जनताके आगे प्रस्तुत नहीं किया करते। ज्ञान केवल समझ न होकर शक्ति भी है। भाफ सम्बन्धि ज्ञानसे मशीनें चलाई जा सकती है। उन मशीनोंके द्वारा एक दूसरेका काम भी किया जा सकता है और हानि भी। आज दुनियाँ में साइन्सका ज्ञान सबके सामने स्पष्ट प्रसिद्ध कर दिया जाता है। उसीका परिणाम है कि आज हम थर्मास, मोटर, रेल, पानीका पम्प, रेडियो, ग्रामोफोन, बिजलीकी बत्तियाँ और पंखे आदि सुखदायी पदार्थोंका उपभोग कर सकते हैं किन्तु साथही उसी विज्ञानसे ॲटम बम; मशीनगन, विमान वाही जहाज, विषैले गॅस आदि दुखदायी वस्तुएँ मिली हैं। धर्मोंमें जो विद्वान् और अधिकारी व्यक्ति हैं उन्हें यह उपरोक्त बात पसन्द नहीं है। मनुष्यका मन नीतिमान और सुसंस्कृत होनेसे पूर्व उनके हाथमें ज्ञान तथा ज्ञानजन्य सामर्थ्य नहीं जाना चाहिये; ऐसी उनकी धारणा है। समाज जितने ज्ञानको समझ सके उतनाही उसे देना चाहिये; अधिक देनेपर वह उसे पचा नहीं सकेगा और बादमें उसका दुरुपयोग करके सबको दुखी बना सकता है।

यह भय योगशास्त्र के सम्बन्धमें तो और भी अधिक है। योगाभ्यासके द्वारा मनुष्य आसपास की अदृश्य सृष्टि प्रत्यक्ष देख सकता है और उस सृष्टिके अन्तर्गत रहनेवाली अनेक शक्तियोंका उपयोग करनेका सामर्थ्य उसमें आजाता है। किन्तु यदि उस मनुष्यकी नैतिकता उच्च कोटिकी न हुई तो वह अपने इस सामर्थ्य का अनुचित उपयोग कर बैठता है, जिससे समाज की हानि होती है। उदाहरणार्थ-योगाभ्यास द्वारा मनुष्य दूसरेके मनकी बात जान सकता है। यह शक्ति यदि किसी साधारण व्यक्तिके पल्ले पड़ जाय तो बड़ा अनर्थ हो सकता है। क्योंकि वह किसी भी स्त्री पुरुषके मनके गुप्त भावोंको जान सकता है तथा अनेक प्रकारसे उसके द्वारा उन्हें हानि पहुँचा सकता है। एक छोटी सी योगसिद्धि प्राप्त होनेपर ही इतना अधिक दुष्परिणाम हो सकता है। तब अनेक सिद्धियां प्राप्त हो जानेपर अनीतिमान् व्यक्ति स्वयं को बिलकुल बचाकर समाजमें अनेक दुष्कार्य कर सकता है। इसकी कल्पना पाठक विशेषरूपसे कर सकते हैं।

इसीलिये धार्मिक अधिकारी व्यक्तियों का अनादिकाल से ऐसा दृष्टिकोण रहा है कि धर्म सम्बन्धि उच्च प्रकार का ज्ञान कुछ चुने हुए लोगोंकोही दिया जावे। धर्मसम्बन्धि सर्वग्राह्य ज्ञान-विभाग वे सबके सामने प्रस्तुत करते हैं। किन्तु उसमेका कठिन एवं महत्त्वपूर्ण भाग वे गुप्त रखते हैं तथा जिनकी नैतिकता उच्च कोटिकी है ऐसे ही व्यक्तियों को वह प्राप्त हो ऐसी व्यवस्था वे रखते हैं।

संसारके सभी धर्मोंकी ऐसी प्रणाली है। उदाहरणार्थ ईसाइयोंकी बाइबल लीजिये। उसमें एक स्थान पर ईसा-

...साह अपने शिष्योंको उपदेश देते हुए कहते हैं कि ...रीब सृष्टिसम्बन्धि गूढ ज्ञान प्राप्ति का भाग तुम्हारे लिए ...दिया है, किन्तु जो मनुष्य दूरस्थ हैं, उनके लिए ये ...ी बातें मेरे द्वारा लाक्षणिक रूपसे कही जाती हैं, इसके ...दे बायबलमें कहा गया है कि ईसाने अनेक लाक्षणिक ...तोंका वर्णन करके जनताको उनकी रुचि व योग्यतानुरूप उपदेश दिया। लाक्षणिक बातोंके अतिरिक्त उसने उनसे और कुछ नहीं कहा: किन्तु बादमें एकान्तमें उसने अपने शिष्योंको सभी बातें स्पष्ट करके बता दीं। *

जो पारसी ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, वे अतीव विरल तथा त्रुटित हैं। किन्तु इन्ही ग्रन्थों से यह परिलक्षित होता है कि जरथुष्ट्र का दृष्टिकोण भी ईसामसीह जैसा ही था। "यह मन्त्र पिता केवल अपने पुत्रको बतावे; भाई अपने सगे भाईको ही बतावे या आथ्रवण (गुरु) अपने शिष्यसे कहे, किन्तु किसी दूसरे को वह न बताया जावे" ऐसा वेन्दाम यष्ट (अनुक्रमाङ्क. ४६) में लिखा है। (देखिये 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, खण्ड २३ पृ. २४३) जरथुश्त्र अपने सभी शिष्यों को सभी ज्ञान बता देते थे, ऐसा प्रतीत नहीं होता। उन्होंने अपने शिष्यवर्ग के तीन विभाग किये थे। उनमें एकको खएतुश् (अर्थात् स्वावलंबी) दूसरे को वेरेजेनस् (अर्थात् सहकारी) और तीसरे को अइर्यम्ना (अर्थात् मित्र) इस प्रकार के नामसे कहा जाता था। यह उल्लेख गाथाओं में किया गया है। (देखिये प्रो. आय. जे. एस. तारापोरवाला कृत 'गाथा अहुनवैति' नामक अंग्रेजी अनुवाद।

मुसलमानी धर्म में भी यही स्थिति है। उस धर्मका आकरग्रन्थ कुरान है। 'कुरान ग्रन्थ सात भाषाओं द्वारा संसार में प्रसारित किया गया और उसमें के प्रत्येक वचन के दो प्रकारसे – एक अन्तरङ्ग तथा दूसरा बाहरङ्ग – अर्थ किए गये'। ऐसा मुसलमानी धर्म में उल्लेख है। × कुरान अरबी भाषामें है। अर्थात् – वह सात भाषाओंमें प्रसारित हुआ – इस उक्ति का अर्थ यह हुआ कि उसके सात विभाग हैं, जिनमें से छः बन्द हैं, केवल एक ही प्रकट किया गया। इन छः विभागों में अन्तरङ्ग के अनेक गुह्य भाग और अर्थ हैं; कुरान के बहिरंग अर्थका सम्पूर्ण अभिप्राय नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। 'गेब्रिएल नामके एक देवता ने महंमद पैगंबर को ज्ञानदान किया' ऐसा महंमदी धर्म में वर्णन है। इस गेब्रिएल द्वारा प्राप्त ज्ञान के विषयमें महंमद पैगंबर कहते हैं, "ईश्वरके इस दूतद्वारा मुझे दो प्रकार का ज्ञान मिला, उसमें का एक ज्ञान मैंने दूसरों को सिखा दिया। दूसरे प्रकार का ज्ञान यदि मैंने उन्हें सिखा दिया होता तो उनकी छाती फट गई होती।" ÷पैगंबर ने इसी प्रकार आगे भी कहा है, 'मनुष्यों के मनकी पात्रता देखकर उन्हें ज्ञान सिखाना चाहिये। तुम यदि सभी बातें प्रत्येक को पूर्णतः सिखा दोगे तो किन्ही मनुष्यों द्वारा वह ग्रहण नहीं किया जा सकेगा तथा उनके द्वारा प्रमाद होने की सम्भावना है।' +इससे यह सिद्ध होगा कि मुसलमान धर्म में भी कुछ बातें गुप्त रखने की

---

* (The Bible S. Mark IV, 11. 33-34) And he said unto them, unto you it is given to know the mystery of the kingdom of God; but unto them that are without all these things are done in parables... and with many such parables spake he the word unto them as they were able to hear it. But without a parable spake he not unto them, and when they were alone he expounded all things to his disciples.

×Koran was sent down in seven dialects and in every one of its sentences there is an external and internal meaning. महंमदके ये वचन सर ए. सुरावर्दीकी Sayings of Mahamad नामक पुस्तकके पृ० ९० पर हैं। आवृत्ति १९४१ वचनकी अनुक्रम संख्या २५७ है।

÷I received from the messenger of God two kinds of knowledge, one of these I taught to others. If I had taught them the other, it would have broken their throats. (उद्धरण, महंमदके वचन, अनुक्रमांक १५५)

+ Speak to men according to their mental capacities. If you speak all things to all men, so cannot understand you and so fall into errors. (उद्धरण, महंमदके वचन अनुक्रमांक ११६)

प्रणाली है।

हिन्दूधर्म में भी इसी प्रकार की प्रणाली है इसका स्पष्टीकरण हिन्दू धर्म के साहित्य में स्थान स्थानपर मिलता है। कठोपनिषद् के आरम्भमें नचिकेता और यम का संवाद है। वहाँ नचिकेता यमसे खोद खोदकर पूछ रहा है कि- मृत्यु के पश्चात् उसमें जीव बचता है या नहीं ? यदि बचता है तो उस समय वह किस स्थितिमें रहता है ? आदि। किन्तु यम टालता हुआ कहता है कि – तू यह प्रश्न न पूछ ; इसके अतिरिक्त तू जो मांगेगा वह मैं तुम्हे दूंगा। किन्तु जब नचिकेताने न माना और इसीके लिये उसने आग्रह किया तो यमने उसके विशिष्ट प्रश्न का स्पष्ट उत्तर नहीं दिया तथा आध्यात्म के विस्तृत क्षेत्र में घुमाफिराकर अन्तमें कह दिया कि, ' मनुष्यके हृदय में अंगुष्ठ मात्र आत्मा सदा रहता है। घासके बाह्यवेष्टनसे जिस तरह अन्दर का तिनका निकाला जासकता है तद्वत् मनुष्य को यह आत्मा अपने शरीर में से धैर्यपूर्वक बाहर निकालनी चाहिये।' इस विवरण के बाद अन्तिम श्लोकमें ऐसा उल्लेख है कि 'यमद्वारा बताई गई यह विद्या तथा सम्पूर्ण योग-विधि नचिकेता ने प्राप्त कर ली। बाद में वह ब्रह्मज्ञानी विमृत्यु तथा सन्तुष्ट होगया। यह विद्या और जो कोई भी प्राप्त करेगा, वह भी वैसा ही हो जाएगा।" आंखे खोलकर जो इस उपनिषद् को पढेगा, उसके ध्यान में यह बात आजाएगी कि शरीर से जव को बाहर निकालने की एक विद्या है और उसकी सिद्धि के लिये एक योगसाधन है। उसका साधन जो जो करेंगे उन्हे मृत्युके पश्चात् क्या क्या होता है इसका अनुभव प्रत्यक्ष आजाएगा। यह इस उपनिषद् की शिक्षा है। किन्तु उपनिषद्कारोंने इस साधन का वर्णन जानबूझकर टाल दिया है तथा उसका केवल अस्पष्टसा उल्लेखमात्र कर दिया है। १

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक कथा है कि आर्तभाग नामके एक व्यक्तिने एक सभामें याज्ञवल्क्य ऋषिसे 'मृत्युके बाद पुरुष कहाँ रहता है ?' यह प्रश्न पूछा (बृहदारण्यक अध्याय ३ ब्राह्मण २) उस समय याज्ञवल्क्य ने कहा, ' मित्र आर्तभाग ! अपना हाथ मेरे हाथमें रख यह विषय हम दोनों को ही केवल विदित रहना चाहिये। अन्य व्यक्तियों तक यह विषय जाना उचित नहीं है।' बादमें वे दोनों सभाके बीचसे उठकर दूसरी ओर चले गये और उन्होंने इस विषयपर स्वतन्त्ररूपसे विचार किया। २ इसी उपनिषद् में वचक्नु की कन्या गार्गी ने भी याज्ञवल्क्य से अनेक प्रश्न किये हैं। जिनमेंसे एक का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा है, ' गार्गी मा अतिप्राक्षीः'। अर्थात् गार्गी, सीमासे बाहरका प्रश्न पूछना तुम्हे उचित नहीं है। ब्रह्मज्ञान किसको सीखना चाहिये इस विषयमें छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि

> इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म ब्रूयात्।
> प्रणाय्याय वा अन्तेवासिने, नान्यस्मै कस्मै चन॥

अर्थात् – यह ब्रह्मज्ञान पिताने पुत्रको या किसी योग्य शिष्य को सिखाना चाहिये, किसी दूसरेको नहीं सिखाना चाहिये। (छान्दोग्य ३।११।५) इन सब उद्धरणोंद्वारा स्पष्ट होजायेगा कि हिन्दू धर्म में भी कुछ बातें सबके लिये स्पष्ट हैं तथा कुछ बातें व्यक्ति विशेषके लिये ही रक्षित एवं गुप्त हैं।

इस प्रकार बुद्धिपुरःसर कुछ ज्ञान गुप्त रखनेके उदाहरण पातंजल योगसूत्रमें भी अनेक स्थानोंपर हैं। जैसे पातञ्जलयोगसूत्र के प्रथमपादमें ईश्वरविषयक कुछ विवेचन है। उसमें, ईश्वर सर्वज्ञ है, ज्ञानी पुरुषोंका वह गुरु है, ईश्वर भक्तिसे समाधि प्राप्त होती है, इतना वर्णन होनेके पश्चात् तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थ-

---

१- अंगुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा सदा जनानां हृदि सन्निविष्टः।
तं स्वात शरीरात् प्रवृहे मुंजादिवेषिकां धैर्येण। ---
--- मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विराजोऽभूत् विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विद् अध्यात्ममेव॥

२- आहर सोम्य हस्तम् आर्तभाग। आवामेव एतस्य वेदिष्यावः न नावेतत् स जन इति। तौ ह उत्क्रम्य मंत्रयांचक्राते।

...निम् (११२७ तथा १२८) इस प्रकारके दो सूत्र हैं। प्रणवका ...र्थ । ओंकार ईश्वरवाचक है; अर्थ समझते हुए उसका ...प करने से समाधि-लाभ होता है, ऐसा उपर्युक्त सूत्रोंका ...भिप्राय है। किन्तु ' ओंकार शब्द ईश्वरवाची है ' इस ...सका क्या अभिप्राय है तथा ओंकारका सार्थ जाप कैसे किया जावे, ये दोनों महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट नहीं की गई। ...सरे पादके अन्तमें प्राणायाम का विवेचन किया गया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः देशकाल संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । बाह्याभ्यन्तरविषयापेक्षी चतुर्थः । ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥

(२।५०, ५१ तथा ५२)

इन सूत्रोंका उल्लेख है। इनका इस प्रकार अर्थ है 'बाह्य आभ्यन्तर व स्तम्भ इस प्रकारके प्राणायाम हैं। देश काल तथा संख्याका विचार करनेपर यह विषय अत्यन्त विस्तृत एवं सूक्ष्म मालूम होता है। बाह्य एवं अन्तर वस्तुओंकी ओर प्राण फेंकनेका प्राणायामका एक चौथा प्रकार है। इसके द्वारा ज्ञानपर पड़ा हुआ आवरण नष्टप्राय हो जाता है।" यह सम्पूर्ण वर्णन पढ़ लेनेके बाद विदित हो जाएगा कि प्रत्यक्षतः प्राणायामका अभ्यास करनेकी आवश्यकता हो तो उसके लिये आवश्यक ज्ञान भी इसके द्वारा मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता। यह विषय दीर्घ एवं सूक्ष्म-बड़ा और कठिन- है, केवल इतना कहकर समाप्त कर दिया गया है। एक और उदाहरण देखिये। अध्यात्म शास्त्रमेंसे आगे बढ़नेके लिये ' विवेक ' द्वारके रूपमें है। ऐसा कहकर—

' तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा । (२।२७)

इस सूत्रमें उस विवेकके क्षेत्रका वर्णन कर दिया है। इस सूत्रका अर्थ है कि-विवेकके सात क्षेत्र या सात भूमिकायें हैं। कोई गवैया एक गाना निचले सप्तकमें गाता है, दूसरा ऊपरके सप्तकमें गाता है। इसी तरह विवेक की अनेक सीढियाँ हैं। अध्यात्ममार्गके अगले ध्येय प्राप्त करने हों तो विवेक रूपी उच्च सप्तक-अपनी नैतिक उत्क्रान्ति करके- मनुष्यको प्राप्त करने चाहिये। यह शिक्षा दी गई है। अतः पाठकों को यह समझ लेना चाहिये कि विवेक-विवेकमें भी अनेक सीढियाँ श्रेणियां हैं। जैसे 'परीक्षा' यद्यपि एक ही संज्ञा है तथापि परीक्षा-परीक्षामें भी बड़ा अन्तर होता है क्योंकि एक परीक्षा यदि पहली कक्षाकी है तो दूसरी एम. ए. का है ठीक इसी प्रकार विवेक-विवेकका भी बड़ा भारी अन्तर है। इस सूत्रमें का कुछ अंश जान-बूझकर गुप्त रखा गया है। यह बात जिज्ञासूको यदि न बता दी जावे तो इस सूत्रमें बड़ा गहरा अभिप्राय निहित है यह कल्पना भी उसे नहीं हो सकती। इतना गहन है यह सूत्र।

योगशास्त्रका विषय समझनेके लिये इतना दुर्बोध क्यों है, इसके अनेक कारण ऊपर बताये जा चुके हैं। यह विषय कठीन होनेके कारण इस क्षेत्रमें अनेक प्रकारकी भ्रान्तियोंके लिये अवकाश है। अगले पृष्ठ पढ़नेके बाद यह विकट विषय थोडा बहुत सरल हो सकेगा, पाठकोंके मनमें राजयोग सम्बन्धि भ्रान्तधारणायें अंशतः तो भी दूर हो सकेंगी और उस शास्त्रके मूलतत्त्व पाठकोंकी बुद्धिमें स्पष्टरूपसे जम सकेंगे, ऐसी लेखक की अपेक्षा है।

आर्यसमाजको सम्प्रदाय मत बनाइए !

(लेखक— श्री० गणपतराव वा० गोरे, १७६ मंगलवार 'बी' कोल्हापूर.)

१. पांचसौ रुपयेका पुरस्कार।

'आर्य भानु' हैद्राबाद ५ डिसम्बरके अंकमें विस्तारसे तथा वैदिक धर्म पारडीके जनवरीके अंकमें संक्षेपसे निम्न विज्ञापन प्रकाशित हुआ है—

"ठाकुरदत्त शर्म्मा धर्मार्थ ट्रस्टने वैदिक धर्म प्रचार तथा लेखकोंका उत्साह बढानेके लिए यह निश्चय किया है कि प्रतिवर्ष इस ट्रस्टकी निर्वाचित पुरस्कार समिति ऋषि दयानन्द सरस्वतीके मन्तव्योंके अनुकूल वैदिक सिद्धान्तोंपर ... ... प्रकाशित पुस्तकोंमेंसे जिस एक पुस्तकको सर्वोत्कृष्ट निर्धारित किया करेगी उसके विद्वान् लेखकको सन्मानार्थ, एक प्रमाणपत्रके साथ नकद ५०० रुपयका 'श्रीमद्दयानन्द' नामक पुरस्कार दिया जाया करेगा... ..."

२. धर्मभावनाका अवैदिक विनियोग

वैदिक धर्म प्रचार उत्तेजित हो यह भावना तो सबकी और लेखककी भी है, परंतु वह समझ रहा है कि उक्त विज्ञापन द्वारा वेद, ऋषि दयानन्द और आर्यसमाजके सिद्धान्तों-पर कुठाराघात हो रहा है, अनजाने ही क्यों न हो। ऐसे विज्ञापन उन लोगोंका समर्थन करते हैं, जो कहते हैं कि आर्य-समाज संप्रदाय बन चुका है। विज्ञापन पर निम्न आक्षेप किए जा सकते हैं--

क—यदि ऋषि दयानंदके ५१ मन्तव्योंके अनुकूल लिखना ही 'वैदिक धर्म-प्रचार' है, तो बताइए कि आज जो पदार्थ-विज्ञानके नएसे नए शोध हो रहे हैं, जिनका ऋषिके मन्तव्योंमें कोई उल्लेख नहीं, क्या वे सब अवैदिक हैं ?

ख—यदि ऋषि दयानन्दके मन्तव्योंकी अनुकूलता प्राप्त होनेपर ही किसी सिद्धान्तको 'वैदिक' कहना रूढ हो जायगा तो सूर्योपासना ऐसे सिद्धान्त एम जो कि ऋषि दयानंदके मन्तव्योंमें नहीं आ सके, परंतु जिनका समर्थन असंदिग्ध रूपमें अनेकों वेदमंत्र कर रहे हैं, 'अवैदिक' ही कहलाएगे !

परिणाम यह होगा कि ऋषि दयानन्दके मन्तव्योंसे आगे वेदकी खोज करनी बंद हो जायगी, और आर्य-समाज 'दयानंद पंथ' बन जायगा. यही साम्प्रदायिकता है, और इसका आरंभ हो चुका है ! क्या ऋषि दयानन्दने इसी कामके लिए आर्य समाजकी प्रस्थापना की थी कि वेदार्थ मेरे मंतव्योंसे भिन्न कदापि न लगाना और सदा कापी टु कापी और मख्खी टु मख्खी मारते रहना? क्या ऋषिने आर्य समाजका ४ था नियम इसी लिए बनाया था कि उसपर आचरण ही न किया जाय ?

ग— यह बात भी नहीं है कि धर्मार्थ ट्रस्टके अधिष्ठाता वा आर्य समाज ऋषिके सभी मन्तव्योंको मानते हों. 'नियोग' जिसका प्रचार एक समय सर्व पृथिवी पर था, जिसपर यूरोप अमेरिकाके बडे बडे डाक्टर आज भी गौरव पूर्वक पुस्तकें लिखते और आचरण करते कराते हैं, और जिसका उल्लेख ऋषिके मन्तव्योंमें भी आया है, ऐसे पवित्र सिद्धान्तको आर्य समाज सामूहिक रूपमें तिलांजलि दे चुका है। ट्रस्टके लिए ऐसी पुस्तकपर पुरस्कार देना संभव है क्या ? कदापि नहीं। फिर भला 'ऋषिके मन्तव्यों की अनुकूलता' से लिखे लेख मंगवानेके क्या अर्थ।

घ—यदि ऋषि दयानन्दके ५१ मन्तव्योंके अनुकूल बने रहना ही वैदिक सिद्धान्तोंके लिये अनिवार्य बनाया जायगा, तो ऋषि दयानन्द निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण बन जाएंगे और वेद 'भ्रान्त परतः प्रमाण' सिद्ध होंगे ! यह बात ऋषिके मन्तव्य सं० २ से जो कि निम्न प्रकार है, सर्वथा विरुद्ध है--

मन्तव्य २—'चारों वेदों (विद्या धर्मयुक्त ईश्वर-प्रणीत संहिता मंत्रभाग) को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण

...ता हूं. वे स्वयं प्रमाणरूप हैं, कि जिनके प्रमाण होनेमें किसी अन्य ग्रंथकी अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूपके स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादिके भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं।

... और चारों वेदोंके ब्राह्मण, छः अङ्ग, छः उपाङ्ग, चार उपवेद, और ११२७ वेदोंकी शाखा जो कि वेदोंके व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियोंके बनाए ग्रंथ हैं, उनको परतः प्रमाण अर्थात् वेदोंके अनुकूल होनेसे प्रमाण और जो इनमें वेद-विरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूं।'

स्पष्टीकरण—ऋषि दयानन्दने झगडा निपटा दिया। वे अपने बनाए ग्रंथोंको और मन्तव्यामन्तव्योंको ऋषि-कृत ग्रंथोंके समान ही परतः प्रमाण मानते हैं। अर्थात् वे वेद अनुकूल होनेसे प्रमाण हैं, और वेदविरुद्ध होनसे अप्रमाण हैं। उन्होंने मनु २।१३ के प्रमाणसे स०प्र० १० वें समु० में लिखा भी है कि—

धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

अर्थ—जो धर्मको जाननेकी इच्छा करें, उनके लिए वेद ही परम प्रमाण हैं।

अन्तिम निवेदन--जो सिद्धान्त समझते हैं, उन्हें विज्ञापनमें अनुचित प्रकार कदाचित न दीखे, परंतु सर्व-साधारण कहीं आर्य समाजको साम्प्रदायिक समझ न लें इसके निराकरणके लिए यह निवेदन किया। यदि धर्मार्थ ट्रस्टके अधिकारी 'ऋषि दयानन्दके मन्तव्योंके अनुकूल' इतने शब्द विज्ञापनमें न डालते, तो इस लेख लिखनेकी आवश्यकता ही न रहती। इत्योम्।

संत-संदेश

(लेखिका—श्री. दयावती, भक्तिसेवाश्रम, डा० बनत, जि. मुजफ्फरनगर [यू. पी.])

कबीर

भाई मूंडहु तिह गुरु, जाते भरमु न जाइ ।
आप डुबे चहुं वेदमहिं, चेले दिए बहाइ ॥१५७॥

व्याख्या—अरे भाई तुम ऐसा गुरु बनाते हो जिससे भ्रम नहीं जा सकता। जो आप तो चारों वेदोंमें डूबा हुआ है और चेलोंको उनमें बहा देता है।

अज्ञानी चेला अज्ञानके वश रहकर गुरु ढूंढता है। किसी गुरुके सहारेसे या ज्ञानग्रंथके द्वारा अज्ञानको नहीं हटाया जा सकता। ज्ञानी बन चुकनेके पश्चात् ही ज्ञानग्रंथों-का सत्संगके साधनके रूपमें सदुपयोग करनेकी योग्यता आती है। अज्ञानी, ज्ञानग्रंथको अपने अज्ञानके समर्थन का साधन बनाकर उसका दुरुपयोग ही करता है। अज्ञानको हटाना मनुष्यके अपने ही वशमें है। ज्ञान-पिपासाका हृदयमें जाग्रत होना ही मोह निद्राके अंत और अज्ञानके हट चुकनेकी पहचान है। मनुष्यका मन स्वभावसे तथा स्वतंत्रतासे जब इंद्रियोंको वशमें रखनेके आनंदको चख लेता है तभी तत्क्षण ज्ञानी बन जाता है। ज्ञानी बन चुकनेके अनंतर ही वह अपने जैसे ज्ञानोमें अपने ही मनके सत्यकी प्रतिध्वनि सुनकर उसे अपने गुरुका सम्मान देता है और सत्संगका आनंद लेता है। परस्परके निःस्वार्थ संबंधसे कृतार्थ होनेवाले ज्ञानी एक दूसरेके गुरु शिष्य तथा सेवक हैं। किसीके भी मनमें गुरुपनका घमंड नहीं होता। संत दूसरे संतको मान देनेवाला होता है।

कबीर माया डोलनी, पवन झकोलन हार।
संतहु माखन खाइया, छाछ पिए संसार ॥१५८॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि माया मथानीरूप है, जीवनी शक्ति मथनेवाला है। उसमेंसे जो सार अर्थात मक्खन निकलता है उसे संत खाते हैं और अज्ञानी संसार असार वस्तु छाछको पीता है।

प्राणवायु रूपी जीवनी शक्ति सांसारिक बंधनद्वारा मनुष्य जीवनको अहर्निश मंथन कर रही है; जिससे मनुष्य के मनमें दो विपरीत स्थितिकी उत्पत्ति हो रही है। एक अनासक्तिरूपी सार वस्तु मक्खन है और दूसरी आसक्ति रूपी असार वस्तु छाछ है। संत लोग सार वस्तु अनासक्ति को अपनाकर आसक्ति को त्याग देते हैं। अज्ञानी लोग असार वस्तु आसक्तिके ही बंधनमें फंसे रहते हैं।

कबीर राम न छांडिए, तन धन जाइ ते जाउ।
चरन कमल चित बेधिया, रामहि नामि समाउ।
॥१५९॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि चाहे शरीर तथा भौतिक धनदौलत सब नष्ट हो जाय पर सत्य स्वरूप राम को नहीं छोडना चाहिए। रामके चरणकमलोंमें चित्त लगा-कर उसीके नामस्मरणमें तल्लीन हो जाओ।

नामस्मरणका यह अभिप्राय कभी नहीं हो सकता कि वर्णमालाके उन अक्षरोंको या उन अक्षरोंसे उत्पन्न होने-वाली ध्वनिको प्रयत्न करके मस्तिष्क तथा हृदयमें निरन्तर स्थिर रखा जाय जो हृदयमें सब समय अनायास स्वा रूपसे प्यारा और अखंड स्मरण बनकर रहे उसीको नाम कहा जा सकता है। अपना स्वरूप ही एकमात्र प्यारा है और नाम शब्द उसीका द्योतक है। इंद्रियोंको वशमें रखनेकी निष्काम शुद्ध स्थिति ही मनका प्यारा स्वरूप है और उसको पहचान लेनेके अनन्तर मन उसके विस्मरणका दुःख स्वीकार करना नहीं चाहता है। यही मनका स्वभाव है। इस दोहेमें इस स्वाभाविक स्थितिको ही रामका नाम दिया गया है और उसके चरणकमलोंमें आत्मसमर्पण करना बताया गया है। अनासक्तिरूपी यह नामही ज्ञानीका एकमात्र स्वरूप उसका आराध्य सत्य और प्रेमपात्र है। जीवनमें सत्यासत्यका

स्थित होनेपर सत्यके साथ जब देह तथा देहसे सुखका संबंध रखनेवाले धनदौलतका विरोध उपस्थित होता है तब ज्ञानी सारे संसारके विरोधकी उपेक्षा करके अपने देह तथा भौतिक धनको सत्यकी सेवामें लगाकर आत्मरक्षा करता है। आत्मार्थ सारे संसारको छोड़ाकर ज्ञानीका स्वभाव तथा उसके जीवनका मूल मन्त्र है।

कबीर विकारह चितवते, झूठे करते आस।
मनोरथ एको न पूरियो, चाले उठी निरास॥
॥१६०॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अज्ञानी विषयचिंतनमें लगे रहकर सुखी होनेके लिए नाना प्रकारकी असंभव आशाएं लगाते हैं। पर उनकी एक भी कामना पूर्ण नहीं होती। वे संसारसे निराश रहकर ही विदा हो जाते हैं।

कबीर संगति साधकी, दिन दिन दूना हेतु।
साकत कारी कांबरी; धोए होइ न सेतु॥
॥१६१॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सत्संग करनेवाले संतोंका सत्यसे प्रेम दिन दूना बढता है और आसक्त अज्ञानियोंका मलिन मनरूपी काला कंबल चाहे जितना धोनेपर भी सफेद नहीं हो सकता।

संतोंका मिलन निष्काम शुद्ध मनसे होता है और अज्ञानियोंका पारस्परिक संबंध स्वार्थान्ध मलिन मनसे होता है। स्वार्थीका संबंध अपना अपना स्वार्थ पूरा करनेके लिए वास्तवमें शत्रुताका ही संबंध है। उसमें स्वार्थका ही आकर्षण होता है, प्रेमका मिठास नहीं। स्वार्थी अज्ञानी चाहे कितना ही ज्ञानी संतके संपर्कमें आवे उसके मलिन स्वार्थी मनपर उनके सत्संगका कोई प्रभाव नहीं पड सकता। संत अपने सत्संगसे एक दूसरेको विमल आनंद प्रदान करते हैं। सत्य की चाहमें जो मधुरता स्वभावसे विद्यमान है उससे संतके मनमें सत्संगका आनंद दिन दूना रात चौगुना बढता जाता है।

कबिरा हमारा कोइ नहीं, हम किसहूके नाहिं।
जिन यहु रचन रचाइया, तिसही माहिं समाहिं॥१६२॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि इस संसारमें हमारा कोई नहीं है और नहीं हम किसीके हैं। जिसने यह सारा संसार रचा है हम तो उसीमें समाए हुए हैं।

संत अपनी अनासक्त मानसिक स्थितिरूपी सत्यसे प्रेम कर चुका होता है। किसी व्यक्ति या भौतिक पदार्थमें ममत्वबुद्धि रखना असत्य है। असत्यको अपनाना संतके स्वभावके विरुद्ध है। जो संपूर्ण विश्वका सत्य स्वरूप विराट् देही है उससे अपनी अनासक्त स्थितिकी अभिन्नता अनुभव करके संत स्वयं सत्यस्वरूप हो जाता है।

राम पदारथ पाइ कै, कबिरा गाँठि न खोल।
नहीं पट्टन नहिं पारखू, नहिं गाहक नहिं मोल॥१६३॥

व्याख्या— कबीर कहते हैं कि रामनामरूपी अमूल्य धनको पाकर गांठ मत खोलो। उसकी पहचान करनेवाला और कसौटा तथा उसका ग्राहक कोई नहीं है।

अनासक्तिरूपी सत्यका आस्वादन कर चुकनेके अनन्तर उससे बढकर मधुर और उससे अधिक मूल्यवान् इस संसारमें कुछ नहीं है। उसका गुणग्राही उसका आस्वादन कर चुके हुए ज्ञानीके अतिरिक्त और कोई नहीं है। गुणी ही गुणकी पहचान तथा उसका आदर करना जानता है। गुणी, गुणीके हाथों आत्मसमर्पण करके गुणका मूल्य चुकाता है। ऐसे अनमोल सत्यस्वरूपको अपने हृदयमें पाकर ज्ञानी कृपणकी भांति उसकी संभाल करता है। कवि अनुभवसे कहते हैं कि अज्ञानी-जगत्में अपने हृदयका द्वार खोलकर सत्यस्वरूपको दिखाना ऐसा ही दुःखदायी है जैसा कि कूडा पात्रमें मणिको फेंक देना। जबतक सत्यसे प्रेम रखनेवाले सत्यस्वरूप ज्ञानी संतका दर्शन न मिले तबतक अपने ही मनमें अपने प्यारेका मिलन सुख लेते रहो।

रिद्धि सिद्धि मांगूं नहीं, मांगूं तुमसे एह।
निस दिन दरसन साधुका, कह कबीर मोहि देह॥१६४॥

व्याख्या— कबीर कहते हैं कि मैं तुमसे धनदौलत आदि भौतिक ऐश्वर्यका स्वामित्व नहीं मांगता। मेरी तो एकमात्र यही कामना है कि मुझे दिन रात संतोंका सत्संग मिले।

अनासक्त हो जानेके अनंतर भौतिक शक्ति, सामर्थ्य तथा ऐश्वर्य आदि तुच्छ हो जाते हैं। अनासक्तिरूपी सत्यमयी मानसिक स्थिति विश्वविजयी है, अमृतकी खान है। इसका दर्शन, स्पर्शन आस्वादन संतोंके सत्संगमें ही होता है। संतोंके लिये संतोंका दर्शन ही एकमात्र काम्य वस्तु है।

जब मैं था तब तू नहीं, जब तू है मैं नाहिं।
प्रेम गली अति सांकरी, तामें दो न समाहिं ॥ १६५ ॥

व्याख्या— जब मेरे मनमें 'मैं' अर्थात् अहंकार था तबतक 'तू' अर्थात् अनासक्ति वहां नहीं थी, और अब जब कि मैं अनासक्त हो गया हूं तो अहंकार नहीं रहा। प्रेमका मार्ग अत्यंत संकीर्ण है वहां दो नहीं समा सकते।

अनासक्ति ज्ञानीका आराध्य ईश्वर है। अनासक्तिको अपना स्वरूप जानना ज्ञानीकी अद्वैत स्थिति है। आसक्त अज्ञानी ईश्वरको अपनेसे पृथक् समझनेकी भ्रान्त कल्पना रखते हैं। ज्ञानीकी अद्वैत स्थिति प्रेम कहलाती है। अज्ञानी की द्वैत स्थिति अहंकार कहलाती है। अद्वैत स्थितिमें द्वैत भावनारूपी अहंकारको स्थान नहीं मिल सकता।

जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूंढन चली, रही किनारे बैठ ॥१६६॥

व्याख्या— जिन्होंने तुझे खोजा है उन्होंने तुझे गहरे पानीमें घुसकर पाया है। 'मैं' पागल अर्थात् अहंबुद्धि तुझे ढूंढने चली थी पर किनारे पर ही बैठ रही।

मनुष्य सुख ढूंढनेवाला है। मनुष्यजीवनका लक्ष्य अक्षय सुख है। इसलिए सुखकी ढूंढ स्वाभाविक है। यह सृष्टि वास्तवमें सुखका सागर है। जैसे सागरमें सच्चा मोती गहरे पानीमें रहता है, बाहर रहकर आंखोंसे देखना असंभव है, डुबकी लगानेपर ही हाथ आता है, ऐसे ही सच्चा सुख आंखोंसे दीखनेवाले रूप रसादि विषयोंमें नहीं है। इनके बंधनमें फंसानेवाली इन्द्रियोंको वशमें करके ही अपने मनकी अनासक्त स्थितिमें अनंत अविनाशी ब्रह्मानंदका दर्शन पाया जा सकता है। इन्द्रियोंके वशमें रहनेसे सच्चे सुखसे वंचित रहना पडता है और सुखसागरके किनारे बैठकर जीवनको व्यर्थ ही खो देना होता है।

अलख पुरुषकी आरसी, संतन ही की देह।
लखा जो चाहे अलखको, उनहीमें लख लेह ॥१६७॥

साधु हमारी आतमा हम साधुओंके जीव।
साधुओंमें हम यूं रहैं, ज्यों पय मधः घीव॥१६८॥

व्याख्या— सन्तोंका शरीर ही अलक्ष्य पुरुषका दर्शन करानेवाला दर्पण है। जो अलक्ष्य पुरुषको देखना चाहे, संतोंमें ही देखले। संत हमारी आत्मा और हम उनके जीव हैं। संतोंमें हम इस प्रकार रहते हैं जैसे दूधमें घी।

संतका शरीर सत्यकी ही सेवाका साधन है। संतकी इंद्रियां विषय ढूंढनेवाली नहीं होतीं किंतु अनासक्तिरूपी सत्यकी सेवामें लगी रहनेसे सत्यस्वरूप ही बन जाती हैं। इसलिए संतके व्यावहारिक जीवनमें संतदेहका सत्यस्वरूप देही सब समय प्रकट रहता है। संतमें ही संत ईश्वरदर्शन करता है। संत संतको अपना ही रूप जानता है और अपने को संतकी सेवामें समर्पित करके अपने जीवनको सार्थक करता है।

मेर तोरकी जेवरी, बट बांधा संसार। दास कबीरा क्यों बंधे, जाके नाम अधार ॥ १६९ ॥
तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूं।
वारी तेरे नामकी, जित देखूं तित तूं ॥ १७० ॥

व्याख्या— मेरा तेरारूपी मोहसे बांटी हुई रस्सीने सारे संसारको बांध रखा है। दास कबीर जिसने नामका आश्रय ले लिया है वह-उसके बंधनमें क्यों आवे? मैं तू तू करनेसे तू ही हो गया हूं। मेरेमें अहंकार नहीं रहा। अब मैं सर्वत्र तुझे ही देखता हूं। तेरे नामपर मैं बलि जाता हूं।

अनासक्त संतके हृदयमें ममत्व-बुद्धि नहीं है। भौतिक पदार्थसे ज्ञानीका भोगका संबंध नहीं रहता। भोगाकांक्षा ही अहंकारसे रूपरसादि विषयोंका भोक्ता बनकर उनमें ममत्वबुद्धि रखता है और भोगाकांक्षाको परितृप्त करनेके साधनके रूपमें उनके संग्रहके लिए कर्म करता है। वह उस कर्मसे भोगानुकूल फलाशा रखनेके कारण कर्मबंधनरूपी अनंत दुःखजालमें फंसा रहता है। उसका यह ममत्वबुद्धि-रूपी अज्ञान उसे अपने निरहंकार, सच्चे अनासक्तिरूपी ज्ञानका दर्शन नहीं करने देता। ज्ञानका दर्शन कर चुकने-वाला ज्ञानी संपूर्ण विश्वको स्रष्टाकी ही विभूति जानकर

के ही कर्तापनमें अपने क्षुद्र अहंको सम्मिलित करके सत्यस्वरूप बन जाता है। उसे सर्वत्र सत्यस्वरूपका ही स्वामित्व दीखता है, अपना कुछ नहीं रहता।

सीतल शब्द उचारिए, अहं आपने नांहि।
तेरा प्रीतम तुझमें बसे, दुश्मन भी तुझ मांहि ॥ १७१ ॥

व्याख्या--कबीर कहते हैं कि तेरा शत्रु और मित्र दोनों तेरे अंदर ही हैं। तू अहंकाररूपी शत्रुके बंधनसे मुक्त होकर शीतल वचन बोल।

ज्ञान शान्ति है और अज्ञान अशान्ति। ज्ञानीका हृदय सदा शान्त है। वचन हृदयका ही प्रतिनिधि है। ज्ञानीका वचन इसलिए शीतल है कि उसके हृदयमें किसी प्रकारका अभावजनित क्षोभ तथा सताप नहीं है। अज्ञानीका हृदय सदा कामनासे सताया हुआ अभावग्रस्त दुखिया है। उसका वचन सदा उसके कामादि रिपुओंसे सताए हुए संतप्त हृदयकी ज्वाला ही प्रकट करता है। ज्ञानीका निष्काम, निरहंकार शुद्ध मन उसका मित्र है और इंद्रियोंके वशमें रहनेवाले अज्ञानीका कामनाधीन, अहंकारी, अशुद्ध मन उसका शत्रु है।

इस दुनियांमें आनकै- छांडि देय तू ऐंठ
लेना होसो जल्द ले, उठी जात है पैंठ ॥१७२॥
ऊंचे पानी ना टिकै, नीचे ही ठहराय।
नीचा जाय सो भर पिए, ऊंचा प्यासा जाय ॥१७३॥

व्याख्या--इस संसारमें आकर तू ऐंठ करना अर्थात् घमंड करना छोड दे। जो कुछ लेना है उसे शीघ्र ले ले, पैंठ उठी जा रही है। पानी सदा नीचाईपर ही ठहरता है ऊंचाई पर नहीं। जो नीचे जाता है वह तृप्त होकर पीता है और ऊंचे रहनेवाला प्यासा ही जाता है।

अखंड सुख शान्तिस्वरूप सत्यसे सम्मिलित रहना जीवनका लक्ष्य है। सत्य मनुष्य हृदयमें अनासक्तिके रूपमें स्वभावसे प्राप्त है। इन्द्रियोंको वशमें रखनेकी मानसिक स्थिति ही सत्य है। इसके विपरीत इन्द्रियोंके वशमें रहनेकी मानसिक स्थिति असत्य है। इन दोनोंमेंसे एकको अपनानेकी स्वतंत्रता ही मनका स्वरूप है। इस स्वतंत्रताका सदुपयोग या दुरुपयोग करना क्षणभरका काम है। मनुष्य क्षणभरमें ही अपने जीवनको सार्थक या निरर्थक कर सकता है। देह जीवनको सार्थक या निरर्थक करनेके साधनके रूपमें मनके अधीन है। नाशवान देह किसी भी क्षण विनष्ट हो सकता है। क्षणस्थायी जीवनको हाथमें आए हुए वर्तमान क्षणमें सार्थक न करना संपूर्ण जीवनको ही व्यर्थ खो देना है। इन्द्रियोंकी दासता करनेवाला अज्ञानी क्षुद्र अहंकारको अपनाकर अपने विराट् सत्यस्वरूपके मिलनसे वंचित रहता है और अतृप्त भोगवासनासे सताया हुआ सदा अशान्त रहता है। इस अहंकारको मिटाकर ज्ञानी अखंड शान्तिका स्वामी सत्यस्वरूप बन जाता है।

सभी रसायन हम करी, नहीं नाम सम कोय॥
रंचक घटमें संचरे, सब तन कंचन होय ॥१७४॥

व्याख्या-- हमने सारे साधनोंको करके देख लिया है, नामके समान कोई नहीं है। नाम यदि एक क्षणके लिए भी अंतरमें संचरित हो जाय तो सारा शरीर कंचन बन जाता है।

अनासक्ति ही नाम है। अनासक्त होना क्षणभरका काम है। अनासक्त होते ही संपूर्ण इन्द्रियां सत्यकी सेवाका साधन बन जाती हैं। रूपरसादि विषयोंमें भोगसुख ढूंढना अनासक्त ज्ञानीकी इन्द्रियोंका काम नहीं रहता। ज्ञानीके सत्यस्वरूप मनके वशमें रहनेवाली इन्द्रियां भी सत्यस्वरूप ही हो जाती हैं।

बडे बडाई ना करैं, बडा न बोलैं बोल॥
हीरा मुखसे ना कहै, लाख हमारा मोल ॥१७५॥

व्याख्या-- गुणवान अपनी बडाई नहीं करते और मुखसे घमंडकी बात नहीं निकालते। हीरा मुखसे कभी नहीं कहता कि हमारा मोल लाख रुपया है।

गुण स्वयं ही अपने आपको प्रकट करता है। उसमें ऐसी कोई भी अपूर्णता नहीं होती जिसको वाणीसे पूर्ण करनेकी आवश्यकता हो। सत्यनिष्ठा ही एकमात्र गुण है। सत्यके बिना बडीसे बडी भौतिक शक्ति भी अवगुण है। सत्यस्वरूप संत ही सच्चा गुणी है। उसके व्यावहारिक जीवनमें सत्य ही समुज्ज्वल रहता है। संतकी पहचान आत्मप्रचारार्थ किए हुए व्याख्यानोंके द्वारा नहीं होती, उसके

अपने शुद्ध आचरणके द्वारा ही होती है। सच्चा गुण गुणवानको आत्मसंतोषसे परितृप्त कर देता है। गुणी स्वयं अपने गुणसे गुणमुग्ध रहता है। दूसरेको मुग्ध करने की भावना उसके मनमें स्थान नहीं पाती। बाहरी जगत्को मुग्ध करना चाहनेवालेके मनमें आत्मसंतोष नहीं होता। जहां आत्मसंतोष नहीं है वहां गुण भी नहीं है। यशाकांक्षी हृदय असत्यका सौदा करनेवाला, सच्चे गुणके विमल आनन्दसे वंचित, कामना-दग्ध दुखिया है।

जो गुरु बसैं बनारसी, शिष्य समंदर तीर।
एक पलक बिसरे नहीं, जो गुण होय शरीर॥१७६

व्याख्या-- यदि गुरु बनारस और शिष्य समुद्रके किनारे भी रहते हों तो भी यदि उनके देहमें गुण विद्यमान हैं तो एक क्षणके लिए भी एक दूसरेका विस्मरण नहीं हो सकता।

सत्संगका आनंद लेनेवाले संत एक दूसरेके शिष्य और सेवक बननेका ही अभिमान रखते हैं, गुरु बननेका नहीं। वे एक दूसरेसे मनसे पृथक् कभी नहीं होते, चाहे शरीरसे भौतिक परिस्थितिके कारण देश देशान्तरकी दूरीका भी विच्छेद क्यों न हो जावे। संतोंका शरीर सत्यकी सेवामें समर्पित किया हुआ सत्यस्वरूप है। संत अपने मनमें ही अपने प्यारे सत्संगी मित्रोंके गुणवान् देहको श्रद्धांजलि देते हुए उनके सत्संगका आनंद लेते रहते हैं।

सुखके माथे सिल पडे, जो नाम हृदयसे जाय॥
बलिहारी वा दुःखकी, जो पल पल नाम रटाय॥ १७७॥

व्याख्या— उस भौतिक सुखका अंत ही अच्छा है जिसके बंधनमें पडकर मनुष्य नामको भूल जाता है और उस भौतिक दुःखपर बलि होना सौभाग्यकी बात है जो प्रतिक्षण सत्यका स्मरण कराता है।

इन्द्रियोंका स्वामित्व ही सच्चा सुख है और इन्द्रियोंकी दासता अनंत दुःख है। अज्ञानी भौतिक सुखके बंधनमें फंसकर ही इन्द्रियोंकी दासता स्वीकार करता है। इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला ज्ञानी भौतिक सुखदुःखमें उदासीन रहते हुए नित्य सुखी रहता है।

गांठी दाम न बांधई, नहिं नारीसे नेह॥
कह कबीर ता साधकी, हम चरननकी खेह॥ १७८॥

व्याख्या-- कबीर कहते हैं कि जिस संतके मनमें कामासक्ति और धनासक्ति नहीं है हम उसके चरणोंकी धूलिके समान हैं।

रात गंवाई नींदमें, दिवस गंवाया खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौडी बदले जाय॥१७९॥

व्याख्या — दिन तो खानेमें गंवा दिया और रात सोने में हीरेके समान अमूल्य मानवजीवनको सत्यकी सेवामें न लगाकर व्यर्थ खो दिया।

शरीर रक्षार्थ आहार निद्राकी आवश्यकताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस दोहेमें वास्तवमें आहार निद्रा पर आक्षेप नहीं है। मानवजीवनके लक्ष्यको त्यागनेकी भ्रान्तिपर ही आक्षेप है। इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्तिरूपी सत्यसे सम्मिलित रहना ही मानव जीवनका उद्देश्य है। इस उद्देश्यको छोडकर शारीरिक सुखको ही सुख समझकर इन्द्रियासक्त रहना असत्य स्थिति है। सत्यको त्यागकर असत्यको अपनाए रहना अमूल्य मानव-जीवनको व्यर्थ खो देना है।

वस्तु कहीं ढूंढे कहीं, केहि विधि आवै हाथ।
कह कबीर तब पाइए, भेदी लीजै साथ॥१८०॥ भेदी लीया साथ कर, दीन्हीं वस्तु लखाय। कोट जनमका पंथ था, पलमें पहुंचा जाय॥१८१॥

व्याख्या--वस्तु कहीं है ढूंढ कहीं रहे हैं, भला कैसे मिल सकती है? कबीर कहते हैं कि भेदीको साथ ले लिया जाय तो वस्तु मिल जाय। हमने भेदीको साथ लिया तो उसने तुरंत वस्तुका दर्शन करा दिया। जिस मार्गको अनंत कालतक भी पूरा कर सकनेकी आशा न थी वहां एक क्षणमें ही पहुंच गए।

ज्ञानी इंद्रियासक्तिमें दुःख मानते हैं और अनासक्तिमें सुख। इसके विपरीत अज्ञानी इंद्रिय परितृप्तिमें सुख मानते हैं और उसके अभावमें दुःख। विचारके इस विरोध के कारण ज्ञानी दुःखनिवृत्तिमें सुख मानते हैं और अज्ञानी दुःखरूपी कामनाको भोगके द्वारा प्राप्त करके सुखी

होनेकी दुराशा करते हैं। सुखदुःखका सच्चा मार्गदर्शक अभ्रान्त विचार-बुद्धि है। ज्ञानी और अज्ञानीकी विचार-बुद्धि एक दूसरेसे सर्वथा विपरीत है। इसी कारण जिस दुःखसे ज्ञानी क्षणभरमें निवृत्त हो जाते हैं उसी दुःखसे निवृत्त होनेको अज्ञानी एक जन्मका काम न बताकर एक अनिश्चित अनंत कालमें भी कभी न आनेवाले भविष्यत् पर टाल देते हैं। भोगसे भोगपिपासाका अंत नहीं होता है। भोगत्यागरूपी अनासक्तिका आस्वादन मिलनेपर भोगाकांक्षा निंदित होकर स्वयमेव निवृत्त हो जाती है। अज्ञानी अशान्तिमें शान्तिकी असंभव आशा करके सदाके लिए अशान्त बना रहता है। ज्ञानी अभ्रान्त बुद्धिके द्वारा स्वभावसे प्राप्त अनासक्तिको अपनाकर क्षणभरमें शान्त हो जाता है।

यह तन विषकी बेलरी, गुरु अमृतकी खान। सीस दिए जो गुरु मिलैं, तो भी सस्ता जान ॥१८२॥

व्याख्या — यह शरीर विषकी बेल है और शुद्धमनरूपी गुरु अमृतकी खान है। यदि सिरके बदलेमें अर्थात् जीवनके बदलेमें भी गुरु मिल जाय तो उसे भी सस्ता ही जानो।

बिना अनासक्तिके जीवन दुःख स्वरूप है। अनासक्ति ही जीवनका मिठास है। ज्ञानीकी दृष्टिमें आसक्त जीवन मृत्युवत् है। अनासक्त ज्ञानी सत्यासत्यके संग्राममें, असत्यका विरोध करते हुए शरीरका बलिदान करके भी सत्यारूढ स्थितिका आनंद अक्षुण्ण रखता है। यही उसकी अमरता है।

लोभी गुरु लालची चेला।
दोनों नरक में ठली ठेला ॥१८३॥

व्याख्या — प्रतिष्ठाका लोभी गुरु और ख्यातिका लालची शिष्य दोनों अज्ञानरूपी नरकमें एक जैसे ही पड़े हुए हैं।

चेलोंके झुंडसे मानप्रतिष्ठा पानेवाले तथा भौतिक स्वार्थसाधन करनेवाले गुरु और प्रतिष्ठित गुरुके चेले बनकर संसारको ठगना चाहनेवाले चेले दोनों ही लोभी हैं। कबीर कहते हैं कि ये दोनों अज्ञानरूपी नरकके समान अधिकारी बनकर संसारको ठगनेमें एक दूसरेसे प्रतिद्वंदिता कर रहे हैं।

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय। जो दिल खोजूं आपनो, मुझ सा बुरा न होय ॥१८४॥

व्याख्या — मैं जो बुरा अर्थात् मुझे हानि पहुंचानेवाला शत्रु ढूंढने चला तो मुझे बाह्य जगत्में कोई भी शत्रु नहीं मिला। जब अपना मन ढूंढा तो मैंने देखा कि 'मैं पन' अथात् आसक्तिसे बढकर मेरा शत्रु कोई नहीं है।

आसक्तिको शत्रुरूपमें पहचान लेना ही संतकी अनासक्त स्थिति है। कबीर इस दोहेमें आसक्तिको ही निंदित कर रहे हैं। अपने आपको अज्ञानीकोटिमें सम्मिलित करके अज्ञानियोंकी श्रुतिमधुर संतनिंदाके द्वारा संतपनकी वास्तविकताको खंडित नहीं कर रहे हैं। आसक्तिके निंदक तथा अनासक्तिके श्रद्धालु पापीका होना असंभव है। स्पष्ट शब्दोंमें, वध्य-घातक संबंध रखनेवाले ज्ञानाज्ञानका मिश्रण असंभव होनेके कारण पापासक्त संत तथा संतपनके श्रद्धालु पापीकी कल्पना हास्यास्पद है। मनुष्यकी श्रद्धा और आचरण अभिन्न हैं। एकमात्र अनासक्त संतके लिए ही आसक्तिके घृणितरूपको प्रत्यक्ष करके उसपर विजय प्राप्त करना संभव है।

करु बहियां बल आपनी, छांड़ बिरानी आस।
जाके आंगन है नदी सो कस मरै पियास ॥१८५॥

व्याख्या— अपने हाथोंको शक्तिशाली बनाओ। दूसरोंकी आशा छोड़ दो। जिसके आंगनमें नदी है वह प्यासा क्यों मरे?

मनुष्यके हृदयमें ही अनासक्तिरूपी शक्तिकी खान है। इस शक्तिसे वंचित होना मनुष्य बुद्धिका दुरुपयोग है। अज्ञानी मनुष्य विषयासक्त होकर इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करने रूपी शक्तिको न अपना कर इन्द्रियाधीनतारूपी शक्तिहीनताको अपनाए रहते हैं। आसक्ति या अनासक्तिको अपनानेकी स्वतंत्रता जिस मनुष्यके पास स्वभावसे है उसके लिए अपनी स्वतंत्रताका दुरुपयोग करके आसक्त बने रहना अस्वाभाविक स्थिति है। अपनी इस स्वतंत्रताका सदुपयोग करके अनासक्त होना ही अपने हाथोंको

शक्तिशाली बनाकर विश्वविजयी बन जाता है। आसक्ति स्वयं ही निर्बलता है। आसक्त मनुष्यको शक्ति दान करनेवाली शक्ति संसारमें कोई नहीं है। अनासक्त ज्ञानी विश्वविजयी है। वह अपनी शक्तिके अतिरिक्त किसी काल्पनिक ईश्वरीय शक्तिपर निर्भर नहीं है। विघ्नको दूर करने अर्थात् शत्रुपर विजय प्राप्त करनेके लिए ही शक्ति की आवश्यकता है। भौतिक शक्ति चाहे कितनी ही बडी क्यों न हो उससे अधिकतर भौतिक शक्तिकी तुलनामें वह निर्बलता ही है। मानसिक शक्तिमें तारतम्य नहीं है। मानसिक शक्ति किसीसे भी पराभूत न होनेवाली स्वयं-पूर्ण है। मानसिक शक्तिका विघ्न मानसिक अशक्ति ही है, कोई बाह्यशक्ति नहीं। इस विघ्नको दूर करनेकी शक्ति मनुष्यके अपने ही मनमें अनासक्तिके रूपमें विद्यमान है

लघुता से प्रभुता मिलै, प्रभुतासे प्रभु दूरि।
चींटी लै शक्कर चली, हाथीके सिर धूरि॥१८६॥

व्याख्या — लघुतासे अर्थात् निरहंकार स्थितिसे ही प्रभुता अर्थात् ईश्वरमें आत्मसमर्पण करने रूपी ईश्वरत्व मिलता है। अहंकारसे ईश्वर दूर है। क्षुद्र चींटी धूलको त्यागकर शक्करको ग्रहण करती है और विशाल देह हाथी धूलको ही सिरपर धारण करता है।

देहकी विशालता अर्थात् भौतिक शक्तिका अहंकार वास्तवमें शक्तिहीनता ही है। इसीसे मदमत्त हाथीकी उपमा दी गई है। सदसद्विचार करनेकी सूक्ष्म बुद्धि विश्वविजयिनी मानसिक शक्ति है। इसके साथ धूल और शक्करमें त्याज्य ग्राह्यकी पहचान करनेवाली चींटीकी उपमा दी गई है। अनासक्त मनुष्य सर्वशक्तिमान ईश्वरमें आत्मसमर्पण कर चुकनेके अनन्तर इंद्रियोंके स्वामित्व" रूपी ईश्वरत्वको प्राप्त करके ब्रह्मानंदरूपी अमृतका आस्वादन करता रहता है। इसके विपरीत भौतिक शक्तिको ही शक्ति समझनेवाला अज्ञानी देहात्मबुद्धिरूपी अहंकार के कारण अनासक्तिके अमृतसे वंचित रहकर विषयवासना-रूपी दुःखका कटु आस्वादन करता रहता है।

जहां दया तहं धर्म है, जहां लोभ तहं पाप।
जहां क्रोध तहं काल है, जहां छिमा तहं आप॥१८७॥

व्याख्या — जहां दया है वहां धर्म है, जहां लोभ है वहां पाप है जहां क्रोध है, वहां मृत्यु है और जहां क्षमा है वहां तो स्वयं ईश्वर है।

दूसरोंके अधिकारपर आक्रमण न करना ही अपने अधिकारमें सीमित रहने रूपी दया है। यही मानव समाजकी कल्याणकारी मनुष्यता या मनुष्यका स्वधर्म है। दूसरोंके अधिकारपर आक्रमण करनेकी भावना ही लोभ है। यही विषयासक्तिरूपी अज्ञान या पाप है। दूसरोंके अधिकारपर आक्रमण करनेका हठ ही क्रोध है। इसीसे मनुष्य अपनी मनुष्यताको खो देता है। मनुष्यका मनुष्यतासे वंचित होना ही उसकी मृत्यु है। अपनेको भौतिक हानि पहुंचानेवाले अज्ञानीको समग्र मनुष्यसमाजका अकल्याणकारी शत्रु समझकर, व्यक्तिगत प्रतिशोधकी भावनासे मुक्त रहकर, समाजके कल्याणकी दृष्टिसे उसके साथ यथोचित बर्ताव करना ही असत्य-विरोधरूपी सत्यकी सेवा या क्षमा है। क्षमावान् मनुष्यके हृदयमें सत्यस्वरूप भगवान् प्रत्यक्षरूपमें विराजमान हैं।

जो जल बाढै नाव में, घर में बाढै दाम॥
दोऊ हाथ उलीचिए, याहि सज्जन को काम॥१८८॥

व्याख्या — यदि नावमें जल बढ जाय और घरमें धन बढ जाय तो सज्जनोंका यही काम है कि दोनों हाथोंसे उसे निकालें।

जलभारसे नौका डूब जाती है। इसी प्रकार धनभारसे अर्थात् धनमोहसे मनुष्य-हृदय अंधकारमय अज्ञानकूपमें डूब जाता है। धनाकांक्षा वास्तवमें निर्धनता या धनमत्तता-रूपी दुःखजाल है। जैसे नावको डूबनेसे बचानेके लिए दोनों हाथोंसे जल निकालकर उसको हल्का करना ही एकमात्र उपाय है, इसी प्रकार मनुष्यहृदयको अज्ञानांधकार-रूपी दुःखजालसे मुक्त रखनेके लिए धनमोह या विषयासक्तिका त्याग अर्थात् अनासक्ति ही एकमात्र महाव्रत है।

हार बडा हरि भजन कर, द्रव्य बडा कछु देह। अकल बडी उपकार कर, जीवन का फल यह॥१८९॥

ज्ञानीका ईश्वर आंखोंसे दीखनेवाली असंभव काल्पनिक वस्तु नहीं है। उसका अपना अनासक्त शुद्ध मन ही सच्चा ईश्वर है। उसका मन अपनी शुद्धताका दर्शन करके मोहित हो जाता है। बाहरी जगत्‌के रूप रसादिमें उसे मोहित करनेकी शक्ति नहीं रहती। अपनी इस अनुपम ईश्वर-मिलनकी स्थितिको वाणीसे वर्णन करके जगत् को समझानेकी इच्छा उसके मनमें नहीं होती। वह निर्वाक् होकर ब्रह्मानंदका रसास्वादन करता रहता है। जब उसे अपने जैसे संतका दर्शन मिलता है तब उस संतकी व्यवहार कुशलता में संतपनके रहस्यको प्रत्यक्ष करके सत्संगके द्वारा ईश्वर-मिलनका आनंद लेता है।

आप आपको आप पहचानो। कहा और का नेक न मानो ॥१९५॥

व्याख्या— अपने आपको स्वयं ही पहचानो। औरों-का कहना कभी मत मानो। अर्थात् अपने स्वतंत्र विचारके समर्थनके बिना दूसरोंकी बातोंके पीछे चलकर, चाहे वह ऋषिमुनि कहलानेवाले भी क्यों न हों, अंधविश्वासी मत बनो।

अनासक्ति ही अपना स्वरूप है। इसका दर्शन मनुष्य स्वयं अनासक्त होकर ही कर सकता है। इसे दर्शन करानेवाली कोई बाहरी शक्ति नहीं है। अनासक्ति ही ज्ञान है, ज्ञान किसी व्यक्तिने, किसी ग्रंथने या किसी संप्रदायके माने हुए सिद्धान्तसे उधार लेनेकी वस्तु नहीं है। अनासक्त हो जाने-पर ही सदसत् विचार करनेकी बुद्धि जाग्रत् होती है। सदसत् विचार करनेकी शक्ति ही स्वतंत्र विचार है। ज्ञानी स्वभावसे सदसत्‌की पहचान करनेवाला स्वतंत्र विचारक है। अनासक्त शुद्ध मन स्वयं सत्यस्वरूप है। ज्ञानीके अनासक्त मनके अभ्रान्त विचार ही सनातन वेदध्वनि है। इसके विपरीत अज्ञानीका इंद्रियासक्त मन स्वभावसे सत्यसे अपरिचित, कुमार्गगामी और परतंत्र है।

बिन पांयन का पंथ है, बिन बस्ती का देस।
बिना देह का पुरुष है, कहै कबीर 'संदेश'।
॥१९६॥

व्याख्या—कबीर संदेश देते हैं कि यह मार्ग बिना पैरोंका है, वह देश बिना बस्तीका है; और वह पुरुष बिना देहका है।

ईश्वरमिलनके लिए किसी मार्गकी यात्रा करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य स्वभावसे ही ईश्वरसे मिला हुआ है। उसे पहचानने मात्रकी ही प्रश्न है। इस प्रश्नका समाधान वर्तमान क्षणमें करलेना ही मनुष्यजीवनका लक्ष्य है। ईश्वरका वासस्थान मनुष्यका अपना मन ही है, बाहरी जगत् नहीं। ईश्वरका स्वरूप इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाली अनासक्तिरूपी विदेह स्थिति है। सारांश यही है कि क्षणभरमें अनासक्त हो जाना ही ईश्वरमिलनका राजमार्ग है और यही कबीरका अभ्रान्त "संदेश" है।

(क्रमशः)

क्या ऋषि महिदास ब्राह्मण थे ?

(लेखक-अनुसन्धानकर्ता शिवपूजन साहित्यालङ्कार, सिद्धान्त-भास्कर पो. बाक्स नं. २५०, कानपुर.)

प्राचीन कालमें बहुतसे ऐसे ऋषि भी हुए हैं जो शूद्र-कुलमें उत्पन्न हुए थे। उन्हीमें ऐतरेय (महिदास) ऋषि भी थे। मासिकपत्र "वैदिकधर्म" वर्ष ३०, फरवरी १९४९ ई. अंक २. पृष्ठ ९३ से ९८ तक "क्या महिदास शूद्र थे ?" शीर्षक लेखमें पं० दीनानाथजी शास्त्री, देहलीने यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि महिदास ब्राह्मण कुलोत्पन्न थे। मेरे विचारसे महिदास ब्राह्मण न थे वरन् शूद्रकुलोत्पन्न थे और पं० सत्यव्रत सामश्रमीजीका लेख ठीक है। विद्वद्वर्य पं० सत्यव्रतजी सामश्रमीने "ऐतरेयालोचनम्" नामक संस्कृतमें एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें गुणकर्मके कारण जाति-परिवर्तनके कई उदाहरण हैं। उसमें आचार्य सत्यव्रतजी सामश्रमीने लिखा है — "तदित्थं महिदासस्य शूद्रागर्भजातस्येऽपि ब्राह्मण ग्रंथप्रवचनशक्तिमत्त्वेन ब्राह्मणत्वं स्यात् संजातं किं तत्र चित्रम् ? " १

अर्थात् इस प्रकार शूद्रा माताके गर्भसे उत्पन्न होनेपर भी महिदास ऐतरेयमें ब्राह्मण ग्रन्थ बनानेकी शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण ब्राह्मणत्व आ गया इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है ? आगे आपने यह भी प्रदर्शित किया है कि शूद्र भी वेद पढनेका अधिकारी है। आप लिखते हैं—

'शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षाद् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामी दयानन्देन (वाजसनेयि-संहिता २६।२) 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च इति तदेवं वेदविदैः पक्षपातदोषभाक्त्वं न कथमपीति स्पष्टम् " २

अर्थात् - शूद्रोंके वेदाधिकार विषयमें स्वामी दयानन्दजीने साक्षात् यजुर्वेदके (२६।२) के 'यथेमां वाचं कल्याणीम्, इस मंत्रका प्रमाण दिया है और इस प्रकार यह भी स्पष्ट है कि वेदके विधानमें किसी तरहके पक्षपातका दोष नहीं लगाया जा सकता।

इसी बातको वैदिक तत्ववेत्ता राजरत्न श्री आत्मारामजी लिखते हैं--"

But a well known sanskrit scholar of Bengal, Pt Satyavrata samasrami, who is neither a member nor a supportor of the Aryasamaj and who is well. Known for his sanskrit research work to the government of India, Has in his latest book 'Aitareya - Alochan' not only given a similar translation and exposition of this epoch making mantra but hes in plain words, by giving reference of swami dayanand saraswati and the translation which the great Rishi Dayanand made fifty years ago, Corroborated every word of the same, He, like rishi Dayanand says that from the Brahmin down as the cobbler every humau bieng is entitled to the stady of the Vedas. " ३

अर्थात् - बङ्गालके सुप्रसिद्ध संस्कृत अन्वेषक पं० सत्यव्रत सामश्रमी जो आर्यसमाजके समर्थक और सदस्य न थे और जो भारतीय सरकारके संस्कृत अन्वेषण कार्यमें अधिक प्रसिद्ध थे, अपनी अन्तिम पुस्तक "ऐतरेयालोचन" में

---

१. ऐतरेयालोचनम्, पृष्ठ १६ (सन् १९०६ ई. कलकत्ता-संस्करण)

२. वही पृष्ठ १७.

३. " Dayanand commemoration volume " Pages 185 (In 1933 A. D. Printed & published by vedic yantralaya, Ajmer)

स्वामी दयानन्दजी सरस्वतीके कुछ शब्दोंके अवतरण दिए हैं जिनको ऋषि दयानन्दजीने ५८ वर्ष पहले लिखा था। वे ऋषि दयानन्दजीके मतसे कहते हैं कि मानवमात्रको वेदाध्ययनका अधिकार है।

ऋषि दयानन्दजी महाराजकी इस घोषणाको देखकर पाश्चात्य विचारक धारोमाँरोलाँ लिखता है —

"It was in truth an epoch-making date for India when a Brahmin not only acknowledged that all human beings have to might to know the vedas,, Whose study has been previously prohibited by orthodox Brahmins but insisted that their study and propaganda was the duty of every Arya. ४.

अर्थात् — "वह सचमुच भारतके लिए एक स्वर्णिम नवयुग निर्माण तिथि था जब एक ब्राह्मण (ऋषि दयानन्दजी) ने न केवल यह स्वीकार किया कि वेदाध्ययनका अधिकार (जो रूढिवादी ब्राह्मणोंने शूद्रोंके लिए निषिद्ध ठहरा रक्खा था) सब मनुष्यमात्रको है, वरन् इसपर बल दिया कि वेदका पढना, पढाना, सुनना, सुनाना आर्योंका परमधर्म है।"

सचमुच ऋषि दयानन्दजीने शूद्रको मृत्युके मुखसे बचा लिया। यदि ऋषि दयानन्दजीने यह (वा० य० २६ २) मंत्र उद्धृत न किया होता तो क्या आचार्य सत्यव्रतजी सामश्रमी यह सिद्ध कर सकते थे कि शूद्रको वेदाधिकार है?

अतएव महिदास शूद्र ही थे और शूद्रको वेदाधिकार है। बडे बडे दिग्गज विद्वान् भी इस सिद्धान्तको मानते हैं। यथा — वेदोंके उद्भट विद्वान् पं० शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ लिखते हैं —

"...अब हम आपको बहुतसे उदाहरण दिखलाते हैं कि जो दास दासीके पुत्र थे परन्तु वे ऐसे विद्वान् हुए कि जिनके लिखित ग्रन्थ पढ पढाकर लोग वैदिक बनते हैं। उनमेंसे प्रथम ऐतरेय ऋषि हुए हैं। इन्होंने ऋग्वेदके ऊपर अनेक ग्रन्थ लिखे, ऐतरेय ब्राह्मण, ऐतरेयोपनिषद् आदि। ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार ही सम्पूर्ण ऋग्वेदीय श्रौत गृह्यसूत्र हैं और इसीके अनुसार सारे वैदिक याग सम्पादित होते हैं। ये ऐतरेय ऋषि दासी पुत्र थे। 'मही' इनकी माताका नाम था और इनकी माता नीच जातिकी दासी थी। इस कारण इसको 'इतरा' भी कहते थे। 'इतरा' शब्दार्थ ही नीच है यथा — "इतरश्चान्य नीचयोः" अमरकोष॥ ये दासीपुत्र होनेपर भी इतने बडे विद्वान् हुए हैं कि जिनके लिखित ग्रन्थ बिना ऋग्वेदका सत्व ही नहीं खुलता है।" ५

श्री क्षिति मोहनसेन शास्त्री, एम्, ए. आचार्य विश्व भारती, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, लिखते हैं — 'एक ऋषिकी इतरा या शूद्रा पत्नीसे उत्पन्न पुत्र ही ऐतरेय थे। यज्ञके समय ऋषिने अपनी ब्राह्मणी पत्नीसे उत्पन्न पुत्रको ही गोदमें लेकर उसे नाना तरहका उपदेश दिया और बिचारे ऐतरेयकी उपेक्षा की। दुःखित होकर ऐतरेयने अपनी मातासे अपने मनका दुःख बताया। उनकी माताने अपनी कुलदेवी महीका स्मरण किया। शूद्रगण तो महीकी सन्तान हैं (Children of the Soil)। पृथ्वी गर्भसे देवी आविर्भूत हुई और ऐतरेयको दिव्य सिंहासनपर बिठाकर सर्वोत्तम ज्ञान देकर तिरोहित हुई। तपस्या और इस प्रकारसे लब्ध ज्ञानके बलपर उन्होंने जिस ग्रन्थकी रचना की वही ऋग्वेदका सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण ऐतरेय ब्राह्मण है। महीदेवीसे शिक्षा पानेके कारण ऐतरेय महिदास भी कहाते हैं।" ६

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर अध्यक्ष 'स्वाध्याय मण्डल' तथा सम्पादक "वैदिक धर्म" लिखते हैं —

"ऐतरेय महिदास एक शूद्रका पुत्र था। वह आगे चलकर वेदवेत्ता ब्राह्मण हुआ और उसने ऋग्वेदके सम्बन्धमें ऐतरेय ब्राह्मण नामक ग्रन्थ बनाया। यह 'इतरा' स्त्री

४. " Life of Shri ram a krishna param hans " S cand edition, P. 159.

५. ' जाति निर्णय " पृष्ठ २४९ (सन् १९०१ ई. प्रथम संस्करण)

६. ' भारतवर्षमें जातभेद ' पृष्ठ ८५ , अक्टूबर १९४० ई. कलकत्ता-संस्करण)

...ा था इसलिए ऐतरेय कहलाता । नहीं मालूम कि ...का पिता कौन था । इसीलिए उसका नाम उसकी ...के नामसे चलता है । 'इतर' शब्दका अर्थ 'नीच होता ...। 'इतरस्त्वन्यनीचयोः इत्यमरः' । इससे स्पष्ट है कि ...महिदासकी माँ इतरा नीच जातिकी शूद्रा थी । ऐतरेय ...भाष्यके आरम्भमें सायणाचार्यने भाष्यमें रचयिताके विषय- ...में इस प्रकारकी कथा दी है कि इस इतराका पुत्र ऐतरेय महीदास वेदवेत्ता हुआ और सर्वमान्य ग्रन्थकर्ता बना ।" ७

आचार्य रामदेवजी एम. ए. एम.आर. ए. एस. लिखते हैं— "ऐतरेय ब्राह्मणके कर्ताका नाम है महिदास । वह किसी ऋषिकी पत्नी इतराका पुत्र था ।" ८

पं० धर्मदेवजी शास्त्री, दर्शन-केसरी, पंचतीर्थ लिखते हैं— "महिदास जैसे शूद्र उस जमानेमें ब्राह्मण ग्रन्थोंके निर्माता बने हैं । महाभारतमें तो अनेकों ऐसी इतकथाएँ मिलती हैं जिनसे प्रतीत होता है कि शूद्र भी बड़े विद्वान् और प्रतिष्ठित होते थे ।" ९

ज्योतिषाचार्य, विद्यानिधि श्री रजनीकान्तजी शास्त्री, बी. ए., बी० एल०, साहित्य-सारस्वती ज्योतिर्भूषण लिखते हैं — "ऐतरेय ऋषि-ये दासीपुत्र थे । किन्तु अपने गुण-कर्मोंके कारण ये इतने बड़े विद्वान् हुए कि उन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय उपनिषद् आदि प्रसिद्ध ग्रन्थोंकी रचना की ।" १०

डा० बघेल जयसिंहजी वर्मा जोधपुर लिखते हैं— "ऐतरेय ऋषि, कवष ऐलूष आदि दासी-पुत्र थे ।" ११

पं० नोखेलाल शर्मा 'काव्यतीर्थ' लिखते हैं— "ऐतरेय ब्राह्मण (२।१९) में भी इलुषात्मज कवषका इसी प्रकार महर्षि बनाया जाना लिखा है । ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय उपनिषद्का बनानेवाला महिदास ऐतरेय किसी शूद्रा माँका लड़का था ।" १२

श्रीमान् पं० दीनानाथशास्त्री ने 'वैदिक धर्म' पृष्ठ ९६ में जो छान्दोग्योपनिषद् ३।१६।७ और ऐतरेय आरण्यक २।१।२ का जो प्रमाण दिया है उससे महिदास ब्राह्मण तो सिद्ध होते नहीं हैं, वहाँ तो.. 'महिदास ऐतरेय' लिखा है । सभी भाष्यकार इतराका पुत्र ऐतरेय लिखते हैं, इससे महिदास शूद्र ही सिद्ध होते हैं क्योंकि अमरकोषके अनुकूल इतरा' शब्दार्थ ही नीच है ।

आप अपने लेखमें 'महिदास' में 'दास' शब्दको लेकर आचार्य सामश्रमीजी पर आक्षेप करते हैं कि उन्होंने "महिदासका दासान्त नाम देखकर उसके जन्मसे ब्राह्मण होनेमें सन्देह प्रकट किया है" (वैदिक धर्म पृष्ठ ९४)

परन्तु आचार्य सामश्रमीजी 'दासान्त' नाम देखकर नहीं वरन् स्पष्ट ही शूद्राके गर्भसे उत्पन्न लिखते हैं । उन्होंने स्पष्ट लिखा है—"...महिदासस्य शूद्रागर्भजातत्वेऽपि..." (ऐतरेयालोचनम् " पृष्ठ १६) । अतएव आपका यह आक्षेप निर्मूल है ।

आपने अपने लेखको समाप्त करते हुए लिखा है कि ऐलूष कवषको आचार्य सामश्रमीजीने शूद्र लिखा है, वह भ्रम है । यह अग्रिम निबन्धमें विचार होगा ।

यदि आप अग्रिम निबन्धमें ऐलूष कवषको ब्राह्मण सिद्ध करेंगे तो मैं भी— उन्हें शूद्र सिद्ध करूँगा । इत्यलम् ।

---

७. छूत और अछूत पूर्वार्द्ध पृष्ठ १५५-१५६ सन् १९२७ ई. द्वितीय संस्करण)
८. 'आर्य और दस्यु' पृष्ठ २५ (सन् १९१८ ई., गुरुकुल काङ्गड़ी-संस्करण)
९. मासिक पत्रिका 'सुधा' लखनऊ वर्ष ११, खण्ड २, अप्रैल १९३८ ई०, संख्या ३, पृष्ठ १९८ कॉलम १ "वर्ण-व्यवस्था और जातिपाँति" शीर्षक लेख ।
१०. 'हिन्दू जातिका उत्थान और पतन' पृष्ठ २५६ (सन् १९४७ ई. प्रथम संस्करण, इलाहाबाद)
११. 'राजपूत राजस्व-मीमांसा' प्रथम खण्ड पृष्ठ १५२ (१९८४ वि० प्रथम-संस्करण, जोधपुर)
१२. मासिक पत्रिका "चाँद" प्रयाग, वर्ष ११, खण्ड, मार्च सन् १९३३ ई, संख्या ५,५२, पृष्ठ ५ कॉलम २ में "वर्णव्यवस्थाका स्वरूप" शीर्षक लेख ।

मंत्रोंद्वारा वर्षा और दुर्भिक्ष

(लेखक— श्री पं० प्रभुदयाल वैदिक जगदीश पुरुष इतिहासान्वेषक, बौशाम-हिसार)

पिछले दिनों जुलाईमें प्रो. ताराचन्द्रजीने वैदिक धर्ममें देहलीसे लिखकर विद्वानोंसे पूछा था कि यूरोपवाले वृष्टि करानेके प्रयोग वायुयानद्वारा बादलोंपर बर्फ डालकर वर्षा कराने लगे हैं। यदि वेदोंमें वर्षा करानेका प्रयोग हो तो बताया जावे।

इसके उत्तरमें सितम्बरके वै. धर्ममें " यज्ञसे वृष्टि " लेखमें पं. जगन्नाथशास्त्री ने भी लिखा। और "कारीरी" यागको वैदिक बताते हुवे उसकी ढूंढ करना बताया। इसके पश्चात् कार्तिकके वै. धर्ममें पं. झूलाल शर्मा ने " वरुण आवाहनसे वृष्टि " लिखकर यह बताया कि वह " स्वयं बिना रुपया, पैसा, जहां चाहे, वहां पहुंचकर मन्त्र जप करके वर्षा करा देगा ' और पिछले दिनों कानपुरमें वरुणका जप करके खूब जलवृष्टि करा चुका है॥ और मन्त्रद्वारा घृतकी आहुति देकर अग्नि जला देनेका पूर्ण अनुभव रखता है।

मैं यह माननेको तैयार हूं कि हठयोगी तथा तान्त्रिक मन्त्रों द्वारा कुछ चमत्कार दिखा सकते हैं और पूर्व समय तांत्रिक कालमें भारतमें ये मंत्र तंत्र बहुत जोर पकड चुके थे। तांत्रिक बौद्ध तो यही मंत्रशक्ति मानते रहे हैं जो आसाम, बंगालमें जोरोंपर रही है।

परन्तु वेदोंमें कोई वर्षाका प्रयोग नहीं है! वेदमें " वर्ष " शब्द प्रजा उत्पत्तिके लिये आता है। किन्तु बादलद्वारा " वृष्टि " उसका अर्थ नहीं! खेंचतान करनेवाले वेद को मनमाने ढंगमें लगाते रहते हैं। सर्वत्र ही यह भाव फैला हुवा देशभरमें देखा जाता है। कि " इन्द्रदेवता जलवर्षाकर्ता देव है "। परन्तु यह " वर्षाकपी " नामक इन्द्र " सांड " और " बन्दर " समान सन्तानोत्पादक शक्ति रखनेसे यह नाम था। जो इन्द्र=त्वष्टा शिल्पकार था।

वेद में इसके विरुद्ध प्रमाण हैं। वेद कालमें यदि मन्त्रों और यज्ञों द्वारा वृष्टि कराई जा सकती थी। तो उस समय १२ वर्षके ' दुर्भिक्ष " होनेका वर्णन नहीं लिखा जाता। जिस निरुक्तमें १२ वर्षके दुर्भिक्ष का वर्णन " देवापि शन्तनु " राजाके इतिहास के साथ लिखा गया है। उसके विरुद्ध इन्द्रदेवके दुर्भिक्षमें लोग कैसे जीते हैं। ऋषियों से यह प्रश्न करना लिखा गया है। वेदकालीन दुर्भिक्षोंका वर्णन अनेक ग्रंथोंमें लिखा मिलता है। महाभारत तथा ब्राह्मण ग्रंथोंमें भी दुर्भिक्ष की घटनाकी पुष्टि होती है।

तांड्य० ब्रा० और महाभारतमें आङ्गिरस शिशु वा सारस्वत ऋषिका इतिहास मिलता है। जो ऋग्वेदका ऋषि है। जो अपने परिवारके कारभार का पूरा इतिहास बताता हुवा स्वयं कहता है। " कारुरहं " मैं कारु (कारीगर शिल्पकार-कवि) हूं। " नानाधियो० " नाना प्रकारके काम करके हम सारे एक घरमें रहनेवाले अपना काम चलाते हैं॥

जिसने १२ वर्षके दुर्भिक्षमें खानेको नहीं मिलनेपर दूसरे देशोंमें चले जानेवाले ऋषियोंको पश्चात् लौट आनेपर भोजन दिया और उनको भूला हुवा वेद पुनः सिखाया था। जो अपने कुलके वृद्धजनोंको पढाते समय (हे बालको!) यह कहकर बुलाता था। जो उससे आयुमें बडे थे। जो दुर्भिक्षके कारण वेद भूल चुके थे। यह ६० हजार आङ्गिरसवंशी शिशुसे पढते रहे। जो १२ वर्ष के दुर्भिक्षमें देश बाहर जाकर आगये। यदि वेदकालमें इन्द्र देवता वर्षा करा सकता या मंत्रोंद्वारा वर्षा कराई जा सकती तो १२ वर्षके दुर्भिक्ष का होना वेदकालमें नहीं होता?

निरुक्तमें लिखा है—

वेदकालीन दुर्भिक्षनिवारक नौ उपाय।

इन्द्र ऋषीन् पप्रच्छ-दुर्भिक्षे केन जीवति।
इति तेषामेकः प्रत्युवाच।

शकटः शाकिनी गावो जालमस्यन्दनं वनम्।
उदधिः पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तय इति॥
(निरु० नै० ६·२।१)

इन्द्र=देवराजने ऋषियोंसे पूछा=(अकाल) में किस उपायसे मनुष्य जीता है? उनमें एकने उत्तर दिया कि शकट=(गाडी) शाकिनी=(शाककी भूमि) गाएं, जाल=(जिसमें मछलियां, पक्षी पकडे जा सकें) अस्यन्दन=(जलस्थान-डार) वन, समुद्र, पर्वत और राजा (की सहायता) दुर्भिक्षमें यह उपाय ९ प्रकारके होते हैं॥ इनमें यह नहीं कहा गया कि मन्त्रों द्वारा, यज्ञद्वारा या आप, (इन्द्र देव) वर दुर्भिक्ष दूर करें! यदि इन्द्रदेव वर्षा कर सकता तो दुर्भिक्षमें कैसे जीना हो सकता है? यह पूछे बिना वर्षा कर देता। अन्यथा मन्त्रों, यज्ञों द्वारा वर्षा करानेका प्रबंध करा देता। अतः यह मानना पडेगा कि इन्द्र वर्षा करनेवाला नहीं है। न हो यज्ञोंसे वा मन्त्रोंसे वर्षा होती है। आजतक अकाल होनेपर वही ९ प्रकारके उपाय राजा व प्रजा, करते आ रहे हैं॥

हां यह सत्य है कि वेदकालमें ही वेदके नामपर अनेक प्रकारके पाखंड लोगोंने यज्ञोंके नामपर चलाकर प्रजाको लूटा और आजतक भी ऐसा वेदके नामपर दोष लानेके लिये इन्द्रहोम, इन्द्रयज्ञ, के बहाने वर्षाके अभावके समय प्रजाका धन नष्ट करनेका अकालमें दूसरा दुर्भिक्ष देशमें कर दिया जाता है—

पिछले तीन चार साल बीते हैं। जबकि कानपुर, कलकत्ता, बीकानेर, दिल्ली, आदि अनेक बडे नगरोंमें कई लाख रुपया वर्षा करानेके नामपर स्वाहा कर डाला परन्तु वर्षा नहीं हो सकी। यह लोग नक्षत्रोंके योग के समयको देखकर जब कि वर्षाका पूरा योग होता है। वर्षा की खेंच होनेपर यह शोर मचाते हैं कि इन्द्रहोम करावो, वर्षायज्ञ करावो, प्रबंध कराके उन तिथियोंका "अनुष्ठान" कराते हैं। और कुछ भी थोडी सी बूंदें हो जानेपर अपने इस पाखंडको लोगोंमें फैलाते रहते हैं।

वेदकालमें जब कि यज्ञोंके नामपर पशुयज्ञोंका प्रचार बढा दिया गया तब यज्ञ नामपर नित्य हिंसा होने लगी थी। और यज्ञद्वारा सन्तान, धन, राज्य, शत्रुदमन, रोग-निवारण, मोक्षप्राप्तिका भ्रम देशमें फैलाकर प्रजाको लूटा जाने लगा था। तो पुरुरवा और नहुष, राजाओंने उन लोगोंपर धनवान हो जानेके कारण याचक पुरोहितों पर राजकर (टेक्स) लगाया। जिसका वर्णन महाभारतमें है।

दूसरा प्रमाण कपिलमुनिद्वारा "सांख्य-दर्शन" का निर्माण करना है। जब कि वेदके बहानेसे अनेक प्रकारके हिंसा यज्ञ करके सब कुछ प्राप्त करानेका भ्रम फैला दिया गया था। और यज्ञद्वारा मोक्षप्राप्तिका ढकोसला, चल रहा था, कपिल ऋषिने, यह कहकर कि यज्ञद्वारा "मोक्ष" नहीं होता मोक्ष ज्ञानसे होता है, सांख्यकी रचना करके यज्ञ कराना बन्द करा दिया था। जिसके कुछ समय पश्चात् बौद्धकालीन राजाओं अशोकादि ने हिंसामय यज्ञोंको कानूनद्वारा रोक दिया था। जो आजतक भी बन्द हुवे आ रहे हैं। कहीं कहीं यह पाखंड चलता है—

आर्यसमाजी पं० भीमसेन, इटावा निवासी जो स्वामीजीके मुख्य शिष्योंमेंसे एक थे। जिन्होंने महाराष्ट्रके याज्ञिकोंने मिलकर बहुत धन दक्षिणामें मिलनेके लोभवश "आटेका मेंढा" बनाकर राजा औंधके यज्ञमें होम कर डाला था। और इसपर झगडा उठकर पं० भीमसेन आर्यसमाजसे निकाले गये। हिंसायज्ञका प्रमाण है--

आज यज्ञोंके दिन हिन्दुओंके लिये त्योहार, या पर्व, के दिन बने हुवे हैं। और उस पाखंड का रूप काशीमें "करवट" लेकर "मोक्षप्राप्ति तथा "सती" प्रथा है। जो अंग्रेजी राज्यने बन्द कर दिये थे। परन्तु वह काशीका करवट वर्तमान है। किंतु जो मनुष्य हत्या नहीं कर सकता है, जो कभी अनंत मनुष्योंको मोक्षके नामपर मौतके घाट उतार चुका है।

वर्षकाम सूक्त

निरुक्तमें एक दूसरी घटना १२ वर्षके दुर्भिक्षकी शान्तनु राज्यकालकी लिखी है। "देवापिश्चार्ष्टिषेणः शान्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः"॥ इत्यादि इतिहास में लिखा है कि देवापि, शान्तनु, दोनो भाई थे। बडे देवापि को राज्य नहीं देकर शान्तनु राजा बन गया। देवापि

वनमें चला गया। इसके पश्चात् शन्तनुके राजमें १२ वर्ष तक वर्षा नहीं हो सकी ! प्रजा कहने लगी राजाने बडे भाई को राज नहीं दिया यह दोष होनेसे वर्षा नहीं होती। यह राजाका पाप कर्म हमें दुखी करता है।

शन्तनुने वनसे देवापिको बुलाया और राजगद्दीपर बैठने को कहा। परन्तु देवापि ने कहा। मैं राज नहीं करूंगा। परन्तु तेरा पुरोहित बनकर देवोंसे प्रार्थना कर वर्षा कराऊंगा। उसने देवोंसे अराधना की और ऊपरके समुद्रसे नीचेके समुद्रमें पानी भरा दिया। अब यह "वर्षकामसूक्त" कहाया।

इस घटना का सम्बन्ध वर्षा करानेसे कुछ भी नहीं है। यह उस स्थानका वर्णन है। जहां " आपः वार्षिकिः " ॥ अथ० ६।४। ससविन्धु वर्षा जलकी नदियां पर्वत स्वर्गपर थी। वहां से देवापिने देवोंसे नीचे पानी बहाकर जलकी कमी पूरी कराई थी। जिससे वर्षा कराना और वर्षाका सूक्त बनाकर इतिहास लिखा है ॥ यह पर्वत, और उसकी ७ खाईयों के, चिन्ह आज भी पर्वत पर हैं। इन पानीकी नदियों पर स्वर्गकी अप्सरा रहती थी। जिनको स्वर्गज्योति नाम दिया गया है।

यहां से ही अप्सरा=पानीमें चलनेवाली नाम निर्माण हुवा है। आपः=अन्तरिक्ष नाम ॥ निरु० निघ० २।३।१ आ शर्म पर्वतानामोतापां वृणीमहे ॥(ऋ ८।१८।१६) मंत्रमें आपः=जलको (अप्सरा) नाम दिया है। और इसीसे जलोंका राजा वरुण कहा है। परन्तु वेदोंमें इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, सारे नाम एक " सत " विद्वान्=त्वष्टा कारीगरके लिये लिखे हैं। वही जगद्बीज=विश्वकर्मा पुरुष, सहस्र शिरोंवाला, भी लिखा है। और वरुणकी प्रजा " गन्धर्व, " और पत्नी, (आप =अप्सरा) हैं। जो स्वर्गकी पश्चिम दिशाका राजा है। यदि वरुण आवाहन जपसे विना खर्च वर्षा कराई जा सके तो नहीं कौन करता है। बिकानेर और मारवाड, नागौर तथा हिसारमें पिछला सालमें पिछले वर्ष पीनेको पानी नहीं मिल सका ! भटिंडे का पानी लेकर पिया गया था। कुछ दिन बीते वहां एक मनुष्य भटिंडेसे पानी भरता था। उसकी धोती फंस गई। गाडी चल दी। वह साथ ही घसीटा गया और मर गया।

अब भी इस प्रदेशोंमें पीनेका पानी खारा है। वह कई जगह ५-६ मील से लाकर पिया जाता है। रूपरामजी शर्मा यह देशोपकारक कार्य करनेमें देर क्यों करते हैं उन्हें सर्वत्र घूमकर वर्षा करनी चाहिये। हरयाणा प्रान्त हिसार, रोहतक, लुहारु, सर्वत्र पानीकी कमी है। भाकरोडम नहर लानेको नित्य प्रजा चिल्लाती रहती है। यदि पं० श्री० रूपलालजी कृपा करें तो सरकारसे नहर लानेको कोई नहीं कहेगा। जब पं० जी स्वयं भाकरोडमका कार्य कर सकेंगे तो श्रीमान् ताराचन्दजी शीघ्र बुलवाकर परीक्षा करें।

कारीरी यज्ञ ।

कारीरी यज्ञका खेल तो हम देख चुके हैं। जिसमें कुछ भी सार नहीं था। यह खेल गौरक्षाके नामपर अमृतसरके किसी होशियार आदमीने फैलाया। यहां ला० हरदेव सहाय सातरोड निवासीने हिन्दीमें विज्ञापन छपाकर सर्वत्र बांटे थे। जिनमें लिखा था कि कुछ गीली कैर वृक्षकी लकडी खोदी जावे। जो ३ मनके अनुमानसे हों। १ सेर घी डालकर इस प्रकार बहुतसी जगहों यह जलाकर यज्ञ करें तो अवश्य वर्षा होगी। यह प्रयोग ला० जीने कई स्थानोंपर किया कराया। बहुत प्रचार किया परन्तु कुछ भी नहीं हो सका। कारीरी यज्ञ=करकी गीली लकडियां जलाना बताया गया है। परन्तु किस वेदमें कहांपर कारीरी यज्ञ विधान लिखा है। यह पं० जगन्नाथजी का लिखना चाहिये ? मैं तो इस कारीरी यज्ञको केवल गप्प जान चुका हूं ॥

अन्तमें यह कहना है कि यदि देशमें पूर्व महात्मा हैं जो विना खर्चके केवल वरुण आवाहन जाप मात्रसे ही वर्षा करा सकते हैं तो वह अभीतक कहां रहे ! क्यों नहीं भारत मन्त्री नेहरुजी व पटेल महोदय को सूचना देकर देशमें सर्वत्र वर्षा करके जलकी कमी दूर कर दी गई क्योंकि यहां वर्षाके अभावसे ही अन्न थोडा उपजा और अकाल होते रहे हैं। जिससे यहां भारतीयोंका अन्न सरकारको बाहरके देशोंसे मंगाना पडा है। जो बहुत महंगा मिल रहा है। आशा है श्री. रूपलालजी अपने चमत्कारोंद्वारा भारतमें जल और उससे अन्नका अभाव दूरकर महान्

पुण्य कमायेंगे। देशका उद्धार हो जायगा। यदि यह सत्य है?

वेदमें यज्ञका अर्थ।

ऋग्वेदमें प्रथम मन्त्र अग्नि का है, और वेदमें अग्निके बहुतसे नाम है जिन्हे नहीं समझा जा सका। वहां अग्नि, पुरुष है। अग्नि, अदिति, प्रथम धाम; माता है। वहां तो कामाग्नि=को अग्नि माना है। जो पुरुष स्त्री तथा प्राणी मात्रमें पाई जाती है। यथा

(१) कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ (ऋ० १०।१२९।४।)

(२) अग्ने कामाय येमिरे॥ (यजु० १२।११६)

(३) अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन्। (अथर्व० ११।८।२९)

(१) काम सर्व प्रथम उत्पन्न हुवा। इससे प्रथम मनमें वीर्य उत्पन्न था। सत=काम बन्धु और असतिके हृदयमें काम इच्छा हुई। (यम यमी सम्वाद) जिसको ज्ञानी कवियों और मनीषी जनोंने यह भेद काव्यमें प्रगट कर दिया (२) अग्नि यह कामदेव ही है। (३) अस्थिको समिधा बनाकर वीर्यका घी मानकर देवता अष्ट चक्रोंपर पानीके उपर (रहनेवाली) आपे=अप्सरा (देव पत्नियाँ) के साथ जा बैठे। जो जर्गाह्वज पुरुषस्थ न पुरुष पर्वतरूप था। इस प्रकार वहां पुरुषयज्ञ किया गया।

वेदमें मन द्वारा, मनके रेतसे, पत्नीमें वीर्य सिञ्चन करना यज्ञ लिखा गया है। यज्ञ नामोंमें "नारी" नाम लिखा है। "यज्ञ" संगतीकरण निरुक्तने लिखा है। अग्निमें घी डालना, यज्ञ नहीं था! न ही भौतिक अग्नि वहां वेदमें अग्नि है। यह सब यज्ञकाल, तथा ब्राह्मण में यज्ञका अर्थ चला जो दक्षिणा और माल खानेवालोंकी कृपा है। प्रारम्भमें वेदमें अग्निमें घी डालना यज्ञ नहीं था।

क्योंकि वेदकाल प्रजोत्पत्तिका काल है। अधिक प्रजा बढाना ही उस समय की आवश्यकता थी। प्रजा थोडी थी। आरम्भमें ३३ देवताही थे। जो पांच प्रकारके थे। उनसे ही यह सारा जगत् भर गया।

समुद्र इव हि कामः (तै० ब्रा० २।२।५।६)

जैसे समुद्रका अन्त नहीं। ऐसे ही कामका अन्त नहीं है अतः वेदमें प्रथम अग्नि कामको और मन द्वारा स्त्री संग ही आहुति देना=यज्ञ होम माना गया है। यह पश्चात् की माया है। जो यज्ञ नामपर अनेक बातें की गई थी। अतः यज्ञसे वर्षा करानेका वेदमें कुछ भी वर्णन नहीं है॥

भारतके राष्ट्रगीत

जन-गण-मन अधिनायक जय हे भारत-भाग्य-विधाता
पंजाब सिंध गुजरात मराठा द्राविड उत्कल वंग
विंध्य हिमाचल जमुना गंगा उच्छल जलधि-तरंग
तव शुभ नामे जागे, तव शुभ आशिष मागे, गाहे तव जयगाथा
जन-गण-मंगल दायक जय हे भारत-भाग्य विधाता
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे
अहरह तव आव्हानप्रचारित सुनि तव उदार-वाणी
हिंदु बौद्ध सिख जैन पारसिक मुसलमान खिस्तानी
पूरब पश्चिम आसे, तव सिंहासन पाशे, प्रेमहार होय गाँथा
जन गण ऐक्य विधायक जय हे भारत-भाग्य-विधाता
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे
पतन-अभ्युदय बंधुर पंथा युगयुग धावित यात्री
हे चिर सारथि तव रथ-चक्रे मुखरित पथ दिन रात्री
दारुण विप्लव माझे, तव शंखध्वनि बाजे,
संकट-दुःख त्राता
जन-गण-मन-परिचायक जय हे भारत भाग्य-विधाता
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे
घोर तिमिर-घन-निबिड निशीथे पीडित मूर्छित देशे
जाग्रत छिल तव अविचल मंगल नत नयने अनिमेषे
दुःखप्ने आतंके, रक्षा करिले अंके, स्नेहमयी तुमि माता
जन-गण दुखत्रायक जय हे भारत-भाग्य-विधाता
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे
रात्रि प्रभातिल उदिल रविच्छवि पूर्व उदयगिरि-भाले
गाहे विहंगम पुण्यसमीरण नवजीवन रस ढाले
तव करुणारुण रागे, निद्रित भारत जागे
तव चरणे नत माथा
जय जय जय हे जय राजेश्वर भारत भाग्य विधाता
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे

—स्व. रविंद्रनाथ टागोर

वंदे मातरम्
सुजलाम् सुफलाम् मलयजशीतलाम्
शस्यश्यामलाम् मातरम् ॥ ध्रु ॥
शुभ्र जोत्स्नां पुलकितयामिनीम्
फुल्लकुसुमित द्रुमदलशोभिनीम्
सुहासिनीम् सुमधुरभाषिणीम्
सुखदाम् वरदाम् मातरम्
त्रिंशत्कोटि-कंठ-कलकल-निनाद कराले
द्वित्रिंशत्कोटि-भुजैर्धृत-खर-करवाले
के बोले मा तुमि अबले
बहुबलधारिणीम् नमामि तारिणीम्
रिपुदलवारिणीम् मातरम्
तुमि विद्या, तुमि धर्म, तुमि हृदि, तुमि मर्म
त्वंहि प्राणाः शरीरे
बाहुते तुमि मा शक्ति, हृदये तुमि मा भक्ति
तोमारइ प्रतिमा गडि मन्दिरे मन्दिरे मातरम्
त्वंहि दुर्गा दशप्रहरणधारिणी
कमला कमलदलविहारिणी
वाणी विद्यादायिनी
नमामि त्वाम् मातरम्
नमामि कमलाम्, अमलाम् अतुलाम्,
सुजलाम् सुफलाम् मातरम्
श्यामलाम् सरलाम् सुस्मिताम् भूषिताम्
धरणीम् भरणीम्, मातरम्

स्व० बंकिमचंद्र चटर्जी

भारत और यूरोपके राष्ट्रगीत

(लेखक—श्री. महेशचन्द्रशास्त्री, विद्याभास्कर)

शुक्रनीतिमें राष्ट्रका लक्षण ' प्रजाश्च भूमिश्च राष्ट्रम् ' किया गया है। जिसका अभिप्राय यह है कि जहाँ की जनता और भूमि दोनों पूर्णतः सम्पन्न व स्वतन्त्र हों वही देश ' राष्ट्र ' कहा जाता है; और ' स्वतंत्र ' का अर्थ होता है- स्व= अर्थात् आत्मा और तन्त्र= अर्थात् अपने राष्ट्रकी चिन्ता (तन्त्रः स्वराष्ट्र चिन्तायाम् ।) अपने राष्ट्रकी हित-चिन्ता करनेमें समर्थ जिनकी आत्मा है वे ही स्वतन्त्र हैं और ऐसे व्यक्तियोंका देश ही ' राष्ट्र ' पदके योग्य है। स्वराज्य और स्वातंत्र्यमें इसीलिये बहुत अन्तर है। भारतने १५ अगस्त ४७ ई० से स्वराज्य अवश्य प्राप्त कर लिया है किन्तु स्वतन्त्र होनेमें अभी उसे बहुत कुछ करना शेष है। नवीन विधानके सूत्रपातका श्रीगणेश उसे सचमुच स्वतन्त्र बननेकी प्रेरणा दे, यही कामना है। स्वतन्त्रताका एक अत्यन्त सुन्दर व भव्यरूप एक वेदमन्त्रमें अतीव सुन्दरताके साथ वर्णित है; जो इस प्रकार है—

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ।

(वा० यजु० २२।२२)

अर्थात्- हे भगवन् ! हमारे देशके विद्वान् विश्वकी समस्त शक्तियोंके केन्द्र-ब्रह्म-के ज्ञाता एवं उपासक हों; राष्ट्रकी रक्षा करनेमें समर्थ व्यक्ति शूर हों तथा युद्ध विद्यामें निष्णात हों; महारथी- अकेला दस हजार योद्धाओंसे युद्ध करनेवाला- क्षत्रिय पैदा हो, हमारी गायें खूब दूध देनेवाली हों, बैल खूब सशक्त और घोडे अत्यन्त वेगवान् हों, हमारे देशकी स्त्रियाँ नगरकी शान्ति व सुव्यवस्था करनेमें समर्थ हों, रथारूढ योद्धा सर्वदा विजयी हों राष्ट्रके कर्मठ पुरुषोंकी सन्ताने वीर और वक्ता हों, आवश्यकतानुसार ठीक समयपर वर्षा होती रहे, औषधियाँ खूब फलवती हों और इस प्रकार हमारा राष्ट्र समान रूपसे कल्याणका-योगक्षेमका-उपभोक्ता बने।

प्रजा और भूमिके लिये कितनी उदात्त भावना इसमें व्यक्त की गई है। इसीसे बहुत कुछ मिलती जुलती कल्पना का समावेश आजके सुप्रसिद्ध राष्ट्रगीत ' वन्देमातरम् ' में हुई है। सुजलाम् सुफलाम् शस्य श्यामलाम् का भाव ' निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ' में ज्यों का त्यों आगया है। जब ठीक समय और यथेष्ट वर्षा होती रहेगी तथा औषधियाँ खूब प्रमाणमें फलवती होंगी तभी वह भूमि सुजला सुफला व शस्य-श्यामला होगी और आज स्वराज्य होनेपर इतनीही सुन्दर मातृभूमिको देखनेके लिये हम लालायित हैं; साथही ऐसी मातृभूमिकी वन्दना करके हम सच्चे अर्थोंमें स्वतन्त्र भी होना चाहते हैं। इसी प्रकार 'वन्देमातरम्' में मातृशक्तिका जो भव्य रूप 'त्रिंश कोटि भुजै धृत खरकरवाले, के बोले मा तुमि अबले, बहुबल धारिणीम्, रिपुदल वारिणीम् ' कहकर चित्रित किया गया है वही ' पुरन्धिर्योषा ' इन शब्दोंमें इस वेदमन्त्र द्वारा प्रकट किया गया है। समर्थ व सशक्त स्त्रियाँ ही करवाल धारण कर सकती हैं और अनाचारियोंका मुकाबला कर सकती हैं। किन्तु यहाँ एक बात विशेष ध्यान देनेका है कि वेदमन्त्रमें स्त्रियोंके लिये केवल इतनाही कह देना पर्याप्त समझा गया है कि वे नगरकी सुयोग्य रक्षिका शान्ति व मंगलस्थापिका बनें; करवाल धारण करके चण्डिकाका रूप धारण न करें। क्योंकि उन्हें युद्ध नहीं करना है, फौजी सिपाही बनकर रणांगणमें पराक्रम नहीं दिखाना है। ऐसा करना उनके लिये अस्वाभाविक एवं अनावश्यक भी तो है। उसका कारण यह है कि युद्धमें

पराक्रम दिखानेके लिये तो ' राजन्यः शूर इषव्यः ' अर्थात् राज्य परिचालक शूर व युद्धकला प्रवीण रहेंगे। अतः यह कार्य तो पुरुषोंके या राज्यसंचालकोंके लिये ही उचित है। इस प्रकार राष्ट्रसंबंधि भावना की ' वन्देमातरम् ' तथा वेदमन्त्रमें बहुत कुछ समता है।

वेदका राष्ट्र सूक्त

अथर्ववेदका १२ वाँ काण्ड इस विषयमें अत्यन्त मननीय है। इस काण्डके प्रथम सूक्तमें ६३ मन्त्रों द्वारा अनेक विविधताओंके साथ राष्ट्रका जो वर्णन किया है वह सभीके लिये आज ग्रहणीय हैं। इसी सूक्तके वे पवित्र संस्कार हैं जिनके कारण भूमि शब्दसे पूर्व हम जन्म शब्द, मातृ शब्द और पितृ शब्द जोडते हैं। प्राचीन कालमें इस सूक्तके मन्त्रोंका उच्चारण विशेष विशेष अवसरोंपर हुआ करता था। वेदोंके सुप्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य सायणने लिखा है कि ' ग्रामपत्तनादि रक्षणार्थम् ' अर्थात् जब ग्राम, पत्तन, नगर आदिकी रक्षाके लिये कोई काम करना हो तो यह सूक्त कहना चाहिये। साथही उन्होंने यह भी बताया है कि किस प्रकारकी इच्छा रखनेवाले इसका उपयोग करते हैं। उन्होंने लिखा है कि १–पुष्टिकामः। २–व्रीहियवात्रकामः। ३–मणिहिरण्यकामः। अर्थात् शक्तिशाली एवं पुष्ट होनेकी इच्छा रखनेवाला राष्ट्र इस सूक्तका उच्चारण करे, अन्नकी इच्छा करनेवाला राष्ट्र, रत्न, सुवर्ण आदिकी इच्छा करनेवाला राष्ट्र इस सूक्तका पाठ करे। तात्पर्य यह है कि इस सूक्तका गायन उस समय करना चाहिये जब हम राष्ट्रीय उन्नतिके काम करते हों। वेदोंकी इस सुसंस्कृत परम्पराको आज भी हम बराबर निभाते चले आ रहे हैं। अन्तर इतना है कि वैदिक राष्ट्रगीतोंमें और आजके राष्ट्रगीतोंमें समयके अनुसार भाषा बदल चुकी है, कुछ भाव भी बदल चुके हैं। किन्तु मातृवन्दना की जो मूलभूत भावना है वह आज भी हमारे हृदयोंमें ज्यों की त्यों विद्यमान है। भूमि (राष्ट्र) के लिये मातृत्वकी सबसे प्रथम कल्पना हमें अथर्ववेदके सूक्तोंमें ही मिलती है। उनमें लिखा है कि ' माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ' (अथर्व० १२।१।१२) ' मेरा माता भूमि है और मैं मातृभूमिका पुत्र हूँ ' हमारी देशभूमि ही हमारी माता है और हम सब उस मातृभूमिके पुत्र हैं। अर्थात् हम सब देशवासी एकही माताके पुत्र हैं, अत एव हम सब सच्चे देशबन्धु हैं। मातृभूमिके भक्तोंके गौरवके विषयमें ऋग्वेदका यह मन्त्र देखनेयोग्य है—

> अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय (ऋग्वेद ५।६०।५)

अर्थात्— मातृभूमिको माता माननेवाले सब मनुष्य सच्चे कुलीन हैं उनमें न कोई श्रेष्ठ है, न कोई कनिष्ठ है और न कोई मध्यम है। सब एक विचारसे आचरण करनेवाले बन्धु ही हैं . सौभाग्य वृद्धिके लिये सब मिलकर प्रयत्न करते हैं।

इसी मातृत्वकी भावनाका और भी अधिक निखरा हुआ रूप अथर्व के– सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः में हम देख सकते हैं। अर्थात् वह हमारी मातृभूमि मुझे- अपने पुत्रको- बहुत दूध देवे। कितने सुन्दर एवं आलंकारिक रूपमें वर्णन किया है। माता और पुत्रका सम्बन्ध दूध पीनेसेही शुरू होता है। माताका दूध पुत्र पीता है, यह सब जानते हैं। गायका दूध हम सब पाते हैं, इसलिये गाय हमारी माता है। भूमिका रस फल, अन्न, वनस्पति, जल आदि दूधके समान हम उपभोग करते हैं, इसलिये वह हमारी माता है। माताके दूधपर ही उसका पुत्र जीवित रहता है, पोषित होता है और उन्नत होता है। पुत्रका अपनी मातापर इसीलिये एकाधिकार रहता है। यदि कोई दूसरा बच्चा आकर माताके दूधको पी जाय तो वह बच्चा दुर्बल होकर जीवन–हीन बन जायगा तथा बाहरसे आकर बलपूर्वक दूध पी लेनेवाला बच्चा सशक्त हो जायगा। बच्चा अपनी माताके दूधसे वंचित रहे यह कितना अस्वाभाविक एवं अन्यायपूर्ण है। इस प्रकारका अन्याय न हो सके इसलिये इस सूक्तमें आगे कहा गया है कि-सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे। वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें (उत्तमे राष्ट्रे) तेज और बल बढावे। इस प्रकार अथर्ववेदके इस सूक्तमें आरम्भसे लेकर अन्ततक राष्ट्रीय गीतके जो भाव विद्यमान हैं वे आज भी हमारे लिये उतने ही उपयोगी हैं जितने सहस्रों वर्ष पूर्व। तुलनात्मक दृष्टिसे विवेचन करनेपर यदि यह कहा जाय कि आजतकके सारे राष्ट्रगीतोंमें वैदिक राष्ट्र

... भावना, पूर्णता एवं श्रेष्ठतामें सर्वोत्तम है, तो यह कथन सत्य ही सिद्ध होगा।

राष्ट्र-गीत एक या अनेक

जबसे भारत स्वाधीन हुआ है तबसे यह चर्चा बडे जोरों से चारों ओर सुनाई दे रही है कि राष्ट्रगीत 'वन्देमातरम्' हो या 'जन गण-मन' यह हो। बडे बडे विवाद इस विषयमें उपस्थित हुए। निर्णय यह हुआ कि जन गण-मन राष्ट्रगीत माना जाय और व्यवहार रूपसे ऐसा हो रहा है कि विशेष विशेष अवसरोंपर दोनों ही गीत गाये जाते हैं। कौनसा राष्ट्रगीत बनने योग्य है और कौनसा उपयुक्त नहीं है, इस विषयके विवादका उल्लेख हमें यहां नहीं करना है। बात यह है कि जिन गीतोंको राष्ट्रगीत बननेका गौरव प्राप्त होता है वह केवल अच्छे अच्छे भावोंके कारण या केवल सुन्दर व गेय पद विन्यासके कारण नहीं मिला है। किसी गीतका लेखन राष्ट्रगीत लिखनेके उद्देश्यसे नहीं होता, यह राष्ट्रगीत है ऐसा कहकर भी कोई गीत सर्व प्रथम नहीं गाया जाता; अपितु राष्ट्रकी आत्मा जिस गीतको एक विशेष भावनासे अपनाकर उससे अपने ऐतिहासिक कालोंमें एक प्रेरणा, स्फूर्ति व शक्ति प्राप्त करती है वही उस राष्ट्रका राष्ट्र-गीत बन जाता है। यह परिभाषा एकसे अधिक गीतोंके लिये यदि लागू पडती है तो एकसे अधिक भी राष्ट्रगीत हो सकते हैं। इस दृष्टिसे भारतके माने जाने-वाले राष्ट्रगीतोंमें 'वन्देमातरम्' का उल्लेख करना विशेष आवश्यक है।

'वन्दे मातरम्'

आजके भारतका प्रथम राष्ट्रगीत 'वन्दे मातरम्' है। इसके लेखक बंगालके प्रसिद्ध साहित्यिक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय थे। अपने एक उपन्यासमें उन्होंने यह गीत लिखा था। तबसे लेकर आजतक भारतमें होनेवाली समस्त क्रान्तियोंके साथ उसकी एकात्मकता है। भारतीय क्रान्ति और वन्दे मातरम् एक प्रकारसे पर्यायवाची बन गये हैं और इसीलिये 'वन्दे मातरम्' गीतका यदि इतिहास लिखा जावे तो वह एक रोमाञ्चकारी ग्रन्थ बन सकता है। इस गीतने समय समयपर राष्ट्रके जनमनमें जो शक्ति और स्फूर्तिकी चिनगारी सुलगाई उसीका परिणाम था कि सन् ४२ के आन्दोलनकी आग चारों ओर फैल गई। आज हम देखते हैं कि उन्हीं प्रेरणाओंसे अनुप्राणित हमारा राष्ट्र स्वाधीन हो गया है और आज वह माताकी वन्दना सच्चे अर्थोंमें कर रहा है।

यही वह गीत था, जिससे शहीदोंकी आत्मामें उत्सर्गकी भावना लहरें मारने लगती थी और मृत्युसे पूर्व उनके शरीरका वजन कई पौण्ड तक बढ जाता था। यही वह गीत था जिसे गानेवाले फांसीके फंदेको स्वर्गकी रंगीली रस्सी समझकर खुशीसे चूम लेते थे। यही वह गीत था जिसे आजादीके परवाने मन्त्र मुग्ध होकर जपा करते थे। यही वह गीत था जिसे गानेवाले वीरोंकी हुंकारसे ब्रिटिश साम्राज्य कांप उठता था। एक समय था जब गावोंमें 'बन्दे मातरम्' कहनेमें भी एक गरीब किसानको डर मालूम देता था और एक आजका समय है कि 'वन्दे मातरम्' का गानकर भारतके किसानकी छाती गर्वसे फूल जाती है। एक समय था जब 'वन्दे मातरम्' कहते ही गोलियोंकी बौछार होने लगती थी और एक समय आजका है जब 'वन्दे मातरम्' कहनेपर देवता भी पुष्पकी बौछार करनेके लिये लालायित हो जायेंगे। उस समय 'वन्दे मातरम्' कहनेवाले राष्ट्रद्रोही थे आज 'वन्दे मातरम्' न कहनेवाले राष्ट्रद्रोही हैं। तब यह गीत केवल क्रान्तिका प्रतीक था, किन्तु आज यह शान्ति और उन्नतिका भी प्रतीक बन गया है। हम इस गीतके द्वारा अमर हुतात्माओंकी चिताओंपर श्रद्धाके फूल चढाते हैं, क्योंकि यह उनकी आत्मा था। हम इस गीतके द्वारा अपने कर्तव्य निश्चित करते हैं, क्योंकि भविष्यकी प्रगतिके लिये यही हमारा मार्ग दर्शक एवं प्रेरक है।

जन गण मन

विधान परिषद् द्वारा स्वीकृत दूसरा गीत 'जन गण मन' है जिसके लेखक जगद् विख्यात रविन्द्रनाथ टैगोर हैं। इस गीतको उन्होंने तत्कालीन भारतके सम्राट् जार्ज पंचमके दिल्ली दरबारके अवसरपर गानेके लिये बनाया था। जन समुदायके मनके अधिपति रूप सम्राट्का इसमें जय जयकार व्यक्त किया गया है। उसे भारतका भाग्य विधाता कहकर संबोधित किया गया है। भारतके अनेक प्रान्त नदियाँ और पर्वत तेरी यश गाथा गा रहे हैं, तू जन समूहका मंगलदायक है, तेरे सिंहासनके पास हिन्दू,

बौद्ध, जैन, पारसी, मुसलमान और खिस्ती सभी प्रेमसूत्रसे आबद्ध हैं, तू जन समूहके मनसे परिचित है, अन्धकार पूर्ण रात्रीमें निमग्न, पीडित और मूर्छित देशमें तुम्हारा अविचल मंगल जागृत रहे। तुम जनसमूहके दुःखत्राता हो, तुम्हारी करुणाके स्नेहमें निद्रित भारत जागे अतः तुम्हारे चरणोंमें हमारे मस्तक झुकें। तुम राजेश्वर हो भारतके भाग्य विधाता हो, तुम्हारा जय जयकार हो। अत्यन्त भव्यता और सुन्दरताके साथ भारतके इस महापुरुषने इन भावोंको इस गीतमें आकलित किया है। उस कालमें जिन देशभक्ति पूर्ण महत्त्वाकांक्षाओंसे अनुप्राणित होकर महान् रवीन्द्रने यह गीत रचा वह सचमुच स्तुत्य है। आज उसकी सुमधुर गीतध्वनि हमारे अन्तःकरणोंको आकर्षित कर चुकी है। यद्यपि उसके पीछे क्रान्तिका कोई इतिहास नहीं है, उत्सर्गकी भावनाको उद्बोधन मिले ऐसा कोई सूत्र नहीं है, मातृभूमिका उतना भव्य दृश्य भी नहीं है; तथापि देशके सूत्रधार उसके प्रति आकर्षित हुए और उसे राष्ट्रगीतका गौरव प्रदान कर आनन्दित हुए। अब यह काम जन-गण-मनका है कि वे अपने अन्तःकरणके सिंहासनपर कितने आदर एवं ममत्वके साथ उसे विराजित करते हैं। दोनों गीतोंमें इतनी समानता अवश्य है कि ये दोनों बङ्गालके ही महान् कलाकारोंके अन्तःकरणसे प्रसूत हुए हैं। अतः भाषाका भी सादृश्य है ही।

लेकिन एक बात आज हमें अवश्य खटकती है और वह यह कि जिस कलाकारके मस्तिष्कसे 'वन्देमातरम्' गीत निकला, जिसकी हृत्तन्त्रीमें ये स्वर गूंजे उसका सन्मान हमने कुछ भी नहीं किया। 'वन्देमातरम्' गानने हमें क्या नहीं दिया? स्वर्गादपि गरीयसी जन्मभूमिको बन्धन मुक्त करनेवाले, जीवित एवं मृत हुतात्माओंको स्फूर्ति एवं उत्सर्गका मातृवत् स्तन्यपान करानेवाले वन्देमातरम्को भुला देना हमारा कैसा कर्तव्य है? क्या इस सत्य किन्तु भयानक प्रश्नका उत्तर भारतीय हृदय नहीं दे रहे हैं? किन्तु यदि हममें धैर्यपूर्वक सुननेका सामर्थ्य हो तो उस उत्तरको प्रत्येक भारतीय सुन सकता है। 'वन्देमातरम्' के निर्माताका सत्कार तो हम क्या करेंगे। अपितु हम तो उस अमर गानको भुला देनेका भी दुस्साहस कर रहे हैं। यह कितना विकट सत्य है?

जन गण मनके श्रद्धेय लेखक तो अपनी गीतांजलि, महान् सांस्कृतिक केन्द्र शान्ति निकेतन तथा अनेक उपन्यासों एवं कलाकृतियोंसे भारतके नभोमण्डलमें युगयुगान्तरोंतक समुज्वल नक्षत्रकी भाँति जगमगाते रहेंगे। इन्हीसे वे अमर हैं और रहेंगे नकि जन गण मन से। लेकिन जिस कलाकारके मूक उत्सर्गसे हमें 'वन्दे मातरम्' जैसी इन्द्र-शक्ति मिली उनके प्रति भी हमारा– प्रजातन्त्र भारतवासियोंका–कुछ कर्तव्य है, इसपर क्या आज भी हम विचार करेंगे? लेकिन हमने क्या दुनियाने भी इस प्रकारके कलाकारोंका या राष्ट्रगीतके निर्माताओंका उचित सत्कार या उनके प्रति अपना कर्तव्य नहीं निभाया!

फ्रान्सका राष्ट्रगीत 'लॉ मार्साई'

अप्रैल सन् १७९२ में बना। उसका निर्माता एक साहीत्यिक कलाकार किन्तु सैनिक था, जिसका नाम था 'डी लिसले'। इसके विषयमें आर्मस्ट्रोंगने लिखा है कि………उसी शामको एक बडी सेनाकी दो टुकडियाँ स्ट्रॉसबर्गमें इकट्ठी हुई और शत्रुके देशको प्रस्थान करनेको तयार हुई। जैसे जैसे उसकी पदचाप स्ट्रॉसबर्गकी गलियोंमें गूंजने लगी उसी प्रकार उन सबके मुँहसे फ्रान्सका लोकप्रिय राष्ट्रगान, जो उसी दिन प्रातः उन्होंने डी लिसलेके मुखसे सुना था, और जो उन्हें शस्त्र हाथमें लेनेके लिये प्रेरणा देता था, अपूर्व माधुर्यके साथ उन गलियोंमें गूंज उठा।……कुछ ही महिनोंमें यह फ्रान्सका राष्ट्रगान बनगया। युद्ध समाप्त होते ही फ्रान्समें भी राज्यशाहीका अन्त हुआ और फ्रान्समें पहिले लोकतन्त्रकी स्थापना हुई। इसने पहला काम यही किया कि डी लिसलेके 'युद्धके लिये आह्वान' गानको फ्रान्सका राष्ट्रीय गान घोषित कर दिया'। बीच बीचमें अनेकबार इस गानपर आपत्तियाँ आई किन्तु सन् १८७० में इस गानकी ऐतिहासिक आपत्तियोंका अन्त हो गया। इस गीतके निर्माताने अपने गीतोंसे धन कमानेका यद्यपि कोई अवसर नहीं खोया तथापि राष्ट्रकी ओरसे इसे वह सन्मान न मिला जो मिलना चाहिये था। और सन् १८३६ में उसकी भयङ्कर गरीबीकी हालतमें मृत्यु हुई। उसके देशवासियोंने अपने उस अमर लेखकका– जिसने देशको अमर राष्ट्रगान दिया– मान नहीं किया। इससे उसके दिलको कडी ठेस पहुँची। इसी प्रकार—

इंग्लडके राष्ट्रगीत

'गॉड सेव द किंग' की स्थिति है। इसके निर्माताके विषयमें तो आजतक यह भी निश्चित पता नहीं है कि वह था कौन ? बहुतसे लोग इसके रचयिता हेनरी कैरेको मानते हैं जिसने कि १८ वीं शताब्दीमें 'सैली इन अवर ऐली' की रचना की थी। कुछ का कहना है कि हैण्डेल और पॅसॅलने इसे बनाया है। एक पक्ष यह भी है कि जॉनबुलने यह गीत रचा था। इसके सम्बन्धमें एक मनोरंजक बात यह है कि राजाओंके साथ साथ 'गोड सेव द किंग' में भी परिवर्तन हुआ। विलियम ४ र्थ की मृत्युके समय यह गान उस जोश और उस भावनाके साथ गाया जाता था, जो इसके राजभक्तिपूर्ण शब्दोंके उपयुक्त था। इसके बाद साम्राज्ञी विक्टोरिया सिंहासनपर बैठी और उसके अनुरोधके अनुसार इसे राष्ट्रगानका गौरव दिया गया। परन्तु एडवर्ड सप्तमके बाद इसकी राजभक्तिकी झलक फिर लौट आई। सर एडगर एलन से इसे इसतरह सजानेको कहा गया कि इसमें दुबारा जीवन भर जाय। किन्तु क्या आज यह फिर एक ब्रिटिशके हृदयमें नवीन सनसनी पैदा करता है और नवीन भाव भर सकता है ? इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस राष्ट्र गानके पीछे ब्रिटेनका इतना गौरवपूर्ण इतिहास संलग्न है उसके निर्माताका निश्चितरूपसे वे नाम भी नहीं जानते। उसके स्मारक और सन्मानकी बात तो दूर रही। यही स्थिति अमेरिकाकी है।

अमेरिकाका राष्ट्र-गीत

'स्टार स्पेन्गल्ड बैनर' स्काटके ने सन् १८१२ से १८२४ तक होनेवाले युद्धके अवसरपर बनाया था, जो बीस वर्ष बाद वहाँकी काँग्रेसद्वारा सरकारी तौरपर अमेरिकाका राष्ट्रगान स्वीकार कर लिया गया। किन्तु स्काट के के सन्मानमें वहाँ कुछ हुआ हो ऐसा विदित नहीं होता।

किन्तु हमारा कर्तव्य

जो कुछ भी हो राष्ट्रगीतका महत्व जिस गीतको मिला वह चाहे उस कलाकारका यह एक ही गीत क्यों न हो। यह राष्ट्रके क्रान्तिमय बलिदानके इतिहासमें अनेक वर्षोंतक शहीदों, नेताओं, गरीबों और आबालवृद्धोंके अन्तःकरणमें देवताके समान श्रद्धासे पूजित होता रहा। इसलिये प्रजातन्त्रके भव्य अरुणोदयके साथ साथ आज राष्ट्रका यह कर्तव्य है कि उस स्वर्गीय कलाकारकी स्मृति व सन्मानको चिरस्थायी रखनेके लिये कोई आदरणीय स्मारक बनावे। असंख्य भारतीयोंके आत्माकी प्रतीक इस मेरी आवाजको क्या आजके हमारे राष्ट्रनायक सुन सकेंगे ? उसपर गम्भीरतासे विचार कर सकेंगे ? और राष्ट्रकी आत्माओंकी पुकारका फैसला कर सकेंगे ?

यों तो वह कलाकार आज अमर है ही, और जबतक शस्य श्यामला, सुजला व सुफला मातृभूमि है एवं अपनी ऐसी माताकी वन्दना करनेवाले उसके सपूत हैं तबतक इस गानके साथ साथ उस अमर कलाकारकी भी कीर्ति तो अक्षय रहेगी ही।

ईश-उपनिषद्

[अध्यात्म-तत्त्वज्ञानपर अधिष्ठित राज्यशासन]

प्रास्ताविक

अध्यात्म-सिद्धान्तोंपर अधिष्ठित राज्यशासन।

वैदिक समयके आर्योंके प्रायः सभी व्यवहार आध्यात्मिक भूमिकापर चलते थे, वैसा राज्यप्रबंध भी इसी उच्च भूमिकापर चलता था। वेदकी संहिताएँ, ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थ, तथा उपनिषदोंमें जो अध्यात्म-वर्णन है, वह व्यक्तिमें अध्यात्म, समाज या राष्ट्रमें अधिभूत और विश्वमें अधिदैवत नामसे प्रसिद्ध है। ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् आदि ग्रन्थोंमें वारंवार " अथाध्यात्मं, अथाधिभूतं, अथाधिदैवतं " ऐसे शीर्षकोंके नीचे एकही संहितामंत्रकी व्याख्या इन तीनों क्षेत्रोंमें कैसी होती है यह दिया होता है। इन वर्णनोंसे वेदमंत्रकी आध्यात्मिक भूमिकापर राजकारण कैसा अधिष्ठित है इसका बोध हो सकता है।

अध्यात्म-क्षेत्रकी मर्यादा ' आत्मा-बुद्धि-मन-इंद्रिय शरीर ' तक सीमित है, अधिभूतकी मर्यादा ' मानव-समाज-पशुसमाज अर्थात् प्राणि समष्टितक' मर्यादित है। इसीसे समाज-नियंत्रण, राष्ट्र-संरक्षण, मानवी राजकारण सिद्ध होता है। इसी तरह अधिदैवतकी मर्यादा ' स्थिर-चर समष्टि ' अर्थात् संपूर्ण विश्व है। इससे स्पष्ट होगा कि अधिभूत विचार ही समाज तथा राष्ट्रका विचार है। इसीमें समाजव्यवस्था और राज्यशासन-प्रबंधका अन्तर्भाव हुआ है यह जानना चाहिये।

तथापि इसमें एक दृष्टिकोण है वह भी यहां देखना चाहिये। अध्यात्मविचार व्यक्तिके शरीरके अन्दरका विचार है, आधिदैवत विचार विश्वान्तर्गत विचार है, इन दोनों स्थानोंकी व्यवस्था ईश्वरीय नियमोंके अनुसार चलती है, मानव उसमें हस्ताक्षेप नहीं कर सकता। मानव इन नियमोंका निरीक्षण करे, वहांके शाश्वत नियम देखें और उन नियमोंको आधिभूत क्षेत्रमें अर्थात् मानव-समाज और राष्ट्रके क्षेत्रमें लगावे और तदनुसार राज्यशासन चलावे। इस तरह जो शासन-प्रबंध होगा वह " अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासन-प्रबंध " होगा। यह कैसा है वह निम्नलिखित कोष्टकमें देखिये—

अध्यात्म	अधिभूत	अधिदैवत
आत्मा	... शासक	... ईश्वर, विश्वशासक
बुद्धि	... शासकसभा	... प्रकृति
मन	... नियामक	... विश्वमन
इन्द्रियाँ	... अधिकारी	... अग्नि-सूर्यादि शक्ति
शरीर	... राष्ट्र, समाज	... विश्व

अध्यात्म और अधिदैवत क्षेत्रके सब व्यवहार ईश्वरीय नियमोंसे स्वयं चलते रहते हैं। ये नियम अटल हैं। उनके सामान्य नियम मनुष्य देखे और उन नियमोंको मनुष्य अपने मानवसमाजके शासनमें लगावे। इससे जो राज्यशासन होगा वह अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासन होगा। यह विचारपूर्वक और मननपूर्वक करना चाहिये। अपनी स्मृतियोंका स्थायी भाग ऐसा ही निर्माण हुआ है ऐसा दीखता है। श्रुतिके आधारपर स्मृतियां हुई है अथवा श्रुति और स्मृति एक है ऐसा जो कहा जाता है, इसका भाव यह है। संहिताके मन्त्रोंके वचन समाज-शासनमें किस तरह परिवर्तित किये जा सकते हैं, यह समझमें आनेसे यह सब सहजहीसे ध्यानमें आ सकता है।

यह ध्यानमें विशद रूपसे आनेके लिये हम यहां एक दो उदाहरण लेते हैं और बताते हैं, कि वैदिक अध्यात्म-सिद्धान्त ही राजकारणके सिद्धान्त कैसे बनते हैं—

' **ईश-उपनिषद्** ' यह ' **ईश-विद्या** ' है। अर्थात् यह ईश बननेकी विद्या है। ' **नर** ' का सामर्थ्य बढाकर

...को 'नारायण' बनानेकी यह विद्या है। अर्थात् यह ...सामर्थ्यका संवर्धन करनेकी विद्या है।

बहुत लोग ऐसा कहते हैं कि "अमेरिकामें कोई एक ...दारका पुत्र भी मैं अमेरिकाका अध्यक्ष बनूंगा ऐसी महत्त्वाकांक्षा धारण करता है और प्रयत्न करके वैसा अध्यक्ष बन भी जाता है।" बहुत विद्वान् इसकी प्रशंसा करते हैं और वह योग्य भी है। अपने भारतवर्षमें देखिये, यहां कोई न चसे भी नीच माना जानेवाला मनुष्य हो, वह 'जीव' होते हुए भी 'मैं ईश्वर बनूंगा' ऐसी महत्त्वाकांक्षा धारण करता है और 'अहं ब्रह्म अस्मि' ऐसा अनुभव लेने तक उन्नत हो सकता है। ऐसे परम उन्नत हुए महात्मा लोग प्रायः प्रत्येक उच्च तथा नीच जातिमें हुए हैं, इसलिये हम कह सकते हैं कि, ईश्वर बननेकी महत्त्वाकांक्षा इस देशमें हरकोई धारण कर सकता और वहांतक उन्नत भी हो सकता है। किसी एक देशका अध्यक्ष होनेकी अपेक्षा अध्यक्षोंका भी अध्यक्ष जो परम अध्यक्ष ईश्वर है, वह बनना एक परम श्रेष्ठ ध्येय है। भारतके लोगोंके अन्तःकरणमें यह ध्येय रहता है और अनुष्ठान करके कई लोग इसको प्राप्त भी कर सकते हैं। क्या यह महत्त्वाकांक्षा कम है?

अध्यात्ममें 'आत्मानुभव' लेना, अधिभूतमें 'अध्यक्ष' अथवा 'शासक' होना और अधिदैवतमें 'परमात्मा अथवा नारायण' बनना ये उन्नतिकी सीढियाँ हैं। किसकी महत्त्वाकांक्षा कौनसी है यह यहां पाठक देखें और निश्चय करें कि कौनसी महत्त्वाकांक्षा सर्वश्रेष्ठ है। यह 'अध्यात्मशास्त्र' इस तरह **सामर्थ्य बढानेवाला शास्त्र'** है। 'नर' का नारायण बननेका अर्थ ही यह है कि जो सामर्थ्य नरमें नहीं था वह उसमें प्रकट हुआ और वह नारायण बना। इसलिये इसे हम '**सामर्थ्यका शास्त्र**' कह सकते हैं।

"**प्रकृति सब प्रपंच चलाती है और आत्मा अकर्ता है। कूटस्थ है, केवल द्रष्टा है।**" यह अध्यात्मका सिद्धान्त सब जानते हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।

(गीता. ३।२९)

"**प्रकृति**" का अर्थ जैसा '**पञ्चभूतात्मक प्रकृति**' है वैसाही "**पञ्चजनरूप प्रजा**" भी है। इसी तरह कूटस्थ ईश्वर-प्रजापतिका अर्थ "**राजा, शासक**" ऐसा भी है। ये अर्थ लेनेसे पूर्वोक्त अध्यात्मका सिद्धान्त राजकारणमें इस तरह परिवर्तित हुआ दीखता है—

अध्यात्म	आधिभूत
द्रष्टा, ईश	निरीक्षक, प्रजापालक
प्रपंचकर्त्री प्रकृति	सब शासनव्यवहार करनेवाली प्रजा
पञ्चभूत	पञ्चजन

इस तरह देखकर बहुत कुछ विवरण हम कर सकते हैं। यहां अधिक स्पष्टीकरण करनेके लिये हम एक दो और भी मंत्र लेते हैं और देखते हैं कि अध्यात्मके सिद्धान्त राज्य-शासनमें किस तरह परिवर्तित होते हैं—

ईशा वास्यं इदं सर्वम्। (वा० य० ४०।१; ईश १)

"ईश्वरके द्वारा यह सब विश्व आच्छादित होने योग्य है।" यहां कहा है कि 'ईश अपनी शक्तिद्वारा इस सब विश्वको घेरता है।' 'ईश' वह है कि जिसमें 'ईशन-शक्ति' हो। जिसमें शासन करनेका सामर्थ्य है वही ईश है, और वही इस विश्वपर प्रभुत्व करता है। इस विश्वमें बसना, रहना, घेरना, राज्य करना, इसपर अपना अधिकार प्रस्थापित करना यह सब ईश्वर अपने निज सामर्थ्यसे ही कर रहा है। किसी दूसरेसे सामर्थ्य प्राप्त करके वह ये कार्य नहीं करता। उसमें प्रचण्ड शक्ति है, इसलिये वह इस प्रचण्ड विश्वपर अपना प्रभुत्व प्रस्थापित करता है। अर्थात् '**सामर्थ्यसंपन्न जो होगा वही यहांका शासक हो सकता है।**' निर्बलके लिये यहां कोई स्थान नहीं है। निर्बल रहनेवाले गुलाम या दास रहें। पर जबतक वे सामर्थ्य-संपन्न नहीं होंगे तबतक वे शासक नहीं हो सकेंगे।

एक देशका वीर दूसरे देशमें जाता है, वहां वह रहता है, वहांके लोगोंको घेरता है, उनको दास बनाता है, उनपर राज्य करता है। इस इतिहासका एक ही अर्थ है और वह यह कि उस वीरके अन्दर वैसा प्रशासन करनेका सामर्थ्य था, और उस दास बने राष्ट्रमें वह नहीं था। '**समर्थके द्वारा अपने सामर्थ्यसे यह सब विश्व बसने, घेरने तथा प्रभुत्व करनेयोग्य है।**' सामर्थ्यहीनसे यह कार्य नहीं होगा। इसी कारण मनुष्यको सामर्थ्यवान्, प्रभावी और प्रभुत्व-शक्तिसे युक्त बनना चाहिये। अध्यात्मके सिद्धान्त राजकारणमें इस तरह बोधप्रद हो सकते हैं। ये सिद्धान्त निःसन्देह मनुष्यका सामर्थ्य बढानेवाले हैं।

'समर्थ यहां बनना है, इसे येग्ता है' इसका अर्थ यह है कि 'मुख्य राज्यशासक प्रभावी अर्थात् सामर्थ्ययुक्त होना चाहिये।' इसी तरह छोटे मोटे राजपुरुष अर्थात् राज्यके अधिकारी भी सामर्थ्यवान् ही होने चाहिये, अधिकारपर आनेवाला पुरुष निर्बल, निष्प्रभ अथवा सामर्थ्यहीन नहीं होना चाहिये। यह भी बोध उक्त वचनसे ही प्राप्त हो सकता है। इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। इतना यह स्पष्ट है। तथा और देखिये—

प्रजापते न त्वत् एतानि अन्यो विश्वा जातानि
परि ता बभूव ॥ (ऋ. १०।१२१।१०)

'हे प्रजापते! तुझसे भिन्न ऐसा कोई नहीं है कि जो इस सारे विश्वपर प्रभुत्व कर सके।' तूही सबसे अधिक सामर्थ्यवान् है इसलिये तुम्हारा शासन इस विश्वपर हो रहा है।

इसका राजकारणका भाव बिलकुल स्पष्ट है वह यह कि 'जिसमें विशेष सामर्थ्य होता है वही उत्तम राज्यशासन कर सकता है।' मान लें कि अपने राष्ट्रके शासन-प्रबंधके लिये राष्ट्राध्यक्ष, राजपुरुष, सेनापति, न्यायाधीश, अन्य अधिकारी, सैनिक, पदाति आदि संरक्षक हमें नियुक्त करने हैं, तो हम वह कैसे करें? इस समय ऊपरका मंत्र हमें उपदेश देता है कि— "**इस पुरुषसे भिन्न कोई दूसरा ऐसा नहीं है कि जो इस कार्यको कर सके और इससे अधिक श्रेष्ठ भी कोई नहीं है; अतः हम इस-की नियुक्ति करते हैं।**" ऐसा प्रत्येक स्थानके अधिकारीके विषयमें हमें कहना चाहिये। ऐसा सुयोग्य पुरुषही उस स्थानके लिये नियुक्त किया जावे। राष्ट्रमें इस स्थानके लिये जितने पुरुष योग्य हैं उनमें यह अधिक योग्य है इसलिये इसकी नियुक्ति की जाती है। यह सर्वसाधारण नियम हुआ।

यह इस जातिका है। यह मेरा संबंधी है, इसलिये इसे मैं नियुक्त करता हूं ऐसा कहना योग्य नहीं है। यह पुरुष इस कार्य के लिये अत्यंत योग्य है इसलिये इसको हम नियुक्त करते हैं ऐसा कहना चाहिये। यह नियम सदैव रहकर पालन करना चाहिये। सूक्ष्म मननपूर्वक इस तरह मन्त्रोंका विचार करके राजकीय बोध प्राप्त करना चाहिये।

वेदमें ऐसे सहस्रों मंत्र हैं कि जो देवताओंका वर्णन करनेके मिषसे राज्यशासनका संदेश दे रहे हैं। पाठक इनका इस दृष्टिसे मनन करें और वैदिक राज्यशासनविषयक [बोध] प्राप्त करें।

ईश-उपनिषद्

'ईश-उपनिषद्' यह अध्यात्मशास्त्रका वैदिक ग्रन्थ है यह सामर्थ्यकी विद्या है। यह सब अन्य उपनिषदोंका मूल आदि स्रोत है। सब अन्य उपनिषदें इस ईशोपनिषद्के सिद्धान्त ले लेकर और उनका विस्तार करके बनी हैं। इस पुस्तकमें ईशोपनिषद्के मन्त्रोंका सरल आध्यात्मिक अर्थ दिया है और उसके पश्चात् यही अध्यात्मका सिद्धान्त राजकारणमें किस तरह परिवर्तित होता है और उससे किस स्वरूपका राज्यशासन-प्रबंध-विषयक बोध मिलता है, यह बताया है। अर्थात् यह सब संक्षेपसे बताया है। विस्तार करना हो तो बहुतही ग्रन्थ बढाना पढेगा। यह विस्तार कोई राजनीतिज्ञ जितना चाहे उतना कर सकता है।

यहां इसका विशेष विस्तार न करनेका और भी एक हेतु है वह यह कि, इस तरह अध्यात्मके सिद्धान्तोंका राज्यशासनमें रूपान्तर करनेका प्रयत्न ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषदोंके प्रतिपादनको छोडकर, किसी आचार्यने अथवा किसी लेखकने इस समयतक नहीं किया है। इस तरहका यही पहिला प्रयत्न है। हमने भी यह ईशोपनिषद् कई बार हिंदी-मराठीमें अनुवाद और स्पष्टीकरणके साथ मुद्रित किया था, पर उनमें भी हमने इस तरहका राजकीय स्पष्टीकरण नहीं किया था।

ब्राह्मण आरण्यक-उपनिषद् ग्रन्थोंको पढनेसे अध्यात्मके, अधिभूतके और अधिदैवतके सिद्धान्त एक जैसे हैं। वेदमंत्रोंमें यही प्रणाली है, इसका स्पष्टीकरण हमने कईवार अनेक लेखोंमें किया और इन नियमोंकी एकता तथा समानताके कोष्टक भी अनेकवार प्रकाशित किये। इससे यह स्पष्ट हुआ था कि अध्यात्मके सिद्धान्त ही अधिभूत (समाज वा राष्ट्रशासन) तथा अधिदैवतमें स्वरूपान्तरित होते हैं, परंतु आजतक हमने भी संपूर्ण ईशोपनिषद्का राज्यशासनविषयक भाव प्रकट करनेवाला लेख नहीं लिखा था, यह ऐसा लेख प्रथमवार ही प्रकाशित किया जाता है। यह विद्या ब्राह्मण-आरण्यकोंमें है अतः प्राचीन है, तथापि उसके पश्चात् इसका किसीने लेख-द्वारा प्रकाशन न करनेसे यह नवीनसी प्रतीत हो सकती है। पुरानी होती हुई यह पद्धति नूतन सी दीख सकती है। अतः

इस विषयका विवेचन हमने संक्षेपसे ही किया है। इस प्राचीन पद्धतिका विचार आजके विद्वान् भी करें और इसके गुणदोषोंका तथा न्यूनाधिकता का मनन करें और अपने विचार प्रकट करें। विद्वान् पाठक अपने विचार लेखबद्ध करके प्रकाशित करेंगे तो आगे अधिक मंत्रोंका मनन करनेके लिये अधिक सुविधा होगी। और इसी तरह विद्वानोंके सहयोगसे यह शास्त्र कभी न कभी परिपूर्ण और निर्दोष हो सकेगा।

वेदमन्त्रोंमें मुख्यतः 'परमेश्वर' का गुणवर्णन है। इसीका वर्णन 'आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, इन्द्र, महेन्द्र, अग्नि, सूर्य, आदित्य, प्राण, वायु' आदि अनेक नामोंसे विभिन्न सूक्तोंमें है। किसी स्थानपर स्पष्ट रीतिसे और किसी स्थानपर गुप्त रीतिसे है।

सर्वे वेदा यत्पदं आमनन्ति। (उपनिषद्)

'सब वेद (मन्त्र) जिस पदका वर्णन करते हैं' वह परमपद है। वही परमात्मपद है। यही 'ईश्वर' है।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। (गीता १५।१५)

'सब वेदमन्त्रोंद्वारा मेरा (ईश्वरका) ही वर्णन हुआ है।' इस तरह परमेश्वरका वर्णन अनेक पद्धतियोंसे वेदमन्त्रोंमें हुआ है।

अब यह बात सबको विदित है कि जिसे हम 'ईश्वर' कहते हैं वह राजाओंका राजा और महाराजाओंका महाराजा है। अर्थात् सबसे श्रेष्ठ राजाधिराजका वर्णन ही ईश्वरका वर्णन है, जो वेदमें है। यदि हमें सबसे श्रेष्ठ ज्येष्ठराजका वर्णन विदित हुआ, तो उससे हमारे पृथ्वीपरके छोटे राजाके गुणोंका भी पता लग जायगा। इतना ही है कि वह ज्येष्ठराज (ईश्वर) सदा निर्दोष कर्म करता है और हमारे राजा और हमारे राज्याधिकारी मानव होनेके कारण प्रमादशील हैं। यह हो, पर ईश्वरके वर्णनसे हमें आदर्श राजाका वर्णन तो अवश्य मिलेगा ही। अर्थात् वेदमें आदर्श राज्य, आदर्श राज्यशासन, आदर्श राजा और राजपुरुषोंका वर्णन है ऐसा कहना किसी तरह अत्युक्तिका नहीं होगा। इसी तरह वेदमंत्रोंसे राज्यशासन प्रकट हो सकता है और यही अध्यात्म तत्त्वोंपर आधारित राज्यशासन है। उदाहरणार्थ- ईशोपनिषद्का अष्टममन्त्र-

कविः मनीषी परिभूः स्वयंभूः।

(ईश. ८; वा. य. ४०।८)

ये पद परमेश्वरका तथा पूर्ण पुरुषका वर्णन करनेके लिये प्रयुक्त हुए हैं। यह वर्णन राजाधिराज ज्येष्ठराज परमेश्वरका है। अर्थात् यही वर्णन आदर्श राजा का है और हमारा आदर्श राजा 'ज्ञानी, संयमी, प्रभावी, पराक्रमी और स्वावलंबी' हो यह बोध इससे मिलता है। इस तरहका राजा वेदोंके राज्यशासनमें होना चाहिये, ऐसा कहना किसी तरह अयुक्तियुक्त नहीं हो सकता। यही पद्धति है कि जिससे वेदोक्त राज्यशासन अथवा अध्यात्मपर आधिष्ठित राज्यशासन सिद्ध हो सकता है। यह पद्धति है कि जिससे वेदमंत्रोंका वर्णन राज्यशासनमें ढला जा सकता है और वह निर्दोष रीतिसे ढाला जा सकता है।

इस तरह इस पद्धतिसे ईश-उपनिषद्द्वारा बताया राज्यशासन यहां दर्शाया है। पाठक इसका विशेष विचार करें।

ईश-उपनिषद्

[गुरु--शिष्यका संवाद]

स्वाध्याय-मण्डलके आनन्दाश्रमके वेद-महाविद्यालयमें गुरु-शिष्योंका मिलकर वेदमंत्रोंका स्वाध्याय चल रहा था। उसमें '**ईश उपनिषद्**' अर्थात् वाजसनेयी अथवा काण्वसंहिताके ४० वें अध्यायके विषयमें जो वार्तालाप हुआ वह इस तरह है-

शिष्य- गुरुजी! मुझे 'ईश-उपनिषद्' का अध्ययन करना है। कृपया पढाइये।

गुरु— इसमें पढानेका कुछ भी नहीं है, पढनेका ही सब कुछ है। आप पढते जाइये, जहां कठिनता आजाय वहां आप पूछिये। यदि कुछ हमें विदित हुआ तो हम बता देंगे, अन्यथा हम दोनों अधिक अन्वेषण करेंगे और जो सत्य प्राप्त करेंगे उसको आचरणमें लानेका प्रयत्न करेंगे।

शिष्य-- 'ईश-उपनिषद्' इस ग्रंथका नाम है। इसका प्रारंभ 'ईशा वास्य' इन शब्दोंसे होता है।

ईशोपनिषद्के नाम

गुरु— यह सत्य है, पर 'ईशा' इस पदसे इसका प्रारंभ होता इसलिये जैसा इसका नाम 'ईश-उपनिषद्' है, वैसाही 'ईशा वास्यं' ये पद प्रथम रहनेसे इसको 'ईशा वास्य-उपनिषद्' भी कहते हैं। इसी तरह इसके अन्य नाम 'आत्माध्याय, ब्रह्माध्याय, आत्मोपनिषद्, ब्रह्मो-

पनिषद् ' ये भी हैं। क्योंकि इसमें ' आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म ' के विषयमें वर्णन है। हम इसका नाम ' सामर्थ्य विद्या ' ऐसा भी रख सकते हैं क्योंकि यह सचमुच " सामर्थ्य प्राप्त करनेकी विद्या " है। नरका नारायण, जीवका शिव बननेकी यह विद्या है। इसलिये इसका नाम ' सामर्थ्य-विद्या ' होना स्वाभाविक है और योग्य भी है।

शिष्य— परंतु आजतक किसीने ऐसा नहीं कहा !

गुरु— हां, ऐसा नहीं कहा यह सत्य है। आप जैसे जैसे वेदका अध्ययन करते जायंगे, वैसे वैसे आपको आजतक किसीने न कही बातें कहनी पडेगीं और बोलनी भी पडेगीं। यही तो वेदके अध्ययनका परिणाम होना है और होना भी चाहिये। क्योंकि आजतक बहुत शतकोंमें मूल वैदिक संहिताओंका सार्थ अध्ययन नहीं हुआ, इसलिये वेद-विद्या अज्ञात ही रही। वह इस तरहके अध्ययनसे अब प्रकट होगी। और नये नये वैदिक आदेश प्रकट होते ही रहेंगे।

शिष्य- यह ठीक है, पर आप इस उपनिषद्को 'सामर्थ्य-विद्या ' किस प्रमाणसे कहते हैं ?

सामर्थ्यकी विद्या

गुरु— यह प्रश्न बडा अच्छा है। इसका नाम ' ईश-उपनिषद् ' तो है, यह नाम सब जानते हैं। नरका नारायण होनेकी यह विद्या है इसमें भी किसीको कोई संदेह नहीं है। " नारायण बनने " का अर्थ ही यह है कि " ईश्वरीय शक्ति प्राप्त करना "। महती शक्ति प्राप्त करनेके विना कोई भी नर नारायण बन नहीं सकता। इस कारण इसको हम ' नारायणी-विद्या ' ऐसा भी कह सकते हैं। इसका प्रसिद्ध नाम ' ईश उपनिषद् ' है। ' उपनिषद् ' का अर्थ ' विद्या ' है। वैदिक समयमें ऋषि मंडलियां होती थीं और उन सभाओंमें नाना प्रकारके मानवीय जीवनके सिद्धान्तोंपर विचार होते थे। उन सभाओंका नाम ' उपनिषद् ' था। उन सभाओंका जो निर्णय होता था उसको भी ' उपनिषद् ' ही कहा जाता था। ' परिषद् ' ही ' उपनिषद् ' है। कठ शाखाकी ऋषिसभाका ' कठ-उपनिषद् ' और तैत्तिरीय ऋषियोंका ' तैत्तिरीय-उपनिषद् ' आज भी प्रसिद्ध है। ऐसा ही यह ' ईश-उपनिषद् ' है।

शिष्य— यहां ईश शब्दका क्या महत्त्व है ?

गुरु— ' ईश ' शब्द मंगलवाचक है, इसी तरह ' ईश ' शब्द ' जिसके पास ईशन करनेकी शक्ति है, जिसमें स्वामी होनेका सामर्थ्य है, जिसमें राज्यशासन करनेका बल है वह ईश होता है। ' ऐसा ईश बननेकी यह विद्या है। इसके पढनेसे सामर्थ्य प्राप्त करनेका मार्ग विदित होता है इसलिये इसको ' ईश-उपनिषद् ' कहते हैं।

शिष्य— इस ईशोपनिषद्के पढनेसे मनुष्य सामर्थ्यसंपन्न हो सकता है ?

गुरु— नहीं नहीं ! केवल पठनमात्रसे नहीं, पहिले पठन करना, पश्चात् उसका अर्थ जानना, तदनंतर उसका मनन करना, उस ज्ञानको अपने जीवनमें ढालना और अन्तमें वैसा बनना है। इतना अनुष्ठान करनेसे साधक मनुष्य ईशन-सामर्थ्यसे युक्त हो सकता है। अर्थात् ईश बन सकता है। ईश बननेका ही अर्थ सामर्थ्यसंपन्न होना है। जिसमें सामर्थ्य नहीं है। ऐसा कोई भी निर्बल पुरुष ईश बन ही नहीं सकता।

शिष्य— हां ! अब मेरे ध्यानमें आया कि यह ' ईश-उपनिषद् ' है अर्थात् यह ' सामर्थ्य प्राप्त करनेकी विद्या ' है। अब आगे इसका ' शान्ति मंत्र ' यह है —

> ॐ पूर्णं अदः, पूर्णं इदं, पूर्णात् पूर्णं उदच्यते।
> पूर्णस्य पूर्णं आदाय, पूर्णं एव अवशिष्यते ॥
> ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ॥

इसमें ' ॐ ' यह पहिला शब्द है। इसका तात्पर्य क्या है ?

श्रेष्ठ बननेका ध्येय

गुरु— ' ॐ ' का अर्थ ' संरक्षण ' है। हमारा सबका संरक्षण हो यह इसका अर्थ है। ' अ उ-म ' ये तीन अक्षर इस ओंकारमें हैं, इनका अर्थ क्रमसे ' आदि-उत्तम-माननीय ' है। ' आदि ' अर्थात् पहिला बनना चाहिये, ' उत्तम ' अर्थात् श्रेष्ठ बनना चाहिये और ' माननीय ' बनना चाहिये। ये तीन आदेश ओंकारके तीन अक्षरोंसे प्रकट होते हैं।

> अकारः... आदिश्च भवति० ।
> उकारः... उत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं० ।
> मकारः... मिनोति ह वा एतत्सर्वम् ॥
> (मांडूक्य उ० ९-११)

सबमें प्रथम होना, सबसे अधिक उत्कर्ष प्राप्त करना और सबका परिमाण जानना यह सामर्थ्य से ही हो सकता है, इस ओंकारसे भी पता लगता है कि यह सामर्थ्य प्राप्तिके लिये ही अनुष्ठान है।

शिष्य— ओंकारके अ-उ-म ये तीन अक्षर अपना उत्कर्ष सब प्रकारसे करनेका आदेश दे रहे हैं यह बात अब मेरे ध्यानमें आगयी है।

गुरु—इतनी ही बात इसमें नहीं है। मांडूक्य उपनिषद्में इसका विवरण और भी मननपूर्वक देखनेयोग्य है—

जागरितस्थानो...अकारः

स्वप्नस्थानः...उकारः

सुषुप्तस्थानः...मकारः (माण्डूक्य उ० ९-११)

' अकारसे जागृति, उकारसे स्वप्न और मकारसे गाढ निद्रा ' ये मानवी जीवनकी तीन अवस्थाएं यहां बतायी हैं। जागृतिके सब व्यवहारोंमें प्रथम उत्कर्ष-प्राप्त करना चाहिये, स्वप्नमी उत्कर्षके आने चाहिये और सुषुप्तिपर भी प्रभुत्व चाहिये। मानवी जीवन की इन तीनों अवस्थाओंमें उत्तम भाव रहना चाहिये। यह यहां सूचित होता है। यही मानवीय मूल्यों की पूर्ण अवस्था है।

शिष्य—मेरे समझमें आया कि ओंकार द्वारा मानवी जीवन संपूर्ण बताया है और इस संपूर्ण जीवनमें मानवको उत्कर्ष प्राप्त करना चाहिये, यह यहां सूचित होता है। सचमुच सामर्थ्यके बिना यह नहीं होगा। अब इसके आगे 'पूर्ण अदः, पूर्ण इदं ' यह मंत्र है, इसका अर्थ ' वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है ' ऐसा दीखता है। यहां किसी वस्तुका निर्देश नहीं है। (अदः इदं) ' वह ' और ' यह ' इससे किसका बोध हो सकता है ?

यह विश्व पूर्ण है

गुरु—' पूर्ण ' शब्दका अर्थ तो सब जानते हैं, पूर्ण, जो न्यून नहीं, जिसमें किसी तरह हीनता या न्यूनता नहीं, सब प्रकारसे जो जैसा होना चाहिये वह वैसा है अतः वह पूर्ण कहलाता है। ' अदः पूर्णं ' वह ईश्वर पूर्ण है, ' वह अपूर्ण नहीं है, वह जैसा चाहिये वैसा सवगुणसंपन्न है। उसमें किसी तरहसे न्यूनता नहीं है। ' पूर्णं इदं ' ' यह विश्व भी पूर्ण है ' यह विश्व भी जैसा चाहिये वैसा गुणसंपन्न है, इस जगत्में भी अपूर्णता नहीं है।

शिष्य—' पूर्ण इदं ' यह विश्व भी पूर्ण है यह हम कैसे मान सकते हैं ? सब लोग कहते आये हैं कि यह जगत् क्षणिक, दुःखमय, दोषपूर्ण, हीन तुच्छ, हेय, त्याज्य, बंधनरूप और पाशरूप है। और आप कह रहे हैं कि यह विश्व भी पूर्ण है यह कैसा माना जा सकता है ?

गुरु—सब तत्त्वज्ञान अनुभवसे माना जा सकता है। इस विश्वमें आकाश, सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ, पर्जन्य, जल, वृक्ष, वनस्पति, अन्न, भूमि आदि पदार्थ हैं। क्या ये सब पदार्थ जैसे चाहिये वैसे नहीं हैं ? क्या सूर्यमें कुछ न्यूनता है ? क्या भूमिमें आप कुछ सुधार सुझाना चाहते हैं, क्या वायु जैसा चाहिये वैसा नहीं है, क्या इनमें कुछ अपूर्णता कोई देख सकता है ? क्या इनका सुधार कोई करके दिखायेगा ?

शिष्य--सूर्य-चन्द्र-वायु जल-पृथ्वी आदि सब पदार्थ जैसे चाहिये वैसे हैं, इनमें कोई अधिक सुधार सुझा नहीं सकता, न कोई सुधार कर सकता है। निःसंदेह ये सृष्टिके पदार्थ जैसे चाहिये वैसे ही हैं। अर्थात् ये पूर्ण हैं, निर्दोष भी हैं। सूर्यमें कोई दोष नहीं है, वैसे ही वायु-भूमि-जल आदि में भी दोष नहीं है।

गुरु--इतना ही नहीं परंतु आम, अमरूद, केले, सेब, अनार, अंगूर, चावल, गेहूं, चने, तूर, मूंग आदि खानेकी वस्तुओंमें भी क्या कोई हीनता है ? ये सब पदार्थ जैसे चाहिये वैसे नहीं हैं ?

शिष्य--ये भी पदार्थ जैसे चाहिये वैसे ही हैं।

गुरु—इसीलिये कहा है कि ' पूर्ण इदं ' यह विश्व भी पूर्ण ही है। इस विश्वमें कोई न्यूनता नहीं है। जो वस्तु जैसी चाहिये वैसी है। जो जहां जैसा चाहिये वैसा ही वह वहां है।

शिष्य--फिर बुद्ध भगवान् इस विश्वको ' सर्वं क्षणिकं सर्वं दुःखं ' ऐसा क्यों कहते हैं ? ऐसा ही सब सन्त महन्त कहते हैं। ये ऐसा क्यों कहते हैं ? इनके मतसे तो यह विश्व त्याज्य है। आप इस विश्वको पूर्ण कहते हैं यह कैसे माना जा सकता है ?

क्षणिकवाद और दुःखवाद

गुरु--बुद्ध भगवान् तथा आधुनिक सन्त महन्त हुए

विश्वको हीन कहते हैं यह सत्य है, पर पुरःपूर्व वैदिक वाङ्मयमें विश्वको हीन और त्याज्य नहीं कहा है। परंतु 'सर्वं आनन्दमयं' कहा है। यह विश्व आनन्दमय है ऐसा कहनेका आशय ही यह पूर्ण है ऐसा है। अर्थात् आधुनिक मतवाले जो कहें वह यदि वेदविरुद्ध होगा तो हम उसको दूर फेंक देंगे, उसका स्वीकार नहीं करेंगे। जो वेदका सिद्धान्त है उसीका हम विचार करते हैं। वेदका सिद्धान्त विदित होनेसे अन्य भ्रान्त सिद्धान्त स्वयं ही खण्डित होते हैं। इस विषयमें संदेह करनेकी कोई किसी तरह आवश्यकता नहीं है।

शिष्य — इस समय तो सभी मान रहे हैं कि यह जगत् हीन और तुच्छ है।

गुरु — सब लोग जो चाहे सो मानें। हम यहां वेदवचनमें कौनसा सिद्धान्त कहा है उसका मनन कर रहे हैं। इसलिये वेद तो यह कह रहा है कि 'पूर्णं इदं' यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला विश्व पूर्ण है, हीन और तुच्छ नहीं है। इसका हेतु भी है — 'पूर्णात् पूर्णं उदच्यते' अर्थात् 'पूर्ण परमात्मासे यह उदित हुआ है।' पूर्ण परमात्मा की यह कृति है, पूर्ण परमात्मा का यह प्रसव है। परमात्मा पूर्ण है इसलिये उसकी यह कृति भी पूर्ण ही है। यह हेतु देकर इस विश्वको पूर्ण कहा है, इसलिये इसकी पूर्णतामें किसीको भी शंका करना नहीं चाहिये।

शिष्य — 'पूर्णं इदं' का अर्थ 'यह विश्व पूर्ण है' ऐसा अर्थ कैसा हुआ यहां जगद्वाचक कोई पद नहीं है।

गुरु — यहां जगद्वाचक पद नहीं यह सत्य है, पर 'इदं' यह पद प्रत्यक्ष दीखने वा अनुभवमें आनेवाले जगत् के लिये यहां आया है। जो अनुभवमें आता है, जिसके अस्तित्वके विषयमें किसीको भी शंका नहीं है वह 'इदं' (यह) है। सूर्य, चन्द्र, तारागण, मेघ, अग्नि, जल, वनस्पति, पृथिवी, मनुष्य पशु पक्षी ये पदार्थ दीखते हैं, आकाश, वायु आदि अदृश्य पदार्थ हैं पर वे हैं, इसलिये ये सब 'इदं' (यह) करके बताये जाते हैं। यह सब विश्व है और यह पूर्ण भी है क्योंकि इसकी रचना पूर्ण परमेश्वरने की है। उत्तम चित्रकार जो चित्र करता है वह उत्तम ही होता है, उत्तम मूर्तिकारसे जो मूर्ति बनती है वह उत्तम होती है। इसी तरह सर्वश्रेष्ठ कुशल कारीगर परमेश्वर से यह विश्व बना है इसलिये यह पूर्ण है और यह अपूर्ण तुच्छ, हीन, हेय नहीं है।

शिष्य — गुरुजी! जो आप कह रहे हैं, यह सब आजकल जो उपदेश किया जाता है, इसके विपरीत दीखता है। क्योंकि आजकल ऐसा कहा जाता है कि 'यह जगत् दुःखदायी है, बंधनकारक है, त्याज्य है, इसको त्यागने बिना परमेश्वर-प्राप्ति नहीं होगी इ०' और आप कह रहे हैं कि यह विश्व पूर्ण है, यह कैसे?

गुरु — जो वेदका सिद्धान्त मन्त्रोंद्वारा प्रकट हो रहा है वह मैं यहां बोल रहा हूं। जनतामें अशुद्ध विचार और भ्रमजाल फैले हैं इसलिये वे अपने अज्ञान से जो कुछ बोल रहे हैं, उसको दूर करना है और वेदसिद्धान्तोंको प्रकट करके, ऋषिवचनों का विचार करके तथा अपना अनुभव देखकर भ्रमजालको दूर करना है। इसलिये जो लोग कह रहे हैं उनकी तुलना वेदके सिद्धान्तोंके साथ करते जाना तुम्हें योग्य है।

शिष्य — ठीक है हम सब ऐसा ही करते जायगे। अब एक शंका आती है वह यह है कि यदि यह पूर्ण विश्व उस पूर्ण परमेश्वरसे निकल आया है तो उस पूर्ण परमेश्वरमें कुछ न कुछ न्यूनता आनी चाहिये, वह तो पहिले जैसा परिपूर्ण नहीं रह सकेगा?

गुरु — मन्त्र कहता है कि 'पूर्णस्य पूर्णं आदाय पूर्णं एव अवशिष्यते' 'पूर्ण परमेश्वरके अन्दरसे यह पूर्ण विश्व बाहर आनेके पश्चात् वह परमात्मा जैसा पहिले था वैसा ही पूर्ण, किंचित् भी न्यूनता उसमें न आती हुई, वैसा का वैसा परिपूर्ण रहता है।' गणितमें ०-०=०, ०+०=०; ०×०=०, ०÷०=० शून्यका गणित ऐसा होता है। शून्यसे शून्य निकालने पर शून्य ही अवशिष्ट रहता है। वैसाही यहां समझना चाहिये। अनुभव की बात भी ऐसी ही है। एक दीपसे सहस्र दीप जलाने पर भी पहिला दीवा वैसाका वैसा रहता है। एक चित्रकार ने अनेक उत्तम चित्र निर्माण करनेपर उसकी चित्रकारी न्यून नहीं होती, पर बढ जाती है। गुरुने अपनी सब विद्या शिष्योंको पढायी तो गुरु विद्यासे शून्य नहीं होता, पर उसकी विद्या बढ जाती है। इस तरह पूर्ण परमेश्वरसे इस विश्वकी निर्मिति होनेपर वह विश्वकर्मा वैसाका वैसाही सामर्थ्यसंपन्न अतएव परिपूर्ण रहता है। उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं आती है।

शिष्य—यह तो अब समझमें आगया है। पूर्ण परमेश्वरसे इतनी विशाल सृष्टि प्रकट होनेपर वह वैसा का वैसा ही परिपूर्ण है और वैसा ही परिपूर्ण रहेगा। कितने ही विश्व निर्माण हुए अथवा कितने भी विश्व उसमेंसे निकल गये तो उसमें कुछ भी न्यूनता आती नहीं है। यह समझमें आगया। अब इसके आगे 'ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः' ऐसी तीन बार शान्ति है वह किस लिये?

गुरु—ओंकार का अर्थ तो इससे पूर्व बताया ही है। 'हमारी सुरक्षितता होनी चाहिये, हमें पहिला, उत्कृष्ट ज्ञानवान् और माननीय होना चाहिये' यह ओंकार का आदेश इससे पूर्व बताया है।

शिष्य—हां! ठीक है, वह हमारे ध्यानमें है। पर तीन बार शान्ति किस लिये कही है?

विश्वशान्तिका ध्येय

गुरु—(१) व्यक्तिमें शान्ति, (२) समाज या राष्ट्रमें शान्ति और (३) विश्वमें शान्ति ऐसी तीन स्थानोंमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये, तीनों स्थानोंपर शान्ति स्थापन हुई तोही विश्वमें सच्ची शान्ति स्थायी रूपसे रह सकती है अन्यथा नहीं। 'विश्वशान्ति' वा वैदिक धर्मका ध्येय है, यह हम सब मानवोंनेही साध्य करना है, इसलिये मनुष्यको अपने आपको तैयार करना चाहिये। इस कार्यके लिये विशेष योग्यतावाला मनुष्य बनना चाहिये। प्रत्येक अपरिपक्व मनुष्य वह कार्य कर नहीं सकता। इसलिये प्रथम व्यक्तिमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये। व्यक्तिके शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मामें शान्ति स्थापन होनेके लिये सुशिक्षा, सद्व्यवहार आदि अनुष्ठानके मार्ग हैं। इस तरह सब मनुष्योंमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये, नहीं तो कई मनुष्य गुण्डे रहे, तो वे समाजमें उपद्रव मचायेंगे। इसलिये मनुष्यमात्रमें सुशिक्षा, सुनियम, उत्तम अनुशासन आदि द्वारा शान्ति स्थापन होनी चाहिये। इसी तरह राष्ट्रों, समाजों और जातियोंमें शान्ति स्थापन होनी चाहिये। नहीं तो एक राष्ट्र उठेगा और जगत्भरमें उत्पात करता रहेगा इसलिये नियोजनपूर्वक ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि जिससे सब राष्ट्रोंमें उत्तम शान्ति स्थापन हो। ऐसा होनेपर विश्वमें शान्ति स्थापन हो सकेगी। परंतु यदि विश्वमें शान्ति स्थापन नहीं हुई और चारों ओर झगडे और युद्ध होते रहें, तो व्यक्ति को भी शान्ति नहीं मिलेगी और व्यक्तिकी पूर्णता और श्रेष्ठता भी नहीं हो सकेगी। इसलिये व्यक्ति-समाज-राष्ट्र-तथा विश्वमें स्थायी शान्ति स्थापन करनेके लिये प्रयत्न होने चाहिये। यह साध्य करना वैदिक धर्मका उद्देश्य है। वैदिक धर्मका यह वास्तविक कार्यक्षेत्र है।

शिष्य—यदि यह कार्यक्षेत्र वैदिक धर्मका है, तब तो यह व्यक्तिशः नहीं हो सकता, राष्ट्रशक्तिके द्वारा ही यह साध्य होनेकी संभावना है।

गुरु—नितान्त ठीक है, वैदिक धर्म राष्ट्रीय धर्मही है। यह व्यक्तिका सुधार तथा राष्ट्रसुधार करनेका परिपूर्ण कार्यक्रम जनताके सामने रखता है और यही इस ईशोपनिषद्के द्वारा प्रकट हो रहा है।

शिष्य—सब कहते हैं कि इस ईशोपनिषद्में केवल अध्यात्मविद्या है, संसारका त्याग करनेवाले इसे पढें। परंतु आप कहते हैं कि "यह राष्ट्रशासन का तत्त्वज्ञान है" और इसका उपयोग राज्यशासनके लिये है यह कैसे? यह तो विपरीत ही दीख रहा है?

राज्यशासनकी विद्या

गुरु—आप सब लोग तरुण हैं और आपको अपनी स्वतंत्र बुद्धिसे सोचना चाहिये। कौन क्या कहता है इसके दबावके अन्दर अपनी बुद्धिको मारना नहीं चाहिये। इसके विवरणके प्रसंगमें कहा है कि व्यक्तिगत शान्ति और समाजकी शान्ति तथा विश्वशान्ति स्थापन करना इस विद्याका ध्येय है। यह तीन 'शान्ति' पदके पाठसे स्पष्ट हुआ, अब विचारना यह है कि क्या यह कभी राजप्रबंधके विना हो सकता है? कदाचित् कोई कह सकेगा कि व्यक्तिगत शान्ति व्यक्तिके सुधारसे हो सकेगी। पर सामाजिक, राष्ट्रीय और विश्वकी शान्ति तो निःसंदेह राज्यशासनके प्रबंध द्वारा ही हो सकती है, व्यक्तिगत प्रबंधसे विश्वशान्ति कदापि स्थापन हो ही नहीं सकती। व्यक्तिगत शान्ति योगानुष्ठानसे हो सकती है और योगाश्रमोंका स्थान अच्छे राज्यमेंही रहे ऐसा कहा है। गुण्डोंके प्रान्तमें योगसाधन नहीं हो सकेगा।

'सुभिक्षे धार्मिके देशे।' (ह० योग प्रदीपिका)

उत्तम धान्यवाले प्रदेशमें धार्मिक राज्य हो। वहां ही योगका आश्रम रखना चाहिये। गुण्डोंके राज्यमें कदापि योगका

अनुष्ठान नहीं हो सकता । इससे सिद्ध है कि वैयक्तिक शान्तिके लिये भी धार्मिक राज्यका सुप्रबंध चाहिये, फिर सामाजिक, राष्ट्रीय और विश्वशान्ति तो बिना अच्छे राज्य-प्रबंधके स्थापित हो ही नहीं सकती ।

तीन शान्तियोंकी स्थापनाका श्रेय कदापि बिना राज्य-शासनकी अनुकूलताके नहीं सिद्ध हो सकता । ओंकारके द्वारा बतायी उन्नति और सुरक्षा भी बिना राज्यप्रबंधके नहीं हो सकती । ' ईश ' शब्दसे भी ईशन-क्रिया करनेवालेका अर्थात् शासनकर्म करनेवालेका बोध हो सकता है । इसलिये यहां संसारका त्याग अभीष्ट नहीं है, परंतु संसारके राज्यशासनका सुप्रबंध ही अभीष्ट है, इसलिये मैंने कहा कि यह राज्यशासनका शास्त्र है । देखो ईशोपनिषद्के प्रारंभका वचन यह है—

ईश—उपनिषद्

[अध्यात्मज्ञानपर अधिष्ठित सामर्थ्यका राज्यशासन]

प्रथम सिद्धान्त—"समर्थका शासन"

(१) ईशा वास्यं इदं सर्वम् ।

'(इदं सर्वं) यह सब दृश्यमान विश्व (ईशा) ईशद्वारा (वास्यं) बसने, घेरने, व्यापने योग्य है ।'

(१) ' ईश ' इस विश्वको घेरता और व्यापता है, इसमें बसता है और इसका शासनप्रबंध करता है । जिसके अन्दर ईशन-शक्ति है, जिसमें शासन करनेकी शक्ति है उसका नाम ईश है । अतः यहां प्रथम सिद्धान्त यह बताया है कि **" जिसमें प्रशासन करनेका सामर्थ्य होगा वही इस विश्वपर शासक होगा । "** शासक अपनी निज शक्तिद्वारा इस विश्वमें शासन करता है । इस संसारपर कौन शासन करेगा ? इसका उत्तर यह है कि जिसमें शासन करनेका सामर्थ्य है वही शासन करेगा । जिसमें शासन-सामर्थ्य नहीं होगा वह शासन नहीं कर सकेगा । ईश्वरका शासन इस विश्वपर इसलिये हुआ है कि वह सबसे अधिक सामर्थ्यवान है । यदि वह निर्बल होता तो कदापि इस विश्वपर प्रभुत्व नहीं कर सकता ।

ईश्वर केवल ईश्वर है इसलिये इस विश्वका शासक बना नहीं है, परंतु सब सामर्थ्यवानोंसे वह अधिक और उत्तम सामर्थ्यसंपन्न है इसलिये वह इस विश्वका प्रभु और प्रशासक हुआ है । इसमें विशेष ईशनशक्ति है इसलिये वह इस विश्वपर राज्य कर रहा है । यदि उसमें प्रबंध-शक्ति न होगी तो वह इसका प्रबंध नहीं कर सकेगा अथवा विश्व भी उसका शासन नहीं मानेगा ।

एक वीर दूसरे राज्यपर आक्रमण करता है, उसको अपने सैन्य बलसे घेरता है, उस राज्यमें घुसता है, वहां रहने लगता है, वहां राज्य करता है उस राज्यके लोगोंको अपना दास बनाता है, उनसे प्रणाम और पूजा लेता है, इसका एकमात्र कारण यह है कि उस विजयी वीरमें वैसा सामर्थ्य है और उस पराजित राष्ट्रमें वैसा सामर्थ्य नहीं है । सामर्थ्य कम होनेसे ही पराभव या पारतंत्र्य होता है । इसलिये वेदमंत्रने कहा है कि (**ईशा इदं सर्वं वास्यं**) शासन-सामर्थ्य जिसमें है उसके द्वाराही यह सब संसार घेरने, व्यापने और प्रशासन करने योग्य है । निर्बलके लिये यहां शासक होनेकी कोई आशा नहीं है । निर्बल शासक हुआ तो उसको अपने स्थानसे अपनी निर्बलताके कारण हटना ही पडेगा । जो समर्थ होगा वही यहांका शासक हो सकता है ।

शिष्य — 'ईश्वर सर्वत्र व्यापक है' इतना ही इस मन्त्र-भागका अर्थ सब टीकाकार तथा प्रवचनकार मानते हैं । परंतु आप तो इसका अर्थ राज्यशासन-विषयक बता रहे हैं यह कैसे ?

गुरु — शान्ति मन्त्रके अर्थके मननसे तथा तीन शान्तियोंके मननसे हमने देखा कि, तीन शान्तियोंकी स्थापनाका कार्य बिना राज्यशासनप्रबंधके नहीं हो सकता, अतः जो तीन शान्तिस्थापनाका कार्य है वह राज्यशासनप्रबंधसेही होनेवाला है यह निश्चित है । यहां इस तत्त्वज्ञानका संबंध राज्यशासनके साथ जुड चुका है । अब बात रही की **' ईशा इदं सर्वं वास्यं '** इसका क्या अर्थ है यह देखना । 'ईश' पदका अर्थ " स्वामी, अधिकारी, शासक, नियामक राजा, शासनकर्ता, राज्यशासन करनेवाला " यह है । ये इसके अर्थ प्रसिद्ध हैं, अतः " शासक अपने शासनसामर्थ्यसे इस सब जगत्का शासन करनेयोग्य है " । यही इसका मूल अर्थ है जो सर्वथा राज्यशासनका महत्त्वपूर्ण संदेश देता है, सब देशोंका राजकारणका इतिहास इसी सिद्धान्तकी साक्षी देता है । ' **ईशा इदं सर्वं वास्यं** " ईश इस सबमें बसता है, इस सबको आच्छादित कर रहा है, इसका शासन करता है, इसका प्रबंध करता है, इसका अर्थ ही यह है कि ' समर्थ

…ने सामर्थ्यसे जगत्पर शासन करता है 'यह कार्य निर्बल … नहीं हो सकता। 'ईश' का अर्थ व्यक्तिके देहमें 'आत्मा' … राष्ट्रमें राजा या अध्यक्ष, और ब्रह्माण्डमें अथवा विश्वमें 'पर-मात्मा' है। पर सर्वत्र नियम एक ही है वह यह कि **…सामर्थ्यवान् अपने निज सामर्थ्यसे इस जगत् पर शासन करता है।'** राज्यशासनका ही यह भाव है। क्योंकि विना अध्यात्म सिद्धान्तोंपर आरूढ राज्यशासनकी अनुकूलताके मानवी उन्नति नहीं हो सकती, इसलिये प्रायः ये आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानके सिद्धान्त राज्यशासनका शुद्ध स्वरूप दिखानेके लिये ही हैं। इस बातका आजतक किसीने विचार नहीं किया इसीसे भारतीयोंकी हानि हुई है। परंतु अबतक जो हो चुका वह हुआ, भविष्यके लिये तो हमें इस विचारको जाग्रत करना चाहिये और देखना चाहिये कि अध्यात्म-सिद्धांतोंका राजकीय स्वरूप क्या है। यह हम इस उपनिषद्के मननमें देखेंगे। आगे दूसरा सिद्धान्त देखिये—

द्वितीय सिद्धान्त—"**समष्टि-व्यष्टिका सहकार्य**"

२ यत् किंच जगत्यां जगत्।

'जो कुछ (यहां है) वह समष्टिके आधारसे व्यष्टि (ऐसा है।)

(२) समर्थ अपने सामर्थ्यसे इस जगत् पर प्रशासन करता है। वह जगत् '**समष्टिके आधारसे व्यष्टि**' ऐसी पद्धतिसे यहां है। मानव समष्टिके आश्रयसे एक मानव व्यक्ति रहती है। '**जगत्**' एक पदार्थ है और अनेक जगतोंका समूह '**जगती**' है। समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है। संघके आधारसे एक व्यक्ति रहती है। 'जगत्यां' यहां आधारार्थक सप्तमी है। जगत्समूहके आधारसे एक व्यक्ति रहती है।

व्यक्ति मरती रहती है, पर संघ अमर है। एक हिंदु मरता है, पर हिंदुसमाज अमर है। '**संभूत्या अमृतं**' (ईश.) संघसे अमरपन है। संगठित समाज शाश्वत रह सकता है पर कितनी भी श्रेष्ठ व्यक्ति हुई तो भी वह मरनेवाली है। कितना भी यत्न किया जाय तो भी व्यक्ति अमर नहीं हो सकती, परंतु संघ अमर रहता है। व्यक्तिका आधार संघ है। व्यक्तिका बल संघके आश्रयसे है। जो बलवान व्यक्ति हुए उनको संघका बल प्राप्त हुआ था। संघकी शक्ति पीठपर रही तो ही व्यक्ति समर्थ हो सकती है और वह उस सामर्थ्यसे समाज या राष्ट्रका शासन कर सकती है।

समाज स्वतंत्र है, व्यक्ति समाजका सामर्थ्य प्राप्त करके ही कार्य कर सकती है। इसलिये समाज मुख्य है और व्यक्ति गौण है। चूंकि समाजके आश्रयसे व्यक्तिका अस्तित्व है, तथा व्यक्ति नाशवान् है, इसलिये सब धन ऐश्वर्य आदि संघका है, व्यक्तिका नहीं। धन किसी व्यक्तिके पास हो, पर उसपर समाजका अधिकार है और व्यक्ति केवल विश्वस्त है। जबतक उस धनका विश्वस्त होकर ही व्यक्ति कार्य करती रहेगी, तबतक उससे कोई उपद्रव नहीं होगा। पर जिस समय वह विश्वस्त नहीं रहेगी, उस समय वही धनी व्यक्ति समाजमें उपद्रव उत्पन्न करेगी। इसलिये व्यक्तिको विश्वस्त होकर धनका उपयोग करना चाहिये।

व्यक्तिके पास धन हो, पर मरनेके समय उस धनपरका उसका अधिकार नष्ट होता है, सब धन यहीं छोडना पडता है। इसलिये सब जान सकते हैं और अनुभवसे कह सकते हैं कि धन व्यक्तिका नहीं। इसीलिये यह धन समाजका है। क्योंकि समाज मरता नहीं, कमसे कम व्यक्तिकी अपेक्षासे समाज शाश्वत है। जो शाश्वत है उसीका सब धन है। उसीके सुख और आरोग्यके लिये सब धन है। इसमें व्यक्तिका सुख और आरोग्य आ जायगा।

समाजका शाश्वतपन और व्यक्तिकी अशाश्वतता देखनी चाहिये और व्यक्ति तथा समाजका सहकार कराकर दोनोंके विकास करनेका नियोजन नियत करना चाहिये। यह राष्ट्रीय नियोजनसे ही हो सकेगा। व्यक्तिके प्रयत्नसे कुछ बनेगा नहीं।

जगत्में संघवादी और व्यक्तिवादी ऐसे दो पक्ष प्रबल हैं। संघवादी व्यक्तिको पूर्ण परतंत्र करके उसकी स्वतंत्रताको मारते हैं और व्यक्तिवादी संघशक्तिकी पर्वा न करके व्यक्तिको पूर्ण स्वतंत्र करके समाजको अति निर्बल बना देते हैं। ये दोनों ही पक्ष अयोग्य हैं, तथा मानवताके विनाशक हैं। इसलिये इसी सूक्तने आगे (**यः तत् उभयं सह वेद**) दोनोंका सहकार अच्छा लाभकारी है ऐसा कहा है। यही सहकार वेदको संमत है और यह मानवोंके लिये लाभकारी भी है।

तृतीय सिद्धान्त—" त्यागसे भोग "

३ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः ।

'(समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है) इसलिये त्यागसे भोग करो।'

(३) समाजके आधारपर व्यक्ति रहती है, यह द्वितीय सिद्धान्त कहा। इसीसे व्यक्तिके भोगोंपर नियंत्रण आगया है। समाज है और समाजका धन है, मैं केवल विश्वस्त हूँ इसलिये मुझे उचित है कि मैं **समाजहितके लिये** अपने धनका योग्य विभाग प्रदान करके मैं अपने सुखके लिये अवशिष्टका भोग भोगूं। व्यक्तिके भोगपर यहां समाजका नियंत्रण आ रहा है। व्यक्ति अपने भोग ऐसे न बढावे कि जिससे समाजके दूसरे लोग वंचित रहें, भूखे रहें, नंगे रहें, बिना आश्रयके रहें।

शिष्य—त्यागसे भोग किस तरह हो सकता है? भोगसे तो भोग हो सकता है। पर त्यागसे भोग कैसा होगा।

गुरु—भोगसे भोगका अर्थ स्वयं उपभोग करना। पर मनुष्यकी उपभोग शक्ति मर्यादित है। जलेबी जितनी चाहे उतनी मनुष्य खा नहीं सकता, स्त्रीसंबंध अमर्याद कर नहीं सकता, एक समय अनेक वस्त्र पहन नहीं सकता, अनेक घर या अनेक वाहन उपयोगमें नहीं ला सकता। इस तरह भोगसे भोग करनेमें मनुष्यके लिये मर्यादाएं हैं। इस कारण अमर्याद भोग-साधन अपने पास संग्रहीत करनेसे मनुष्यको कोई लाभ नहीं हो सकता। इसीलिये 'अपरिग्रहवृत्ति' से रहनेका उपदेश शास्त्रकारोंने किया है। इससे स्पष्ट हुआ कि भोगसे भोग मनुष्य बहुत कर ही नहीं सकता।

अब त्यागसे भोग देखिये। यह जितना चाहिये उतना किया जा सकता है। आपके पास बहुत अन्न हो तो बहुतोंको आप खिला सकते हैं, खिलाइये और उनके समाधानसे आप अटूट समाधान प्राप्त कीजिये। यह त्यागसे भोग जितना चाहिये उतना हो सकता है और यह समाजका, संघका, जातिका, राष्ट्रका अथवा देशका बल बढा सकता है। संघके लिये यह हितकारी है। इसलिये त्यागसे भोग करना चाहिये यही युक्तियुक्त है।

शिष्य—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस मन्त्रभागका अर्थ **"उस ईश्वरने दिये भोगोंका भोग कर"** ऐसा सब करते हैं और आपने तो **'इस हेतुसे त्यागसे भोग कर'** ऐसा अर्थ किया है, यह कैसे युक्तियुक्त माना जा सकता है?

गुरु—देखो! 'तेन' यह पद उसके निकट पूर्वके पदोंके साथ संबंध रख सकता है बहुत दूर स्थित पूर्व पदोंसे संबंध मानना यह दूरान्वय है। दूरान्वय दोष है। वेदका अर्थ करनेमें दूरान्वय दोष नहीं होना चाहिये। निकट पूर्वमें '**जगत्यां जगत्**' ये पद हैं इनका अर्थ 'समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है' यह है। इसलिये 'इस हेतुके लिये त्यागसे भोग व्यक्तिको करना उचित है।' यह पूर्वापर संबंध देखकर इसका सरल अर्थ हुआ। व्यक्ति सर्वथा समाजके आधारसे जीवित रहनेवाली है, इसलिये व्यक्तिको उचित है कि अपना सर्वस्व समाजके लिये अर्पण करे और समाजके ऋणसे उऋण हो जावे। यह हेतु बतानेवाला '**तेन**' पद है। अतः इसका अर्थ 'इसलिये, इस कारण, इस हेतुसे, इस प्रयोजनसे' ऐसा है। यह पूर्वापर संबंधसे अर्थ होनेसे यह युक्तियुक्त है और हम बता भी सकते हैं, कि ऐसा न करना दुःखका हेतु हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति अपने पास सब भोग संग्रह करके रखता है और समाजको उनका समर्पण करता नहीं तो वह समाजमें दुःख बढाता है। कई व्यक्ति दुःख भोगते हैं और वे दुःखित व्यक्ति बलवा मचाते हैं और सब समाज अस्वस्थ हो जाता है।

अब और भी देखिये। यदि '**तेन त्यक्तेन भुंजीथाः**' पदोंका अर्थ 'ईश्वरने दिये भोगोंका भोग कर' ऐसा किया जायगा तो उसका भाव यह होगा कि जो धन जिसके पास है वह उसको ईश्वरने दिया है ऐसा वह माने और उसका भोग वह करे। लखपति करोडपति समझते ही हैं कि उनको वह धन परमेश्वरने दिया है, इसलिये उस धनपर उनका अधिकार है, अतः वे उसका अपने लिये भोग कर सकते हैं। यह धनिकोंके लिये जैसा चाहिये वैसा ही अर्थ है और आजके व्यवहारके अनुकूल भी अर्थ है। पर यह अर्थ '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' इसका नहीं है। एक तो परमेश्वरने किसको क्या दिया, इसका भी पता नहीं होता। किसी तरह शुभाशुभ मार्गोंसे प्राप्त किया धन अपने ही भोगके लिये है यह आसुरी वृत्ति है। इसीका समर्थन यज्ञीय जीवनका आदर्श मनुष्यके सामने रखनेवाला वेद करे यह मानना अयोग्य है। अतः सब धन यज्ञके लिये है

ऐसा वेदका आशय जो अन्यत्र भी प्रकट होता है वही यहां लेना योग्य है। और सब धन व्यक्तिका नहीं, यज्ञके लिये है, समाजके लिये है, उसका उपयोग समाजके लिये होना चाहिये, ऐसा मानना योग्य है। इसलिये "इस हेतुसे यज्ञ करके यज्ञावशिष्टका भोग अपने लिये करो" ऐसा हमने अर्थ किया है। और यही अर्थ युक्तियुक्त है और यही व्यक्तिका जीवन यज्ञमय बनानेवाला होनेसे आदरणीय है।

चतुर्थ सिद्धान्त—"लोभका त्याग"

४ मा गृधः

"लोभ न धर। मत ललचा"

(४) व्यक्तिके लोभसे ही समाजमें अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति शाश्वत टिकनेवाली भी नहीं है वह तो मरनेवाली है। कितने भी साधन किये तो भी एक व्यक्ति उस व्यक्तिके रूपसे शाश्वत रह नहीं सकती। अतः एक व्यक्तिने लोभ धारण करके यह धन मेरा है ऐसा मानकर अपने भोगके लिये अत्यधिक भोगोंका संग्रह किया, तो भी मृत्युके बाद वे सब भोग छोडकर उनको जाना ही पडेगा। सहस्रों यत्नोंके करनेपर भी वह धन उस कारण उसका है ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। इस कारण अशाश्वत व्यक्तिका धन नहीं है, उस व्यक्तिको वह धन छोडना ही पडता है। वह किसके पास वह देता है? समाजके पास देता है। लोग मानते हैं कि पुत्रके लिये छोडता है, पर यह धारणा भी अशुद्ध है, छोडनेवाला समाजके लिये छोड देता है, पुत्र उसपर अपना अधिकार जमा देता है, पर वह भी अपने पिताके समान ही किसी दिन उसको छोड ही देता है। अतः अन्तमें वह समाजका होकर रहता है। अपुत्रका धन समाजका या राष्ट्रका होता है इसका अर्थ यही है कि जिसका वह था उसके पास वह पहुंच गया। इसलिये किसी एक व्यक्तिका कोई धन नहीं है। उसका जीवन भी समाजसेवाके लिये ही है, उसने भोग भोगकर जीवित रहना है, तो वह समाजसेवा—जनताजनार्दनकी सेवा—के लिये ही है। इसलिये व्यक्ति यह समझे कि मैं इस धनका विश्वस्त हूं और विश्वस्त जैसा व्यवहार व्यक्ति करे और धनको समाजकी सेवा में लगावे अर्थात् उसका यज्ञ करे। धनका उपयोग यही है। अतः कहा है कि "लोभका त्याग करो।" लोभसे ही सब दुःख होते हैं।

पञ्चम सिद्धान्त—"धनपर प्रजापतिका अधिकार"

५ कस्य स्विद् धनम्

"किसका भला धन है?" (प्रजापालकका धन है।)

(५) किसका धन है? क्या व्यक्तिका धन है? व्यक्ति शाश्वत नहीं रहती इसलिये व्यक्तिका धन नहीं है। फिर धन किसका भला है? सोचो, विचारो, मनन करो। और विचारपूर्वक जान लो कि व्यक्ति जिस धनको छोडकर चली जाती है वह धन समाजका ही होता है। जिसका सचमुच था उसका वह हो जाता है। इसलिये पहिले ही से मान लो कि यह सब धन समाजका ही है।

'कः' नाम 'प्रजापति' का है। यह धन प्रजापतिका है, प्रजाकी पालनाके लिये ही यह धन है। प्रजापति प्रजाका रक्षक और प्रजाका सच्चा प्रतिनिधि है, यह आद्य सेवक है। इसके पास सब धन रहेगा और वही प्रजापालनके कार्यमें उसका व्यय करेगा। यह राज्य प्रबंधद्वारा ही होगा।

प्रजा, समाज या राष्ट्र शाश्वत रहनेवाला है, व्यक्तियां मरती रहेंगी। इसलिये व्यक्तिका धन नहीं, परंतु वह सब धन समाजका है। जो जिसका है वह उसीके लिये व्यय होना उचित है। इस उद्देश्यको प्रकट करनेके उद्देश्यसे 'कः' का अर्थ शतपथ ब्राह्मणकारने '**कः वै प्रजापतिः**' अर्थात् 'कः' का अर्थ 'प्रजापति' बताया है। प्रजापति प्रजाका पालक है और जो अपने पास धन रखता है वह प्रजाकी पालनाके लिये ही रखता है। प्रजापति यह व्यक्ति नहीं है वह कार्यालय है। एक प्रजापतिकी व्यक्ति मर गयी तो दूसरा प्रजापति उस कार्यालयमें आता है, अथवा प्रजा दूसरेको वहांके कार्यके लिये नियुक्त करती है। इस तरह कार्यालयके रूपमें प्रजापति स्थायी रहता है। क्योंकि प्रजा सनातन रहनेवाली है इसी तरह प्रजापति कार्यालयके रूपमें स्थायी रहनेवाला है, व्यक्तिके रूपमें न रहे। इसलिये प्रजापतिका धन और प्रजाका धन इसका एक ही भाव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि धन प्रजापालक संस्थाका है किसी एक व्यक्तिका नहीं है। व्यक्ति विश्वस्तके रूपमें धनको अपने पास रखे, पर समाजको या राष्ट्रको आवश्यकता उत्पन्न होनेपर व्यक्तिको वह धन प्रजापालकके हवाले करना चाहिये।

सरकार प्रजाका पालन करनेके लिये प्रजासे कर रूपसे धनिकोंसे जो धन लेती है उसका यही कारण है। अस्तु।

शिष्य--आपने तो यह सब राज्यशासन और करग्रहणके स्वरूपमें जो कहा वह निःसंदेह नया विवरण है। आजतकके टीकाकार '**मा गृधः कस्य स्विद्धनं**' का अर्थ 'किसीके धनका लोभ न कर' ऐसा करते है। आपने इसके दो टुकडे किये और पृथक् पृथक् सिद्धान्त रूपसे इनका राज्यशासनका भाव बताया। इसलिये संदेह होता है कि '**मा गृधः। कस्य स्विद्धनं**'? ऐसे दो विभाग इसके हैं अथवा '**मा गृधः कस्य स्विद्धनं**' ऐसा एक ही यह वाक्य है ?

गुरु— टीकाकारोंने '**मा गृधः कस्य स्विद्धनं**' ऐसा एक ही वाक्य मानकर अर्थ किया है यह मैं जानता हूं। पर तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे वह ठीक नहीं है। किसीके धनका अपहरण न कर यह कहनेकी ही आवश्यकता नहीं है। जो दूसरेका है वह लेनेसे चोरी होगी और चोरी तो नहीं करनी चाहिये। यह विना कहे भी सर्वमान्य आचार है। यह धन दूसरेका है, इसीसे सिद्ध हुआ कि उसका अपहरण करना नहीं चाहिये। पर इससे अर्थापतिसे एक महा अनर्थकारक विचार प्रकट होता है वह यह कि--

'दूसरेके धनका तो तू अपहरण करके उसका भोग न कर, परंतु अपने धनका भोग यथेच्छ करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।' यह राष्ट्रीय स्वास्थ्यकी दृष्टिसे बडा अनर्थकारक और हानिकारक भाव है। समाज और व्यक्तिका संबंध बता कर कोइ कहे कि समाज स्थायी है और व्यक्ति मरनेवाली है, इसलिये धन सब समाजका है, वह किसी एक व्यक्तिका नहीं, यह उत्तम सिद्धान्त बतानेके पश्चात् यदि वेदने अपने धनका यथेच्छ उपभोग लेनेकी अनुमति दी, तो इसके पूर्वका सब कथन ही टूट गया ऐसा सिद्ध होगा। और वह आयोग्य ही होगा। कई लोग करोडपति होते हैं, वे अपने धनका स्वयं भोग करें, यह कहना स्वार्थको बढाना है, यह युक्तियुक्त भी नहीं। परिग्रह वृत्ति व्यक्तिमें न रहेगी तो वह समाजकी शान्तिमें उपद्रव उत्पन्न करेगी। इसलिये मनुष्योंको अपरिग्रहकी ओर लाना चाहिये। इसलिये--

१ **त्यक्तेन भुञ्जीथाः**=त्यागसे भोग कर,
२ **मा गृधः**=लोभ न धर,
३ **कस्य स्विद् धनं**=किसका भला धन है ? (निःसंदेह प्रजापालकका धन है।

ये तीन उपदेश अपरिग्रहकी ओर जनताको लेजाते हैं और सामाजिक शान्तिके लिये ये तीनों योग्य तथा आवश्यक भी हैं। इसलिये ऐसे ही विभाग करके अर्थ करना योग्य है। (१) त्यागसे भोग, (२) लोभका त्याग, (३) व्यक्तिका धन नहीं ये सिद्धान्त एक विशेष ध्येयकी ओर जनताको आकर्षित करते हैं। उसके स्थानपर—

१ ईश्वरने दिये धनका भोग कर
२ किसीके धनका अपहरण न कर

इनमें अपने धनका यथेच्छ उपभोग करनेकी आज्ञा ही है। इस प्रवृत्तिसे पूंजीपतिवाद निर्माण होता है जो जनतामें अशान्ति निर्माण करता है। इसको हटानेके लिये (१) त्यागसे भोग, (२) लोभ त्याग, (३) धन प्रजापतिका है, किसी एक व्यक्तिका नहीं ये उपदेश विशेष उच्च सामाजिक व्यवस्थाकी घोषणा कर रहे हैं और यह सामाजिक व्यवस्था निःसंदेह विशेष उच्च मानवता की स्थापना राष्ट्रमें करनेवाली है।

राज्य शासनमें इन सिद्धान्तोंका पालन होना चाहिये। अच्छे राज्यशासनमें इन सिद्धान्तोंका पालन होता है।

षष्ठ सिद्धान्त='**कर्मयोगका आचरण**'

६ कुर्वन्नेवेह कर्माणि

'यहां कर्मोंको करते रहो।'

(६) यहां कर्मोंको करना चाहिये। इस संसारमें कर्मयोगका आचरण अवश्य करना चाहिये। '**कर्म, अकर्म,** और **विकर्म**' ये कर्मके तीन भेद हैं। जो व्यक्तिका और समाजका घात करनेवाले होते हैं वे '**विकर्म**' हैं, ये कभी करने नहीं चाहिये। व्यक्तिकी अवनति और समाजकी अधोगति जिससे होती है वह विकर्म है, वह करना नहीं चाहिये। व्यक्तिका अस्तित्व टिकनेके लिये ही केवल जो साधक होते हैं, वे '**अकर्म**' हैं जैसे व्यक्तिका स्नान, भोजन आदि। ये समाजकी दृष्टिसे अकर्म हैं। ये करनेसे भी समाजकी स्थितिमें विशेष परिवर्तन नहीं होता। केवल व्यक्तिको ये सुरक्षित रखते हैं। इसलिये करनेपर भी ये सामाजिक दृष्टिसे न करनेके बराबर ही हैं। व्यक्तिने अपने लिये स्नान किया, व्यायाम किया, भोजन किया, कपडे पहन लिये तो विशेष कुछ

न बना। इसलिये इनके करने पर भी न करनेके समान ही समाजस्थिति रहती है इसलिये ये 'अकर्म' हैं। ये करने तो अवश्य चाहिये। पर इतने ही करनेसे मनुष्य कृतकृत्य नहीं हो सकता इस तरह विकर्म करने नहीं चाहिये, और अकर्म करने चाहिये, पर वे सामाजिक या राष्ट्रकी सामूहिक दृष्टिसे न करनेके समान ही हैं। इसलिये अब अवशिष्ट रहे 'कर्म' ये हरएकको अवश्यमेव करने चाहिये।

कर्म वे हैं कि जो समाज, समष्टि, तथा राष्ट्रकी उन्नतिके लिये साधक होते हैं। सर्वजनहितकारक कर्म, जनताकी उन्नतिके लिये आवश्यक तथा साधक कर्म। जैसा नगरका आरोग्य संरक्षण, सार्वजनिक शिक्षण, आदि सर्वजनहितके अनेकानेक कर्म इस कर्ममें आते हैं। इनका ही नाम यज्ञ है। ये भी श्रेष्ठतम कर्म होनेयोग्य करने चाहिये। कर्म, श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठतर कर्म और श्रेष्ठतम कर्म ऐसे इन कर्मोंमें भेद हैं। यत्न ऐसा करना चाहिये कि अपने द्वारा श्रेष्ठतम कर्म हो उत्तमसे उत्तम कर्म पूर्ण कुशलताके साथ उत्तम त्यागभावसे करने चाहिये।

ऐसे कर्म करनेका नाम ही कर्मयोग है। इसका आचरण करना प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य ही है। इनके करनेसे ही मनुष्य कृतकृत्य होता है। सार्वजनिक हितके कर्म करना इस तरह प्रत्येक नागरिकका कर्तव्य है। ये कर्म करनेका आदेश यहां दिया है।

राज्यप्रबंध द्वारा ऐसी शासन-व्यवस्था होनी चाहिये कि जिससे मनुष्य अवनतिकारक विकर्म न करे। यदि कोई करे तो उसको राज्यशासन द्वारा योग्य दण्ड दिया जावे, जिससे अन्य लोग वैसा हानिकारक कर्म न करें। प्रत्येकके अस्तित्वके लिये आवश्यक स्थान-भोजन आदि अन्न प्रत्येक को। इसमें कोई बाधा न डाले ऐसा करना राज्यशासनका कर्तव्य है। प्रत्येकको रहनेके लिये स्थान हो, खानेके लिये योग्य अन्न हो, ओढने पहननेके लिये वस्त्र मिले, करनेके लिये योग्य काम मिले और कार्य करनेपर योग्य धन भी मिले, बीमारी होनेपर रोगशमनार्थ औषधि मिले, योग्य समयमें विश्राम मिले, मनोरंजनके लिये अवसर मिले, आवश्यक शिक्षण मिले, इस तरह प्रत्येक व्यक्ति उत्तम कर्म उत्तम रीतिसे करनेमें समर्थ होने योग्य प्रबंध राज्यव्यवस्था द्वारा हो और कोई मनुष्य इन आवश्यकताओंसे वंचित न रहे। इसकी देखभाल राज्यशासनके द्वारा हो।

इस तरह प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी सुयोग्य कर्ममें कुशल बननेपर वह अपने कर्मसे समाजकी सेवा करनेके लिये श्रेष्ठसे श्रेष्ठ कर्म करता रहे। अपने कर्मसे ही राष्ट्र-पुरुषकी सेवा करनी चाहिये। यह सेवा हरएक करे और कोई उसके मार्गमें प्रतिबंध न कर सके। ऐसी राज्यव्यवस्था हो।

सप्तम सिद्धान्त—" दीर्घायु बनो "

७ जिजीविषेच्छतँ समाः ।

'सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करें।'

(७) शतायुषी होनेकी महत्त्वाकांक्षा मनमें धारण करनी चाहिये। आजकल 'क्षणभंगुर संसार' का अवैदिक वाद प्रचलित हुआ है। सभी आज बोलते हैं कि 'यह दुनिया दो दिन की है' सब नाशवंत है, सब संसार क्षणिक है। ये सब विचार अवैदिक हैं। ये सब दूर करने चाहिये और 'मैं सौ वर्ष जीऊंगा, सौ वर्ष प्रवचन करूंगा, सौ वर्ष श्रेष्ठ कर्तव्य करता रहूंगा और सौ वर्षोंसे भी अधिक जीवित रहूंगा' ऐसे वैदिक विचार मनमें धारण करने चाहिये। जो जैसी इच्छा करता है वैसा वह बनता है। इसलिये क्षणभंगुरवादी शीघ्र विनष्ट होते हैं और शतायु होनेकी इच्छा करनेवाले दीर्घजीवी होते हैं।

यहां (**शतं समाः जिजीविषेत्**) सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे ऐसा कहा है, इसका अर्थ केवल १०० वर्ष इतने ही नहीं है। 'इच्छा' प्रौढ मनुष्य करता है। बालक या युवक इच्छा करनेमें और उसे प्रभावी बनानेमें असमर्थ ही है। ८ वर्षका बालपन और उसके पश्चात् १२ वर्षका ब्रह्मचर्य अर्थात् विद्याध्ययनकी आयु मिलकर २० वर्ष होते हैं। इस बीसवें वर्ष मनुष्य विद्वान् और अपनी स्वतंत्र इच्छाशक्तिसे अपना भविष्य बनानेवाला होता है। अतः ये २० वर्ष और १०० वर्ष पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी आयु मिलकर १२० वर्षकी आयु होती है। २० वर्ष होनेपर ही सौ वर्ष मैं जीऊंगा और उससे पहिले नहीं मरूंगा ऐसी इच्छा मनुष्य कर सकता है। इस तरह मानवी आयु १२० वर्षकी है। फलज्योतिष जन्मपत्री बनाते हैं वे विंशोत्तरी (१२० वर्ष आयु) मानकर करते हैं। दूसरा गणित अष्टोत्तरी (१०८ वर्षकी आयु) मान-

कर किया जाता है। इस तरह १०८ या १२० वर्षकी आयु सामान्यतः ज्योतिषमें मानी है। इसलिये १०० वर्षकी आयु अपनी हो ऐसी इच्छा मनुष्य तरुण बननपर करे यह इस मंत्र द्वारा कहा है।

वैदिक समयमें कई लोग १५० या १७० वर्ष भी जीवित रहते थे और कई ७० या ८० वर्षमें यह शरीर छोडते थे। इस तरह औसद आयु राष्ट्रके वीरोंकी १०० वर्षकी होती है। राज्यप्रबंध द्वारा ऐसी सुचारु व्यवस्था होनी चाहिये, कि राष्ट्रके प्रजाजनोंकी औसद आयु १०० वर्षकी बने।

इस समय भारत वर्षके लोगोंकी औसद आयु २५ वर्षकी है, यूरप अमेरिकामें यह ६७ वर्षकी है। वैदिक राज्यशासनमें यह औसद आयु १०० वर्षकी थी। राज्यशासनके सुप्रबंधसे राष्ट्रकी औसद आयु बढ जाती है।

बालमृत्यु, अल्प आयुमें मृत्यु तथा अकाल मृत्युका उत्तर-दायित्व राज्यशासनपर सर्वथा है। अकेली व्यक्ति इस विषयमें कुछ कर नहीं सकती। राष्ट्रका आरोग्य संवर्धन, राष्ट्रका जीवनक्रम, राष्ट्रमें शान्ति, राष्ट्रमें धर्मका आचार तथा शील जितना होगा, उतनी आयु राष्ट्रकी बढ सकती है।

राष्ट्रका शासन-प्रबंध ऐसा होना चाहिये कि जिससे राष्ट्र पुरुषोंकी आयु बढती जाय और वह औसद १०० वर्ष तक पहुंच जाय। राज्यशासन ठीक है या नहीं वह इससे सिद्ध हो सकता है।

अष्टम सिद्धान्त—"श्रद्धाकी धारणा"

८ एवं त्वयि

'ऐसा (ज्ञान) तेरे अन्दर (स्थिर रहे।)'

(८) इस समय तक जो सात सिद्धान्त कहे, उनमें जो आदेश दिये हैं वे साधकके अन्दर स्थिर रहें। इस समय तक यह ज्ञान दिया है—(१) जिसमें शासन सामर्थ्य होगा वही इस विश्वपर प्रभुत्व कर सकता है, (२) इस विश्वमें संघके आधारपर व्यक्ति रहती है, अतः संघ स्थायी तथा मुख्य है और व्यक्ति संघकी सेवा करनेके लिये है। व्यक्ति मरती है पर संघ अमर रहता है, (३) इसलिये व्यक्तिको उचित है कि वह अपने भोगोंका समाजहित करनेके उद्देश्यसे यज्ञ करे और यज्ञ करके जो अवशिष्ट रहेगा, उसका स्वयं भोग करे, (४) लोभ नहीं करना चाहिये, लोभके कारण सब दोष होते हैं, (५) धन प्रजापतिका है और वह सब प्रजाजनोंके हित करनेके लिये है धन किसी भी व्यक्तिका नहीं है, (६) इस जगत्में समाजहित करनेके लिये मनुष्य विविध श्रेष्ठतम कर्तव्य करता रहे, आलस छोड देवे. और (७) मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहनेकी महत्त्वाकांक्षा धारण करे और तदर्थ यत्न करता रहे। यह सप्तविध धर्म इस समयतक कहा है।

यह सात प्रकारका धर्म मनुष्यके अन्तःकरणमें सुस्थिर रहे। किसी तरह मनुष्य इसको न भूले। इन सिद्धान्तोंपर अचल श्रद्धा रखे और इनका पालन करनेकी पराकाष्ठा करे। इसीसे व्यक्ति की तथा समाजकी सच्ची उन्नति होगी।

राज्यशासन द्वारा ऐसा सुप्रबंध रखा जाय कि जिससे इन सिद्धान्तोंका पालन व्यक्ति तथा संघ करते जाय और उनमें किसी तरहका विघ्न न हो।

नवम सिद्धान्त-"अन्य मार्ग नहीं है।"

९ नान्यथेतोऽस्ति।

(इतः अन्यथा नास्ति)

'इससे भिन्न उन्नतिका दूसरा मार्ग नहीं है।'

(९) पूर्वोक्त आठ सिद्धान्तोंके द्वारा जिस मानव धर्मकी घोषणा हुई, उससे विभिन्न दूसरा कोई मार्ग मानवी उन्नतिके लिये नहीं है ऐसा मानना। यह भी मार्ग है और दूसरा भी है, सभी मार्ग वहीं पहुंचते हैं, ऐसे गोलमाल विचार मनमें रखने नहीं चाहिये। इससे श्रद्धाका बल प्राप्त नहीं होता और किसी भी मार्गपर विश्वास नहीं बैठता। इसलिये 'यही अष्टविध धर्ममार्ग मानवी उन्नतिके लिये है, इससे भिन्न दूसरा कोई मार्ग नहीं ऐसा मानना मानवी समाजके हितके लिये और उसके संघटनके लिये अत्यंत आवश्यक है।

सब मार्ग वहां पहुंचाते हैं ऐसा मानना भी एक भ्रम है। इस भ्रमको दूर करना चाहिये। मानवी उन्नतिका यही एक मार्ग है इससे भिन्न दूसरा कोई मार्ग नहीं ऐसा मानना ही योग्य है। यह पुरुषार्थ प्रयत्नका मार्ग है। यहां तक नौ सिद्धान्त कहे, दसवाँ भी एक है वह अब देखिये—

दशम सिद्धान्त="सत्कर्मका प्रभाव"

१० न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

'कर्मका लेप नरको नहीं लगता।'

(१०) कर्मके तीन भेद इससे पूर्व (छठे सिद्धान्तके

[विव]रणमें) बताये हैं। 'विकर्म' हानिकारक होनेसे करने नहीं [च]ाहिये, 'अकर्म' व्यक्तिके अस्तित्वके लिये आवश्यक होनेसे [क]रने ही चाहिये। इनसे व्यक्ति समाज-सेवा करनेके लिये [स]मर्थ होती है इसलिये इनको करना आवश्यक है। सर्वजन-[]हितकारक जो हैं वे ही 'कर्म' कहलाते हैं। ये अवश्य करने चाहियें। कई लोग कहते हैं कि सभी कर्मोंका लेप मनुष्यको लगता है यह सत्य नहीं है। सर्वजनहितकारी कर्म करनेसे [उ]सको कोई दोष नहीं लगता, इस दशम सिद्धान्तपर भी विश्वास रखना चाहिये।

सर्वजनहितकारी कर्म मनुष्यको अवश्य करने चाहिये। इनको त्यागना नहीं चाहिये। इनको उत्तमसे उत्तम विधिसे करना चाहिये। इनके करनेसे मनुष्यको दोष नहीं लगता। हानिकारक विरुद्ध कर्म करनेसे मनुष्य दोषी होता है, वैयक्तिक कर्म करनेसे व्यक्तिका सुधार होता है और सर्वजनहितकारी कर्म करनेसे मनुष्यको दोष नहीं लगता।

यहां 'नर' को दोष नहीं लगता ऐसा कहा है। सबको दोष नहीं लगता ऐसा नहीं कहा। **'न-र' (न रमते)** जो भोगोंमें नहीं रमता वह 'नर' है। भोगोंपर जो आसक्त नहीं होता, वह उसी वृत्तिसे सर्वजनहितकारी कर्म करता है, उन कर्मोंसे उसको दोष नहीं लगता। कर्मदोषसे मुक्ति मिलनेका यह साधन है।

यहांतक दस सिद्धान्त मानव धर्मके कहे। ये ही आत्मोन्नतिके सिद्धान्त हैं। इनके मननसे अर्थापत्तिसे आत्मघातके और अवनतिके मार्गोंका भी पता लगता है। अतः इन दोनों मार्गोंकी तुलना यहां करते हैं—

दोनों मार्गोंकी तुलना

उन्नतिका मार्ग	अवनतिका मार्ग
१ ईश्वर अपने सामर्थ्यसे इस विश्वपर शासन करता है। (सामर्थ्यवान् अपने सामर्थ्यसे विश्वपर अधिकार चलाता है।)	१ ईश्वर नहीं है। होगा तो वह पांचवें आसमानमें होगा। वहांसे वह अपने प्रतिनिधिके द्वारा इस विश्वका राज्य चलाता है।
२ इस विश्वमें समष्टिके आधारसे व्यक्ति रहती है। समष्टि शाश्वत है और व्यक्ति नश्वर है। समष्टिके हितके लिये व्यष्टिकी सेवा करना योग्य है। और समष्टिसे व्यष्टिका संरक्षण होना योग्य है। समष्टि-व्यष्टिका सहकार होना योग्य है।	२ समष्टिकी संगठना करके व्यक्तिका स्वातंत्र्य नष्ट करना, अथवा व्यक्तिका स्वातंत्र्य बढाकर संघशक्तिका नाश करना। व्यक्ति और समाजका सहकार्य न होने देना।
३ समष्टि-व्यष्टिका सहविकास करनेके लिये त्यागसे भोग करना, यज्ञ करके जो अवशेष रहेगा उसका स्वयं भोग करना।	३ संपूर्ण स्वार्थभोग बढाते रहना, भोगोंपर मर्यादा न रखना। भोगविलासोंकी अमर्याद वृद्धि करना।
४ लोभका त्याग करना।	४ लोभको बढाते जाना।
५ धन समष्टिका है, प्रजापालक संस्थाका धन है, प्रजापालनके लिये धन है, व्यक्तिका धन नहीं है ऐसा मानना। व्यक्ति विश्वस्त रूपसे धन अपने पास रखे, पर उसका उपयोग समष्टिके हितके लिये करे।	५ व्यक्तिका धन है, व्यक्ति अपने पास धन-संग्रह करता रहे। धनकी पूंजी अपने पास बढाते जाना और समष्टिके हितके लिये धनका दान न करना।
६ इस जन्ममें श्रेष्ठतम कर्म करना। ये कर्म सर्वजनहितके लिये करते रहना।	६ स्वार्थभोग बढानेके लिये कर्म करना।
७ सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करना, इस दीर्घायुमें शुभ कर्म करते रहना।	७ संसारको क्षणभंगुर मानकर कर्मका त्याग करना।
८ पूर्वोक्त विचार मनमें स्थिर रखना।	८ किसी विचारपर मन स्थिर न रखना।
९ इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है ऐसा मानना।	९ सब मार्ग प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचाते हैं ऐसा भ्रान्त विचार मनमें रखना।
१० श्रेष्ठ कर्मका लेप नहीं लगता ऐसा मानना।	१० सब कर्म बंधनकारक हैं ऐसा मानना और कर्म छोडना।

यहां दो तालिकाएँ दी हैं। एकमें मानवी उन्नतिके दस सिद्धान्त दिये हैं, और उसके सामने दूसरे कोष्टकमें मानवकी अधोगति करनेवाले दस मत दिये हैं। मानवी उन्नतिके इन दस सिद्धान्तोंसे मनुष्य समाजकी सच्ची उन्नति होनेके लिये, इन सिद्धान्तोंको व्यवहारमें लानेके लिये सदा कटिबद्ध रहनेवाली अध्यात्मिक राज्यशासन प्रणालीही राष्ट्रके शासन-कार्यमें प्रयुक्त होनी चाहिये। अध्यात्मके सिद्धान्तोंपर जिसकी रचना हुई है ऐसा राज्यशासन प्रणाली ही संपूर्ण राष्ट्रका तथा संपूर्ण मानवसमाजका उद्धार कर सकेगी। इसका स्वरूप संक्षेपसे अब देते हैं—

अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासनके तत्त्व
(वैयक्तिक तथा सामाजिक)

(१) समर्थ मनुष्य अथवा समर्थ समाज इस विश्वपर अपना प्रभाव स्थापन कर सकता है। यह जानकर व्यक्तिको, समाजको, जातिको अथवा राष्ट्रको प्रभावशाली बनाना हो तो उसे विश्वके साथ अविरुद्ध रहकर अपना संगठन करना चाहिये। कदाचित् एक व्यक्ति विशेष प्रभावी बन भी सकती है और उसका प्रभाव विश्वपर पड भी सकता है, पर यदि समाज, जाति या राष्ट्रको प्रभावशाली करना हो तो वह कार्य राज्यशासन-व्यवस्थासे ही हो सकता है। ऐसा सुसंघटित बलवान् समाज विश्वपर अपना प्रभाव जमा सकता है।

(२) व्यक्ति तथा समाजका परस्पर सहकार्यमें विश्वास होना चाहिये। व्यक्ति अपना जीवन समाजके हित करनेके लिये देवे और समाज व्यक्तिको सुरक्षित रखे। यह राज्यशासन-व्यवस्थासे ही होनेवाला कार्य है। व्यक्ति स्वार्थी बनकर अपना विकास कर सकेगी, समाज भी अपने स्वार्थके लिये संघटित होकर अपना बल बढा सकेगा। पर व्यक्ति और समाजका सम विकास करना हो तो वह कार्य सुयोग्य राज्य-शासनके प्रबंधसे ही हो सकता है।

(३-४) त्यागसे भोगका और लोभका त्याग ये तत्त्व वैयक्तिक आचरणमें लाये जा सकते हैं। पर यदि ये राज्यशासनके राष्ट्रीय नियोजनके द्वारा व्यवहारमें लाये गये, तो वे राष्ट्रके विकासके लिये अधिक सहायक हो सकते हैं।

(५) धन सबका सब प्रजापतिका है, किसी एक व्यक्तिका उसपर अधिकार नहीं है। 'प्रजापति' का अर्थ 'प्रजाका पालन करनेवाली संस्था है। इसीको नाम 'राज्यशासन करनेवाली संस्था' है। इसको 'कः' भी कहते हैं। 'क' का अर्थ 'सुख' है। यह राज्यशासन जनताको सुख देता है इसलिये इसको प्रजापति कहते हैं। राष्ट्रका सब धन इस प्रजापति संस्थाका है। इस धनको अपने अधिकारमें लाकर उसके योग्य उपयोगसे सब जनताका योगक्षेम सुचारु रूपसे चलाना, सबकी उन्नति होनेके मार्ग सबके लिये खुले रखना और किसीकी उन्नतिमें रुकावट न होने देना यह राज्यव्यवस्थाके प्रबंधसेही होनेवाला कार्य है। कोई एक व्यक्ति यह नहीं कर सकती।

(६-७) मनुष्य श्रेष्ठ कर्म करें और १०० वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करें। राष्ट्रकी आयुष्य वृद्धि करनेका कार्य तो राज्यशासन प्रबंधसे ही हो सकता है। राष्ट्रके आरोग्यकी वृद्धि करना, राष्ट्रमेंसे रोगोंको हटाना, जनताकी कार्यक्षमता बढाना, उनके द्वारा श्रेष्ठतम कार्य होनेकी व्यवस्था करना, जनतामें बडे और बडे कार्य करनेका सामर्थ्य विकसित करना यह सब राष्ट्र-शासनके सुप्रबंधसे ही हो सकता है। राज्यशासनके सुप्रबंधसे राष्ट्रकी जनताकी आयु १०० वर्षोंकी हो सकती है। एक एक व्यक्ति कितने भी नियमोंका पालन करती रहेगी तो भी वह राष्ट्र-शासनके सुप्रबंधके समान कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकती। केवल किसीकी कल्पनासे ही मनुष्य १०० वर्ष जीवित नहीं रह सकता और कोई व्यक्तिको वैसी आयु प्राप्त हुई तो भी उसमें कुछ विशेष लाभ नहीं। यहां तो राष्ट्रकी औसद आयु १०० वर्षकी होनी चाहिये। यह कार्य राष्ट्रके प्रबंधसे ही हो सकता है।

(८-१०) ये पूर्वोक्त तत्त्व-विचार ध्यानमें धारण करने और इससे भिन्न दूसरे कोई विचार मानवोंकी उन्नति करनेवाले नहीं है ऐसा मानना चाहिये। यह ऐसी श्रद्धा बनी रहनी चाहिये। इसी तरह सर्वजनहितकारी श्रेष्ठ कर्म मनुष्यको दोष नहीं लगाते यह भी जानना चाहिये। यह तो व्यक्ति भी कर सकती है, पर राष्ट्रकी जनतामें ऐसा विचारोंका परिवर्तन करना हो तो वह कार्य राष्ट्रकी शिक्षामें ही ओजस्वी विचारोंका समावेश करनेसे ही हो सकता है। अर्थात् यह राज्यशासनके सुप्रबंधसे ही हो सकता है। (अपूर्ण)

करनेवाला कारण है वह परमात्मा (असोः) प्राणका (पौत्रः) नरकादि दुर्गतिसे रक्षा करनेवाला और (पितामहः) पिताका भी पिता अर्थात् कारणोंका भी कारण है। (सः) वह परमात्मा (विश्वस्य) सारे ब्रह्माण्डका (ईशानः) स्वामी अर्थात् ईश्वर होकर (क्षियति) सब जगह वास करता है वह परमेश्वर (वृषा) ऋग्वेदादिके ज्ञानकी वर्षा करनेवाला होता हुआ अथवा सबसे बलवान् (भूम्याम्) पृथिवीपर (अतिष्ठथः) सबसे श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

(अथर्व. २।१।३)

ऋचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि। येऽग्नयः पाञ्चजन्याऽस्यां पृथिव्यामधि। तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव ॥ ६७ ॥

(वा० य० १८।६७)

अर्थ— [सः] वह परमात्मा [नः] हम प्राणी और अप्राणी सबका [पिता] पालना करनेवाला और [जनिता] उत्पन्न करनेवाला आदि कारण अर्थात् पिता हैं [उत] और [सः] वह परमात्मा [बन्धुः] बन्धु अर्थात् अपने गर्भमें बन्धन करनेवाली माता है। वह परमात्मा ही [विश्वा] सारे [भुवनानि] भूतमात्रको यद्वा स्थानोंको [वेद] जानता है। [यः] जो परमात्मा [देवानाम्] अग्नि, वायु आदि देवताओंके [नामध] नामोंके धारण करनेवाला [एकः] एक अक्षर ओमूकार [एव] ही है [सर्वा] सब भूतमात्र [संप्रश्नम्] अच्छी तरह प्रश्नपूर्वक जाननेयोग्य [तम्] उस परमात्माको [यन्ति] प्रलयकालमें प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ हे जीवात्मन्! [ऋचः नामास्मि, यजूंषि नामास्मि सामानि नाम अस्मि] ऋक्सामयजुःस्वरूप मैं ही हूं यह बात प्रसिद्ध है। और [ये अग्नयः] जो ज्ञानी प्राणी [पाञ्चजन्याः] मनुष्यमात्रके हित करनेवाले [अस्यां पृथिव्याम्] इस पृथ्वीपर [अधि] स्थित हैं, हे परमात्मन्! [तेषाम्] उन सबमेंसे [उत्तमः] अत्यन्त श्रेष्ठ हैं इसलिये [नः] हमारे [जीवातवे] जीनेके लिये [प्रसुव] प्रेरक हो अर्थात् आपकी भक्ति करनेके लिये हमारा जीवन अधिक हो ६७ ॥

तुलना— भगवद्गीतामें परमात्माने अपने आपको जगत्का पिता और माता और पितामह, धाता, और सब पदार्थोंमें श्रेष्ठ जाननेयोग्य, और ओंकार रूप तथा ऋग्यजु० सामक स्वरूप अपने आपको बताया है।

वेदमें भी परमात्मा ही जगत्का पिता, माता, भाई, समग्र पदार्थोंके जानने वाला, सबमें वास करनेवाला और वेदत्रयी स्वरूप अपना बताया है।

(१८)गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

[भगव. अ. ९,१८]

अर्थ— मैं परमात्मा ही इस जगत्का [गतिः] कर्मफल अर्थात् स्वर्गादि या मुक्तिस्थान अथवा देवयान, पितृयान मार्ग और [भर्ता] सारे संसारको अन्न वस्त्रादिद्वारा पालन करनेवाला अथवा कामनाओंके पूर्ण करनेवाला और [प्रभुः] इस ब्रह्मांडका स्वामी [साक्षी] सब शुभ और अशुभ कर्मोंके देखनेवाला और [निवासः] सबका निवास-स्थान [शरणम्] दुःखियोंका सहारा अर्थात् दुःखियोंके सुरक्षित होनेका स्थान और [सुहृत्] प्राणी और अप्राणियोंका विना प्रयोजन उपकार करनेवाला और [प्रभवः] सबका उत्पति स्थान और [प्रलयः] सब पदार्थोंके लयका स्थान और [स्थानम्] सृष्टिकी स्थितिका स्थान और [निधानम्] कार्य और कारण प्रपञ्चका अधिष्ठान और [अव्ययम् बीजम्] विकाररहित सदा वर्तमान अविनाशी बीज अर्थात् कारण हूं ॥ १८ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः। स प्रत्युदैद्धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत ॥ १ ॥

(अथर्व० ७।४।१)

अर्थ— [अया- प्रथमाया आकारादेशः] यह परमात्मा, [विष्ठा] विविध प्रकारकी सृष्टिका साधनरूप [कर्वराणि] नाना

प्रकारके कर्मों और उनके फलोंको [जनयम्] उत्पन्न करता हुआ यद्वा स्वस्वकर्मानुसार पदार्थोंको उत्पन्न करता हुआ सबका प्रभु है। [सः] वह परमात्मा [हि] निश्चयसे [घृणिः] प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप और [वराय] वरने योग्य भक्तके लिये [उरुः] महान् [गातुः] गतिस्वरूप है। [स] वह परमात्मा ही [धरुणम्] सबके धारण करनेवाला, और [मध्वः] मधुर मधुर [अग्रम्] सार अर्थात् बीजरूप [प्रत्युदैत्] सबके प्रति उदय होता है। अर्थात् सबका बीज-स्वरूप वही परमात्मा है। वह परमात्मा ही [स्वया] अपने विराट्रूप [तन्वा] शरीरसे [तन्वम्] सबके शरीरोंको [ऐरयत] अपने अपने कर्मोंमें प्रेरणा करता है इससे प्रभव, प्रलय, सुहृत् शब्दोंकी व्याख्या की गई है।

तुलना— गीतामें भगवान् ही सबकी गति, सबका पालन-पोषण करनेवाला, सबका प्रभु, सबका साक्षी, सबका निवास-स्थान, सबका शरण, सबका सुहृत्, जगत्का उत्पन्न, लय करनेवाला और जगत्का आदि कारण है ऐसा कहा है।

वेदमें भी यही परमात्मा, अनेक प्रकारकी स्थितिवाला सब जीवोंके कर्मफलोंको उन जीवोंके कर्मानुसार उत्पन्न करता हुआ, ज्योतिःस्वरूप सबसे महान् सबका गति, सबके धारण करनेवाला, सबमें विराट् रूपसे स्थित है। ऐसा कहा है—

(१९) तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

(भगव. अ. ९, श्लो. १९)

अर्थ— (अर्जुन !) हे अर्जुन ! (अहम्) मैं परमात्मा (तपामि) आदित्य रूप होकर अपनी किरणोंसे गर्मीमें संसार को ताप देता हूं। (अहम्) मैं परमात्मा ही (वर्षम्) वर्षाकालमें अथवा भिन्नकालमें मेघद्वारा वर्षाके जलको (उत्सृजामि) पृथिवीपर छोडता हूं तथा (निगृह्णामि) पृथिवी, और समुद्रादिसे वर्षाके लिये जलको खेंचता हूं तथा वर्षाभाव भी मैं ही करता हूं। (अहम्) मैं परमात्मा (एव) निश्चयसे (अमृतम्) मुक्ति अथवा सबका जीवनाधार अमृतमय अन्न हूं (च) और (मृत्युः) संसारको नष्ट करनेवाली विष अथवा मौत मैं हूं और (सत्) दृश्यस्थूल वस्तु अर्थात् कार्य जगत् (च) और (असत्) अदृश्य सूक्ष्म वस्तु अव्यक्तस्वरूप मैं ही हूं ॥ १९ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

सन्नुच्छिष्टे असँश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः ।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥ ३ ॥

(अथर्व. ११।७।३)

अर्थ— हे जीवात्मन् ! (मयि) मुझ (उच्छिष्ट) सारे ब्रह्माण्डके लय हो जानेपर शेष रह जानेवाले परमात्मामें (सत्) दृश्य स्थूलवस्तु अर्थात् कार्यजात और (असत्) अदृश्य सूक्ष्मवस्तु अर्थात् अव्यक्त स्वरूप (उभौ) दोनों विद्यमान हैं। परमात्मामें ही (मृत्युः) संसारको नष्ट करनेवाली विष अथवा मौत और (वाजः) बल अथवा, तप और (प्रजापतिः) प्रजापालक मेघ और वृष्टि (द्रः) द्रवीभूत अमृत अर्थात् अन्नपानादि क्रिया और (व्रः) सबको आच्छादित करनेवाला आकाश (श्रीः) चेतनसत्तावाली शोभा विद्यमान है। और परमात्मामें (लौक्याः) सब लोक लोकान्तर (आयत्ता) उस परमात्माके अधीन वर्तमान हैं ॥ ३ ॥ यद्वा—

वेदगीता [मंत्रः]

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय । अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥ २ ॥

(ऋ० ४।२६।२)

अर्थ— हे जीवात्मन् ! (अहम्) मैं परमात्मा (आर्याय) श्रेष्ठ लोक अर्थात् भक्तजनोंको (भूमिम्) निवासस्थानके लिये पृथिवीको (अददाम्) देता हूं। (दाशुषे) मेरा पूजन करनेवाले (मर्त्याय) मनुष्यको (वृष्टिम्) वर्षाकालीन जलको (अददाम्) देता हूं और (अहम्) मैं परमात्मा (अपः) जन्म मरण फलके देनेवाले कर्मोंको और उनके फलोंको (अनयम्) अपनी सृष्टिके लिये प्राप्त करता हूं। (वावशानाः) मेरी प्राप्तिकी कामना करनेवाले (देवासः) ज्ञानी पुरुष (मम) मेरे (केतम्) वासस्थान मुक्त्यादिको यद्वा मेरे ज्ञानको (अनु+आयन्) प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥ जैसे—

"त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः"

(प्रश्नो. २।९)

हे परमात्मान् ! तू ही अन्तरिक्षमें ज्योतियोंका पति होकर सूर्यरूप विचरता है संसारके पदार्थोंको तपाता है और—

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास ॥ (बृहदा. उ. २।१।२)

तथा—

यदा त्वमभिवर्षसि । (बृहदा. २।२६)

जो वह पुरुष आदित्यमें है मैं उस ब्रह्मकी उपासना करता हूं जब तू संसारमें वर्षा करता है।

असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत ॥

अर्थ—सबसे पहिले अव्यक्त था, फिर व्यक्त उत्पन्न हुआ।

तुलना— गीतामें भगवान्‌को सूर्य, और वृष्टि, वृष्टिका आकर्षक, तथा अमृत और मृत्यु स्थूलजगत् और सूक्ष्मजगत् कहा है—

वेद और उपनिषद्‌में भी परमात्माको सद्रूप अर्थात् व्यक्त रूप और असद्रूप अव्यक्त रूप, मृत्यु, अमृत, बल, तापक, और वृष्टिकर्ता, वृष्ट्यवरोधक तथा सूर्य रूप कहा गया है।

(२)त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ (भगव० ९।२०)

अर्थ— (त्रैविद्याः) कर्म, उपासना, ज्ञान, इन तीनों विद्याओंको ऋग्यजुसामवेदत्रयीकी आज्ञानुसार कर्मोंको जानने-वाले विद्वान् (यज्ञैः) नाना प्रकार सोम, अग्निष्टोम, वाजपे-यादि यज्ञों द्वारा (माम्) मेरे यज्ञस्वरूपको अथवा वसु, रुद्र, आदित्यादि ईश्वर स्वरूपको (इष्ट्वा) उपासना करके (सोमपाः) सोमरसके पान करनेवाले अथवा अमृतके पान करनेवाले (पूतपापाः) अपने पापोंसे शुद्ध हुए हुए अर्थात् पापोंसे रहित होकर (स्वर्गतिम्) स्वर्गकी प्राप्तिको (प्रार्थ-यन्ते) प्रार्थना करते हैं। (ते) वह याज्ञिक विद्वान् अथवा कर्मोपासक जीव (पुण्यम्) अपने पुण्यके फलरूप परमपवित्र (सुरेन्द्र लोकम्) इन्द्रलोक अर्थात् स्वर्गको (आसाद्य) पाकर (दिवि) स्वर्गलोकमें (दिव्यान्) परमरमणीय परमसुन्दर (देवभोगान्) देवताओंके भोगोंको (अश्नन्ति) भोगते हैं ॥२०॥

वेदगीता [मंत्रः]

येन॑ दे॒वाः स्व॑रारुरु॒हुर्हि॒त्वा शरी॑रम॒मृत॑स्य॒ नाभि॑म्। तेन॑ गेष्म सु॒कृत॑स्य॒ लो॒कं॑ घ॒र्मस्य॑ व्र॒तेन॒ तप॑सा यश॒स्यवः॑ ॥ ६ ॥

(अथर्व, ४।११।६)

अर्थ— (येन) जिस कर्म उपासना, ज्ञान प्रतिपादक-ऋग्यजुःसामवेदत्रयीकी आज्ञाऽनुसार कर्मोंके अनुष्ठानसे (देवाः) सोमपान करनेवाले, यद्वा सकाम कर्म करनेवाले विद्वान् (शरीरम्) इस पाञ्चभौतिक देहको (हित्वा) इसी पृथिवी पर छोडकर (अमृतस्य) अमृतमय भोगकी (नाभिम्) मध्य भाग अर्थात् स्वर्गको (आरुरुहुः) चढ जाते हैं अर्थात् स्वर्गको पहुंच जाते हैं। (तपसा) पञ्चाग्नि आदि तपश्चर्यासे (यशस्य-वः) इस संसारमें यशको प्राप्त करते हुए यद्वा यशःस्वरूप परब्रह्मकी कामना करते हुए हम भी दासलोग (घर्मस्य) अग्निष्टोमादि यज्ञके (व्रतेन) व्रत धारण करनेसे (तेन) उस कर्मोपासना ज्ञान प्रतिपादक ऋग्यजुःसामवेदत्रयीकी आज्ञाऽनुसार कर्मोंके अनुष्ठानसे (सुकृतस्य) पुण्यात्माओंके (लोकम्) लोकको अर्थात् स्वर्ग लोकको (गेष्म) प्राप्त होवें ॥ ६ ॥ और उपनिषद्‌में भी कहा है—

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददा-यन्। तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ (मुण्ड. १।२।५)

अर्थ— अग्निकी प्रकाशमय इन जिह्वाओंमें (यः) जो प्राणी नियत कालके अनुसार आहुतियां डालते हैं अर्थात् अग्निष्टोमादि यज्ञ करते हैं। सूर्यकी यह किरणें उनको वहां ही ले जाती हैं जहां सब देवताओंका पति इन्द्र निवास करता है अर्थात् उनको स्वर्गलोकमें पहुंचा देती हैं ॥

तुलना— गीतामें याज्ञिक लोक स्वर्गकी प्राप्तिके लिये यज्ञ करते हैं मृत्युके अनन्तर वह याज्ञिक लोक स्वर्गमें दिव्य भोगों को भोगते हैं, ऐसा कहा है।

उपनिषद् और वेदमें भी विद्वान् यज्ञों द्वारा पार्थिव शरीर को पृथिवी पर छोडकर स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं उनके आचरणके अनुसार दूसरे विद्वान् भी परमात्मासे प्रार्थना करते हैं कि हम भी उन्हीं यज्ञोंद्वारा पवित्र स्वर्गलोकको प्राप्त होवें, ऐसा कहा है—

(२१)ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना: गतागतंकाम-कामाः लभन्ते ॥ ॥ (भगव. अ. ९।२१)

अर्थ— (ते) वह यज्ञादि कर्मोंके करनेवाले, और यज्ञोंके फलोंको भोगनेवाले (तम्) उस (विशालम्) बडे (स्वर्ग-लोकम्) स्वर्गलोकके सुखको (भुक्त्वा) भोग कर (पुण्ये)

पुण्यके (क्षीणे) समाप्त हो जानेपर (मर्त्यलोके) इस मनुष्य लोकमें (विशन्ति) वापिस लौटकर प्रवेश करते हैं अर्थात् इस पृथ्वी लोकमें जन्म लेते हैं। (एवम्) इस प्रकार (हि) निश्चय करके (त्रयीधर्मम्) वेदत्रयीप्रोक्त धर्मको (अनुप्रपन्नाः) प्राप्त हुए हुए (कामकामाः) दिव्य भोगोंको चाहनेवाले (गतागतम्) जन्ममरणके प्रवाहको (लभन्ते) प्राप्त करते हैं ॥ २१ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

स्वं१र्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वाँसो वितेनिरे ॥४॥

(अथर्व ४।१४।४; वा. य. १७।६८)

अर्थ— हे जीवात्मन्! (ये) जो याज्ञिक पुरुष अर्थात् कर्मठ विद्वान् (सुविद्वांसः) ज्ञान और कर्मको समुच्चय रूपमें करनेवाले (विश्वतोधारम्) आहुति, दक्षिणा, अन्नदानादि कई प्रकारकी धाराओंवाले (यज्ञम्) यज्ञको यद्वा जगत्के धारण करनेवाले अग्निष्टोमादि यज्ञको (वितेनिरे) विस्तृत करते हैं अर्थात् अग्निष्टोमादि यज्ञोंका सम्पादन करते हैं। वह दिव्य भोगोंको भोगनेवाले विद्वान् (स्वः) स्वर्गलोक और उसके सुखको (यन्तः) प्राप्त होते हुए (न अपेक्षन्ते) पुण्य कर्मोंके प्रभावसे मनुष्य लोकमें भोग हुए पुत्र पशु आदिके सुखकी अपेक्षा नहीं करते। पुण्यके उपभोगपर्यन्त (रोदसी) जरा, मृत्यु, शोकादिके रोकनेवाले (द्याम्) स्वर्गीय प्रकाशमय लोकको (आरोहन्ति) प्राप्त करते हैं। अर्थात् पुण्योंके क्षीण होनेपर इस मनुष्य लोकमें जन्ममरणके प्रवाहको प्राप्त होते हैं। ४ ॥ जैसे—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यू ते पुनरेवापि यन्ति ॥

(मुंड. १।२।७)

अर्थ=यह जो अग्निष्टोमादि यज्ञ हैं वह ही (प्लवाः)जीवात्माके लिये नौका हैं। इन नौकाओंके चलानेवाले [अष्टादश] १८ मल्लाह हैं यह यज्ञ रूप नौकायें दृढ नहीं है अर्थात् टूट जानेवाली है मल्लाह कौन हैं १६ ऋत्विग् और १ यजमान १ यजमानकी पत्नी। जिन नौकाओंमें कर्म नाश होनेवाला है जो मूढ इनको श्रेय अर्थात् कल्याणदायक जानकर प्रसन्नतापूर्वक इनके करनेमें सुखी होते हैं वह मूर्ख ऋषी वार वार जरा और मृत्युको इस मनुष्यलोकमें आकर प्राप्त होते हैं।

तुलना— गीतामें याज्ञिक पुरुष स्वर्गलोकमें यज्ञके फलको भोगकर पुण्योंके क्षीण होनेपर इस मनुष्य लोकमें वापिस आकर जन्म मृत्युको प्राप्त होते हैं ऐसा कहा है—

उपनिषद् और वेदमें भी याज्ञिक पुरुष पुण्योंके होनेतक मनुष्यलोकका दर्शन नहीं करते, स्वर्गमें वास करते हैं पुण्योंके क्षीण होनेपर इस मनुष्य लोकमें वापिस आते हैं।

(२२) अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(भगव. अ. ९।२२)

अर्थ— (ये) जो (जनाः) भक्तजन (अनन्याः) किसी अन्य वस्तुका आश्रय न करनेवाले अर्थात् केवल मेरा यजन करनेवाले (चिन्तयन्तः) मेरा चिन्तन करते हुए (माम्) मुझ परमेश्वरको (पर्युपासते) हरप्रकारसे सेवन करते हैं (नित्याभियुक्तानाम्) निरन्तर मुझमें समाधि चित्तवाले (तेषाम्) उन पुरुषोंके (योगक्षेमम्) योग और क्षेमको अर्थात् अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम योग है और प्राप्त वस्तुकी हरप्रकारसे पालना करना क्षेम है यद्वा "ब्रह्मकी समाधिका नाम योग है उसकी यथावत् स्थितिको क्षेम कहते हैं इन दोनोंको (अहम्) मैं परमेश्वर ही (वहामि) करता हूं ॥ २२ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम
आ वो मूर्धानमक्रमीम्। अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदुकान्मण्डूका उदुकादिव ॥५॥

(ऋ. १०।१६६।५)

अर्थ— हे जीवात्मन्! हे योगिजनो! (मे) मुझ परमात्मासे (अधस्पदात्) पांवके नीचे अर्थात् क्षुद्रजीवनमें रहते हुए तुम (उदकान्) वृष्टिके जलसे निचले प्रदेशमें रहते हुए (मण्डूका इव) मेण्डकोंकी तरह (उद्वदत) ऊंचे स्वरसे मुझे बुलाओ अर्थात् स्पष्ट शब्दोंसे मेरी स्तुति करो। फिर(अहम्) मैं परमात्मा (वः) निरन्तर समाहितचित्तवाले तुम

योगियोंके (मूर्धानम्) मूर्द्धस्थानीय अर्थात् सबसे ऊंची पदवी और (आ अक्रमीम्) चारों ओर करता हूं। फिर (अहम्) मैं परमात्मा (वः) समाहित-चित्तवाले तुम भक्तजनोंको (योगक्षेमम्) अप्राप्त वस्तु जो मुक्ति उसकी प्राप्ति और उस मोक्षकी रक्षा अर्थात् पुनर्जन्म न होना इन दोनों वस्तुओंको (दाय) देकर (उत्तमः) परमपद अर्थात् मुक्तिके देनेवाला सबसे श्रेष्ठ (भूयसम्) होता हूं ॥ ५ ॥

तुलना – गीतामें परमात्माका अनन्यभावसे चिन्तन करनेवाले भक्तोंको परमात्मा योगक्षेम प्रदान करता है ऐसा कहा है–

वेदमें भी परमात्मा भक्तको जीव गतिसे उत्तमगति मुक्तिकी प्राप्तिके लिये योगक्षेमका प्रदान करते हैं। ऐसा कहा है—

(२३) येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

(भगव. अ. ९।२३)

अर्थ— (कौन्तेय !) हे कुन्तिका पुत्र अर्जुन ! (ये) जो प्राणी (अन्यदेवता भक्ताः) इन्द्र वरुणादि अन्य देवताओंकी भक्ति करनेवाले (अपि) भी (श्रद्धयान्विताः) श्रद्धासे मिले हुए (यजन्ते) अपने अपने इष्टदेवका यजन-पूजन करते हैं। (ते) वे प्राणी (अपि) भी (अविधिपूर्वकम्) यथार्थ विधिसे रहित अर्थात् अज्ञानसहित (माम् एव) मुझ परमात्माका ही (यजन्ति) पूजन करते हैं ॥ २३ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

२ ३ १   २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यच्चिद्धि शश्वता तना देवंदेवं यजामहे।
१ २र   ३ २
त्वे इद्धूयते हविः ॥ ३ ॥

(साम. १६१८)

अर्थ— हे परमात्मन् भक्त पुरुष ही निश्चयसे (शश्वता) निरन्तर अर्थात् नित्य (तना) विस्तृत पूजनसे (देवम् देवम्) भिन्न भिन्न दूसरे इन्द्र, वरुणादि देवताओंका (यत् चित्) जो ही (हि) निश्चयसे (यजामहे) हम पूजन करते हैं। (हविः) यह हविःपूजन यद्वा आह्वानादि कर्म (त्वे) तुझ परमात्मामें (इत्) ही (हूयते) अर्पण किया जाता है ॥ ३ ॥

तुलना— गीतामें परमात्माको छोडकर इन्द्रादि अन्य देवताओंकी उपासना करना भी गौणरूपसे मेरी उपासना की जाती है, ऐसा कहा है।

वेदमें जो पुरुष निरन्तर समाहितचित्तसे यदि अन्य देवताओंका भी पूजन करते हैं तो वह पूजन भी गौणरूपसे परमात्मामें प्राप्त होता है। ऐसा कहा है—

(२४) अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ ॥

(भगव. अ. ९।२४)

अर्थ— हे अर्जुन ! (हि) क्योंकि (अहम्) मैं परमेश्वर (एव) ही (सर्वयज्ञानाम्) सब प्रकारके यज्ञोंका (भोक्ता) ग्रहण करनेवाला (च) और (प्रभुः) स्वामी अर्थात् फल देनेवाला (च) भी हूं। (ते) अन्यदेवताओंके पूजन करनेवाले वह पुरुष (माम्) मुझ परमेश्वरको (तत्त्वेन) यथार्थस्वरूपसे सबको फल देनेवाला स्वामी (न) नहीं (अभिजानन्ति) जानते हैं (अतः) इसलिये (च्यवन्ति) यज्ञोंके फलोंके भोगनेके अनन्तर इस संसारके गढेमें गिर जाते हैं ॥ २४ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

अहं सो अस्मि यः पुरा सुते वदामि कानि चित्। तं मा व्यन्त्याध्यो३ वृको न तृष्णजं मृगं वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ ७ ॥

(ऋ. १।१०५।७)

अर्थ— हे जीवात्माओ ! [यः] जो मैं परमात्मा [पुरा सुते] आदि सृष्टिमें यद्वा प्राचीन तुम्हारे यज्ञात्मक कर्ममें [कानि चित्] कई कर्मों या स्तोत्रोंको यज्ञात्मक कर्मोंको [वदामि] पुकार पुकार कर कहता हूं। [सः] वह सब यज्ञोंका भोक्ता, और उपदेश करनेवाला और उन यज्ञोंके स्वामी। [अहम्] मैं परमेश्वर [अस्मि] हूं, इसलिये मेरा त्याग क्यों करते हो। [आध्यः] तुम भक्तजनोंकी मानसिक स्थितियाँ [तम्] उस यज्ञ पति और प्रभु [माम्] मुझ परमात्माको [व्यन्ति] भुला देती हैं अर्थात् वह स्थितियाँ इन्द्र, वरुणादि अन्यदेवताओंके पूजनकी ओर लग जाती है इसलिये मुझ परमात्माको भुला देती हैं। [वृको न तृष्णजं मृगम्] जैसे भेडिया अन्य वस्तुओंमें जलकी भ्रान्ति रखते हुए

प्यासे मृगको नाश कर देता है ऐसे ही वह तुम्हारी मानसिक वृत्तियाँ मुझे भी भुला देती हैं। [रोदसी !] हे आकाश और पृथिवीमें रहनेवाले जीवात्माओ ! [मे] मेरे [अस्य] इस कथनके तत्त्वको [वित्तम्] जानो। और भी कहा है—

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥

[छान्दो. ५।२४।२]

अर्थ— जो विद्वान् इस प्रकार सर्वत्र अभेद दृष्टिसे वैश्वानरस्वरूपकी उपासना करता है उसका हवन सब लोक सब भूत, और सब आत्माओंमें पहुंच जाता है अर्थात् उसके हवनसे ब्रह्माकी तृप्ति होनेके कारण लोक-लोकान्तर तथा सब भूतमात्र प्रसन्नताको प्राप्त होते हैं और वह प्राणी स्वयं मोक्षपदको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

तुलना— गीतामें परमात्माही सब यज्ञोंको भोक्ता और स्वामी है जो इस बातको नहीं जानते वह फिर संसारमें बन्धनको प्राप्त होते हैं। ऐसा कहा है।

उपनिषद् और वेदमें भी परमात्माको सब कर्मोंका स्वामी बताया है जो उस परमात्माको भुला देता है उनका अधः पतन होता है ऐसा कहा है।

(२५) यान्ति देवव्रता देवान्। (भगव. ९।२)

अर्थ— हे अर्जुन ! (देवव्रताः) विष्णु, शिव, इन्द्रादि देवताओंका पूजन करनेवाले (देवान्) विष्णु, शिव, इन्द्रादि उपास्य देवताओंको (यान्ति) प्राप्त होते हैं।

वेदगीता (मंत्रः)

देवयन्तो यथामतिमच्छा विदद्वसुं गिरः।
महामनूषत श्रुतम् ॥ ६ ॥

(ऋ. १।६।६; अथर्व. २०।७०।२)

अर्थ— (गिरः) विष्णु, शिव, इन्द्रादि देवताओंकी स्तुतियोंकी वाणी बोलनेवाले पुरुष (देवयन्तः) विष्णु, शिव, इन्द्रादि देवताओंकी कामना करते हुए (यथामतिम्) अपनी अपनी मतिके अनुसार यद्वा यथार्थतया मननयोग्य (वसुम्) वासयोग्य (श्रुतम्) श्रवणयोग्य (महाम्) बडेसे बडे (अच्छ) शुद्ध और प्रत्यक्षरूप उस देवताके (विदद्) जानते हैं। इसलिये उस देवताको प्राप्त होते हैं।

(२५) पितॄन् यान्ति पितृव्रताः। (भगव. अ. ९।२५)

अर्थ— (पितृव्रताः) श्राद्ध, तर्पणादिद्वारा, अग्निष्वात्त, अर्यमादि पितरोंको पूजनेवाले (पितॄन्) पितृलोकोंको प्राप्त होते हैं।

वेदगीता (मंत्रः)

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ५१ ॥

(वा० य० १९।५१, ऋ. १०।१५।८)

अर्थ— हे परमात्मन् ! (नः) अग्निष्वात्त, अर्यमादि पितरोंके पूजनेवाले हमारे (ये) जो (पूर्वे) हमसे पूर्ववर्ती (पितरः) पिता, पितामह, प्रपितामहादि (सोम्यासः) सोमगुणयुक्त अर्थात् शान्त्यादि गुणवाले यद्वा स्वधा यज्ञोंमें सोममय सुधारसके पान करनेवाले (वसिष्ठाः) इन्द्रियोंको अत्यन्त वशमें रखनेवाले अर्थात् जितेन्द्रिय (सोमपीथम्) स्वधारसके पानको (अनूहिरे) यथाविधि प्राप्त करते हैं। (हवींषि) पितृयज्ञमें दी हुई हवियोंको (उशन्) कामना करता हुआ (यमः) इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला पितृपूजक प्राणी (तेभिः) उन आर्यादि पितरोंके साथ (संरराणः) सम्यकतया रमण करता हुआ (उशद्भिः) पितृपूजकोंसे दी हुई हवियोंकी कामना करनेवालोंके साथ (प्रतिकामम्) प्रत्येक कामनाके अनुसार (अत्तु) हवियोंको भक्षण करे ॥ ५१ ॥ वैसे कृष्ण यजुर्वेदमें कहा है—

देवान् वै पितॄन् प्रीतान् मनुष्याः पितरोऽनुप्रीयन्ते ॥

(तैत्ति. आ. ६।१।१।१०)

अर्थ— देवरूप पितरोंके तृप्त होनेसे मनुष्यरूप पितर भी तृप्त हो जाते हैं। वैसे शतपथमें भी पितृपूजन कहा है—

शरदि कुर्यात् स्वधा वै शरत्स्वधो वै पितॄणामन्नं तदेनं मन्नं स्वधया दधाति।

अर्थ— शरद ऋतुमें पितरोंकी प्रसन्नताके लिये स्वधाद्वारा अन्नादि दिये जावें, इस पितृ अन्नको स्वधाद्वारा धारण करता है। और भी—

वेदगीता [मंत्रः]

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः । ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥३॥ (ऋ. १०।१५।२)

अर्थ— (ये) जो पितर (पूर्वासः) मुझसे पहिले जन्म लिये हुए मेरे पिता और ज्येष्ठ भ्रातादि हैं तथा (उपरासः) जो मुझसे पीछे जन्म लेनेवाले कनिष्ठ भ्राता वा पुत्रादि (ईयुः) मरकर पितृलोकको प्राप्त हो गये हैं (ये) जो (नूनम्) निश्चयसे सदा (सुवृजनासु विक्षुः) श्राद्धकर्मनिष्ठावाले बन्धुवर्गोंमें प्रवेश कर गये हैं (पार्थिवे रजसि) पृथिवी लोकमें (आ निषत्ताः) आकर उपस्थित हुए हैं (अद्य) आज (पितृभ्यः) उन सब पितरोंको (नमोऽस्तु) मेरा नमस्कार हो या मेरा दिया हुआ अन्न प्राप्त हो ॥ ३ ॥

(२५) भूतानि यान्ति भूतेज्याः । (भगव. अ. ९।२५)

अर्थ— हे अर्जुन ! विनायक, वेताल दुर्गादि यद्वा पञ्चभूतोपासक लोग (भूतानि) भूतयोनियोंको [यान्ति] प्राप्त होते हैं ।

वेदगीता [मंत्रः]

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव । तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥७॥

[अथर्व. ४।८।१]

अर्थ— [भूतः] भूतोंकी उपासना करनेवाला [भूतेषु] विनायक, दुर्गा, वेताल अथवा पञ्चभूतोंमें [पयः] पूजाद्रव्यको यद्वा जलादिको [आदधाति] धारण करता है । [सः] भूतोपासक वह प्राणी [भूतानाम्) भूतोंका [अधिपतिः] स्वामी [बभूव] हो जाता है । [तस्य] उस भूताधिपतिकी [मृत्यु] यह सामर्थ्य [राजसूयम्] राजसूय यज्ञको महाराजाधिराजपदको [चरति] प्राप्त होता है [सः] वह भूतपति [राजा] जगत्में प्रकाशमान होता हुआ [इदं] इस [राज्यम्] भूताधिपत्यको [अनुमन्यताम्] स्वीकार करता है ॥ १ ॥

[२५] यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ [भग० अ. ९।२५]

हे अर्जुन ! [मद्याजिनः] मेरा पूजन करनेवाले [माम्] मुझ परमेश्वरको [अपि] भी [यान्ति] प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

वेदगीता [मंत्रः]

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये । सोमासो दध्याशिरः ॥ ३ ॥

[अथर्व. २०।६९।३, ऋ. १।५।५]

अर्थ— हे जीवात्मन् ! [इमे] यह मेरा पूजन करनेवाले प्राणी [शुचयः] निर्मल अर्थात निष्पाप [सुताः] भगवज्ज्ञानसे अभिषिक्त हुए हुए अर्थात् मेरी योग समाधिमें निष्णात हुए हुए [सोमासः] ब्रह्मोपासक ज्ञानी पुरुष [दध्याशिरः] ध्यानयोगसे देहके दोषोंको नाश करनेवाले अर्थात नित्यमेव परमात्माके ध्यानयोगसे देह दोषोंसे रहित हुए हुए [सुतपाव्ने] ज्ञाननिष्णात प्राणियोंकी रक्षा करनेवाले परमात्माको [वीतये] पूर्णतया प्राप्तिको [यान्ति] प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

तुलना— भगवद्गीतामें देवताओंके उपासक देवताओंको और पितरोंके उपासक पितरोंको और भूतोंके उपासक भूतोंको, और परमात्माके उपासक परमात्माको प्राप्त होते हैं ऐसा कहा है ।

वेदमें भी देवताओंके उपासक देवताओंको और पितरोंके उपासक पितरोंको और भूतोंके उपासक भूताधिपतित्वको और परमात्माकी उपासना करनेवाले परमात्माको प्राप्त होते हैं, ऐसा कहा है ।

(२६) पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

[भगव. अ. ९।२६]

अर्थ— हे अर्जुन ! [यः] जो प्राणी [मे] मुझ परमेश्वरको [भक्त्या] भक्तिसे अर्थात् प्रीतिपूर्वक [पत्रम्] तुलसी या बिल्वादिके पत्तेको [पुष्पम्] पुष्पको [फलम्] किसी फलको [तोयम्] केवल जलको [प्रयच्छति] अर्पण करता है [प्रयतात्मनः] मनको वशमें रखनेवाले अथवा शुद्ध बुद्धिवाले भक्तके [भक्त्युपहृतम्] भक्ति अर्थात् प्रेमसे अर्पण किये हुए [तत्] उस उस पदार्थ अर्थात् पत्र, पुष्प फल वा जलको [अहम्] मैं परमात्मा [अश्नामि] ग्रहण करता हूं ॥ २६ ॥

वेदगीता [मंत्रः]

प्रयाजान् मे अनुयाजाँश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम् । घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः ॥८॥

[ऋ. १०।५१।८]

अर्थ— [देवाः] हे देवताओ ! यद्वा हे ज्ञानी पुरुषो ! तुम [मे] मुझ परमात्माको [प्रयाजान्] प्रकृष्ट भक्तिसे पूजाके लिये अर्पण करनेयोग्य अन्नादि पदार्थोंको और [केवलान्] केवल भक्तिसे अर्पण किये हुए [अनुयाजान्] सर्व साधारण पदार्थोंको [दत्त] अर्पण करो और [ऊर्जस्वन्तम्] प्राणियोंके बलको बढानेवाले [हविषः] आहवनीय पदार्थके [भागम्] भागको [दत्त] श्रद्धापूर्वक अर्पण करो । तथा [ऊर्जस्वन्तम्] सारभूत [घृतम्] जलको [च] और [अपाम्] जलोंके [ऊर्जस्वन्तम्] साररूप पत्रपुष्पादिको [च] और [ओषधीनाम्] ओषधियोंसे उत्पन्न हुए हुए [भागम्] फलको [पुरुषम्] परम पुरुष परमात्माको [दत्त] अर्पण करो हे जीवात्माओ ! तुमसे श्रद्धाभक्तिसे दिया हुआ यह पत्र पुष्पादि पदार्थ [अग्नेः] मुझ ज्योतिःस्वरूप परमात्माके लिये [दीर्घमायुः] देरकाल तक [अस्तु] अर्पित होता रहे ॥ ८ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

यो अस्मा अन्नं तृष्वा॒३॑दधा॒त्याज्यै॑र्घृतैः-
जुहोति॒ पुष्यति । तस्मै॑ सहस्र॑म॒क्षभि॒र्वि
च॒क्षेऽग्ने॑ वि॒श्वतः॑ प्र॒त्यङ्ङ॑सि॒ त्वम् ॥ ५ ॥

[ऋ. १०।७९।५]

अर्थ— जो प्राणी इस परमात्माको अन्न परम श्रद्धासे भेंट करता है और जो इस परमात्माको आज्य अर्थात घृत और जलसे [आजुहाति] अच्छी तरह हवन करता है अर्थात् भेंट करता है वह फूलता फलता है । परमात्मा [तस्मै] उस भक्तको हजारों प्रकारसे [विचक्ष] देखता है अर्थात् उसे कृपा दृष्टिसे देखता है [अग्ने] हे जीवात्मन् [त्वम्] तू उस परमात्माको [विश्वतः] सब प्रकारसे [प्रत्यङ्ङसि] सम्मुख प्राप्त होता है अर्थात् तू मुक्तिपदको प्राप्त होता है ॥५॥ तथा—

अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥३॥
नन्वेतदुपनीतं परमप्रीणनं सखे ।
तर्पयन्त्यंग मां विश्वमेते पृथक तंडुलाः ॥९॥

[भागवत्. १०।८१।३,९]

अर्थ— हे सुदामा भक्तोंसे थोडीसी वस्तु भी प्रेमसे अर्पण की हुई मेरे लिये बहुत हो जाती है और भक्तिरहित दी हुई बहुतसी वस्तु भी मेरे लिये सन्तोषदायक नहीं होती॥३॥ हे सखे ! परम प्रेमसे लाई हुई यह चावलोंकी तुष मुझे अत्यन्त प्यारी है और आनन्द देनेवाली है इतनाही नहीं बल्कि यह तंडुल मुझे और मेरे आश्रयमें रहनेवाले सारे संसारको तृप्त करनेवाले हैं ॥ ९ ॥

तुलना—गीतामें भगवान्‌ने कहा है जो पुरुष अनन्य भक्तिसे पत्र, पुष्प, जल या फलमात्र अर्पण करता है मैं उसे परम प्रेमसे स्वीकार करता हूं और वह वस्तु मेरी प्रसन्नताके लिये होती है ।

वेद और श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें भी यही कहा है कि भक्तिसे जल पुष्पादि तुच्छ वस्तु भी परमात्माको दी हुई बडे सुख कल्याणके लिये होती है परमात्मा उस साधारण वस्तुसे भी अतीव प्रसन्न हो जाते है परन्तु अश्रद्धासे दिये हुए बडे बडे पदार्थ भी परमात्माको प्रसन्न नहीं करते ।

(२७) यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

[भगव. अ. ९।२७]

अर्थ— [कौन्तेय !] हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! [यत्] जिस शास्त्र प्रतिपादित कर्मको [करोषि] तू करता है और [यत्] जिस शास्त्रविहित भक्ष्याभक्ष्य विचारवाले भोजनको [अश्नासि] तू खाता है [यत्] जिस शास्त्रप्रतिपादित द्रव्यको अग्निहोत्रादि कर्ममें [जुहोषि] अग्निमें हवन करता है [यत्] जिस देनेयोग्य द्रव्यको [ददासि] तू दीनोंको वा ब्राह्मणोंको देता है [यत्] जो सन्ध्योपासना, वेदाध्ययन अथवा व्रतोपवासादि [तपस्यसि] तपका सम्पादन करता है [तत्] उस सब कामको [मदर्पणम्] ब्रह्मार्पण बुद्धिसे [कुरुष्व] कर ॥ २७ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

यद॒श्नासि॒ यत्पिबसि धा॒न्यं॑ कृष्याः पयः॑ ।
यदा॒द्यं॑ यद॑ना॒द्यं सर्वं॑ ते॒ अन्न॑मवि॒षं
कृणोमि ॥ १९ ॥

[अथर्व. ८।२।१९]

अर्थ— हे [कृष्याः] हे परमात्माकी ओर मनको कर्षण करनेवाले योगि पुरुषो ! [यत्] जिस शास्त्रविहित [धान्यम्]

ऋग्वेद-संहिता

इस प्रन्थमें प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है, उसके पश्चात् **मण्डलानुक्रमणिका** तथा **अष्टकानुक्रमणिका** है, पश्चात् **ऋषिसूची** तथा **देवता-सूची** है। इसमें मण्डलों और अष्टकोंका क्रम तथा सूक्तक्रम भी दिया है। इतनाही नहीं, पर इस सूचीमें प्रत्येक सूक्तमें आये देवता कौनकौनसे मन्त्रोंमें हैं यह भी दर्शाया है। इसी तरह इसकी टिप्पणीमें वे देवता दिये हैं जो मन्त्रोंमें तो हैं, पर सर्वानुक्रमणीमें दिये नहीं हैं। यह सूची मन्त्रक्रमके अनुसार है, इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कौनसा देवता है, यह हरकोई देख सकता है। इसके नंतर **अकारक्रमसे ऋषिसूची** है। प्रत्येक ऋषिके कितने मंत्र हैं और वे कहां हैं यह सब यहां दर्शाया है। इस सूचीमें इन ऋषियोंके गोत्र दिये हैं और प्रत्येक गोत्रमें कितने ऋषि हैं यह भी इसी सूचीमें है।

इसके पश्चात् **अनुवाक-सूत्र** स्पष्टीकरणके साथ दिया है। प्रत्येक अनुवाकमें कितने मंत्र हैं और वे कहां हैं, यह सब यहां बताया है। इसी तरह अध्यायानुक्रमणी वैसेही स्पष्टीकरणके साथ यहां दी है।

इसके नंतर '**सांख्यायन-संहिता**' का पाठक्रम तथा '**बाष्कल-संहिता**' का पाठक्रम दिया है।

इसके पश्चात् **संपूर्ण ऋग्वेद-संहिता** मण्डल और अष्टकोंके साथ दी है। इसमें **प्रत्येक मंत्र स्वतंत्र और पृथक् पृथक् छपा है। तथा मन्त्रके चरण, मंत्रके अर्धभाग, मंत्रके बहुतसे पद पृथक् पृथक् दिये हैं** और प्रत्येक सूक्त पृथक् पृथक् स्पष्ट दर्शाया है। प्रति सूक्तके प्रारंभमें ऋषि, देवता और छन्द दिये हैं और मंत्रोक्त-देवत भी कई स्थानोंपर दर्शायी है।

इसके बाद मण्डलान्तर्गत तथा अष्टकान्तर्गत **सूक्त-संख्या, वर्गसंख्या, मन्त्रसंख्या** तथा **अक्षरसंख्या** दर्शानेवाले कोष्टक दिये हैं।

नंतर सब **परिशिष्ट** दिये हैं तथा उनके पाठभेद भी दिये हैं। ऋग्वेदसंहिताके अन्यान्य शाखाओंमें जो अधिक सूक्त मिलते हैं वेही ये परिशिष्ट हैं। ये कुल ३७ हैं।

इसके पश्चात् **अष्टविकृतियाँ**, उनकी बनानेकी विधिके साथ दी हैं। इनकी विधि जानकर पाठक अन्यान्य मंत्रोंकी भी विकृतियाँ स्वयं कर सकते हैं। यहां **पञ्चसंधि** भी दिये हैं जो विशेष महत्त्वके हैं।

इसके पश्चात् **कात्यायनमुनि**- विरचित **सर्वानुक्रमणिका** टिप्पणीके साथ संपूर्ण दी है। उसके बाद **शौनकाचार्यकृत अनुवाकानुक्रमणी** है। इसके बाद छन्दोंके उदाहरण लक्षणोंके साथ दिये हैं। इसमें **११ छन्द** और उनके अनेक **उपछन्द** उदाहरणोंके साथ दिये हैं। इसके देखनेसे किस मन्त्रका कौनसा छन्द है इसका ज्ञान हो सकता है।

इसके बाद अकारक्रमसे ऋग्वेदके संपूर्ण **मंत्रोंकी सूची** है। ये मंत्र अन्य वैदिक संहिताओंमें कहां हैं, उनका भी पता यहां दिया है। इससे ऋग्वेद मंत्र अन्य संहिताओंमें कहां हैं इसका ज्ञान हो सकता है।

इतनी सूचियोंके साथ इतने परिश्रमसे यह ऋग्वेद-संहिता छापी है। इस समय जो ऋग्वेदके ग्रंथ हैं उनमेंसे किसीमें इतने ज्ञानके साधन नहीं हैं। वेदका अनुसंधान करनेवालोंके लिये यह एक अनुपम साधन है। इसकी कुल पृष्ठसंख्या १०५० है। मूल्य केवल ६) डा. व्य. १।) है।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' पारडी, (जि. सूरत)

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।≥)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ॥।), डा० व्य० ≈)

सामवेद कौथुमशाखीयः

ग्रामगेय (वेय प्रकृति) गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् '**प्रकृतिगान**' तथा '**आरण्यकगान**' है। **प्रकृतिगानमें अग्निपर्व** (१८१ गान) ऐन्द्रपर्व (६३२ गान) तथा '**पवमानपर्व**' (३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। **आरण्यकगानमें अर्कपर्व** (८९ गान), **द्वन्द्वपर्व** (७७ गान) **शुक्रियपर्व** (८४ गान) और **वाचोव्रतपर्व** (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल '**गानमात्र**' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४)रु. तथा डा०व्य०॥)रु. है।

आसन ।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।≥) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, पारडी (जि. सूरत)

अगस्त १९५०

श्रावण २००७

वर्ष ३१

अंक ८

संपादक : पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वैदिक धर्म

[अगस्त १९५०]

संपादक — पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक — महेशचन्द्रशास्त्री, विद्याभास्कर

स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी (जि. सूरत)

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष ३१] **विषयानुक्रमणिका** [अङ्क ८

वैदिकधर्म
क्रमांक २०
वर्ष ३१ अंक ८
श्रावण, विक्रम संवत् २००७,
अगस्त १९५०

इन्द्र और राजा

ततुरिर्वीरो नर्यो विचेताः श्रोता हवं गृणत उर्व्यूतिः ।
वसुः शंसो नरां कारुधाया वाजी स्तुतो विदथे दाति
वाजम् ॥

(ऋ० ६।२४।२)

वह इन्द्र स्वयं वीर है तथा सदैव विजयी रहनेवाला है, विशेष ज्ञानी है, सबका कहना ध्यान पूर्वक सुननेवाला है। वह अपने रक्षा-साधन दूरतक पहुँचाया करता है। सबका निवास उत्तम प्रकारसे हो सके, ऐसा प्रबन्ध वह किया करता है, इसलिये सबलोग उसकी प्रशंसा किया करते हैं। कारीगरोंको वह आश्रय दिया करता है। वह स्वयं बलवान है तथा युद्धमें वह अपने अनुयायियोंका बल बढाया करता है।

इन्द्रके समान जो राजा है वह भी शूर होना चाहिये, विजयी होना चाहिये, जनताका हित उसने करना चाहिये। उसे चाहिये कि खूब ज्ञान प्राप्त करे तथा सबका कहना ध्यान पूर्वक सुन ले। अपने राज्यकी प्रजाका वह उत्तम प्रकारसे संरक्षण करे। सारी प्रजा राज्यमें सुखपूर्वक निवास कर सके, ऐसा प्रबन्ध वह करे। राष्ट्र-कारीगरोंको वह प्रोत्साहन दे। स्वयं अपनी शक्ति बढावे तथा समय समय पर अपने अनुयायियोंकी शक्ति भी बढती रहे, ऐसा प्रबन्ध करे। युद्धमें अपनोंकी उत्तम प्रकारसे रक्षा करे और विजयी होवे। कवियोंको ऐसे राजाकी ही प्रशंसा करनी चाहिये।

वैदिक पुनर्जन्म मीमांसाकी प्रत्यालोचना

ले. श्री. पं० लक्ष्मीशंकर मिश्रार्य, हैदराबाद.

पूर्वार्ध

(" परब्रह्मपरमात्मासे श्रेष्ठ पशु तथा मनुष्यादि की उत्पत्ति)

(गुप्ताजी) सृष्टिका सञ्चालक ईश्वर व जीव और स्थावर जगत् यह तीनों प्रवाहसे अनादि व स्वरूप से सादि है। इस तरह इन तीनोंमें प्रवाह से अनादि व स्वरूप से सादि होने की समानता है, इसी की पुष्टि के लिये महर्षिने निम्न लिखित मन्त्र दिया है " वै० ध० पृ० ४४५

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥

(ऋ० मण्ड० १ सू. १६४ मं. २०)

अर्थ- (द्वा) ईश्वर जीव दोनों [सुपर्णा] चेतनता पालनादि गुणों से सदृश [सयुजा] व्याप्य व्यापक भावसे संयुक्त [सखाया] परस्पर मित्रतायुक्त प्रवाहसे अनादि हैं, जीवसे ईश्वर, ईश्वर से जीव और इन दोनों से स्थावर जगत् भिन्न होकर तीनों प्रवाह से अनादि व स्वरूप से सादि हैं ॥

गुप्ताजी लिखते हैं कि ' उपरोक्त इस वेदमन्त्रके अर्थमें केवल अनादि शब्द का स्पष्टीकरण कर देने से अन्य वेद मन्त्रों की विरोधता मिटती है व सीधा व सरल अर्थ हो जाता है जो उस समय के पौराणिक पण्डितोंने नहीं किया जिसके कारण समस्त आर्यसमाज में जीवात्मा को स्वरूप से अनादि मानने का वेदविरोधी भ्रम फैला हुआ है। वास्तव में ब्रह्म से ब्रह्माण्ड [विराट् पुरुष] व ब्रह्माण्ड से पिण्ड [जीव] तथा पिण्ड से बीजाण्ड [वीर्य के कीडे] वीर्य के कीडों से पिण्डरूप जीव पैदा होते रहते हैं।

[प्रत्यालो०] " सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्"

अर्थात् सहसा कोई काम करना सर्वथा अनुचित है। विना पूर्वापर सोचे समझे ऐसा अविवेक आपत्तियोंका घर हो जाता है। पाठकगण गुप्ताजीने व्यर्थ ही लेखनी को कष्ट दिया है क्योंकि 'द्वा सुपर्णा० ' यह ऋग्वेद का मन्त्र सत्यार्थ-प्रकाश के आठवें समुल्लास में है। वहां लिखा है कि [प्रश्न] अनादि किसको कहते और कितने पदार्थ अनादि हैं! [उत्तर] ईश्वर जीव और जगत् का कारण ये तीन अनादि हैं [प्रश्न] इसमें क्या प्रमाण है [उत्तर] " द्वा सुपर्णा० " इसका अर्थ लिखकर स्वरूपसे तीनों पदार्थ महर्षिने अनादि माने और लिखे हैं।

औरभी देखिये अनादिकी परिभाषा महर्षि क्या करते हैं। आर्योद्देश्य रत्नमाला क्रमसंख्या [५२] अनादि पदार्थ -- जो ईश्वर जीव और सब जगत् का कारण है, ये तीन स्वरूप से अनादि हैं "

[५३] प्रवाह से अनादि पदार्थ-- जो कार्य जगत् जीव के कर्म और इन का जो संयोग वियोग है, ये तीन परम्परा से अनादि हैं।

अनादि विषय में महर्षिलिखित (प्रश्न) अनादि किसको कहते हैं इत्यादि प्रश्नोत्तर इसका प्रमाण है कि महर्षि तीनों ईश्वरादि पदार्थों को प्रवाह से अनादि मानने का खण्डन करते हैं और स्वरूपसे अनादि माननेके लिये ' द्वा सुपर्णा ' इस मन्त्रका प्रमाण देते हैं।

दूसरा प्रमाण 'आर्योद्देश्यरत्नमालाका है, वहां भी स्वरूपसे अनादि और प्रवाह से अनादिका स्पष्टीकरण किया गया है। 'इङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महतामभिप्रायो लक्ष्यते " (म० भा०) इङ्गित, चेष्टित आदिसे आचार्यों का अभिप्राय लक्षित हो जाता है कि महर्षि तीनों पदार्थों को स्वरूपसेही अनादि मानते हैं। इन उक्त तीनोंको प्रवाहसे

अनादि नहीं मानते थे इस विषयमें पौराणिक पण्डितों पर दोषारोपण- सर्वथा मिथ्या है क्योंकि आयुर्वेदके प्रामाणिक ग्रन्थ चरकमें भी जीवको स्वरूपसे अनादि माना है जैसे-

अदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्र पारम्पर्यमनादिकम् ॥
अतस्तयोरनादित्वात् किं पूर्वमितिनोच्यते
(च० सं० शारीरस्थान) ॥ अ० १ श्लो० ८२ ॥ ५

जीवात्मा स्वरूपसे अनादि और शरीर (प्रवाह) से अनादि है। अब जब चरकाचार्य भी जीवको स्वरूप से अनादि मानते है तो 'प्रवाह' शब्द महर्षि के किये अर्थ में बढा देने की सम्मतिको कैसे मान सकते हैं । वस्तुतः गुप्ता-जी अपने विचारों के प्रकट करने में स्वतन्त्र हैं; परन्तु महर्षि के ग्रन्थों में विना सोचे बिचारे 'प्रवाह' शब्द बढा देने की सम्मति देना उनकी अनाधिकार चेष्टा होगी ।

'द्वा सुपर्णा, का यह अर्थ नहीं कि जीव, ईश्वर, प्रकृति ये तीनों प्रवाह से अनादि हैं किंतु इसका यही अर्थ है कि स्वरूप अनादि है। इसमें मन्त्र का "सखायौ" शब्द प्रमाण है । सखा शब्द समान अर्थ का वाचक है इसमें पाणिनि आचार्यका सूत्र है "समाने ख्यः स चोदात्तः उणादि० पा० सू० समान अर्थ में सखा शब्द बनता है जिनकी प्रसिद्धि एक हो वे ही आपसमें सखा हो सकते हैं । जीवात्मा और परमात्मा दोनों अनादित्व में सखा हैं- दोनोंका आरम्भ कभी भी नहीं- सदासे है और सदा रहेंगे । प्रवाहसे अनादि अर्थमें नित्यता न रहेगी और नित्यता के न रहनेसे पापपुण्य फलभोग की कोई व्यवस्था न होगी और प्रत्यभिज्ञा (पूर्वदृष्ट वा श्रुतका स्मरण) किसी को न होगा, । कृतहान और अकृताभ्यागम दोष आजांयगे और ' यावज्जीवेत्सुखं जीवेद्दणं कृत्वा घृतं पिबेत् 'इत्यादि सिद्धान्त बनेंगे । ' दशमास्याञ्छयानः कुमारो अधिमातरि । निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्याधि स्वाहा " ॥ इस मन्त्रमें जीव का विशेषण" अक्षतः " अविनाशी=अनादि है तब द्वा सुपर्णा. मन्त्रमें प्रवाहका अर्थ कैसे सङ्गत हो सकता है । ध्यानरहे कि ऐसे अर्थसे वैदिक सिद्धान्त चौपट हो जांयगे ।

कृमियों के भेद

विंशतेः कृमिजातीनां, त्रिविधः सम्भव स्मृतः।
पुरीष कफरक्तानि, तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥
(सुश्रुत -उत्तरतन्त्र । अ० ५४)

कृमि २० बीस प्रकारके होते हैं और इनकी उत्पत्ति तीन भाँति की होती है— पुरीषसे या कफसे या रुधिरसे।

गर्भाशयमें स्थापन वस्तु को वेदमें 'बीज' नामसे कहा है । जैसे 'यस्यां बीजं मनुष्याः वपन्ति' अर्थात् मनुष्य जिस स्त्रीमें (वीर्य) बोते—स्थापन करते हैं ।

वीर्यके कीडोंसे पिण्डरूप जीव पैदा होने की बात वेदोपाङ्ग सुश्रुत चरकादि आयुर्वेदके प्रामाणिक ग्रन्थों में दिखाइये, सुश्रुत उत्तरतन्त्र अध्याय ५४ में वातज, पित्तज रक्तज २० बीस प्रकार के कृमियों का वर्णन है, वीर्यके कीडोंका नहीं, चरक में भी बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार के कृमि कहे हैं । आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि रजस और वीर्य के मेलमें गर्भाधान के समय गर्भाशयमें जीव का प्रवेश होता है। इसमें प्रमाण—

जैसे " क्षेत्रज्ञोऽनुप्रविश्याऽवतिष्ठते. "
[सु० शा०]

गुप्ताजीकी चोररूप शंका

गुप्ताजी लिखते हैं कि उपरोक्त वेद मन्त्र के इस अर्थ में अनादि शब्द का स्पष्टीकरण कर देने से अन्य वेद मन्त्रों की विरोधता मिटती है । पाठक गण ! वह क्या विरोधता है कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'ततो विराडजायत' इत्यादि मन्त्रों के भाष्यमें 'अजायतोत्पन्नमस्ति' महर्षि दयानन्दने 'अजायत' क्रियापद का अर्थ 'उत्पन्नमस्ति' उत्पन्न हुवा है, ऐसा किया है । पुनः

[विराजो२ अधि पूरुषः] तस्माद् विराजोऽधि उपरि
पश्चाद् ब्रह्माण्ड तत्वावयवैः, पुरुषः सर्व
प्राणिनां जीवाधिकरणो देहः पृथक्
अजायतोत्पन्नोऽभूत् "

विविध पदार्थों से प्रकाशित होने से ईश्वर का नाम विराट् है । विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ। यहां उत्पन्न शब्द का अर्थ प्रकट है । जो विराट्--पुरुष सृष्टि से पूर्व अप्रसिद्ध था वह सृष्टि में प्रसिद्ध हुआ अर्थात् प्रकट हुआ जनी प्रादुर्भावे' प्रादुर्भावका अर्थ प्रकट है । प्रकट अर्थ न लेकर उत्पत्तिका बनना बिगडना अर्थ लेना प्रकरणविरुद्ध

है। यहां गुप्ताजीने उत्पन्न शब्द देखा और स० प्र० ८ आठवें समुल्लास में 'द्वा सुपर्णा० के अर्थ में ईश्वर जीव प्रकृति तीनों स्वरूप से अनादि लिखे देखे। इस विरोधता को दूर करने के लिये- गुप्ताजी की सम्मति है कि द्वा सुपर्णा० के अर्थ में प्रवाह शब्द बढा देना चाहिये परन्तु ऐसा करना सर्वथा अनुचित और अन्याय होगा किन्तु 'अजायत' का अर्थ उत्पन्न और उत्पन्न का अर्थ प्रकट जीवात्मा परमात्मा और प्रकृति के साथ होगा। अन्यत्र अनित्य पदार्थोंमें उत्पत्ति का अर्थ बनना बिगडना है। देह जो जीवों का अधिकरण है उस देहकी उत्पत्ति ब्रह्माण्डतत्वके अवयवोंसे महर्षि दयानन्द ने लिखी है। जीवकी उत्पत्ति यही कि वह जो अनादितत्व पहिलेसे है वह देह के साथ उत्पन्न अर्थात् प्रकट होता है। क्यों कि—

प्रभवो न ह्यनादित्वाविद्यते परमात्मनः ॥
च. सं. शा० अ-१ ।५२

वह सूक्ष्म आत्मा स्वरूप से अनादि है, उसका उत्पादक कोई नहीं

अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः ॥
च. सं. शा० अ. १ श्लो. ५८

जीव अनादि और नित्य होनेसे उत्पन्न नहीं होता। अनादि पदार्थ और प्रवाह से अनादि पदार्थ दोनों की परिभाषा पृथक् २ लिखनेसे महर्षि दयानन्द का अभिप्राय स्पष्ट है कि ईश्वर जीव प्रकृति तीनों स्वरूप से अनादि नित्य हैं और कार्य जगत् जीवके, कर्म इनका, संयोग वियोग प्रवाह से अनादि है। ईश्वर व जीवको प्रवाहसे अनादि लिखना 'द्वा सुपर्णा० इस मन्त्रके "सखायो" पदसे विरुद्ध है; क्योंकि स्वरूप से अनादित्व में जीव और ईश्वर दोनों सखा हैं।

एक ओर 'अनादि' दूसरी ओर उत्पन्न लिखा देखके उसका समाधान न कर पानेसे महर्षि के लेखमें पूर्वापर विरोध दिखाना गुप्ताजी का आशय है। सो इस का उत्तर यह है कि उत्पन्न शब्द का अर्थ प्रकट होना लेनेसे कोई विरोध नहीं आता अर्थात् अनित्य पदार्थोंके साथ उत्पन्न का अर्थ बनना बिगडना और नित्य पदार्थों के साथ प्रकट होना अर्थ लेने से कोई विरोध नहीं है।

[५] परब्रह्म परमात्मासे पशु कीट पतंग आदि

क्षुद्र जीवोंकी उत्पत्ति

शीर्षक लिखकर गुप्ताजीने इस विषयमें 'तस्माद्य— ज्ञात्सर्वहुतः" य० अ. ३१ मन्त्र ६ का प्रमाण दिया है और इस मन्त्र की टि. १ में लिखा है कि "इससे महर्षि दयानन्दजीके संस्कृत भाष्यके अनुसार समस्त जीवोंका उत्पन्न होना सिद्ध है"[उत्तर] महर्षि का भाष्य =

स च परमेश्वरो वायव्यात् वायुसह चरितात् पक्षिणश्चके, "चकरादन्यान्सूक्ष्म देहधारिणः ॥" प्रश्न यह है कि क्या सृष्टि अपने आप बन गयी अथवा किसी के बनाने से बनी है इसका उत्तर मन्त्रों में है कि सृष्टि अपने आप नहीं बनी किन्तु इसका बनानेहारा मुख्य निमित्तकारण सच्चिदानन्द ईश्वर है। पक्षोऽस्यास्तीति पक्षी बहुवचनमें 'पक्षिणः' अर्थात् सृष्ट्यारम्भ में पक्षियों और सूक्ष्म देहधारियों के शरीरोंके सांचे परमात्माने उपादान प्रकृति की रचना से बनाये परन्तु जीवोंको नहीं बनाया वे तो पूर्व से नित्य हैं ही। जीवोंकी उत्पत्ति लिखना युक्ति और प्रमाणशून्य होनेसे माननीय नहीं।

तस्मादश्वाऽ अजायन्त-- ये के चोभयादतः ॥
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाताऽअजावयः॥
य० अ. ३१। मं. ८

"उसी परब्रह्मकी शक्तिसे अश्व अर्थात् घोडे उत्पन्न हुवे' इस मन्त्र की टिप्पणी में गुप्ताजी लिखते हैं कि "जिससे सिद्ध है कि हरएक जीवात्मा उत्पन्न होनेवाला है और जो उत्पन्न होनेवाला होता है वह मरणधर्मा भी होता है और उसका रूपान्तर भी होता रहता है" इत्यादि 'वह नित्य न होकर अनित्य ही है' [उत्तर] गुप्ताजी, जीव उत्पत्ति विनाश रहित है-उत्पत्ति विनाशमें प्रत्यभिज्ञाकी बाधा होगी। इसका उत्तर है कि सृष्ट्यारम्भ में घोडे गाय आदि के शरीरोंके सांचे परमात्माने उपादान प्रकृति की रचना से बनाये। परमात्मा कुछ आप नहीं बनाता और न अपने में से बनाता क्योंकि वह सबसे पृथक् है। उस की समीपतासे प्रकृति में क्रिया होती है।

वैदिक धर्म अङ्क १२ सन् २००६ दिसम्बर पृ,४४४, टि. नं. ३ 'इतनाही नहीं महर्षि दयानन्द ने आर्य समाजके प्रथम नियम में ही स्पष्टतया दिखाया है कि जो पदार्थ विद्या

से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है। अर्थात् जीवप्रकृति आदि पदार्थ विद्यासे जाने जाते हैं इसलिये इन का आदि मूल परमेश्वर है। इसके आगेके नियम में लिखा है कि 'ईश्वर' सृष्टिकर्ता है इसलिये जीव सृष्टि के अन्तर्गत होने के कारण यह उत्पन्न होनेवाला कार्य है इत्यादि लेख गुप्ताजीका है।

यहां भी गुप्ताजी जीवात्माको उत्पत्तिधर्मवाला सिद्ध करना चाहते हैं और प्रमाणमें आर्यसमाज के प्रथम और द्वितीय नियम को रखा है। गुप्ताजीने आदि मूल का अर्थ उपादान समझा है सो नहीं आदि मूल का अर्थ मुख्य निमित्तकारण है। मूलका अर्थ प्रतिष्ठा— आधार है– 'मूल' प्रतिष्ठायाम् इस धातुसे मूल शब्द बना है। मूल का अर्थ उपादान कारण नहीं। उपादान कारण तो प्रकृति है।

पृ. ४४४ टि. नं. ४ में गुप्ताजी लिखते हैं कि–इससे स्पष्टतया सिद्ध है कि इन वेदमंत्रों तथा उपनिषद आदि के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व जीवात्मा तथा उसके आधारभूत पृथ्वी आदि लोकों का कोई अस्तित्व नहीं था; इत्यादि।

(प्र० लो०) गुप्ताजी आयुर्वेद और उपनिषद आदि के प्रमाणों और महर्षि दयानन्द के लेखों से जीवात्मा उत्पत्ति धर्मवाला है अथवा सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व जीवात्मा का अस्तित्व न था इत्यादि कभी नहीं सिद्धकर सकते क्योंकि दर्शन ग्रन्थ उपनिषद,सूत्र,स्मृति सबही वेदको लेकर चलते हैं। मनुजी कहते हैं कि "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" वेद सम्पूर्ण धर्मका मूल है और वेद जीवको अक्षत [अविनाशी] कहता है। वेद ऋ. मण्ड. १ सू. १६४ मन्त्र२०में जीव को स्वरूप से अनादि उपदेश करता है। उपनिषदों से आशा न रखिये। देखिये जीवात्मा के विषयमें उपनिषद क्या कहते हैं।

न जायते म्रियते वा विपश्चित् नायङ्कुतश्चि-न्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यःशाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

कठोपनि० द्वितीया वल्ली। मं० १८

यमाचार्य कहते हैं कि यह जीवात्मा न उत्पन्न होता और न मरता है। ऐसे ही ज्ञानस्वरूप परमात्मा भी है। इसका कोई कारण नहीं जिससे इन दोनों की उत्पत्ति स्वीकार की जावे किन्तु वह अज, नित्य, और पुराण है। शरीर के नाश होनेपर उसका नाश नहीं होता।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः॥ प्रश्नोप० गुप्ताजी लिखते हैं कि इससे सिद्ध है कि जीवात्माका अस्तित्व विना शरीर नहीं हो सकता।

[उत्तर] कभी माताके गर्भ में ही सन्तान मर जाती है। उस समय शरीरके साथ जीवका अस्तित्व क्यों नहीं रहता इससे स्पष्ट है कि जीव और शरीर पृथक् हैं। जीव चेतन है शरीर जड है। शरीरमें जो चेतनता आती है वह जीवके संयोगसे और वियोगसे जडता आती है।

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्म देहोपभोग देहः॥

कर्मदेह, उपभोगदेह और उभयदेह ये तीन प्रकार के देह हैं। मनुष्यदेह उभयदेह है इसमें करना और भोगना दोनों है।

रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते॥

[चरक संहिता]

रजोगुण और तमोगुण से घिरा हुवा जीवात्मा [चक्र] पहियेकेसा कभी नीचे कभी ऊंचे लोकों व शरीरोमें जाता है। गुप्ताजी कहते हैं ज्ञान व कर्मभोग सुखदुःख ये विना शरीर के नहीं हो सकते। हम भी मानते हैं कि यह शरीर रथ है इस शरीररूपी रथके नियन्ता जीवात्मा रथी हैं किन्तु शरीर चेतनविशिष्ट जीवात्मा नहीं है। वह शरीर से पृथक् सद्रूप चेतन है और शरीर भोगोंका आयतन [स्थान] है।

जीवका स्वरूप

[आर्योद्देशर० मा०] क्र० सं० ७७– जो चेतन, अल्पज्ञ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुखदुःख और ज्ञानगुणवाला तथा नित्य है वह जीव कहाता है। महर्षि दयानन्दने जीवको चेतन और नित्य माना है।

प० १२ आ० ३ री.

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभि-सम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः॥

बृह०। ४। ३। ८॥

वह जीवात्मा शरीर को प्राप्त होता हुवा जन्मता और शरीर से निकलता हुआ — मरता कहाता है ॥ "शरीरादि व्यतिरिक्तः पुमान्" ॥ सां. । अ. १ । सू. १३९ शरीर [मन बुद्धि आदि] से पुरुष भिन्न है।

वै० ध० पृ० ४४६- क्र० सं. ३

३ जीवात्माका स्वरूप

गुप्ताजी लिखते हैं कि-किन्तु बहुतसे वेद विरोधी मतानुयायियोंका कथन है कि मातापिताद्वारा जीवात्माके शरीर का पुनर्जन्म होता है न कि जीवात्मा का, इत्यादि।

जीवात्माके क्रिया-भेद

इस शीर्षक में गुप्ताजी लिखते हैं कि—क्र० सं. नं. १ हरएक प्रकार के जीवका स्वरूप शरीर के सहित ही होता है। न कि शरीर से पृथक् [वै० ध० पृ० ४४६]

[प्र० लो०] शरीरके पुनर्जन्मके साथ पुनर्जन्म अनादि नित्य चेतन आत्माका होता है । आत्मा यदि अनादि नित्य न हो तो पुनर्जन्म किस का हो । जो है वही होता और जो नहीं है उसका होना क्या, उत्पन्न होने और बिगडनेवाले पदार्थ का कोई नित्य स्वरूप नहीं हो सकता। जीवात्मा स्वरूपसे अनादितत्व, चेतन, सद्रूप और शरीर से पृथक् है ॥

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात्

सां. । अ० ६ । सू० २ ॥

वह [आत्मा] विचित्र होने से देहादि से भिन्न [वस्तु] है।

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राऽभावादर्थान्तर प्रत्यक्षः ॥

[वै० । अ० ३ । आ० २१ सू० १४]

'मैं हूं' ऐसा व्यवहार छिपे हुए आत्मा में होनेसे और शरीर में न होनेसे अन्य अर्थ का प्रत्यक्ष है ॥ १४ ॥

(४) जीवात्माका अनुभव

गुप्ताजी लिखते हैं कि जीव में क्रियाशीलता व कर्तृत्वका अनुभव है, यह 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्, वे०। २। ३।३३। का गुप्ताजी लिखित अर्थ है "शास्त्रके सार्थक होनेसे कर्ता (जीव कर्ता) है।

"और क्रियाशीलता व कर्तृत्वका अनुभव विना शरीर के नहीं हो सकता इससे सिद्ध है कि जीवका अस्तित्व विना शरीर नहीं हो सकता।"

[उत्तर] जीवका अस्तित्व शरीरके विना ही है क्योंकि वह अनादि नित्य सद्रूप चेतन है । हाँ जब सकाम कर्म करता है तब अपने किये हुवे अच्छे बुरे कर्मों का फल भोगने के लिये बन्धनरूपी शरीर में आता और जाता है । यदि शरीर के विना उसका अस्तित्व नहीं ऐसा अविनाभाव सम्बन्ध मानते हो तो शरीर के रहते हुए उसका नाश न होना चाहिये, वह द्रव्य है वा गुण! क्या मानते हो? जब शरीर के विना जीव का अस्तित्व नहीं तो वह शरीर का गुण ही होगा-अस्तु । शरीर से जीवका इतना ही सम्बन्ध हैकि वह भोगायतन मात्र है औरकुछ नहीं क्योंकि "नास्याऽ शरीरस्याऽत्मनःकश्चिद् भोगोस्तीति ॥ वा० भा० "] शरीररहित जीव का कोई भोग नहीं है।

नात्मा ऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः॥

वे० । अ० २ । पा. ३ । सू० १७

[आत्मा] जीवात्मा [न] उत्पत्ति प्रलयवाला नहीं है [ताभ्यः] उन श्रुतियों से [च] और [नित्यत्वात्] नित्य होने से [अश्रुतेः] जीवात्मा की उत्पत्ति और प्रलय वेदोक्त न होनेसे ॥

ज्ञोऽत एव ॥ वे० । अ० । २ । पा० ३ । सू० १८ ॥

[अत एव] इसी कारण से [ज्ञः] चेतन है । क्योंकि जीव प्राकृत और उत्पत्तिविनाशरहित है अतएव चेतनभी है, जड नहीं ॥ १८ ॥

गुप्ताजी लिखते हैं कि 'अब पाठक विचार सकते हैं कि जिसतरह ज्ञान व कर्म विना शरीरके नहीं होसकता उसीतरह सुखदुःखका भोगभी विना शरीर के नहीं होसकता। जिससे जीवात्माको शरीरका आश्रय रहना अवश्यम्भावी है। न्यायदर्शनमें गौतम मुनिने जीवात्मा के छ लिंग बताये हैं—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति [न्यायद० । १ । १ । १० ॥

छहो चिह्न विना शरीर के नहीं हो सकते जिससे जीवात्मा का शरीरके साथही रहना होसकता है न कि शरीर से पृथक् ॥ "

इसीप्रकार प्राणापान० । वै० । ३ । २ । ४ । का प्रमाण है

[उत्तर] गुप्ताजी, इच्छा द्वेषादिको आत्माका स्वरूप गौतम मुनिने नहीं कहा किन्तु चिन्ह कहा है । चिन्हही आपभी लिखते हैं, पुनः स्वरूप के शीर्षक में लिखना व्यर्थ है जो लोग बुद्धि आदिकोही आत्मा मानते हैं उनके खण्डनार्थ गौतम ने देह में आत्मा [बुद्धि आदि] से चेतन भिन्न है इसकी पहिचान इच्छादि ६ बताई हैं, उनको लिङ्ग या चिन्ह कहा है ' स्वरूप ' नहीं कहा ।

" औरभी एक बात है कि जहां २ आत्मा के गुण स्वभाव चिन्ह आदि कहे हैं वे ज्ञान व चैतन्यको छोडकर मन सहित आत्मा के हैं, केवल के नहीं " ' इसप्रकार इन सूत्रोंमें यह कहा गया है कि स्वरूप से ही आत्मा के निर्गुण होने और असङ्ग होने से सुखदुःख का लेप अपने आपही नहीं तथापि उन की निवृत्ति का उपाय [विवेक] आवश्यक है " यह शरीर जीवात्मा के पूर्वोपार्जित कर्मोंकी कमाई है ।

[जीवात्मा के लक्षण] वै० ध० । क्र. १२ दिसे० पृ० ४४८ में गुप्ताजी लिखते हैं कि 'जीवका कर्तृत्व ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व केवल शरीर द्वाराही होने के कारण परिच्छिन्न विभु नहीं । मेरा जीव मेरे शरीर के बाहर नहीं और आपका जीव आप के शरीर के बाहर नहीं इत्यादि-

[उत्तर] शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ॥

सां० । अ० १ । सू० १३९ ॥

शरीर [मन बुद्धि आदि] से पुरुष भिन्न भिन्न है ।

जीवात्मा की शक्तियाँ अविवेकके कारण शरीर में छिपी रहती हैं । ये छिपी शक्तियाँ योगाभ्यासमें प्रकट हो जाती हैं जब यह श्रेय मार्ग की ओर जाता है तब आंख कान आदि साधनों के विनाही यह देख सकता, सुनासकता अपने चित्तको दूसरे के चित्तमें प्रवेश करता इस प्रकार ऐश्वर्य बल योगीको आठ प्रकार का होता है, प्रमाण जैसे-

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया ।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ।
इत्यष्टविधमाख्यातं, योगिनां बलमैश्वरम् ॥
मनसश्च सामाधानात् तत्सर्वमुपजायते ॥ १ ॥

[च० सं०]

शरीर की अपेक्षा जीव विभु नहीं किन्तु परिच्छिन्न है यह ठीक नहीं क्योंकि जीव ही अपने स्वरूप से वर्तता है । जीवका शरीरान्तर में आना जाना संयोग वियोगादि नहीं हो सकते । यदि विभु होतो परिच्छिन्नमें आना जाना आदि बन सकता है । जीव अणु परिमाणवाला है, प्रमाण--

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः ॥ मुण्ड०

जीवके गुण कर्म स्वभाव ससीम हैं और ईश्वरके निस्सीम हैं । ईश्वर महत्परिमाणवाला है ।

" विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा " ॥

वै० । अ० ७ । आ १ । सू० २२

व्यापक होनेसे आकाश महत् परिमाणवाला है। वैसेही व्यापक होनेसे ईश्वर महत परिमाणवाला है ।

गुप्ताजी [६] जीव चेतन विशिष्ट शरीर है ।

वै० ध० पृ. ४४८

यह गुप्ताजीने बृहस्पति और चार्वाकसे लिया है-

' तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात् ' अर्थात् चैतन्यविशिष्ट देहही आत्मा है; देहसे अतिरिक्त आत्माके होने में कोई प्रमाण नहीं यह चार्वाक का मत है । गुप्ताजी इसी को वेदोक्त मानते हैं. किन्तु महर्षि दयानन्दजी चैतन्यविशिष्ट देहको आत्मा नहीं मानते और न आर्यसमाज मानता है और न अब मानने को तैयार है किन्तु जैसा महर्षि दयानन्दने अपने निर्मित सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों में ईश्वर जीव और प्रकृति को स्वरूप में अनादि-नित्य लिखा और माना है वही आर्य समाज भी मानता है और मानेगा । वै० ध० पृ० ४४८ क्रमांक १२ दिसम्बर में अपनी छठी टिप्पणी में गुप्ताजी लिखते हैं "कि वह जीवात्मा शरीरसे इतर कोई वस्तु नहीं है " इस विषयमें हम गुप्ताजी से पूँछते हैं कि ' मैं और मेरा ये दो शब्द हैं ' अहमस्मि। मै हूं 'इस ज्ञान में मैं' वाच्य जीव शरीर से पृथक् है या नहीं । परन्तु मेरा कहनेसे मेरा शरीर ऐसा अर्थ होता है। ' मैं ' शब्द से अपने २ प्रकरण में जीव और ईश्वर दोनोंका ग्रहण होता है जैसे ' वेदाहमेतम्० ' य० । इस मन्त्र में है । अर्थात्-

एतं महान्तं पुरुषम् अहं [जीवो] वेद [जानामि]

पञ्चमहाभूतोंसे बनी वस्तुओंकोही इन चर्मचक्षुओंसे देख सकते हैं और जो भौतिक नहीं—जैसे जीवात्मा उस अभौतिक को आप भौतिक चक्षुसे कैसे देख सकते हैं। हाँ ज्ञानचक्षु और तपचक्षुओंसे देख सकते हैं। क्या इन चर्मचक्षुओंसे न देख सकने से यह मान लिया जाय कि जीवका अस्तित्व ही नहीं। ऐसा कदापि नहीं हो सकता क्यों कि 'यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि ॥ च० सं. ॥ जिन आंख आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष की उपलब्धि होती है वे इन्द्रियां ही, प्रत्यक्ष नहीं यदि कहें कि आंख कान आदि तो प्रत्यक्ष हैं। सो नहीं आंख कान आदि इन्द्रियों के गोलक हैं इन्द्रियशक्ति तो उनसे अलग है शरीर नाशवान है और जीवात्मा नाशवान नहीं, प्रमाण-

न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवानिदेषि पथिभिः सुगेभिः ॥

य० अ० २३ मं. १६

वेद कहता है कि इस शरीर में जो जीवात्मा है वह मरता नहीं किन्तु विद्वानों की सङ्गतिसे दिव्य गुणोंको प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। अब आपका कहना मानें अथवा वेद का क्यों कि आप तो लिखते हैं " वह शरीर से इतर कोई वस्तु नहीं है "। और वेद कहता है वह शरीर से इतर और अमर है। अन्य भी—

वायुरनिलममृतमथेदं, भस्मान्तं शरीरम् ॥

य०। अ० ४०। मं. १५

शरीरसे इतर जीव नहीं उसकी पुष्टिमें गुप्ताजीने वेदान्त दर्शनका प्रमाण दिया है कि " एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ वे०। ३। ३। ५३ ॥ इसका अर्थ गुप्ताजी लिखते हैं कि " प्रत्येक जीवित शरीर में एक आत्माकी व्याप्ति पाये जाने से जीवात्मा जीवित शरीर से पृथक् नहीं है क्योंकि शरीर के जीवित रहने पर जीवात्मा रहता है और शरीर मृत [नष्ट] होने पर जीवात्मा नष्ट हो जाता है ॥

(प्र० लो०) वेदान्त दर्शन। ३। ३। ५३ सूत्र से पूर्व ब्रह्मोपासना का विचार है कि वही उपास्य है- यह सूत्र कहता है कि " (एके) कई लोग कहते हैं (आत्मनः) जीवात्माके [शरीरे] शरीर में (भावात्) होनेसे ब्रह्मको उपास्य न मान इसी आत्माको उपास्य क्यों न माना जाय [यह भावार्थ पं० तुलसीराम स्वामी के किये वेदान्त दर्शन का है] इससे अग्रिम सूत्र वे०। ३। ३। ५४ में समाधान है कि ब्रह्मही उपास्य है जीव नहीं।

गुप्ताजी का सूत्रार्थ सूत्रके मूल पदों और प्रकरणके सर्वथा विरुद्ध है,'प्रत्येक जीवित शरीर में' यह सूत्र के किस पदका अर्थ है। एक आत्मा की व्याप्ति पाये जाने से एक आत्माकी यह अर्थ एक आत्मनः का अशुद्ध है। क्योंकि पद-च्छेदमें, एके आत्मनः, एके का अर्थ कई एक लोग ऐसा है। आत्मनः के लिये एक शब्द नहीं है। शरीरे (शरीर में) भावात् [होनेसे] आपने शरीर के साथ व्याप्ति शब्द अपनी ओर से लिख दिया। पाठकगण! गुप्ताजी का यह शास्त्रीय परिपक्व बोध है। सूत्रार्थ की यह दशा! अब इस सूत्रपर लिखे हुवे शांकरभाष्य को देखिये। श्री स्वामी शंकराचार्यजीने भाष्यमें यह सिद्ध किया है कि जीव देह से पृथक् है। देहही जीव नहीं, किन्तु गुप्ताजी इस भाष्यको अपने पक्ष का पोषक कैसे मान बैठे, यह वे ही जानें। क्योंकि यह शांकरभाष्य तो देहको जीव नहीं मानता जैसा कि गुप्ताजी मानते हैं। स्वामी शंकराचार्यजी लोकायतिकों का सिद्धान्त लिखते हैं कि—

[१] ' अत्रैके देहमात्र आत्मदर्शिनो लोकायतिका देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभावं मन्यमानाः समस्त व्यस्तेषु ब्राह्येषु पृथिव्यादिष्वदृष्टमपि चैतन्यशरीराकार परिणतेषु भूतेषु स्यादिति सम्भावयतश्चैतन्यं मदशक्तिवत् विज्ञानं चैतन्यविशिष्टः कायः। पुरुष इति चाहुः "॥

यहां कोई लोकायतिक देहकोही आत्मा जानते हैं। उनके मत में देहसे पृथक् आत्मा के होने में कोई प्रमाण नहीं है। एकीभूत अथवा पृथक् ब्रह्म सम्बन्धी पृथिव्यादि पदार्थोंमें चेतनता अदृष्ट है तबभी उनका मत है कि शरीराकार परिणत पंच महाभूतों में चेतनता आ जाती है। दृष्टान्त मदशक्तिवत् मद [नशा] की शक्तिके समान। जैसे महुवे को जल में सडाके उसके अर्क में नशा उत्पन्न हो जाता है परन्तु प्रथम नहीं होता। ऐसेही गुडकी शराब बनाई जाती है और उडद आदि की भी। इसी प्रकार शरीर में भी चेतनता आजाती है।

इस उपर्युक्त पूर्व पक्षका उत्तर श्री स्वामी शंकराचार्य

लिखते हैं।

(२) न स्वर्गगमनायापवर्गगमनाय वा समर्थौ, देहव्यतिरिक्तश्चात्मास्ति, यत् कृतं चैतन्यं देहस्यात्, देह एव तु चेतनश्चात्माचेति प्रतिजानीते ॥

यदि देह ही आत्मा हो तो वह स्वर्ग और मोक्ष के लिये समर्थ नहीं। देह तो यहां नष्ट हो जाता है, चेतनता भी मृतक शरीर के साथ नष्ट हो जाती है। इसलिये मानना पडता है कि देहसे पृथक् आत्मा है जिसके संयोगसे शरीर में चेतना आजाती है। परन्तु देह ही आत्माहै ऐसा लोकायतिकोंका पक्ष है अर्थात् हम (शंकराचार्य) जो देह से अलग आत्माको मानते हैं। देहको आत्मा नहीं मानते। इसी को स्पष्ट करते हैं 'व्यतिरिक्तश्चात्मास्ति" देहसे व्यतिरिक्त आत्मा है। जिस आत्मासे की हुई चेतनता देहमें होती है 'देह एव तु चेतनश्चात्मेति प्रतिजानीते' परन्तु लोकायतिक देहको ही आत्मा मानते हैं।

वे० द. । ३ । ३ । ३५ का अर्थ, 'कई लोग कहते हैं कि [शरीरे] शरीरमें [आत्मनः] आत्मा के [भावात्] होने से जीवात्मा ही उपास्य है अन्य परमात्मा कोई नहीं ॥ शरीरे 'भावात्" इसपर शाङ्करभाष्य यह है कि

"हेतुश्चाचक्षते 'शरीरे भावादिति' यद्धि यस्मिन् सति भवत्यसति च न भवति तत् तद्धर्मत्वेनोदयेऽवसीयते॥ जिसके होनेपर जो हो और न होनेपर न हो वह तद्धर्मत्वके उदय होनेपर उसीका माना जाता है।

[४] "यथा- अग्निधर्मावौष्ण्यप्रकाशौ"

भगवान् शङ्कर दृष्टान्त देते हैं—जैसे अग्निके दो धर्म एक गर्मी दूसरा प्रकाश जबतक अग्नि है ये दोनों अग्निके धर्म नष्ट नहीं होते। इसी प्रकार शरीरमें जबतक आत्मा है शरीर नष्ट नहीं होता, जब आत्मा शरीरसे निकल जाता है—शरीर नष्ट होजाता है।

[५] देह आत्मा नहीं इस विषयमें भगवान् शङ्कर अन्य भी युक्ति लिखते हैं-

"प्राण चेष्टा चैतन्य स्मृत्यादि याश्चात्मधर्मत्वेनाभिमता आत्मवादिनां ते मन्यन्ततेव देह उपलभ्यमाना वहिश्चाऽनुपलभ्यमाना असिद्धे देहव्यतिरिक्ते धर्माणि देहधर्मा एव भवितुमर्हन्ति— तस्माद् व्यतिरेको देहात्मन इति" अर्थात् प्राण, चेष्टा, चेतनता और स्मृति आदि आत्मधर्मत्वसे जो आत्मवादी मानते हैं वे सब धर्म भी देहके ही हो जाँयगे देहसे बाहर उक्त धर्म उपलभ्यमान नहीं है, यदि ये उक्त धर्म देहसे पृथक् न हों तो-देहके ही स्मृत्यादि धर्म होने योग्य हैं 'तस्माद् व्यतिरेको देहात्मन इति, इसलिये देह और आत्माका व्यतिरेक भाव है अर्थात् देह ही आत्मा नहीं देह और आत्मा दोनों अलग अलग हैं।

उपर्युक्त शाङ्करभाष्य के अनुसार 'एक आत्मनः शरीरे भावात्' का यह अर्थ है कि 'एके' लोग कहते हैं कि शरीरमें आत्माके होनेसे शरीरको ही आत्मा क्यों न मान लिया जाय इस पूर्वपक्षका उत्तर अग्रिम सूत्रमें है। जैसे-

व्यतिरेकस्तद् भावभावित्वान्नतूपलब्धिवत्
[वे० । ३ । ३ । ५४]

[व्यतिरेकः] आत्मा और देहका व्यतिरेक भाव अर्थात् दोनों ही अलग अलग हैं [तद्भावभावित्वात्] उसके भावको भावी होनेसे [तु] परन्तु [उपलब्धिवत्] [न] उपलब्धिके समान उसकी प्राप्ति नहीं ॥ ५४ ॥

इस सूत्रके भाष्यमें भगवान् शंकराचार्यजी लिखते हैं कि-

" अपि च सत्सुप्रदीपादीषूपकरणेषूपलब्धिर्भवत्यसत्सु न भवति"

वस्तु है परन्तु उसकी उपलब्धि (प्राप्ति) अन्धकारादिके कारण नहीं होती, तथापि वही सूर्य वा दीपकादिके प्रकाशमें उपलब्ध हो जाती है। इसी प्रकार जीवात्मा अति सूक्ष्म है शरीरका अध्यक्ष और प्राणधारक है, नित्य और अनादि अल्पज्ञ है, चेतन है, शरीरसे पृथक् उसका अस्तित्व है परन्तु अभौतिक होनेसे इन चर्मचक्षुओंसे उसकी उपलब्धि नहीं होती वही वासना सहित हो शरीरमें आ गर्भाशयमें गर्भाधानसमय प्रविष्ट होकर देहोत्पत्तिके साथ अपने इच्छादि गुणोंसे प्रकट हो जाता है, उस जीवके संयोगसे यह जड शरीर भी चेतन होता है अस्तु।

गुप्ताजी दीप और दीपशिखाका दृष्टान्त देते हुवे लिखते हैं कि 'चेतनताके बिना उसके उपकरणरूप शरीरका अस्तित्व रह सकता है परन्तु शरीररूपी उपकरण

के विना जीवात्माकी चेतनताका अस्तित्व नहीं रह सकता [प्रत्यालो.] जीवात्मा चेतनावान् है, उसकी चेतनता उसके रहते नष्ट नहीं हो सकती, वह नित्य है उसकी चेतनता भी नित्य है। गर्भाशयमें जीवके प्रवेश करनेपर ही शरीर रचना होती, जीव न प्रवेश करे तो शुक्र शोणित दुर्गन्धयुक्त सड जाय। इसमें प्रमाण—

भोक्तुरधिष्ठानाद् भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभाव प्रसङ्गात् ॥ ११४॥

[सां० । अ० ५ । सू० ११४]

जब जीव शरीरसे निकल जाता है तो जीवके विना शरीरका अस्तित्व नहीं रहता और रह सकता-उसी समय से कीडे मकोडे जन्तु शरीर में लिपट जाते शरीर सडने लगता गीद्ध आदि गिरते। शरीरके सब व्यापार बन्द हो जाते। वास्तवमें शरीरका अध्यक्ष शुद्ध जीव है-जबतक शरीरमें वह रहता है- कोई भी शरीरको स्पर्श नहीं कर सकता सब डरते हैं। शरीर कारावास [जेल] बन्धन और भोगायतन है। जीवका शरीरके साथ इतना ही सम्बन्ध है और कुछ नहीं-आप जो शरीरको ही जीव मन वाना चाहते हैं यह युक्ति और वेदादि सत्य शास्त्रोंसे विरुद्ध है, देखिये-आयुर्वेद क्या कहता है—

संसर्गे तु शुक्रशोणितसंसर्गमन्तगर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति सत्व सम्प्रयोगात् तदा- गर्भोऽभि निर्वर्तते ॥

(च० सं० शा० अ० ३१ सु० १)

आत्मजश्चायं गर्भो गर्भात्माह्यन्तरात्मा यस्तमेनं जीव इत्याचक्षते, शाश्वत मरुज— ममरमक्षयमभेद्यमच्छेद्यमलेद्यं विश्वरूपं विश्व कर्माणमव्यक्तमनादिमनिधनमक्षर- मपि। सगर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणि- ताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मान ५ त्मानमात्मसंज्ञाहि गर्भे तस्य पुनरात्मनो जन्मादि सत्वान् नोपपद्यते, तस्मादजात एवायं जात गर्भं जनयति जातोप्यजातश्च गर्भं जनयाति ॥

(च० सं० शा० । अ० ३ । सू० १०)

गर्भ आत्मज भी है क्योंकि गर्भात्मा ही अन्तरात्मा और जीवनामसे कहा जाता है यह अन्तरात्मा नित्य, नीरोग, अजर, अमर, अक्षय, अभेद्य, अच्छेद्य, अक्लेद्य, विश्वरूप, विश्वकर्म, अव्यक्त, अनादि, मृत्युरहित, अक्षर कहा जाता है। गर्भाशयमें अनुप्रवेशकर शुक्र शोणितके साथ मिल जाता है तभी गर्भ उत्पन्न होता है। आत्मा ही आत्माको उत्पन्न [प्रकट] करता है, गर्भमें ही इसकी आत्मसंज्ञा है। यदि अजात आत्मा ही स्वयं अपने गर्भमें प्रकट न करता तो अनादि और नित्य होनेसे इसका जन्म लेना किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता इसलिये यह अजात होता हुआ भी जात गर्भको उत्पन्न करता है और जात होकर भी अजात रहता है ॥

जीवात्माकी आयुके विषयमें गुसाजी का विचार

' जिस तरह हर एक दीप शिखाके लिये दीपक तेल ओ बत्तीका होना आवश्यकीय है उसी तरह जीवात्माकी चेतनताके लिये शरीर प्राण और ज्ञान तन्तुओंका होना आवश्यकीय है और जिस तरह जिस २ दीपकमें जिस २ परिमाणसे तेल होता है उस २ दीपककी दीपशिखा उसी २ परिमाणके कालतक प्रज्वलित रहती है। वह दीपशिखाओंका काल दीपशिखाओंकी आयु है। उसी तरह जिस २ जातिके जीवात्माओंमें अपने २ पूर्व पुरुषोंके परिमाणके अनुसार जितने २ समयके लिये प्राण वायु रहना निश्चित है उस २ जातिके जीवात्माओंकी चेतनता उसी २ परिमाणके कालतक रहती है। यह जीवात्माकी चेतनताका काल उनकी आयु है।

[प्रत्यालोचना]

जीवात्माओंकी चेतनतासे तात्पर्य शरीरोंकी चेतनता, यह चेतनता शरीरमें प्राणवायुके रहनेतक रहती है। यही जीवात्माओंके चेतनताकी आयु है, ऐसा गुसाजीका मत है इसमें आपने दीपका दृष्टान्त दिया है कि दीपकमें जितना और जबतक तेल रहेगा तभीतक दीप शिखा प्रज्वलित रहेगी-तेलके परिमाणके साथ दीप शिखाकी आयु है। इसी प्रकार जीवात्माओंके चेतनताकी आयु प्राणके साथ है, अस्तु।

दीपकमें तेल डालनेवाला कोई दूसरा ही होगा। वह तेल पूर्ण डाले अथवा न्यून डाले अथवा न डाले यह सब उसपर है, पर डालनेके पक्षमें जितना तेल होगा उस

परिमाणसे उतने समयतक दीपशिखा प्रज्वलित रहेगी। दीप, तेल, बत्ती, स्थान सभी हों और तेल डालने, बत्ती जलाने आदिका चेतन न हो तो ये सब उपकरण स्वयं कुछ नहीं कर सकते- प्राणका निश्चित रूपसे शरीरमें रहे विना ब्रह्मचर्य धारण असम्भव है, ब्रह्मचर्यसे प्राण बलवान् होकर वशमें होते हैं, प्राणायामसे आयु बढती है। कर्ता और करणके योग विना कुछ नहीं हो सकता, कर्ता और उपकरण दोनों पृथक् २ होते हैं।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः॥
योः। पा० २। सू० १२ [क्योंकि]

वर्तमान और भावी जन्मोंमें पाने योग्य कर्म फलोंका मूल क्लेश ही है।

सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥
(यो०। पा० २ सू० १३)

मूलके रहते हुवे उनका फल—१जाति २ आयु और ३ भोग हैं॥ १३॥

वासनायें प्रवाहसे अनादि हैं। 'तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्॥ (यो०। पा० ४। सू० १०)

वासनाओंको अनादिता है। आशिषके नित्य होनेसे १० वासना वृक्षोंपर जाति, आयु और भोगरूप फल लगते हैं। वासनायें कैवल्य मुक्तिमें ही नाश हो सकती है। १- अविद्या २ अस्मिता (राग) ३ द्वेष ४ अभिनिवेश इनके होनेपर ही जन्म आयु और भोग जीवको प्राप्त होते हैं। " आयुषो वैषम्यम् "। प्रत्यक्षमें आयुकी विषमता दीखती है उसका क्या कारण है। बच्चा पैदा होते ही मरनेका क्या कारण है। कोई ५० कोई ८ कोई २५ कोई ३५ इत्यादि मृत्युकी न्यूनाधिकताके कौन कारण हैं। यदि अनादि और नित्य चेतन आत्मा देहसे पृथक् आपके विचारमें नहीं है तो इनका यथार्थ उत्तर क्या है ?

और जो विकासवादियोंमें से मिस्टर स्काऊट लिखते हैं कि यदि हम कहें कि आत्मा शरीर ही है तो हमको इतना और कहना चाहिये कि " भीतरी अनुभूतिसे युक्त शरीर आत्मा है " यहाँ भीतरी अनुभूतिका अनुभव करनेवाला शरीरसे अलग मिस्टर स्काऊट मानते हैं।- मि० स्काऊट वैदिक सिद्धान्त आत्मवादके पक्षमें आपसे अधिक समीप हैं। अस्तु।

[७] जीवकी चेष्टाका आश्रय आधार शरीर है

[वै० ध० २००६ क्रमांक १२ पृ. ४५१]

[प्रत्यालो०] शरीर लक्षण लिखते हुए गुप्ताजी गोतमीयन्याय १।१।११ का प्रमाण देकर लिखते है कि ' भावार्थ यह है कि इन्द्रियोंके चेष्टासहित शरीर को जीव कहते हैं ' ॥ फिर लिखते हैं कि " चेतनताका आधार शरीर है और चेतनता शरीरका आधेय है " ॥ पाठक महोदय ! गुप्ताजी की विद्वत्ताका अनुमान कीजिये- चेतनता को आप आधार भी मानते और उसीको आधेय भी कहते। यदि आधेय है तो आधार नहीं और आधार है तो आधेय नहीं होगी। यदि चेतनताको शरीरका गुण मानते हो तो यह नियम है कि द्रव्यके बने रहते उसका गुण नष्ट नहीं होता। जबतक अग्नि रहेगी उसकी गर्मी उसके साथ रहती है नाश नहीं हो जाती फिर शरीरके रहते हुवे मरनेपर उसकी चेतनता कैसे नष्ट हो जाती, इससे सिद्ध है कि चेतनता शरीरका गुण नहीं है- चेतनता चेतन अनादि नित्य जीवका गुण है। न्यायके १।१।११ सूत्रका अभिप्राय यह नहीं कि इन्द्रियोंकी चेष्टा सहित शरीर ही जीव है। न्यायमें १२ बारह प्रमेय गौतमने माने हैं। जैसे—

" आत्म शरीरेन्द्रियार्थ बुद्धिर्मनः प्रवृत्तिदोष प्रेत्यभावफल दुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्॥
(न्या.। अ. १ आ. १ सू. ९)

प्रमेयोंमें आत्मा और शरीर पृथक् २ गिनाये हैं- यदि शरीर ही जीवात्मा हो तो अलग गिनाना व्यर्थ हो जायगा शरीर रथ है आत्मा रथी है। दोनों अलग २ हैं। आयुर्वेदमें शरीरका वर्णन यह है कि—

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकम्॥ "
(च० - शा० अ० ६ सू० ४)

शरीर चेतनके अधिष्ठान भूत पंचमहाभूतों के विकारों का समुदाय है। यहां भी शरीरको पचमहाभूतोंका विकार आचार्यने लिखा और माना है इंद्रिय शब्दके अर्थसे भी यही सिद्ध है कि इंद्र जो जीव है। वह शरीरसे पृथक् है।

इन्द्रस्य लिङ्गम् इन्द्रियम् ' घच् प्रत्ययः । इंद्रियमि-न्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिति वा ॥

(अष्टा० अ० ५ ।)

इन्द्रका अर्थ जीवात्मा और ईश्वर दोनों हैं। इन्द्रेण-सृष्टम् इन्द्रियम् ।

आंख नाक कान आदि परमेश्वरकी रचनासे बने हैं इसलिये इन्द्रिय कहाते हैं। इन्द्र और इन्द्रिय दोनों पृथक् २ हैं। इन्द्रियें जड (ज्ञानशून्य) हैं। शरीर जो पञ्च महाभूतोंका विकार है वह भी जड है किन्तु जीवके संयोगसे उसमें चेतनता आती है- जब भूत चेतन नहीं तब उनसे बने शरीरमें चेतनता कहां से आवेगी सांख्यमें कहा है कि-

न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टे सांहत्येपि च सांहत्येपि च "

(सां. । अ० ५ । सू. १२९)

प्रत्येक भूत (पृथिवीतत्वादि महाभूत) में (चेतनता) न दीखने से संगठनहोने, इकट्ठा होने परभी भूतोंको चेतनता नहीं होसकती है ॥ १२९ ॥

इसलिये इन्द्रियोंके चेष्टासहित शरीरको जीव नहीं कह सकते ।

"शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्"

मरनेपर जीव जब दूसरे (च० सं०) शरीरमें चला जाता है तब मृतक शरीर शून्यागार— जैसे घर से जब सब लोग निकल जाते उससमय घर विना मनुष्योंके होजाता है, इसीप्रकार जीवात्मा के निकल जानेपर यह शरीर चेतनतारहित होजाता है । गुप्ताजीकाआठवां शीर्षक जैसे-

[८] जीवके सम्बन्धमें आधुनिक विकासवाद

विकासवादमें संवृद्धि और सन्तति प्रजनन प्रत्येक प्राणीमें यह दो शक्तियां कही जाती है व यथार्थ हैं परन्तु यह दोनों शक्तियां चेतन और अनादि तत्व जीवके विना स्वयं कुछ नहीं कर सकती । प्रकृति परिणामी और पुरुष अपरिणामी है । कर्ता और करण के विना क्रिया नहीं हो सकती ।

गुप्ताजी—

*

[९] योनि परिवर्तनसे मन इच्छित सन्तान पैदा करना

(प्रत्यालो०) गुप्ताजीके लेखानुसार योनि परिवर्तनसे मन इच्छित सन्तान पैदा करनेमें सब वर्ण सङ्करता दोषको प्राप्त होंगे, क्या मन इच्छित सन्तान अपने २ वर्णमें विवाह करनेसे नहीं प्राप्त हो सकती, क्या एक ही माता पिता के सन्तान भिन्न २ गुण कर्म स्वभाव के नहीं होते ? जब होते हैं तो गुण कर्म स्वभावानुसार अपने २ वर्णमें विवाह करके इच्छित सन्तान पैदा की जासकती है इसके लिये योनिपरिवर्तन अनावश्यक है । यदि कोई जापानी सन्तान चाहे तो जापानके वस्त्र भोजनादि सब आचरण करे । एवम् जिस देशका सन्तान चाहें उस २ देशका आचरण माता पिता करें तो भावी सन्तानपर उस २ देशका वैसा २ प्रभाव पड़ेगा ऐसा आयुर्वेद चरकादिमें लिखा है—

"आहाराचारचेष्टाभिः यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्री पुंसौ समुपयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥

(सुश्रुते शा०)

गर्भाधानके समय और उससे पूर्व भी आहार (खान-पान) आचार (सदाचार) और चेष्टा (मानसिक व्यापार) स्त्री पुरुषके जैसे होंगे उनका सन्तानभी वैसा ही होगा। सन्तानोत्पत्ति में मातापिताके पिछले जन्मके कर्म भी कारण होते हैं । इसीलिये कहीं कभी यत्न करनेपर भी सन्तान नहीं होते । तथापि यत्न आवश्यकीय है ।

यत्नेकृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्रदोषः। अर्थात् यत्न करनेपर भी यदि कोई काम सिद्ध न हो तो फिर भी मनुष्य विचार करे कि हमारे इस प्रयत्नमें क्या दोष है । विवाह संस्कार सवर्णमें ही वेदोक्त है। विवाहमें माताकी ६ या ७ पीढी और पिता के गोत्रवाली कन्या न होनी चाहिये इसमें प्रमाण—

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ॥
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥

असपिण्डा च० अर्थात् जो कन्या माताकी छ पीढीमें न हो एवम् पिता के गोत्रकी न हो वह कन्या द्विजातियोंके लिये विवाह योग्य है। आयुर्वेदमें भी एक गोत्रमें विवाहका निषेध है ।

अतुल्य गोत्रस्य रजः क्षयान्ते० ॥ च० । शा० । १

अतुल्य गोत्रस्य० का अर्थ यही है कि तुल्य गोत्रवाले स्त्री पुरुषोंका गर्भाधान नहीं होना चाहिये। अन्तमें गुप्ताजी लिखते हैं कि "इसलिये वैदिक सिद्धान्त जीवात्माको चेतनाः-विशिष्ट शरीर मानता है" (उत्तर) वैदिक सिद्धान्त जीवात्माके चेतन विशिष्ट शरीर नहीं मानता है। चेतनावान्की चेतनता जीव में है उसके संयोगसे- शरीरमें- शरीर चेतन होता है ॥

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युप—
चाराच्छरीरे सम्प्रत्ययः वै० ॥ अ० ३ । सू० १२

अर्थात् देवदत्त जाता है, यज्ञदत्त जाता है, यहां शरीरमें जो जानेकी बात है वह गौण है· और मुख्य जाना अर्थ जीवमें है। जीवात्मा न हो तो देवदत्त और यज्ञदत्त का शरीर मिट्टी के समान पडा रह जायगा- शरीर केवल न जा सकता है और न आ सकता है । बोल चालसे यह निश्चय नहीं होता कि बोलनेवाला देवदत्त वा यज्ञदत्त के शरीर का जाना समझना है अथवा ज्ञानादि गुणोंवाले आत्माका जाना समझना है ; दोनोंमेंसे कौन ठीक है यह सन्देह है । इसके उत्तरमें महर्षि कणाद लिखते हैं कि-

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राऽभावा
दर्थान्तर प्रत्यक्षः ॥
(वै० अ० ३ आ० २ सू० १४)

(अहम् इति) मैं हूं ऐसा व्यवहार (प्रत्यगात्मनि) छिपे हुए आत्मामें [भावात्] होनेसे और [परत्र] शरीरमें [अभावात्] न होनेसे [अर्थान्तर प्रत्यक्षः] अन्य अर्थका प्रत्यक्ष होता है ॥ १४ ॥ अर्थात् मैं पदवाच्य जीवात्मा हूं शरीर नहीं । यदि कहो कि जीवात्मा केवल शास्त्र सिद्ध है उसके अनुमानसे सिद्ध करने का परिश्रम वृथा है- तो इसपर महर्षि कणाद लिखते हैं कि—-

अहमिति मुख्ययोगाभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाऽ
व्यभिचाराद् विशेष सिद्धेर्नागमिकः ॥
(वै० । अ० ३ । आ० २ । सू० १८ ॥)

[अहमिति] मैं ऐसे [मुख्ययोग्याभ्याम्] उपचार रहित और योग्य प्रत्ययोंसे [शब्दवत्] शब्दके समान [व्यतिरेकाऽव्यभिचारात्] पृथक्ताके अव्यभिचारसे [विशेष सिद्धेः] विशेष सिद्ध होनेसे [आगमिकः] केवल शास्त्र सिद्ध [न] नहीं है ॥ १८ ॥

अर्थात् आत्मा केवल शास्त्र सिद्ध ही नहीं है किन्तु अनुमान सिद्ध भी है 'मैं हूं' ऐसी प्रतीति, न तो औपचारिक है किन्तु उपचार रहित है और योग्य भी है। क्यों कि केवल शरीरको कोई 'मैं' नहीं कहता प्रत्युत मेरा-शरीर कहता है, तब आत्मा शरीरसे नित्य भिन्न अर्थात् शरीर कभी आत्मा नहीं हुआ, तब जैसे शब्द गुण पृथिवी आदि आठ द्रव्योंसे किसी द्रव्यका गुण न होनेसे किन्तु आठोंसे व्यतिरिक्त आकाशका गुण होनेसे भिन्न है, ऐसे ही आत्मा भी पृथिवी आदि आठ द्रव्योंसे व्यतिरिक्त विशेष सिद्ध होनेसे केवल शास्त्र सिद्ध ही नहीं किन्तु अनुमान सिद्ध भी है [पं तुलसीराम स्वामी मेरठ] पाठक गण ! गुप्ताजी एक बात और भी आश्चर्य जनक लिखते हैं कि श्रीमान् गंगा प्रसादजी जिन्होंने आस्तिक वाद आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जीवात्माको उत्पन्नधर्मा मानते हैं। यह हम मानने को तैयार नहीं है जबतक कि आप उनका लेख न प्रकाशित करें।

शरीर की उत्पत्ति

'पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥
(न्या० । अ० ३ । आ० २ । सू० ६४)

पूर्व [शरीरमें] किये [कर्मोंके] फलोंके अनुबन्ध से उस [शरीर] की उत्पत्ति होती है ॥ ६४॥
सूत्र ६७ । ६८ में पूर्वपक्ष है कि माता पिता तथा आहार के उत्पत्ति निमित्त होनेसे [कर्म निमित्त नहीं है] इस पूर्व पक्षके उत्तर में ६९ वां सूत्र यह है कि—

प्राप्तौचाऽ नियमात् ॥
(न्या० । अ० ३ । आ० २ । सू० ६९)

प्राप्तिमें नियम न होने से (उक्तकथन ठीक नहीं) ६९ यदि कर्म की उपेक्षापूर्वक मातापिता और आहारादि शरीरका कारण होते तो सर्वदा और सर्वत्र स्त्री पुरुषों का संयोग गर्भाधानका कारण होता, परन्तु ऐसा नहीं होता है। प्रारब्ध कर्मानुसार ही रज वीर्य गर्भमें परिणत होते हैं।

गुप्ताजीका १० वां शीर्षक जीवकी प्रतिक्रिया

आप लिखते हैं कि जहाजपर जहाजके अतिरिक्त कुछ मुसा-

फिर भी है अतः धार्मिक लोगोंकी यह भूल है कि वह मुसाफिरोंके विना जहाज बताते हैं। वैसे ही भौतिक-वादियोंकी भी भूल है कि वह जहाजको विना मुसाफिरोंके बताते हैं इसलिये वैदिक सिद्धान्त जीवात्माको चेतनविशिष्ट शरीर मानता है।

प्रत्य.लोचना

मुसाफिरों और जहाज के दृष्टान्त से जीवात्माका शरीर के साथ सम्बन्ध दिखाना आपको अभीष्ट है। सो जीवात्मा-का शरीरके साथ व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि आप समझे हैं। वास्तवमें शरीर भोगायतन है, कारावास (जेल) है। कर्मफल भोगकर कारावाससे मुक्त हो जाता है। प्रकृति रूपी वृक्षमें ईश्वर और जीव दोनों लिपटे हुवे हैं। जीव कभी बद्ध और कभी मुक्त रहता है ईश्वर सदैव मुक्त और सदैव ईश्वर है।

उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मा मृतात्।
यजुः०

परमात्मासे प्रार्थना है कि जैसे खरबूजेका पका फल अपने आप बन्धन से अलग होजाता है वैसे ही निष्काम कर्म करते हुवे मौतसे छूट जाऊँ परन्तु अमृतसे नहीं। मौतसे छूटने और मुक्त होनेके लिये प्रार्थना है। शरीर जड़ और जीव चेतन है यही वैदिक सिद्धान्त है। मुक्तात्मा बिना इस शरीर के ईश्वरकी सृष्टिमें स्वतन्त्रतासे विचरता है। वैदिक सिद्धान्त कभी भी चेतनविशिष्ट शरीर जीवात्मा है ऐसा नहीं मानता। शरीर प्रवाहसे अनादि है और जीव स्वरूप से अनादि है, शरीर अनित्य और जीव नित्य है।

"नाहं मोहं ब्रवीम्यनुच्छित्ति धर्मायमात्मा"॥
बृहदा० उ०॥

याज्ञवल्क्य मैत्रेयीसे कहते हैं कि मैं मोहसे नहीं कहता किन्तु आत्मा अविनाशी है परन्तु आप तो आत्माको उत्पत्ति और विनाश धर्मवाला मानते और यह कहकर कि यही वैदिक है मनवाना भी चाहते हैं। विना शरीर के भी चेतन जीवमें क्रियाशक्ति रहती है। जितने प्रमाण चेतनविशिष्ट शरीर के जीव सिद्धिमें आपने दिये हैं उन में से एक भी प्रमाण आपके पक्षका समर्थक नहीं है। वैदिक सिद्धान्त तो आत्माको नित्य मानकर पुनर्जन्म कहता है और आप उत्पत्ति और विनाशधर्म वाला मानकर पुनर्जन्म की सिद्धि करना चाहते हैं।

वैदिक धर्म पृ. ४५३

११ आत्माके परिणामत्वके प्रमाण

इस शीर्षकमें गुप्ताजी लिखते हैं कि "यदि चेतना मस्तिष्कके अवयवों से सर्वथा स्वतन्त्र कोई अभौतिक सत्ता होती तो ऐसा कैसे होता! जब मस्तिष्कके अवयव कामके नहीं रहते तब अमर आत्माकी चेतना क्या होती है इन सब बातोंसे सिद्ध है कि प्राणी मात्रकी चेतना परिणामी है"। और भी गुप्ताजी लिखते हैं कि कपूर और कस्तूरीसे मूर्छा या बेहोशी दूर हो जाती है। और इधर क्लोरोफोर्म बेहोशी लाता है। यदि अभौतिक चेतना स्वतन्त्र होती तो ऐसा कैसे होता" इत्यादि।

प्रत्यालोचना

गुप्ताजीका कहना है कि चेतना मस्तिष्कसे अलग नहीं है- मस्तिष्क ही चेतना है। ऐसा कहना अज्ञान है। प्रत्यक्ष में जब शरीरसे चेतन जीव निकल जाता है उस समय भी तो मस्तिष्क रहता है फिर कपूर कस्तूरी क्लोरोफोर्म आदि अपना प्रभाव क्यों नहीं दिखाते! इससे सिद्ध है कि मस्तिष्कसे अलग अनादि चेतन सत्ता जीवात्मा पृथक् है मस्तिष्कके द्वारा उस सत्तापर कपूर आदिका प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः आत्मा अपरिणामी है और जड़ प्रकृति परिणामिनी है आत्माके परिणामी होने में प्रत्यभिज्ञा [पूर्व दृष्ट वा श्रुतका स्मरण] किसीको भी नहीं हो सकता और प्रत्यक्षमें सबको होता है इसका क्या उत्तर है- परिणामी होने में अगला २ ज्ञान होनेपर पूर्व २ का ज्ञान नष्ट होता जायगा। शरीरमें मस्तिष्क सूर्यके समान है। जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंका सूर्यके साथ सम्बन्ध है उसी प्रकार इन्द्रियोंका मस्तिष्कसे सम्बन्ध है। मस्तिष्क इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका स्थान है। और जीवात्मा के १० दश स्थानों में मस्तिष्क भी है। शिर में भी जीवका निवास रहता है- 'दश जीवित धामानि' इति वाग्भटे।

"शिरसीन्द्रियाणि, इन्द्रिय प्राणवहानिच स्रोतांसि सूर्यमिव गभस्तयः संश्रितानि"

(च० सं० अ० ८ सिद्धिस्थाने) अर्थात मस्तिष्क [शिर] में इन्द्रिय और इन्द्रिय प्राण वह स्रोत सूर्यकी किरणोंके समान संश्रित है । मूर्च्छा [बेहोशी] मस्तिष्कको नहीं होती किन्तु चेतनको होती है

संज्ञावहासुनाडीसु पिहितास्वनिलादिभिः ॥
तमोऽभ्युपेतिसहसा, सुखदुःखं व्यपोहाति ॥ ४ ॥
सुखदुःख व्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत् ॥
मोहो मूर्च्छेति तां प्राहुः षड्विधा सा प्रकीर्तिता॥
(सुश्रु० । उत्तर तन्त्र, अ० ४६)

जो संज्ञावह नाडियोंके मार्गसे इस जीवात्माको सुखदुःखादिका ज्ञान प्राप्त कराता है वह मार्ग वायु और तमो गुण से आच्छादित हो जाता है। इस कारण जीवात्मा को न सुख होता और न दुख । क्लोरोफोर्म क्या पदार्थ है उसमें एक ऐसा तमोगुणी पदार्थ अवश्य है जो जीवकी सुखदुःखादिका ज्ञानशक्तिको दबा देता है । दूधका परिणाम दही है । इस प्रकार जीवात्मा परिणामी नहीं किन्तु अपरिणामी है । जीवात्माका ज्ञान परिणामी है । वह सर्वदा एकरस नहीं रहता वह वृद्धि क्षयको प्राप्त होता रहता है । परिणामिनी प्रकृति है वह नटके समान नाना रूप धारण करती है· ईश्वर और जीव दोनों अपरिणामी हैं। बुद्धि के उपरागसे आत्मा परिणामीसा जान पडता है बुद्धिपरिणामिनी है आत्मा नहीं.

गुप्ताजीका १२ वां शीर्षक
१२- बुद्धि ही आत्मा है

पाठक गण ! गुप्ताजी का एक चातुर्य और देखिये जो न्यायादि शास्त्र देह और बुद्धि आदि से आत्माको पृथक् मानते हैं उन्हींके प्रमाणों से आप बुद्धिको आत्मा सिद्ध करना चाहते हैं- न्यायदर्शन अ० ३ । आ० १ । सू० १ । में इन्द्रियचैतन्य वादियोंका खण्डन करनेके लिये यह सूत्र है कि इन्द्रिय चेतन नहीं है । दर्शन और स्पर्शन से एक ही अर्थका ग्रहण होनेसे [आत्मा देह और बुद्धि आदिसे भिन्न है] यदि इन्द्रिय ही चेतन होते तो ऐसा कदापि न हो सकता, क्योंकि ' अन्य दृष्टमन्यो न स्मरति, अन्य के देखे हुए अर्थका अन्यको स्मरण नहीं हो सकता। देवदत्तके देखे अर्थका स्मरण यज्ञदत्तको नहीं होता। आंखसे देखे हुएको जिह्वा व त्वचासे अनुभव क्यों कर किया जाता । हम एक इन्द्रियके अर्थको दूसरे इन्द्रियसे ग्रहण करते हैं, उस अर्थके ग्रहणमें इन्द्रिय स्वतन्त्र नहीं है किन्तु इनके अतिरिक्त ग्रहीता और कोई है वही चेतन आत्मा है गुप्ताजी आत्माके स्थान में बुद्धिका अर्थ करते हैं कदाचित् गुप्ताजीके विचारानुसार इस सूत्रमें भी पौराणिकों ने मिला दिया हो । सूत्रका अर्थ बुद्धि आत्मा है, ऐसा करना सूत्रकार के अभिप्राय से विरुद्ध है । अब इस पर शंका करते हैं· [महर्षि गौतम]

न, विषय व्यवस्थानात् ॥
(न्या० । अ० ३ । आ० १ । सू० २)

पूर्व० उक्त कथन ठीक नहीं, विषयोंकी व्यवस्थिति होनेसे, अर्थात् देहादि संघात के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है । विषयोंकी व्यवस्था होनेसे अब इसका समाधान करते हैं [महर्षि गौतम]

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥
(न्या० । अ० ३ । आ० १ सू ३ ।)

[उत्तरप०] उक्त विषय व्यवस्थितिसे ही आत्माकी सिद्धि होनेसे निषेध नहीं हो सकता ।

' न विषय० ' इस पूर्व पक्षके सूत्रको गुप्ताजीने उत्तर पक्षमें लगाकर यह अर्थ किया है " अर्थात् विषयोंकी व्यवस्था ही ऐसी है कि ओसरूपको देखे, इत्यादि । ' इन समस्त ज्ञान इन्द्रियोंके ज्ञानको बुद्धि ही निश्चय करती है इससे भिन्न अन्य आत्मा रूप पदार्थकी कल्पना करनी ही असंगत है ॥

न्यायदर्शनके इन दोनों सूत्रोंका अन्यथा अर्थ करके गुप्ताजी ने अपनी विद्वत्ताका परिचय दिया है । यह अर्थ ग्रन्थकर्ता महर्षि गौतमके अभिप्रायसे विरुद्ध है। गौतम बुद्धिको आत्मा नहीं मानते । आत्म शरीरेन्द्रियार्थ० इस सूत्रके वात्स्यायन भाष्यमें लिखा है कि—

" भोगसाधनानीन्द्रियाणि भोगो बुद्धिः "
॥ वा० भा० ॥

" बुद्धिः कर्मानुसारिणी " ॥ इति मनुः ॥

अर्थात् जीवात्माके भोगोंका यह शरीर आयतन है, भोगके साधन इन्द्रियाँ हैं और जिससे भोक्ता भोगोंको

भोगता है वह बुद्धि है, (भोगो बुद्धिः) बुद्धि ही भोग भोगनेका मुख्य साधन है। बुद्धि जीवात्माका सूक्ष्म साधन (अवजार) है। बुद्धि अनित्य और परिणामवाली है। बुद्धिको आत्मा कहना भी विभ्रम है। बुद्धिविना-चेतन आत्म- सत्ताके स्वयं कुछ नहीं कर सकती, क्योंकि वह जड है। जीव चेतन है, बुद्धि आत्मा है, अर्थात् बुद्धि और आत्माको एक समझना योगशास्त्रोक्त अविद्यादि पांच क्लेशोंमें एक क्लेश है।

जैसे—

दृक्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता

॥ यो० । पा० २ । सू० ६ ॥

द्रष्टा और दर्शन शक्ति की एक समानता अस्मिता है ॥६॥ पुरुष दृक्शक्ति है, बुद्धिदर्शन शक्ति है। बुद्धि निश्चय करनेका साधन है—

अध्यवसाया बुद्धिः ॥ (सां. । अ. २ । सू. १३ ।)

" निश्चयात्मक व्यापार करना बुद्धिका लक्षण है ॥ "

बुद्धि जड है इसमें प्रमाण—

" सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् — त्रिगुणा बुद्धिः ।
त्रिगुणत्वादचेतनेति व्यासभाष्यम् ।

(यो. पा २ । सू. ६ ")

अर्थात् जीवको सब अर्थोंका निश्चय कराने वाली बुद्धि सत् रजस् तमस् त्रिगुणात्मिका और अचेतन है। अचेतन [जड] बुद्धि आत्मा नहीं होसकती यदि यह कहें कि माता पिताकी बुद्धिसे सन्तानकी बुद्धि रूपी आत्मा बन जायगी, इसका खण्डन चरकाचार्य लिखते हैं कि—

आत्मा मातुः पितुर्वायुः सोऽपत्यं यदि सञ्चरेत्।
द्विविधं सञ्चरेदात्मा, सर्वो वाऽयवेन वा । १ ।

सर्वश्चेत्सञ्चरेन्मातुः पितुर्वा मरणं भवेत् ।
निरन्तरं नावयवः कश्चित्सूक्ष्मस्य चात्मनः ॥
बुद्धिर्मनश्च निर्णीते- यथैवात्मा तथैव ते ॥

(च० सं. अ० ११ सूत्रस्थाने)

और जो वैशेषिकदर्शन । ३ । १ । १-२ दो सूत्र प्रमाण देकर बुद्धि और आत्माको एकार्थक माना है वह भी ठीक नहीं क्योंकि बुद्धि जड और आत्मा चेतन होनेसे दोनों भिन्न २ हैं। अतः इन सूत्रोंका प्रमाण देना व्यर्थ है। बुद्धिकी उत्पत्ति चरकमें जैसे—

अव्यक्ताज्जायते बुद्धि बुद्ध्याऽ हमितिमन्यते ।

[च० शा०]

अव्यक्त अर्थात् प्रकृतिसे बुद्धि उत्पन्न होती और बुद्धि के उत्पन्न होनेपर जीवात्माको ' अहम् ' मैं भाव उत्पन्न होता है। उपर्युक्त प्रमाणों से " बुद्धि ही आत्मा है " इसका खण्डन होगया। सिद्धान्त यही कि—

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

[कठोपनि० बल्ली ३ । १०]

आत्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है और मन लगाम है। उपनिषदमें अलंकारके रूपमें आत्मा, बुद्धि मन आदि पृथक् २ स्पष्ट हैं। और भी—

आत्मबुद्ध्यासमेत्यर्थान्, मनोयुङ्क्ते 'विवक्षया'

(पाणिनीयशिक्षा)

जीवात्मा बुद्धिसे अर्थोंकी सङ्गति करके कहनेकी इच्छा से मनको युक्त करता है। यहां भी जीवात्मा और बुद्धिको अलग २ पाणिनीने माना है "

संस्कृत भाषा प्रचार परीक्षा सम्बन्धी

आवश्यक सूचनायें

यह सूचित करते हुए हमें अत्यंत हर्ष होता है कि हमारी परीक्षाओंके लगभग १०० केन्द्र सम्पूर्ण भारतमें प्रस्थापित होचुके हैं। अनेक स्थानोंपर व्यवस्थित रूपसे 'संस्कृत भाषा प्रचार समिति' भी स्थापित होचुकी है। बहुत बडी संख्यामें परीक्षार्थियोंके सम्मिलित होनेकी आशा है। सभी केन्द्रों से हमें ये उत्साहप्रद सूचनायें मिल रही हैं कि अगली परीक्षामें और अधिक परीक्षार्थी बैठ सकेंगे।

सभी केन्द्रोंके लिये कुछ आवश्यक सूचनायें हम प्रकाशित कर रहे हैं। निवेदन है कि हमारे प्रतिष्ठित केन्द्र—व्यवस्थापक महानुभाव इन सूचनाओंके अनुसार व्यवस्था करने का कष्ट करें।

१- [क] प्रत्येक केन्द्र स्थानमें एक 'संस्कृत भाषा प्रचार समिति' की स्थापना सुविधानुसार की जावे। [ख] अधिक से अधिक जनताका सहयोग इसके लिये प्राप्त किया जावे।

२- अपने केन्द्रका कार्यविवरण समय समय पर हमारे कार्यालय में भिजवाया जावे।

३- ३१ जुलाई के पश्चात् आनेवाले आवेदनपत्र एवं केन्द्र स्वीकृति आवेदन पत्र स्वीकार नहीं किये जावेंगे।

४- सितम्बर ता० २-३ को होनेवाली परीक्षा के साथ 'परिचय' एवं 'विशारद' की मौखिक परीक्षायें स्थगित की गई है।

कृपया केन्द्र-व्यवस्थापक महानुभाव यह सूचना परीक्षार्थियोंको अवश्य दे दें।

५- जो महानुभाव संस्कृत भाषा के वर्ग चला रहे हैं अथवा केन्द्र- स्थापन एवं अन्य प्रचार कार्य आदि करके सहयोग दे रहे हैं वे कृपया अपना सम्पूर्ण विवरण हमारे कार्यालय में प्रेषित करें।

ऐसे महानुभाव हमारे प्रमाणित प्रचारक माने जावेंगे, जिन्हें हमारी ओरसे प्रशस्ति पत्र प्राप्त होगा। आशा है इस प्रकार के अधिक से अधिक सहयोगी हमें प्राप्त होंगे।

'स्वाध्यायमण्डल' आनन्दाश्रम
किल्ला पारडी जि० (सूरत)

भवदीय
महेशचन्द्र शास्त्री
परीक्षामन्त्री

उन हुतात्माओं की बलिवेदी पर

लेखक — श्री महेशचन्द्र शास्त्री (विद्याभास्कर)

जिस स्वतन्त्रताके पौधेको अपने रक्तसे सींच-सींचकर शत शत वीरोंने हरा भरा रक्खा, उसमें जिस दिन अमृत फल लगा वह दि न अब इतिहासमें ' १५ अगस्त ' के नामसे विख्यात हो चुका है। अमर हुतात्मा राजेन्द्रनाथ लाहिडीके ये शब्द आज याद आते हैं— ' सूख जाय न कहीं पौधा ये आजादी का। खूनसे अपने इसे इसलिये तर करते हैं '। सचमुच स्वतन्त्रता यों ही नहीं मिला करती। उसके लिये बडी बडी क्रान्तियाँ हुआ करती हैं, बडे बडे बलिदान करने पडते हैं। किसी हुतात्माके ये शब्द अक्षर अक्षर सत्य हैं कि— ' अगर कुछ मर्तबा चाहो मिटा दो अपनी हस्तीको, कि दाना खाकमें मिलकर गुले गुलजार होता है। ' आज हम उस स्वार्णिम पद तक पहुँच चुके हैं जिसके लिये हम बेचैन थे। हमारा महान् राष्ट्र विदेशी शासनके बन्धनोंसे मुक्त है। अतएव जब जब हम स्वतन्त्रताके त्यौहारोंकी खुशियाँ मनायेंगे तब तब उन देवतुल्य स्वर्गीय हुतात्माओंकी बलिवेदी पर हमारी हार्दिक श्रद्धांजलि अवश्य अर्पण होगी। भारतीय इतिहासके वे पन्ने आँखोंसे ओझल कैसे किये जा सकते हैं जिनके अक्षर अक्षरमें उद्‌बोधनकी हुंकार भरी पडी है, जिसके शब्द शब्दमें क्रान्तिके अमर शोले धधक रहे हैं, जिसके एक एक वाक्यमें प्रेरणा और बलिदानकी ध्वनि गूँज रही है।

सन् १८५७ का विप्लव भारत पुत्रोंका सदाके लिये अध्ययनका विषय माना जायगा। उस विप्लवमें विभीषणका काम करनेवाले पंजाबने भारतके मस्तकपर कलंक कालिमा पोत दी थी। किन्तु उस कलङ्कको धोनेके लिये बादमें उसी पंजाबने राष्ट्रके लिये अपना रक्तदान भी कुछ कम नहीं किया। ' कूका विद्रोह ' के रूपमें १८७१ ई० में पंजाबसे ही क्रान्तिका श्रीगणेश हुआ। १८६७ ई०में जब महारानी विक्टोरियाका ६० वां राजदरबार समारोह धूमधामके साथ पूनामें मि० रेण्डके द्वारा मनाया जा रहा था तब। २२ जूनको उनके अत्याचारोंसे त्रस्त दामोदर चाफेकरने उन्हें गोलीसे उडा दिया। दामोदर पकडे गये और उनके साथ ही उनके दोनों छोटे भाई बालकृष्ण और रामाको भी फांसी पर लटका दिया गया। इस प्रकार सम्पूर्ण भारतमें विप्लवकी चिनगारियां धीरे धीरे इधर उधर फैलने लगीं। बम्बई और बङ्गालमें शिक्षा पाये हुये ग्रेजुएट सन् १९०७ में कलकत्ता आ गये। उनमें कन्हाईलाल दत्तका नाम लेनेसें हमें गर्वका अनुभव होता है। इस वीरका कार्यारम्भ मानिकतल्ला बागमें मई १९०८ ई० से होता है। किन्तु जैसा कि सर्वदा हुतात्माओंके जीवनमें होता आया है, श्री कन्हाईलाल-दत्तके षड्‌यन्त्रोंका पता लग गया और अलीपुरमें मुखबीर बने हुये नरेन्द्रको गोली मारनेके अभियोगमें उन्हें १० नवम्बर १९०८ को फांसी दे दी गई। जिस दिन उन्हें फांसी दी गई थी उस दिन उस महान् वीरका वजन १६ पौण्ड बढ गया था। कन्हाई लाल दत्तके फांसीके दिनका वर्णन श्री मोतीलालरायने बडे ही करुणाजनक शब्दोंमें किया है— ' कन्हाईलालका शव लेनेके लिये हम लोग एक अंग्रेजके पीछे धीरे धीरे चल दिये······ सहसा उस व्यक्तिने उंगलीसे एक कमरा दिखा दिया। वहां काले कम्बलसे ढँका हुआ कन्हाईका मृत शरीर पडा था ········ आशुबाबूकी आँखोंसे आंसुओंकी झडी लग गई। उस समय उस गोरेने कहा— ' रोते क्यों हो ? जिस देशमें ऐसे वीर युवक जन्म लेते हैं, वह देश धन्य है, जन्म लेकर मरना ही होगा, इस प्रकारकी मृत्यु मनुष्य कब पाते हैं ?' हमने डरते डरते कम्बल उतारा। ओह ! उस दिव्य स्वरूपका परिचय कराना हमारी शक्तिसे परे है। ·········अधखुली आंखोंसे उस समय भी अमृत ढलक रहा था। दृढबद्ध ओष्ठपुटों में संकल्पकी जागृत रेखा फूटी पडती थी···मानों वह मधुर हंसी हँस रहा हो... साथ-ही-साथ उसकी शान्त मुखछविका स्मरण हो आता है। वे आँखें क्या हत्यारी आखें थीं ?...हृदयसे केवल यही ध्वनि निकलती है कि धर्मका तत्व हिंसा और अहिंसा

दोनोंके परे हैं। ' कन्हाईलालदत्तके साथ ही सत्येन्द्रकुमार वसुको भी फांसी पर लटका दिया गया। धीरे-धीरे बंगालके युवकोंमें क्रान्तिकी यह आग फैलने लगी। पांडेचरीके सुप्रसिद्ध योगिराज अरविन्द भी इसमें सहयोगी हुए। ३० अप्रैल १९०८ को होनेवाले मुजफ्फरपुर-हत्याकाण्डने इसमें आहुतिका काम किया। कलकत्तेमें किंग्सफर्ड साहबने अनेक विप्लववादी युवकोंको दण्ड दिया था। वे कुछ दिनोंके बाद मुजफ्फरपुर आ गये। इसलिये खुदीरामबोस और प्रफुल्ल चाकीको किंग्स-फार्डकी हत्याके लिये नियुक्त किया। किन्तु किंग्सफोर्डके बदले केनेडी सा० की स्त्री और लडकी मृत्युका शिकार बन गई। प्रफुल्लने आत्मघात कर लिया और खुदीरामबोसको ११ अगस्त १९०८ को फांसी पर लटका दिया गया! उस समय उसकी आयु केवल १७ वर्षकी थी तथा अभी-अभी तो उसके दूधके दांत भी नहीं टूटे थे। समय बढता गया और १ जुलाई १९०९ का दिन आया; इंग्लेण्डमें मदनलाल ढींगरा और सावरकर मिले। इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट जहाँगीरहालकी सभामें सर कर्जन किन्हीं दो व्यक्तियोंसे बात कर रहे थे कि देखते-देखते मदनलालने सामने आकर उनपर पिस्तौल चला दी। अनेक भारतीयोंने तो क्या स्वयं पिताने भी इस कार्यका विरोध किया और तार भेजा कि ' मदनलाल मेरा लडका नहीं है। ' विपिन बाबूके सभापतित्वमें उनके इस कार्यके विरोधमें सभा हुई किन्तु सावरकर आदिके हुल्लड मचानेपर वह पूरी न हो सकी। मदनलालने तब अदालतमें कहा था— ' मैं जानता हूं कि उस दिन मैंने एक अंग्रेजकी हत्या की; किन्तु वह उन अमानुषिक दण्डोंका एक साधारण-सा बदला है, जो भारतीय युवकोंको काले पानी और फांसीके रूपमें दिये गये हैं।...मुझ जैसे निर्धन और मूर्ख युवक पुत्रके पास माताकी भेंटके लिये अपने रक्तके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? और इसीसे मैं अपने रक्तकी श्रद्धांजलि माताके चरणों पर चढा रहा हूं। ' अन्तमें आप वीरतापूर्वक फांसीके तख्ते पर खडे होकर ' वन्दे-मातरम् ' की ध्वनिके साथ १६ अगस्त सन् १९०९ ई०को अपनी जीवनलीला समाप्त कर गये। इसी समय लाला हरदयाल भी इस क्षेत्रमें उतर चुके थे। इंग्लैण्ड चले जाने पर वे अपना कारभार अमीरचन्द पर छोड गये थे। दिल्ली और लाहौर बमकेसके सिलसिलेमें अमीरचन्द भी पकडे गये। अदालतमें आपके ही गोद लिये लडके सुल्तानचन्दने सरकारी गवाह बनकर आपके विरुद्ध गवाही दी थी। किसीने ठीक कहा है—

बागबांने आग दी जब आशियानेको मेरे।
जिनपे तकिया था, वही पत्ते हवा देने लगे॥

अमीरचन्दने पुत्रके विश्वासघात पर अश्रुपात अवश्य किया किन्तु मृत्युदण्ड सुनकर वे एक दम प्रफुल्लित हो उठे। अमीरचन्दके साथ ही गिरफ्तार होनेवाले अवधविहारी पर १३ अपराध लगाकर उन्हें भी फांसीकी सजा दी गई। फांसीके दिन उन्होंने एक अंग्रेजसे कहा— ' **आज शान्ति कैसी! मैं तो चाहता हूँ कि आग भडके, चारों ओर आग भडके; तुम भी जलो और हम भी जलें और हमारी गुलामी भी जले और अन्तमें भारत कुन्दन बनकर रह जाय।** ' इस अद्वितीय वीरात्माने फांसीके समय स्वयं कूद कर रस्सी गलेमें डाल ली और ' वन्दे मातरम् ' के साथ हंसते हंसते विदा हो गये। १९१२ ई० में माईकेल ओडायरने जब पंजाबकी गवर्नरी अपने हाथमें ली तब उन्हें बताया गया कि पंजाबमें एक ज्वालामुखी तैयार हो रहा है जो किसी भी समय फूट सकता है। वे तदनुसार ही तत्पर होकर शासन भार सम्हाल रहे थे कि दिल्लीमें लार्ड हार्डिंग (तत्कालीन वाइसराय) के जुलूस पर चांदनीचौकमें बम फेंका गया। गिरफ्तारियां हुईं। दीनानाथके द्वारा षडयन्त्र का भेद रत्ती-रत्ती खुल गया। जोधपुरसे भाई बालकुमुन्द पकडे गये। अभियोग चला और फाँसीका हुक्म सुना दिया गया। सिपाहियोंके हाथ छुडाकर वे स्वयं फाँसी पर झूल गये। मृत्यु तो इनके लिये एक साधारण-सी बात थी। यहां भाई बालसुकुन्दजीकी सती वीर पत्नीका उल्लेख किये बिना हम नहीं रह सकते जो एक दिन जेलमें अपने पतिसे मिलनेके बाद भी वैसा ही जीवन बिताने लग गई थी। उनकी मृत्युके समाचार पाते ही स्नान किया, आभूषण पहने और एक चबूतरे पर बैठ गई; फिर वह वहाँसे न उठी। १९१४ का समय आया। यूरोपमें युद्ध छिडनेका समाचार मिला। करतार सिंह, मराठा वीर पिंगले, शचीन्द्रनाथ सान्याल तथा रासविहारी पंजाबमें इकठ्ठे हुए। भाई परमानन्दका बहुत कुछ नेतृत्व इन्हें प्राप्त था। धनाभावके कारण ' रब्वो ' गांवमें डकैतीका निर्णय हुआ। इस डकैतीका वर्णन अत्यन्त गौरव-पूर्ण है किन्तु विस्तार भयसे यहाँ नहीं दिया जा सकता। व्यापक विद्रोहके लिये २१ फरवरी १९१५ का दिन निश्चित हुआ। बहुत बडी सफलताका विश्वास हो गया था; किन्तु भारतका दुर्भाग्य...यहाँ भी एक जयचन्द ' कृपालसिंह ' पैदा हो गया था, जिसके कारण एक

उनके अर्सेके लिये भारत भूमि पर तिरङ्गे लहरानेकी आशा विलीन हो गई। इस असफलताकी वेदना कितनी तीव्र थी यह कोई क्या जाने।

दरे तकबीर पर सर फोडना शेवार हो अपना।
वसीले हाथ ही आये न किस्मत आजमाईके॥

इस विप्लवके प्रमुख 'बागी' करतारसिंह थे। 'बागी' इसलिए कि वे स्वयं प्रायः यह कहा करते थे कि साहससे मर जानेपर मुझे 'बागी' का खिताब देना। कोई याद करे तो बागी करतार कह कर याद करे'। सचमुच ओ स्वर्गीय अमर वीर! आज हम तुम्हें 'बागी' कह कर याद कर रहे हैं। आज हम स्वतन्त्र हो गए हैं और उसकी खुशियां मना रहे हैं जिस स्वतन्त्रताकी जडोंको तुमने अपना रक्तदान कर सींचा था। करतार सिंहकी आयु इस समय केवल साडे अठारह वर्षकी थी। उसका आदर्श था 'unsung unhonoured and unwept' १९१६ नवम्बरको जब उन्हें फाँसी पर लटकाया गया तो उनका वजन १० पौंड बढ गया था। 'भारत माताकी जय' कहते हुए वे फांसीके तख्ते पर चढ गए। इसीके आस पास मराठा वीर वी० जी० पिंगलेको भी १६ नवम्बरको फांसी पर चढा दिया गया। उनके अन्तिम शब्द ये थे— 'भगवन्! तुम हमारे हृदयोंको जानते हो। जिस पवित्र कार्यके लिए आज हम जीवनकी बलि चढा रहे हैं, उसकी रक्षाका भार तुम पर है। भारत स्वाधीन हो यही कामना है।" धन्य है इन वीरोंको! किसी कविने कहा है—

फटे हुए माताके अंचलको बढ बढ सीने वालो!
तुम्हें बधाई है ओ पगलो! मर कर भी जीने वालो

ये तो वे इन्सान हैं, 'हो फरिश्ते भी फिदा जिन पर ये वे इन्सान हैं।' इन्हींमें बंगालके श्री यतीन्द्रनाथ मुकर्जी और श्री नलिनी बागची, संयुक्त प्रान्तके श्री गेंदालाल दीक्षित पंजाबके श्री करतारसिंह तथा बब्बर अकाली शहीद गिने जायेंगे। श्री बन्तासिंह सगवाला भी ऐसे ही क्रान्तकारियोंमें एक थे। पंजाबकी पुलिस आपका नाम सुनते ही भयसे कांप उठती थी। जिस तरह यतीन्द्रनाथ मुकर्जीको Terror of Bengal Police, कहा जाता था ठीक वैसे ही बन्तासिंहको Terror of Punjob Police समझा जाता था। फाँसीसे पूर्व इन्होंने कहा था— "हे परमात्मा! तुझे कोटिशः धन्यवाद है, जो तूने मुझे देश सेवामें जीवन बलिदान करनेका सुअवसर प्रदान किया है। मृत्युसे पूर्व तक आपका वजन ११ पौण्ड बढ गया था। इन्हींमें गेन्दालाल दीक्षित वे व्यक्ति थे जो तिल तिल करके देश सेवाके लिए बलिदान हो गए। हम स्वतन्त्र भारतके निवासी आज उन्हें किस तरह भूल सकते हैं? उनके स्वास्थ्यकी दुर्दशा देख कर सभीको यह निश्चय हो गया था कि अब वे थोडे ही दिनके मेहमान हैं। अन्तिम समय फूट फूट कर रोती हुई उनकी पत्नीने कहा— "मेरा इस संसारमें कौन है?" एक ठण्डी सांस लेकर मुस्कराते हुए पं० गेन्दालालजीने कहा—आज लाखों विधवाओंका कौन है? लाखों अनाथोंका कौन है? २२ करोड भूखे किसानोंका कौन है? दासतामें जकडी भारतमाताका कौन है? जो इन सबका मालिक है वही तुम्हारा भी है।' जब गेन्दालाल इस संसारमें न थे तब दिसम्बर सन् १९२० की २१ वीं तारीख थी। स्वतन्त्रताके प्रज्वालित प्रखर दीपककी लौ में जलनेवाले पतंगोंमें खुशीराम, गोपीमोहन साहा बोमेली युद्धके कर्मसिंह, उदयसिंह, विशनसिंह, महेन्द्रसिंह और धन्नासिंहके नाम आज भी हमारे हृदयोंमें भगवानकी तरह प्रतिष्ठित हैं।

*

१२ नवम्बर १९२३ का दिन आया। बबर अकाली दलके प्रमुख बन्तासिंह धामिया इसी दिन पुलिसके घेरेमें आगये और बर्यामसिंहके तथा ज्वालासिंहके साथ फौजसे लडतेलडते वीरतापूर्वक बलिदान हो गये। इस समय इनकी आयु केवल २२-२३ वर्षकी थी। आजादीके मतवाले ये पागल एक एक करके बढते रहे और मातृवेदी पर अपनी आहुति देकर अपना जीवन सफल करते रहे। किशनसिंह गर्गज्ज, सन्तासिंह, दिलीपसिंह, नन्दसिंह, कर्मसिंह, केसरीसिंह, और प्रतापसिंह उन्हीं बलि-वीरोंमेंसे एक थे। किसीने कहा है—

'खूनके हरफोंसे लिखा जायेगा तेरा वाकिया।
मुझको भूलेगी न यह पुरगम कहानी हाय हाय।'

१९१५ ई० की विराट् विप्लव योजना असफल हो जानेपर पुनः नये रक्तमें जोशके साथ कार्य करनेकी लहर उठी और काकोरी केसके नेता रामप्रसाद बिस्मिल इस क्षेत्रमें अवतीर्ण हुए। एक दिन ९ अगस्त १९२५ ई० को सन्ध्याके ८ बजे ८ नं० की गाडी हरदोईसे लखनऊ जा रही थी। एकाएक काकोरी तथा आलमनगरके बीच ५२ नं० के खम्भेके पास

गाडी खडी हो गई। मुसाफिरोंको बता दिया गया कि सिर्फ सरकारी खजाना लूटा जायेगा। कोई बाहर न निकले। गार्डसे चाबी लेकर तिजोरी खोली गई और दस हजार रुपये हाथ लगे। २५ सितम्बरको बिस्मिल पकडे गये। डेढ वर्ष तक न्यायका नाटक हुआ और फिर वही... ! फांसीका आलिंगन करनेसे पूर्व उन्होंने कहा था—

'जब तक कि तनमें जान, रगोंमें लहू रहे।
तेरा ही जिक्र या तेरी ही जुस्त जू रहे ॥'

साइमन कमीशन भारतमें आया हुआ था। सुखदेवने उसका विरोध किया और युवकोंको विप्लवके लिये प्रोत्साहित किया। सरकार यह सब कैसे सह सकती थी। गिरफ्तारी हुई और २३ मार्च १९३१ ई० को २४ वर्षकी उम्रमें इन्हें फांसी दे दी गई। राजेन्द्रनाथ लाहिडी और अशफाकउल्लाखाँ भी इसी प्रकार अपने राष्ट्रके लिये बलिवेदी पर अपना सर्वस्व अर्पण कर गये।

बिस्मिलके साथ काकोरी केसके प्रमुखोंमें चन्द्रशेखर आजाद का नाम भी लिया गया था। किन्तु वे फरार थे। यू० पी० सरकारने आपको पकडनेके लिये दो हजार व बादमें पांच हजार रुपये घोषित किये थे। आप जीवन भर-आजाद रहे और मरे भी आजादीके साथ। आपके 'आजाद' नाम पडनेकी घटना भी बडी आकर्षक है। १९२१-२२ के दिन थे, चन्द्रशेखर आन्दोलनमें पकडकर अदालतमें लाये गये। मजिस्ट्रेटने पूछा 'तुम्हारा नाम क्या है?' आवेशके साथ उत्तर मिला 'मेरा नाम आजाद है' 'पिताका नाम?' 'स्वतन्त्र' 'निवास स्थान'? 'जेलखाना'। खरेघाट आई० सी० एस० मजिस्ट्रेट यह सब कैसे सहता। हुक्म दिया—१५ कोडे लगाये जावें। कोडेके लिये बोले जानेपर बालकने कहा— 'बांधते क्यों हो? मारो, मैं खडा हूँ।' देखने वाले काँप गये। कोडे लगने शुरु हुए। प्रत्येक कोडेके साथ 'वन्देमातरम्' भारत माताकी जय' की ध्वनि गूंज गई। वह कोमल बालक मूर्छित होकर जमीनपर गिर पडा। उस समय उसकी आयु केवल १४ वर्षोंकी थी। तभीसे उन्हें 'आजाद' कहा जाने लगा। २७ फरवरी १९३१ को लगभग १० बजे इलाहाबादके आजाद पार्कमें पुलिस वालोंसे लडते लडते यह वीर धराशायी हुआ। लोगोंके आँखों देखी बात है कि मृत्युके बाद उनके निर्जीव शरीरका नौकरशाहीके कुत्तोंने बडा अपमान किया। जिस वृक्षकी ओटसे आजादने युद्ध किया था वह सरकारने जड मूलसे उखडवा दिया। जिस स्थानपर आजादका रक्त गिरा था, उसकी मिट्टी कॉलेज और युनिव्हर्सिटीके छात्र उठाकर ले गये थे। इधर पंजाब विश्वविद्यालयके कन्वोकेशनके समय पंजाब गवर्नरपर पिस्तौलसे हमला करनेके सिलसिलेमें श्री हरिकिशनको ९ जून १९३१, ई० को मियाँवाली जेलमें फांसी दे दी गई। फांसीसे पूर्व उनका वजन ९ पौण्ड बढ गया था। अमरशहीद दिनेशचन्द्रकी यह भावना, आज क्या, सदा सर्वदा हमें नवस्फूर्ति और जागरणका सन्देश देती रहेगी।

जो तेरा आव्हान गीत सुन लेते हैं एक बार,
विश्व विसर्जन कर, संकटमें कूद पडे मँझधार।
हिय अंजल फैला, स्वागत करने कष्टोंका हार,
मृत्यु-गर्जनामें तेरा सुनता संगीत उदार।

अलीपुर जेलकी चार दिवारीमें ८ जुलाई १९३१ को श्री दिनेशको प्रातः ४ बजे फांसी दे दी गई। श्री दिनेशने अपनी माता और बहनको जो पत्र लिखे थे। वे इतिहासकी सर्वाधिक मूल्यवान निधियाँ हैं।

सरदार भगतसिंहकी दादी उन्हें 'भागोवाला' अर्थात् भाग्यवान कहा करती थी। इसीसे आपका नाम भगतसिंह रक्खा गया। कौन ऐसा भारतीय है जो इस भाग्यशाली वीरकी अमर कथायें नहीं जानता! ८ अप्रैल सन् १९२९ को दिल्लीमें एसेम्बली बमकेसमें आपकी तथा बटुकेश्वरदत्तकी गिरफ्तारी हुई। बी० के० दत्तको आजन्म कारावास हुआ। भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरुको फांसीकी सजा दी गई। जनताने पूरी शक्तिके साथ इन्हें बचानेका यत्न किया किन्तु... बचा न सकी। २३ मार्च १९३१ रातको पौने आठ बजे तीनोंको फांसीपर लटका दिया गया। सभी वीर हँसते हँसते वीर-गतिको प्राप्त हुए। सरदार तब केवल २३ वर्षके थे। उनकी लाशें-उनके घर वालोंको न देकर रातों रात मोटरोंमें भरकर लाहौरसे प्रायः ४० मील दूरी पर सतलज नदीके किनारे चुपचाप जला दी गईं और भस्मावशेष सतलजमें बहा दिया गया। सरदारकी ये अन्तिम पंक्तियाँ—जो उन्होंने अपने छोटे भाईको लिखी थीं— आज भी हमारी आँखोंके सामने ज्यों कि त्यों हैं।

'उसे यह फिक्र है हरदम नया तर्जे जफा है।
हमें यह शौक, देखें तो सितमका इन्तहा क्या है!'

इस प्रकार इन अमर बलिदानोंके पश्चात् एक दिन वह आया जिसे १९४२ ई० का विप्लव कहा जाता है। सैंकडोंकी संख्यामें भारत पुत्रोंने अपनी जान हथेली पर रखकर इस महायज्ञमें अपनी आहुति दी। स्वर्गीय सुभाषनें आजाद हिन्द फौज तैयार की। एक बिजलीकी तरह उनका पराक्रम चमककर आकाशमें लीन हो गया। यह सब कुछ हुआ और उसके बाद मिली स्वाधीनता। उसी स्वाधीनताका उत्सव राजसिंहासनोंके अधिपति तथा दरदरके भिखारी और अकिंचन बने हुए भारत-वासी खुशीका सागर हृदयमें भरकर और दुःख, उत्पीडन एवं टीसके घने अंधेरेको हृदयमें व्याप्त कर मना रहे हैं। कौन इसका निर्णय करे कि यह उत्सव प्रसन्नताका है या महान शोक का। इस अवसरपर हम उन्हें भी कैसे भूल सकते हैं जिन्होंने अपने रक्तसे स्वाधीनताके उद्यानको सींचा और स्वाधीनता मिलनेके बाद राष्ट्रको हराभरा और सुख शान्तिपूर्ण बनानेमें जिस महान आत्माका खून दिल्लीमें बहा। आज भारतको स्वाधीन देखकर स्वतन्त्रताके अनन्य उपासकोंकी आत्मायें स्वर्गमें कितने हर्ष, गौरव और सन्तोषका अनुभव करती होंगी? हम उनके सुखका अनुभव कर कैसे सकते हैं? अपने किए हुए त्याग और तपका फल तो आज जो चक्रवृद्धि व्याजके साथ भोग रहे हैं, उनके लिये हम आज कुछ भी नहीं कह सकते। आने वाले वर्षोंका इतिहास और उसका अध्ययन करनेवाली भावी पीढियाँ ही इसका निर्णय करेंगी कि आजके इन सूत्रधा-रोंको आदर्शके रूपमें याद करें या लाञ्छनके रूपमें। जिन्होंने अपने राष्ट्रके अभ्युदय एवं निश्रेयसके लिये अपना सर्वस्व हँस हँस कर समर्पण कर दिया, आज हम सब भारतवासी अपनी शतशत हार्दिक श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पण करते हैं। उन हुतात्माओंकी बलिवेदी पर। भगवान उनकी यह अन्तिम मनोकामना पूर्ण करे।

शहीदोंकी चिताओंपर जुडेंगे हर बरस मेले।
वतनपर मिटने वालोंका यही बाकी निशां होगा

अध्याय १

सूर्य ही वेदका एक अद्वितीय परमेश्वर है !

प्रथम लेखांक

(लेखक— श्री० गणपतराव बा० गोरे, ३७३ मंगलवार 'बी' कोल्हापूर.)

१ सूर्य चराचर प्रजाको देखता है। २ सब देवोंकी एकत्रित शक्ति है अथवा द्युलोकसे शक्तियां नीचे उतारता है। अर्थात् सूर्य ही सर्व शक्तिमान है। ३ प्रलयमें सब देव=चराचर सृष्टि सूर्यमें विलीन होती है। ४ ब्रह्मा, रोहितादित्य ये दोनों सूर्य हैं ५ सूर्य ही सृष्टिकर्ता है। ६ सूर्य सृष्टि संहरता है। ७-१२ सूर्य ही **एकवृतं**=अद्वितीय गोलाकार, अस्तित्व, विश्वव्यापी, क्रान्तिकारक, चुनाव-करनेवाला, विभाजक है; अतः सर्व शक्तिमान है। १३ द्युलोकमें रहनेसे 'स, तम्' कहाता है। १४-१९ सूर्य **एतं**= आनेवाला, जानेवाला, वहनेवाला, चमकनेवाला, प्राप्त=पहुंचा हुआ, अनेक रंगोंवाला है। २० सूर्य अपने उपासकोंको अनेक प्रकारके दान देता तथा ज्ञान विज्ञान सिखाता है। २१ सूर्योपासना न करना ही हमारे दुःखोंका कारण है।

इतने विषयोंपर इस अध्यायमें **वेदमंत्रोंके देवता अनुसार अर्थ करके** विचार किया गया है। प्रस्तावना लेखमालाकी समाप्तिपर लिखनेका विचार है। यहां इतना कह दूं कि कई वर्षोंसे वेदार्थपर विचार करते हुए मेरा यह मत बना है कि यदि वेदमंत्रोंके अर्थ **वेदोक्त देवताओंके अनुसार** किये जायेंगे तो वेदसे **सूर्योपासना ही सिद्ध होगी** न निराकार उपासना न मूर्तिपूजा ! वैदिक धर्मका वैदिक स्वरूप ही प्रकाशित हो यही ॐ से प्रार्थना है। विद्वान भी इस सत्य-प्राप्तिके कार्यमें सहायक बनें— **लेखक**

एक अद्वितीय परमेश्वर सूर्य ही है।

ऋषी ब्रह्मा। देवता अध्यात्मम्, रोहितादित्य दैवत्यम्।

स प्रजाभ्यो विपश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥ ११ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ १२ ॥
एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १३ ॥
कीर्तिश्च, यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥ १४ ॥
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ १५ ॥ (अ० १३।४ ॥)

अर्थ—वह प्रजाओंको (वि पश्यति) विशेष रीतिसे देखता है, जो प्राण धारण करती हैं और जो नहीं करतीं ॥ ११ ॥ (तं इदं निगतं सहः) वह यह इकट्ठा हुआ सामर्थ्य है अथवा (तं सहः) उसकी शक्तियां (इदं) इस विश्वमें (नि+गतं) नीचे उतरती हैं। (सः एषः एकः) वह सूर्य और यह सृष्टि एक है [सूर्योत्पन्न होनेसे]. (एकवृत् एक एव) वह वर्तुलाकार अद्वितीय ही है ॥ १२ ॥ (एते देवाः) ये सब प्रकारके= ३३ देव (अस्मिन् एकवृतः भवन्ति) प्रलयकाल उस सूर्यमें एक वृत्तिको धारण करते हैं ॥ १३ ॥ (य एतं देवं एकवृतं वेद) जो उस [प्रतिदिन] आनेवाले अद्वितीय गोलाकारी देवको जानलेता है, उसे (कीर्तिः यशः अम्भः नभः च ब्राह्मण वर्चसं) प्रसिद्धि, यश= Success, जल, आकाश तथा विज्ञान (च अन्न च अन्नाद्यं) और अन्न और खानपानके " सब पदार्थ प्राप्त होते हैं ॥ १४-१५ ॥

भावार्थ—अपने अभिन्न निमित्तोपादान कारणसे बनी चराचर सृष्टिका सूर्य ' विशेष प्रकारसे '=किरणों द्वारा निरीक्षण करता है ॥ ११ ॥ ३३ देवोंका सब सामर्थ्य सूर्यमें एकत्र रहता

है—**सूर्य ही सर्व शक्तिमान** है। अथवा सूर्य—शक्तियां ही नीचे उतर कर सृष्टिमें कार्य किया करती हैं। सूर्य तथा यह चराचर सृष्टि एक ही अभिन्न तत्व है। सूर्य समान महान गोलाकार दूसरा नहीं ॥ १२ ॥ प्रलयकालमें सृष्टिमें कार्य करने वाले ये सब ३३ देव सूर्यमें विलीन होकर समान वृत्तिको धारण कर लेते हैं—सूर्यमें समरूप हो जाते हैं॥ १३ ॥ जो इस अद्वितीय वर्तुलाकारी देवको साक्षात् कर लेता है, अर्थात् जो उसके गुण कर्म स्वभावको जान लेता है, वह संसारमें दूर दूर तक प्रसिद्ध हो जाता है, यशस्वी होता है, सूर्य विद्युत वा अग्नि शक्तिपर चलनेवाले अनेक जलयान तथा आकाशयान बनाकर समुद्रों और आकाशपर अपना राज्य स्थापित कर लेता है। सूर्य वा अग्नि उपासना करनेसे पदार्थ विज्ञान अन्न तथा खान-पानके सब पदार्थ सहज उपलब्ध होने लगते हैं।

स्पष्टीकरण—१. वेद सूर्यको कई प्रकारसे परमात्मा सिद्ध करता है-देवता **अध्यात्मम्**=' आत्माका स्वामित्व वा अधिकार ' बताकर उसे कीर्ति, यश आदिका देनेवाला दिखाया। वह निराकार है वा साकार ? इसका समाधान **रोहित आदित्य**= ' चढा हुआ सूर्य ' कहकर कर दिया। जहां ईश्वर जीव प्रकृति एकत्र हैं उसे ' ब्रह्म ' और जो इन तीनोंके मेलसे उत्पन्न होता है उसे ब्रह्म+आ=ब्रह्मोत्पन्न कहते हैं। अतः ऋषि=वक्ता 'ब्रह्मा'+ भी ' सूर्य ' सिद्ध हुआ। इस प्रकार ऋषि देवतापर विचार करनेसे सिद्ध हुआ कि उक्त ५ मंत्रोंमें स्वयं सूर्यदेव ही अपना वर्णन आप कर रहे हैं। जो वेदको ईश्वरकृत मानते हैं, उनका समर्थन वेद कर रहा है, परंतु **वेद साकार सूर्यको ही परमेश्वर समझ रहा है**, निराकार परमात्माको नहीं।

२-३. सूर्य पुरुष-प्रकृति पुञ्ज है, अतः इसीसे पृथिव्यादि ग्रहों, अग्न्यादि तत्वों तथा जीवात्माओंका उत्पन्न होना संभव माना जा सकता है, निराकार परमात्मासे नहीं। अतः सूर्य ही सृष्ट्युत्पादक सिद्ध हुआ। प्रलयमें चराचर सृष्टि=३३ देव सूर्यमें ही लीन होनेसे **वेदने सूर्यको ही सृष्टिसंहर्ता सिद्ध किया।**

४—९. ' एक वृतं ' पदमें सूर्य देवपर घटनेवाले ६ अर्थ समाए हैं—

एकवृतं= १ Of Unique Rotundity- अद्वितीय गोलाकारी- सूर्य।

२ Universal- विश्वव्यापी। लातीनीमें Unus-एक+versum- वृतं- turn= फेरा वा गोलाई= सूर्य। अतः Universal-वेदका ' सम्पूर्ण, पूर्ण '। Universe- All existing thing; the whole creation & the creator- वेदका ' इदं सर्वं '; सृष्टि तथा उसका उत्पादक (Concise Oxford Dictionary)

३ Unique Existence= अद्वितीय अस्तित्व [जो दीखे भी और साथहीं अप्रतिम- Matchless हो। प्रत्येक सृष्टिमें एकही सूर्य होता है]

४ Unique Revolutionizer- अद्वितीय क्रान्तिकारक, वा पलटानेवाला। [क्रान्तियां- इन्किलाब भी सूर्य-देव कर्मोंके अनुसार लाया करते हैं। उदाहरणार्थ **इन्किलाब जिन्दा बाद**- ' क्रान्ति जीती रहे ' के घोष तो लगाए निष्क्रिय हिन्दुओंने, और सूर्यदेवने क्रान्ति घडकर पाकिस्तान दे दिया सक्रिय मुसलमानोंको !]

५ Unique Selector- अद्वितीय चुनाव करनेवाला [सूर्यमें न मनुष्यसी ज्ञानेन्द्रियां हैं न कर्मेन्द्रियां परन्तु वह स्वर्ग-नरकके लिये सुख-दुःख देनेके लिए अधिकारी पुरुषोंका ही चुनाव करता है। सबको योग्य कर्मफल देता है। अन्याय किसीपर नहीं होता।]

६ Uuique Distributor- अद्वितीय विभाजक—बांटनेवाला। [भारतीयोंका जीवन Rationing- राशनपर चल रहा है, तथा पाकिस्तान भारतको ९ रु. मनके हिसाबसे गेहूं बेच रहा है ! यहां भी सुकर्मों-कुकर्मोंका फल भेद कार्य कर रहा है। परन्तु मनुष्यके अतिरिक्त सूर्यदेवकी असीम प्रजा च्यूंटीसे हस्तीतक बिना राशन पद्धतिके पेट भर अन्न पाती है ! कितना उत्तम बंटवारा है !]

इन ६ अर्थोंमेंसे केवल २ रे को छोडकर शेष ५ आपटेके कोश के अनुसार हैं। **एकवृतं** पदके ये सभी अर्थ सूर्य पर घटते हैं।

+ **त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्** ॥ (श्वेताश्वतर उ० १-९ ॥)

१० 'तं इदं निगतं सहः' पर विचार करनेसे **सूर्य ही सर्वशक्तिमान् सिद्ध होता है**। निराकार परमात्मा नहीं।

११ इन मन्त्रोंमें परमात्माको **स**- वह, **तम्**- उसका इन दूरीपर रहनेवाले वा अंगुली निर्देशसे बताए जानेवाले सर्वनामोंसे बताया है। यह संकेत सूर्यकी ओर ही हो सकते हैं— घटघटमें व्यापी किसी अन्य निराकार परमात्माके लिए नहीं।

१२-१७ **एतं** शब्दके छः अर्थ देखिए—

एत- १ of variagated colour- बहुरंगी [सूर्य किरणें सात रंगकी हैं]; Shining- चमकीला, २ Come- आया हुआ, Arrived- पहुंचा हुआ। ३ Going- जानेवाला, Flowing- बहनेवाला।

एतिः Arrival- आगमन, Approach- समीप आना (दोनों वैदिक अर्थ हैं) ॥ आपटे ॥

अतः **एतं** के अर्थ हैं—आनेवाला, जानेवाला, बहनेवाला, चमकनेवाला, प्राप्त वा पहुंचा हुवा, अनेक रंगोंवाला ये सभी विशेषण सूर्यमें घटते हैं, निराकार परमात्मामें एक भी नहीं! इनके आगे 'नित्य, प्रतिदिन, सदा, सर्वत्र' पद लगाकर पढिए-अर्थ सुस्पष्ट हो जाएंगे

१८. **वेद सूर्योपासनाको ही मंगलाचरण=शुभ वा श्रेयस्कर कर्म समझ रहा है**, निराकार-उपसनाको नहीं! सूर्योपासकके लिए ही प्रसिद्धि, यश, पृथिवी जल तथा अन्तरिक्षका प्रभुत्व आदि सुख सूर्य देवने मर्यादित=Reserved कर रखें हैं- **मूर्ति पूजकों वा निराकार उपासकोंके लिए नहीं!**

१९. वेदको प्रकट हुए १ अब्ज ९७ कोटी वर्षोंसे अधिक समय बीता है। **वेद सब सत्य विद्याओंका पुस्तक है**, ऋषि दयानन्दने यथार्थ ही कहा। कारण सब दिव्य शस्त्रास्त्रोंकी बनानेवाली, अणुबम तथा हॅड्रोजन=जलघटक वायु बमकी बनानेवाली जातियां आज भी वही सिद्ध हो रही हैं। जिन्होंने सूर्य-शक्तिका साक्षात्कार किया है। यही जातियां आज भी जल स्थल तथा आकाशपर राज्य चला रही हैं।

२० सूर्योपासना न करना ही हमारे दुःखोंका कारण है!

देशपर आपत्तियां छायीं हैं। आर्य जातिका सर्वनाश हो रहा है। और हम अपने सर्वनाशको आंखे फाड फाड कर देख रहे हैं, परंतु विवश हैं—कुछ भी कर नहीं सकते! सचेत लोगोंने यज्ञ आरंभ कर दिए हैं, यह बडी प्रसन्नताकी बात है। यज्ञ यदि विधिवत् किया जांए तो अवश्य लाभ देता है, परंतु हमारे यज्ञोंके नमूने देखिए—

१. जपयज्ञ किए जाते हैं। परंतु किसी मूर्ति आदिको सामने धर कर, वा उसका विचार मनमें लाकर, वा निराकार परमात्माके उद्देश्यसे।

२. हवन भी इसी प्रकार होते हैं।

३. जप वा हवनके मन्त्रोंके अर्थ यज्ञकर्ता नहीं जानते, साथही इन पोपट-पंछी यज्ञोंसे लाभकी आशा भी बनाए रखते हैं!

अब यदि वेदके अनुसार सूर्य ही परमेश्वर है, तो सब प्रकारके यज्ञ सूर्य-शक्तिको प्राप्त करनेके उद्देशसे ही होने चाहिए। परंतु नहीं होते, इसी कारण आर्य जातिकी पृथिवी, योगक्षेम सर्वत्र छीना जा रहा है।

प्रश्न—तो क्या आर्य जातिका सर्वस्व हरनेवाले पाकिस्तानी सूर्योपासक हैं?

उत्तर—जी हां! वे अल्लाहको सातवें आस्मान पर=द्युलोकमें रहनेवाला दिव्य=प्रकाशमान देव मानते हैं—यही सूर्य है! वरन बताइए कि मंत्र १४-१५ में दिया हुआ आशीर्वाद उन्हीं पर क्यों पूरा उतर रहा है?

ऋषि इन्द्रः। देवता इन्द्रः, आत्मा वा।

अहं भूमिमददामार्याय ॥ ऋ ४।२६।२ ॥

अर्थ—मैं आर्योंको भूमि दिया करता हूं ॥ २ ॥

परंतु आज पाकिस्तान आर्य जातिकी भूमि बटोर रहा है! क्यों? इसलिए कि आर्य जाति आर्यत्वसे रहित है=हिंदू कहलाती है तथा सूर्यसे विमुख हो चुकी है!

अध्याय २

सूर्य ही द्युलोकमें रहते हुए सृष्टिको संभाले हुए है, निराकार परमात्मा नहीं!

विषय प्रवेश—१९१३ से लगभग १९३५ तक ईसाइयोंके 'आकाशस्थ वा तीसरे आस्मान पर रहनेवाले पिता वा प्रभु=Heawenly Father,' तथा मुसलमानोंके 'अल्लाहके सातवें आस्मानमें होनेके' सिद्धान्तोंको मैं असत्य समझता रहा।

उसी प्रकार अपने अज्ञानके कारण मैं विष्णुके 'शेषशायी स्वरूप,' उसके 'वैकुंठः' नामको, उसके 'क्षीर सागरमें रहने' के रहस्यको, शिवके 'कैलास वासी' होनेके अर्थको और यमके 'यमालय' शिवके 'शिवालय' वरुणके वरुणालय ब्रह्मके 'ब्रह्मालय' को भी नहीं जान सका। तब मेरा दृढ मत था कि बिना निराकार परमात्माके कोई भी घट घटमें अथवा चराचर सृष्टिमें व्यापक हो ही नहीं सकता। इसपर तुर्रा यह कि बिना वेद पढे इसीको 'वैदिक सिद्धान्त' समझता रहा। मेरे समान लाखों लोग आज भी इसी चक्करमें पडे हुए हैं, यह मैं जानता हूं। अब स्वाध्याय रंग लाने लगा। 'आत्मा अणु है विभु नहीं' इसका मैं अब व्यापक अर्थ करने लगा, कि 'जब जीवात्मा अणु तथा हृदयमें एकस्थानीय होते हुए मस्तिष्कमें स्थित मनके द्वारा शरीरको व्याप सकता है, तो उसी प्रकार सूर्य अपने मनसहित किरणों विद्युत तथा अग्नि रूपमें सृष्टिमें सर्वत्र व्यापक क्यों नहीं? क्या अग्नि तत्व चराचर सृष्टिमें प्रत्यक्ष व्यापक नहीं दीखता? पृथिव्यादि लोकोंको सूर्य धारण कर रहा है, निराकार परमात्मा नहीं! इस अवस्थामें एक मनघडन्त निराकार परमात्माके अस्तित्वको मानने एवं उसे चराचर सृष्टिमें व्यापक समझनेकी आवश्यकता ही क्या?

सूर्यको वेदने 'आत्मा' कहा है और वह एक महान 'अणु' और सृष्टिका मध्य बिंदू = Center of universe है। फिर भला वह (शरीरमें जीवके समान) सृष्टिमें व्यापक क्यों नहीं हो सकता?

ऐसा माननेसे ही 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की लोकोक्ति भी सार्थक होती है।

इस प्रकारके तर्क वितर्क मनमें चलते रहे। अन्तमें वेदने इस विषयको जिस प्रकार मेरे लिए खोल दिया सो देखिए।

वेदके प्रमाण

१ उत्तरां दिवं आरोहन् ॥ ऋ १।५०।११ ॥ देवता सूर्यः॥

अर्थ – सूर्य परमेश्वर उच्चतर द्युलोक पर चढा रहता है।

२ दिवः धरुणः ॥ ऋ १०।१७०।२ ॥ देवता सूर्यः ॥

अर्थ – सूर्य परमेश्वर द्युलोकका धारणकर्ता = Support= आधार है।

३. दिवः धर्त्ता विभाति तपसस्पृथिव्यां० ॥ वा० य० ३७।१६ ॥ दे० सविता ॥

अर्थ – (तपसः पृथिव्यां धर्त्ता) अपने तापसे पृथिवीका धारक अथवा = Holder of earth = पृथिवीको पकडे वा थामे रखनेवाला सूर्य वा सविता परमेश्वर (दिवः विभाति) द्युलोकको भी प्रकाश दे रहा है ॥ १६ ॥

४. ऋषि मातृनामा। देवता गंधर्वाप्सरसः [भूमिको थामे रखनेवाली सूर्य किरणें] तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिविते सधस्थम् ॥ अ० २।२।१ ॥

अर्थ – हे (दिव्य देव) प्रकाशमान सूर्य देव! (तं त्वा) उस तुझसे (ब्रह्मणा यौमि) उपासना द्वारा मिलता हूं। (ते नमः अस्तु) तेरे लिए नमस्कार हो। (ते सध – स्थं दिवि) तेरा स्थान द्युलोकमें है ॥१॥

इसमें 'दिव्य देव' के अतिरिक्त सारा अर्थ श्री पं० सातवलेकरजीका ही है। यहां वेदने सुस्पष्ट बता दिया कि **द्युलोकमें रहनेवाले सूर्यकी ही उपासना करनी चाहिए, उसीको हाथ जोडना चाहिए** – न कोई निराकार परमात्मा पूज्य है न कोई मनुष्य कृत मूर्ति! मंत्र २ भी इसीका समर्थक है।

५. तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो ॥ ऋ. ९।९६।१८ ॥ देवता पवमानः सोमः ॥

अर्थ – (महिषः सोमः) महान सोम राजा (तृतीयं धाम) तीसरे धाम = द्युलोकमें (सिषासन्) रहता है ॥ १८॥

ऋ. १।१६४।४६ के अनुसार (जो इस लेखमालामें आगे आएगा) सोम, अग्नि, वरुण, वायु आदि सभी नाम सूर्यके ही हैं। **वही ईश्वर है** ऐसा स्वयं वेद सिद्ध कर रहा है, वैदिक धर्मियोंके लिए।

६. दिव्यः सुपर्णः ॥ ऋ० १।१६४।४६ ॥ दे० सूर्यः ॥

परमेश्वर सूर्य द्युलोकस्थ गरुड = वेगवान् पक्षी है [Well winged Celestial Eagle].

७. गरुत्मान् ॥ ऋ० १।१६४।४६ ॥ दे० सूर्यः ॥

सूर्य परमेश्वर आकाशमें श्वास लेता = रहता है।

८. ऋषि ब्रह्मा देवता अध्यात्मं रोहितः आदित्यः।

अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम्
॥ अ० १३।१।३९ ॥

अर्थ... (रोहितः आदित्यः) हे सदा उगे हुए सूर्य देव ! आप (अमुत्र सन् इह वेत्थ) वहां [दूर द्युलोकमें] रहते हुए यहांकी सुध लेते हो तथा (इतः सन्) यहां रहते हुए (तानि पश्यसि) उन [द्युलोक तथा अन्तरिक्षके कार्यों] को देखते हो। मेधावी पुरुष (दिवि रोचनं विपश्चितं सूर्यं) तुझ द्युलोकमें प्रकाशमान सूक्ष्म--दृष्टिन्= बारीक देखनेवाले सूर्यको (इतः पश्यन्ति) यहां [इस लोकमें कार्य करता हुआ] देखते हैं ॥ ३९ ॥

भावार्थ— वेदोपदेश है कि सूर्य ही पृथिवीसे लेकर द्युलोकतक सर्व सृष्टि को एक साथ संभाले रहता है, निराकार परमात्मा नहीं ! मनुष्यका मन एक समयमें एक ही विषयपर लग सकता है, परंतु सूर्य अपने मन-सहित त्रिलोकी को व्याप रहा है। अतः वेदसे सिद्ध हुआ कि **सूर्य ही अन्तर्यामी सर्व शक्तिमान और सर्वज्ञ है**, निराकार परमात्मा नहीं ! लोग सूर्यको जड पदार्थ समझते हैं, परंतु वेद उसे **विपश्चितं**=वारीकवीन= मनुष्यके गुप्त विचारोंको भी समझनेवाला बता रहा है। शंका होगी कि दिनको तो सूर्य अपनी किरणों द्वारा पृथिवीकी देखरेख कर सकता है; परंतु रातको कैसे ? इस शंकाका उत्तर वेदने ऋ. १।११५।५ में दिया है। कि दिनका श्वेत और रातका कृष्ण ये दोनों सामर्थ्य सूर्यके ही हैं और इन्हींसे— '**सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे**'= द्युलोकमें रहते हुए सूर्य पृथिवीके दिनरातोंके रूप बनाता है ! यहां राम अवतार, कृष्ण अवतार झलक रहे हैं !

९, ऋषि देवता उपरोक्त.

देवो देवान् मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे। समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे॥

(अ० १३।१।४०)

अर्थ—(देवः देवान् मर्चयसि) हे खिलाडी सूर्य परमेश्वर ! तू सब ३३ देवोंको धमकाता वा शुद्ध करता है, और तू (अर्णवे अन्तः चरसि) आकाश सागरमें संचार करता है। (समानम् अग्निम् इन्धते) जो अग्नि पृथिवीपर प्रकाशता है वह तेरे समान ही गुणवाला है। (कवयः तं परे विदुः) उस पृथिविस्थ अग्निको ही ज्ञानी जन दूर= द्युलोकस्थ सूर्य समझते हैं ॥ ४० ॥

भावार्थ— सब देव सूर्यके आधीन हैं, अर्थात् **सूर्य ही परमेश्वर= सृष्टिकर्ताधर्ता- संहरता है**, निराकार परमात्मा नहीं ! पृथिवीपर सूर्य अग्निरूपमें व्याप रहा है, अन्तरिक्षमें विद्युत रूपमें, तथा द्युलोकमें सूर्याकारमें उसके इन तीन स्वरूपोंको जानकर ही विद्वान उसे दूर भी समझते हैं और निकट भी ! और देखिए—

१०. ऋषि दधीचि। देवता आत्मा।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(वा० य० ४०।५)

अर्थ— (तत्) वह आत्मा= सूर्य (एजति=एजयति) हिलाता है, परंतु (तत् न एजति) वह स्वयं हिलता नहीं। (तत् दूरे) वह दूर है, (तत् उ अन्तिके) वह निश्चयसे सबके भीतर भी है। (तत् अस्य सर्वस्य अन्तः) वह इस सब सृष्टिके अन्दर है, और (तत् उ) वही निश्चयसे इस सबके बाहर भी है ॥ ५ ॥

भावार्थ— सूर्य ग्रहों आदिको तो गति देता है, परंतु उनके (तथा निराकार परमात्मा आदिके बलसे स्वयं गतिमान नहीं होता। वह दूर द्युलोकमें रहते हुए भी प्रत्येक प्राणीके भीतर बाहर समाया हुआ है। उसी प्रकार वही सूर्य इस निर्जीव सृष्टिके भी बाहर भीतर रमा हुआ है।

यह मंत्र सूर्यको ही **अन्तर्यामिन्**= Regulating from within= अन्दरसे चालना देनेवाला तथा **सर्व व्यापक** सिद्ध कर रहा है, निराकार परमात्माको नहीं।

११. ऋषि ब्रह्मा ! देवता अध्यात्मं रोहितः आदित्यः।

आरोहन् द्यामसृतः प्राव मे वच : ॥

(अ० १३।१।४३)

अर्थ— हे (रोहित आदित्य) उगे हुए सूर्य (अधि आत्मं) मेरे शरीरके भीतर रहनेवाले ! (अमृतः द्याम् आरोहन्) अमर जीवोंके मोक्ष लोकपर आरूढ रहते हुए तू (मे वचः प्र अव) मेरी वाचा शक्ति वा वाणीकी भली प्रकार रक्षा कर ॥ ४३ ॥

भावार्थ— आठ वसुओंमें सूर्यको इसलिए गिना जाता है कि वह सृष्टिके मुक्त जीवोंको अपने भीतर बसाता है ! यही मुक्तावस्थामें जीवेश्वर सम्मिलन है ! मंत्र बता रहा है कि द्युलोकमें रहते हुए सूर्य पृथिवीपर वेद वाणीकी सुरक्षा करता है, तथा लोगोंको बोलनेकी शक्ति देता है, अतः सूर्यही परमेश्वर है!

१२-१३. ऋषि देवता उपरोक्त।

वेद तत् ते अमर्त्य यत् त आक्रमणं दिवि।
यत् ते सधस्थं परमे व्योमन् ॥
(अ० १३।१।४४ ॥)

सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम् ॥
(अ० १३।१।४५)

अर्थ— हे मेरे भीतर सदा उदित सूर्य देव (यत् ते दिवि आक्रमणं) जो तेरा द्युलोकमें उदय होनेका रहस्य है, (तत् ते अमर्त्यः वेद) उसे तेरे अमर देव जानते हैं; और (परमे व्योमन्) अत्यंत उच्च आकाश= द्युलोकमें (यत् ते सधस्थं) जो तेरी रहनेकी जगह है उसे भी जानते हैं ॥ ४४ ॥

भावार्थ— भक्त अपने भीतर सदा उपस्थित अग्नि वा सूर्यको आश्चर्यचकित होकर, अपनी अल्पज्ञताको स्वीकार करते हुए कह रहा है कि हे सूर्य ! तेरे भीतर रहनेवाले मुक्तात्मा अथवा तेरे ३३ देव ही तेरे इस रहस्यको जानते हैं कि तू अत्यंत उच्च आकाशमें रहते हुए भी किस प्रकार त्रिभुवन पर प्रतिदिन पूर्वसे आक्रमण करता हुआ पश्चिम तक सुख देता दुःख हरता चला जाता है ! ॥ ४४ ॥

अर्थ—(सूर्यः द्याम्, सूर्यः पृथिवी, सूर्य आपः अति पश्यति) सूर्य द्युलोकको, सूर्य पृथिवीको, सूर्य जलको अत्यंत सूक्ष्मतासे=Minutely देखता है। (सूर्यः भूतस्य एकः चक्षुः) जो सूर्य इस उत्पन्न जगतका एकमात्र द्रष्टा तथा दर्शक है, वही (महीं दिवं आ रुरोह) इस पृथ्वी और द्युलोक पर सब ओरसे चढा हुआ है- सर्वव्यापी बना रहता है ॥ ४५॥

भावार्थ— द्युलोक अन्तरिक्ष लोक तथा पृथिवीके सभी चराचर पदार्थोंको जलचर स्थलचर नभचर प्राणियोंके अत्यंत गुप्त विचारों तथा कर्मोंको **पूर्णतया जाननेवाला सूर्य परमेश्वर है** निराकार परमेश्वर नहीं। सूर्य इन्हें स्वयं ही देखता है, इतना ही नहीं, परंतु सब प्राणियोंको देखनेकी शक्ति भी देता है – वही प्राणियोंका चक्षु = नेत्रेन्द्रिय बना है ! उसके बिना नेत्र कार्य नहीं करते ! शरीरसे उष्णता निकल जाने = मरनेके बाद नेत्र खुले रहते हैं, परंतु दीखता कुछ नहीं ! **ऐसा जो सूर्य है वही त्रिभुवनको पूर्णतया व्याप रहा है, और अन्तर्यामी, तथा सर्वज्ञ है**, निराकार परमात्मा नहीं।

*

टीप — मंत्र इतना सुस्पष्ट है कि इसका अर्थ करते हुए स्वयं भाष्यकार श्री पं० जयदेव शर्माने भी **यहां दो बार सूर्यको परमेश्वर माना है !**

१४. ऋषि ब्रह्मा। देवता अध्यात्मं रोहितः आदित्यः।

उदेहि वाजिन् यो अप्स्वन्तरिदं राष्ट्रं प्रविश सूनृतावत्। यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु ॥ अ० १३।१।१ ॥

अर्थ - (वाजिन् !) हे अन्नपते सूर्य ! (उत् एहि) तू उदयको प्राप्त हो। (यः) जो (अप्सु अन्तः) जल वा वायुके बीच है सो तू (सूनृतावत्) एक अच्छी नृतिकाके समान नाचते हुए (इदं राष्ट्रं प्रविश) अपने इस राष्ट्रमें प्रवेश कर। (यः रोहितः इदं विश्वं जजान) जिस लालदेवने यह विश्व उत्पन्न किया है, (सः सुभृतम्) वही उत्तम भरण पोषण करनेवाला (त्वा राष्ट्राय बिभर्तु) तेरे राष्ट्रका पालन पोषण करता है ॥ १ ॥

भावार्थ - समुद्रतीरपर खडा भक्त समुद्रमेंसे उगनेवाले सूर्यकी प्रतीक्षा करता हुवा स्तुति कर रहा है, कि हे अन्नपते ! तू आनन्दपूर्वक अपने इस राष्ट्रमें प्रकाशित हो। **विश्व उत्पादक लालदेव भी तू ही है, और तू ही इसका पालक-पोषक।** फिर भला तेरे बिना इस **विश्वका स्वामी** और कौन हो सकता है ? पूज्य और कौन हो सकेगा ?

१५. ऋषि नारायणः देवता पुरुषः।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥
ऋ. १०।९०।४ ॥

अर्थ - (त्रिपात् पुरुषः) तीन भाग सूर्य पुरुष (ऊर्ध्वः उदैत्) उच्च भागमें ऊपर प्रकाशता है, और (अस्य पादः) उसका एक भाग (इह) इस लोकमें (पुनः अभवत्) वारंवार बनता बिगडता रहता है। अर्थात् (ततः साशनअनशने विष्वङ्) उस एक भागसे खानेवाले -- न खानेवालोंके सब शरीर (अभि) उसकी इच्छा अनुसार (वि अक्रामत्) विशेष रीतिसे पृथक होते रहते हैं, बनते हैं ॥ ४॥

भावार्थ— सात बडे ग्रहों सैंकडों छोटे ग्रहों, उनके उपग्रहों, अनेक सूर्य संबंधी धूमकेतुओंका जो आकारमान है वह सब उनकी चराचर सृष्टि सहित सूर्यके एक चतुर्थांश आकारके बराबर है। यही कारण है कि ये सब सूर्यकी गुरुत्वाकर्षण = Gravitation से प्रभावित होकर सूर्यकी प्रदक्षिणा कर

रहे हैं। मंत्रसे सिद्ध हो रहा है कि सूर्य ही सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। अतः समझमें नहीं आता कि वेदका विरोध करके भी एक कदापि न दीखनेवाले निराकार परमात्माके अस्तित्वको माननेके लिए हम क्योंकर बाधित हो सकते हैं?

१६. ऋषि सव्य आङ्गिरसः। देवता इन्द्रः।

त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्या ऋष्ववीरस्य बृहतः पतिर्भूः। विश्वमाप्रा अन्तरिक्षं महित्वा सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान् ॥ ऋ १।५२।१३ ॥

अर्थ – हे इन्द्र = सूर्य ! (त्वम् भुवः) तू हुआ है (पृथिव्या प्रतिमानम्) पृथिवीका सन्तुलन करनेवाला, अर्थात् अपने गुरुत्वाकर्षण द्वारा पृथिवीको सुस्थिर रखते हुए अपने चारों ओर घुमानेवाला। और तू (ऋष्व वीरस्य) पराक्रमी सूर्य किरणोंका (बृहतः पतिः भूः)महान स्वामी बना है। (महित्वा) अपने ही महत्वसे (विश्वं अन्तरिक्षं आ प्राः) सारे अन्तरिक्षमें परिपूर्ण हो रहा है। (अद्धा सत्यं) निश्चय पूर्वक तू अविनाशी है। (त्वावान्) तेरे समान (न कि: अन्यः) दूसरा कोई नहीं है ॥ १३ ॥

भावार्थ – इन्द्र वा सूर्य पृथिवीको तोलते हुए अपनी प्रदक्षिणा करा रहा है, किरण-वीरोंका महान पालक, अन्तरिक्ष द्युलोक तथा पृथिवीपर व्यापक है, अनश्वर है, अद्वितीय है- अर्थात् पूर्ण परमेश्वर है। प्रत्यक्ष वैदिक परमेश्वरसे मुख मोडकर अप्रत्यक्ष अवैदिक ' निराकार परमात्मा ' की कल्पना किस आधारपर की जाती है, यह विद्वान् लोग बतानेकी कृपा करें।

१७. ऋषि विरूप आङ्गिरसः। देवता अग्निः।

अग्निमीळे स उ श्रवत ॥ ऋ ८।४३।२४ ॥

अर्थ — (अग्निम् ईळे) मैं अग्निकी स्तुति प्रार्थना करता हूं, इसलिए कि (स उ) वह निश्चयपूर्वक (श्रवत्) सुनता है ॥ २४ ॥

भावार्थ - मनुष्यको दिखाने, चखाने, स्पर्श करने कराने, वाचाशक्ति, श्रवण शक्ति देने वा छीन लेने, मनन शक्ति देने वा मूढ बनानेका कारण शरीर व्यापी भौतिकाग्नि ही है, निराकार परमात्मा नहीं। हवन संध्या करके अग्नि, उपासना, स्तुति प्रार्थना हम इसीलिए करते हैं कि अग्नि = सूर्य सुनता है, शब्द करता कराता, वेद तथा वाचाका प्रदाता है। तार, टेलिफोन, रेडियोपर सहस्रों मील दूर किए हुए शब्द भौतिक अग्नि ही सुनाता है, निराकार परमात्मा नहीं। यही कारण है कि वेद भौतिकाग्निकी ही पूजा करना सिखाता है, निराकार परमात्माकी नहीं। स्तुति प्रार्थना सुननेवाला देव अग्नि वा सूर्य ही है, और जबतक वह शरीरमें व्यापता है, तभी तक प्राणी देखता, चखता, बोलता, सुनता है। अग्निके निकल जानेपर ही देह मृत हो जाता है, और फिर जीव कुछ भी कर नहीं सकता।

वेदके इन मंत्रोंपर विचार करनेसे सिद्ध होता है कि सूर्यदेव ही द्युलोकमें रहते हुए पृथिव्यादि ग्रहोंकी चराचर सृष्टिके उत्पादक पालक मारक= ब्रह्मा विष्णु शिव बने रहते हैं। अतः मनुष्यको मूर्तिपूजा वा निराकार पूजा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। उसे सूर्योपासना वा अग्नि उपासना ही करनी चाहिए। दूसरा प्रबल कारण यह है, कि **जितने गुणोंसे युक्त लोग निराकार परमात्माको आजतक समझते रहे, वे सब वास्तवमें वेदके अनुसार सूर्यके ही गुण हैं निराकार परमात्माके नहीं!**

अध्याय १ में सूर्य गुणोंका सारांश।

चराचरको देखनेवाला। शक्तियोंका पुञ्ज वा शक्तियोंको पृथिवीपर उतारनेवाला। सृष्टिसे अभिन्न। ३३ देवोंका निवास स्थान। प्रतिदिन आनेवाला। विश्वव्यापी। अद्वितीय अस्तित्व। अ० कान्तिकारक। अ० चुनाव करनेवाला। अ० विभाजक। सर्व शक्तिमान। बहुरंगी। चमकीला। आया हुआ। पहुंचा हुआ। जानेवाला। बहनेवाला। सूर्योपासकके लिए आशीर्वाद देनेवाला।

अध्याय २ में सूर्य गुणोंका सारांश

सूर्य परमेश्वर द्युलोकमें रहता है ऐसा वर्णन १३ वार आया है। द्युलोकमें रहते हुए पृथिवीमें व्यापक ३ बार। द्युलोकाधार पृथिवीका धारक। प्रकाशमान, प्रकाशक। उपासना वा वेद द्वारा प्राप्त होनेवाला। पूज्य। पृथिवीसे द्युलोकतकके कार्य एक साथ संभालनेवाला। सूक्ष्म-- दृष्टिन्। द्युलोकमें रहते हुए दिन रात बनानेवाला। ३३ देवोंको चमकाने वा शुद्ध करनेवाला आकाश सागर संचारी। अग्निसे समानता रखनेवाला। गति देनेवाला पर लेनेवाला नहीं। दूर रहते हुए सबके भीतर बाहर। मोक्ष वा मुक्ति स्थानमें रहनेवाला। वाणीका रक्षक। अमर देव उसे जानते हैं। त्रिलोकीको अत्यंत बारीकीसे देखता है। उत्पन्न जगतका एक मात्र देखने दिखानेवाला है। सर्व-

व्यापक है। अन्नपति है। विश्वका उत्पादक तथा पालक है। तीन भाग द्युलोकमें प्रकाशता है और एक भागसे सृष्टिके उत्पत्ति आदि कार्य करता है। पृथिव्यादि ग्रहोंको स्व-शक्तिसे अपनी प्रदक्षिणा कराता है। पराक्रमी किरणोंका पालक है। अन्तरिक्षमें व्यापक है। सत्यम् = अनश्वर है। अद्वितीय है। प्रार्थना सुनता है।

उपसंहार

वेदके आर्यभाषा-भाष्यकारोंने प्रायः सूर्य देवके उपरोक्त गुण कर्मोंको छीनकर बलात्कार निराकार परमात्मा पर घटाया है। यह वेदका विरोध है, सूर्य परमेश्वरसे बलवा करना है। मेरे समान सहस्रों लोगोंकी इन भाष्योंसे दिशाभूल हो चुकी है, और हो रही है।

अजमेरके आर्योपदेशक पं० सूर्यदेवजीने सन् १९३४ में सख्खरमें व्याख्यान देते हुए एक सृष्ट्युत्पत्ति पर शास्त्रार्थका वर्णन इस प्रकार किया था —

मौलवी — अजब है दुनियांके कारखाने।
खुदाकी बातें खुदा ही जाने॥

वेदान्ती — अजब है दुनियांके कारखाने।
खुदाकी बातें खुदा हो जाने॥

अर्थात् जबतक मनुष्य अपनेको ईश्वर नहीं कहलाता तबतक उसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती।

वैदिक धर्मी— अजब है दुनियांके कारखाने।
खुदाकी बातें खुदासे जाने।

अर्थात् ईश्वर संबंधी बातें ईश्वरकृत वेदको पढकर मनुष्य समझ ले।

उन्हीं दिनों श्री पं० सातवळेकरजीनें **वैदिक धर्ममें** 'वेदार्थ देवता अनुसार करना चाहिए' इस विषयपर लेख लिखे थे। आपने प्रश्न किया कि **जो ज्ञान परमात्माने वेदमें दिया है वह निश्चित है वा अनिश्चित? यदि निश्चित है तो देवता अनुसार अर्थ करनेसे ही उस निश्चित ज्ञानको हम पा सकते हैं, अन्यथा नहीं।** इस युक्तिने मेरे मनपर अमिट प्रभाव किया। तबसे ही मैं वेदका स्वाध्याय करने लगा। **प्रस्तुत लेख मंत्रोंके अर्थ देवता अनुसार करनेका ही फल है।** अब मैं समझता हूं कि 'मनन पूर्वक वेदका स्वाध्याय करना' ही वेदार्थ करनेका उत्तम साधन है। मेरा अनुभव है कि स्वाध्यायशील पुरुषको सूर्य-देव स्वयमेव गूढार्थ समझा देते हैं। इसीको 'देवता अनुसार मंत्रोंके अर्थ करना' वा 'वेदसे वेदार्थ करना' भी कहते हैं।

कृत्रिम धर्म? — कृत्रिम, कृतिसिद्ध, बनावटी, सादि-सान्त, झूठे असत्य, Unnatural = अस्वाभाविक वे धर्म हैं जिन्हें मनुष्य अपनी इच्छासे ग्रहण कर सकता है और छोड भी सकता है, जिनके ग्रहण करने वा छोड देनेसे मनुष्यके शारीरिक वा आत्मिक अवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पडता, जिन्हें मनुष्य अपनी अज्ञानतासे धारण करते हैं, परंतु जो मनुष्योंका धारण पालन पोषण नहीं करते।

इस वर्गमें मूर्तिपूजा, निराकार उपासना, यहूदी, ईसाई, इस्लाम, बौद्ध सभी नास्तिक तथा मनुष्य पूजक मतों तथा Secularism = ऐहिक मतका समावेश होता है। 'धर्म' पदकी जो वैदिक व्याख्या है, उसके अनुसार ये सब मत-मतान्तर तो कहला सकते हैं, परंतु **धर्म** नहीं? कारण **धर्मो धारयति प्रजा** इसके उलट इन्हें प्रजा धारण करती है।

स्वाभाविक धर्म — स्वाभाविक, प्राकृत, नैसर्गिक, अकृत्रिम, अनादि-अनन्त, सत्य, अविनाशी = Natural **एक ही धर्म** सृष्टिमें है जिसे **वैदिक धर्म** = Scientific or Natural Religion कहते हैं। यह सृष्टिके आदिकालमें मनुष्योत्पत्तिके साथ ही उत्पन्न होता है, और प्रलयतक त्रिकाला-बाधित बना रहता है। इस धर्ममें **सूर्य ही परमेश्वर है, और वह वायु, अग्नि, जल आदिके रूपोंमें समस्त प्राणियोंके साथ उत्पत्तिसे मृत्यु कालतक सहवास करता है, उनका पालक पोषक धारक मारक बना रहता है। न वह विना कारण प्राणियोंको छोडता है, और न प्राणी उसे छोड सकते हैं — इतना दृढ जीवेश्वर संबंध है!** वह प्राणाधार है, और ज्यों ही वह प्राणोंकी गति रोकता है, वा शरीरसे अपनी उष्णता हटा लेता है, त्यों ही प्राणी शरीर छोड देता = मर जाता है - इतना दृढ संबंध जीव-सूर्य = आत्मा-परमात्माका है। यह संबंध सृष्टिसे प्रलयतक एक रस बना रहेगा, इसलिए कि यही सत्य धर्म है - स्वाभीवक धर्म है। **वेदोऽखिलो धर्म मूलम्** तो तभी सिद्ध होगा जब वेदके अर्थ मनमाने न किए जाकर देवता अनुसार किए जाएंगे। यही धर्म प्रजाको धारण करता है, न कोई और सूर्य परमेश्वर पाचों भूतोंका पुञ्ज है। कौन है जो अग्नि वायुका सेवन छोडकर नास्तिक बन सके?

अब समझ आई — इस स्वाभाविक धर्मको वेदसे प्राप्त करनेके बाद समझने लगा कि हम स्वयं वेदविरुद्ध आचरण करते हैं और दोष दूसरोंपर धरते है, यथा —

१ यहूदियों, ईसाइयों, की 'आकाशस्थ वा तीसरे आस्मानपर

रहनेवाले पिता वा परमेश्वरकी कल्पना पूर्णतया वैदिक है। पृथिवीलोकका, अन्तरिक्षका तथा द्युलोकका ये तीन आकाश वा आस्मान है। इनका तीसरे आस्मानपर रहनेवाला पिता वेदका सूर्य परमेश्वर ही है।

२. कुआनिका अल्लाह सातवें आस्मानपर रहता है। आपटेके कोशमें 'वायुः' शब्दके नीचे, पृथिवीसे आरंभ करके एक दूसरेके ऊपर वायुके सात थर क्रमशः बताये हैं, यथा-

आवहः प्रवहश्चैव संवहश्चोद्वहस्तथा।
विवहाख्यः परिवहः परावह इति क्रमात्॥

मुसलमानोंका अल्लाह सातवें आस्मान = **परावह** = द्युलोकमें रहता है, और वह सूर्य ही है — देखो वैदिकधर्म मई १९४९ का अंक।

३. 'शेषशायी विष्णु भगवान' भी अब मुझे सूर्यमें ही दीखने लगे। 'शेष' नाम आकाशका है जो प्रलयमें भी शेष= बचा हुआ रहता है। उसपर शयन करनेवाले साथ ही सर्व व्यापक देव सूर्य ही तो हैं।

४. 'कैलास वासी शिव' ने भी अपना स्वरूप सूर्यमें दिखाया। **कै** (कायति) to sound = शब्दकरना + **लासः** (लस्–घञ्) Jumping, Sporting, Dancing = कूदना, खेलना, नाचना॥ आपटे॥

कैलास = वह स्थान जहां शब्द कूदता, खेलता, वा नाचता रहता हो= **आकाश**। अतः **कैलास वासी शिव** = आकाशवासी सूर्य!

शास्त्रोंने आकाशका गुण शब्द ही माना है। रेडिओके आविष्कारकेन भी इस बातको जाना है। यही कारण है कि सहस्रों मील दूरके शब्द तुरंत नाचते आ पहुंचते हैं।

५. **वैकुंठवासी विष्णु वा इन्द्र** भी द्युलोकमें रहनेवाले सूर्य ही हैं।

वै = Certainly = निश्चय पूर्वक+ **कुंठ** = Blunt = मंद, Dull = निस्तेज, Indolent = सुस्त, Idle = निकम्मा॥ आपटे॥

वैकुंठ = वह स्थान जो सदा मंद, गतिहीन, निस्तेज, सुस्त सा दीखता हो, जिसमें किसी प्रकारकी हलचल नहीं। यह द्युलोक ही है। वहीं एकान्तमें विष्णु = सर्वव्यापी सूर्य रहते हैं।

६. **क्षीर - सागरमें रहनेवाले विष्णु** भी, द्युलोकस्थ सूर्य ही हैं। इन्हींको वेदमें **अप्सु अन्तः वाजिन्** = पानी वा वायुमें रहनेवाला अन्नपति कहा है। (अ० १३।१।१)

अन्तः अर्णवे चरसि = हे सूर्य! तू आकाश सागरमें संचार करता है, ऐसा अ० १३।१।४० में कहा है।

७. यम नाम सूर्यका है (ऋ १।१६४।४६) अतः **यमालय** = सूर्यके रहनेका स्थान = द्युलोक है। इसे 'मृत्यु देवताका न्यायालय' भले ही कोई कहे।

८-१०– इसी प्रकार **शिवालय, ब्रह्मालय** तथा **वरुणालय** भी द्युलोकके नाम हैं, कारण—

शिव, ब्रह्म तथा वरुण आदि **सभी नाम सूर्यके ही हैं**, मेरा दुर्दैव कहिए कि मैं वैदिकधर्मी कहलाता हुआ वर्षोंतक इन सूर्यके गुणकर्म वाची नामोंको बिना वेद पढे निराकार परमात्मा पर घटाता रहा। परंतु अब जो वैदिक सत्य निरंतर स्वाध्याय तथा सूर्यदेवकी कृपासे मुझ समान् अशिक्षित व्यक्तिपर प्रकट हुआ है, वह बडी नम्रतासे जिज्ञासु भ्राताओं तथा पूज्य विद्वानोंके सामने धरता हूं — इस प्रार्थनाके साथ साथ लेखकी त्रुटियोंको अवश्य ही मेरे कल्याणके लिए बताया जाय, परंतु लेखमालाकी समाप्तिके बाद। [क्रमशः]

सन्त-सन्देश

(लेखिका- श्री. दयावती, भक्ति-सेवाश्रम, डा. वनत, जि. मुजफ्फरनगर [यू. पी]

तुलसीदास

काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि ॥
तिन्ह महं अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि १९७

काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुखरूप ॥
ते किमि जानहि रघुपतिहिं, मूढ परे तमकूप १९८

व्याख्या—काम, क्रोध, लोभ और मद आदि ये मोहकी प्रबल सेना हैं । इनमें अत्यंत दारुण दुःख देनेवाली मायारूपी नारी है । जो काम, क्रोध, लोभ और मदमें रत हैं तथा दुःख रूप संसार बंधनमें आसक्त हैं अज्ञान कूपमें पडे हुए वे मूर्ख रघुपतिको कैसे जान सकते हैं ?

तुलसीदास कहते हैं कि काम क्रोध लोभादि ये अज्ञान हैं । नर-नारी परस्पर मोहका संबंध जोडकर ही संसार-बंधनरूपी अज्ञान कूपमें डूबते हैं । वे अपने हृदयमें स्वभावसे विराजने वाले अनासक्ति रूपी समरूपका दर्शन नहीं कर सकते ।

जो विषया सन्तन तजि, मूढ ताहि लिपटात ॥
जो नर डारत वमन करि, श्वान स्वाद सों खात १९९

व्याख्या-- जिन विषयोंका संत लोग त्याग करते हैं मूर्ख अज्ञानी उनसे लिपटते हैं, जैसे मनुष्यकी वमनकी हुई गंदगीको कुत्ता स्वादसे खाता है ।

विषयोंके साथ ज्ञानी और अज्ञानीका संबंध एक दूसरेसे सर्वथा विपरीत है । ज्ञानी विषयोंमें अनासक्त है और अज्ञानी विषयासक्त है । अनासक्त हो जाना ही संतका विषयत्याग है । अनासक्त हो जानेपर संसारको बंधन समझ कर उससे भाग निकलनेका प्रश्न ही नहीं रह जाता है । अनासक्त संतके हाथों धन, जन, गृहादिका उपयोग ममत्वबुद्धिसे नहीं होता है । संत उनपर सत्यस्वरूप प्रभुका स्वामित्व स्वीकार करके सत्यकी सेवाके लिए ही उनका सदुपयोग करता है, और फलाकांक्षा रूपी कर्म बंधनसे मुक्त रहता है । आसक्ति ही बंधन है । विषय समझे हुए रूप रसादि पदार्थोंमें बंधन नहीं है ।

कूकर शूकर करत हैं, खानपान रस भोग ॥
तुलसी वृथा न खोइए, यह तन भजने जोग २००

व्याख्या-- खान पान आदि रस भोग तो कुत्ते और सूअर भी करते हैं । तुलसीदास कहते हैं कि यह मानव-देह-भजन करने योग्य है, इसे व्यर्थ मत खोओ ।

भौतिक सुख-संभोग मानव जीवनका लक्ष्य नहीं है । मनुष्यताको अपनाए रहना ही मनुष्य जीवनका लक्ष्य है आसक्तिको त्यागकर अनासक्त हो जानेसे ही मनुष्य जीवनका अभिप्राय सिद्ध होता है ।

सकल कामना हीन जे, राम भगति रसलीन ॥
नाम-प्रेम-पीयूष-हृद, तिनहु किए मनमीन २०१

व्याख्या-- जो सर्व कामनाओंसे रहित और रामकी भक्तिके रसमें लीन हैं उन्होंने अपने मनको रामनामके प्रेम रूपी अमृत सरोवरकी मछली बनाया हुआ है ।

संतका अनासक्त हृदय स्वभावसे निष्काम है । संतका शुद्ध मन प्रतिक्षण अपने अनुपम रूप सागरकी पूर्णतामें तल्लीन रहता है ।

तुलसी अद्‌भुत देवता, आसादेवी नाम ॥
सेए सोक समर्पई, विमुख भए अभिराम २०२

व्याख्या-- तुलसीदास कहते हैं कि आशादेवी नामकी एक अदभुत देवता है । उसकी सेवा करनेसे दुःख मिलता है और उपेक्षा करनेसे शान्ति । कामना ही दुःख है । निष्काम हो जाना ही सुख है ।

पर सुख संपति देखि सुनि, जरहि जे जड बिनु आगि
तुलसी तिनके भाग तें, चलै भलाई भागि २०३

व्याख्याः--जो मूर्ख दूसरोंकी सुख संपत्तिको देख सुनकर बिना आगके ही ईर्ष्यासे जलते हैं, तुलसीदास कहते हैं कि उनके भाग्यसे भलाई भाग जाती है ।

आग तो ईंधनको जलाकर बुझ भी जाती है परन्तु अज्ञानीके हृदयकी कामना रूपी अग्नि उसे आठों प्रहर जलाती ही रहती है। उसके मनकी यह सर्वग्रासी कामना दूसरोंके विषय भोगको भी अपना ही भोग्य मानती है और अपनेको उससे वंचित देखकर दुःखी हो जाती है। उसके भाग्यमें निष्कामस्थितिसे मिलने वाले सुखका दर्शन कभी नहीं है।

तुलसी जे कीरति चहहिं, पर की कीरति खोय॥
तिनके मुंह मसि लागि है, मिटिहि न मरि हैं धोय २०४

व्याख्या– तुलशीदास कहते हैं कि जो दूसरोंकी कीर्तिको खोकर अपनी कीर्ति चाहते हैं उनके मुंहपर ऐसी कालिमा लग जाती है जो आमरण धोते रहने पर भी नहीं मिट सकती।

यश-लोभी मनुष्य दूसरेके यशको अपने यशमें विघ्न समझ कर एक दूसरेकी निंदा प्रचार करके स्वयं यशस्वी बनना चाहते हैं। विषयासक्त हृदयकी प्रतिध्वनि, अज्ञान-समर्थक वाक्-चातुरी ही अज्ञानी समाजमें मानप्रतिष्ठा की योग्यता है। इस योग्यतामें प्रसिद्धि लाभ करना अनिवार्य रूपमें असत्यकी दासता करना और अपनी मनुष्यताको कलंकित करना है। सत्यनिष्ठ ज्ञानी अपने अनासक्त शुद्ध मनमें सत्यके अनुपम यशसे यशस्वी बना रहता है। सत्यका यश अज्ञानी समाजमें असहनीय है और असत्यका यश ज्ञानी समाजमें चिर-निंदित है।

तुलसी भेडोंकी धंसनि, जड जनता सनमान॥
उपजत ही अभिमान भो, खोवत मूढ अपान २०५

व्याख्या—तुलसीदास कहते हैं कि मूर्ख जनताके सम्मानके पीछे चलना ऐसा ही है जैसा भेडोंका अंधेकी भांति एक दूसरेके पीछे चलकर विपत्तिमें पडना। इस सम्मानसे अहंकार उत्पन्न होते ही मूर्ख अपने जीवनको व्यर्थ खो देता है।

अज्ञानी समाजका यश अज्ञानी समाजके रुचिकर कर्मानुष्ठानसे ही मिलना संभव है। ऐसे यशको अपने जीवनका ध्येय अज्ञानी ही बना सकता है। वास्तवमें यशलोभी अज्ञानी अपने अज्ञानी अनुयायियोंकी रुचिका ही अनुगामी होता है। अज्ञानी नेता और अज्ञानी अनुयायियोंका समूह भेडोंके झुंडके समान अंधेकी भांति चलकर अनिवार्य रूपसे विपथगामी होते हैं। स्वतंत्र विचारसे हीन अज्ञानी समाजका यश अज्ञानी नेताके हृदयमें जो मिथ्या अहंकार उत्पन्न करता है उसके धोकेमें रहकर वह अपने जीवनको कुकर्मरत करके व्यर्थ कर देता है। स्वतंत्र विचारमें ही सत्यका दर्शन और जीवनकी सार्थकता है। झुंडके पीछे चलना या झुंडको अपने पीछे चलाना स्वतंत्र विचारशील सत्यनिष्ठ संतके स्वभावके विरुद्ध है।

जो सुनि समुझि अनीति रत, जागत रहै जु सोइ॥
उपदेसिबो जगाइबो, तुलसी उचित न होइ २०६

व्याख्या-- तुलसीदास कहते हैं कि जो सुनकर और समझ कर भी अनितिमें आसक्त है तथा जो जागते हुए भी सो रहा है उसे उपदेश करना और जगाना अनुचित है।

सुन समझ कर भी जो उल्टा काम करता है उसको उपदेश करना ऐसा ही व्यर्थ है जैसा जागते हुए सोनेवालेको जगाना। भले बुरेकी पहचान सबको है। कौनसा काम करने योग्य है और कौनसा नहीं इस बातको सब जानते हैं। फिर भी जो मनुष्य न करने योग्य काममें अपना लाभ समझ कर उसीको कर रहा है वह किसी उपदेशकी प्रतीक्षा या पर्वाह नहीं करता है। उसको अपनी ओरसे उपदेश करके सुधारना चाहना उपदेशककी विचार भ्रान्ति या स्पष्ट अज्ञानता है।

वेष विसद बोलनि मधुर, मनकटु करम मलीन॥
तुलसी राम न पाइए, भए विषय जल मीन २०७

व्याख्या-- तुलसीदास कहते हैं कि जिनका वेष तो साधुका है और बोली मीठी है पर मन कडवा और कर्म मलिन है वे विषय रूपी जलकी मछली होनेके कारण रामको नहीं पा सकते।

सच्चा संतपन मनकी अनासक्ति रूपी स्वच्छता और मधुरतामें ही है। साधुका वेष बना लेने और बनावटी बातोंसे दूसरोंके मनको लुभानेमें संतपन नहीं है।

रसना सांपनि बदन बिल, जे न जपहिं हरि नाम॥
तुलसी प्रेम न राम सों, ताहि विधाता वाम २०८

व्याख्या-- तुलसीदास कहते हैं कि जो हरिनामका जप नहीं करते उनकी जिह्वा सर्पिणी और मुख बिलके समान है। उन्हें रामसे प्रेम नहीं है और ईश्वर उनके प्रतिकूल है।

वचन मानसिक स्थितिकी प्रतिध्वनि है। अनासक्ति ही राम है। अनासक्त संत मन, वचन, कर्मसे आठों प्रहर जो कुछ करता है वही ईश्वर स्मरण या हरिनामका स्वाभाविक जप है। इसके विपरीत आसक्त अज्ञानी जो कुछ बोलता या आचरण

करता है वह सबकुछ उसका अज्ञानरूपी विषधर सर्पका विषोद्गीरण ही होता है। अनासक्ति रूपी अमृतका स्वाभाविक अधिकारी होते हुए भी मनुष्यके लिए इससे बढकर दुर्भाग्यकी बात और क्या हो सकती है कि वह विषयासक्तिको अपनाकर ईश्वर विमुख रहे।

रोष न रसना खोलिए, बरु खोलिय तरवारि ॥
सुनत मधुर परिनामहित, बोलिय वचन विचारि२०९

व्याख्या--क्रोधमें मुंहसे बात निकालना तलवार खोलने से भी अधिक अनिष्टकारी है। सोच विचारकर ऐसी बात करो जो सुननेमें मीठी लगे और जिसका परिणाम कल्याणकारी हो।

तुलसीदास इस दोहेमें ज्ञानी अज्ञानीके स्वभावकी भिन्नता वर्णन कर रहे हैं। क्रोधके वशमें आकर अनापशनाप बकना अज्ञानीके ही लिए संभव है। ज्ञानी सदा सत्यासत्य तथा पात्रापात्रका विचार करके सत्य वचन ही बोलता है जिससे अधिक मधुर और कल्याणकारी कुछ नहीं हो सकता।

पेट न फूलत बिनु कहे, कहत न लागै ढेर ॥
सुमति विचारे बोलिए, समुझि सुफेर कुफेर २१०

व्याख्या— बिना कहे पेट नहीं फूल जाता है और कहनेमें देर नहीं लग जाता है। अर्थात् कुछ न कुछ कहना ही चाहिए ऐसी बात नहीं है। इसलिए सुबुद्धिके द्वारा इष्टानिष्ट परिणामको सोचकर बोलो।

वचन ऐसी वस्तु नहीं है जिसके बाहर न निकलनेसे पेटमें भारीपन और निकल जानेसे हल्कापन होता हो। सारांश यह है कि मनमें आई सभी बातें कह डालना आवश्यक नहीं है। मनुष्य समाजके कल्याणके लिए वचनका सदुपयोग करना ही कर्तव्य है।

सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु ॥
विद्यमान रण पाइ रिपु, कायर करहिं प्रलापु २११

व्याख्या--शूरवीर रणक्षेत्रमें करनी करते हैं, बातोंसे अपनी वीरताकी बडाई नहीं करते। रणांगनमें शत्रुको उपस्थित पाकर कायर ही बकवाद किया करते हैं।

मनुष्य जीवन सत्यासत्यका संग्रामक्षेत्र है। अपने आचरणके द्वारा प्रतिक्षण सत्यको प्रकट करना ही विजयी जीवन है।

तुलसी पावसके समय, धरी कोकालिन मौन ॥
अब तो दादुर बोलि हैं, हमै पूछि हैकौन २१२

व्याख्या-- तुलसीदास कहते हैं कि वर्षाऋतुमें कोकिलाओंने मौन धारण कर लिया है। वे कहती है कि अब तो मेंडकोंका टर्राना चल रहा है हमें कौन पूछता है?

अज्ञानी समाजमें ज्ञानकी बातोंका आदर नहीं होता है। ज्ञानीके विचार विनिमय या सत्संगका अनुकूल क्षेत्र ज्ञानी समाज ही है।

कलह न जानब छोट करि, कलह कठिन परिनाम ॥
लगति अगिनि लघु नीचगृह, जरत धनिक धन धाम
२१३

व्याख्या— झगडेको छोटा मत समझो। इसका परिणाम बडा भयंकर है। जैसे छोटेसे झोंपडेमें लगी हुई अग्निसे धनिकोंके महल आदि भी जल जाते हैं।

बातोंका बदला बातोंसे देनेसे जो झगडा उत्पन्न होता है उसीकी निंदा इस दोहेमें का गई है। स्पष्ट कर्तव्य यही बताया जा रहा है कि बातोंकी लडाई तो सर्वथा परित्याग करने योग्य है, क्योंकि मूर्खको बातोंसे समझाना असंभव है। उससे तो तत्क्षण उसकी समझमें आनेवाला यथोचित वर्ताव करना चाहिए। अनुचित आक्रमणसे आत्मरक्षा करनेके लिए अन्यायविरोधके रूपमें प्रतिपक्षीके साथ जो आचरण किया जाना अत्यावश्यक है वह वास्तवमें सत्यकी सेवा ही है। इसकी निंदा इस दोहेमें नहीं है। समाजमें भले बुरे दोनों प्रकारके मनुष्य होनेके कारण भले मनुष्योंके लिए बुरोंका विरोध करनेका अवसर आना अनिवार्य है। अन्यायसे अविरोध-नीतिका पुरुषोचित, दास-सुलभ, अन्याय-समर्थक परतन्त्रता है।

बरषि परुष पाहन पयद, पंख करौ टुक टूक ॥
तुलसी परी न चाहिए, चतुर चातकहि चूक २१४

उपल बरषि गरजत तराजि, डारत कुलिस कठोर ॥
चितवकि चातक मेघ तजि, कबहुं दूसरी ओर २१५

पवि पाहन दामिनि गरज, झरि झकोर खरि खीझि ॥
रोष न प्रीतम दोष लखि, तुलसी रागहि रीझि २१६

नहिं जाचत नहिं संग्रही, सीस नाइ नहिं लेइ ॥
ऐसे मानी मांगे नहीं, को वारिद बिन देइ २१७

तुलसी चातक देत सिख, सुतहिं बार ही बार ॥
तात न तरपन कीजिए, बिना बारि धर धार २१८

व्याख्या-- तुलसीदास कहते हैं कि बादल चाहे कठोर पत्थरोंकी वर्षा करके चातकके पंखके टुकडे टुकडे कर डाले तो भी चातकके प्रेममें कमी नहीं आती। गर्जन तर्जनके साथ चाहे कठोर वज्र और पत्थरोंकी वर्षा क्यों न हो पर चातक क्या कभी बादलको छोडकर किसी दूसरी ओर देख सकता है? बिजलीकी कडकडाहट तथा आंधीके भयंकर रुष्ट झोंके चाहे उसे कितना ही परिश्रान्त क्यों न करे पर वह प्यारेके इन सब दोषोंकी उपेक्षा करके उसके प्रेममें ही मस्त रहता है। चातक न कुछ मांगता है न संग्रह करता है, नहीं कभी सिर झुकाकर कुछ लेता है। ऐसे न मांगनेवाले स्वाभिमानीको मेघके अतिरिक्त और कौन दे सकता है? तुलसीदास कहते हैं कि चातक अपनी संतानको बार बार यही शिक्षा देता है कि हे प्यारे, विना जलधरकी धाराके अन्य जल ग्रहण मत कर।

चातकके स्वाती प्रेमके साथ ज्ञानी हृदयकी अनासक्तिकी उपमा दी गई है। चातककी यह प्यास वास्तवमें भौतिक प्यास नहीं है। भौतिक प्यास जलमात्रसे निवृत्त होना स्वाभाविक है। स्वाती बूंदके अतिरिक्त जलको त्यागनेकी चातककी इस विलक्षणताको, ज्ञानी हृदयकी विलक्षणताका, जो कि प्रेमके नामसे प्रसिद्ध है उपमास्थल बनाया गया है। अनासक्त ज्ञानी अनासक्तिकी मधुरतामें समग्रविश्वकी भौतिक मधुरताको फीका बना देनेवाली आध्यात्मिक मधुरताका आस्वादन कर लेता है और उसे दृढतासे अपनाए रहकर संसारकी सर्व प्रकारकी भौतिक विपत्तियोंकी उपेक्षा करता रहता है। भौतिक सुखके पीछे चलकर आसक्त कभी नहीं होता। चातक स्वभावसे अपनी सन्तानको स्वाती बूंदका एकनिष्ठ उपासक बनाकर छोडता है। यह स्वभाव अनिवार्य रूपसे अनासक्त ज्ञानीके आचरणमें भी प्रबल रहता है। ज्ञानी पिता माता अनासक्तिकी मधुरताका अनुपम आस्वादनकर चुकनेके अनन्तर अपनी संतानको भी इसका आस्वादन करा देते हैं। ज्ञानी और अज्ञानीके सुख दुःखकी कसौटी एक दूसरेसे सर्वथा विपरीत है। ज्ञानी इंद्रियोंको वशमें रखकर सुखी रहता है और इंद्रियोंके वशमें होनेको दुःख मानता है। इसके विपरीत अज्ञानी इंद्रियोंके वशमें रहकर सुखके धोकेमें दुःखी बना रहता है। ज्ञानी पिता माता ज्ञानाज्ञानके इस अभ्रान्त स्वरूपको प्रत्यक्ष करके अपनी सन्तानको अज्ञानसे ऐसे ही निवृत्त रखते हैं जैसे चातक अपनी प्यारी संतानकी चोंच पकडकर स्वाती बूंदके अतिरिक्त जलसे निवृत्त रखता है। वे अपनी अनासक्त स्थितिका जीवन्त पाठ सन्तानको पढाते हुए संसारकी इस वास्तविकताको दिखा देते हैं कि भौतिक सुख जैसी अस्तित्वहीन असंभव वस्तुके पीछे दौड लगानेका अनधिकार प्रयत्न करना सुखेच्छा नामक कामाग्नि रूपी दुःखानलसे दग्ध होना मात्र ही है। अपने मनकी अनासक्त स्थिति ही मनुष्यका सामर्थ्याधीन, स्वभावप्राप्त, अक्षय ब्रह्मसुख और स्वाधिकार है। भौतिक सुखको जीवनका लक्ष्य बनानेसे मनुष्यतासे वंचित रहना अनिवार्य है। ऐसे ही मनुष्यताके लक्ष्यपर आरूढ रहनेसे भौतिक सुखकी उपेक्षा अनिवार्य है। इन दोनों परस्पर विरोधी स्थितियोंका एकत्रावस्थान असंभव है।

राम नाम अवलंब बिनु, परमारथकी आस॥
बरषत बारिद बूंद गहि, चाहत चढन अकास ॥२१९

व्याख्या-- राम नाम अर्थात् अनासक्तिका अवलंबन लिए विना परमार्थकी आशा लगाना ऐसा ही असंभव है जैसा वर्षाकी बूंदोंको पकडकर आकाशपर चढना चाहना।

अज्ञान रूपी बंधनसे मुक्त होकर ज्ञानको प्राप्त करना ही मनुष्य जीवनका उद्देश्य है और यही परमार्थ है। सुखको दुःख और दुःखको सुख समझना ही अज्ञान है। मनकी इंद्रियाधीनता दुःख और इंद्रियोंपर प्रभुता सुख है। सुख-दुःखके इस सच्चे स्वरूपको जानकर अखंड ब्रह्म सुखमें निमग्न रहना ज्ञानकी स्थिति है।

राम नाम नर केसरी, कनक कसिपु कलिकाल॥
जापक जन प्रल्हाद जिमि, पालहिं दलि सुरसाल २२०

व्याख्या— अज्ञान रूपी कलिकाल हिरण्यकशिपु है। अनासक्ति अर्थात् रामनाम नृसिंहावतार है। वह राक्षसोंका दलन करके अर्थात् आसक्तिरूपी षड्रिपुका दमन करके प्रह्लाद जैसे भक्तोंकी रक्षा करता है।

मनुष्यके लिए अज्ञान ही मनुष्यताका घातक राक्षस स्वरूप है। मनुष्य इस राक्षसको नाश करके मनुष्यताको सुरक्षित रखनेकी शक्ति लेकर ही देहधारण करता है। यह शक्ति ज्ञानीके हृदयमें अनासक्तिके रूपमें प्रकट होती है। आसक्तिको शत्रु और अनासक्तिको मित्र रूपमें पहचानना ज्ञानीके लिए

ही संभव है। वह अपनी स्वतंत्रतासे अपने हृदयमें अनासक्ति रूपी नरकेशरीको प्रकट करके अपनी मनुष्यताकी रक्षा करता है।

रामचंद्रके भजन विनु, जो चहे पद निर्वान ॥
ज्ञानवंत अपि सोई नर, पसु बिन पूंछ विरवान २२१

व्याख्या— जो मनुष्य रामचंद्रके भजनके विना अर्थात् अनासक्तिके विना निर्वाण पद प्राप्त करना चाहते हैं वे ज्ञानवान समझे जाते हुए भी विना पूंछके पशुके समान हैं।

अनासक्ति ही मुक्ति है। आसक्त रहते हुए मुक्त होना स्वविरोधी असंभव बात होनेके कारण नर पशुके साथ इसकी उपमा दी गई है। सारांश यह है कि ज्ञानी मनुष्यका विषयासक्त होना असंभव है।

तब लगि कुसल न जीव कहं, सपनेहुं मन विश्राम॥
जब लगि भजत न राम कहं, सोक धाम तजि काम२२२

व्याख्या-- जबतक मनुष्य शोककी खान कामनाओंको छोड़कर रामका भजन नहीं करता अर्थात् अनासक्त नहीं हो जाता तबतक उसका कल्याण नहीं हो सकता और उसे स्वप्नमें भी शान्ति नहीं मिल सकती।

राम नामको अंक है, सब साधन हैं सून ॥
अंक गए कछु हाथ नहिं, अंक रहे दसगून २२३

व्याख्या--रामका नाम अर्थात् अनासक्ति ऐसा ही है जैसे १०, २०, ३०, आदि संख्याओंके पहलेके १, २, ३, आदि अंक हैं। जप, तप, यम, नियम आदि सब साधन उन अंकोंके आगेके शून्यके समान हैं। अनासक्तिके विना सब साधन ऐसे ही हैं जैसे अंकोंके विना शून्य मूल्यहीन हैं। अनासक्तिके साथ सम्मिलित रहनेसे सब साधन १० गुने मूल्यवान हो जाते हैं।

अनासक्त हुए विना जप, तप, संयम आदि सब साधन आसक्त मनसे किए हुए होनेके कारण विषय सुख ढूंढनेके लिए ही होते हैं। अनासक्त हो जानेपर अनासक्तिका अखंड स्मरण रूपी जप, उसमें दृढ रहने रूपी तप तथा सत्यके शासनमें रहते हुए इन्द्रियोंपर स्वामित्व करने रूपी संयम ज्ञानीके जीवनके स्वाभाविक साधन बन जाते हैं।

वचन वेष तें जो बनै, सो विगरै परिनाम ॥
तुलसी मन तें जो बनै, बनी बनाई राम २२४

व्याख्या--तुलसीदास कहते हैं कि जो वचन और वेषके द्वारा संतपनका दिखावा करता है वह अज्ञानी रहकर ही अपने जीवनको व्यर्थ कर देता है। इसके विपरीत जो मनसे संत बनता है वह स्वयं राम ही है।

संतपन मानसिक स्थिति है। बाहरी वेष या वागाडम्बरमें संतपन नहीं है। मनुष्य स्वयं ही अपने मनको देखनेवाला है। संत अपने मनकी अनासक्ति रूपी सत्यस्वरूप पूर्णतासे स्वयं परितृप्त रहता है। उसे बाहरी जगतको दिखाने सुनानेकी अज्ञानोचित यशाकांक्षा उसके मनमें स्थान नहीं पा सकती। इसके विपरीत आत्म प्रचारार्थ किए गए सभी उपाय अज्ञानी हृदयकी आत्म प्रवंचना है।

तुलसी विरवा बागमें, सींचे और कुम्हिलाय ॥
राम भरोसे जो रहे, परवत पर लहराय२२५

व्याख्या--तुलसीदास कहते हैं कि बागका पौदा सींचने पर भी कुम्हला जाता है, परन्तु रामके भरोसेपर रहनेवाला पौदा पर्वतपर भी लहराता है।

मनुष्यके हाथोंसे किए जानेवाले कर्मोंका कर्ता राम ही है, मनुष्य तो निमित्त मात्र है। इस संसारमें जो कुछ कर्म हो रहा है चाहे वह मनुष्यके हाथसे हो या स्वाभावसे हो सभीका कर्ता राम है। जैसे बागके पौदेका उपजाउ पृथ्वीपर मनुष्यके हाथों सिंचन होते हुए भी कुम्हला जाना और पर्वतके पौदेका पत्थरपर स्वभावसे सिंचन होते हुए भी लहराना स्थूल दृष्टिमें तो विपरीत परिणाम रखनेवाला है, परन्तु ज्ञानकी सूक्ष्म अभ्रान्त दृष्टिमें इन दोनोंमें रामका कर्तापन एक जैसा स्पष्ट है। इसलिए मनुष्यकी कर्ताई बुद्धि निराधार है और फलाकांक्षा कर्मबंधनरूपी अज्ञान है। मनुष्य कर्तव्य बुद्धिसे कर्म करनेका ही अधिकारी है फलका नहीं।

प्रीति प्रतीति सुरीति सों, राम नाम जपु राम ॥
तुलसी तेरो है भलो, आदि मध्य परिनाम २२६

व्याख्या--तुलसीदास कहते हैं कि सदाचारके प्रति प्रेम और विश्वास रखकर निरन्तर राम नामका जप करो। ऐसा करनेसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालमें तुम्हारा कल्याण सुरक्षित है।

सत्यनिष्ठा ही सदाचार है। इंद्रियोंको वशमें रखनेको अनासक्त मानसिक स्थिति ही सत्य है। अनासक्त मन निरंतर अपनी शुद्धतामें मुग्ध रहकर स्वभावसे उसीका ध्यान चिंतन करता है। यही राम नामका जप करना है। एक जैसी गुण संपन्न भिन्न भिन्न

नामोंसे कही जानेवाली वस्तुओंकी अभिन्नता तथा उनके नामोंकी पर्याय वाचकता स्वतःसिद्ध है । नाम मात्रकी भिन्नतासे वस्तुओंकी भिन्नता कदापि स्वीकृत नहीं हो सकती । पदार्थ विज्ञानके अनुसार गुण ही वस्तुका स्वरूप है, नाम नहीं। अनासक्ति तथा ईश्वर वाचक किन्हीं नामोंमें एक जैसा महत्त्व स्वीकार करके भी उनमें भेद भाव रखना अर्थात् एकसे दूसरेको अधिक महत्त्व देना युक्ति विरुद्ध है। अतः " राम " नाम अनासक्तिसे सर्वथा अभिन्न है । अनासक्त स्थितिमें मन, वचन, कर्मसे जो कुछ किया जाता है सभी " राम " नामका अखंड जप, तप, भजन, कीर्तन है । अभ्रान्त जीवन व्यवहारके द्वारा दुःखातीत रहना ही मनुष्य जीवनमें प्राप्त करने योग्य एक मात्र कल्याण है । ज्ञानी प्रत्येक वर्तमान क्षणमें अनासक्त रहकर कर्तव्यकर्म करते हुए विषयतृष्णा रूपी दुःखजालसे मुक्त रहता है । भविष्यत् वर्तमान बनकर आता है और वर्तमान भूतकालमें विलीन हो जाता है। अतः वर्तमानमें कल्याण सुरक्षित रहनेसे तीनों कालका कल्याण स्वयमेव सुरक्षित है।

प्रीति राम सों नीति पथ, चलिए राग रस जीति ॥
तुलसी संतनके मते, इहै भगतिकी रीति २२७

व्याख्या--तुलसीदास कहते हैं कि रामसे प्रेम करो और आसक्ति पर विजय प्राप्त करके सुमार्गपर चलो । संतोंके विचारसे यही भक्तिका मार्ग है ।

अनासक्ति ही राम है । अनासक्त हो जाना ही आसक्तिपर विजय प्राप्त करना या रामसे प्रेम करना है । मनुष्य समाजका कल्याणकारी सिद्धान्त ही सुमार्ग या नीतिपथ है । अपने व्यावहारिक जीवनको व्यक्तिगत स्वार्थ या इंद्रियाधीनतासे अतीत रखकर पवित्र जीवनके आनन्दका अधिकारी बने रहना ही संतपन या भक्ति है ।

सत्य वचन मानस विमल, कपट रहित करतूति ॥
तुलसी रघुबर सेवकहि, सकै न कलिजुग घूति २१८

व्याख्या—तुलसीदास कहते हैं कि जिसका मन पवित्र है, वचन सत्य है और आचरण निष्कपट है रामके उस सेवकको अज्ञानी जगत् विपथगामी नहीं कर सकता ।

मनकी अनासक्त स्थितिमें मन, वचन, कर्मसे जो कुछ किया जाता है सभी सत्य या पवित्रता है । अनासक्तिकी इस मधुरताका आस्वादन कर चुका हुआ ज्ञानी सदा अपनी पतनातीत स्थितिमें रहकर अज्ञानको पराभूत करता रहता है ।

सूधे मन सूधे वचन, सूधी सब करतूति ॥
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुबर प्रेम प्रसूति २१९

व्याख्या—तुलसीदास कहते हैं कि सत्यनिष्ठ मन, वचन, कर्म अर्थात् सर्व प्रकारकी सरलता रामके प्रेमकी जननी है।

अनासक्ति ही सत्यनिष्ठा है अनासक्त मनसे जो कुछ किया जाता है सभी सदाचार है। सदाचारी ज्ञानी स्वभावसे ही सत्यका प्रेमी है । प्रेमी और प्रेमपात्रकी अभिन्नता ही प्रेमका स्वरूप है। ज्ञानी हृदयकी अनासक्त स्थिति अनिवार्य रूपसे अपने स्वरूप सत्य या रामकी अनन्य प्रेमी होती है।

(क्रमशः)
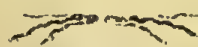
बा ल--प क्षा घा त
अर्थात्
पोलिओ-माईलीटीस

योगीराज परिव्राजक राजवैद्य—श्री श्रीमत् ब्रह्मचारी गोपाळ चैतन्य देव पीयूषपाणि, केळेवाडी मुंबई ४

(१)

ॐ आब्रह्म स्तंभ-पर्यन्तं परमात्मा स्वरूपकम् ।
स्थावरं जंगमं चैव प्रणमामि जगन्मयम् ॥

श्री. श्रीगुरु-गीतामें उक्त है, कि ब्रह्मसे लेकर स्तंभ पर्यन्त अर्थात् जगत्की प्रत्येक वस्तुमें ही परमात्मा स्वरूपमें विराजित हैं, चाहे वह स्थावर, जंगम या चतुर्दश भुवनकी कोई भी वस्तु क्यों न हो। जब जगत्की प्रत्येक - वस्तुमें ही परमात्मा विराजमान हैं, तब बालक–पक्षाघात यानी पोलीओमाईलीटीस रोग एवं उसके निवारणार्थ ब्रह्मास्त्र स्वरूप चतुर्भुज रस, वृहत् वसन्त तिलक रस, त्रैलोक्य चिंतामणि रसादि आयुर्वेदीय औषधिवर्गमें भी परमात्मा अवश्य विराजमान है। अतः ब्रह्मसे स्तंभ पर्यन्त के साथ बाल–पक्षाघात एवं तत्-निवारणार्थ औषधिवर्गको भी मैं ब्रह्म ही समझकर साष्टांग दण्डवत प्रणाम करते हुए, इस साक्षात् यमराज सदृश महा-भयंकर रोगपर अपना अनुभव लिखनेके लिए लेखनी उठाता हूँ। उसमें कहाँतक सफलता मिलेगी, वह तो निराकार सच्चिदानन्द स्वरूप सद्गुरु महाराज ही जानें। अस्तु

राजयक्ष्मा, टाईफायड, हाईब्लड् प्रेशर,प्लेग, आदि यमास्त्र रूप व्याधिके साथ भारतकी सन्तानवृन्द सुपरिचित है। इन रोगोंसे मुक्ति पानेके लिए वे सतत् प्रयत्न कर रहे हैं। इतनेमें फिर महाकालकुट सदृश एक महाव्याधिने भारत संतानको, यहाँतक कि भारत-गवर्नमेन्ट तकको भी चिंतातुर कर दिया है। इस महाव्याधिका शुभ नाम इन फाण्टाईल पेरेलाईसीस, अथवा पोलीओमाई-लीटिस है, संक्षेपमें इसे "पोलीओ" कहते हैं। भारत संतान इसे "बाल–पक्षाघात" कहते हैं।

यह पोलीओ रोग मार्किन युक्तराष्ट्र (अमेरिका), केनेडा तथा उत्तर यूरोपमें ही अधिकतर विद्यमान था। परंतु धीरे धीरे वह वंशकी वृद्धि करने लगा है तथा साथ ही साथ दूसरे देशको जय करनेके लिए उत्कण्ठित मालूम पडता है। ८।१० वर्षके पहिले, बॉम्बे, कलकत्ता आदि शहरोंमें इस रोगका प्रादुर्भाव विशेष ही कम रहने पर भी २।१ वर्षसे बॉम्बे नगरोंमें इसका प्रकोप कुछ अधिक मालूम पड रहा है।

भारतवर्ष धर्मक्षेत्र तथा स्नेहमय महादेश है; अतः यहाँ जिसका एकबार शुभागमन होता है, भारतवासी स्नेह प्रवणताके कारण उसे फिर दूर करना नहीं चाहता। इस कारणसे शंका उत्पन्न होती है, कि न मालूम भविष्यमें यह महा भयंकर "पोलीओ" रोग कायमके लिए ही भारतमें अड्डा जमा कर न बैठे। इसका उदाहरण मैं बहुत दे सकता हूँ, लेखके विस्तृति भयसे केवल एक ही दाखिला देता हूँ।

राजयक्ष्मा (T. B.) रोग पाश्चात्य देशमें लगभग १०० वर्षके पहिले महामारी रूपमें विद्यमान था। उन लोगोंके महान प्रयत्नसे अब राजयक्ष्मा पाश्चात्य भूमिसे विस्तरा उठा कर, अब सारे भारतमें ही– विस्तरा बिछा चुका है। अब तो भारतके प्रति गाँवमें २-१ राजयक्ष्मा रोगी मिलेगा ही, उसी प्रकार दूसरे रोग भी एकबार भारतमें शुभागमन करेंगे तो, भारत-संतान आतिथ्य–सत्कारके वश होकर उसे फिर नाराज कर वापस नहीं जाने देंगे। यह भारत संतानकी सभ्यताका परिचय है या मूर्खता है सुधी सज्जन ही सुविचार करें।

पोलीओका इतिहास।

वर्तमान समयके विज्ञान शास्त्रीका मत है, यह पोलीओ रोग पुरातन नहीं है, नवीन है। परंतु इतिहासका अनुसंधान करनेसे मालूम होता है, कि पुराकालमें भी यह रोग विश्वमें विद्यमान था। योशु खृष्टके जन्मसे लगभग एक हजार वर्ष पहिले मिशरके एक राजपुत्रको इस रोगने अपना शिकार बना लिया था। एक शिलालेखसे इस बातका पता लगा है। पोलीओ रोगीका एक खास लक्षण यह है, कि उसके दोनों पैर विशेष कमजोर हो जाते हैं, –जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं, रोगी खडा नहीं हो सकता है, कदाचित खडा भी हो जाय तो चल फिर नहीं सकता; कदाचित चलता भी हो तो, बडी मुश्किलसे चलता है, एवं कभी कभी गिर जाता है। इसीसे प्रतिपन्न होता है, कि यह नवीन नहीं, पुरातन रोग ही है।

प्रथम विश्व युद्धके समय १९१६ सनमें यह रोग मार्किन युक्त राष्ट्रमें महामारी रूपमें शुरु हो गया था। २९००० हजार रोगीके भितर ६००० मर गये थे। १९४७ में भी पोलीओ अमेरिकामें महामारी रूपमें प्रकट हुआ था। उस समय प्रायः २८००० बालक बालिका इस रोगके शिकार हो गये थे।

पोलीओ रोग विशेष ही खल तथा विश्वास घातक है। क्योंकि, यह पाजी रोग उसे भी अपना शिकार बना लेता है, जो देखने सुननेमें सुन्दर, उत्तम स्वस्थ शरीरवाला, प्रतिभा सम्पन्न बुद्धिशाली तथा चञ्चल प्रकृतिवाला होता है। अर्थात् विज्ञानानुसार जो पूर्ण स्वस्थ है, उसे ही यह रोग आक्रमण करता है। मार्किन युक्त राष्ट्रके भूतपूर्व प्रेसिडेण्ट फ्रेङ्कलीन डि-रुजवेल्टको जब यह रोग हुआ था उस समय उनके शरीरकी अवस्था इतनी सुन्दर थी, कि किसी भी डाक्टरके मनमें शंका ही उत्पन्न नहीं हो सकती थी, कि उन्हें यह रोग हो सकता है। यथा-समय उनकी उत्तम चिकित्सा होनेसे वे स्वस्थ हो गये थे।

प्रख्यात अंगरेजी उपन्यास लेखक ' सर उयाल्टार स्कटको भी यह रोग हुआ था। वे स्वयं अपने रोगके सारे लक्षणोंको विस्तारके साथ लिख गये हैं. जैसे " बचपनमें मेरा स्वास्थ्य उत्तम था। मैं विशेष चञ्चल प्रकृतिका था। परन्तु जब मेरी उम्र १८ महीने की थी, उस समय एक दिन मैंने खूब अशांत होकर बदमासी की थी; उस अशांत अवस्थाको देखकर, एक मानवके मनमें शंका उत्पन्न हुई कि मैं क्यों आज इतना अशांत हो गया, अतः वे जोर जबरदस्तीसे मुझे विस्तरेमें सुला गये। सबेरे मालूम पडा कि मुझे बुखार आ गया है। तीन दिन ज्वर था, परंतु चौथे दिन मालूम पडा कि मेरा दाहिना पैर पंगु हो गया है। "

रोगका कारण तथा लक्षण।

" इन फ्यान्टाईल पैरालाईससि " शब्द वास्तवमें ठीक नहीं है, क्योंकि यह रोग सब समय इन फ्यान्ट यानी बच्चोंको नहीं, होता है। कदाचित् रोग होनेसे ही " पैरा-लाई ससि " यानी पक्षाघात नहीं होता है। इस कारणसे अनेक वैज्ञानिक इसे " पोलीओ माई-लीटीस " बोलना ही उचित समझते हैं। " भाईरास " नामक एक प्रकारके क्षुद्रतम जीवाणुसे इस रोग की उत्पत्ति होती है। मानव-शरीरमें जो मेरुदण्ड है उसके साथ स्नायु मण्डलीओंका जहाँ संयोग है, उसी स्थानपर ही साधारणतः उक्त भाईरास जन्तु आक्रमण करके रोग उत्पन्न करता है।

पोलीओ रोगका लक्षण ही यही है कि पहिले वह वमन (उल्टी) अथवा उल्टीके साथ ही साथ ज्वर उत्पन्न होता है एवं अस्थिरता प्रकाश पाता है। उसके बाद निम्नलिखित लक्षण होते हैं- यथा-- गर्दन तथा गर्दनस्थ-पेशीओं शक्त हो जाती हैं, एवं हाथ, पैर, पीठपर बहुत ज्यादा दर्द शुरु होता है। जब दवाओंकी सहायतासे उक्त लक्षण कम हो जाता है या दर्द नहीं रहता हैं, तब देखा जाता है कि एक पैर, कोई कोई रोगीमें दोनों पैर पक्षाघात-ग्रस्त हो गये हैं।

प्रायः तीन वर्ष तक कठिन परिश्रमके बाद अमेरिकाके दो वैज्ञानिक लोरिं तथा सोयार्ट पोलीओ रोगका " भाईरास " जन्तु आविष्कार करनेमें समर्थ हुए हैं-ऐसा सुननेमें आया है। डाक्टरी मतसे वे दोनों जो भाईरास जन्तुका आविष्कार करनेमें समर्थ हुए हैं, उसका प्रधान सहायक है-नव आविष्कृत " इलेक ट्रन माईक्रोस्कोप "

भाईरास जन्तुकी आकृति डिम्ब जैसी है एवं यह इतना छोटा है, कि एक पिनके उपरके भागमें जो गोल चाकती रहती है उसीमें पाशापाशी (एकके ऊपर दूसरा नहीं-बाजु--बाजुमें) यदि उन जन्तुओंको सजाया जाय तो ४०,००० चालीस हजार जंतु आ जाते हैं। ये जन्तु इतने विषाक्त हैं, कि एक औंस । (अढाई तोला) में जितने जन्तु आते हैं, उससे १५ करोड जंतको पोलीओका शिकार बनाया जा सकता है।

अमेरिकामें यह भी परीक्षा हो गई है, कि पोलीओ एक सौ रोगीके अन्दर पाँचसे दस रोगी मर जाते हैं। यथा समयमें सुचिकित्सा होनेसे प्रायः ५०·/· रोगी स्वस्थ हो सकते हैं। रजसे २५ ·/· से ३० रोगियोंमें पोलीओको कुछ न कुछ विकार रह जाता है-रोग अच्छा होनेपर भी वैसा विकार रहनेपर भी-वे काम काज कर सकते हैं।

यह भी परीक्षा हो गई है, कि १६ वर्षकी उम्रतक बालक-बालिकाओं ही पोलीओ होता है उनमेंसे ५ से ९ वर्षतक उम्र वालोंके लिए ही यह रोग अधिक खतरनाक होता है। यह भी धारणा थी कि अधिक--उम्रवालेको यह रोग कुछ नहीं कर सकता है, परंतु आज कल अधिक उम्रवालेको भी यह रोग हो रहा है तथा धीरे धीरे उनकी संख्या भी बढ रही है।

जिस समय पोलीओका उपद्रव शुरु होता है, उस समय १६ वर्ष तकके बालक बालिकाओंका स्वास्थ्य अच्छा रहना

चाहिए तथा उनको भोज्य अच्छा मिलना चाहिए यथेष्ट समय आराम लेना चाहिए। साथ ही यथेष्ट शुद्ध हवा तथा सूर्य-किरणकी सेवा करनी चाहिए।

भाईरास जंतु भी कई प्रकारके हैं

पोलीओ रोगके भाईरास जन्तु केवल एक ही प्रकारके नहीं है तथा उनका आक्रमण केवल एक ही स्थानसे नहीं होता है- वे जन्तु अनेक प्रकारके हैं एवं उनका आक्रमणका स्थान भी भिन्न भिन्न है। ऐसा भी प्रतिपन्न हो गया है कि, एक ही गृहस्थके चार--पाँच बालक-बालिकाको पोलीओ हो गया है परंतु उनके रोगका संक्रमण एक ही स्थानसे नहीं हुआ है भिन्न-भिन्न स्थानसे रोगका संक्रमण हुआ है तथा भाईरास जन्तु भी भिन्न भिन्न प्रकारके हैं-

डाक्टरी मतसे चिकित्सा

बंगालके वैज्ञानिक अमरेन्द्र कुमार सेन महाशयने बंगालकी एक प्रसिद्ध पत्रिकामें कईएक महीना पहिले प्रकाशित किया है, कि- आजतक पोलीओ नाश करने जैसी कोई दवा डाक्टरी मतानुसार आविष्कार नहीं हुई है, उसके लिए यथेष्ट गवेषणा चालू है। ऊपर भाईरास-जन्तुके आविष्कर्त्ता जिन दो वैज्ञानिकोंका नाम लिखा है, वे खूब तीव्र पोलीओ भाईरास जन्तुको विशेष तरल (प्रवाही) फर्मालीनके द्वारा निर्बल करके प्रतिषेधक तैयार किए हैं। चूहेके ऊपर इस इन्जेकशनके प्रयोगसे सुफल मिला है। अब मानवके ऊपर उसकी परीक्षा चालु है - फलाफल अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ।

और दो दवाओंसे परीक्षा चालू है। उन दो दवाओंमें एक दवा तैयार की है- नव्य आविष्कृत भिटामीन फोलिक और निउक्लिक एसिडसे। इस दवाकी बात गत आन्तर्जातिक पोलीओमाईलीटिस कानफरेन्समें मिनेसोटा विश्वविद्यालयके डाक्टर रेमण्ड बिटार महाशय प्रकाश किए हैं। वे बोले हैं, कि पोलीओ भाईरास जन्तु मेरुदण्डके प्रधान स्नायु केन्द्रमें जो प्रोटिनके कोष विद्यमान रहते हैं, उन्हें खा डालते हैं। इस कारणसे स्नायु विकल हो जाता है तथा शरीरका कोई भी अंश पंगु हो जाता है। परंतु यह नव आविष्कृत दवा रोगीके शरीरमें प्रवेश करानेसे इस दवाके भीतर भाईरास जन्तुको एक प्रकारका नवीन भोज्य मिलता है। अतः वे मेरुदण्डको आक्रमण नहीं भी कर सकते हैं। एवं नूतन भोज्य खाना शुरू करनेसे उसकी रासायनिक प्रक्रियाके फलसे भाईरास जंतु मर जाता है। "यह अनुमान मात्र है।" इस दवाको लेकर अब भी गवेषणा चालु है। फलाफल अबतक प्रकाश नहीं पाया।

दूसरी एक दवा आविष्कार की है मार्किन युक्तराष्ट्रके एक प्रख्यात भेषज प्रतिष्ठानसे। उस दवाका रासायनिक नाम है- फेनोसालफाजोल। परंतु वे नाम रखते हैं- "डार्मिसूल" इस दवाको लेकर गवेषणा चालू है, बन्दरके ऊपर।

आईरन लांग

इस पोलीओ रोगीको आराम देनेके लिए आईरन लां नामक एक प्रकारका यंत्र भी आविष्कार करके, अनेक दिनोंसे उसकी परीक्षा चालू है। रोगीको श्वास लेनेमें कष्ट होनेसे एवं श्वास बन्द होकर जिससे रोगी मर नहीं जाय, इस कारणसे आईरन लांको काममें लिया जाता है अध्यापक फिलिप ड्रिङ्कार नामक एक वैज्ञानिक महाशयने इस यंत्रका आविष्कार किया है। वृटेनका प्रख्यात मोटर-शिल्पपति लड नाफिलडने ब्रिटिश साम्राज्यके भीतर अनेक बडे बडे असपतालों में प्रायः पाँचसौ से ऊपर ऐसे आईरन लां दान किए हैं। उस प्रकारके एक आईरन लां कलकत्ताके मेडिकल कलेजके असपतालमें भी आया था।

मार्किन युक्त राष्ट्रमें रोगिओंको अपने घरसे असपतालमें लानेके लिए जो एम्बुलेन्स गाडी काममें ली जाती है, उसमें दूसरी दूसरी व्यवस्थाओंके साथ एक आइरनलां का लौह फेफडा भी रहता है। एक बार चीनसे एक बच्चेको आइरनलांकी-सहायतासे अमेरिका भेजा गया था। उसके लिए उक्त बालकके पिताका खर्च हुआ था सिर्फ पचास हजार (५०,०००) डालर। अनेक रोगियोंको उक्त आईरनलांके भीतर कर एक वर्ष तक रखनेकी आवश्यकता होती है?

किसी भी कारणसे हो, हमारे भारतमें पोलीओकी सुचिकित्साकी सुव्यवस्था अब तक नहीं हुई है। भारतकी चिकित्सा-पद्धति सम्पूर्ण रूपसे बेपारी पन्थसे चलती है। जिनके पास काफी धन है, केवल मात्र वे ही-सुचिकित्साकी आशा कर सकते हैं। यह केवल पोलीओ रोगके लिए नहीं, प्रायः सभी रोगोंके लिए यही बात है। इतनी अव्यवस्थाके भीतर यदि कोई नवीन रोगका शुभागमन भारतमें हो जाय तो क्या लिखना है? भाग्यके ऊपर सारा बोझ डालकर चुपचाप यम राजकी गोदका आश्रय लेनेके सिवाय हमें और कोई गति नहीं है।

परंतु मार्किन युक्त राष्ट्रमें व्यवस्था इससे सम्पूर्ण पृथक् ही है। यदि कोई पोलीओ रोगीके माता पिताका खर्च कर-

नेकी शक्ति नहीं हो तो, उनके लिए भी खास व्यवस्था है। वहाँ तो सिर्फ इतनी ही आवश्यकता है कि, जितनी जल्दी हो सके, वे डाक्टरको खबर दें डाक्टर ही रोगीकी सुव्यवस्था कर देंगे।

फिर भारतकी व्यवस्था तो इससे उल्टी ही है। गरीबकी सुचिकित्सा तो होती ही नहीं, बडे बडे सेठ साहुकारोंकी सुचिकित्सा अवश्य हो सकती है; परंतु उसमें भी गडबडी विशेष होती है। मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है, कि दो वर्ष पहिले एक बडे आदमीके एकमात्र पुत्रको टाईफायड हुआ। एक प्रख्यात डाक्टरसाहेब उसकी चिकित्सामें रुतन उसके पास ही रहता था। धीरे धीरे वह जब अन्तिम-अवस्थामें पहुँच गया तब डाक्टर साहेबने प्रकाश किया कि अब केवल ५% आशा है होप्लेस हो गया है। उस समय मेरे एक मित्र मुझे वहाँ ले गये वे जानते थे, कि ऐसे होप्लेस केस में आयुर्वेद दवाओंसे अच्छा कर सकता हूँ- कईएक केस किये भी थे। डाक्टरसाहेब उनके फेमिली डाक्टर-हैं। उनके समीप बार बार अनुरोध करने पर भी उन्होंने मुझे दवा देने नहीं दी। बीमार मर गया, वह भी उनको कबूल है; फिर दूसरेके हाथसे वह स्वस्थ हो जाय तो, अपनी नाक कट जाती है-इस डरसे वे दूसरेको इलाज करने नहीं देते; कितनी नीची हमारी मनोदशा है। खैर,

पोलीओ रोगके कारण अंग प्रत्यंगका नुकसान हो जानेसे यानी किसी अंग-प्रत्यंगका पक्षाघात होनेसे, अमेरिकामें उस अंगप्रत्यंगका व्यायाम कराया जाता है। ऐसे व्यायामके फलसे विकल अंग-प्रत्यंगके भीतर रक्तके सञ्चालनकी गति तीव्र होनेसे अंग-प्रत्यंगकी विकलता अनेक समय अच्छी हो जाती है— ऐसा अनुभव हुआ है। आमेरिकाके असपतालोंमें अंग प्रत्यंगोंका ऐसा व्यायाम करानेकी व्यवस्था है।

प्रतिषेधक

पोलीओ रोगका आक्रमण शुरू हो गया है, ऐसा संवाद मिलनेसे जिन सब बालक-बालिकाकी उम्र १६ वर्षके भीतर है, उन्हें निम्न लिखित नियमोंकी सहायता लेनेसे रोग होनेकी आशंका कम रहती है। यथा—

(१) शहरमें रहनेवालेको कभी भी भीड (अधिक जन-समूहमें) में नहीं जाना चाहिए।

(२) दूसरेकी छींक, खांसी तथा प्रश्वाससे दूर रहना चाहिये। क्योंकि भाइरास जन्तु छींक आदिकी सहायतासे ही दूसरेके शरीरसे अपने शरीरमें प्रवेश करता है।

(३) अत्यधिक परिश्रम अत्यधिक खेलनाकूदना, अत्यधिक तैरना अनियमसे चलना, दुश्चिंता, तथा अधिक रात तक जागना भी-उक्त रोगको निमंत्रित करने जैसा है।

(४) गीला कपडा तथा भीगा हुआ जूता आदि जितनी जल्दी हो सके बदलना चाहिये। अचानक ठण्ड पवन चले तो जल्दी गर्म कपडा पहनना चाहिये।

(५) सब समय साफ तथा सूखा कपडा, कमीज पहनना चाहिये। कभी भी मैले कपडेको व्यवहारमें न लें।

(६) भोजनके पहिले तथा भोजनांते हाथ अच्छी तरह धोना चाहिये। नहीं तो रोग-बीजाणु शरीरमें प्रवेश कर सकता है?

(७) भोज्य-वस्तुओंके ऊपर मक्खी मच्छर तथा दूसरे जीव-जन्तु न बैठ सके, सदा ध्यान रखें। तद्रूप धूल या हवाके साथ कोई खराब वस्तु भोज्यके साथ पेटमें न पहुँच जाय।

(८) दूसरेका पेन्सिल, इण्डीपेन, रूमाल, कपडा आदि काममें न लें। साथ ही दूसरेके जूठे बर्तनमें खाना न खाय। जूठा तो कभी भी न खाय।

(९) जहाँ तक हो सके एवं जितना समय तक हो सके धूपमें तथा खुले स्थानमें रहना चाहिए।

(१०) पोलीओ होनेसे ही रोगी मर नहीं जाता या पक्षाघात नहीं होता है। बुखार आनेसे सिरमें दर्द, गर्दनमें दर्द, उल्टी, पेटकी गडबडी तथा अस्थिरता प्रकाश पानेसे ही, देर न करके अभिज्ञ चिकित्सकसे परीक्षा करानी चाहिए।

डाक्टरी मतसे पोलीओकी प्रतिषेधक औषधि तथा रोग होनेसे उसकी सुचिकित्साकी कोई दवा नहीं है। आज तक जो कुछ दवा निकली है, सभी परीक्षाधीन है।

ऊपर मैंने जो कुछ लिखा है, वे सभी डाक्टरी मत है। मैंने अपना अभिप्राय कुछ भी नहीं लिखा। अब मैं अपने अभिप्राय तथा अनुभवकी बातें आगे लिखता हूँ।

डाक्टरी मतसे पोलिओकी दवा नहीं है, सही, परंतु आयुर्वेद मतसे उसकी दवा है तथा अहेतुक कृपावन्त श्रीश्री सद्गुरु महाराजकी सुप्रेरणासे वह दवा भी मैंने आविष्कार की है-जिसका नाम " चतुर्भुज रस " है। अब इस विषयपर विस्तारसे आगे लिखता हूँ।

वैदिक पुनर्जन्म-मीमांसा-भास्कर

अर्थात्

श्री नाथुलाल गुप्त पुरुषार्थवाद-मर्दन ।

(गतांकसे सम्पूर्ण)

विशेष सर्तव्य—मानव शरीर अन्य सभी शरीरोंसे श्रेष्ठ और परम दुर्लभ है; एवं वह जीवको भगवानकी विशेष कृपासे जन्ममृत्युरूप संसार समुद्रसे तरनेके लिये ही मिलता है। ऐसे शरीर जो मनुष्य अपने कर्म समूहको ईश्वर भजनके लिये समर्पण नहीं करते और केवल कर्मोपभोगको ही जीवनका परमध्येय मानकर विषयोंकी आसक्ति और कामनावश जिस किसी प्रकारसे भी केवल विषयोंकी प्राप्ति और उनके यथेच्छ उपभोगमें ही लगे रहते हैं वे वस्तुतः आत्माकी हत्या करनेवाले हैं। क्योंकि इस प्रकार अपना पतन करनेवाले अपने जीवनको केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहे हैं अपितु अपनेको और भी अधिक गर्तमें डाल रहे हैं। ऐसे देहप्रेमी पुरुषको संसारमें कितना नाम, यश, वैभव, या अधिकार प्राप्त हो, मरनेके बाद उन्हें कूकर, शूकर, कीट, पतङ्गादि योनियोंमें जन्म लेना पडेगा। जैसे "**अनेक चित्त विभ्रान्तामोहजालसमावृताः। प्रसक्ताः काम भोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ**" गीता १६।१६ इसी सम्बन्धमें ऋ. १०।२२।८ तथा ऋ० १०।७१।९ देखें ,अथ च "**बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्**" (भ० गी० ६।६)

(संशयात्मा विनश्यति) समस्त पदमें प्रायः आत्मा शब्दका अर्थ मन होता है। क्योंकि संशय मनमें पडता है; अतः संशय मनवाला पुरुष प्रतीत हो जाता है अर्थात् अपने कार्यको नहीं पूरा कर सकता; क्योंकि उसे सर्वदा संदेह रहता है कि मैं यह काम करूं या यह करूं। क्या श्री नाथुलालजीके मनमें जब संशय उपस्थित होता है तो क्या वे इस लोकसे सिधार जाते हैं। यदि वह यहां ही रहते हैं तो श्री गुप्ताजीका यह अर्थ अज्ञानियोंकी आत्मा मृत्युके पश्चात् नाश हो जाती है कभी सुसंगत नहीं हो सकता।

दिसम्बरांक १२ पृ० ४४२ "ततो विराडजायत"—इसका अर्थ देखें कहांसे कहां ले जाते हैं। लोगोंको भ्रममें डालनेका अद्भुत ढंग है। (ततो विराडजायत) उस परब्रह्मसे विराट् जिसका ब्रह्मांड शरीर है...... (अधि पुरुषः विराजः) उस परब्रह्म अधिपुरुषने एकांश ब्रह्मांडमें (पश्चाद्भूमिमथो पुरः) पहिले भूमिको उत्पन्न करके धारण किया।

समीक्षा—विराजः में पञ्चमी षष्ठी विभक्ति है। अतः इसका अर्थ यह हो सकता है कि उस विराट् देहके ऊपर (पुरुषः) जीवात्मा हुआ (स जातः अत्यरिच्यत) वह विराट् से भिन्न देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूप हुआ यह अर्थ श्री स्वामी दयानन्दजीने तथा अन्य वैदिक विद्वानोंने किया है।

नवम्बरांक ११ पृ० ४१५ पर "संस्कारोंका प्रभाव ही भावी संतानमें प्रारब्धरूप होता है और प्रारब्ध शब्दके विश्लेषणसे भी 'पर' कहिये अपनेसे भिन्न माता पिता द्वारा जिन गुण, कर्म, स्वभाव आदिका 'प्रारब्ध हो वह' 'प्रारब्ध' शब्द सिद्ध होता है। यदि अपने ही पूर्व कर्मोंसे प्रारब्ध बनना होता तो उसका नाम स्वारब्ध रखा जाता न कि "प्रार्ब्ध" यह लिखा है।

समीक्षा—"प्र" से पर विश्लेषण नहीं हो सकता क्योंकि 'प्र' उपसर्ग है और 'पर' सर्वनाम है उसके "पर" के विश्लेषणसे "प्र" नहीं सिद्ध हो सकता, चाहे रूढि हो चाहे योगरूढ चाहे यौगिक, किसी अवस्थामें ही "प्र" का विश्लेषण नहीं हो सकता फिर सोचें। यदि माता पितासे ही केवल गुण कर्मोंके आनेसे प्रारब्ध होता है तो "स्वतंत्रः कर्ता" "कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्" वेद० २।३।३३ से स्वतंत्र कर्तृत्व नष्ट हो जायगा। संसारमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। 'माता-पिता दोनों मद्यपी, जुवारी, व्यभिचारी है परन्तु उनमेंसे उत्पन्न हुए २ पुत्र बडे सुयोग्य और विद्वान् होते हैं। बडे विद्वानों अथवा महाराजाओंकी सन्तान महामूर्ख और असद्व्यवहारसे

अथवा आकस्मिक चोटोंसे निर्धन हो जाते हैं। इत्यादि बातें देखें।

दिसम्बरांक २० पृ० ४३९ पं० ९ जीवात्मा एकवार जन्म लेनेके बाद इसी जन्ममें पुनः जन्म लेता है उसे पुनर्जन्म कहते हैं अर्थात् हरएक पुरुष एकवार जन्मलेनेके पश्चात् इसी जन्ममें अपने आत्मासे उत्पन्न हुए बीज रूपी अंश (बीजात्मा) के द्वारा पुनः स्त्रीके गर्भमें प्रादुर्भूत होकर जन्म लेता है उसे पुनर्जन्म कहते हैं।

समीक्षा—बीजसे यदि जीवात्माकी उत्पत्ति वृक्षबीजकी तरह मानी जावे तो कृषिविभागमें यह नियम दृष्टिगोचर होता है कि जो बीज वृक्षको बीज अथवा गोधूम चणकादि धान्यों-का बीज बोया जावे, तो जबतक बोया हुआ बीज स्वयं फूटकर नष्ट नहीं हो जाता, तबतक वृक्षादि नहीं उगते अर्थात् उत्पादक बीज नष्ट हो जाता है तब वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। ऐसे ही यदि मनुष्यका वीर्य ही केवल बीजरूप हो तो बीज बोनेके बाद पिताकी मृत्यु हो जानी चाहिये। परन्तु पिता जीवित रहता है अतः केवल वीर्य मात्रसे मनुष्य उत्पन्न नहीं होता अतः यह सिद्धान्त नितान्त अशुद्ध है। क्योंकि वृक्षादि बीज कई वर्षोंतक वृक्षसे पृथक् रहनेपर भी उत्पन्न होते हैं और उत्पादक बीज स्वयं नष्ट हो जाता है। मनुष्यादि बीजोंमें यह बात नहीं है।

क्योंकि, जनवरी अंक १ सन् १९५० पृ० ९ (नियम १९) में गुप्ताजीने लिखा है " परब्रह्म बीजरूपसे विराट् पुरुष द्वारा सब—जीवोंको चेतनता देता है। जब ब्रह्मद्वारा उस वीर्यमें चेतनता आती है अर्थात् जिस बीजमें चेतनता न थी उसमें परब्रह्म विराट् करणद्वारा चेतनता डालता है तो आधारा-धेय भावसे वीर्य जड हुआ क्योंकि चेतनताका आधार है और चेतनता आधेय; अतः वीर्यमें आत्मा विद्यमान है न कि वीर्यसे ही आत्मा पैदा होता है। पृ० ४४५ में स्वयं आपने ही लिखा है- जीवात्मा अपने बीजात्माओंमें व्यापक होता है, वही व्यक्त होकर (अर्थात् पहिले वीर्यमें अव्यक्त था) वही व्यक्त होकर जीवात्मा हो जाता है तथा यह भी आपने स्वयं लिखा है कि ब्रह्मसे ब्रह्मांड (विराट् पुरुष) और ब्रह्मांडसे पिंड (पिंड नाम देहका है नकि चेतनताका) और पिंडसे जवांड (वीर्यके कीडे) क्या कीडे (कीट) चेतन नहीं होते? क्या उनकी चेतनता यह नहीं बताती कि उनमें देहसे भिन्न आत्मा अवश्य है जो चलता फिरता खाता पीता है। ' वीर्यके कीडोंसे पिंडरूप जीव, यह आप लिखते हैं और फिर वीर्यको ही आत्माका उत्पादक बताते हैं कैसी आश्चर्यकी बात है। वीर्यमेंही पाहिले आत्मसत्ता स्थित है तो केवल वीर्य मात्रसे जीवोत्पत्ति कैसे?

पुनः पृ० ४५१ में भी यही लिखा है चेतनताका आधार शरीर है, चेतनता शरीरका आधेय है यहांपर भी आधाराधेय भावसे दो माने हैं एक नहीं। इसी तरह शरीर तथा शरीर जन्य वीर्य आधाररूप होनेसे स्वयं कुछ नहीं कर सकते, जब तक उसमें परब्रह्मसे समागत आधेयरूप चेतनता न आवे, अतः सिद्ध होता है कि देह भिन्न है देहमें स्थित जीवात्मा भिन्न है जो इस जड शरीरको चेतन बना देता है जैसे-पृ० ४५० में आपने स्वयं लिखा है विना चेतनताके मृत शरीरकी उपलब्धि होती है। आपका यह लेख भी सिद्ध करता है कि चेतनत्व (आत्मत्व) और वस्तु है जो आधेय है। तथा शरीर और वस्तु है जो आधेय है।

श्री नाथुराम गुप्ताजीके सामने अधिकरणता शरीरको किस प्रकारकी है और चेतनताको आधेयता किस प्रकारकी है जरा स्पष्ट उत्तर लिखें। आधार अधिकरणका नाम है यह बात सब जानते हैं आधार ६ (छः) प्रकारका होता है औपश्लेषिक १ सामीप्यक २ अभिव्यापक ३ वैषयिक ४ नैमित्तिक ५ औपचा-रिक ६। कई विद्वानोंके मतमें ३ हैं। एकदेशवृत्ति १ व्याप्यवृत्ति २ व्यङ्गवृत्ति ३ जैसे—

कटे शेते कुमारोऽसौ वटे गावः सुशेरते। तिलेषु विद्यते तैलं हृदि ब्रह्माऽमृतं परम् ॥१॥ युद्धे सनह्यते धीरोऽङ्गुल्यग्रे करिणं शतम्। भूभृत्सु पादपाः सन्ति गंगायां वर वालुकाः ॥ २ ॥

इतने प्रकारके आधारोंके होनेपर शरीर और आत्माका आधाराधेय भाव कौनसा हो सकता है। इनमेंसे जो स्पष्ट आपको प्रतीत हो वह लिखें और देखें क्या आपका सिद्धान्त ठीक कसौटीपर उतरता है। देखेंगे कि अथ० कां० ११।२८, २९, ३०, मंत्रोंके अनुसार देह पंचभौतिक पदार्थोंसे बनता ज्ञात होगा। और आत्माका प्रवेश फिर आधेयरूपसे ज्ञात होगा।

दिसम्बरांक १२ सं० १९४९ पृ० ४५४ (१३) ' मृत्युके पीछे ' शीर्षकमें लिखा है। मृत्यु होनेमें शरीरके सभी परमाणु चेतनता रहित हो जाते हैं फिर यह शरीर उसी प्रकारसे आदान प्रदानका व्यापार नहीं कर सकता......चेतनतारहित होनेसे इसके अवयव स्वयं ही सडने लग जाते हैं।...... वह

(दार्शनिक) शरीरके भिन्न अवयवोंके यांत्रिक संगठनको ही जीवात्मा मानते हैं अतः इस मतके अनुसार संगठनके हटनेका नाम ही मृत्यु है और संगठनके टूटते ही जीव नष्ट हो जाता है। घडीका दृष्टान्त दिया और साथ पृ० ४५१ लिखे बाल्फूड रसैलादि पाश्चात्य विद्वानोंकी सम्मतिको केवल स्वीकार नहीं किया बल्कि अपनाया भी है।

समीक्षा—पश्चिमी विद्वानोंसे आपका इतना मतभेद है कि वह परमेश्वरको नहीं मानते, गुप्ताजीने परब्रह्म परमात्माको स्वीकार कर लिया। इसपर भी वह देहोंकी परस्पर संघर्षण द्वारा सृष्टिको मानते हैं न कि कार्मिक सृष्टिको। काम हैतुक सृष्टिके सम्बन्धमें वेदने क्या आज्ञा की है—

"**प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति। नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम** " ऋ० ८।१००।३।

अर्थ—(हे वाजयन्तः) हे अन्नमात्रपर विश्वास रखनेवाले उदरंभरि मनुष्यो ! "येन केन प्रकारेण ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः " ऐसा सिद्धान्त रखनेवाले जीवो ! (इन्द्राय सत्यं स्तोमं सुप्रभरत) सर्वैश्वर्य सम्पन्न परमात्माको सच्ची अर्थात् सच्चे मनसे स्तुतिको अर्थात् परमात्माके ओं रूपकी स्तुति अच्छी तरहसे करो। ईश्वर तथा कर्मफलको न माननेवाले नास्तिक उत्तर देते हैं। (यदि सत्यम् अस्ति) यदि ईश्वर हो, तो हम स्तुति करें परन्तु (नेम उ इन्द्रः त्वः न) परन्तु केवल यश मात्रसे प्रसिद्ध ही परमेश्वर कोई नहीं। क्योंकि यदि जगत्का स्वामी कोई परमेश्वर होता, तो राजा, महाराजाकी तरह वह भी दृष्टिगोचर होता परन्तु (कः ईं ददर्श) किसने उसे देखा ? या देखता है ? अर्थात् न किसीने उसे देखा है और न सामने देखा जाता है। अतः (कम् अभिष्टवाम) हम किसकी स्तुति करें। कोई परमेश्वर जगत् स्वामी है यह केवल वादमात्र है अतः हम (नास्तिक) केवल शरीर पालन ही परमधर्म मानते हैं।

श्री नाथुरामजीने इस वेदमंत्रके पूर्व पक्षको मानकर वीर्य मात्रसे जन्मको माना है जिसका प्रतिपादन भग० १६।८ में किया है "**असत्यमप्रतिष्ठंते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्पर संभूतं किमन्यत्काम हैतुकम्** " केवल कामहैतुक सृष्टि है न कि कर्मफलात्मक, ऐसाही आसुरी जीव मानते हैं। और ऐसा ही पूर्वपक्ष—

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्। सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥ (अथर्व० २०।३४।५। ऋ० २।१२।५।)

अर्थ—आस्तिकको नास्तिक उत्तर देता है। हे जीवात्मन्! (यं घोरं पृच्छन्ति) कर्मोंके फल देनेवाले जिस घोर नियामकको लोग पूछते हैं और पूछते थे (कुह स इति) वह कहां है (उत ईम् एनम् आहुः) और उसके सम्बन्धमें कई कहते हैं (न एषः अस्ति) वह परमात्मा नियामक है ही नहीं। ऐसा पूर्वपक्ष हुआ है परन्तु इसी मंत्रके उत्तरपक्षको भी देखना चाहिये। (उत्तरपक्ष) हे (जनासः) लोगो ! (सः) वह (अर्यः स्वामी) 'अर्यः स्वामी वैश्ययोः' स्वामी (पुष्टीः) केवल अन्नमात्रसे शरीरको हृष्ट पुष्ट करनेवाले जीवोंको (विज इव) उद्वेग जनक सिंहके समान (आ मिनाति) नाश करता है (सः इन्द्रः) वह सर्वनियामक परमात्मा है (अस्मै श्रद्धां धत्त) उस ईश्वरपर श्रद्धा कर। नास्तिक-मत-प्रतिपादक पूर्व पक्षवाले अगला मंत्र देखें।

'**अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना। ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि** " ऋ० ८।१००।४ तथा "**द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते** " ऋ० २।१२।१३ वही ईश्वर ही कर्मफल प्रदाता है जिन कृतकर्मोंके आधारपर जीवात्मा जन्म जन्मान्तरोंको भोगता है। यथा—

"**यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान। यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः** " ऋ० २।१२।१० अथर्व २०।३४।१०।

अर्थ—(यः) जो परमेश्वर (महि एनः शश्वतः दधानान्) बडे बडे अपराधोंको लगातार करनेवाले (अमन्यमानान्) ईश्वरको कर्मफल प्रदाता न माननेवाले जीवोंको (शर्वा) पाप पुण्य फलदायक कठोर उपायसे (जघान) दण्डित करता है (शर्धते) निन्दक जीवको (शृध्यां न अनुददाति) सहन शक्ति प्रदान नहीं करता, क्योंकि घोरकर्मी घोरफल भोगते

समय घबरा जाता है (यः दस्योः हन्ता) जो दस्युका भी नाशक है (जनासः) हे मनुष्य ! (स इन्द्रः) वह परमेश्वर है। अतः श्री नाथुरामजी का मत वेदाऽनुकूल नहीं है। मनुजीने भी मरनेके अनन्तर जन्म लेना माना है । यथा—

" यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा । क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत्सर्वं निबोधत, (मनुः अध्याय. १२।५४) ' श्वशूकरखरोष्ट्राणां गोऽजाविमृगपक्षिणाम् । चाण्डाल पुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति, १२।५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, तथा " धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः । मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् " ६२ इत्यादि । ब्रह्म हत्यारा कुत्ता, सूअर, ऊँटादि योनियोंको पाता है। धान्य चुरानेवाला चूहेकी योनिको, कांस्य चोर हंस योनिको, जल चोर प्लव नामक पक्षी योनिको, शहद चुरानेवाला शहदकी मक्खीको, दूधचोर कव्वे योनिको, रसके पदार्थ चुरानेवाला कुत्तेकी योनिको, घृतचोर नकुल योनिको पाता है। तथा " यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते । तादृशेन शरीरेण तत् तत्फलमश्नुते" म० १२।८१ जिस प्रकारके विचारसे अर्थात् सात्विक, राजस, तामस, चित्तसे स्नान दानादि शुभकर्म तथा हिंसादि अशुभ कर्मोंको करता है वैसे वैसे शरीरसे उस उस कर्मके फलको भोगता है। मनुजीने भी वेदाऽनुकूल शब्दोंसे मृत्युके अनन्तर कर्म फल भोगनेके लिये शरीरान्तर (जन्मान्तर) प्राप्ति कहा है। परन्तु श्री नाथुरामजीके हाथमें एक कुत्सित अस्त्र है जिससे वह कह देंगे। वे श्लोक मनुस्मृतिमें पौराणिक पंडितोंने प्रक्षिप्त कर दिये हैं। .

दिसम्बर पृ० ४५३ में लिखा है " मद्य, भोग क्लोराफार्म से बेहोशी आती है। यदि चेतना मस्तिष्कके अवयवोंसे सर्वथा स्वतंत्र कोई अभौतिक सत्ता होती तो ऐसा कैसे होता ? जब मस्तिष्कके अवयव कामके नहीं रहते तब अमर आत्माकी चेतना क्या होती है; इनसे सिद्ध है कि आत्मा परिणामी है।

समीक्षा—अपनी समझमें " श्री गुप्ताजी " ने यह लेख सयुक्तिक लिखा है; पर क्या करें मन नास्तिकतामें है। यह तो प्रत्येक पुरुष बेहोशको देखता है वह चेष्टा नहीं करता, तो भी वह मृत नहीं हुआ क्योंकि उस अभौतिक सत्ता (आत्मा) की शक्तिसे शरीरकी नस, नाडियाँ, रुधिर, नियमाऽनुसार चल रही है। यदि आत्मसत्ता क्लोराफार्मादि लेनेकी अवस्थामें शरीर सड जाता, परन्तु कई कई दिन बेहोश पडे रहते हैं। (समाचार पत्रोंमें भी श्री गुप्ताजीने पढा होगा कि अमुक मनुष्य अमुक स्थानपर बेहोश पडा है) परन्तु शरीर सडता नहीं, दुर्गंधि पैदा नहीं करता, प्रत्युत वैसेका वैसाही शुद्ध रहता है। अतः आत्मसत्ता अभौतिक है और वह देहसे भिन्न है। क्लोरोफार्मादिका प्रभाव मनपर पडता है जिससे मन मुग्ध हो जाता है। मनकी गति इन्द्रियोंके साथ नहीं होती जिससे ज्ञानोपलब्ध नहीं करता " क्योंकि न्या० द० १।१।३

" इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् " वा० भा० आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन ततः प्रत्यक्षम् " आत्मा मनसे जुडता है, मन इन्द्रियसे, इन्द्रिय विषयसे फिर प्रत्यक्ष होता है। षड्विध प्रत्यक्ष होता है यह आप जानते ही होंगे। अतः बेहोशी अवस्थामें मनके मूर्च्छित हो जानेसे बाहरकी चेष्टा लुप्त होती है न कि आन्तरिक। अतः नाडियोंके पूर्ण सञ्चार होनेसे शरीरान्तरवर्ती चेष्टा पूरी रहती है। अतः आत्मा अभौतिक पदार्थ नित्यावस्थामें ही उपस्थित रहता है।

श्री नाथुरामजीने " पावर हाउस, विद्युत, बल्व, यह लिखा, वैद्युत् निर्माता परब्रह्म ! पावर हाउस विराट् पुरुष, (ईश्वर) बल्व (देह) यहां विद्युदृष्टान्त द्वारा जीवोत्पत्ति मानी है।

समीक्षा—पावर हाऊसका सञ्चालक एञ्जनीयर है। परन्तु एञ्जिन्में जबतक अग्निका प्रवेश न होगा, तबतक ओञ्जिन नहीं चलेगा। जब ओञ्जिन् अग्निद्वारा चलता है तब ओञ्जिन के सब यंत्र अपने अपने स्थानपर स्थित चलने लग जाते हैं। जब वहांसे विद्युत् उस अग्नि द्वारा तैयार होती है। तब धन ऋण इन दो कर्मोंके द्वारा बल्वमें प्रकाश होता है तथा रुकता है। जब बल्व टूट जाता है तब नए बल्वके लानेपर उसी ऋण धन नियमानुसार फिर प्रकाश आरंभ हो जाता है। यही दृष्टान्त दार्ष्टान्त रूपमें देखें। परब्रह्म परमात्मा निराकार (विराडाकारहीन) संसारके संस्थापक हैं। विराट् रूप संसारमय पावर हाउस है। वह स्वयं तो कुछ कर नहीं सकता, परन्तु जब उस संसारमें परब्रह्मकी चेतनतारूप आग लगती है तब पावर हाउसके अंग प्रत्यंग चलने लगते हैं अन्यथा वह निःसंग रहते हैं। मनुष्यादि देह बल्व रूप है। उस ईश्वर संचालिताग्नि द्वारा जब विराट् पुरुष रूप पावर हाउस चलता है। तब वही चेतनता (आत्मरूप) ऋण (नीचे ले जानेवाली)

धन उपर ले जानेवाली विद्युच्छक्तिकी तरह पाप अधम योनिमें ले जानेवाले ऋणरूप पाप तथा उपर ले जानेवाले धनरूप पुण्य-द्वारा यह आत्मा अपने बल्वरूप शरीरमें कर्मफल भोगनेके लिये प्रविष्ट होते हैं। जैसे ऋण, धनाऽवस्था शून्य होनेसे विद्युच्छक्ति पावर हाउसके यंत्रोंमें लीन होकर इञ्जनीयरकी विद्यारूपी अग्निमें लीन हो जाती है इसी तरह पाप पुण्य शून्यावस्थामें मनुष्यकी आत्मा संसारसे मुक्त होकर परब्रह्ममें लीन हो जाती है और ऋण धनमें सम्बन्ध रखनेवाली विद्युत् पुनः पुनः उन बल्वरूपी शरीरोंमें आती रहती है यही जीवात्माकी व्यवस्था है। विद्वान् अच्छी तरह समझ सकते हैं कि कौनसा पक्ष वैदिक है। अब उपसंहाररूपार्थ फिर उपक्रम दिखाकर उसका खंडन करके लेख समाप्त कर दूंगा।

“ द्वे सृती अशृणवं ······ यदन्तरा पितरं मातरञ्च, यजु. १९।४० का मंत्र अपने समाधानमें विशेषतया रखा है। और जिसमें पिताको दक्षिणायण तथा माताको उत्तरायण बताया है।

समीक्षा--(द्वे सृती) दोनों पद स्त्रीलिङ्गमें हैं (पितरं मातरम्) पितृमातृ शब्दके द्वितीयैकवचन (इदम्) इदम् शब्द नपुंसक लिङ्गमें हैं (विश्वम्) विश्व नपुंसक १ मैक वचनमें है (ताभ्याम्) तृतोया द्विवचन स्त्रीलिङ्ग या पुल्लिङ्ग मानें। (एजत्) (अन्तरा) अव्यय है जिसके योगमें द्वितीया होती है यथा (अन्तराऽन्तरेण युक्ते) नियमसे (सम्+एति) सम् उपसर्ग इण् धातुसे लट्में एति होता है। अब गुप्ताजीका किया हुआ अर्थ देखिये। आपने द्वितीयांत इन् (पितरम् मातरम्) दोनों पदोंमें प्रथमा विभक्तिका अर्थ किया है जो त्रैकालिक असंगत है। तथा (इदम्) नपुंसकान्त पदको सृती (मार्ग) स्त्रीलिंगका विशेषण बनाया जो सर्वथा असंगत है। (विश्वम्) विश्वका अर्थ शरीर किया है तथा (अन्तरा) पृथक् होकर अर्थ किया है अर्थात् पिताके शरीरसे पृथक् होकर (उत) दूसरा मार्ग माताके गर्भमें। इस अर्थको विद्वान् स्वयं पढें क्या यह अर्थ हो सकता है ?

यथार्थ अर्थ देखें= अहं पितरं (दिवं) मातरं (पृथिवीं) अन्तरा (मध्ये) पितृणां देवानां उत मर्त्यानां द्वे सृती अशृणवम्। ताभ्यां (सृतीभ्यां) यत् (दृश्यमानं) इदं विश्वम् एजत् समेति।

अथवा (पितरं) परब्रह्म (मातरम्) प्रकृतिके (अन्तरा) मध्यमें देवादियोंके दो मार्ग सुने हैं। एक मार्ग पितारूप परब्रह्मकी ओर ले जानेवाला जिसका पितृमार्ग है, दूसरा मातारूप प्रकृतिकी ओर ले जानेवाला है मातृमार्ग (मातृयान) कहते हैं अर्थात् देवमार्ग एक मार्ग मुक्त करनेवाला है। दूसरा प्रकृतिमें बन्धन करनेवाला है। द्यौ (दिव्) का अर्थ पिता (पृथिवी) माता प्रतिपादक मंत्र देखिये--

“ द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ (ऋ. १।१६४।३३)

यहां द्यौका नाम पिता है और पृथिवीका नाम माता है उनके मध्यमें दो मार्ग हैं। जहां मध्यपदका प्रयोग होता है वहां इधर उधरकी दोनों वस्तुएं छोड दी जाती है। यदि श्री गुप्ताजीका अर्थ लेवें तो माता पिता दोनों छूट जावेंगे। मध्यमें केवल आकाश मात्र रह जाएगा। तथा--

“ द्यौर्वः पिता पृथिवी माता ” (ऋ० १।१९१।६) तथा **“ आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आरोहयामि ”** (अथर्व० १८।४।१) तथा- **“ देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि। तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यान्ति लोकम् ”** (अथर्व० १८।४।२) तथा **अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते ”** (छांदो० ८।६।५) **“ तेऽर्चिषमभि संभवन्त्यर्चिषोऽह्नः ”** (बृह० ६।२।१५) **‘ स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्नि लोकमागच्छति ”** (कौषी० ब्रा० १।३) **यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति ”** (बृह० ५।१०।१) जिनका समर्थन वेदा० द० ४।३।१ **“ अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ”** इत्यादि प्रकरणको देखकर वेदान्त दर्शनको भी पौराणिक कहें तब तो ठीक है। क्योंकि श्री स्वामी शंकराचार्यजी को तो आपने अनभिज्ञ लिख ही दिया है। तथा--

श्री नाथुरामजीने नवम्बरांक ११ सन १९४९ पृ० ४१६, १७ पर बायोलाजीके सांईटीफिक विज्ञानका सिद्धान्त लिखा है जिसे आप भी स्वीकार करते हैं। वैज्ञानिकोंने सूक्ष्मदर्शी यन्त्रों द्वारा प्रत्यक्षरूपसे देखकर निर्णय दिया है कि पुरुषके वीर्य तथा स्त्रीके रजमें सूक्ष्म जीते हुए कीडे होते हैं। गर्भाधानके समय स्त्री व पुरुषके रज तथा वीर्यके पात होनेपर दोनों

गर्भाशयमें पहुंचकर एक दूसरेकी पूंछसे मुंह लगाकर गोल चक्कर खाते हुए एक दूसरेको पूंछकी तरफसे निगलनेकी क्रिया करते हैं। यदि रजका कीडा वीर्यसे कीडेके बडा होता है तो वह वीर्यके कीडेको निगल लेता है जिससे लडकी पैदा होती है। यदि वीर्यका कीडा रजके कीडेको निगल लेता है तो लडके का भ्रूण उत्पन्न होता है। जिन स्त्री पुरुषके रज व वीर्यमें जीवित कीडे नहीं होते उनके रजवीर्यसे गर्भ नहीं रहता। अतः वैज्ञानिक प्रमाण के अनुसार जिवित कीडोंसे एक भ्रूण उत्पन्न होनेके कारण जीवात्मा अनित्य है।

समीक्षा--वैज्ञानिकोंने सिद्ध कर दिया है कि आपके लेखानुसार केवल वीर्य (बीज) जीवोत्पादक नहीं है बल्कि जीवित वीर्य। इससे सिद्ध हुआ कि जैसा मैंने पहिले लिखा है कि अन्नद्वारा जीवात्मा वीर्यमें प्रवेश करता है वही आत्मा पुरुष वीर्य द्वारा माताके क्षेत्रमें उसकी रज तथा खानपानादि द्वारा हृष्टपुष्ट होकर गर्भमें ही चलनादि चेष्टा करता हुआ दशवें मास गर्भसे बाहर आता है। आपने वैज्ञानिक आधारपर हमने वैदिकाधारपर उसे वीर्यमें ही प्रवेश किया हुआ माना है, तो आपका पूर्व सिद्धान्त पुरुष वीर्य (बीज) से जीवात्मा उत्पन्न होता है, वह कहां चला गया। आपने यह माना कि जीवित कीटसे, शून्य वीर्यसे आत्मा उत्पन्न नहीं होता। वैसे वैदिक सिद्धान्त भी यही है। आत्मराहित वीर्यसे गर्भ स्थिर नहीं होता चाहे कितने समयतक पुरुष स्त्री गृहस्थ धर्म करते रहें वह निष्फल रहेगा। इससे भी आपका सिद्धान्त काफूर हो जाता है।

जब स्त्रीका रजः कीट पुरुषके वीर्य कीटको खा जाता है, तब कन्या होती है और जब वीर्यकीट रजःकीटको निगल जाता है तब पुत्र होता है। यह दो सन्तानें इन नियमोंसे होती हैं, तो नपुंसक तो उत्पन्न ही न होगा, परन्तु संसारमें नपुंसक होते हैं यह प्रत्यक्ष रूपसे देख रहे हैं। नपुंसकका प्रतिपादन यजुर्वेद स्पष्टतया करता है। वैज्ञानिकोंका तथा आपका यह सिद्धान्त वेदविरुद्ध है। वैदिक सिद्धान्त यह है कि वीर्य अधिक होनेपर पुत्र, रजः अधिक होनेपर कन्या, दोनोंकी समतापर नपुंसक पैदा होता है। जैसे--

" पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्याधिके स्त्रियाः। समेऽपुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः " (मनु० ३।४९)

अर्थ--पुरुषके वीर्यके अधिक होनेपर पुरुष और स्त्रीके रजके अधिक होनेपर स्त्री और वीर्य और रजके समान होनेपर नपुंसक या जोडा, क्षीण या अल्प होनेपर गर्भ संभव नहीं। तथा--

" शुक्रातिरेके पुमान् भवति, शोणितातिरेके स्त्री भवति। द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति शुक्रभिन्नेन यमो भवति। (निरु० १४।६)

श्री गुप्ताजीके मतमें यमलोत्पत्ति, तथा नपुंसकोत्पत्ति कभी न होगी। धन्य हैं। श्री नाथुरामजीके मतमें पुरुष और स्त्रीके वीर्य और रजसे केवल जीवोत्पत्ति होती है। कर्म प्रभावसे नहीं, तो बताएं कि जब परब्रह्म परमात्माने विराट् पुरुष उत्पन्न किया वह केवल ऐच्छिक था, क्योंकि परब्रह्मकी पत्नी कोई थी नहीं, क्योंकि वह अकेले थे और सर्वसमर्थ थे, अतः विराट् पुरुष विना वीर्य उत्पन्न हुआ, परन्तु जब विराट् पुरुषने परब्रह्मरूप इंजिनियरको और विराट् पुरुष पावर हाउसको जीवोत्पादनके लिये आज्ञा की तो विराट्की धर्मपत्नी " विराडी " कहांसे उत्पन्न हुई या थी नहीं? यदि थी तो विराट्के साथ बहिन भाईकी तरह उत्पन्न हुए या विराट्के बाद उसे भी परब्रह्मने स्त्रीरूपमें बनाया। यदि स्त्रीरूपमें बनाया तो विराट्की पत्नी विराडी अब भी जीवित है या काम करके अर्थात् बच्चे उत्पन्न करके विराट्में लीन हो गयी है। अथवा पावर हाउस विराट्ने इञ्जिनियरकी प्रेरणाके विना ही दूसरे स्त्री पुरुषोंको अपनी मुखरूपी पिटारीसे निकाला या परब्रह्मरूपी इञ्जिनियरने अपने स्थानसे उन्हें ऊपर फैंक दिया। यदि ऊपरसे फैंका तो परब्रह्म विराट् रूप पावर हाउससे पृथक् भी हो गया। यदि वह पृथक् है तो " **अयमस्मात् पृथक्** " इस उक्तिके अनुसार कुछ व्यवधान भी पड जायगा। यदि व्यवधान मानोगे तो परब्रह्म परिच्छिन्न हो जायगा, यदि " **तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्** " वाक्यको मानोगे तो परब्रह्म विराट् रूप पावर हाउससे पृथक् न होगा तो पावर हाउस स्वयं जड होनेसे इञ्जिनियरकी अपेक्षा रखेगा। ऋणधन कौन कहांसे लाएगा। क्या विराट् पुरुषके अनन्तर मनुष्य पशुपक्षी आदि " जरायुज अण्डजादि नियमसे उत्पन्न हुए अथवा यह नियम तब न था, जो आदि (चाहे कल्पादौ चाहे सृष्ट्यादौ) सृष्टि हुई उसपर रजोवीर्यका नियम लागू न था, यदि था तो उनकी स्त्रियाँ भी साथ उत्पन्न हुई यदि हुई तो दोष पूर्ववत् उपस्थित रहेगा।

यदि सांकल्पिक हुई तो कर्माधीन थी या पुरुषार्थाधीन, यदि पुरुषार्थाधीन थी पितृमातृ संस्काराभावसे वह मुग्धवत् रही होगी। आयु कितनी थी, कोई पालक था या नहीं, यदि स्वयं परिपुष्ट थी तो स्वा. दयानन्दजीका सिद्धान्त पूर्वजन्म कर्माधीन तुम्हें अवश्य मानना पड़ेगा।

वेदने पहिली सृष्टि सांकल्पिक बताई जैसा कि श्री स्वा० दयानन्दजीका सिद्धान्त है। वही ब्राह्मण, आरण्यक, दर्शन, पुराणोंका सिद्धान्त है ' यथा--

"एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः। यत्र विजायते यमिन्य-पर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती"

(अथ० ३।२८।१)

अर्थ--(एषा एकैकया सृष्ट्या संबभूव) परब्रह्म परमात्माकी रची हुई यह सृष्टि एक एक व्यक्तिकी सृष्टि अर्थात् रचनासे उत्पन्न हुई अर्थात् जब कल्पारंभमें अथवा सृष्ट्यारंभमें प्रत्येक व्यक्ति मानसिक उत्पन्न हुई। (यत्र भूतकृतः विश्वरूपाः गाः असृजन्त) जिस मानसिक सृष्टिमें पञ्चमहाभूतोंसे बनी हुई नाना रूपोंवाली गौ शब्दसे उपलक्षित रूढ्यर्थ प्रतिपादक ऋषि, मनु, ब्रह्मादि मानसिक सृष्टि उत्पन्न हुई (यत्र अपर्तुः यमिनी विजायते) जिस औत्पत्तिक सृष्टिमें वीर्य ऋतुसे युक्त (यमिनी) जोडा रूप अर्थात् स्त्रीपुरुष द्वारा मैथुनी पैदा होती है। (सा) वह मैथुनी सृष्टि (रिफती) कामचेष्टासे हिंसित होती हुई (रुशती) कामचेष्टा पूर्त्तिके न होनेसे क्रोध करती हुई (पशून्) ' पश्यतीति पशुः जीवः जीवपनको अर्थात् मानुषी ज्ञानको भी (क्षिणाति) नाश कर देती है ऐसे ही--

"तपस्तप्त्वाऽसृजद्यन्तु स स्वयं पुरुषो विराट्। तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विज सत्तमाः"

(मनु० १।३३)

हे ब्राह्मणो! उस स्वयं विराट् पुरुषने उस मुझ मनुको उत्पन्न किया यह जानो।

"अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्। पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश"

मनु० १।३४ से ४१ तक देखें। यही प्रकरण है तथा--

'महर्षयः सप्तपूर्वे, चत्वारः मनवस्तथा। मद्भावाः मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः'

(भग० १०।६) मानसिक सृष्टि प्रतिपादनमें यजु देखें--

"ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा" (यजुः ४।११)

मानसिक सृष्टिके अनन्तर यमिनी अर्थात् मैथुनी सृष्टिका आरंभ हुआ। जो कि मनुसे आरंभ होती है जिसका वर्णन मनु० १।३३ में आया है। ब्राह्मण ग्रंथ और पुराणोंके आधारपर मनुजी और उसकी धर्मपत्नी शतरूपा हुई अथर्व वेद (३।२८।१) मंत्रमें जिसका नाम "विश्वरूपा" हुआ "शतरूपा (सैकडों रूपोंवाली) तथा विश्वरूपा बहुत रूपोंवाली दोनोंका अर्थ ही एक है। क्योंकि मैथुनी सृष्टि मनुसे हुई है अतः संसारमें मनुसे मनुज मनुष्य, मानुष, तथा मानव शब्द मनुष्य वाचक बोले जाते हैं। जैसा कि--

तद्धितापत्याधिकारमें पाणिनी **"मनोर्जातावञ् यतौ पुक् च"** (४।१।१६१) इस सूत्रसे अञ् यत् पुक् प्रत्यय हुआ, मानुषः, मनुष्यः, तथा मनोर्जातः मनुजः, मनोरपत्यं मानव, यथा चान्यत्र--

"अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः। नकारस्य च मूर्द्धन्यस्तेन सिद्ध्यति माणवः"

ऐसे ही **"मनेरु"** मन धातुसे उ प्रत्यय मनु शब्दका स्त्रीलिङ्गमें "मनायी और मनावी दो रूप बनते हैं" **"शृस्तृ-स्निह"** अतः मनुके बाद मैथुनी सृष्टिका आरंभ हुआ, इससे पूर्व बीजरूप परमात्माने अपने जेबसे बाहर निकाल कर फेंक दिये थे या परमात्माकी धर्मपत्नी प्रकृति बनी थी। परन्तु आप (श्री नाथुरामजी) आरंभमें प्रकृतिको मानते नहीं। आपके (श्री नाथुरामजी) अनुसार ब्रह्म, प्रकृति, जीव, श्री स्वा० दयानन्दजीका यह त्रित्व सिद्धान्त ठीक नहीं है। आप फिर एकत्ववादी हुए तो आपको सिद्ध करना होगा कि श्री स्वा० शंकराचार्य स्वीकृत एकत्ववादको मानते हैं। जैसा कि आरंभमें ' अधिपुरुष ' विराट्को ईश्वर लिखा है। जैसा कि श्री स्वा० शंकराचार्यजी सबल ब्रह्म (ईश्वर) मानते हैं, या आप श्री वल्लभाचार्य स्वीकृत शुद्धाद्वैतको मानते हैं, या दूसरे आचार्योंके सिद्धान्त "विशिष्टाद्वैतको मानते हैं। आपको (श्री-नाथुरामजी) कोई सिद्धान्त स्वीकार करना होगा।

दिसम्बरांक १२ पृ० ४४६ (३) जीवात्माके योनिभेद– " तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यंडजं जीवजं उद्भिज्जम् इति (तै० उ०) जीवजका अर्थ लिखा (जीवजम्) जीवज यानी जीवके शरीरसे जो प्राणी उत्पन्न हो जैसे मनुष्य, पशु आदि।

समीक्षा--इस समय मेरे सामने तैत्तिरीयोपनिषद् कल्याणका उपनिषदाङ्क है उसमें श्री नाथुरामजीका लिखा पाठ नहीं है, और नहीं निर्णयसागर प्रेस बम्बईकी मूलोपनिषद्में है, और न ही यह पाठ आनन्दाश्रम दक्षिणवाली उपनिषद्में है। पता नहीं यह पाठ श्रीमान्‌जीने कहांसे लिखा है। या केवल अपना उल्लू सीधा करनेके लिये पाठकोंकी आंखोंमें धूल डालनेके लिये लिख दिया है। यथार्थ पाठ देखें--

" एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषि इत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमञ्च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम् " ऐतरेयोपनिषद् (अ० ३ । खं० ३)

अर्थ--यह ब्रह्मा है, यह इन्द्र है, यही प्रजापति है यह सब देवता और यह पृथिवी, वायु, आकाश जल और तेज इस प्रकार यह पञ्चमहाभूत यह छोटे छोटे मिले हुए से बीजरूप समस्त हैं और दूसरे (अंडजानि) अंडसे उत्पन्न होनेवाले और (जारुजानि) जेरसे उत्पन्न होनेवाले और (स्वेदजानि) स्वेदसे उत्पन्न होनेवाले (उद्भिज्जानि) पृथिवी फोडकर उत्पन्न होनेवाले और घोडे, गाएं, हाथी, मनुष्य यह जो कुछ भी यह जगत् है और जो कोई भी परोंवाला और जंगम और स्थावर प्राणी समुदाय है और वह सब (प्रज्ञानेत्रम्) प्रज्ञास्वरूप अर्थात् परमात्मासे शक्ति पाकर ही अपने कार्यमें समर्थ होनेवाले हैं। जारुजानि पाठ है न कि जीवजानि। यही क्रम मनुस्मृतिमें तथा अन्य ग्रन्थोंमें पाया जाता है।

श्री नाथुरामजीने अपने प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये उपनिषदोंके वचन स्वीकार किये हैं अतः उनके सन्तोषार्थ एक दो प्रमाण अन्तमें कठोपनिषद्‌के लिख देता हूं। जिन प्रमाणोंसे आत्माका पुनर्जन्म मनुष्योंमें तथा तिर्यगादि योनियोंमें होता है और आत्मा नित्य है यह स्वयं सिद्ध हो जायगा।

" अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादि वेषिकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति। (कठ० २।३।१७) तथा च–

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ
(कठ० २।२।५)

तथा--

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।
(कठ० २।२।७)

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

Regd. No. B 1463

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता--श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकरादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ।।।), डा० व्य० =)

सामवेद कौथुमशाखीयः

ग्रामगेय (वेय प्रकृति) गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् '**प्रकृतिगान**' तथा '**आरण्यकगान**' हैं। **प्रकृतिगानमें अग्निपर्व** (१८१ गान) **ऐन्द्रपर्व** (६३३ गान) तथा '**पवमानपर्व**' (३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। **आरण्यकगानमें अर्कपर्व** (८९ गान), **द्वन्द्वपर्व** (७७ गान) **शुक्रियपर्व** (८४ गान) और **वाचोव्रतपर्व** (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल '**गानमात्र**' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४)रु. तथा डा०व्य०॥)रु.है।

आसन ।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।≈) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- **व० श्री० सातवलेकर**, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, पारडी (जि. सूरत)

अंक ९

१९५०

भाद्रपद २००७

मूल्य आठ आना

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष– स्वाध्याय–मण्डल

वैदिक धर्म

[सितम्बर १९५०]

....

संपादक — पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक — महेशचन्द्रशास्त्री, विद्याभास्कर

स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी जि. सूरत

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष ३१] [अंक ९

विषयानुक्रमणिका

संस्कृत भाषा पचार परीक्षा सम्बन्धी

आवश्यक सूचनायें

२-३ सितंबर १९५० ई० [शनि० रवि०] को होनेवाली संस्कृतभाषा प्रचारसमितिकी परीक्षाका परीक्षा-परिणाम परीक्षा तिथिसे एक मासके अन्दर प्रकाशित हो जावेगा। परिणाम प्रकाशित होते ही केन्द्र-व्यवस्थापकोंकी सेवामें उसे भेज दिया जावेगा। परीक्षार्थी अपने केन्द्रस्थानसे परिणाम जान सकेंगे।

परिणाम प्रकाशित होनेके पश्चात् १५ दिनके अन्दर उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंके प्रमाणपत्र केन्द्रोंमें भेज दिये जावेंगे।

केन्द्र-व्यवस्थापकों एवं संचालकोंसे अनुरोध है कि वे प्रमाणपत्र वितरणके लिये [प्रमाणपत्र मिलनेके १ मासके अन्दर] '**प्रमाणपत्र वितरणोत्सव**' करें तथा एक आकर्षक कार्यक्रमके साथ प्रमाणपत्र वितरित करें।

अपने कार्यक्रमोंकी सूचना हमारे कार्यालयको अवश्य भेजें तथा यावच्छक्य अन्य स्थानीय पत्रोंमें भी अपने प्रचार कार्यका विज्ञापन करें, जिससे अधिकसे अधिक जनता इस शुभ कार्यसे लाभान्वित हो सके।

भवदीय

महेशचन्द्रशास्त्री

परीक्षा-मन्त्री

युध्मो अनर्वा खजकृत्समद्वा शूरःसत्राषाड जनुषेमषाळ्हः
व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजा अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान॥

(ऋ. ७।२०।३)

[युध्मः] योद्धा, [अनर्वा] युद्धसे पराङ्मुख न होनेवाला, [खज-कृत्] युद्धमें लडनेवाला, [समत्-वा] युद्ध करनेमें कुशल, [शूरः] शूर, [सत्रा-षाट्] अनेकों का पराभव करनेवाला,] जनुषा अषाळ्हः] जन्मसे ही स्वभावतः कभी भी पराभूत न होनेवाला, [स्वोजाः] उत्तम प्रकारके बलसे युक्त इन्द्र शत्रुकी [पृतनाः] सेनाको [विआसे] अस्त व्यस्त कर देता है। [अध] और [विश्वं शत्रूयन्तं] शत्रुवत् व्यवहार करनेवाले सम्पूर्ण दुष्टोंको [जघान] मार देता है।

यह इन्द्रका वर्णन है। इन्द्रके वर्णनसे यहाँ वीरोंके गुणोंका वर्णन किया गया है। इन्द्र अर्थात् [इन्+न्द्र] शत्रुका विदारण करनेवाला शूर वीर। यह महान् योद्धा है। युद्धमें डरकर कभी पराङ्मुख नहीं होता। यह अनेक लडाइयाँ लडता है। युद्धमें इसके कौशल्यका अनुभव होता है। यह अनेक वीरोंके साथ एक साथ युद्ध करता है। यह स्वभावत ही पराभूतन होनेवाला, स्वयं की शक्तिसे लडनेवाला, युद्धमें शत्रुके सैनिकोंमें खलबली मचा देनेवाला है। तथा शत्रुवत् व्यवहार करनेवाले सम्पूर्ण दुष्टोंको मारकर राष्ट्रको सुखी किया करता है।

वर्ष ३१

अंक ९

क्रमांक २१, भाद्रपद, विक्रम संवत् २००७, सितम्बर १९५०

वैदिक सम्पत्ति

(नवीन संस्करण)

जिसकी प्रशंसा स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज, स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज... ... आदि अनेक नेताओंने की है, और आर्यसमाज तथा आर्योंके घरघरमें जिसकी कथा होती रहती है। गुरुकुलोंमें, पाठशालाओंमें, कालेज और स्कूलोंमें जिसको स्थान है। उपदेशकों की जो ज्ञान पोथी है। वेद और आर्यत्वका भू-मण्डलमें प्रचार जिसका ध्येय है। जिसकी गतवर्ष तृतीय आवृत्ति छपी थी और एक ही वर्षमें समाप्त होगई। अब चतुर्थ आवृति उत्तम कागजपर शुद्ध और सुन्दर छपाई [जैसी द्वितीय आवृत्ति की हुई थी] के छापनेका प्रबन्ध हुआ है।

साधु, संन्यासीगण, उपदेशक, विद्यार्थियोंको तथा सामान्य जनको भी नवम्बर १९५० तक निम्न लिखित सहूलियत अग्रिम मूल्य भेजने पर दी जायेगी। नवम्बरके पश्चात् यह पुस्तक रियायती मूल्यमें प्राप्त न हो सकेगी।

इस चतुर्थ संस्करणकी केवल २०० प्रतियाँ छपनी हैं। शीघ्रता करें और अपना अपना अग्रिम मूल्य म० आ० द्वारा भेजकर अपना नाम लिखवा ले।

पुस्तक ऋषि-बोधोत्सव के पर्वपर या उससे भी पूर्व छापकर देनेका प्रबन्ध किया है।

१— साधु, सन्यासी, उपदेशक, तथा स्कूल-कॉलेज, गुरुकुल, पाठशालाके विद्यार्थियोंको प्रति पुस्तकका नवम्बर तक अग्रिम मूल्य रु० ३) तथा डाकव्यय रु० १) अलग होगा।

[उपदेशक हैं या नहीं, उसके लिये आर्य समाजका तथा विद्यार्थियोंके लिये प्रिन्सिपाल वा आचार्यका सार्टिफिकेट साथमें आना चाहिये]

२— सामान्य जनको नवम्बर तक अग्रिम मूल्य म० आ० से रु० ५) डाकव्यय रु० १) अलग होगा। जिसके लिये पुस्तक तैयार होनेपर वी० पी० किया जायगा।

पुस्तक पक्की जिल्दमें होगी, परन्तु जिन्हें कपडेकी पक्की सुनहरी अक्षरोंकी जिल्द चाहिये उन्हें रु० १) अधिक देना होगा।

पत्रव्यवहारका पता—
मन्त्री स्वध्याय मण्डल ' आनन्दाश्रम '
किला-पारडी [सूरत]

बा ल--प क्षा घा त

अर्थात्

पोलिओ-माईलीटीस

योगीराज परिव्राजक राजवैद्य— श्री श्रीमत् ब्रह्मचारी गोपाळ चैतन्य देव, पीयूषपाणी, खेतवाडी, मुंबई ४

(२)

बालक पक्षाघात रोगके सम्बंधमें मैं १५।२० वर्षके पहिले बायोकेमिक तथा होमीओपैथिक विज्ञानमें अवश्य पढा था। उक्त विज्ञानमें इस रोगके संम्बंधमें इतना कम विवरण था, जिसे पढकर इस रोगके सम्बंधमें अच्छा ज्ञान उत्पन्न हो ही नहीं सकता। अतः मैंने उस विषयको त्याग ही दिया था।

तत् पश्चात् १९४२ के अप्रेल महीनेकी बात याद आती है। जापानी बोम्बने जब कलकत्तामें अपना प्रताप बताना प्रारंभ किया तब बोम्बेकी वीर--जनताने "चाचा अपनी जान बचा" नीतिकी सहायता लेकर बोम्बेसे भागना शुरु किया। मैं भी उसी भागनेके प्रवाहमें बह गया। सर्व परिवारको साथ लेकर अलीगढ जिलेके गडौला गाँवमें जाकर अपनी जान बचायी।

उक्त अप्रेल महीनेमें मेरे तीन बच्चोंको तीव्र ज्वरके साथ माता निकली, उस प्रदेशमें भी मान्यता है, कि माताकी बीमारीमें इलाज नहीं करना चाहिए, यदि इलाज किया जाय तो जगन्माता नाराज होती है। कितनी मूर्खताकी बात!!! अधिकंतु परम करूणामयी जगन्मातासंबंधी कितना गलत अभिप्राय!! मैंने इस बातको नहीं माना। मेरी मान्यता है, कि माँ या जगन्मता किसी भी कारणसे सन्तानके उपर नाराज नहीं होती है; कदाचित् कार्य कारणवश नारज हो भी जाय तो, नुकसानके बदले लाभ ही पहुँचाती है। अस्तु

वसंत यानी माताकी बीमारी,—चेचक,—यह तो रोग है। अतः शास्त्रानुसार इलाज किया। तीनों बच्चे रोग-मुक्त हो गये, परंतु ज्येष्ठ बच्चा पंगु हो गया-उसके दोनों पैर सुख गये, वह खडा नहीं हो सकता था, चलना तो दूर रहा। हम लोग सब घबडा गये-यह क्या आफत है? घबडानेसे चलेगा नहीं; अतः आयुर्वेद-विज्ञानानुसार उसकी चिकित्सा शुरु की, एवं दोनों पैरोंमें आयुर्वेदीय तैलकी मालिश नियमित करने लगा। उस समय बच्चेकी उम्र ४ वर्षकी थी। पतित-पावन श्री सद्‌गुरुकी असीम अनुकम्पासे ५-६ महीनोंमें वह पूर्ण स्वस्थ हो गया, अब भी पूर्ण स्वस्थ है।

उस समय मैं यह बात एकदम भूल गया था कि यह पोलीओ रोग है। यद्यपि मैंने इससे अनेक वर्ष पहिले पोलीओके सम्बंध में पढा था, उसके बाद भी इस रोगकी याद ही नहीं आई।

गत वर्ष जुलाई महीनेके समाचार पत्रोंमें मालूम हुआ कि बोम्बे नगरीके अनेक शिशु और बालक बालिकाएं पोलीओका शिकार हो गये हैं। इस रोगके लिए सर्व साधारण तो चिंतातुर हो ही गये थे। बोम्बे गवर्नमेण्ट यहाँ तक कि भारत गवर्नमेण्ट भी इस रोगके लिए यथेष्ट चिंतातुर हो गई है।

बोम्बे गवर्नमेण्टने अनेक निष्णात विद्वानोंकी सभा भी भरी थी, भारत गवर्नमेंण्टके आरोग्य मंत्री साहेबके कई उपदेश-वाणी-संवाद-पत्रमें पढनेको मिले। कईएक पोलीओ क्लिनीक भी खोले गये-बडा जोर-सोर मच गया; परंतु सभी "का कस्य परिवेदना" जैसा है। सभी आडम्बर ही आडम्बर है। सच कहा जाय तो लक्ष-लक्ष रूपये खर्च करके भी जहाँके तहाँ ही है। रोग जैसे इने-गिने होता था, - हो रहा है, जो मरनेका था-मर रहा है, जिसे पंगु होनेका था, वह पंगु भी हो रहा है। लाखों खर्चा करके कुछ भी सफलता नहीं मिली।

जब गत वर्ष जुलाईमें इस रोगने हल चल मचा दीया तबसे मैं भी इस पारी रोगका कारण तथा रोग मुक्तिका उपाय अनुसंधानमें तन-मन-धनसे लगा हूं। मेरी गवेषणा आडम्बर शून्य है। पुरा कालके आयुर्वेदज्ञ ऋषि मुनी, योगी जैसा स्थित प्रज्ञकी भाँति इस रोगके सम्बंधमें यथेष्ठ अनुसंधान कर चुके हैं। उसी अनुसंधानका सुधामय फल यह लेख-माला है। यद्यपि

यह लेख सुदीर्घ होगा तथापि मैं तो अवश्य ही सद्गुरुकी अतुल कृपासे बोल सकता हूँ, कि यह अनुभव बातोंसे सर्व साधारणका उपकार तो होगा ही। तदतिरिक्त, डाक्टर वैद्य यानी चिकित्सक वर्गका भी उपकार अवश्य होगा। मैं इण्डियन मेडिकल बोर्डसे भी अनुरोध करता हूँ, कि वे मेरे इस लेखपर ध्यान देंगे तो, उन्हें अनेक नवीन मार्ग-इस रोगका शमन करनेके लिए मिलेंगे तथा वे जो गलत रास्तेपर चल रहे है, उसमें भी सुधार हो जायगा।

मैं इन्डियन मेडिकल बोर्ड तथा पोलीओ क्लिनिक वाले और इस रोगके गवेषणा करनेवाले विज्ञानवेत्ताओंको चेलेन्ज दे कहता हूँ, कि वे मेरी गवेषणामें यदि भूल निकाल देंगे तो मैं सानन्द चित्तसे अपनी भूल स्वीकार कर लूंगा तथा उन्हें पूज्यपाद गुरु बना लूंगा। कदाचित् वे मेरी भूल न निकाल सकें तो कोई हर्ज नहीं है, मुझे गुरु बनानेकी आवश्यकता नहीं है, वे अपनी भूल सुधार लें एवं इससे रोगाक्रांत रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाय, उस ओर तीव्र ध्यान दें।

इन्डियन मेडिकल बोर्ड के मेम्बर डाक्टर, वैद्य, चिकित्सक वर्ग तथा विवेचक मण्डलीके समीप मैं हाथ जोडकर नम्र निवेदन करता हूँ, कि मैं उनका सच्चा सुहृद हूँ। उनके दोष निकालनेके लिए, उनकी गलती निकाल कर उन्हें अपमानित करनेके लिए मेरी लेखनी नहीं चलेगी तथा किसी भी विज्ञान " का दोष निकाल कर उसे पतनकी राहमें धकेल देना भी-मेरी इच्छा नहीं है। चिकित्सा--जगतमें स्थिरताके साथ चलनेसे इस रोगके सम्बंधमें मेरे मनमें जो कुछ शंका उत्पन्न हो गई है, तथा उस शंकाका वास्तवमें सत्य रूपमें अनुभव होता है। उसे मैं अवश्य प्रकाशित करूंगा। उसका उद्देश्य यह है कि विज्ञ चिकित्सक मण्डली तथा गवेषक वर्गको उस शंकासे उत्पन्न असत्य पर वे विचार करेंगे तो, उन्हें भी अवश्यंभावी सच्ची राह मिलेगी। उससे रोगका शमन करनेमें विशेष सुविधा होगी। अतः मेरी लेखनीसे या मेरे भाव-विचार--भाषासे यदि किसीके मनमें रंजकी उत्पत्ति हो जाय तो वे मुझे शत्रु न मानकर, मित्र बना लें एवं मेरी भूल सुधार कर मेरे गुरु बनें, साथ ही मुझे क्षमा करें। अस्तु

इस रोगाक्रांत रोगी जिससे पूर्ण स्वस्थ हो जाय, उसकी दवा तथा चिकित्सा विधिका भी मैं इस लेखमालामें सविस्तार वर्णन करूंगा। किसी बातको भी गुप्त वा अप्रकाश्य नहीं रखूंगा; क्योंकि मैं जानता हूँ कि यह क्षणभंगूर शरीर अवश्य नाश होगा ही, यह चिरस्थायी नहीं है। अतः मेरी इसको गवेषणा फल सर्व--साधारणके उपकारके बदले परलोकमें साथ ले जाना, अधर्म, अन्याय तथा महापाप है। सुतरां गुरु प्रसादामृत ज्ञान प्रकाश कर जाना ही श्रेय है। अस्तु

भाईरास जन्तु तथा रोग-प्रसार।

अमेरिकन विज्ञान-शास्त्रीका मत है, कि " भाईरास " नामक विषाक्त जीवाणु ही इस महा भयंकर रोगके प्रधान कारण है। यह विषाक्त भाईरास जतुं जब तक किसीके शरीरमें प्रवेश नहीं करता है, तब तक इस रोगकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि यह तत्त्व सत्य मान लिया जाय तो, पहिले ही यह प्रश्न मनमें उदय होता है, कि इस भाईरास जन्तुकी उत्पत्ति यानी जन्म सर्व प्रथम कहाँसे तथा कैसे हुआ ? इसका यथार्थ उत्तर आज तक किसी विज्ञानवेत्ताने नहीं प्रकाशित किया है।

मान लिया जाय कि पञ्च-तत्त्व यानी, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाशके संयोग-वियोगसे तथा उन तत्त्वोंमें विकृति उत्पन्न होनेसे इस जीवाणुका उदय हो जाता है, अथवा भोज्य-पदार्थका अपचन रूप रासायनिक क्रियाओंसे भाईरास जन्तुकी उत्पत्ति होती है।

अनेक विज्ञान--शास्त्रीयोंका मत है कि द्वितीय विश्व युद्धके समय जो सब विषाक्त गैसकी उत्पत्ति हुई थी, उसी विषाक्त गेसके कारण इस रोगका उदय हुआ था। जैसा १९१८ में सारे विश्वमें इनफ्लुएन्जा हुआ था यदि ऐसाही हो तो, वह विषाक्त गैस केवल मात्र शिशु--कुमार वर्गको तथा केवल अमेरिका शहरको ही देखता, दूसरे देश एवं दूसरे देशके शिशु--कुमारको नहीं ? द्वितीय विश्व युद्धके समय इन्फ्लुयेञ्जा जैसे महामारी रूपमें प्रकाश पाया था, यह पोलीओ तो वैसा प्रकाश नहीं पाया ? अतः यह विचार असत्य रूपमें प्रतीत होता है।

इस जन्तुका निवास स्थान मानव शरीरमें मेरूदण्डके मध्यस्थ मज्जा एवं तत-संलग्नस्थ स्नायु मण्डलीके केंद्र स्थान कैसा हो सकता है ? सर्व--शरीरके भीतर यह मज्जा तथा स्नायुमण्डलीके केंद्र स्थान अति सुराक्षित हैं इससे सुरक्षित-स्थान शरीरमें और कहीं भी नहीं है।

ऐसे सुरक्षित स्थानमें भाईरास जन्तु पहुँचा कैसे ? शरीरके साथ उक्त पञ्चतत्त्वोंका संयोग नासिका एवं मुख मार्ग तथा

मुखवासे है। शरीरमें भोज्य-वस्तुओंका प्रवेश मार्ग भी मुख-गह्वर ही है। मुख मार्गसे जो कुछ वस्तु शरीरके भीतर प्रवेश करती है वे सभी सर्व प्रथम पाकस्थलीमें जाकर पाचन होता है। यथोचित रूपमें पाचन होनेके बाद उसमें जो सार-वस्तु उत्पन्न होती है। वह अन्त्रस्थ झिल्ली रूप पर्दोंके द्वारा छान कर शरीर ग्रहण करता है एवं उसका जो असार भाग है, वह मल-मूत्र रूपमें बाहर निकाला जाता है।

सारवस्तु जो प्रवाही रूपमें शरीर ग्रहण करता है, वह पाचकाग्नि द्वारा पचित होकर एवं यकृत द्वारा शोधित होकर रक्तमें परिणत होकर फेफड़ामें जाता है। फेफड़ा उसे शुद्ध करके हृदयमें पहुंचा देता है। हृदय उस रक्तको सर्व-शरीरमें भेजता रहता है, उससे रस, रक्त, मांस, मज्जा, शुक्र आदि धातुएँ बनती रहती हैं तथा परिपुष्ट होती रहती हैं।

अब विचार करना चाहिए कि मुखके द्वारा हम जो कुछ भी वस्तु शरीरमें प्रवेश कराते हैं, उन सभीकी सार वस्तु प्रवाही रूपमें शरीर ग्रहण करता है वह भी कई बार छान कर शुद्ध कर ग्रहण करता है। अतः इस भोज्य वस्तुके साथ कदाचित भाईरास जन्तु शरीरमें प्रवेश करे भी तो वह रक्तके साथ आसानीसे मिल नहीं सकता। पहिले ही उसके अन्त्रस्थ विजाणु नाशक हाईड्रोक्लोरिक-एसिड द्वारा नाश न हो जानेकी संभावना रहती है। क्योंकि, हाईड्रोक्लोरिक एसिड अन्त्रस्थ अनेक प्रकारके जन्तुको नाश करनेमें समर्थ है। कोई कोई रोग जन्तु ऐसी मजबूत होता है, जिसे हाईड्रोक्लोरिक ऐसिड भी नाश नहीं कर सकता। जैसा टाईफयेडके जन्तु। अबतक यह निश्चय नहीं हुआ कि हाईड्रोक्लोरिक एसिड भाईरास जन्तुको मारनेमें समर्थ है या नहीं? अतः मुखके द्वारा भाईरास जन्तु अन्त्रस्थ होनेसे भी नुकसान नहीं कर सकता ऐसी मेरी मान्यता है—

भाईरास जन्तुका शरीरमें प्रवेशका दूसरा मार्ग है, नासिका गह्वर। परम करुणामयी प्रकृति माताने नासिक-विवरमें पहिले ही बालके द्वारा अपवित्र वस्तुओंको रोकनेकी व्यवस्था कर रखी है। हम जो श्वास प्रश्वास लेते हैं तथा छोड़ते हैं, उसके लिए योग-शास्त्रमें उक्त है कि—

प्रवेशे दशभिः प्रोक्तो निर्गमे द्वादशाङ्गुलम् ॥

अर्थात् श्वास जब शरीरके भीतर प्रवेश करता है, तब दश अंगुली तक अन्दर जाता है एवं जब बाहर निःश्वास आता है, तब द्वादश अंगुली (१२) तक बाहर चला जाता है। इसके सिवाय रोग, शोक, परिश्रम, रतिक्रिया आदिमें निःश्वासकी गति ३६ अंगुली तक हो जाती है बाहर की ओर श्वासकी गति कितनी ही अधिक हो अन्दर तो केवल १० ही अंगुली तक जाती है। + अस्तु

नासिका मार्गसे भाईरास जन्तु प्रवेश करे तो, पहिले वह नासिका-गह्वरमें जो बाल है, उसमें रुक जाता है। स्वाभाविक नियमसे निःश्वासकी गति बाहरकी तरफ दीर्घ है। अतः उस निःश्वासकी जोर से बालमें लगा हुआ जन्तु बाहर निकल जाता है।

फिर भी यदि कोई जन्तु श्वास की गतिके साथ अन्दर पहुँच जाय तो नासिकाके गह्वरके भीतर कफ रूपी जो चिकना पदार्थ सदा ही रहता है, उसमें वह चिपक जाता है। इतने अवरोधके बाद भी कदाचित् भाईरास जन्तु श्वासके साथ अन्दर पहुँच जाय तो वह पहिले फेफडेमें पहुँच जायगा। फेफडा रक्त शुद्धिका स्थान है। अतः फेफडेमें ही मर जाना चाहिए। यदि नहीं भी मरे तो, वह रक्तके साथ मिलकर सारे शरीरमें भ्रमण कर सकता है। परंतु मेरुदण्डके भीतर जो मज्जा है, वहाँ पहुँच नहीं सकता क्योंकि, मज्जा हड्डीके भीतर रहता है। यह मज्जा क्या वस्तु है, कैसे बनता है, ये सब गंभीर तत्त्व मज्जाके वर्णनके साथ लिखूंगा।

एक ओर जैसा मुखसे भाईरास जन्तु शरीरके भीतर जानेसे ही, वह मेरु दण्डस्थ मज्जामें प्रवेश नहीं कर सकता, उसी प्रकार दूसरी ओर नासिका मार्गसे भी वह जन्तु मेरुदण्डके मज्जामें पहुँच नहीं सकता।

तीसरा मार्ग है त्वचा यानी चमडी। चमडी के ऊपर कहीं घा, फोडे, फुन्सी हो तो एवं यह जन्तु वहाँ पहुँच जाय तो, रक्त के साथ मिलकर जरूर वह शरीरके भीतर पहुँच सकता है। लेकिन शरीरके भीतर पहुँचनेसे ही वह मेरुमध्यस्थ मज्जाके भीतर पहुँच नहीं जाता? अतः यह जन्तु तब कैसे मेरुमध्यस्थ मज्जाके भीतर पहुँच जाता है, यह विशेष गंभीर विचार्य्य विषय है। मैं अपनी भूल संशोधनके

+ श्वास की गतिका नियमादि तथा पवन विजय स्वरोदयकी सर्व क्रियाओंको जानने की इच्छा हो तो "योगीगुरु" पुस्तक पढ़ें। प्राप्ति स्थानः-- पो० हालीसहार चौबीस परगना, बंगाल।

लिए कई एक डाक्टर साहेबसे चर्चा की, कोई भी मुझे समझा नहीं सका।

डाक्टरी मतानुसार रोगके कारण जो विषाक्त, जीवाणु, कीटाणु, बीजाणु होते हैं; वे सभी सजीव होने पर भी निर्जीव जैसे हैं। सजीव बोलनेका मतलव, वह जीन्दा है-रोगी-की संख्या बढाता है। निर्जीव-जैसा बोलनेका मतलव उसे चलने, फिरने, बोलने आदिकी कुछ भी शक्ति नहीं है; तद्रूप उसका नाक-मुख; कान आदि कुछ भी नहीं है। वे दूसरे की सहायतासे संचरण कर सकते है।

एक बात और है कि पोलीओ रोग जब भाईरास जन्तु-जन्य है, तब यह जन्तु आया कहाँ से। अनेक वैज्ञानिकोंका मत ऐसा है, कि वर्तमान समयमें हवाई जहाज के मारफत यह रोग अमेरिका से भारतमें आया है। यदि ऐसा ही मान लिया जाय कि हवाई सहाज, स्टीमर आदि वाहनोंके मार्फत ये जन्तुए भारतवर्षमें अपना अड्डा जमानेके लिए आये हैं, तो, जिनके मार्फत आये हैं, उनको क्यों नहीं होता ? इसके भी उत्तरमें वैज्ञानिक वृन्द चुप हो जाते हैं।

कॉलेरा (हैजा), प्लेग, चेचक आदि रोग जन्तु बहुत जल्दी फैल जाते हैं एवं अल्प समयके भीतर सहस्र सहस्र मानवको अपना शिकार बना लेते हैं-उस समय ये महमारी रूपमें दर्शन देते हैं।

परंतु पोलीओ रोगका जो भाईरास--जन्तु है, वह तो महामारी रूपमें दिखाई नहीं दिया ? गत वर्ष बोम्बे नगरीमें पोलीओंका आक्रमण हुआ। कितना ? ४० लाखकी वस्तीमें ज्यादा से ज्यादा ३००-४०० सो। अमेरिकामें भी। १९१६ में केवल २९००० रोगी हो गये थे तथा १९४७ में २८००० रोगी हो गये थे। वहाँ की जन संख्या कई क्रोड की है। उनमेंसे २८।२९ हजार रोगी सारे वर्षमें होनेसे ही उसे महामारी बोलना संगत है क्या ?

बोम्बे नगरीको ही लीजिए। वर्त्तमान समयमें यहाँ की जन संख्या लग-भग ४०,००००० चालीस लाख की है। उनमेंसे सारे वर्षमें केवल दो चार सो रोगी (पोलीओंके) हो जाय तो उसके लिए सर्व साधारण तथा चिकित्सक वर्ग, साथ ही गवर्नमेंन्टको इतना घबडानेकी जरूरत क्या है ?

प्रतिवर्ष इस बोम्बे नगरीमें टायफॉईड, मैलेरिया, राजयक्ष्मा ब्लड प्रेशर, निमोनियां, हृदय रोगसे जो मृत्यु-संख्या होती है, उसकी संख्या पोलीओसे अधिक नहीं है क्या ? मैं तो यही समझता हूँ, कि सर्व साधारणको घबडाकर चिकित्सक-वर्गकी आमदनी बढानेकी यह भी एक कला है !

प्रति वर्ष राजयक्ष्मासे कितने हजार रोगी अकालमें ही कालके गालमें जा रहे हैं, उसके लिए तो किसीको इतना चिंतातुर देखनेमें नहीं आता है, न गवर्नमेन्टने ही उसके लिए खास कोई विशेष व्यवस्था की है ? बोम्बे नगरीकी इस ४० लाखकी वस्तीकी भलि भाँति परीक्षा की जाय तो कमसे कम २५।३० हजार यक्ष्मा रोगी मिलेंगे; परंतु पोलीओ रोगी मिलेंगे २००-४०० मात्र। अतः पोलीओके लिए इतना आडम्बर करनेके बदले राजयक्ष्मा टाईफोईड आदिके लिए कितना अधिक आडम्बर करना चाहिए ! ये सब बातें विज्ञ मण्डलीने कभी सोची हैं क्या ? कदाचित कागज-पत्रमें सभा समितिमें दो-चार बोली बोलनेके बाद, दूसरे दिन मल-मूत्र त्यागके साथ यह भी त्याग कर देने जैसी बात हैं।

चिकित्सक वर्ग तथा देश हितैषी विज्ञ मण्डली वर्गका कर्तव्य है, कि वे जन साधारणके समीप ऐसी कोई बात न करें, जिससे सर्व साधारण घबडाये। वरना उन्हें उचित है, कि जन साधारणको इस पाजी रोगसे लडनेके लिए सत साहस दें एवं यह भी समझा दें, कि यह चेपी तथा पाजी रोग नहीं है।

डाक्टरी चिकित्साके अनुसार यह असाध्य रोग माना जाता है वास्तवमें यह असाध्य रोग नहीं है। आयुर्वेद मतानुसार यह सुसाध्य तो नहीं कष्टसाध्य रोग अवश्य है। रोगाक्रांतके प्रारंभमें आयुर्वेद चिकित्सा सुचारु रूपमें होनेसे यह रोग सुसाध्य भी हो सकता है।

इस रोगको जटिल तथा दुःसाध्य वा असाध्य बनानेका उत्तरदायित्व डाक्टरी-विज्ञानका ही है। रोगीका मेरु मध्यस्थ मज्जा (जिसे डाक्टरी विज्ञान मेरुस्थजल मानते है) रूपी तरल (प्रवाही) पदार्थ निकालनेसे यह सुसाध्य रोग दुःसाध्य वा असाध्यमें परिणत हो जाता है। यह मेरु मध्यस्थ मज्जा शरीर रक्षाके लिए, डाक्टरी मतानुसार भले ही वह साधारण वस्तु हो सकती है, लेकिन आयुर्वेद मतानुसार वह मज्जारूपीजल शरीर-रक्षाका एक प्रधान उपादान है,—जो रक्तसे भी महामूल्य वस्तु है। यथा समय मैं इस बातको शास्त्रोक्तिके साथ प्रमाणित कर दूंगा। अब देखना है, कि वास्तवमें यह संक्रामक (चेपी) रोग है या नहीं ?

प्राचीन भारतमें मद्यपान-निषेध

लेखक— श्री श्रीजानकीनाथ शर्मा

भारतके निर्माणमन्त्री श्री एन्.वी. गाडगिलने कहा-'आजका दिन बम्बई प्रदेशमें ऐतिहासिक महत्त्वका होगा। अर्थकष्ट होनेपर भी बम्बईसरकारने मद्यपान निषेधका काम उठाकर लोगोंकी नैतिकताको पवित्र बनानेका संकल्प किया है। मैं इस योजनाका स्वागत करता हुआ इसकी सफलता चाहता हूँ।' यह सब ठीक है, पर कहा जाता है- 'पहले अपने यहां शराब पीनेकी मना ही न थी। एक बार दैत्योंने मृतसंजीवनीविद्याप्राप्त्यर्थ शुक्रशिष्य बृहस्पतिके पुत्रको मारकर, उसे पीसकर मदिरामें घोलकर शुक्राचार्यको पिला दिया। तपसे शुक्रने यह व्यवस्था की कि आजसे जो ब्राह्मण मदिरापान करेगा वह धर्महीन इहलोक तथा परलोकमें सर्वत्र निन्दित होगा। तबसे यह मर्यादा बंधी—

यो ब्राह्मणोऽद्य प्रभृतीह कश्चित्, मोहात्सुरां पास्यति मन्दबुद्धिः। अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्यात्, ह्यस्मिल्लोके गर्हितः स्यात्परे च॥, 'मया चेमां ... धर्मोक्तसीमां मर्यादां वै स्थापितां सर्व लोके। सन्तो विप्राः शुश्रुवांसो गुरूणां, देवा दैत्याश्चेह गृह्णन्तु सर्वे॥'

(मत्स्यपुराण २५।६१२, महाभारत, आदिपर्व ७६।६७-६८)

कहते हैं कि यह निषेध भी केवल ब्राह्मणोंके लिए हैं, क्षत्रियोंके लिए तो शुक्र स्पष्ट शब्दोंमें इसका विधान करते हैं-

'प्रतिभां बुद्धिवैशद्यं धैर्यं चित्तविनिश्चयः। तनोति मात्रया पीतं मद्य '........... ॥,

—(शुक्रनीतिसार, ११११५-१६) सचमुच हमारे पूर्वजोंने किसी भी चीजके लिये किसी भी चीजके अन्वय व्यतिरेक दोनों पहलुओंपर इतना विचार किया है कि जिसे देख आश्चर्य चकित रह जाना पडता है। कौटल्यने अपने 'अर्थशास्त्र' के ८ वें अधिकरणके ३ रे अध्यायमें वातव्याधि आचार्यका मत उद्धृत किया हैं। उनके मतसे वे कहते हैं कि मद्यपान करनेसे चित्तकी एकाग्रता होती है और इसलिए इन्द्रियोंको शब्द, गन्ध, रस आदि अर्थोंका अच्छा अनुभव होता है, प्रीतिदान, परिजनोंका सत्कार और अधिक कार्य करनेसे उत्पन्न थकावट दूर हो जाती है। मद्यपानके ये गुण हैं—

'पाने तु शब्दादीनामिन्द्रियार्थानामुपभोगः, प्रीतिदानं परि-जनपूजनं कर्मश्रमवधश्चेति।'(६१)

इतना होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन भारतमें मद्य पीनेकी मना ही न थी। मनुने स्पष्ट लिखा है कि मदिरा अन्नोंका मल है और 'मल' कहते हैं 'पाप' को। इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भूलकर भी मद्य न पियें--

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते। तस्माद् ब्राह्मणराजन्यो वैश्यश्च न सुरां पिबेत॥, -(११।९१)।

'याज्ञवल्क्यस्मृति' के 'मिताक्षरा' -टीकाकार श्रीविज्ञानेश्वरने प्रायश्चित्त-प्रकरणके २५३-५४ श्लोकोंकी टीकामें इसपर बडा ऊहापोह किया है। प्रायः सभी धर्मशास्त्रकारोंने सुरापानको 'महापातक' बताया है और इसके प्रायश्चित्तमें आग

जैसी लहकती हुई सुराको पीकर प्राण त्याग कर देना ही उपाय बतलाया है। 'मनु' ने एतदर्थ पानी, घी, गोमूत्र और दूधमें किसी एकको अग्निवर्ण (आग जैसा गरम) पीकर प्राण त्याग देना प्रायश्चित्त बतलाया है—

'सुराम्बुघृतगोमूत्र-पयसामग्निसन्निभम्।
सुरापोऽन्यतमं पीत्वा मरणाच्छुद्धिमृच्छति ॥'

पैठीनसीके (३।२५३)।

'सुराप आर्द्र वासाश्च अग्निवर्णां सुरां पिबेत्।'

इस वचनसे मालूम होता है कि उक्त प्रायश्चित गीले वस्त्रोंसे ही करना चाहिये। 'प्राचेतसस्मृति' भी यही कहती है, पर उसकी यह विशेषता है कि वह लोहे या तांबेके पात्रोंमें पीना बतलाती है—

'लोहेन ताम्रेण सुरापोऽग्निवर्णां सुरामायसेन पात्रेण ताम्रेण वा पिबेत्।'

किंतु यह सब प्रायश्चित एक ही बार मद्यपानके लिए कहा गया है जैसा कि 'आङ्गिरसस्मृति' के इस वचनसे स्पष्ट है-

सुरापानं सकृत्कृत्वाग्निवर्णां सुरां पिबेत् ॥'

'वशिष्ठ' ने जो एकाधिक बार सुरापानका प्रायश्चित्त बतलाया है वह सुराभिन्न मद्यविषयक है, कारण 'बृहस्पति' ने इसे स्पष्ट शब्दोंमें घोषित किया है—

'सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिक्षिपेत्
मुखे तया विनिक्षिप्ते मृतः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥'

यहां यह भी एक विचारणीय बात है कि 'सुरा' शब्द मद्यमात्रका द्योतक है या केवल तीन–गौडी, माध्वी और पैष्टिका या केवल पैष्टिका ही? कुछ लोग 'मद्यमात्र' में इसे रुढ बतलाते हैं, क्योंकि उपर्युक्त वशिष्ठवचनमें पैष्ट्यादि मद्यत्रयव्यतिरिक्तमें भी इसका प्रयोग हुआ है। यह गौण प्रयोग है, ऐसी शंका भी ठीक नहीं, कारण मादकता होनेसे सभी मुख्य है।' किंतु यह उचित नहीं जँचता, क्योंकि 'पुलस्त्य' ने सुराको सर्वाधम १२ वां मद्य बतलाया है—

'पानकं द्राक्षमाधूकं खार्जूरं तालमैक्षवम्।
मधुकं सैरमारिष्टं मैरयं नारिकेलजम्।
समानानि विजानीयेत् मद्यान्येकादशैव तु।
द्वादशं तु सुरा मद्य सर्वेषां प्रथमं स्मृतम् ॥'

कई लोग 'मनुके– 'गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।' के अनुसार गुड मधूक वृक्ष और पिष्टकी बनी इन तीनोंको ही मुख्य सुरा मानते हैं। पर सचमुच उपर्युक्त प्रायश्चित्त केवल पैष्टीके लिए हैं यह 'कुल्लूक भट्ट' और गोविंदराजने—

'सुराशब्दः पैष्टीमात्रे मुख्यो न तु गौडीमाध्वी-पैष्टीषु।'

इन शब्दोंमें स्पष्ट किया है। 'भविष्य पुराणका भी कहना है कि पैष्टी ही मुख्य सुरा है—

'सुरा च पैष्टीमात्रोक्ता न तस्यास्त्वितरे समे।
पैष्ट्याः पापेन चैनांसि प्रायश्चित्तं निबोधत ॥'

'अग्निपुराण' का भी यही मत है (देखिये-१७३।२१-२३)। वैसे तो मद्य सभी द्विजातियोंके लिए निषिद्ध है पर ब्राह्मणोंके लिए इसका आत्यधिक निषेध है। 'विष्णु' कहते हैं कि मधु, इक्षु, सीरा, ताल, खजूर, पनस, मधूक, माध्वीक, मैरेय एवं नारिकेलसे उत्पन्न ये दशाविध मदिराएँ ब्राह्मणोंके लिए अत्यन्त त्याज्य है--

'माधूकं भैक्ष्यं सैरं च तालं खर्जूरपानसम्।
मधूत्थं चैव माध्वीकं मैरेयं नारिकेलजम्।
अमेध्यानि दशैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्य तु ॥'

'याज्ञवल्क्य' ने लिखा है कि ब्राह्मणी यदि सुरापान करती है तो वह पतिलोकको नहीं जाती और कुतिया, गीधनी और शूकरी होकर जन्म लेती है-

'पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत्।
···सा शुनी गृध्री शूकरी चैव जायते।' (३।२५६)

'बौधायन' ने अनजानमें मदिरा पी लेनेपर 'पुनः संस्कार' बतलाया है—

'अगत्या वारुणीं पीत्वा प्राश्य मूत्रपुरीषयोः।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः पुनः संस्कार मर्हति ॥'

(प्रश्न २, अ० १, श्लो० २५) गोस्वामीजीके भी-

'विप्र विवेकी वेदविद, सम्मत साधु सुजाति।
जिमि धोखे मदपानकर, सचिव सोच यहि भांति ॥

इस दोहेसे ऐसा ही तात्पर्य दीखता है।

इतना निषिद्ध होनेपर भी इसका कहीं कहीं विचित्र 'अपवाद' देखनेपर मस्तक चकरा जाता है। सचमुच धर्मकी सूक्ष्मगति हमारे पूर्वजोंको पूरी मालूम थी। 'पुरुष-परीक्षा' की 'शास्त्रविद्या-कथा' में यह प्रसंग आया है कि एक बार एक शिरोवेदनाग्रस्त ब्राह्मण राजा विक्रमादित्यके पास आया और 'त्रायतां देवः' कहकर शरणापन्न हुआ। राजाने 'वहार-मिहिर' नामक ज्योतिषीसे इसका भविष्य पूछा। उन्होंने बताया कि विना मद्यपान किये इसका रोग दूर न होगा, पर पूरे १०० वर्ष जियेगा। फिर 'हरिश्चन्द्र' नामक वैद्यको बताकर राजाने पूछा कि इसकी क्या चिकित्सा हो? वैद्यने कहा कि इसके सिरमें वज्रकीट है। न तो वह आगसे जलता है, न लोहेसे कटता और न जलसे क्लेदित होता है। वह केवल मद्यसे ही मरता है। बस, इसकी मदिरापान ही दवा है। राजाने कहा-ब्राह्मणको मदिरा? तब उसने धर्मशास्त्रज्ञ शबरस्वामीको बुलाया और पूछा कि यहां क्या होना चाहिये? आचार्यने कहा एकमात्र मद्यपानसे साध्य होनेपर और अन्यथा सर्वथा असाध्य प्राणरक्षार्थ ब्राह्मणका मद्यपान करना पापकर न होगा। वैद्यने कहा कि यदि देह मदिरापानके सिवा अन्य उपायसे जी सकता हो तो मुझे ही पाप लगेगा। कहते हैं कि इसपर आकाशवाणी हुई कि 'रे शबर, साहस मत कर।, पर शबर स्वामीने कहा कि 'रे ब्राह्मण, तू मद्य पी। यह वाग्देवता वर्ण, वाक्य पद-योजनामें कुशल है, धर्मके तत्त्वको यह क्या जाने? इसपर शबर स्वामीपर पुष्पवृष्टि हुई। मद्यस्वादने दूर रहनेके कारण ब्राह्मणकी नाकसे वज्रकीट मदिरा नाकके पास ले जाते ही गिर पडा। इसपर सारी प्रजा धन्य-धन्य कर उठी-

'धन्यस्त्वं नृपतिर्धरा भगवती धन्यैव धन्याः वयम्
धन्या सर्वगुणान्वितैः सुकृतिभिर्जुष्टा तवेयं सभा।
रुग्भैषज्यबुधो यथार्थवचनः सन्देहनिर्णायकः,
यत्रायं भिषगस्ति यत्र गणको यत्रैव भीमांसकः॥'

जो भी हो, पर मद्यपान तो सर्वथा त्याज्य है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् 'शीलर' का कहना है कि 'मद्य मूर्खता जननके सिवा और कुछ नहीं कर सकता।' 'कामन्दक' के शब्दोंमें, 'कामुकता, बेहोशी, नंगा होना, व्यर्थकी विपत्तिमें पडना, बुद्धिमें भ्रम, अर्थनाश होना, पग-पगपर स्खलित होना ये सब मद्यके ही दुर्गुण हैं। यदुवंसी इसीसे नष्ट हुए। शुक्र अपने शिष्यको भी भोग लगा गये। इसलिए सब कुछ करे, पर मद्य न पिये (१४।५९-६४)।" (सन्मार्गसे)

वेद प्रचार

यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु॥
यजु० २६. २॥

इस मन्त्रके द्वारा प्रत्येक वेदानुयायीको यह कामना करनी चाहिये कि मैं (इमां कल्याणीं वाचं) इस कल्याणी वेदवाणीको (जनेभ्यः) मनुष्यमात्र के लिये (ब्रह्मराजन्यम्यां) ब्राह्मण, क्षत्रिय (च) और (शूद्राय च अर्याय) शूद्र और वैश्य, (स्वाय च अरणाय) अपने और पराये - सबके लिये (यथा) यथावत् (आ वदानि) प्रचार करूं। मैं (इह) इस संसारमें (देवानां) विद्वानोंका तथा (दक्षिणायै दातुः) वृद्धिके लिये देनेवालेका (प्रियः) प्यारा (भूयासं) होऊं। (मे) मेरी (अयं) यह [पिछली] (कामः) कामना (सं ऋध्यतां) सिद्ध होवे। (मा) मुझे (अदः) वह [पहिली कामना] (उप नमतु) सदा प्राप्त रहे।

मन्त्रसे निम्न निष्कर्ष स्पष्ट ध्वनित होते हैं-

(१) मनुष्यमात्रको वेदाध्ययनाधिकार है, चाहे वे किसी भी देश, वर्ण या राष्ट्रीयताके व्यक्ति हों।

(२) प्रत्येक वेदानुयायीको वेद प्रचारक होना चाहिये।

(३) विद्वानों तथा धनवानोंको वेद प्रचारमें पूर्ण सहायता करनी चाहिये।

(४) वेदप्रचारकोंका धनवानों तथा विद्वानोंपर प्रभाव होना चाहिये।

(५) प्रत्येक वेदानुयायी प्रचारककी ऐसी उत्तम नीति होनी चाहिये कि विद्वान और धनवान् उसका आदर करें।

(६) वेद प्रचारकमें वेद प्रचारकी अभिलाषा सदा सजीव बनी रहनी चाहिये।

अधिकार योग्यता पर आश्रित होता है। प्रत्येक स्त्री, पुरुष जो देखने, सुनने, बोलने और समझनेकी क्षमता रखता है, स्वभावतः वेदाध्ययनाधिकारी है। परन्तु केवल अधिकारोंकी घोषणा तथा कामनासे ही वेदोंका व्यापक प्रचार नहीं हो सकता। तदर्थ साधारण नहीं, असाधारण श्रम करना पडेगा।

वेदकी शिक्षाओंको जन साधारण तक पहुंचानेके लिये हमें वेदोंका जनसाधारणकी भाषामें अनुवाद और व्याख्यान करना चाहिये और साथ ही यह प्रयत्न भी होना चाहिये कि जनसाधारणमें देववाणी [संस्कृत] का भी प्रसार तथा प्रचलन हो, क्योंकि संस्कृतकी व्याप्ति के बिना वेद प्रचारमें स्थायित्व नहीं आ सकता।

प्रत्येक उस व्यक्तिको, जो वेद तथा संस्कृतका साधारण भी ज्ञान रखता है, वेद प्रचार तथा संस्कृत प्रसारके लिये नित्य कुछ न कुछ समय देना ही चाहिये। प्रचार व पढानेका ढंग मनोरंजक, आकर्षक, सरल और न थकानेवाला होना चाहिये। जनसाधारणको स्वर, छन्द, व्याकरण और अन्यान्य सूक्ष्मताओंके झंझटमें उलझानेकी आवश्यकता नहीं है। ये विषय तो गुरुकुलों, विद्यालयों और विश्वविद्यालयोंके लिये हैं। जनसाधारणमें वेदप्रचार तथा संस्कृत प्रसार दैनिक व्यावहारिक पद्धतिसे ही होना सम्भव है।

वेद पढिये और पढाइये, संस्कृत सीखिये और सिखाइये। मनुष्यमात्रमें वेद प्रचार तथा संस्कृत प्रसार इसी रीतिसे हो सकेगा अन्यथा नहीं। इस सम्बन्धमें विद्वानोंको व्यक्तिशः विशेष प्रयत्न करना है। उन्हें वेदोंको जनसाधारणकी पहुंचमें लानेका प्रयास करना है। इतिहास हठीला है और उसकी पुनरावृत्तिको कोई रोक नहीं सकता। रूढिवाद, कट्टरता और क्लिष्टताके कारण ही वेद और संस्कृतका संकोच हुआ था और यदि इन तीनोंको हमने दूर न किया तो वाणिद्वय [वेदवाणी और देववाणी] का विकास नहीं, संकोच ही होगा। अतः विद्वानोंको चाहिये कि वे मनोवैज्ञानिक रीतिसे नवीन नवीन पाठ-पद्धतियोंका परीक्षण और आविष्कार करते करते वेद और संस्कृतके पठन पाठन तथा अध्ययन अध्यापनको दिन प्रतिदिन सरल, सुबोध और सुपाठ्य बनायें।

मनुज मात्र में इस कल्याणी, वाणीका प्रचार करें।
हो साचार पठन वेदोंका, तदनुसार आचार करें॥
सरल सुबोध्य सुपाठ्य, पाठ पद्धतियां आविष्कार करें
वे 'विदेह' विद्वान् धन्य, यों वेदों का प्रसार करें॥

आचार्य विद्यानन्दविदेह
अध्यक्ष, वेद संस्थान, अजमेर

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

वसिष्ठ ऋषिका दर्शन

सप्तमं मण्डलम् ।

(ऋग्वेदके ५१-५६ अनुवाक)

अनुवाक ५१ वाँ

अग्नि प्रकरण

(१) २५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । विराट्, १९-२५ त्रिष्टुप् ।

१ अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम् । दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम् १

[१] (नरः प्रशस्तं दूरेदृशं) नेता लोग प्रशंसा करने योग्य, दूरदर्शी (गृहपतिं अथर्युं) अपने घरोंका पालन करनेवाले प्रगतिशील (अग्निं) अग्निको (अरण्योः) दोनों अरणियोंमेंसे (हस्त-च्युती) हाथोंकी कुशलतासे (दीधितिभिः जनयन्त) अपनी अंगुलियोंके द्वारा निर्माण करते हैं।

मानव धर्म— नेता लोग प्रशंसा योग्य, दूरदर्शी, अपने घरोंकी सुरक्षा करनेमें समर्थ, प्रगतिशील अग्रणिको प्रकाशित करते हैं । उसके निज तेजसे ही वह प्रकाशित होता है, उसको अपने प्रयत्नसे आगे बढावें ।

मनुष्य (नरः) नेतृत्व करे, लोगोंको प्रशस्त मार्गसे चलावे, (दूरे दृशं) दूरदर्शी हो, दूरसे भी जिसका नाम सुनाई देता है, अथवा दूरसे भी जिसको दीखता है, भविष्यमें होनेवाली बातें जो स्वयं पहिले ही जानता है ऐसा दूरदर्शी हो, (गृह-पतिं) अपने घर, अपने प्रदेश, अपने राष्ट्रका संरक्षण करनेमें समर्थ हो, संरक्षणकी शक्ति अपनेमें रखे और बढावे, (अ-थर्युं) प्रगतिशील हो, पर वह शक्ति उसके अंदर गुप्त रहे, न्यून न होती रहे, ऐसा (अग्निं) अग्रणी हो। (अग्निः अग्रं नयति) जो अन्ततक पहुंचाता है उसको अग्रणी कहते हैं। जो बीचमें ही छोडकर चला न जावे, सहारा देकर अन्ततक सब कार्यका संचालन करे । अग्नि जैसा अपने प्रकाशसे दूसरोंको मार्ग दर्शाता है, उत्साह ठंडा पडने नहीं देता और सदा प्रगतिशील रहता है वैसा नेता, जनताको मार्ग बतावे, सिद्धि-तक आगे ले जावे, उत्साह बढाता रहे। ऐसे अग्रणीको नेता लोग उसके तेजसे प्रकाशित करें, यह नेता है ऐसा प्रसिद्ध करें । अपने प्रयत्नोंसे उसको बढावें और ऐसे पुरुषकी ही (प्रशस्तं) प्रशंसा करते रहें ।

२ तमग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन् त्सुप्रतिचक्षमवसे कुतश्चित् । दक्षाय्यो यो दम आस नित्यः २
३ प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नो ऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ । त्वां शश्वन्त उप यन्ति वाजाः ३
४ प्र ते अग्नयोऽग्निभ्यो वरं निः सुवीरासः शोशुचन्त द्युमन्तः । यत्रा नरः समासते सुजाताः ४
५ दा नो अग्ने धिया रयिं सुवीरं स्वपत्यं सहस्य प्रशस्तम् । न यं यावा तरति यातुमावान् ५

---

[२] (यः दक्षाय्यः) जो दक्ष रहनेवाला अथवा बलवान् (नित्यः दमे आस) सदा अपने स्थानमें रहता था, (तं सुप्रतिचक्षं अग्निं) उस उत्तम दर्शनीय अग्निको (कुतः चित्) सब ओरसे (अवसे) सबकी सुरक्षा करनेके लिये (वसवः) निवास कर्ताओंने (अस्ते नि ऋण्वन्) अपने घरमें, रहनेके स्थानमें लाकर रख दिया ।

मानव धर्म—बलवान पुरुष सदा अपने घरमें रहे और घरकी सुरक्षा दक्षतासे करता रहे । ऐसे वीर पुरुषको सब ओरसे अपनी सुरक्षा करनेके लिये आदरसे लावें और महत्त्वके स्थानपर रखें अर्थात् निवास करनेवाले नागरिक ऐसे पुरुषको सुरक्षाके कार्य में नियुक्त करें ।

जो (दक्षाय्यः) बलके कारण सत्कार करने योग्य है, जो (नित्यः दमे आस) जो सदा अपनें घरमें रहकर घरकी सुरक्षा करता था, ऐसे दर्शनीय वीर अग्रणीको (वसवः) निवास करनेवाले, जनताका निवास सुरक्षासे करनेवाले नेता लोग (कुतः चित् अवसे) किसी स्थानसे भय न हो और सब ओरसे सुरक्षा हो इसलिये (अस्ते नि ऋण्वन्) अपने घरमें, स्थानमें, प्रदेशमें लायें और महत्त्वके स्थानपर रखें । और ऐसे वीरसे प्रदेशको सुरक्षित करें । जिससे सब लोग सुख शान्तिसे निवास कर सकें ।

[३] हे (यविष्ठ अग्ने) तरुण अग्ने ! (प्र इद्धः अजस्रया सूर्म्या) प्रदीप्त होकर प्रचण्ड ज्वालाओंसे (नः पुरः दीदिहि) हमारे सन्मुख प्रकाशित हो । (त्वां शश्वन्तः वाजाः उपयान्ति) तेरे पास बहुत अन्न और बल आते रहते हैं ।

मानव धर्म—तरुण अग्रणि अपने अतुल तेजसे प्रकाशित होता रहे । जो ऐसा तेजस्वी होगा, उसके पास अन्न और बल स्वयं उपस्थित होते रहेंगे ।

जो बलवान और तेजस्वी होगा उसके पास अन्न और बल स्वयं उपस्थित होंगे, उसके पास धनवान् और बलवान वीर आयेंगे और इससे उसका बल अधिकाधिक बढता जायगा ।

[४] (अग्निभ्यः वरं द्युमन्तः) अग्नियोंसे भी अधिक तेजस्वी (ते सुवीरासः अग्नयः) वे उत्तम वीररूप अग्नि (प्र निः शोशुचन्त) विशेष रीतिसे अधिक प्रकाशित होते हैं । (यत्र सुजाताः नरः) जहां उत्तम कुलीन वीर (सं आसते) संगठित होकर बैठते हैं ।

मानव धर्म— जहां उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए वीर उत्तम रीतिसे संगठित होकर रहते हैं, वहां उत्तम वीर अग्निसे भी अधिक तेजस्वी होकर प्रकाशते हैं । (अतः वीर अपना संगठन करें । एक विचारसे कार्य करें और उत्तम वीरोंको अधिक वीरता करनेके लिये अवसर दें ।)

इस मंत्रके स्मरण करने योग्य वाक्य—

१ **अग्निभ्यः वरं द्युमन्तः सुवीरासः**—अग्निसे भी अधिक तेजस्वी हमारे वीर हों । हमारे पुत्र पौत्र ऐसे वीर हों कि जो अग्निसे भी अधिक तेजस्वी हों ।

२ **सुजाताः नरः समासते**— उत्तम कुलीन पुरुष एक स्थानपर बैठते हैं । एक स्थानपर बैठकर अपनी संघटना करते हैं ।

३ **सुवीरासः प्र निः शोशुचन्त**—उत्तम वीर ही निःसंदेह चमकते हैं । उत्तम वीर यशस्वी होते हैं ।

[५] हे (सहस्य अग्ने) शत्रुका पराभव करनेमें कुशल अग्ने ! (नः) हमें (सुवीरं स्वपत्यं प्रशस्तं रयिं) जिसके साथ वीर हों, उत्तम संतति हो, ऐसे प्रशंसित धनको (धिया दाः) बुद्धिके साथ दो । (यं यातुमावान् यावा न तरति) जिसको हिंसक शत्रु कभी बाधा नहीं कर सकता ।

मानव धर्म—शत्रुका पराभव करनेका बल प्राप्त करो । धन ऐसा प्राप्त करो कि जिसके साथ वीर पुरुष हों, वीर संतति हो और जिसकी प्रशंसा होती हो ॥

६ उप यमेति युवतिः सुदक्षं दोषा वस्तोर्हविष्मती घृताची। उप स्वैनमरमतिर्वसूयुः ६

७ विश्वा अग्नेऽप दहारातीर्येभिस्तपोभिरदहो जरूथम्। प्र निस्वरं चातयस्वामीवाम् ७

जिसके साथ वीर पुरुष तथा वीर संतति नहीं होती, वह धन अपने पास रहेगा भी नहीं। इसी तरह धन प्रशंसित हो। जिसकी निंदा होती है वैसा धन न हो अर्थात् निंदनीय साधनोंसे धन प्राप्त किया न हो। इसी तरह धनके साथ बुद्धिमत्ता भी रहे। निर्बुद्धका धन बुरे व्यवहारमें व्यर्थ खर्च होता है। धन ऐसा हो कि जिसको डाकू चोर या शत्रु न लूट सकें। अर्थात् धनके संरक्षणका पूरा साधन अपने पास रहे।

स्मरण रखने योग्य वचन—

१ सुवीरं स्वपत्यं प्रशस्तं रयिं धिया नः दाः— उत्तम वीरोंसे तथा उत्तम वीर संतानोंसे युक्त यशस्वी धन बुद्धिके साथ हमें दे।

२ यातुमावान् यावा यं रयिं न तरति— हिंसक डाकू जिसको लूट नहीं सकता ऐसा धन हमें चाहिये अर्थात् उसके संरक्षण का बल भी हमारे पास चाहिये।

[६] (यं सुदक्षं) जिस उत्तम बलवानके पास (हविष्मती घृताची युवतिः) अन्नवाली घृत परोसनेवाली तरुणी (दोषा वस्तोः) रात्रीके और दिनके समय (उप एति) जाती है, (एनं स्वा वसूयुः अरमतिः उपैति) उसके पास धनके साथ रहनेवाली बुद्धि भी होती है।

मानव धर्म—बलवान तरुणके पास घी और अन्न लेकर तरुणी रात और दिन जाती है, वैसी ही उसके साथ धन प्राप्त करनेकी बुद्धि भी होती है।

यहां अग्निको तरुण वीर कहा है और ऐसा कहा है कि उसके पास जुहू घी और अन्न लेकर हवनकी आहुति डालनेके लिये जाती है। इससे तरुण पुरुष पर आसक्त होकर प्रेमसे पौष्टिक अन्न तथा उत्तम घी लेकर तरुणी जाती है ऐसा सूचित किया है। यह उत्तम आलंकारिक वर्णन है। उस वीरके पास धन प्राप्त करनेकी बुद्धि भी होती है। जो तरुण बलवान् तथा बुद्धिमान होता है उसपर तरुण स्त्री प्रेम करती है।

स्मरणीय वचन—

१ वसूयुः अरमतिः एनं उपैति, सुदक्षं युवतिः उपैति— धन प्राप्त करनेकी उत्तम बुद्धि जिसके पास होती है उस उत्तम बलवान् तरुण पुरुषके पास तरुणी जाती है। अर्थात् निर्बुद्ध और निर्बल मनुष्यको तरुणी नहीं चाहती। इसलिये मनुष्य बुद्धिमान और बलवान बनें।

[७] हे अग्ने! (विश्वाः अरातीः तपोभिः अप दह) सब शत्रुओंको अपने तेजोंसे जला दो, (येभिः जरूथं अदहः) जिनसे कठोर भाषी शत्रुको तूने जलाया था, तथा (अमीवां निःस्वरं प्र चातयस्व) रोगोंको निःशेष रीतिसे हटा दो।

मानवधर्म— अपने तेजोंसे ही शत्रुओंको दूर करना, कठोरभाषी को हटाना और रोगोंको भी दूर करना चाहिये।

कठोर भाषी शत्रुको अपने तेजसे ही लज्जित करना योग्य है। इसी तरह अपने तेजोंसे ही शत्रुओंको निस्तेज करना, जलाकर भस्म करना। रोगोंको भी अपने आन्तारिक जीवन-तेजसे दूर करना। अन्दरका जीवनरस जिसके अन्दर प्रबल होता है उसके शरीरमें रोग घुस नहीं सकते।

स्मरणीय वचन—

१ विश्वाः अरातिः तेजोभिः अपदह— सब शत्रुओंको अपने तेजोंसे जला दो।

२ जरूथं अदहः— कठोरभाषी, असत्यवादी, को दूर कर।

३ अमीवां प्रचातयस्व— रोगोंको हटादो,

'अमी-वा' आमसे, अन्नके अपचनसे, होनेवाले रोगोंको अमीवा कहते हैं। इन रोगों और शत्रुओंको दूर करनेकी युक्ति अपना तेज बढाना है।

४ निःस्वरं चातयस्व— चुपचाप शत्रु दूर हो जाय ऐसा कर। अपना तेज बढ जानेसे शत्रु स्वयं दूर होते हैं।

*

८ आ यस्ते अग्न इधते अनीकं वसिष्ठ शुक्र दीदिवः पावक । उतो न एभिः स्तवथैरिह स्याः ॥ ८
९ वि ये ते अग्ने भेजिरे अनीकं मर्ता नरः पित्र्यासः पुरुत्रा । उतो न एभिः सुमना इह स्याः ॥ ९
१० इमे नरो वृत्रहत्येषु शूरा विश्वा अदेवीरभि सन्तु मायाः । ये मे धियं पनयन्त प्रशस्ताम् ॥ १०
११ मा शूने अग्ने नि षदाम नृणां माशेषसोऽवीरता परि त्वा । प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य ११

---

[८] हे (वसिष्ठ शुक्र दीदिवः पावक अग्ने) हे निवास हेतु शुद्ध तेजस्वी पवित्रता करनेवाले अग्ने ! (यः ते अनीकं आ एधते) जो तेरे तेजको प्रदीप्त करता है; उन (नः उतो एभिः स्तवथैः इह स्याः) हम सबके पास इन प्रशंसा स्तोत्रोंके साथ आकर यहां रह ।

मानव धर्म-- लोगोंका उत्तम निवास करनेवाला स्वयं शुद्ध और पवित्र, स्वयं तेजस्वी, सबकी पवित्रता करनेवाला वीर अग्निके समान तेजस्वी होता है। इसका सैन्य या बल इसका सामर्थ्य ही है। ऐसे तेजस्वी पुरुषकी प्रशंसा सब करते हैं और यह अपने पास आकर रहे ऐसा भी चाहते हैं।

जैसा अग्नि (वासिष्ठ) सबका निवास करता है, (शुक्र दीदिवः) पवित्र, बलिष्ठ और तेजस्वी होता है और (पावक) सर्वत्र पवित्रता करता है । वैसा मनुष्य अग्निके समान तेजस्वी होवे। जैसा (अनीकं आ एधते) बल तथा सैन्य बढाया जाता है, वैसा मनुष्य अपना बल बढावे । ऐसा वीर (नः इह स्याः) हमारे समाजमें आकर यहां रहे । क्योंकि इससे सबका निवास उत्तम होगा, सबकी पवित्रता और तेजस्विता बढेगी और स्वच्छता होगी । रक्षक सैन्य अधिक बढनेसे सबकी सुरक्षा होगी । इसलिये सभी चाहेंगे कि यह वीर हमारे पास आकर हमारे समाजमें रहे ।

[९] हे अग्ने ! (ते अनीकं) तेरा तेज, (पित्र्यासः मर्ताः नर) पितरोंका हित करनेवाले मर्त्य लोगोंने (पुरुत्रा विभेजिरे) अनेक स्थानोंमें, अनेक देशोंमें फैलाया है, उनके समान (नः उतो एभिः सुमना इह स्याः) हमारे इन स्तोत्रोंसे प्रसन्न होकर तुम यहां रहो ।

मानव धर्म--अपने उपास्य देवका यश जैसा हमारे पूर्वज पितर नेता लोग देश विदेशमें फैलाते थे । वैसा हमें भी करना उचित है । ऐसा करनेसे प्रभुकी प्रसन्नता होगी।

देश विदेशमें धर्मका प्रचार करना चाहिये और सबको आर्य बनाना चाहिये

[१०] (ये मे प्रशस्तां धियं पनयन्त) जो मेरी प्रशंसनीय बुद्धि की स्तुति करते हैं, (इमे नरः वृत्रहत्येषु शूराः) वे ये नेता वृत्र वध करनेके लिये शुरू किये युद्धमें शूरवीरता करनेवाले वीर पुरुष (अदेवीः विश्वाः मायाः अभि सन्तु) सब आसुरी कपटोंको पराभूत करें ॥

मानव धर्म—प्रसंशा योग्य बुद्धि तथा कर्मकी सब लोग प्रशंसा करें । युद्धोंके अन्दर उपस्थित शूरवीर नेता असुरोंके शत्रुपक्षके सब कपटजालोंको दूर करके अपना विजय हो ऐसा प्रयत्न करें ।

संस्मरणीय वचन—

१ प्रशस्तां धियं पनयन्त—प्रशंसा योग्य बुद्धिकी तथा वैसे कर्मकी प्रशंसा करो,

२ शूराः नरः अदेवीः मायाः अभिसन्तु—शूर नेता आसुरी कपट जालोंको दूर करें, उनमें न फंसे ।

[११] हे अग्ने । (शूने मा नि सदाम) पुत्र पौत्रादि रहित शून्य घरमें हम न रहें। हे (दुर्य) घरके लिये हित कर्ता ! (नृणां) मनुष्योंके बीचमें हम ही (अ-शेषसः अवीरता मा) पुत्र पौत्र रहित तथा वीरता रहित न रहें। प्रजावतीषु दुर्यासु त्वा परि) पुत्र पौत्रादिकोंसे युक्त घरोंमें हम तेरी उपासना करते हुए रहें।

मानव धर्म—पुत्र रहित घरमें हमें रहना न पडे । हमारे पुत्र पौत्र हमारे घरमें हों । और बाहर भी जहां हमें रहना पडे, वहां भी पुत्र पौत्रोंसे भरे घर हों । पुत्र रहित तथा वीरतारहित जीवन बुरा है । पुत्र पौत्रोंसे युक्त घरमें रह कर हम प्रभुकी भक्ति करेंगे ।

१२ यमश्वी नित्यमुपयाति यज्ञं प्रजावन्तं स्वपत्यं क्षयं नः। स्वजन्मना शेषसा वावृधानम् १२
१३ पाहि नो अग्ने रक्षसो अजुष्टात् पाहि धूर्तेररुषो अघायोः। त्वा युजा पृतनायूँरभि ष्याम् १३
१४ सेदग्निरग्नीँरत्यस्त्वन्यान् यत्र वाजी तनयो वीळुपाणिः। सहस्रपाथा अक्षरा समेति १४

स्मरण रखने योग्य वाक्य—

आदर्श गृहस्थीका घर

१ **शूने मा निसदाम**—पुत्र पौत्र रहित, संतान हीन घर-में हम न रहें। हम ऐसे घरोंमें रहें कि जहां पुत्र पौत्र प्रपौत्र बहुत हों। पुत्रोंसे घर भरे हुए हों।

२ **नृणां अशेषसः अवीरता मा**—मनुष्योंमें पुत्ररहित तथा वीरता रहित जीवन बहुत बुरा है, वैसा जीवन हमें कभी प्राप्त न हो।

३ **नृणां मा निसदाम**--दूसरे मनुष्योंके घरमें रहनेका अवसर हमें न प्राप्त हो। हम अपने घरमें रहें। रहनेका घर अपना हो।

४ **प्रजावतीषु दुर्यासु त्वा परि निसदाम**-- संतानोंसे युक्त घरोंमें प्रभुकी उपासना करते हुए हम रहें।

घरमें संतान अवश्य हों। '**दशास्यां पुत्रानाधेहि**'-दस पुत्र संतान हों ऐसा वेदमें अन्यत्र कहा है। इसके अतिरिक्त पुत्रियां भी होनी चाहिये। ऐसी संतानोंसे घर भरे हों। यह वैदिक आदर्श गृहस्थीका घर है।

[११] (यं यज्ञं अश्वी नित्यं उपयाति) जिसके पास पूजनीय अश्वारूढ अग्नि जैसा तेजस्वी वीर जाता है (तं प्रजावन्तं स्वपत्यं) वैसा प्रजावाला उत्तम संतानवाला (स्वजन्मना शेषसा वव्रधानं) अपनेसे उत्पन्न हुए औरस संतानसे बढनेवाला (क्षयं नः देहि) घर हमें दो।

मानव धर्म--घर ऐसे हों कि जो पुत्र पौत्रादि संतानोंसे युक्त हों, अपने घरमें अपने औरस संतान हों, और घर औरस संतानोंसे बढनेवाले हों।

दत्तक संतान दूसरेसे लेनी न पडे। अपने घरमें औरस संतान हों और घर उनसे बढनेवाला हो।

स्मरण रखने योग्य वचन—

१ **अश्वी यं नित्यं उपयाति**--अश्वारूढ वीर जहां नित्य आते जाते हों ऐसे घर हों।

२ **प्रजावंतं स्वपत्यं स्वजन्मना शेषसा वव्रधानं क्षयं**--सेवकोंसे युक्त उत्तम बालकोंसे युक्त, औरस संतानसे बढनेवाला घर हो।

[१३] हे अग्ने! (अजुष्टात् रक्षसः नः पाहि) संबंध रखनेके लिये अयोग्य ऐसे दुष्ट राक्षसोंसे हमें बचाओ। (अररुषः अघायोः धूर्तेः पाहि) दुष्ट पापी धूर्तसे हमें सुरक्षित कर। (त्वा युजा पृतनायून् अभिस्यां) तुम्हारी सहायतासे सेना लेकर हमला करनेवाले शत्रुका भी हम पराभव करेंगे।

मानव धर्म—राक्षसोंसे अपना बचाव करो, पापी छली दुष्टोंसे अपने आपको सुरक्षित रखो और सेना लेकर आक्रमणकारी शत्रुका पराभव करनेकी तैयारी करो।

शत्रुका नाश करनेकी तैयारी करो।

[१४] (यत्र वाजी वीळुपाणिः) जहां बलवान् सुदृढ शस्त्रधारी (सहस्र-पाथाः तनयः) सहस्रों प्रकारके धनस्रोतोंसे युक्त अपना पुत्र (अक्षरा सं एति) अक्षरोंसे ज्ञानोंसे युक्त होता है--स्तोत्रोंसे अग्निकी उपासना करता है, (स इत् अग्निः) वही अग्नि (अग्नीन् अति अस्तु) अन्य अग्नियोंसे श्रेष्ठ है।

मानव धर्म--अपना औरस पुत्र बलवान् हो, शूर हो, शस्त्रधारी हो, धन अन्न युक्त हो, विद्वान हो ऐसा पुत्र जिस अग्निमें हवन करता है वही अग्नि श्रेष्ठ है।

ऐसा शिक्षाका प्रबंध करना चाहिये कि जिससे अपने औरस पुत्र बलवान् बनें, शूरवीर हों, सुदृढ शस्त्रधारी बनें, धनों अन्नों तथा साधनोंसे संपन्न हों, विशेष विद्वान हों, ऐसे अपने पुत्र जहां हो वही स्थान श्रेष्ठ समझना चाहिये।

१५ सेदग्निर्यो वनुष्यतो निपाति समेद्धारमंहस उरुष्यात् । सुजातासः परि चरन्ति वीराः १५
१६ अयं सो अग्निराहुतः पुरुत्रा यमीशानः समिदिन्धे हविष्मान् । परि यमेत्यध्वरेषु होता १६
१७ त्वे अग्न आहवनानि भूरीशानास आ जुहुयाम नित्या । उभा कृण्वन्तो वहतू मियेधे १७
१८ इमो अग्ने वीततमानि हव्या ऽजस्रो वक्षि देवतातिमच्छ । प्रति न ईं सुरभीणि व्यन्तु १८
१९ मा नो अग्नेऽवीरते परा दा दुर्वाससेऽमतये मा नो अस्यै ।
मा नः क्षुधे मा रक्षस ऋतावो मा नो दमे मा वन आ जुहूर्थाः १९

[१५] (यः समेद्धारं वनुष्यतः निपाति) जो जगानेवालेकी हिंसकसे सुरक्षा करता है, (उरुष्यात् अंहसः निपाति) अधिक पापसे बचाता है, (यं सुजातासः वीराः परिचरन्ति) जिसकी पूजा कुलीन वीर पुत्र करते हैं (सः इत् अग्निः) वही श्रेष्ठ अग्नि है ।

मानव धर्म— जो अपने उद्बोधन कर्ताको सुरक्षित करता है, जो पापसे बचाता है और अपने औरस वीर पुत्र जिसकी पूजा करते हैं वह अग्नि श्रेष्ठ है ।

१ समेद्धारं वनुष्यतः निपाति – जगानेवालेकी हिंसकसे सुरक्षा करो

२ उरुष्यात् पापात् निपाति-पापसे बचाओ,

३ सुजातासः वीराः परिचरन्ति--उत्तम कुलीन वीर पुत्र बैठकर पूजा करें । जहां पुत्र ऐसा करते हैं वह घर श्रेष्ठ है ।

[१६] (यं हविष्मान् ईशानः सं इन्धे) जिसको हविष्यान्न देनेवाला ऐश्वर्यवान् याजक प्रदीप्त करता है, (यं होता अध्वरेषु परि एति) जिसको होता हिंसारहित यज्ञोंमें प्रदक्षिणा करता है (सः अयं अग्निः पुरुत्रा आहुतः) वह यह अग्नि है कि जो बहुतवार आहुतियोंसे हुत हुआ है ॥

[१७] हे अग्ने! (त्वे ईशानासः) तुम्हारी कृपासे धनके स्वामी बने (नित्या उभा वहत् कृण्वन्तः) नित्य करने योग्य दोनों प्रकारके स्तोत्र तथा शस्त्र करनेवाले हम (मियेधे भूरि आहवनानि जुहुयाम) यज्ञमें बहुत प्रकारका हवन तुम्हारे लिये करते हैं ।

सुगंधयुक्त द्रव्योंका हवन

[१८] हे अग्ने ! तू (अजस्रः इमो वीततमानि) अखंडित रीतिसे ये अत्यंत प्रिय (हव्या) हवन द्रव्य (देवतातिं अभि वक्षि) देवताओंके समूहके पास पहुंचावे, (अच्छ गच्छ च) और वहां सीधा जा । (नः ईं सुरभीणि प्रतिव्यन्तु) हमारे ये सुगंधित हविर्द्रव्य प्रत्येक देवताको प्रिय हों ॥

इस मन्त्रमें (सुरभीणि वीततमानि हव्या) सुगंधित, प्रिय और आल्हाददायक हवनीय पदार्थ कहे हैं। इससे हवनीय पदार्थोंमें सुगंधित पदार्थोंका समावेश होता है, यह बात स्पष्ट होती है ।

[१९] हे अग्ने ! (नः अवीरते मा परादाः) हमें पुत्रहीनता न प्राप्त हो । (दुर्वाससे च नः मा परा दा) मलिन वस्त्र परिधान करनेकी अवस्थाको हमें न पहुंचा । (अस्यै अमतये नः मा परा दाः) इस निर्बुद्धताको हमें न पहुंचा । (नः क्षुधे मा) हमें भूखके कष्ट न हों । (मा रक्षसः) राक्षस हम पर हमला न करें । हे (ऋतावः) सत्यवान् अग्ने ! (नः दमे मा) हमें घरमें कष्ट न हों (वने मा आजुहूर्थाः) हमें वनमें कष्ट न हों ।

मानव धर्म—हमारे पास पुत्रहीन अवस्था न आवे। बुरे वस्त्र पहननेकी दुःस्थिति हमें न मिले । निर्बुद्धता हमारे पास न आवे । भूख हमें न सतावे । राक्षस हम पर हमला न करें । हमें घरमें अथवा वनमें कोई कष्ट न हों । हम सर्वत्र प्रसन्न रहें ।

१ नः अवीरता मा परा दाः—पुत्र न होना, वीर संतान न होना, अथवा हमारे पास वीरोंका अभाव होना ये कष्ट

२० नू मे ब्रह्माण्यग्न उच्छशाधि त्वं देव मघवभ्द्यः सुषूदः ।
रातौ स्यामोभयास आ ते यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ २०

२१ त्वमग्ने सुहवो रण्वसंदृक् सुदीती सूनो सहसो दिदीहि ।
मा त्वे सचा तनये नित्य आ धङ्मा वीरो अस्मन्नर्यो वि दासीत् ॥ २१

२२ मा नो अग्ने दुर्भृतये सचैषु देवेद्धेष्वग्निषु प्र वोचः ।

हमारे पास न आजांय । हमें पुत्र हों, वे वीर पुत्र हों और हमारे पास शूरवीर सदा रहें ।

२ **दुर्वाससे नः मा परा दाः**—बुरा वस्त्र पहननेकी अवस्था हमें कभी प्राप्त न हो । करावास, दारिद्र्य आदिके कारण बुरे वस्त्र पहनने होते हैं । यह अवस्था हमें भोगनी न पडे ।

३ **अमतये नः मा परा दाः**— हमारे पास बुद्धि हीनता, भ्रान्ति, विचारमें भ्रम कभी न हो ।

४ **क्षुधे नः मा दाः**—भूख हमें न सतावे, अकाल दुर्भिक्ष हमारे पास न आवे ।

५ **रक्षसः नः मा दाः**—राक्षसोंके अधीन हम न हों, राक्षस हमपर हमला न करें, हमारे राष्ट्रके स्वामी राक्षस न हों ।

६ **दमे वने वा नः मा आजुहूर्थाः**) घरमें अथवा मनमें हमारा घात पात न हो । हम सर्वत्र सुराक्षित रहें । हमारा नाश न हो ।

मनुष्योंको उचित है कि वे इन आपत्तियोंसे अपने आपको बचानेका प्रयत्न करें ।

[२०] हे अग्ने ! (मे ब्रह्माणि नुउत् शशाधि) मेरे लिये अन्नोंको उत्तम प्रकारसे पवित्र कर । हे (देव) तेजस्वी अग्नि देव ! (त्वं मघवद्भ्यः सुषूद) तू हम सब हविर्द्रव्यरूप धनोंको धारण करनेवालोंके लिये अन्नोंको प्रेरित कर । (ते रातौ उभयासः आ स्याम) तेरे दानमें हम दोनों लेनेवाले होकर रहेंगे । (यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पात) आप सदा हमें कल्याण करनेद्वारा सुरक्षित करो ।

मानव धर्म--अन्नोंको परिशुद्ध रीतिसे तैयार करना चाहिये । मलिनता उसमें रखना योग्य नहीं है । अन्नवानों को भी उत्तम अन्न मिलना चाहिये । प्रभुके दानके हम सब भागी हों । हमारा कल्याण हो ऐसी रीतिसे हमारी सुरक्षा हो ।

[२१] हे (सहसः सूनो अग्ने) बलसे उत्पन्न होनेवाले अग्ने ! (सुहवः रण्वसंदृक्) उत्तम प्रार्थित होनेवाला और रमणीय दीखनेवाला तू (सुदीती दिदीहि) ज्वालाओंसे प्रकाशित हो । (तनये नित्ये त्वे सचा) पुत्रके लिये नित्य सहायक होकर (मा आ धक्) उसे मत् जला । (वीरः नर्यः मा असत् वि दासीत्) वीर और मानवोंका हित करनेवाला पुत्र हमसे विनष्ट न हो ।

मानव धर्म—बालकोंकी सहायता करना, बालमृत्यु न हो ऐसा प्रबंध करना, तथा शूरवीर तथा जनताका हित करनेवाले पुत्रको सब प्रकारसे सुरक्षित रखना ।

१ **तनये मा आधक्**—पुत्र जल न मरे । पुत्रका ऐसा संभाल करना चाहिये ।

२ **वीरः नर्यः अस्मत् मा विदासीत्**— वीर और सबका हित करनेवाला पुत्र हमसे दूर न हो ऐसा प्रबंध करना योग्य है ।

३ **सुहवः रण्वसंदृक् सहसः सूनुः**—प्रेमसे बुलाने योग्य तथा रमणीयताका पुतला जैसा पुत्र है जो अपने ही बलसे उत्पन्न हुआ है । अतः उसकी उत्तम पालना होनी चाहिये ।

[२२] हे अग्ने ! (सचा देवेद्धेषु एषु अग्निषु) तू हमारा साथी है अतः तू देवों द्वारा प्रदीप्त किये अग्नियोंको (नः दुर्भृतये मा प्रवोचः) हमारे भरण पोषण न करनेके लिये न कहना । हे (सहसः सूनो) बलसे उत्पन्न होनेवाले पुत्र ! (देवस्य ते दुर्मतयः) प्रकाशमान होनेवाले तेरी बुद्धियां

मा ते अस्मान् दुर्मतयो भृमाच्चिद् देवस्य सूनो सहसो नशन्त ॥ २२

२३ स मर्तो अग्ने स्वनीक रेवानमर्त्ये य आजुहोति हव्यम् ।
स देवता वसुवनिं दधाति यं सूरिरर्थी पृच्छमान एति ॥ २३

२४ महो नो अग्ने सुवितस्य विद्वान् रयिं सूरिभ्य आ वहा बृहन्तम् ।
येन वयं सहसावन् मदेमाऽविक्षितास आयुषा सुवीराः ॥ २४

२५ नू मे ब्रह्माण्यग्न उच्छशाधि त्वं देव मघवद्भ्यः सुषूदः ।
रातौ स्यामोभयास आ ते यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ २५

हमारे विषयमें कदापि दोष युक्त न हों; (भ्रमात् चित् नशंत) भ्रमसे भी हमपर तुम्हारा विरोधी भाव न हो।

मानव धर्म—मित्रको उचित है कि वह अपने मित्र-का भरणपोषण न हो ऐसा कोई कार्य न करे। मित्रके विषयमें बुरे विचार भी प्रकाशित न करे। भ्रमसे भी मित्रका घातपात न हो ऐसा कोई कार्य न करे।

१ सचा नः दुर्भृतये मा प्रवोचः—कोई साथी अपने मित्रोंके भरणपोषणमें बाधा डालनेका यत्न न करे।

२ दुर्मतयः मा—कोई मित्र अपने साथीके संबधमें बुरे विचार प्रकट न करे।

३ भृमात् चित् सचा मा नशंत— भ्रमसे भी मित्रके विषयमें उसका साथी बुरे विचार प्रकट न करे।

[२३] हे (स्वनीक अग्ने) उत्तम तेजस्वी अग्ने! (अमर्त्ये यः हव्यं आ जुहोति) अमर ऐसे तुझ अग्निमें जो हवन करता है। (सः मर्तः रेवान्) वह मनुष्य धनवान् होता है। (यं सूरिः अर्थी पृच्छमानः एति) जिसके विषयमें ज्ञानी और धनकी कामना करनेवाला पूछता हुआ आता है (सः देवता वसुवनिं दधाति) वह देवताके उद्देश्यसे धन अर्पण करता है।

[२४] हे अग्ने! (नः महो सुवितस्य विद्वान्) हमारे बडे कल्याणकारक कर्मके ज्ञाता तू है। (सूरिभ्यः बृहन्तं रयिं आ वह) विद्वानोंके लिये उस बडे ऐश्वर्यका प्रदान कर। हे (सहसाऽवन्) बलसे संरक्षण करनेवाले अग्ने! कि (येन वयं आयुषा अविक्षितासः) जिससे हम आयुसे क्षीण न होते हुए, पूर्णायुषी होकर, (सुवीराः मदेम) उत्तम वीर पुत्र पौत्रोंके साथ आनंदसे रहेंगे।

मानव धर्म--कल्याण जिससे होगा, उस मार्गको जानना चाहिये। ज्ञानियोंको धनका दान करना योग्य है। ऐसा कर्म करना चाहिये कि जिससे आयु क्षीण न हो, मनुष्य पूर्णायुषी हो और वे उत्तम वीर सन्तानोंके साथ रहकर हृष्ट पुष्ट हों।

१ महो सुवितस्य विद्वान्— महान कल्याण जिससे निःसंदेह होगा उस मार्गको जानना चाहिये।

२ सूरिभ्यः बृहन्तं रयिं आवह—ज्ञानियोंके लिये बडा धन देना चाहिये।

३ आयुषा अविक्षितासः— आयुसे क्षीण कोई न हो, सब पूर्ण आयुवाले हों, दीर्घायु हों।

४ सुवीराः मदेम—उत्तम वीर पुत्रोंसे युक्त होकर सब आनंदसे युक्त हृष्ट पुष्ट हों।

[२५] (पच्चीस वां मन्त्र २० वाँ मंत्र ही है। इसका अर्थ पूर्वोक्त २० वें मंत्रका अर्थ ही देखो।)

(२) ११ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । आप्रीसूक्तं =(१ इध्मः समिद्धोऽग्निर्वा, २ नराशंसः, ३ इळः, ४ बर्हिः, ५ देवीर्द्वारः, ६ उषासानक्ता, ७ दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ, ८ तिस्रो देव्यः सरस्वतीळाभारत्यः, ९ त्वष्टा, १० वनस्पतिः, ११ स्वाहाकृतयः)। त्रिष्टुप् ।

१ जुषस्व नः समिधमग्ने अद्य शोचा बृहद् यजतं धूममृण्वन् ।
उपस्पृश दिव्यं सानु स्तूपैः सं रश्मिभिस्ततनः सूर्यस्य ॥ २६

२ नराशंसस्य महिमानमेषामुप स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः ।
ये सुक्रतवः शुचयो धियंधाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥ २७

३ ईळेन्यं वो असुरं सुदक्षमन्तर्दूतं रोदसी सत्यवाचम् ।
मनुष्वदग्निं मनुना समिद्धं समध्वराय सदमिन्महेम ॥ २८

---

[१] (२६) हे अग्ने ! (नः समिधं अद्य जुषस्व) हमारी समिधाका आज स्वीकार करो। (यजतं धूमं ऋण्वन्) प्रशस्त धूमको फैलाकर (बृहत् शोच) बहुत प्रकाशित हो। (दिव्यं सानु स्तूपैः रश्मिभिः उपस्पृश) अन्तरिक्षमें पहुंचे पर्वतके ऊंचे भागको अपने तप्त रश्मियोंसे स्पर्श करो। (सूर्यस्य रश्मिभिः संततनः) सूर्यके किरणोंके साथ मिलकर रहो।

[२] (२७) (ये देवाः सुक्रतवः) जो देव उत्तम यज्ञका संपादन करनेवाले हैं, (शुचयः धियंधाः) शुद्ध हैं और बुद्धिका वा कर्म शक्तिका धारण करते हैं, वे (उभयानि हव्या स्वदन्ति) दोनों प्रकारके हविर्द्रव्योंका आस्वाद लेते हैं। (एषां) उनके मध्यमें (नराशंसस्य यजतस्य) नरोंद्वारा प्रशंसित तथा पूजनीय अग्निकी (महिमानं) महिमाको (यज्ञैः उपस्तोषामः) हविर्द्रव्योंके अर्पणके साथ हम वर्णन करते हैं।

मानव धर्म--जो उत्तम कर्म करनेवाले शुद्ध और बुद्धिमान हैं, उनमें जो सब मनुष्यों द्वारा प्रशंसित और अधिक पूजनीय है उसकी महिमाका वर्णन करना चाहिये।

१ सुक्रतवः शुचयः धियंधाः--उत्तम कर्म करना, पवित्र होना और बुद्धि तथा श्रेष्ठ कर्म उत्तम रीतिसे करनेकी शक्तिको धारण करना प्रत्येकको योग्य है।

२ नराशंसस्य यजतस्य महिमानं उपस्तोषाम--सब मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होनेवाले पूजनीय वीरकी महिमाका हम वर्णन करते हैं।

मनुष्य उत्तम कर्म करे, अत्यंत पवित्र बने, और उत्तम बुद्धिका तथा कर्म शक्तिका धारण करे। मानवों द्वारा प्रशंसित तथा पूजनीय महापुरुषका गुणगान गायन करे।

[३] (२८) (वः ईळेन्यं असुरं सुदक्षं) आप सबके लिये स्तुत्य, बलवान, उत्तम दक्ष, (रोदसी अन्तः दूतं) द्युलोक और पृथिवीके मध्यमें दूतके समान कार्य करनेवाले (सत्यवाचं) सत्यभाषी, (मनुष्वत् मनुना समिद्धं) मनुष्योंके समान मनुने प्रदीप्त किये (अग्निं अध्वराय) अग्निको अहिंसामय कर्म करनेके लिये (सदं इत् संमहेम) सदा ही हम सुपूजित करते हैं।

मानव धर्म--जो स्तुत्य, बलवान्, दक्ष, सत्यभाषी सेवकके समान कार्यकर्ता होता है, उसको हिंसा-कुटिलता रहित कार्यके लिये बुलाना और सत्कार करना योग्य है।

१ ईळेन्यं असुरं सुदक्षं सत्यवाचं अध्वराय महेम--प्रशंसनीय कार्य करनेवाले बलवान्, उत्तम दक्षतासे कर्तव्य करनेवाले, सत्यभाषी, दूतका उसके अहिंसक कर्मके लिये सत्कार करना योग्य है।

ये उत्तम दूतके तथा राजदूतके लक्षण हैं।

४ सपर्यवो भरमाणा अभिज्ञु प्र वृञ्जते नमसा बर्हिरग्नौ ।
आजुह्वाना घृतपृष्ठं पृषद्वदध्वर्यवो हविषा मर्जयध्वम् २९
५ स्वाध्यो३ वि दुरो देवयन्तोऽशिश्रयू रथयुर्देवताता ।
पूर्वी शिशुं न मातरा रिहाणे समग्रुवो न समनेष्वञ्जन् ३०
६ उत योषणे दिव्ये मही न उषासानक्ता सुदुघेव धेनुः ।
बर्हिषदा पुरुहूते मघोनी आ यज्ञिये सुविताय श्रयेताम् ३१
७ विप्रा यज्ञेषु मानुषेषु कारू मन्ये वां जातवेदसा यजध्यै ।
ऊर्ध्वं नो अध्वरं कृतं हवेषु ता देवेषु वनथो वार्याणि ३२

---

[४] (२९) (सपर्यवः) अग्निकी सेवा करनेवाले (अभिज्ञु भरमाणाः) घुटने टेककर पात्रको भरते हुए (बर्हिः नमसा अग्नौ प्रवृञ्जते) दर्भोंको हविर्द्रव्यके साथ अग्निमें अर्पण करते हैं। हे (अध्वर्यवः) अध्वर्यु लोगो! (घृतपृष्ठं पृषद्वत्) घृतसे सिंचित स्थूल घृत बिंदुओंसे युक्त दर्भमुष्टिको (हविषा आजुह्वानाः मर्जयध्वं) हविके साथ हवन करनेके समय परिशुद्ध करके हवन करो।

[५] (३०) (स्वाध्याः देवयन्तः) उत्तम कर्म करनेवाले, देवताकी भक्ति करनेवाले (रथयुः) रथकी कामना करनेवाले (देवताता दुरः वि अशिश्रियुः) यज्ञके अन्दर द्वारोंका आश्रय करते हैं। (समनेषु पूर्वीः) यज्ञोंमें पूर्वकी ओर अग्रभाग करके रहनेवाले जुहू आदिकोंको (शिशुं न मातरा) वत्सको गोमाताके (रिहाणे) चाटनेके समान तथा (अग्रुवः न) अग्रगामी नदियाँ क्षेत्रोंको अपने उदकसे सिंचन करनेके समान (सं अंजन्) अग्निको घृतसे सिंचन करते हैं।

[६] (३१) (उत दिव्ये योषणे) और दो दिव्य युवतियां (मही बर्हिषदा) बडी और दर्भोंपर बैठनेवाली (पुरुहूते मघोनी) बहुतों द्वारा प्रशंसित होनेवाली तथा धनवाली (यज्ञिये उषा सानक्ता) पूजनीय उषा और रात्री (सुदुघा धेनुः इव) उत्तम दूध देनेवाली गौके समान (नः सुविताय आ श्रयेतां) हमारे कल्याणके लिये हमें आश्रय देती रहें।

उषा और रात्रीको- अहोरात्रको यहां दो स्त्रियोंकी उपमा दी है। ये दिव्य स्त्रियां हैं, धनवाली हैं, बहुतों द्वारा प्रशंसित हो रही हैं। उत्तम गुणवालीं होनेंके कारण सब लोग इनकी प्रशंसा करते हैं।

'**मघोनी योषणे**' इन दो पदोंसे यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियां भी धनवती हो सकती हैं, अपना निज धन अपने पास अपने अधिकारमें रख सकती हैं। तथा ये धनवती होनेके कारण '**नः सुविताय आश्रयेतां**' हमारा कल्याण करनेके लिये हमें आश्रय देवें। अर्थात् दूसरोंका कल्याण करनेके लिये उनको आश्रय दे सकती हैं। इससे पता चलता है कि ये स्त्रियां सर्वथा परतंत्र नहीं थीं। अपनां धन पास रखतीं, दूसरोंको आश्रय देती और उनका कल्याण कर सकती थी। इस वेदमंत्रने स्त्रियोंको अपना धन अपने पास रखनेका अधिकार दिया है।

[७] (३२) हे (विप्रा जातवेदसा) ज्ञानी और धन उत्पन्न करनेवाले, (मानुषेषु कारू) मानवोंमें कुशलतासे कर्म करनेवाले दिव्य होताओ! (वां यजध्यै मन्ये) आपकी मैं यज्ञके लिये स्तुति करता हूं। (हवेषु नः अध्वरं ऊर्ध्वं कृतं) इन हवनोंमें हमारे हिंसा रहित यज्ञ कर्मको उच्च करो। (ता देवेषु वार्याणि वनथः) वे आप दोनों देवोंमें हमारे धनोंको पहुंचाइये।

मानव धर्म— कारीगरलोग मानवोंमें कुशल हों और वे विशेष ज्ञानी तथा धनका उत्पादन करनेवाले हों। सब ऐसे कारीगरोंकी प्रशंसा करें। वे यज्ञमें सत्कार पावें। यज्ञको उत्तम रीतिसे निभावें। व्यवहार करनेवालोंको धन देवें।

८ आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः ।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु ॥ ३३

९ तन्नस्तुरीपमध पोषयित्नु देव त्वष्टर्वि रराणः स्यस्व ।
यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः ॥ ३४

---

१ **मानुषेषु कारू विप्रौ जातवेदसौ**—मनुष्योंमें कारीगर विशेष बुद्धिमान, विशेष ज्ञानी और धनका उत्पादन करने वाले हों।

२ **यजध्यै मन्ये**—उन कारीगरोंका सत्कार करनेके लिये उनका सन्मान होता रहे।

३ **अध्वरं ऊर्ध्वं कृतं**—ये कारीगर अपने कर्मोंको हिंसा तथा कुटिलता रहित और उच्च बनावें।

४ **देवेषु वार्याणि वनथः**—विजिगीषु व्यवहार कर्ताओंको उत्तम धन देओ।

कारू—कर्ममें कुशल, कारीगर, कौशल्यके कर्म करनेवाले।

जातवेदसौ—जातधनौ-अपनी कारीगरीसे धनका उत्पादन करनेवाले, राष्ट्रमें कारीगर ही धनका उत्पादन करते हैं इसलिये वे सन्मानके योग्य हैं।

देवों—देव वे होते हैं कि जो व्यवहार करते हैं, उन व्यवहारोंमें विजयी होनेकी इच्छा करते हैं। (दिवु-विजिगीषा, व्यवहार०)

वार्य—धन, जो सब प्रकारसे चोर आदिके निवारण पूर्वक संरक्षणके योग्य होता है।

[८] (३३) (**भारती भारतीभिः सजोषा**) भारती भारतीयोंके साथ (**देवैः मनुष्येभिः इळा अग्निः**) देवों और मनुष्योंके साथ इळा रूप अग्नि और (**सारस्वतेभिः सरस्वती**) सारस्वतोंके साथ सरस्वती ये (**तिस्रः देवीः**) तीन देवियाँ (**अर्वाक्**) पास आजांय और (**इदं बर्हिः आ सदन्तु**) इस आसनपर बैठें।

तीन देवियां

मानवधर्म— भारती यह देशभाषा है। मातृभाषा इसका नाम है। इळा मातृभूमिका नाम है। और सरस्वती प्रवाहवाली संस्कृति है। मातृभाषा, मातृभूमि और मातृ-सभ्यता ये तीन देवताएं हैं जिनका सत्कार यज्ञमें होना चाहिये।

ये तीनों अग्निके रूप हैं। मातृभाषा भी अग्निका रूप है क्योंकि अग्निसे ही वाणी उत्पन्न होती है। मातृभूमि भी अग्निका रूप है क्योंकि भूमि अग्निका ही स्थान है और सभ्यता या संस्कृति भी अग्निके समान तेजस्वी होती है। इन तीन देवियोंकी भक्ति होती रहनी चाहिये।

भारतीभिः भारती— उपभाषाओंके साथ राष्ट्रभाषा, प्रांत भाषाओंके साथ राष्ट्रभाषा सहायक होकर रहे।

देवेभिः मनुष्यैः इळा—दिव्य मनुष्योंके साथ मातृभूमि उन्नत होती रहे। दिव्य वे हैं कि जो " क्रीडाकुशल, विजयेच्छु, व्यवहार चतुर, तेजस्वी, प्रशंसनीय, प्रसन्न, आनन्दित, प्रिय कर्मकर्ता, और प्रगतिशील " होते हैं।

सारस्वतेभिः सरस्वती--सरस्वतीके उपासकोंको सारस्वत कहते हैं। इनके साथ सभ्यता रहती है।

मनुष्योंको इन तीन देवियोंकी भक्ति करनी चाहिये।

उत्तम संतानकी उत्पत्ति

[९] (३४) हे (देव त्वष्टः) त्वष्टा देव ! (रराणः) **प्रसन्न होकर तू (नः) हमें (तत् तुरीयं पोषयित्नु वि स्य स्व) उस त्वरित पुष्टि करनेवाले वीर्यका प्रदान करो। हमें वीर्यवान बनाओ। (यतः) जिस वीर्यसे (कर्मण्यः सुदक्षः) कर्म करनेमें तत्पर दक्ष (देवकामः युक्तग्रावा) देवत्वको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला और यज्ञकर्ता (वीरः जायते) वीर होता है।**

मानवधर्म— मनुष्य अपने अन्दर ऐसा बलवर्धक और पोषक वीर्य उत्पन्न करें कि जिससे पुरुषार्थ साधन करनेवाला, दक्षतासे कर्म करनेवाला, दिव्यगुणोंको अपने अन्दर धारण करनेकी इच्छा करनेवाला, यज्ञ करनेकी इच्छावाला वीर पुत्र उत्पन्न हो।

*

१० वनस्पतेऽव सृजोप देवानग्निर्हविः शमिता सूदयाति ।
सेदु होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद ३५

११ आ याह्यग्ने समिधानो अर्वाङिन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः ।
बर्हिर्न आस्तामदितिः सुपुत्रा स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ३६

मनुष्यको पुत्र चाहिये, पर वह पुरुषार्थी, कर्म करनेमें प्रवीण, दक्ष, दिव्यगुण संपन्न, सत्कर्म करनेवाला शूर वीर धीर ऐसा होना चाहिये। पुरुषार्थहीन, कुशलताहीन, ढीला, आसुरी दुर्गुणोंसे युक्त, स्वार्थी, लोभी, भोगी, भीरू ऐसा कुपुत्र नहीं होना चाहिये। मातापिता अपना पुत्र पूर्वोक्त सुलक्षणोंसे युक्त हो ऐसी इच्छा करें। जैसा वीर्य वैसा पुत्र। इसलिये मातापिता अपनेमें ऐसे सुपुत्रकी प्रबल इच्छा करें जिससे उनके वीर्यमें वे गुण उतरेंगे और वैसे ही गुण रजसे मिलकर निःसंदेह ऐसा दिव्य गुणवाला पुत्र उत्पन्न होगा।

१ तुरीयं पोषयिष्णु— अन्न ऐसा सेवन करना चाहिये कि जो सत्वर शुक्र बनानेवाला और पुष्टि देनेवाला हो।

ये सब नियम उत्तम संतानकी उत्पत्तिके लिये आवश्यक हैं।

[१०] (३५) हे वनस्पते ! (देवान् उप अव सृज) देवोंको यहां ले आ। (अग्निः शमिता हविः सूदयाति) अग्नि शान्ति करनेवाला होकर अन्नको पकाता है। (स इत् उ होता सत्यतरः यजाति) वह देवोंको बुलानेवाला अग्नि अधिक सत्य यज्ञनिष्ठ होकर यज्ञ करता है। (यथा देवानां जनिमानि वेद) वह देवोंके जन्म वृत्तान्तको यथा-योग्य रीतिसे जानता है।

मानवधर्म-- दिव्य विबुधोंको यहां पास बुला ले आओ। उनको देनेके लिये अन्न उत्तम रीतिसे पकाओ। सत्यनिष्ठासे वह अन्न उनको देओ। दिव्य विबुधोंके जीवन वृत्तोंको यथावत् जानो (जिनसे तुम्हें पता लग जायगा कि दिव्य जीवन किस तरह बन सकते हैं)।

१ देवान् उप अवसृज-- दिव्य विबुधोंको समीप ले आओ। विद्वानोंमें एकता करो। वे एक स्थानपर आकर बैठें ऐसा करो। विद्वानोंकी सभा बनाओ, वे एक स्थानपर आयें और विचार करें ऐसा करो।

२ देवानां जनिमानि वेद-- दिव्य विबुधोंके जीवन वृत्तान्त जानो। जानकर वैसा बननेका यत्न करो।

३ स सत्यतरः यजाति-- ऐसा जाननेवाला अधिक सत्यनिष्ठ होता है और वह यजन करता है।

[११] (३६) हे अग्ने! (समिधानः) प्रदीप्त होकर (अर्वाक्) हमारे समीप (इन्द्रेण तुरेभिः देवैः) इन्द्र और त्वारा करनेवाले देवोंके साथ (सरथं आयाहि) एक रथमें बैठकर आओ। (सुपुत्रा अदितिः) उत्तम पुत्रोंकी माता अदिति (नः बर्हिः आस्तां) हमारे इस आसनपर बैठे। (अमृताः देवाः स्वाहा मादयन्तां) अमर देव स्वाहाकारसे दिये अन्नसे आनन्दित हों।

मानवधर्म— स्वयं तेजस्वी बनकर सत्वर कार्य करने-वाले विबुधोंके साथ यहां आकर कार्य करो। उत्तम पुत्रोंकी माता यहां आकर आसनपर बैठे, उस माताका सत्कार होता रहे। अमर देव उत्तम अन्नसे आनन्दित होते रहें।

१ सुपुत्रा अदितिः बर्हिः आस्तां-- उत्तम पुत्रोंकी माता दीन नहीं होती, उसका सत्कार हो। जिसके पुत्र तेजस्वी होंगे उनकी वह माता कदापि (अदितिः- अदीना) दीन नहीं होती, वह समर्थ होती है, वह (अत्ति इति अदितिः) उत्तम भोजन करती है। उत्तम पुत्र होनेसे भाग्य बढता है।

२ अमृताः देवाः स्वाहा मादयन्तां-- अमृत अन्न खानेवाले अर्थात् मुर्देसे प्राप्त होनेवाले पदार्थ न खानेवाले ज्ञानी (स्व-हा) आत्मार्पण करनेसे आनंदित होते हैं।

३ तुरेभिः देवैः सरथं आयाहि-- सत्वर कर्तव्य कर्म करनेवाले विबुधोंके साथ एक रथमें बैठकर आजाओ। सुस्तोंके साथ न रह। चुस्तोंके साथ सदा रहना लाभदायक है।

(३) १० मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वम् ।
१ यो मर्त्येषु निध्रुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः पावकः ॥ ३७
प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् यदा महः संवरणाद् व्यस्थात् ।
२ आदस्य वातो अनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति ॥ ३८

---

[१] (३७) (वः) आप (अग्निभिः सजोषाः) अन्य अग्नियोंके साथ रहनेवाले (यजिष्ठं) पूजा योग्य (अग्निं देवं) अग्नि देवको (अध्वरे दूतं कृणुध्वं) हिंसा रहित प्रशस्ततम कर्ममें दूत बनाइये । (यः मर्त्येषु निध्रुविः) जो मर्त्योंमें रहनेवाला, (ऋतावा) सत्यका पालन करनेवाला (तपः मूर्धा) तेजसे तपनेवाला (घृतान्नः पावकः] घी खानेवाला और पवित्रता करनेवाला होता है ।

मानवधर्म-- जो स्वयं अग्निके समान तेजस्वी है, और जो तेजस्वी मित्रोंके साथ रहता है, ऐसे सत्कार करने योग्य पुरुषको दूत बनाना योग्य है । यह दूत मानवोंमें रहनेवाला हो, सत्यनिष्ठ हो, अपने तेजसे शत्रुको तपानेवाला हो; पवित्रता करनेवाला तथा घृतमिश्रित अन्न खानेवाला हो ।

१ अग्निभिः सजोषा अग्निं देवं दूतं कृणुध्वं-- तेजस्वी पुरुषोंके साथ सदा रहनेवाले तेजस्वी ज्ञानी पुरुषको विशेष कार्यमें नियुक्त करो । मित्र, दूत , राजदूत नियुक्त करना हो तो जिसके मित्र तेजस्वी हों ऐसा ही तेजस्वी पुरुष नियुक्त करना चाहिये । जो हीन साथीयोंके साथ सदा रहता है ऐसे हीन पुरुषको महत्त्वके स्थानपर रखना योग्य नहीं है । अग्निका ऊर्ध्वज्वलन है, प्रकाश देता है, मार्ग बताता है । ऐसे जिसके उत्तम कर्म हों वही महान कार्यके लिये योग्य है ।

२ मर्त्योंमें निध्रुविः--जो सदा मानवोंमें मिलजुलकर रहता है वही मानवके हितके कार्यमें नियुक्त करना योग्य है । जो मनुष्योंमें रहता नहीं, जो जनताके सुख दुःखको जानता नहीं, जो लोगोंसे सुदूर रहता है वह जनताके हितको कैसे जान सकेगा ? इसलिये महत्त्वके स्थानपर ऐसा पुरुष नियुक्त करना चाहिये कि जो जनतामें रहनेवाला हो ।

३ ऋतावा, पावकः, तपुर्मूर्धा—सत्यनिष्ठ, स्वयं पवित्र रह कर सर्वत्र पवित्रता करनेवाला और जिसका सिर तेजस्वी है ऐसा पुरुष महत्त्व पूर्ण कार्यके लिये नियुक्त करना चाहिये ।

४ घृतान्नः--जिस अन्नमें घी अधिक मात्रामें है ऐसा घृत मिश्रित अन्न खानेवाला पुरुष हो । अर्थात् पवित्र अन्न खानेवाला हो । घी विषका शमन करता है । इसलिये घी भोजनमें पर्याप्त प्रमाणमें हो ।

५ अध्वर--जिस कार्यमें हिंसा कुटिलता, टेढापन, कपट आदि न हो और जिससे सबका कल्याण होता हो वह कार्य यज्ञ कार्य है वह श्रेष्ठतम वा प्रशस्ततम कार्य हो । ऐसे कार्यके लिये इन शुभ गुणोंसे युक्त जो पुरुष होगा, उसीको नियुक्त करना उचित है ।

इस मन्त्रमें ' अग्नि ' के वर्णनके मिषसे महत्त्वके कार्यमें किसकी नियुक्ति हो, वह बताया है । ' जो अग्नि अग्नियोंके साथ रहता है उसको यज्ञमें नियुक्त करो ' यह मंत्र है इसीका अर्थ जो वीर वीरोंके साथ रहता है उसको वीरोचित कार्यमें नियुक्त करो । ' इसी तरह मंत्रसे मानव धर्मका बोध होता है ।

[२] (३८) (यवसे अविष्यन्) घास खानेवाला (प्रोथत् अश्वः न) घोडा जैसा शब्द करता है, वैसा (यदा महः संवरणात् व्यस्थात्) बडे निरोधनसे अग्नि काष्ठोंपर रहता है [उस समय वह शब्द करता है और लकडीयोंको खाता भी है] इस समय (अस्य शोचिः अनु) इसके प्रकाशके अनुकूल (वातः अनुवाति) वायु बहता है । (अध ते व्रजनं कृष्णं अस्ति) और तेरा मार्ग काला होता है ।

छोटापन और बडापन

यहां एक बडा सिद्धान्त कहा है वह यह कि जिस समय अग्नि छोटा रहता है उस समय वायु जोरसे बहने लगा, तो वह छोटा अग्नि बुझ जाता है । पर वही अग्नि जिस समय बडा रूप धारण करके दावानल बन जाता है, उस समय उसी अग्निकी सहायता

३　उद् यस्य ते नवजातस्य वृष्णोऽग्ने चरन्त्यजरा इधानाः ।
अच्छा द्यामरुषो धूम एति सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान् 　३९

४　वि यस्य ते पृथिव्यां पाजो अश्रेत् तृषु यदन्ना समवृक्त जम्भैः ।
सेनेव सृष्टा प्रसितिष्ट एति यवं न दस्म जुह्वा विवेक्षि 　४०

५　तमिद् दोषा तमुषसि यविष्ठमग्निमत्यं न मर्जयन्त नरः ।
निशिशाना अतिथिमस्य योनौ दीदाय शोचिराहुतस्य वृष्णः 　४१

वायु करता है। जो वायु छोटी अग्निका शत्रुसा था वही वायु बडे अग्निका मित्र और सहायक होता है। छोटेपनके कारण जो शत्रु जैसे बर्तते हैं, वेही बडापन प्राप्त होनेपर मित्र हो जाते हैं। यही विश्वव्यवहार है। छोटे अग्निरूप दीपको वायु बुझा देती है, पर वही अग्नि दावानल बनकर वनोंको जलाने लगे तो वही वायु उसका सहायक होता है। अर्थात् छोटेपनमें शत्रु बढते हैं और बडापन प्राप्त होनेपर वेही मित्रता करने लग जाते हैं।

१ अस्य शोचिः वातः अनुवाति-- इस अग्निका प्रकाश बढने लगा तो वायु भी अनुकूल होकर बहने लग जाता है।

छोटेपनमें दुःख और बडेपनमें सुख तथा निर्भयता है।

[३] (३९) हे अग्ने ! (नवजातस्य वृष्णः यस्य ते) नवीन उत्पन्न हुए तुझ बलशालीकी (अजराः इधानाः) जरा रहित ज्वालाएं (उत् चरन्ति) ऊपर उठती हैं। (अरुषः धूमः) इसका प्रकाश-मान धूवां (द्यां अच्छ एति) द्युलोकमें सीधा जाता है। हे अग्ने ! तू हमारा (दूतः देवान् हि सं ईयसे) दूत होकर देवोंके पास पहुंचता है।

अग्निकाज्वलन ऊपर होता है. उसकी ज्वालाएं ऊपरकी ओर जाती हैं, धूवां ऊपर जाता है, यह स्वयं देवोंमें जाकर बैठता है। अग्निका सभी कर्म उच्च मार्गसे होता है। अतः अग्नि उच्च-प्रगति करनेवाली देवता है। नीच गति करनेवाली नहीं है। इसीलिये इनकी गति देवोंमें होती है। जिसका ऐसा स्वभाव होगा वह भी ऐसा ही प्रगति ही करेगा।

[४] (४०) (यस्य ते पाजः पृथिव्यां) तेरा तेज पृथिवीपर (तृषु व्यश्रेत्) शीघ्र ही फैलता है, (यत् अन्ना जंभैः समवृक्त) जब तू अपने काष्ठ रूप अन्नोंको अपने जबडों—ज्वालाओं-से खाने लगता है, तब (ते सेना इव सृष्टा प्रसितिः एति) तेरी सेना जैसी ज्वालाएँ तेरेसे छूटीं हुई धडाकेसे हमला करती है। हे (दस्म) दर्शनीय अग्ने ! तू (यवं न जुह्वा विवेक्षि) जौ के खानेके समान ज्वालाओंसे काष्ठोंको भक्षण करता है।

युद्धनीति

यहां अग्निकी ज्वालाओंको सेनाके (ते प्रसितिः सेना इव एति) आक्रमणकी उपमा दी है। इससे युद्ध विद्याकी एक बात मालूम पडती है वह यह कि जिस तरह अग्नि धडाकेसे क्रम पूर्वक वनकी लकडियोंको खाता जाता है, उस तरह अपने सैन्यके द्वारा शत्रुके प्रदेशको क्रम पूर्वक पादाक्रान्त करना चाहिये।

[५] (४१) (यविष्ठं अतिथिं तं इत् अग्निं) अत्यंत तरुण, अतिथिके समान पूज्य उस अग्निको (दोषा उषसि) रात्रीके तथा उषा या दिनके समय (तं अस्य योनौ निशिशानाः नरः) उसके उत्पत्तिस्थानमें प्रदीप्त करनेवाले नेता लोग (अत्यं न) घोडेके समान (तं मर्जयन्तः) उसको शुद्ध करते वा सेवा करते हैं। (आहुतस्य वृष्णः शोचिः दीदाय) हवन हुए बलवान अग्निकी ज्वाला अधिक प्रदीप्त होती है॥

१ अतिथिं दोषा उषसि मर्जयन्तः— अतिथिकी सेवा दिन और रात्रीमें भी करो। ' अतिथि देवो भव ' इसका वेदमंत्रमें यह आधारवचन है।

२ अत्यं न दोषा उषसि मर्जयन्तः— घुडदौडमें दौड लगानेवाले घोडेकी सेवा दिन रात करते हैं, या करनी चाहिये। घुड दौडके लिये घोडे इस तरह सेवा करके तैयार रखे जाते थे।

६ सुसंदृक् ते स्वनीक प्रतीकं वि यद् रुक्मो न रोचस उपाके।
दिवो न ते तन्यतुरेति शुष्मश्चित्रो न सूरः प्रति चक्षि भानुम् ४२

७ यथा वः स्वाहाग्नये दाशेम परीळाभिर्घृतवद्भिश्च हव्यैः।
तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिः शतं पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि ४३

८ या वा ते सन्ति दाशुषे अधृष्टा गिरो वा याभिर्नृवतीरुरुष्याः।
ताभिर्नः सूनो सहसो नि पाहि स्मत् सूरीञ्जरितॄञ्जातवेदः ४४

---

३ यविष्ठं दोषा उषासि निशिशाना नरः मर्जयन्तः- तरुणकी रात्रीमें तथा दिनमें उनको अधिक तेजस्वी करनेके लियें शुद्धता की जाती है, या की, जानी चाहिये। तरुण राष्ट्रके आधार स्तंभ हैं, इसलिये उन्हें अधिक कार्यक्षम बनना चाहिये, अधिक तेजस्वी बनना चाहिये, इसलिये उनकी कार्यक्षमता बढानेके लिये दिन रात यत्न करना चाहिये।

४ अस्य योनौ निशिशानाः नरः—इसके उत्पत्ति स्थानकी शुद्धता नेता लोग करते हैं। घोडेकी वंशावली देखते हैं, अग्निकी अरणियोंकी पवित्रता करते हैं, इसी तरह मातापिताओंको परिशुद्ध रखते हैं जिससे उत्तम वीर पुत्र उत्पन्न हों वे सामर्थ्यमें बढते जांय।

[६] (४२) हे (**स्वनीक**) **उत्तम तेजस्वी अग्ने! तू (यत् रुक्मः न) जब सूर्यके समान (उपाके रोचसे) समीप स्थानमें प्रकाशित होता है, तब (ते प्रतीकं सुसंदृक्) तेरा रूप उत्तम दर्शनीय होता है। तथा (ते शुष्मः दिवः तन्यतुः न एति) तेरा प्रकाश विद्युत्के समान फैलता है। (चित्रः सूरः न) दर्शनीय सूर्यके समान (भानुं प्रति चक्षि) अपनी दीप्तिको भी तू दर्शाता है।**

अग्निके समान मानव अधिकाधिक तेजस्वी होता जाय।

[७] (४३) **हे अग्ने! (अग्नये वः स्वाहा) तुम अग्निके लिये दिये हुए हविसे तथा (इळाभिः घृतवद्भिः हव्यैः यथा परिदाशेम) गौओंके घृतसे मिश्रित हवन द्रव्योंसे जब हम तुम्हारी सेवा करते हैं, तब तू भीः (तेभिः अमितैः महोभिः) उन अपरिमित तेजोंसे (शतं आयसीभिः पूर्भिः नः नि पाहि) सैकडों लोहेके कीलोंसे हमारी सुरक्षा कर।**

१ अग्निमें गौके घीसे भीगे हवन द्रव्य डालने चाहिये।

२ आयसीभिः शतं पूर्भिः अमितैः महोभिः नः पाहि—लोहेके सेंकडों कीलोंसे और अपरिमित सामर्थ्योंसे हमारी उत्तम सुरक्षा कर।

यहां " आयसी शतं पूः " का वर्णन है। ' आयस् ' का अर्थ, लोहा, पत्थर अथवा सुवर्ण है। ' पूः या पुर, पुरी ' नाम नगरीका है। पुरी बडी नगरीका नाम है। पुरीके बाहर पत्थरोंका शक्तिशाली कीला होना चाहिये। प्राकार लोहेसे प्रभावी बनाया हो ऐसे सेंकडों कीलोंसे अपना संरक्षण करनेका प्रबंध करना चाहिये। प्राकारमें सेंकडों पक्के स्थान हों जिनमें नगरीके संरक्षण करनेके स्थान हों। नगरीमें धन तथा सुवर्ण हो, और कीला लोहेके जैसा मजबूत हो। इस तरह नगरीयों की सुरक्षा करनी चाहियें। इस नगरीके बाहरके कीलेमें (अमितैः महोभिः) अपरिमित तेजस्वी साधन ऐसे हों कि जिनसे शत्रुका नाश सहजहीसे होता रहे। इस तरह नगरियां सुराक्षित होनी चाहिये। और राष्ट्रमें ऐसी सुरक्षित नगरियां सेंकडों होनी चाहिये। राष्ट्र रक्षाका प्रबंध किस तरह और कितना होना चाहियें, वह इस मंत्रसे विदित हो सकता है। मनुष्य अपनी नगरियोंको इस तरह सुराक्षित बनाकर उनमें सुखसे रहें।

[८] (४४) हे (**सहसः सूनो जातवेदः**) **बलसे उत्पन्न होनेवाले वेदोत्पादक अग्ने! (दाशुषे ते या वा सन्ति) दाताके लिये हितकारी जो तुम्हारी ज्वालाएं हैं, तथा जो (अप्रधृष्टाः गिरः वा) अहिंसित वाणियां हैं, (याभिः नृवतीः उरुष्याः) जिनसे सुपुत्रवती प्रजाका तुम रक्षण करते हो, (ताभिः न स्मत् सूरीन् जरितॄन् नि पाहि) उनसे हमारे विद्वानों और स्तोताओंको सुराक्षित कर।**

९ निर्यत् पूतेव स्वधितिः शुचिर्गात् स्वया कृपा तन्वा३ रोचमानः ।
आ यो मात्रोरुशेन्यो जनिष्ट देवयज्याय सुक्रतुः पावकः ॥ ४५

१० एता नो अग्ने सौभगा दिदीह्यपि क्रतुं सुचेतसं वतेम ।
विश्वा स्तोतृभ्यो गृणते च सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ४६

(४) १० मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

१ प्र वः शुक्राय भानवे भरध्वं हव्यं मतिं चाग्नये सुपूतम् ।
यो दैव्यानि मानुषा जनूंष्यन्तर्विश्वानि विद्मना जिगाति ॥ ४७

---

१ नृवतीः उरुष्याः—संतानवाली प्रजाका संरक्षण करना चाहिये । संतानका संरक्षण होना चाहिये ।

२ सूरीन् पाहि—विद्वानोंकी सुरक्षा कर ।

[९] (४५) (यत् शुचिः स्वया तन्वा कृपा) जब पवित्र अग्नि अपनी फैली हुई ज्वालारूपी कृपासे (रोचमानः) प्रदीप्त होता है तब (पूता इव स्वधितिः) तीक्ष्ण शस्त्रके समान वह (निः गात्) बाहर आता है, अरणियोंसे बाहर आता है । (यः उशेन्यः) जो कामना योग्य प्रिय (सुक्रतुः पावकः) उत्तम कर्म करनेवाला, पवित्रता करनेवाला (मात्रोः आ जनिष्ट) दोनों अरणिरूप माताओंसे उत्पन्न हुआ वह (देव यज्याय) देवोंके यजन करनेके लिये ही हुआ है ।

जिस तरह अग्नि दोनों अरणियोंसे उत्पन्न होता है, उस समय वह तीक्ष्ण शस्त्र म्यानसे बाहर आनेके समान चमकता है । म्यानसे बाहर निकलनेवाला शस्त्र जैसा चमकता है, वैसा अग्नि दोनों अरणियोंके मध्यमें चमकता है । यहां अरणीको म्यानकी और अग्निको तीक्ष्ण तेजस्वी शस्त्रकी उपमा दी है ।

१ रोचमानः शुचिः पूता स्वधितिः इव निः गात्—प्रकाशित होनेवाला पवित्र अग्नि तीक्ष्ण शस्त्र म्यानसे बाहर आनेके समान चमकता है ।

२ उशेन्यः सुक्रतुः पावकः देवयज्यायै मात्रोः आ जनिष्टः—प्रिय उत्तम कर्मकर्ता पवित्रता करनेवाला सुपुत्र देवोंके यजनके लिये ही मातापितासे उत्पन्न हुआ है ।

यहां पुत्रके गुण ये कहे हैं, (वशेन्यः) वशमें रहनेवाला, प्रिय, (सुक्रतुः) उत्तम कर्म करनेवाला, (पावकः) पवित्रता करनेवाला (देवयज्यायै) देवोंके पूजनके कार्य करनेवाला, ईश्वर भक्त । पुत्रमें ये शुभ गुण होने चाहिये ।

[१०] (४६) हे अग्ने ! (एता सौभगा नः दिदीहि) ये उत्तम कर्म करनेवाले उत्तम ऐश्वर्य हमें दे दो । (अपि क्रतुं सुचेतसं वतेम) और उत्तम कर्म करनेवाले उत्तम बुद्धिमान पुत्रको हम प्राप्त करेंगे । (विश्वा स्तोतृभ्यः गृणते च संतु) सब धन ईश्वर भक्तोंके लिये मिलते रहें । (यूयं नः सदा स्वस्तिभिः पात) तुम हमें सदा कल्याण करके सुरक्षित रखो ।

१ सौभगा नः दिदीहि—हमें सब प्रकारके ऐश्वर्य प्राप्त हों । हम धनवान् और ऐश्वर्यवान् बनें ।

२ सुचेतसं क्रतुं वतेम—उत्तम बुद्धिवान् तथा उत्तम कर्म करनेवाले पुत्रको हम प्राप्त करें । हमें पुरुषार्थी बुद्धिमान पुत्र हों ।

३ गृणते विश्वा सन्तु–ईश्वर भक्तके लिये सब ऐश्वर्य प्राप्त हों

४ स्वस्तिभिः नः पात—कल्याणकारक उपायोंसे हमें सुरक्षित कर ।

ऐश्वर्य, धन, उत्तम संतान चाहिये इनका तिरस्कार करना उचित नहीं है ।

[१] (४७) (वः शुक्राय भानवे सुपूतं) तुम सब शुद्ध तेजस्वी अग्निके लिये उत्तम पवित्र (हव्यं मतिं च प्रभरध्वं) हव्य पदार्थ तथा उत्तम बुद्धि अर्थात् स्तोत्र भर दो, कर दो, गाओ (यः दैव्यानि मानुषा विश्वानि) जो दिव्य और मानुष ऐसे सब (जनूंषि अन्तः विद्मना जिगाति) प्राणियोंके जन्मोंमें अन्दर ही अन्दर ज्ञानसे संचार करता है ।

शुद्ध अग्निके लिये उत्तम पवित्र हवनीय पदार्थ अर्पण करो और उत्तम स्तोत्र गाओ । वह अग्नि सब दिव्य और मानुष आदि प्राणियोंके जन्मोंके अन्दर ज्ञान पूर्वक संचार करता है । अग्नि सब प्राणियोंमें व्यापक है ।

२ स गृत्सो अग्निस्तरुणश्चिदस्तु यतो यविष्ठो अजनिष्ट मातुः ।
सं यो वना युवते शुचिदन् भूरि चिदन्ना समिदत्ति सद्यः ॥ ४८

३ अस्य देवस्य संसद्यनीके यं मर्तासः श्येतं जगृभ्रे ।
नि यो गृभं पौरुषेयीमुवोच दुरोकमग्निरायवे शुशोच ॥ ४९

४ अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि ।
स मा नो अत्र जुहुरः सहस्वः सदा त्वे सुमनसः स्याम ॥ ५०

---

१ शुक्राय भानवे सुपूतं हव्यं मतिं च प्रभरध्वं— वीर्यवान् तेजस्वी वीरके लिये पवित्र अन्न और प्रशंसाके शब्द अर्पण करो।

१ यः विश्वानि दैव्यानि मानुषा जनूंषि अन्तः विद्मना जिगाति ।—जो सब दिव्य और मानुष जन्मोंके आन्तरिक ज्ञानको जानता और उनमें संचार करता है ।

[२] (४८) (सः अग्निः गृत्सः तरुणः अस्तु) वह अग्नि बडा बुद्धिमान और तरुण है । (यतः मातुः यविष्ठः अजनिष्ट) जब माता रूप अरणियोंसे वह तरुण उत्पन्न होता है । (यः शुचिदन् वना संयुवते) जो तेजस्वी दांतवाला अग्नि वनोंके साथ संमिलित होता है, लकडियोंको जलाता है, तब वह (भूरिचित् अन्ना सद्यः इत् सं अत्ति) बहुत अन्नोंको तत्काल ही खाजाता है ।

१ सः अग्निः गृत्सः यविष्ठः तरुणः मातुः अजनिष्ट- वह माताका सुपुत्र अग्नि समान तेजस्वी और अत्यंत उत्साही तरुण हो गया है । यहां पुत्रके गुण बताये हैं । ऐसा अपना पुत्र होना चाहिये ।

१ सः भूरि अन्ना सं अत्ति—वह बहुत प्रकारके अन्न उत्तम प्रकारसे खाता है । अन्नोंमें बलवर्धक, बुद्धिवर्धक तथा उत्साहवर्धक अन्न अनेक प्रकारके होते हैं ।

अग्नि परक मंत्रोंके शब्द तरुण पुत्र पर अर्थमें भी देखे जा सकते हैं । पाठक इस तरह देखें और बोध प्राप्त करें । अन्यथा केवल अग्निपरक ही " विद्वान्, बुद्धिमान्, वेदज्ञ ' आदि शब्दोंके कुछ भी अर्थ नहीं हो सकते, पर यदि यह वर्णन मनुष्य पर किसी अवस्थामें लगना हो तो ही ये पद सार्थ हो सकते हैं ।

[३] (४९) (अस्य देवस्य अनीके संसदि) इस देवके तेजस्वी यज्ञ सभामें (श्येतं यं मर्तासः जगृभ्रे) जिस तेजस्वी अग्निको मानवोंने धारण किया, जिसकी सेवा की । (यः पौरुषेयीं गृभं नि उवोच) जो अग्नि मनुष्यों द्वारा की गयी सेवाका स्वीकार करता है । वह (अग्निः आयवे दुरोकं शुशोच) अग्नि आयुके लिये सेवन करनेके लिये अशक्य रीतिसे प्रकाशित होता है । अत्यंत प्रकाशता है, जो प्रकाश सहन करना अशक्य है ।

मनुष्य अग्नि देवको निर्माण करते हैं, हविर्द्रव्योंसे उसकी सेवा करते हैं । इस सेवाका ग्रहण करनेके पश्चात् वह इतना प्रकाशता है कि जिसको सहना मानवोंके लिये अशक्य हो जाता है ।

[४] (५०) (कविः प्रचेता अमृतः) ज्ञानी विशेष बुद्धिमान् अमर ऐसा (अयं अग्निः) यह अग्नि (अकविषु मर्तेषु निधायि) अज्ञानी मानवोंमें रखा गया है । हे (सहस्वः बलवान् अग्ने ! (त्वे सुमनसः स्याम) तेरे विषयमें हम सदा उत्तम बुद्धि धारण करनेवाले हैं । इसलिये (सः त्वं अत्र नः मा जुहुरः) वह तू यहां हमें विनष्ट न कर ।

मनुष्य अग्निके समान तेजस्वी ज्ञानी, बुद्धिमान और अमर हो । यदि वह अज्ञानी मर्त्योंमें रहने लग जाय, तो भी उसके विषयमें उत्तम विचार ही मनमें धारण करना योग्य है, क्योंकि वह किसीका भी नाश नहीं करता।

५ आ यो योनिं देवकृतं ससाद क्रत्वा ह्यग्निरमृताँ अतारीत् ।
तमोषधीश्च वनिनश्च गर्भं भूमिश्च विश्वधायसं बिभर्ति ५१

६ ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेरीशे रायः सुवीर्यस्य दातोः ।
मा त्वा वयं सहसावन्नवीरा माप्सवः परि षदाम मादुवः ५२

७ परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।
न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः ५३

---

[५] (५१) (यः देवकृतं योनिं आ ससाद) वह अग्नि देवोंद्वारा बनाये स्थानपर बैठता है, क्योंकि (हि क्रत्वा अग्निः अमृतान् अतारीत्) वह अग्नि अपने पुरुषार्थ प्रयत्नसे अमर देवोंको भी सुरक्षित रखता है। (विश्वधायसं तं) विश्वका धारण पोषण करनेवाले उस अग्निको (ओषधीः वनिनः च भूमिः च गर्भं बिभर्ति) औषधियां, वृक्ष, तथा भूमि अपने अन्दर धारण करती हैं।

जो सबका तारण करता है वही श्रेष्ठ स्थानमें विराजता है। सबका धारण पोषण जो करता है उसको सब अपने अन्तः करणमें आदरसे धारण करते हैं।

१ यः क्रत्वा अमृतान् अतारीत् सः देवकृतं योनिं आससाद—जो अपने प्रयत्नसे श्रेष्ठोंका तारण करता है वह देवनिर्मित श्रेष्ठ स्थानमें विराजता है।

२ विश्वधायसं गर्भं बिभर्ति—सबका धारण पोषण करनेवालेको सभी अपने अन्तः करणमें आदरसे रखते हैं।

[६] (५२) (अमृतस्य भूरेः अग्निः ईशे हि) अन्नदान बहुत करनेके लिये अग्नि समर्थ है। (सुवीर्यस्य रायः दातोः ईशे) उत्तम वीर्य युक्त धन देनेमें अग्नि समर्थ है। हे (सहसावन्) बलवान् अग्ने! (वयं अवीराः त्वा मा परिषदाम) हम पुत्रहीन वा वीरताहीन होकर तेरी सेवा करनेके लिये न बैठें। (अप्सवः मा) रूपरहित होकर हम न बैठें। (अदुवः मा) भक्तिहीन भी हम न हों।

मानवधर्म-- मनुष्योंके पास बहुत अन्न हो, उत्तम पराक्रम करनेकी शक्ति हो, वे पुत्रहीन तथा वीरता हीन अर्थात् भीरु न बनें, कुरूप तथा सौंदर्यहीन न हों। भक्ति हीन भी न हों। मनुष्य धनवान्, शूर, पराक्रमी, वीर्यवान्, सामर्थ्यवान्, पुत्रपौत्रवान्, धैर्यवान्, सुन्दर, शोभायुक्त, भक्तिमान हों। मनुष्य मलीन न रहें। अपना सौंदर्य बढावें, शृंगार बढावें, अपने घर, उद्यान और शरीरकी सजावट करके शोभा बढावें। सुन्दर रहें, दुर्मुख कभी न रहें।

१ अमृतस्य भूरेः ईशे—बहुत अन्नका दान करनेमें हम समर्थ हों।

२ सुवीर्यस्य रायः ईशे—उत्तम वीर्य युक्त धनके हम स्वामी बनें।

३ वयं अवीराः मा—हम संतान रहित अथवा वीरता रहित न हों।

४ वयं अप्सवः मा—हम सौंदर्य हीन न हों।

५ वयं अदुवः मा--हम भक्ति हीन भी न हों।

[७] (५३) (अरणस्य रेक्णः परिषद्यं हि) ऋण रहित मनुष्य का धन पर्याप्त होता है। (नित्यस्य रायः पतयः स्याम) इसलिये हम नित्य रहनेवाले धनके स्वामी बनें। हे अग्ने! (अन्यजातं शेषः न अस्ति) अन्य मनुष्यका पुत्र औरस पुत्र नहीं कहलाता। (अचेतानस्य पथः मा विदुक्षः) निर्बुद्धके मार्ग को हम न जानें॥

मानवधर्म-- जो मनुष्य ऋण नहीं करता उसका धन पर्याप्त होता है। सब अपने पास नित्य रहनेवाले धनके स्वामी बनें। दत्तक पुत्र औरस नहीं कहलाता। मूर्ख मनुष्यके मार्गसे कोई न जावे।

१ अरणस्य रेक्णः परिषद्यं—ऋण रहित मनुष्यका धन बहुत होता है। मनुष्य ऋण न करे और अपने पासके

८ नहि ग्रभायारणः सुशेवो ऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित् स एत्याऽऽनो वाज्यभीषाळेतु नव्यः ५४

९ त्वमग्ने वनुष्यतो नि पाहि त्वमु नः सहसावन्नवद्यात्।
सं त्वा ध्वस्मन्वदभ्येतु पाथः सं रयिः स्पृहयाय्यः सहस्री ५५

१० एता नो अग्ने सौभगा दिदीह्यपि क्रतुं सुचेतसं वतेम।
विश्वा स्तोतृभ्यो गृणते च सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ५६

धनमें ही अपनी आवश्यकताओंको निभावे। ऋण करके भोग न करे।

२ **नित्यस्य रायः पतयः स्याम**—स्थायी रहनेवाला धन हमारे पास हो। विनष्ट होनेवाला धन हमारे पास न आवे।

३ **अन्यजातं शेषः नास्ति**--अन्यका पुत्र अपना औरस पुत्र नहीं होता। अपना पुत्र औरस ही होना चाहिये।

४ **अचेतनस्य पथः मा विदुक्षः**-- मूढोंके मार्गोंको हम कदापि न जानें और उनसे कभी हम न जांय।

[८] (५४)(अन्य-उदर्यः सुशेवः अरणः) दूसरेका पुत्र सुखसे सेवा करनेवाला और ऋण न करनेवाला होनेपर भी वह पुत्र करके (ग्रभाय नहि) ग्रहण करने योग्य नहीं होता, इतना ही नहीं परंतु वह (मनसा मंतवै ऊं) मनसे माननेके लिये भी योग्य नहीं है। (अध ओकः चित् पुनः इत् स एति) क्योंकि वह अपने निज पिताके घरके पास ही खींचा जाता है। अतः (नव्यः वाजी अभीषाट् नः आ एतु) नवीन बलवान् शत्रुका पराभव करनेवाला पुत्र ही हमें प्राप्त होवे।

मानवधर्म-- दूसरेका पुत्र दत्तक लिया और वह उत्तम सेवा करनेवाला, ऋण न करनेवाला भी हुआ, तथापि वह अपना पुत्र नहीं हो सकता। जो दूसरेका है वह दूसरेका ही होता है। मनसे भी उसे औरस नहीं मान सकते। वह अपने मातापिताके घरकी ओर खींचा जायगा। इस लिये हमें बलवान् शत्रुका पराभव करनेवाला ऐसा औरस पुत्र ही चाहिये।

१ **अन्योदर्यः सुशेवः अरणः ग्रभाय नहि**—दूसरेका पुत्र उत्तम सेवा करनेवाला, तथा अधिक व्यय न करनेवाला, ऋण न करनेवाला होनेपर भी उसको औरस पुत्रका महत्त्व नहीं प्राप्त हो सकता। जो औरस पुत्र होता है वही उत्तम है।

२ **अन्योदर्यः मनसा मंतवै नहि**—दूसरेका पुत्र औरस मानना, मनसे वैसी कल्पना करना भी अशक्य है।

३ **सः ओकः एति**—वह अपने मातापिताके घरकी ओर ही जायगा। उसका मन इधर नहीं लगेगा।

४ **नव्यः वाजी अभीषाट् नः एतु**—नवीन बलवान और शत्रुका पराभव करनेवाला औरस पुत्र हमें उत्पन्न हो।

यहां औरस पुत्रका महत्त्व कहा है वह सत्य है। गृहस्थीको औरस संतान अवश्य होनी चाहिये।

[९] (५५) हे अग्ने! (त्वं वनुष्यतः नः निपाहि) तू हिंसकों से हमें बचा। हे (सहसावन्) बलवान्! (त्वं अवद्यात् नः पाहि) तू पापसे हमें बचा। (त्वा ध्वस्मन्वत् पाथः अभिएतु) तुम्हारे पास निर्दोष अन्न पहुंचे। (स्पृहयाय्यः सहस्री रयिः सं एतु) हमारे पास प्राप्त करने योग्य सहस्रों प्रकारका धन आ जाय।

मानवधर्म— हिंसकोंसे अपने आपको बचाओ। पापसे अपने आपको बचाओ। दोष रहित अन्नपानका सेवन कर। प्रशंसा करने योग्य हजारों प्रकारका धन प्राप्त करो।

१ **वनुष्यतः निपाहि**—हिंसकोंसे बचाओ,

२ **अवद्यात् निपाहि**—पापसे बचाओ,

३ **ध्वस्मन्वत् पाथः अभ्येतु**--निर्दोष खान पान तुम्हारे पास आजावे

४ **स्पृहयाय्यः सहस्री रयिः समेतु**-स्पृहणीय हजारों प्रकारका धन हमें प्राप्त हो।

१० (५६) अर्थ लिखा है देखो १० (४६) वां मंत्र।

(५) ९ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। वैश्वानरोऽग्निः। त्रिष्टुप्।

१ प्राग्नये तवसे भरध्वं गिरं दिवो अरतये पृथिव्याः।
यो विश्वेषाममृतानामुपस्थे वैश्वानरो वावृधे जागृवद्भिः ५७

२ पृष्टो दिवि धाय्यग्निः पृथिव्यां नेता सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम्
स मानुषीरभि विशो वि भाति वैश्वानरो वावृधानो वरेण ५८

३ त्वद् भिया विश आयन्नसिक्नीरसमना जहतीर्भोजनानि।
वैश्वानर पूरवे शोशुचानः पुरो यदग्ने दरयन्नदीदेः ५९

४ तव त्रिधातु पृथिवी उत द्यौर्वैश्वानर व्रतमग्ने सचन्त।
त्वं भासा रोदसी आ ततन्थाऽजस्रेण शोचिषा शोशुचानः ६०

---

[१] (५७) (तवसे दिवः पृथिव्याः अरतये) वृद्धिंगत हुए, द्युलोक और पृथिवीपर गमन करनेवाले (अग्नये गिरं भरध्वं) अग्निके लिये स्तोत्र भर दो, करो। (यः वैश्वानरः) जो वैश्वानर अग्नि (विश्वेषां अमृतानां उपस्थे) सब देवोंके समीप (जागृवद्भिः ववृधे) जागनेवालोंके द्वारा बढाया जाता है।

[२] (५८) (सिन्धूनां नेता) नदियोंका चालक और (स्तियानां वृषभः) जलोंका वर्षण कर्ता (पृष्ठः अग्निः) सुपूजित हुआ अग्नि (दिवि पृथिव्यां धायि) द्युलोकमें और पृथिवीपर स्थापित हुआ है। (सः वैश्वानरः वरेण ववृधानः) वह सर्वजन हितकारी अग्नि श्रेष्ठ हविसे बढता हुआ (मानुषीः विशः अभि वि भाति) मानवी प्रजाओंमें प्रकाशता है।

यह अग्नि वृष्टि करता है, वृष्टिसे नदियां भरपूर भरकर बहती हैं। यह अग्नि पृथिवीपर तथा आकाशमें है और यहां पूजा लेता है। वही अग्नि यहां हवनसे बढता हुआ मानवी प्रजाओंमें यज्ञोंके अन्दर प्रकाश रहा है।

[३] (५९) हे वैश्वानर! (त्वत् भिया) तेरी भीतिसे (असिक्नीः विशः) काली प्रजा (भोजनानि जहतीः) भोजनोंको भी त्यागती हुई (असमनाः आयन्) तितर बितर होकर भागने लगी थी। (यत् पूरवे शोशुचानः) जब तू पुरु राजाके लिये प्रकाशित होकर (पुरः दरयन् अदीदेः) शत्रुकी नगरियोंका विदारण करके प्रज्वलित हुआ था।

पुरु राजाके पास अग्नि था, यह अग्नि उसका सहायक था। पुरु राजाके लिये इसने शत्रुकी नगरियोंको जलाया, तब भोजन, धन आदि सबको त्याग कर इस अग्निकी भीतीसे काली प्रजा तितर बितर होकर भागने लगी थी।

युद्धके समय शत्रुकी नगरियोंको अग्नि प्रयोगसे जलाते हैं, उस समय जलनेवाले नगरकी प्रजा जल जानेके भयसे इतस्ततः भागती है, और अपने सब सुख साधन फेंक कर जहां अग्नि-भय नहीं होगा वहां जाती है। युद्धमें अग्निके अस्त्र प्रयोगसे शत्रुसेनाकी अवस्था ऐसी होती है।

[४] (६०) हे वैश्वानर अग्ने! (तव व्रतं त्रिधातु) तेरे व्रतका त्रिधातु अर्थात् पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोकमें रहनेवाले लोग (सचन्त) पालन करते हैं। (अजस्रेण शोशुचा शोशुचानः) विशेष प्रकाशसे प्रकाशित होता हुआ (त्वं) तू अपने (भासा रोदसी आततन्थ) तेजसे द्युलोक और पृथिवी लोकको विस्तृत करता है।

अग्निके व्रतका पालन सब करते हैं, उसका उल्लंघन कोई कर नहीं सकता। वह स्वयं अजस्र प्रकाशसे प्रकाशित होकर अपने प्रकाशसे सब स्थानोंको प्रकाशित करता है जिससे मानवी कार्य-क्षेत्रके लिये विस्तृत स्थान मिलता है यही इसका द्यावापृथिवीको विस्तृत करना है।

त्वामग्ने हरितो वावशाना गिरः सचन्ते धुनयो घृताचीः ।
५ पतिं कृष्टीनां रथ्यं रयीणां वैश्वानरमुषसां केतुमह्नाम् ६१

त्वे असुर्यं वसवो न्यृण्वन् क्रतुं हि ते मित्रमहो जुषन्त ।
६ त्वं दस्यूँरोकसो अग्न आज उरु ज्योतिर्जनयन्नार्याय ६२

स जायमानः परमे व्योमन् वायुर्न पाथः परि पासि सद्यः ।
७ त्वं भुवना जनयन्नभि क्रन्नपत्याय जातवेदो दशस्यन् ६३

---

[५] (६१) हे अग्ने! (कृष्टीनां पतिं) कृषि करनेवाली प्रजाके स्वामी, (रयीणां रथ्यं) धनोंके संचालक, (उषसां अह्नां केतुं) उषाओं सहित दिनोंके ध्वजके समान (वैश्वानरं त्वां) तुझ वैश्वानरकी (वावशाना हरितः) चाहनेवाले घोडे (सचन्ते) सेवा करते हैं। तथा (घृताचीः धुनयः गिरः सचन्ते) घीको हविके साथ मिलाकर पापको धोनेवाली स्तुतियां भी तेरी सेवा करती हैं।

सूर्यरूपी अग्नि उषाओं और दिनोंका मानो ध्वज ही है, दिनमें सब व्यवहार होकर धन प्राप्त होते हैं, इसलिये यह धनोंका प्रेरक है, धनोंका रथ ही है। इस कारण प्रजाओंका कृषकोंका हितकारी है। इस अग्निको घोडों द्वारा चलाये रथमें रखकर चारों ओर घुमाते हैं, उस समय स्तोता इसकी प्रशंसा गाते हैं और साथ साथ हवन भी करते हैं।

[६] (६२) हे (मित्रमहः) मित्रके महत्त्वको बढानेवाले अग्ने! (त्वे वसवः असुर्यं नि ऋण्वन्) तेरे अन्दर वसु देवोंने बलको स्थापित किया है। तथा उन्होंने (ते क्रतुं जुषन्त हि) तेरी प्रीति करनेवाले कर्मको किया है। तथा (त्वं आर्याय उरु ज्योतिः जनयन्) तूने आर्योंके लिये विशेष प्रकाश उत्पन्न करके (दस्यून् ओकसः आजः) शत्रुओंको अपने स्थानसे उखाड दिया है।

इस अग्निमें विलक्षण बल है वह बल उसमें वसुओंने रखा है। जो आठ वसु हैं उनके कारण यह बल इस अग्निमें है। इस बलसे यह अग्नि जिसका सहायक होता है उसका बल और महत्त्व बढा देता है। यह अग्निका अस्त्र है। उसके नियमोंका पालन करनेवालोंके लिये ही यह सहायक होता है। जो पुरुषार्थी लोग होते हैं वे आर्य हैं। उनके पास यह अग्निका अस्त्र था। युद्धमें वे इसका प्रयोग करके शत्रुओंको भगाते थे। युद्धमें इन अस्त्रोंका उपयोग करना और शत्रुओंको दूर करना चाहिये। यह इसका बोध है। शत्रुपर ऐसा हमला करना चाहिये कि जिससे शत्रु स्वस्थानको छोडकर भाग जाय।

[७] (६३) (सः त्वं) वह तू (परमे व्योमन् जायमानः) अति दूरके आकाशमें सूर्य रूपसे उत्पन्न होकर (वायुः न) वायुके समान (पाथः सद्यः परिपासि) सोमरसको प्रथम ही सत्वर पीता है। हे (जातवेदः) वेदके प्रकाशक! (त्वं भुवना जनयन्) तू भुवनों-जलोंको प्रकट करता हुआ (अपत्याय दशस्यन्) संतानकी कामनाओंको पूर्ण करता है और (अभिक्रन्) गर्जना करता है, विद्युत् रूपसे बडा शब्द करता है।

अग्नि द्युलोकमें सूर्य रूपसे, अन्तरिक्षमें विद्युत् रूपसे रहता और गर्जना भी करता है और पृथ्वीपर रहकर मनुष्योंकी सहायता अनेक प्रकारसे करता है। अग्निका वाणीसे संबंध विद्युत् रूपी अग्निकी मेघगर्जनासे स्पष्ट अनुभवमें आता है। अग्निसे वाक् हुई, विद्युदग्निसे गर्जना हुई। यह अग्निसे वाणीका संबंध है।

अग्निसे जल उत्पन्न होनेका अनुभव भी अन्तरिक्षमें ही होता है, मेघोंमें विद्युत् चमकती है, पश्चात् वृष्टि होती है। यही अग्निसे जलका उत्पन्न होना है।

८ तामग्ने अस्मे इषमेरयस्व वैश्वानर द्युमतीं जातवेदः ।
यया राधः पिन्वसि विश्ववार पृथु श्रवो दाशुषे मर्त्याय ६४

९ तं नो अग्ने मघवद्भ्यः पुरुक्षुं रयिं नि वाजं श्रुत्यं युवस्व ।
वैश्वानर महि नः शर्म यच्छ रुद्रेभिरग्ने वसुभिः सजोषाः ६५

(६) ७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । वैश्वानरोऽग्निः । त्रिष्टुप् ।

१ प्र सम्राजो असुरस्य प्रशस्तिं पुंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य ।
इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दे दारुं वन्दमानो विवक्मि ६६

---

[८] (६४) हे (जातवेद वैश्वानर अग्ने) वेदके प्रकट करनेवाले विश्वके नेता अग्ने! (तां द्युमतीं इषं अस्मे आ ईरयस्व) उस दीप्तिमय वृष्टिको हमारे पास प्रेरित करो। (यया राधः पिन्वसि) जिससे धनका पालन तू करता है, और हे (विश्ववार) सबको स्वीकार करने योग्य अग्ने! (पृथु श्रवः दाशुषे मर्त्याय) बडा यश दाता मनुष्यके लिये तू ही देता है।

अन्तरिक्षमें मेघोंमें रहा अग्नि विद्युत् रूपसे चमकता है और वृष्टिको प्रेरित करता है, जिससे लोगोंको धान्यरूपी धन प्राप्त होता है, इसका दान यज्ञमें मनुष्य करते हैं और उससे उनको बडा यश मिलता है । " विद्युत्-अग्नि-वृष्टि-धान्य-धन-दान-यज्ञ-यश " का यह संबंध है । अग्निसे यह सब होता है ।

[९] (६५) हे (वैश्वानर अग्ने) सब मानवोंका हित करनेवाले अग्ने! (मघवद्भ्यः नः) हविरूपी धन धारण करनेवाले हमारे लिये (तं पुरुक्षुं रयिं) उस बहुत यश देनेवाले धनको तथा (श्रुत्यं वाजं युवस्व) कीर्ति बढानेवाले बलको दो। हे अग्ने! (वसुभिः रुद्रेभिः सजोषाः) वसु और रुद्रोंके साथ रहनेवाला तू (नः महि शर्म यच्छ) हमारे लिये सुख दो।

हमारे पासका हवि हम अग्निको देते हैं और वह अग्नि हमें धन, बल, यश और सुख देवे । हमें धन चाहिये, बल चाहिये, यश, तथा सुख चाहिये । वह इस अग्निकी सहायतासे मिल सकता है । (वैश्वानरः अग्निः) मनुष्य अग्निके समान तेजस्वी बने और सब लोगोंके हित करनेके कार्य करे। (पुरुक्षुं रयिं) धन ऐसा प्राप्त करे कि जिससे सबका जीवन सुखमय हो। (श्रुत्यं वाजं) बल ऐसा प्राप्त करे कि जिससे इसका यश सर्वत्र फैल जाय । और (महि शर्म) सबको अधिकसे अधिक सुख प्राप्त होता रहे । मानवोंके लिये अग्नि आदर्श है। उसके गुण योग्य मार्गसे मनुष्य अपने जीवनमें ढाल देवे ।

[१] (६६) (दारुं वन्दे) शत्रुओंकी नगरियोंका नाश करनेवाले वीरको मैं प्रणाम करता हूं। (वंदमानः) उसको नमन करता हुआ मैं (सम्राजः असुरस्य पुंसः) सम्राट् बलवान् वीर (कृष्टीनां अनुमाद्यस्य) प्रजाओं द्वारा अनुमोदित (तवसः इन्द्रस्य इव) बलवान् इन्द्रके समान वैश्वानर अग्निके (कृतानि विवक्मि) किये कर्मोंका वर्णन करता हूं।

सब प्रजाजनोंका हित करनेवाला वैश्वानर अग्नि है। यह शत्रुओंके किलों और नगरोंको तोडता है । यह सम्राट् है, बलवान है और वीर है तथा प्रजाओं द्वारा अनुमोदित है, इसको प्रजाओंकी अनुमति है । इन्द्रके समान यह बलिष्ठ है। इसने पराक्रम किये हैं उनका मैं यहां वर्णन करता हूं।

१ दारुं वन्दे—शत्रुका विदारण, शत्रुके किलों और नगरोंका नाश करनेवाले वीरको प्रमाण करता हूं । ऐसा वीर सबके प्राणाम लेने योग्य होता है ।

२ कृष्टीनां अनुमाद्यः—प्रजाजनों द्वारा, कृषि करनेवाले किसानों द्वारा अनुमोदित, इनकी संमतिसे सुप्रतिष्ठित जो होता है वह राजा होता है ।

२ कविं केतुं धासिं भानुमद्रेर्हिन्वन्ति शं राज्यं रोदस्योः ।
पुरंदरस्य गीर्भिरा विवासेऽग्नेर्व्रतानि पूर्व्या महानि ६७

३ न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान् ।
प्रप्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून् ६८

---

३ **सम्राट् असुरः पुमान्**-- प्रजाओंके द्वारा अनुमोदित सम्राट् बलवान् और वीर, पुरुषार्थ करनेकी शक्तिसे युक्त जो होता है वही सबको वन्दनीय है ।

४ **वैश्वानरः अग्निः**—यह सब जनोंका हित करता है, अग्नि समान तेजस्वी है, अग्रणी नेता और मार्ग दर्शक है । यही वीर वन्दनीय है ।

५ **इन्द्रस्य इव कृतानि विवक्मि**—इन्द्रके समान इस वीरके पराक्रमोंके कर्मोंका मैं वर्णन करता हूं। इन्द्रके पराक्रमोंका वर्णन इन्द्रके सूक्तोंमें होगा और इस वैश्वानरके पराक्रमोंका वर्णन इस सूक्तमें तथा अन्य सूक्तोंमें होगा ।

६ **तवसः पुंसः कर्माणि**—बलवान् वीर पुरुषके ये कर्म है। ये शूरवीर विजेता और अपराजित विजयी वीरके ये पौरुष कर्म हैं ।

इस सूक्तमें अग्निके विशेषण ऐसे दिये हैं कि जो वीर सम्राट्के विशेषण हो सकते हैं । उत्तम आदर्श सम्राट्का यह वर्णन हो सकता है । वेदकी यह एक विशेष शैली है कि किसी देवताके वर्णनके मिषसे वह सम्राट्, नायक आदिका वर्णन करता है। पाठक इस वर्णनको देखें और यह श्लेषार्थ जानें ।

मानवधर्म— वीर युद्धमें शत्रुके किले और नगर तोडे । वह बलवान् पुरुषार्थी तथा उत्तम राजा होकर प्रजाका हित करनेके लिये राज्य करे । जिसके लिये प्रजाकी अनुमति हो वही राजा बने । ऐसे राजाके जो उत्तम पौरुषके पराक्रम हों, उनका वर्णन करना योग्य है ।

ऐसे वर्णनके वीरकाव्य गाये जांय । इनको सुनकर अन्य पुरुषार्थी वीरोंके मनोंमें उत्तम प्रेरणा होगी और वे भी पुरुषार्थी बननेका प्रयत्न करेंगे । वीर काव्योंके गानका यह समाज पर सुपरिणाम होता है ।

[२] (६७) कविं केतुं) ज्ञानी, सूचक, अथवा ज्ञापक, (अद्रेः धासिं भानुं) कीलोंका धारक, प्रकाशक, (रोदस्योः शं राज्यं) द्युलोक और पृथिवीका सुखकारक रीतिसे राज्य करनेवाला, ऐसे (पुरंदरस्य अग्नेः पूर्व्या महानि व्रतानि) शत्रुके किले तोडनेवाले अग्निके पुरातन बडे महान पुरुषार्थोंका (गीर्भिः आ विवासे) अपनी वाणीसे मैं वर्णन करता हूं। इस वर्णनसे मैं उसकी सेवा करता हूं ।

मानवधर्म— राजा ज्ञानी, दूरदर्शी, उत्तम प्रभावका सूचक, अपने किलों और नगरोंका संरक्षक, तेजस्वी, जनताको सुख देनेके लिये ही राज्य करनेवाला हो। ऐसे वीर राजाके पौरुषोंका काव्य किया जाय और गाया जाय ।

उत्तम राजाके गुण ये हैं--

१ **कविः**—राजा ज्ञानी हो, क्रान्तदर्शी, सुदूरदर्शी हो, जो अन्योंको दीखता नहीं वह उसको समझे, भविष्यमें जो होनेवाला है वह इसको प्रथम विदित हो और वैसा वह प्रबंध करे ।

२ **केतुः**–राजा ध्वज जैसे उच्च स्थानपर रहता है, वैसे उच्च स्थानपर विराजे । वह उत्तम राज्य व्यवस्थाका झंडा जैसा हो ।

३ **अद्रेः धासिः** – पहाडों, किलों और नगरके प्राकारोंका संरक्षण करे,

४ **भानुं**--राजा तेजस्वी हो,

५ **शं राज्यं**--शान्तिसे राज्य करे, जिससे जनताको सुख प्राप्त हो,

६ **पुरंदरः**--शत्रुके किलों और नगरोंको युद्धके समय तोडे,

७ **महानि व्रतानि**--महान पुरुषार्थ करता रहे.

[३] (६८) (अक्रतून् ग्रथिनः) सत्कर्म न करनेवाले, वृथा भाषण करनेवाले, (मृध्रवाचः पणीन्) हिंसक वाणी बोलनेवाले, पणी अर्थात् सूदका व्यवहार करनेवाले, (अश्रद्धान् अवृधान्) अश्रद्ध और हीन अवस्थाको पहुंचनेवाले (अय-

४ यो अपाचीने तमसि मदन्तीः प्राचीश्चकार नृतमः शचीभिः ।
तमीशानं वस्वो अग्निं गृणीषे ऽनानतं दमयन्तं पृतन्यून् ॥ ६९
५ यो देह्यो अनमयद् वधस्नैर्यो अर्यपत्नीरुषसश्चकार ।
स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृतः सहोभिः ॥ ७०

ज्ञान् तान् दस्यून्) यज्ञ न करनेवाले उन दस्युओंको (अग्निः प्र प्र विवाय) अग्नि निःसंदेह हटा देता है। हीन कर देता है, दूर करता है। (पूर्वः अग्निः) मुख्य अग्नि (अ-यज्यून्) यज्ञ न करनेवालोंको (अ-परान् चकार) कनिष्ठ बना देता है। श्रेष्ठ स्थानपर नहीं रखता।

मानवधर्म-- जो शुभकर्म नहीं करते, जो केवल वृथा भाषण ही करते रहते हैं, हिंसाको बढानेवाला भाषण करते हैं, जो सूदका व्यवहार करते हैं, जो अत्यधिक सूद लेते हैं, जो ईश्वरपर श्रद्धा नहीं रखते, जो हीन अवस्थाको प्राप्त होनेके ही व्यवहार करते हैं, जो यज्ञ नहीं करते, जो डाका डालते रहते हैं, इनको राजा उच्च अधिकारके स्थानोंपर न रखे, उच्च स्थानसे हटा देवे।

अर्थात् जो सदा प्रशस्ततम सत्कर्म करते हैं, जो मित, पथ्य और हित कारक भाषण करते हैं, जो हिंसाको कम करनेका यत्न करते हैं, जो सूदका व्यवहार नहीं करते, पर करेंगे तो ऋणीको हानि पहुंचाने योग्य कठोर रीतिसे नहीं करते, जो श्रद्धालु हैं, जो उच्च होनेकी इच्छासे सतत प्रयत्नशील होते हैं, जो यज्ञ करते हैं, जो सज्जन होते हैं ऐसे पुरुषोंको राजा उच्च अधिकारके स्थानपर रखें।

उत्तम राज्यशासन होनेके लिये उत्तम लोग ही उच्च अधिकारके स्थानोंपर चाहिये। इसलिये जो उच्च स्थानोंपर रहनेके योग्य नहीं हैं, उनका वर्णन इस मन्त्रमें किया है। ऐसे दुष्टोंको उच्च अधिकारके स्थानपर रखना उचित नहीं है।

[४] (६९) (नृतमः) उत्तम नेता ने (अपाचीने तमसि) गाढ अन्धकारमें (मदन्तीः) निमग्न होकर आनंद माननेवाली परन्तु स्तुति करनेवाली प्रजाको (शचीभिः प्राचीः चकार) प्रज्ञाबुद्धिसे ऋजुगामी किया। (तं वस्वः ईशानं) उस धनके स्वामी (अनानतं पृतन्यून् दमयन्तं) अदीन परंतु सेनासे हमला करनेवाले शत्रुका दमन करनेवाले (अग्निं गृणीषे) अग्निकी मैं प्रशंसा करता हूं।

मानवधर्म— उत्तम नेताको उचित है कि वह गाढ अन्धकारमें पडी और वहीं आनंद माननेवाली प्रजाको, उनकी प्रज्ञा जागृत करके, सीधे उन्नतिके मार्गसे चलावे। ऐसे धनके स्वामी, आत्मसंमान रखनेवाले तथा शत्रुका दमन करनेवाले अग्निसमान तेजस्वी वीरके गीत गाये जांय।

१ नृतमः अपाचीने तमसि मदन्तीः शचीभिः प्राचीः चकार--उत्तम नेता वह है कि जो अज्ञानमें पडी प्रजाको, उनकी बुद्धिमें जाग्रति उत्पन्न करके उन्नतिके मार्गसे चलावे।

२ वस्वः ईशानं अनानतं पृतन्यून् दमयन्तं गृणीषे। —धनके स्वामी, आत्मसंमानी तथा शत्रुका दमन करनेमें समर्थ वीरकी स्तुति की जाय।

ऐसे वीरोंकी स्तुति की जाय। ये वीरोंको गीत सुननेवालोंमें वीरताकी ज्योति जगा सकते हैं।

[५] (७०) (यः देह्यः वधस्नैः अनमयत्) जो आसुरी घातकोंको अपने आयुधोंसे विनम्र करता है, (यः उषसः अर्यपत्नीः चकार) जो सूर्य पत्नी उषाको निर्माण करता है। (सः यह्वः अग्निः सहोभिः विशः निरुध्य) उस महान अग्निने अपनी शक्तियोंसे प्रजाका निरोध करके (नहुषः बलिहृतः चक्रे) उस प्रजाको राजाको कर देनेवाली बना दिया।

मानवधर्म-- प्रजाको सतानेवाले आसुरी गुण्डोंको अपने दण्डसे अथवा शस्त्रसे राजा नम्र तथा शासनानुकूल चलनेवाली बनावे। महान शासक अपने शासनके प्रबंधसे प्रजाको निरुद्ध करके कर देनेवाली बनावे।

६ यस्य शर्मन्नुप विश्वे जनास एवैस्तस्थुः सुमतिं भिक्षमाणाः ।
वैश्वानरो वरमा रोदस्योराग्निः ससाद पित्रोरुपस्थम् ७१

७ आ देवो ददे बुध्न्या३ वसूनि वैश्वानर उदिता सूर्यस्य ।
आ समुद्रादवरादा परस्मादाग्निर्ददे दिव आ पृथिव्याः ७२

प्रजाका पालन राजा करता है, इसलिये प्रजाको उचित है कि वह अपने संरक्षणके लिये अपने प्राप्त धनसे राजाको योग्य कर देवे। जो प्रजा कर न देनेका प्रयत्न करे, अर्थात् योग्यता होने पर भी कर न देनेका प्रयत्न करे, उन दुष्ट प्रजाजनोंको राजा चारों ओरसे घेर कर उनको कर देनेवाली बना देवे। सब ओरसे घेर कर 'कर देनेका एक ही मार्ग' उनके लिये खुला छोडे, जिससे वह प्रजा जाय और कर देती रहे।

१ स वधस्नैः देह्यः अनमयत्--वह राजा शस्त्रोंसे हिंसक आसुरी कर्म करनेवाले गुण्डोंको विनम्र करे, गुण्डपन वे छोडें और उनको सज्जन बना देवे।

१ सहोभिः विशः निरुध्य बलिहृतः चक्रे--अपने सामर्थ्योंसे कर न देनेवाली प्रजाको निरोधन करके उनको कर देनेवाली बनावे। जो जान बूझकर कर देना टालते हैं, उनसे कर वसूल करे।

[६] (७१) (विश्वे जनासः शर्मन्) सब लोग अपने सुखके लिये (यस्य सुमतिं भिक्षमाणाः) जिसकी उत्तम बुद्धिकी प्रार्थना करके (एवैः उप तस्थुः) अपने उत्तम कर्मोंके समीप खडे रहते हैं, वह (वैश्वानरः अग्निः) सब मानवोंका हितकर्ता अग्नि (पित्रोः उपस्थे) द्यावा पृथिवीके बीचमें (वरं आससाद) श्रेष्ठ स्थानपर बैठ गया।

मानवधर्म-- सब लोग अपनी सुरक्षाके लिये जिसकी सदिच्छाकी अपेक्षा करते हैं, और अपने उत्तम कर्म जिसके सामने रखते हैं, वह सर्वजन हितकारी वीर उच्च स्थानपर विराजने योग्य है।

१ विश्वे जनासः शर्मन् यस्य सुमतिं भिक्षमाणाः- सब लोग अपनी सुरक्षाके लिये जिसकी सद्‌बुद्धिकी अपेक्षा करते हैं वह श्रेष्ठ वीर हैं।

२ एवैः यं उपतस्थुः--सब लोग अपने कर्मोंको जिसके सन्मुख रखना चाहते हैं वह श्रेष्ठ पुरुष है।

३ वैश्वानरः वरं आससाद--सब जनोंका हित करनेवाला वीर उच्च स्थान प्राप्त करता है। जो सब जनोंका हित करनेके कार्य करेगा वह उच्च होगा।

सब जनोंको सुरक्षित रखना, सबके कर्मोंका निरीक्षण करके उनमें जो श्रेष्ठ होगा उसको उच्च स्थान देना और सर्वजन हितकारी वीरको श्रेष्ठ पदपर नियुक्त करना योग्य है।

[७] (७२) (वैश्वानरः अग्निः देवः) सब जनोंका हित करनेवाला अग्नि देव (बुध्न्या वसूनि सूर्यस्य उदिता आददे) अन्तरिक्षके अन्धकारको सूर्यके उदयके समय लेता है। (समुद्रात् अवरात् पृथिव्याः) समुद्रसे तथा इधरकी पृथिवीकी ओरसे (आ) अन्धकारको लेता है। (परस्मात् दिवः आददे) परले द्युलोकसे भी अन्धकारको लेता है। सबको प्रकाशित करता है।

मानवधर्म-- सब जनोंका हित करनेके लिये उन सब जनोंका अज्ञान पूर्णतया दूर करना चाहिये। बुद्धि, मन, इंद्रिय, शरीर तथा विश्व सम्बन्धी सब अज्ञानान्धकार दूर करना चाहिये।

जिस तरह विश्वका अन्धकार दूर होनेसे सब मार्ग स्पष्ट रीतिसे दिखाई देते हैं, उसी तरह मानवोंके अज्ञान दूर होनेसे उनको भी उन्नतिके मार्ग दिखाई देंगे। जो राजा अथवा जनता का नेता है उसको उचित है कि वह जनताका अज्ञान दूर करने का प्रबल यत्न करे। और जनताको ज्ञान विज्ञान संपन्न बना दे। जिससे उनकी उन्नतिके मार्ग उनके सामने खुले हो जायंगे।

(७) ७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। अग्निः। त्रिष्टुप्।

१ प्र वो देवं चित् सहसानमग्निमश्वं न वाजिनं हिषे नमोभिः।
भवा नो दूतो अध्वरस्य विद्वान् त्मना देवेषु विविदे मितद्रुः ७३

२ आ याह्यग्ने पथ्या३ अनु स्वा मन्द्रो देवानां सख्यं जुषाणः
आ सानु शुष्मैर्नदयन् पृथिव्या जम्भेभिर्विश्वमुशधग्वनानि ७४

३ प्राचीनो यज्ञः सुधितं हि बर्हिः प्रीणीते अग्निरीळितो न होता।
आ मातरा विश्ववारे हुवानो यतो यविष्ठ जज्ञिषे सुशेवः ७५

४ सद्यो अध्वरे रथिरं जनन्त मानुषासो विचेतसो य एषाम्।
विशामधायि विश्पतिर्दुरोणेऽ ऽग्निर्मन्द्रो मधुवचा ऋतावा ७६

---

[१] (७३) (वः देवं सहसानं) प्रकाशमान और राक्षसोंके पराभव कर्ता (अग्निं अश्वं इव वाजिनं) अग्रणीको अश्वके समान वेगवान जानकर मैं (नमोभिः चित् प्र हिषे) अन्नोंके साथ प्रेरित करता हूं। (विद्वान् नः अध्वरस्य दूतः भव) तू सब जानता है। इसलिये हमारे हिंसारहित यज्ञ-कर्मका तू दूत हो (त्मना देवेषु मितद्रुः विविदे) स्वयं देवोंमें वृक्षोंको जलानेवाला करके प्रसिद्ध हो।

मानवधर्म-- राक्षसों अथवा शत्रुओंका पराभव करनेवाला तेजस्वी वीर अग्रणी होता है, जो घोडेके समान वेगवान तथा बलवान होता है, उसका प्रणामोंसे, अन्नोंसे तथा धनोंसे सत्कार करना उचित है। जो विद्वान् होगा वही यज्ञोंमें कार्य करे।

[२] (७४) हे अग्ने! तू (मन्द्रः) आनंदित होकर (देवानां सख्यं जुषाणः) देवोंके साथ मित्रता करनेवाला (पृथिव्याः सानुं शुष्मैः) पृथ्वीके ऊपरके उच्च भागको अपने शोषक तेजोंसे (नदयन्) शब्द युक्त करके (जंभेभिः विश्वं वनानि उशधक्) अपनी ज्वालाओंसे सब वनोंको इच्छानुसार जलाता हुआ (स्वाः पथ्याः अनु आ आ याहि) अपने मार्गोंसे इस ओर आ जा।

[३] (७५) (यज्ञः प्राचीनः) यज्ञ पूर्वाभिमुख है। (बर्हिः हि सुधितं) दर्भासन अच्छी तरह रखा है। (ईळितः अग्निः प्रीणीत) प्रशंसित अग्नि तृप्त होता है। (होता न) और होता भी वैसा ही होता है। (विश्वावारे मातरा) विश्वके द्वारा वरणीय द्यावा पृथिवी (हुवानः) बुलाये जा रहे हैं। हे (यविष्ठ) तरुण अग्ने! तू (यतः) जब (सुशेवः जज्ञिषे) उत्तम सेवा करने योग्य होता है। तब यह सब वैसाही होता है।

[४] (७६) (विचेतसः मानुषासः) विशेष बुद्धिमान मनुष्य (अध्वरे रथिरं सद्यः जनन्त) हिंसारहित यज्ञमें रथमें बैठनेवाले नेता अग्निको शीघ्रतासे उत्पन्न करते हैं। (यः एषां) जो इनके हविका हवन करता है वह (विश्पतिः मन्द्रः) प्रजाओंका पालक आनन्द बढानेवाला है, (मधुवचा ऋतावा) वह मधुरभाषी सत्यनिष्ठ अग्नि (विशां दुरोणे अधायि) प्रजाओंके घरमें स्थापित हुआ है।

विशेष ज्ञानी मनुष्य हिंसा रहित कर्म करते हैं और उसमें वीरका सत्कार करते है, क्योंकि वीर ही ऐसे कर्म कर सकता है। प्रजाओंका यह पालक-राजा-सबका आनन्द बढाता हुआ, मीठा भाषण करनेवाला तथा सत्यनिष्ठ रह कर प्रजाओंके स्थानमें ही रहे, प्रजाजनोंमें ही रहे। अपने राष्ट्रमें ही रहे।

जो राजा प्रजाओंमें रहता है उसको प्रजाके सुखदुःख मालूम होते हैं और इस कारण वह सत्य रीतिसे प्रजाका हित कर सकता है।

५ असादि वृतो वह्निराजगन्वानग्निर्ब्रह्मा नृषदने विधर्ता ।
द्यौश्च यं पृथिवी वावृधाते आ यं होता यजति विश्ववारम् ७७

६ एते द्युम्नेभिर्विश्वमातिरन्त मन्त्रं ये वारं नर्या अतक्षन् ।
प्र ये विशस्तिरन्त श्रोषमाणा आ ये मे अस्य दीधयन्नृतस्य ७८

७ नू त्वामग्न ईमहे वसिष्ठा ईशानं सूनो सहसो वसूनाम् ।
इषं स्तोतृभ्यो मघवद्भ्य आनड् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ७९

(८) मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

१ इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन ।
नरो हव्येभिरीळते सबाध आग्निरग्र उषसामशोचि ८०

२ अयमु ष्य सुमहाँ अवेदि होता मन्द्रो मनुषो यह्वो अग्निः ।
वि भा अकः ससृजानः पृथिव्यां कृष्णपविरोषधीभिर्ववक्षे ८१

---

[५] (७७) (वृतः वह्निः ब्रह्मा) वरण किया हुआ ब्रह्मा ज्ञानी (विधर्ता अग्निः) विशेष रीतिसे धारण करनेवाला अग्नि (आजगन्वान्) आ गया है और वह (नृषदने असादि) मनुष्योंके स्थानमें बैठा है। (यं द्यौः च पृथिवी च वावृधाते) जिसको द्युलोक और भूलोक बढाते हैं। और (यं विश्ववारं होता आ यजाति) जिस सबके द्वारा वरण करने योग्यका यजन होता करता है।

[६] (७८) (एते द्युम्नेभिः विश्वं आ तिरंत) ये हमारे लोग अन्नोंसे सब पोष्यवर्गको पुष्टकर रहे हैं। (ये नर्याः मन्त्रं वा अरं अतक्षन्) ये मनुष्य मनन करने योग्य रीतिसे संस्कार करते हैं। (ये विशः श्रोषमाणाः प्रतिरन्त) जो प्रजाजन इसको सुनकर वीरको बढाते हैं। (मे ये ऋतस्य आ दीधयन्) और मेरे ये लोग सत्यको प्रकाशित करते हैं। यह सब यज्ञविधिका वर्णन है।

[७] (७९) हे (सहसः सूनो अग्ने) बलसे उत्पन्न होनेवाले अग्ने! (वसिष्ठाः वयं) हम सब वसिष्ठ (वसूनां ईशानं त्वां) धनोंके स्वामी तुझको हमारे (स्तोतृभ्यः मघवद्भ्यः इषं आनट्) स्तोता और हवि अर्पण करनेवालोंके लिये यह अन्न पहुंचा दो। (यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पात) आप सदा हमें कल्याण करने द्वारा सुरक्षित करो।

[१] (८०) (राजा अर्यः अग्निः नमोभिः सं इन्धे) यह श्रेष्ठ राजा-अग्नि-अन्नोंसे प्रदीप्त हो रहा है। (यस्य प्रतीकं घृतेन आहुतं) जिसका रूप घीके द्वारा हवन करके बढाया जा रहा है। (नरः सबाधः हव्येभिः ईळते) मनुष्य मिलकर हव्योंद्वारा इसको पूजते हैं। वह (अग्निः उषसां अग्रे आ अशोचि) अग्नि उषाओंके सामने प्रकाशित हो रहा है।

[२] (८१) (स्य अयं होता मन्द्र यह्वः अग्निः) यह हवन कर्ता सुखदायी बडा अग्नि (मनुषः सुमहान् अवेदि) मानवोंमें अत्यंत महान् करके प्रसिद्ध है। वह (भाः वि अकः) प्रकाश करता है। (कृष्णपविः पृथिव्यां ओषधीभिः ववक्षे) वह काले मार्गसे जानेवाला अग्नि इस पृथिवीपर औषधियोंसे-काष्ठोंसे-बढता है।

*

३ कया नो अग्ने वि वसः सुवृक्तिं कामु स्वधामृणवः शस्यमानः ।
कदा भवेम पतयः सुदत्र रायो वन्तारो दुष्टरस्य साधोः ८१

४ प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत् सूर्यो न रोचते बृहद् भाः ।
अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ द्युतानो दैव्यो अतिथिः शुशोच ८३

५ असन्नित् त्वे आहवनानि भूरि भुवो विश्वेभिः सुमना अनीकैः ।
स्तुतश्चिदग्ने शृण्विषे गृणानः स्वयं वर्धस्व तन्वं सुजात ८४

---

[३] (८१) हे अग्ने! तू (कया नः सुवृक्तिं वि वसः) किससे हमारी उत्तम स्तुतिको स्वीकारता है? (कां स्वधां शस्यमानः ऋणवः) किस अन्नको लेकर स्तुति करनेपर तू हमें प्राप्त होगा? हे (सुदत्र) उत्तम दान देनेवाले! हम (कदा दुष्टरस्य साधोः रायः पतयः) कब शत्रुके लिये अप्राप्य उत्तम धनके स्वामी और उस (वंतारः भवेम) धनका बटवारा करनेवाले होंगे?

धन ऐसा चाहिये कि जो शत्रुके लिये अप्राप्य हो। अर्थात् हम वीर हों और हमें धन मिले और उसको हम अपने मित्रोंमें बाट सकें।

[४] (८३) (अयं अग्निः भरतस्य प्रप्र शृण्वे) यह अग्नि भरतके यज्ञमें प्रसिद्ध हुआ है। (यत् सूर्यः न बृहद् भाः विरोचते) तब सूर्यके समान यह अत्यंत तेजसे प्रकाशता रहा। (यः पृतनासु पुरुं अभि तस्थौ) यह अग्नि युद्धोंमें पुरु नामक असुरके विरोधमें खडा रहा, (द्युतानः दैव्यः अतिथिः शुशोच) यह तेजस्वी दिव्य अतिथिके समान पूज्य होकर प्रज्वलित हुआ है।

(पृतनासु अभितस्थौ) युद्धोंमें शत्रुका पराभव करनेके लिये अग्नि खडा रहता है। इसका अर्थ स्पष्ट रूपसे यह है कि शत्रुपर अग्न्यस्त्रका प्रयोग करना और उसका पराभव करना। युद्धोंमें प्रदीप्त अग्नि शत्रुपर फेंका जाता था। अग्नि अस्त्र यही है।

यहां भरत और पुरु ये दो पद मानवोंके वाचक हैं। भरतके अनुकूल, अर्थात् भरतके पक्षमें यह अग्नि था और पुरुके विरोधमें यह युद्धमें खडा हुआ था। पुरुका नाश इस अग्निने किया था। 'भरत' पदका अर्थ 'भरण पोषणमें समर्थ' और 'पुरु' का अर्थ जो 'नगर करके उसमें वसता है,' 'पुरवासी' अथवा 'सब भोग साधनोंसे परिपूर्ण' यह शत्रु है, असुर है, विरोधी पक्षका है। अग्निने भरतका हित और पुरुका नाश किया है। पुरुका सहायक भी अग्नि वेदमें है, वहांका पुरु इससे भिन्न है।

[५] (८४) हे अग्ने! (त्वे आहवनानि भूरि असन् इत्) तेरे अन्दर हविर्द्रव्यकी आहुतियाँ बहुत डाली जाती हैं। तू विश्वेभिः अनीकैः सुमना भुवः) अनंत तेजोंसे सुप्रसन्न होता है। (स्तुतः चित् शृण्विषे) स्तुति करनेपर तू उसको श्रवण करता है। हे (सुजात) उत्तम जन्मवाले अग्ने! (गृणानः स्वयं तन्वं वर्धस्व) स्तुति करनेपर अपने शरीरका वर्धन कर। बडा हो जा।

१ विश्वेभिः अनीकैः सुमना भुवः--सब सैनिकोंसे प्रसन्नताके साथ वर्ताव कर। उत्तम सुप्रसन्न चित्तसे वीरोंके साथ बात कर। सबके साथ हास्यमुख रहकर बात कर।

२ स्वयं तन्वं वर्धस्व— स्वयं प्रयत्न करके अपने शरीरको बढा। अपना शरीर बढानेके लिये स्वयं प्रयत्न कर।

६ इदं वचः शतसाः संसहस्रमुदग्नये जनिषीष्ट द्विबर्हाः ।
शं यत् स्तोतृभ्य आपये भवाति द्युमदमीवचातनं रक्षोहा ८५

७ नू त्वामग्न ईमहे वसिष्ठा ईशानं सूनो सहसो वसूनाम् ।
इषं स्तोतृभ्यो मघवद्भ्य आनड् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ८६

(९) मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

१ अबोधि जार उषसामुपस्थाद्धोता मन्द्रः कवितमः पावकः ।
दधाति केतुमुभयस्य जन्तोर्हव्या देवेषु द्रविणं सुकृत्सु ८७

२ स सुक्रतुर्यो वि दुरः पणीनां पुनानो अर्कं पुरुभोजसं नः ।
होता मन्द्रो विशां दमूनास्तिरस्तमो ददृशे राम्याणाम् ८८

---

[६](८५) (शतसाः संसहस्रं द्विबर्हाः) सैंकडों और सहस्रों प्रकारका धन पास रखनेवाले तथा विद्या और कर्मसे श्रेष्ठ बने वसिष्ठने (इदं वचः अग्नये उत् अजानिष्ट) यह स्तोत्र अग्निके लिये बनाया है। (यत् द्युमत् अमीवचातनं रक्षोहा) जो तेजस्वी, रोग दूर करनेवाला, राक्षसोंको दूर करनेवाला तथा जो (आपये शं भवाति) बांधवोंके लिये सुखदायी होता है।

यहां वसिष्ठको ' द्वि-बर्हाः ' कहा है। ज्ञान और कर्ममें प्रवीण ऐसा इसका शब्दार्थ किया है। दो शिखावाला ऐसा भी इसका अर्थ प्रतीत होता है। यहां ' द्विबर्हाः ' के अतिरिक्त वसिष्ठका निर्देश करनेवाला कोई निर्देश नहीं है। इस सूक्तका ऋषि वसिष्ठ है। इसलिये ' **अग्नये इदं वचः अजनिष्ट** ' अग्निके लिये यह सूक्त बनाया है, इन पदोंसे वसिष्ठका अध्याहार यहां किया है।

यह सूक्त (अमीव चातनं) रोगोंका नाश करनेवाला (रक्षोहा) रोग कृमियोंका नाशक है अथवा अदृष्टदोषको दूर करनेवाला है। पाठक इस मंत्रका इस कार्यके लिये उपयोग करें। (आपये शं) बंधु बांधवोंको सुख प्राप्त कर देनेवाला यह सूक्त है। पाठक इस सूक्तका यह उपयोग करें और अनुभव लें।

७ (८६) यह मंत्र ७ (७९) में देखो।

[१](८७) (जारः होता मन्द्रः) सबकी वयोहानि करनेवाला, देवोंको आह्वान करनेवाला, आनन्द देनेवाला (कवितमः पावकः) अत्यंत ज्ञानी, पवित्र करनेवाला (उषसां उपस्थात् अबोधि) उषाओंके मध्यमें जाग उठा। (उभयस्य जन्तोः केतुं दधाति) दोनों प्रकारके प्राणियोंको ज्ञान देता है। (देवेषु हव्या) देवोंमें हवन द्रव्योंको और (सुकृत्सु द्रविणं) पुण्य कर्म करनेवालोंको धन देता है।

' जार ' शब्दका अर्थ " आयुष्यका नाश करनेवाला " ऐसा भी है और " स्तुति करनेवाला " भी है। अग्नि जागते ही यज्ञ स्थानमें स्तुतिके मंत्र बोले जाते हैं। अन्यान्य देवोंको बुलाया जाता है। यज्ञ कर्मका प्रारंभ होता है। इससे सबको आनंद होता है। यह अत्यंत अधिक ज्ञानी और परिशोधन करनेवाला है। यह उषः कालमें उठता है। मनुष्यों तथा पशु पक्षियोंको भी यह जगाता है। उषः कालमें अग्नि जागता है, पशु पक्षी उठते हैं, देवोंका गुणगान शुरू होता है और पुण्य कर्म करनेवालोंको धन दिया जाता है।

कवि-ज्ञानी उषः कालमें उठता है, अपने शुद्धता करनेके कर्म करता है, देवोंको प्रार्थनासे बुलाता है, स्वयं आनंद प्रसन्न रहता है और दूसरोंको भी प्रसन्न रखता है। देवयज्ञ करके हवन करता है और शुभ कर्म कर्ताओंको उनके कर्मोंके अनुसार धन देता है। यह इसी मंत्रका भाव ज्ञानीके दैनंदिनके आचारके विषयमें है। अग्निसे ज्ञानीका वर्णन होता है।

[२](८८) (सः सुक्रतुः) वह उत्तम कर्म करनेवाला है, (यः पणीनां दुरः वि) जिसने पणियोंके-- गौको चोरनेवालेके-- द्वार खोल दिये।

३ अमूरः कविरदितिर्विवस्वान् त्सुसंसन्मित्रो अतिथिः शिवो नः ।
चित्रभानुरुषसां भात्यग्रे ऽपां गर्भः प्रस्व१ आ विवेश ८९

४ ईळेन्यो वो मनुषो युगेषु समनगा अशुचज्जातवेदाः ।
सुसंदृशा भानुना यो विभाति प्रति गावः समिधानं बुधन्त ९०

५ अग्ने याहि दूत्यं१ मा रिषण्यो देवाँ अच्छा ब्रह्मकृता गणेन ।
सरस्वतीं मरुतो अश्विनापो यक्षि देवान् रत्नधेयाय विश्वान् ९१

६ त्वामग्ने समिधानो वसिष्ठो जरूथं हन् यक्षि राये पुरंधिम् ।
पुरुणीथा जातवेदो जरस्व यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ९२

(पुरुभोजसं अर्कं नः धुनानः) वह अधिक दुग्धरूपी भोजन देनेवाले पूजा करने योग्य गौके झुण्डको ढूंढता है। (होता मन्द्रः दमूनाः) वह देवोंको बुलानेवाला, आनंददायक, मनःसंयमी है। (राम्याणां विशां तमः तिरः ददृशे) रात्रियोंका तथा प्रजाओंका अन्धेरा दूर करता है।

वह उत्तम कर्म करता है, चोरोंको पकडता है और उनके द्वार खोलकर गौवोंको मुक्त करता है, पश्चात् ये गौवें अधिक दूध देती हैं। वह हवन कर्ता, आनंद दायक तथा संयमी है। वह रात्रियोंका अन्धेरा दूर करता है और प्रजाजनोंमें जो अज्ञान होता है उसको भी दूर करता है।

अग्निके वर्णनके मिषसे यह ज्ञानीका भी वर्णन है।

[३] (८९) (यः अमूरः कविः) जो अमूढ और ज्ञानी (अदितिः विवस्वान्) अदीन और तेजस्वी (सुसंसत् मित्रः अतिथिः) उत्तम साथी, मित्र और पूज्य (नः शिवः) हमारे लिये शुभकारी (चित्रभानुः) विशेष तेजस्वी (उषसां अग्रे भाति) उषाओंके अग्र भागमें प्रकाशता है, (सः अपां गर्भः) वह जलोंका उत्पादक (प्रस्वः आ विवेश) ओषधियोंके अन्दर प्रविष्ट हुआ है।

वह मूढ नहीं है, वह ज्ञानी, अदीन, तेजस्वी, उत्तम मित्र, पूज्य, शुभ कारी, प्रकाशमान, जलोंका उत्पादक, उषाओंका पकाशक और ओषधियोंमें पविष्ट हो कर रहनेवाला है। अग्निके मिषसे यह ज्ञानीका वर्णन है।

[४] (९०) (वः) तू (मनुषः युगेषु) मनुष्योंके युगोंमें यज्ञके समयमें (ईळेन्यः) स्तुत्य है। (यः जातवेदाः) जो अग्नि धन और वेदका उत्पादक है, (समनगाः अशुचत्) युद्धमें सामना करनेके समयमें वह अधिक तेजस्वी होता है। (सु संदृशा भानुना) उत्तम दर्शन योग्य तेजसे (विभाति) वह प्रकाशता है। उस (समिधानं गावः प्रति बुधन्त) प्रदीप्त होनेवाले अग्निको गौवें अथवा स्तुतियां जगाती हैं।

ज्ञानी सर्व समयमें स्तुतिके लिये योग्य है। जो ज्ञान तथा धन उत्पन्न करता है वह शत्रुके साथ युद्ध करनेके समयमें भी अधिक उत्साही दीखता है। वह दर्शनीय तेजसे प्रकाशता है। इस तेजस्वी ज्ञानीके लिये गौवें प्राप्त होती हैं।

[५] (९१) हे अग्ने! (दूत्यं याहि) दूत कर्म करनेके लिये तू जा। (देवान् अच्छ) देवोंके प्रति जा। (गणेन ब्रह्मकृतः मा रिषण्यः) संघमें रहकर ब्रह्म-स्तोत्र-करनेवाले हम जैसोंका विनाश न कर। (सरस्वतीं मरुतः अश्विना अपः) सरस्वती, मरुत्, अश्विनौ और आप (विश्वान् देवान् रत्नधेयाय यक्षि) विश्वेदेवोंको रत्नोंका दान हमें देनेके लिये सुपूजित कर।

[६] (९२) हे अग्ने। (त्वां वसिष्ठः समिधानः) तुझे वसिष्ठ ऋषि प्रदीप्त करता है। (जरूथं हन्) तू कठोर भाषीका वध कर। (राये पुरंधिं यक्षि)

(१०) ५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। अग्निः। त्रिष्टुप्।

१ उषो न जारः पृथु पाजो अश्रेद् दविद्युतद् दीद्यच्छोशुचानः ।
वृषा हरिः शुचिरा भाति भासा धियो हिन्वान उशतीरजीगः ॥ ९३

२ स्व१र्ण वस्तोरुषसामरोचि यज्ञं तन्वाना उशिजो न मन्म ।
अग्निर्जन्मानि देव आ वि विद्वान् द्रवद् दूतो देवयावा वनिष्ठः ॥ ९४

३ अच्छा गिरो मतयो देवयन्तीरग्निं यन्ति द्रविणं भिक्षमाणाः ।
सुसंदृशं सुप्रतीकं स्वञ्चं हव्यवाहमरतिं मानुषाणाम् ॥ ९५

धनके लिये बहुत बुद्धिवान् दिव्य विबुधोंका सत्कार कर। हे (जात वेदः) अग्ने! (पुरुनीथा जरस्व) बहुत स्तोत्रोंसे देवोंकी स्तुति कर। (यूयं स्वतिभिः नः सदा पात) आप कल्याण करनेके साधनोंसे हम सबको सदा सुरक्षित रखो।

१ जरूथं हन्—कठोर भाषग करनेवालेके लिये ताडन कर। उसे दण्ड दे।

१ राये पुरंधिं यक्षि—धनके लिये बुद्धिमानका सत्कार कर।

[१] (९३ (उषः न जारः) उषाका नाश करनेवाला सूर्य है उसके समान, (पृथु पाजः अश्रेत्) बहुत तेज यह अग्नि अपनेमें धारण करता है। (दविद्युतत् दीद्यत् शोशुचानः) अत्यंत चमकनेवाला तेजस्वी और प्रकाशमान (वृषा हरिः शुचिः) बलवान् दुःखका हरण करनेवाला पवित्र अग्नि (धियः हिन्वानः) बुद्धि तथा कर्मोंको प्रेरित करता है और (भासा आभाति) अपने तेजसे प्रकाशता है। तथा (उशतीः अजीगः) सुखकी कामना करनेवालोंको जगाता है।

मानवधर्म- सूर्यके समान बहुत तेज मनुष्य अपने अन्दर धारण करे। अत्यंत तेजस्वी बलवान् पवित्र दुःखहरण करनेवाला ज्ञानी बुद्धि युक्त कर्मोंको करता है और अधिक तेजस्वी होता है। यह सुखकी इच्छा करनेवाली प्रजाको जगाता है।

१ पृथु पाजः अश्रेत्—मनुष्य बहुत तेज धारण करे।

१ वृषा शुचिः धियः हिन्वाति भासा आभाति- सामर्थ्यवान् शुद्ध पवित्र ज्ञानी बुद्धियों और कर्मोंको चलाता है और अपना तेज बढाता है।

[२] (९४) (अग्निः वस्तोः) अग्नि दिनके समय (उषसां अग्रे) उषाओंके आगे (स्वः न अरोचि) सूर्यके समान प्रकाशता है। (उशिजः न यज्ञं तन्वानाः) सुखकी इच्छा करनेवाले जैसे यज्ञ फैलाते हैं और (मन्म) मननीय स्तोत्र पढते हैं। (विद्वान् दूतः देवयावा वनिष्ठः) वैसा विद्वान् देवोंका दूत देवोंके पास जानेवाला दाता (अग्निः देवः वि आ द्रवत्) अग्नि देव अनेक प्रकारसे देवोंके सहायातार्थ गमन करता है।

मानवधर्म- ज्ञानी सूर्यके समान तेजस्वी बनें। सुख बढानेके लिये प्रशस्ततम कर्म करते रहें और मननीय विचार भी मनमें धारण करें। ज्ञानी ज्ञानियोंके साथ रहें और उनके साथ प्रगति करें।

१ वस्तोः स्वः न अरोचि—दिनके समय सूर्यके समान प्रकाशित हो जाओ।

२ उशिजः यज्ञं मन्म च तन्वानाः—सुखकी इच्छा करनेवाले प्रशस्त कर्मों और मननीय विचारोंका प्रचार करें, फैलावें।

३ वनिष्ठः विद्वान् देवयावा वि आ द्रवत्—दाता विद्वान् देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छासे विशेष प्रगति करता है।

[३] (९५) (मतयः देवयन्तीः) बुद्धियाँ देवत्वकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाली और (द्रविणं भिक्षमाणाः गिरः) धनकी प्रार्थना करनेवाली वाणियाँ (सुसंदृशं सुप्रतीकं) उत्तम दर्शनीय, सुरूप,

४ इन्द्रं नो अग्ने वसुभिः सजोषा रुद्रं रुद्रेभिरा वहा बृहन्तम् ।
आदित्येभिरदितिं विश्वजन्यां बृहस्पतिमृक्वभिर्विश्ववारम् ९६

५ मन्द्रं होतारमुशिजो यविष्ठमग्निं विश ईळते अध्वरेषु ।
स हि क्षपावाँ अभवद् रयीणामतन्द्रो दूतो यजथाय देवान् ९७

(स्वंचं हव्यवाहं) उत्तम प्रगतिशील, तथा हव्यवा वहन करनेवाले, (मनुष्याणां अरतिं) मनुष्योंके स्वामी (अग्निं अच्छ यन्ति) अग्निके समीप जाती है।

मानवधर्म- मनुष्यकी बुद्धियाँ देवत्व प्राप्त करें, तथा धनकी प्राप्तिकी इच्छा करें और उत्तम सुंदर शरीरधारी प्रगतिशील, अन्नवान, मनुष्योंके राजाके समीप जाय। (देवत्व प्राप्त करके अपनी योग्यता बढावें और धनके लिये सुन्दर प्रगतिशील, धनवान मानवोंके नेता अग्रणिके पास जावे ।)

१ देवयन्तीः मतयः--मनुष्यकी बुद्धियां देवत्व प्राप्त करनेका यत्न करें ।

२ गिरः द्रविणं—वाणियां धन चाहें। क्योंकि विना धनके इस लोकमें सुख नहीं होगा ।

३ सुसंदृशं सुप्रतीकं स्वञ्चं हव्यवाहं मनुष्याणां अरतिं अच्छ यन्ति—सुन्दर सुडौल, प्रगतिशील, अन्न धनवान, मानवोंके नेताके पास मनुष्य जांय। जिससे उनको कर्म करनेके लिये मिलेगा और उससे धन भी मिलेगा ।

[४] (९६) हे अग्ने! (वसुभिः सजोषाः) वसुओंके साथ मिलकर तू (नः इन्द्रं आवह) हमारे लिये इन्द्रको बुलाओ। (रुद्रेभिः बृहन्तं रुद्रं) रुद्रोंके साथ मिलकर महान रुद्रको बुलाओ। (आदित्यैः विश्वजन्यां अदितिं) आदित्योंके साथ मिलकर सर्वजन हितकारी अदिति माताको बुलाओ। (ऋक्वभिः विश्ववारं बृहस्पतिं आ वह) स्तुतियोग्य ज्ञानी अंगिरा देवोंके साथ मिलकर सबके द्वारा संसेवित बृहस्पतिको बुलाओ ।

(१) जो लोगोंको वसाते हैं उनको वसु कहते हैं, उनके साथ देवराज इन्द्रको बुलाना है। राजाकी सहायतासे ये लोगोंका निवास कराते हैं। (२) जो शत्रुओंको रुलाते हैं वे वीर सैनिक हैं, इनके साथ महावीर रुद्रको बुलाना है। सेनाके साथ सेनापति आवे और शत्रुको दूर करे। (३) अदितिके पुत्र आदित्य है । पुत्रोंके साथ माता देवीको यज्ञमें बुलाना है। (४) ज्ञानियोंके साथ ज्ञानाधिपतिको बुलाना है ।

' वसु ' धनका नाम है । वसुदेव धनके देव हैं। रुद्र ये वीर है। बृहस्पति ज्ञानी है। बृहस्पति ब्राह्मण, रुद्र क्षत्रिय, वसु वैश्य हैं। ये त्रैवर्णिक हैं जो यज्ञमें बुलाये जाते हैं। पुत्रोंके साथ माताओंको भी बुलाना है। यज्ञ राष्ट्रका है इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इनके प्रतिनिधि और बालकोंके साथ स्त्रियोंके प्रतिनिधि बुलाये गये हैं। यह यज्ञ इन सबके लिये है।

[५] (९७) (उशिजः विशः) सुखकी कामना करनेवाली प्रजाएं (मन्द्रं होतारं यविष्ठं अग्निं) स्तुत्य, आह्वान करनेवाले, तरुण अग्निकी (अध्वरेषु ईळते) हिंसा रहित यागोंमें स्तुति गाते हैं। (सः हि क्षपावान्) वह रात्रीमें रहनेवाला, (रयीणां देवान् यजथाय) धनोंके लिये देवोंका यजन करनेके लिये (अतन्द्रः दूतः अभवत्) आलस्य रहित कार्य करनेवाला दूत हुआ है।

जो प्रजा सुखकी इच्छा करती है वह प्रशंसनीय तरुण तेजस्वी अग्रणी नेताका प्रशस्त कर्म करनेके लिये स्वीकार करे। वह नेता रात्रीके अन्दर जागता है, धनोंके लिये धनवानोंको लाता है और अपना कर्तव्य आलस्य छोडकर करता रहता है।

Regd. No. B 1303

मुद्रक और प्रकाशक- **व० श्री० सातवलेकर**, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, पारडी (जि. सूरत)

अप्रैल १९५०

मूल्य आठ आना

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल

वैदिक धर्म

[अप्रैल १९५०]

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक
श्री. महेशचन्द्रशास्त्री, विद्याभास्कर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' पारडी (जि. सूरत)

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष ३१] [अङ्क ४

विषयानुक्रमणिका

वर्ष ३१ : : अंक ४

क्रमांक १६

चैत्र, विक्रम संवत् २००७, अप्रैल १९५०

वीरता दिखाइये

अस्माकेभिः सत्वभिः शूर शूरैर्वीर्या कृधि यानि ते कर्त्वानि।
ज्योगभूवन्ननुधूपितासो हत्वी तेषामा भरा नो वसूनि ॥

(ऋ० २।३०।१०)

हे वीर सेनापति ! हमारे बलिष्ठ सैनिकों को साथ लेकर उनकी सहायता से तू बडेबडे पराक्रम, जो करने योग्य हों वे कर। हमारे अनेक शत्रु बहुत दिनोंसे (तेरी सहनशीलताके कारण) बहुत ही अभिमानी हो चुके हैं, वे बहुत उच्छृङ्खल हो गये हैं। इसलिये उनके ऊपर जोरोंका आक्रमण कर तथा उनका धन हमारे पास आने दे।

अपनी सेना सदा सुसज्ज रखनी चाहिये। प्रत्येक सैनिक तेजस्वी, स्फूर्तिमान् और अच्छा लडाकू होवे ऐसी शिक्षा उसे देनी चाहिये। ऐसे वीर सैनिकों को सर्वदा किसी न किसी संरक्षण के कार्य में नियुक्त करते रहना चाहिये। वीर सैनिकों द्वारा उचित पराक्रम होता रहे ऐसी योजनायें बनानी चाहिये हमें स्वयं किसी को सताना नहीं चाहिये। किन्तु इस शिथिलता के कारण हमारे शत्रु प्रबल हो जांय, गर्विष्ठ हो जांय, हमारी चाहे जैसी मिथ्या निंदा करने लग जांय या हमें तुच्छ समझने लग जांय ऐसा शैथिल्ययुक्त व्यवहार हमें कभी भी न करना चाहिये। सदा अपनी रक्षा करनेके लिये सन्नद्ध रहना चाहिये। शत्रु अधिक उन्मत्त हो जाय तो उसपर आक्रमण करके उसे पूरीतरह कुचल देना चाहिये।

श्री द्वारका शारदा पीठ

श्री प. प. जगद्गुरु
श्री १००८
श्री शंकराचार्य
स्वामीश्री
अभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी
महाराज.

द्वारका (काठियावाड)
नं. ४१८ ता. ११।२।२०
मु. वेरावळ, काठियावाड

जगद्गुरुश्रीका शुभ सन्देश

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीद्वारकाशारदा-पीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य श्रीमद्-भिनवसच्चिदानन्दतीर्थस्वामीजी महाराज इस बात-से प्रसन्न हैं कि श्रीमान श्रीपाद दामोदर सातवले-करमहोदयद्वारा सम्पादित 'वेदसन्देश' मासिक-पत्र अब गुजरातीमें प्रकाशित हो रहा है।

भारतीय सभ्यता संस्कृति भाषाओंका महत्त्वका प्रचारकार्यमें श्रीसातवलेकरजी विविध प्रकारोंसे प्रयत्न कर रहे हैं, यह हर्षकी बात है। तथा यह 'वेदसन्देश' भी उसी कार्यमें संलग्न है।

जगद्गुरुश्रीका शुभादेश है कि भारतवर्ष धर्मप्राण होनेसे वेदसन्देश सनातनधर्मका प्रचार प्रवृत्ति करता हुआ चिरंजीवी बने.

इति जगद्गुरुश्रीकी आज्ञासे
महाबल भट्ट
सेक्रेटरी टू हिज होलिनेस
श्री जगद्गुरु शंकराचार्य महाराज
श्री शारदा पीठ, द्वारका

ईश-उपनिषद्

[अध्यात्म-तत्त्वज्ञानपर अधिष्ठित राज्यशासन]

यहांतक बताया गया कि पूर्वोक्त दश तत्त्वोंका वैयक्तिक रीतिसे कितना पालन हो सकता है और राष्ट्रीय शासन द्वारा कितना कार्य हो सकता है। व्यक्तिसे होनेवाला कार्य अल्प और राज्यशासन द्वारा होनेवाला महान् और स्थायी है।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि ये पूर्वोक्त दस तत्त्वज्ञानके सिद्धान्त जनताके जीवनमें ढालने के द्वारा उनका परमहित साधन करनेके लिये हैं, अतः इनका समावेश राज्यशासनमें होना चाहिये। अन्यथा ये सिद्धान्त केवल कल्पना या चर्चामेंही रहेंगे, जैसे कि आजतक ये रहे हैं। आजतक सब भाष्यकारोंने इनका विचार वैयक्तिक आचरणमें लानेके लिये ही किया। आजतक किसीने इनका समावेश राज्यशासनमें करके जनताका अधिकसे अधिक लाभ करनेका विचार भी नहीं किया। इसलिये ये राष्ट्रशासनके तत्त्व केवल चर्चामें ही रहे और राष्ट्रशासनमें नहीं आये। यह दुर्दैवकी घटना है।

आधुनिक समयमें प०पू० महात्मा गांधीजीने सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि नियम राष्ट्रीय दृष्टीसे बर्तनेका उपक्रम किया। वे राज्यशासनमें इनका समावेश करना चाहते थे, पर वह बना नहीं। अतिप्राचीन समयमें श्री गणेशने अपने राज्यशासनमें इनका बडे प्रमाणमें प्रयोग किया था ऐसा उनके जीवनीसे पता लगता है। (देखो गणेश पुराण) ऐसा ही उपक्रम भगवान् श्रीकृष्णजीने किया था ऐसा प्रतीत होता है। इसका नाम "भागवत राज्यशासन" है। जनताने अपने कर्म करने और राज्यशासनसे उन सबका योगक्षेम चलाना यह (योगक्षेमं वहामि अहं) इनके चरित्रमें दीखता है। पर यह आगे चल न सका और इसके क्षेत्रका विस्तार न हो सका यह दुर्दैव है।

ईश्वरके जो गुण वेदमंत्रोंमें कहे हैं वे राष्ट्रशासकमें दीखने चाहिये, क्योंकि राष्ट्रशासक भी ईश्वरका अंश ही है। और मनुष्यमें भी अल्प अंशसे दीखने चाहिये क्योंकि नरका नारायण बननेवाला है। नरमें तथा नारायणमें गुणोंका साम्य है। राष्ट्रशासकमें तो यह साम्य विशेष ही रहना चाहिये, क्योंकि उसका जनताके भविष्यके साथ घनिष्ठ संबंध है। परमेश्वर जिन गुणोंसे विश्वका शासन कर रहा है, उन गुणोंसे ही राष्ट्रशासक राष्ट्रपुरुष अपनी प्रजाका शासन करें यह अध्यात्माधिष्ठित राज्यशासनका सूत्र है। इससे ईश्वरके वर्णनके शब्द और वाक्य राज्यशासकका भी वर्णन करते हैं यह स्पष्ट हो जाता है।

इस ईशोपनिषद्में (ईश) शासक, (यम) नियामक, संरक्षक, (प्राजापत्य) प्रजापालक, प्रजापति ये शब्द जैसे ईश्वरके वैसे ही राज्यशासकके भी वाचक हैं। ईश्वरके गुण इसी कारण राज्यशासकके गुण करके विचार करने योग्य हैं। इस तरह अध्यात्मशास्त्रके सिद्धान्त बहुत अंशसे राज्यशासनमें कैसे परिवर्तित हो सकते हैं, इसका ज्ञान पाठकोंको हो सकता है।

अब ऊपर जो दशविध उन्नतिका मार्ग कहा, उससे न जानेवाले आत्मघातकी लोगोंकी कैसी दुर्दशा होती है यह देखिये। यह अवनतिका दशविध आत्मघातका मार्ग पूर्व स्थानमें कोष्टकमें दिया है—

ग्यारहवाँ सिद्धान्त="आत्मघातकी लोगोंकी अधोगति"

> ११ असुर्या नाम ते लोका
> अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
> तांस्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति
> ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

'जो कोई आत्मघातकी लोग होते हैं वे अन्धकारसे व्याप्त आसुरी प्रवृत्तिके लोगोंमें मरनेके बाद भी जाते हैं अर्थात् वे उनमें जन्म लेते हैं।'

(११) आत्मघातके मार्गसे जानेवाले लोग आसुरी संपत्तिके गुण्डलोगोंमें गिने जाते हैं। ईश्वरी योजनासे मरनेके बाद भी वे आसुरी गुण्डलोगोंमें जन्म लेते हैं।

राज्य शासनके प्रबंधसे ऐसे दुष्ट लोगोंकी गणना गुण्डोंमें होने योग्य है। इस तरह इनकी गणना गुण्डोंमें होनेसे संपूर्ण जनताको पता लगेगा कि ये गुण्ड हैं और इनसे सवध रहना चाहिये। गुण्डोंमें इनकी गणना होनेसे अन्य सभ्योंको नागरिकत्वके जो अधिकार होते हैं, वे इनको नहीं रहेंगे, इससे इनको अपना सुधार करनेका उत्साह उत्पन्न होगा और वे अपना सुधार करके नागरिकत्वके सब अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

जिस तरह ईश्वरी नियमसे आसुरी लोगोंमें जन्मे जीव भी अपना सुधार करके दैवी संपत्तिवाले पुण्य कर्मोंमें जन्म लेने योग्य होते है, उसी तरह राज्य प्रबंधमें भी समझना योग्य है। ईश्वरी नियमानुसार जन्मान्तरमें निकृष्टता और उत्कृष्टता होती है और राज्य प्रबंधमें इसी जन्ममें गिरावट या सुधार होता है। राज्य व्यवस्थामें सुधार करनेवालोंको योग्य अवसर मिलना ही चाहिये जिसे उनको सुधार करनेका उत्तेजन मिले और वे सुधरें। इस विषयके योग्य नियम राज्यशासनका प्रबंध करनेवाले करें और तदनुसार राज्यशासन करें।

यहां आत्मघातकी गुण्डोंकी अवनति कैसी होती है यह बताया, इससे उन्नतिशील सज्जनोंकी उन्नति पूर्वोक्त धर्ममार्गसे कैसी होती है इसका ज्ञान होगा।

द्वितीय प्रकरण

पूर्व प्रकरणमें सर्व साधारण राज्यशासनकी रूपरेखा बतायी, अब इसकी विशेषताका वर्णन करते हैं—

पुनः ईशगुणोंका वर्णन

बारहवाँ सिद्धान्त = ' अ-कम्पनशीलत्व '

१२ अनेजत्

' (वह) कांपनेवाला नहीं है। '

(१२) ईश, ईश्वर, प्रभु, प्रजापति, यम, ब्रह्म, परब्रह्म, आत्मा, परमात्मा ये सब शब्द एक आदि तत्त्वके वाचक हैं। इसीका वर्णन पहिले मंत्रमें 'ईश' शब्दद्वारा हुआ है। यह ईश्वर सबसे अधिक सामर्थ्यवान् है इसलिये सब पर प्रभुत्व करता है। उससे कोई अधिक सामर्थ्यवान् नहीं है अतः वह किसीसे भयभीत नहीं होता, और किसीको देखकर कांपता भी नहीं। कांपना तो तब होगा जब उससे कोई अधिक बलवान् क्योंकि उसके सामने आजाय और उसके सामने इसका कुछ भी न चले। वैसा तो यहां नहीं है इसलिये यह किसीके भयसे कभी कांपता नहीं।

जो सर्वत्र नहीं होगा वह हिल सकता है। जो सब जगह होगा वह नहीं कांप सकता। जो हिल नहीं सकता वह कांपेगा कैसे ?

इस मंत्रमें तथा इसके आगेके मन्त्रमें ईशवाचक शब्द नपुंसक लिंगमें हैं। प्रथम मन्त्रका 'ईश' पद पुल्लिंगी है। इस सूक्तमे एक ही आदि तत्त्वका वर्णन करनेवाले पद पुल्लिंग और नपुंसक लिंगमें हैं। इससे सिद्ध होता है कि अनेक लिंगोंके पदोंसे इस आदि तत्त्वका वर्णन होता है। अतः इस लिंग भेदको देख कर घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

राज्यके अधिकारी तथा शासन यंत्र ऐसा प्रबल हो कि जो शत्रुको देखकर न कांप उठे। अन्दरके गुण्डोंसे भी न डरे। सब राज्यके कोने कोनेमें उसका शासन अच्छी तरह चलता रहे और किसी तरह किसी जगह निर्बल न हो, सर्वत्र प्रबल रहे। किसीसे न डरे, किसीके सामने न कांप उठे, किसीके सामने न झुके और सबसे अधिक प्रभावशाली रहे। शासक अधिकारी किसीके डरसे अपने कर्तव्यमें कसूर न करें। किसीसे न डरते हुए अपना कर्तव्य निर्भयतासे करते रहें।

तेरहवां सिद्धान्त = " अद्वितीयत्व "

१३ एकम्

' (वह) एक है, वह अद्वितीय है। '

(१३) यह ब्रह्म एक है, अद्वितीय है, उसके समान दूसरा नहीं है। उसके सामर्थ्यके समान सामर्थ्य किसी दूसरेके पास नहीं है। वह अप्रतिम है।

राज्यशासनमें भी जो शासक होगा वह अद्वितीय होना चाहिये। उसके समान दूसरा कोई नहीं, ऐसा वह अप्रतिम होना चाहिये (शासनाध्यक्ष) मंत्री, अधिकारी, सेनापति आदि स्थानोंके लिये जिनकी नियुक्ति होनी हो वे अधिकारी उन उन स्थानोंके लिये अद्वितीय होने चाहिये। उस समय उस राष्ट्रमें उनके समान उस स्थानके लिये योग्य दूसरा कोई नहीं, ऐसे पुरुषोंकी नियुक्ति उन उन स्थानोंके लिये होनी चाहिये। प्रत्येक अधिकारके स्थानके लिये यही नियम होना चाहिये तभी सब

स्थानोंके लिये गुण कर्म स्वभावसे सुयोग्य अधिकारी मिलेंगे और राज्यशासन भी उत्तमसे उत्तम होगा। वे अद्वितीय अधिकारी होंगे तो ही वे अपना कर्तव्य निर्भय होकर करेंगे और ऐसे अद्वितीय पुरुषोंद्वारा चलाया शासन सर्वांग सुन्दर होगा।

चौदहवाँ सिद्धान्त = "प्रगतिशीलत्व"

१४ मनसः जवीयः

'(वह) मनसे भी अधिक वेगवान् है।'

(१४) वह ब्रह्म मनसे अधिक वेगवान् है। जहां मन जाता है वहां वह ब्रह्म उससे पहिले ही पहुंचा रहता है।

राज्य शासन ऐसा चाहिये कि जहां जनताके मनकी पहुंच होती है। उससे आगेका भी प्रबंध वहां हो, उसमें न्यूनता न रहे। जनता अपने हितकी बातें जहांतक सोचती रहेगी, उससे भी अधिक दूरतकका विचार और प्रबंध राज्य शासन द्वारा होता रहना चाहिये। राज्यमें गुण्ड आदि दुष्टोंकी पहुंच जहांतक होगी वहांसे भी अधिक पहुंच राज्यशासनके प्रबंधकी होनी चाहिये। जहां वे गुण्ड पहुंचेंगे वहां भी शासनका प्रबंध ऐसा परिपूर्ण होना चाहिये कि वहां भी उनका कुछ भी चल न सके।

पंदरहवाँ सिद्धान्त = "अनुल्लंघनीयत्व"

१५ नैनदेवा आप्नुवन्

'देव (इंद्रियाँ) इस (ब्रह्म) को प्राप्त नहीं कर सकती।'

(१५) 'देव' शब्दका अर्थ शरीरमें 'इंद्रियाँ' है, राष्ट्रमें 'शासनाधिकारी' है और विश्वमें 'सूर्यादि देवगण' हैं। शरीरमें इंद्रियां आत्मका उल्लंघन नहीं कर सकती, सूर्यादि देवगण परमात्माका उल्लघन नहीं कर सकते, इसी तरह राज्य शासनमें भी ऐसा शासन प्रबंध चाहिये कि कोई अधिकारी या दूसरा कोई उसका उल्लंघन कर न सके।

राज्यशासनका भी ऐसा उत्तम और पूर्ण प्रबंध चाहिये कि जिसका उल्लंघन कोई कर न सके। किसीमें उसके उल्लंघन करनेका साहस न हो। राष्ट्रके सब व्यवहार निष्प्रतिबंध उत्तम रीतिसे चलते रहें, पर कभी ऐसा न हो कि शासक केन्द्रपर भी कोई आक्रमण कर सके। गुण्डोंका आक्रमण, रिश्वतखोरी, भीति बनाकर गुण्डोंका दबाव और सर्वस्वापहार, अथवा शासन केन्द्रका भयसे परिवर्तन न हो सके। शासन केन्द्र सदा जाग्रत, प्रभावी तथा कार्यक्षम रहे। गुण्डोंका आक्रमण होनेके पूर्व ही वहां सुरक्षाका प्रबंध उत्तमसे उत्तम रहे।

सोलहवां सिद्धान्त = "प्राचीन परंपरापर आश्रित"

१६ पूर्वम्

'(वह ब्रह्म सबसे) पूर्व है, सबके पूर्व विद्यमान है।'

(१६) 'पूर्व' का अर्थ 'प्राचीन' पूर्व समयसे उपस्थित, शाश्वत, सदा रहनेवाला और पूर्ण।' ब्रह्म सबसे प्राचीन है, पूर्व समयसे है, सर्वत्र उपस्थित है, शाश्वत है, सदा रहनेवाला है और परिपूर्ण है।

राज्यशासन भी सबसे परिपूर्ण, प्रथमसे उत्तम, पूर्व समयसे एक जैसा चला आया, शाश्वत टिकनेवाला, वारंवार न बदलनेवाला, चञ्चलतासे रहित हो। सतत समान रूपसे चलनेवाला हो। किसी एककी इच्छासे अदलबदल उसमें न हो। समान रूपसे शासन चलता रहे। प्राचीन परंपरा प्राचीन सभ्यतापर आश्रित हो।

सतरहवाँ सिद्धान्त = स्फूर्तियुक्त 'ज्ञान दान'

१७ अर्शत्

(वह ब्रह्म) गतिमान और ज्ञानपूर्ण है।

(१७) 'अर्शत् वा अर्षत्' का अर्थ 'गतिमान, चालक, प्रेरक, स्फूर्ति देनेवाला, ज्ञानवान्' है। ब्रह्म संपूर्ण विश्वको प्रेरणा, स्फूर्ति और चालना देता है। सबकी प्रगति करता है। सबको ज्ञान देता है उन्नति करनेके लिये वही प्रेरणा देता है उत्साह उत्पन्न करता है।

राज्यशासन भी ऐसा होना चाहिये कि जिससे जनताके सब शुभ व्यवहारोंको उत्तेजन मिले, स्फूर्ति मिले, संचालना होती रहे, प्रेरणा मिलती रहे और किसी तरह निरुत्साह न हो। सर्वत्र ज्ञानका प्रचार हो और सब शुभ कर्मकर्ताओंका उत्साह बढे। राष्ट्रमें उत्साहका वायुमण्डल बढे और निराशाका नाम भी न रहे।

अठारहवाँ सिद्धान्त = "अन्योंका अताक्रमण"

१८ तद् धावतोऽन्यानत्येति ।

'वह (ब्रह्म) अन्य दौडनेवालोंका उल्लंघन करके उनसे परे पहुंचता है।'

(१८) अन्य पदार्थ कितने भी दौडनेवाले हुए, तो भी सबसे प्रथम उनसे परे ब्रह्म अधिक गतिमान् होनेसे पहुंचा रहता है। कोई दूसरा पदार्थ उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। 'अन्य' का अर्थ 'दूसरा' परकीय, परदेशीय, विदेशीय, शत्रु, दुष्ट, जो सदा दूसरा ही रहता है।

राज्यशासन व्यवस्था ऐसी उत्तम और परिपूर्ण होनी चाहिये कि कोई (अन्य) शत्रु, दुष्ट, अथवा परकीय उसका कदापि उल्लंघन न कर सके। जो राष्ट्रमें 'अन्य, दूसरे, परकीय, विजातीय, विदेशीय' के रूपमें रहते हैं, आते हैं, कुटिल रचना करना चाहते हैं, उनके दौडनेकी जितनी गति हो, उससे राज्य शासकोंकी गति अधिक हो, अर्थात जहां वे पहुंचनेका यत्न करें वहां राज्य शासक पहिले ही पहुंचे हों। जहां वे जांय वहां ये पहिले ही उपस्थित रहें, जितना परकीयोंका वेग हो, उससे शासकोंका वेग अधिक हो जिससे वे शासकोंका अतिक्रमण न कर सकें। उनका उलंघन शासक करें पर वे अन्य-परकीय लोग- शासकोंका उल्लंघन न कर सकें। राज्यशासकोंका शासन परकीय आक्रमकोंसे अधिक प्रभावी हो।

राष्ट्रमें कोई (अन्य) परकीय करके न रहे। जो रहें वे राष्ट्रके अंग होकर रहें। और जो परकीय करके रहना चाहे उनकी गति शासकोंका उल्लंघन करने योग्य बडी और अधिक प्रभावी विशाल न हो। सदा शासकोंके अधीन होकर वे परकीय रहें, शासकोंके सिरपर चढकर न बैठें।

उन्नीसवाँ सिद्धान्त = "सुप्रतिष्ठित स्थैर्य"

१९ तिष्ठत्

'(वह ब्रह्म) स्थिर है, चञ्चल नहीं है।'

(१९) ब्रह्म सर्वत्र परिपूर्ण है इसलिये हिल नहीं सकता, अतएव वह सुस्थिर है। इस स्थिर ब्रह्मका आधार संपूर्ण विश्वको है। इसके आधारसे विश्व रहा है। ब्रह्म स्वयं स्थैर्यसे सुप्रतिष्ठित है।

राज्यशासन भी स्थिररूपसे सबको आधार देनेवाला होना चाहिये। आज एक, कल दूसरा, परसूं तीसरा ऐसी चंचलता उसमें नहीं होनी चाहिये। राज्य शासक एक स्थिर नीतिसे चलनेवाले होने चाहिये। राज्यशासनकी स्थिर नीति रहेगी, तो जनताके विश्वासके लिये वह पात्र होगा। राज्यशासन चञ्चलतादि दोषोंसे विरहित और स्थैर्यसे सुप्रतिष्ठित होना चाहिये।

बीसवां सिद्धान्त = "कर्मोंकी धारणा"

२० तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

'उस (ब्रह्म) में वायु जलोंका धारण करता है।'

(२०) 'आपः' का अर्थ 'जल तथा कर्म' है, 'मातरिश्वा' का अर्थ वायु, प्राण और गर्भस्थ जीव (मातरि-श्वा) है। आकाशमें वायु मेघरूपी जलोंका धारण करता है, गर्भस्थ जीव पूर्वजन्मके कर्मोंका धारण करता है यह सब उस ब्रह्मके आश्रयसे ही हो रहा है। ब्रह्मके आधारसे जो शक्ति वायुमें रहती है, उससे वायु जलोंका धारण करनेमें समर्थ होता है। इसी तरह इसी शक्तिके नियोजनसे गर्भस्थ जीवके पूर्वजन्मकृत कर्म उसके साथ रहकर द्वितीय जन्ममें उसे मिलते हैं तथा उसके फल भी उसे मिलते हैं। कर्म विनिष्ट नहीं होते।

इसी तरह राज्यशासनमें भी सब जनताके कर्मोंकी यथायोग्य धारणा होनी चाहिये और उनके फल उन कर्मोंके कर्ताको मिलने चाहिये। कुशल कर्ताको योग्य कर्म, योग्य कर्म योग्य रीतिसे करनेपर उसके सुयोग्य फल उसे मिलने चाहिये। कर्ताको कर्म, कर्म करनेपर सुयोग्य धन कर्ताको मिलना चाहिये। ऐसा न हो कि कर्मचारी कर्म तो करें, पर उसका फल दूसराही खा जाय और कर्ता वंचित ही रहे। कर्ताका कर्म योग्य रीतिसे होता रहे, कर्म होनेपर उसी समय अथवा समयान्तरसे भी क्यों न हो, उस कर्ताको उसके कर्मके अनुरूप फल अवश्य मिलना चाहिये। कर्मकर्ताको कर्मफल प्राप्तिकी निश्चिति होनी चाहिये। किया कर्म कभी व्यर्थ जाना नहीं चाहिये।

एक्कीसवाँ सिद्धान्त =

"स्थिर रहकर दूसरोंका संचालन"

२१ तदेजति, तन्नैजति।

'वह (ब्रह्म सबको) चलाता है, (पर) वह (ब्रह्म) स्वयं नहीं हिलता।'

(२१) वह ब्रह्म सब विश्वका संचालन कर रहा है, पर वह स्वयं नहीं विचालित होता। स्वयं सुस्थिर रहनेवाला सब विश्वको संचालित करता है।

इसी तरह राज्यशासन भी राज्यके सब कार्यकर्ताओंको योग्य प्रेरणा देता रहे, पर स्वयं अपनी पद्धतिपर सुस्थिर रहे। राज्ययंत्र चंचल न रहे, पर सब राष्ट्रको स्फूर्ति देता रहे, सब राष्ट्रका उत्साह बढावे। इसी तरह (तत् एजति) वह शत्रुको कंपायमान करे पर स्वयं न कंपित होवे, शत्रुको डरावे और भगा देवे, पर स्वयं अपने स्थानसे न हिले।

'एजति' का अर्थ 'कंपित होता है, कांपता है, कंपाता है' ऐसा है। सबको कंपावे, पर स्वयं न कांपे।

बाईसवाँ सिद्धान्त = "दूर और पास समान"

२२ तद् दूरे तद्वन्तिके, तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥५॥

वह (ब्रह्म) दूर है और वह समीप भी है। वह इस सबके अन्दर है और वह इस सबके बाहर भी है।

(२२) वह ब्रह्म जैसा दूर है वैसा ही समीप भी है, दूर और समीप एक जैसा है। वह अन्दर और बाहर एक जैसा है।

राज्यशासन भी जैसा एक स्थानपर वैसा ही दूसरे स्थानपर रहे। केंद्रमें जैसा हो वैसा ही सुदूरके प्रदेशमें भी हो। अधिकारीके पास न्याय मिले और अधिकारी दूर होनेपर अन्धकार हो ऐसा कभी न हो। कोनेसे दूसरे कोनेतक एक जैसा राज्य शासनका प्रबंध हो। मध्य केन्द्रमें जैसा सुप्रबंध हो वैसा ही बाह्य प्रदेशमें भी उत्तम प्रबंध रहे अन्दर और बाहर समान रूपसे उत्तम प्रबंध हो। सर्वत्र समानतया जागरूक तथा अनुशासन युक्त अच्छा प्रबंध रहे।

तेईसवाँ सिद्धान्त = "परस्परावलंबित्व"

२३ यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सति॥६॥

'जो सब भूतोंको आत्मामें और आत्माको सब भूतोंमें देखता है वह इस ज्ञानके कारण किसीकी निंदा नहीं करता।"

(२३) ब्रह्म या आत्मामें सब भूत हैं और सब भूतोंमें ब्रह्म या आत्मा है। ऐसा जो देखता है वह भूतोंको और आत्माको सर्वत्र देखनेके कारण, जहां जिसको वह देखता है वहां उसमें आत्मा और भूत दिखाई देते हैं; इस कारण, प्रत्येक स्थानमें भूतों और आत्माका उसको दर्शन होनेके कारण, वह किसीकी भी निंदा नहीं करता, क्योंकि अनिर्दनीय आत्मा सर्वत्र है और कोई पदार्थ उससे रहित नहीं है ऐसा देखनेके कारण वह किसी पदार्थकी निंदा नहीं कर सकता।

राज्यशासनमें भी सब प्रजाजनोंमें राज्यशासनकी प्रतिष्ठा है, कोई मनुष्य अपने राज्यशासनकी अप्रतिष्ठा नहीं करता और राज्य शासन भी किसी व्यक्तिको रंग, रूप, जाति, प्रान्त, वर्ण, देशभेदके कारण दूर नहीं रखता, अर्थात् राज्य प्रबंध सबको समान रूपसे आदरणीय मानता है और सब लोग वे किसी दर्जेमें हों, पर वे सबके सब राज्यशासनका अनुशासन मान्य करते हैं, आदरसे शासनप्रबंधको देखते हैं, वहां कौन किसकी निंदा करे और क्यों निंदा करे? राज्यशासन और जनतामें सामंजस्य होनेपर निंदा करनेका कारण ही नहीं रहता।

जिस समय राज्यशासनका और प्रजाजनोंका हित संबंध परस्पर विरुद्ध हो जाता है और उनमें संघर्ष उत्पन्न होता है, तब प्रजापक्ष राज्य शासक पक्षकी निंदा करता है। अथवा उदासीन पक्ष जिसमें दोष देखता है उसकी निंदा करता है पर जबतक प्रजा और शासन तंत्र इन दोनोंमें सामंजस्य हो और ये दोनों परस्परके पोषक सहायक तथा हितचिंतक हों, तब निंदा करनेका कारण ही नहीं उत्पन्न होता।

जनता और शासन संस्था ये दोनों अन्योन्य संमत हों, परस्पर सहायक हों, और परस्पर सहकार्य करनेवाले हों, तो ही सच्चा सुख होनेकी संभावना है।

चोवीसवाँ सिद्धान्त = "एकात्म प्रत्यय"

२४ यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥७॥

'जिस अवस्थामें सब भूत ज्ञानीके लिये आत्मा (ईश)ही हुए उस अवस्थामें उस एकत्वको अनुभवसे देखनेवालेको शोक भी कैसे होगा और मोह भी कैसे हो सकेगा?'

(२४) यह सब विश्व आत्माकाही विश्वरूप है, ऐसा जिसको एकत्वका दर्शन हुआ उसे किसी भी कारण शोक वा मोह नहीं हो सकते। क्योंकि जिसको वह देखता है उसमें वह आत्माका ही दर्शन करता है, विभिन्न पदार्थोंमें एक आत्माका दर्शन वह करता है। इस तरह जिसे एकात्मताका अनुभव

हुआ उसको किसी भी अवस्थामें मोह वा शोक नहीं होते। मोह तो तब होगा जिस समय आत्मा और अनात्माका विचार करना पडे, शोक भी तब हो कि जिस समय आत्माका दर्शन न हो। जब ऐसा नहीं होता और सदा सर्वदा सर्वत्र आत्माकाही दर्शन होता रहेगा, तब शोक भी नहीं होगा और मोह भी नहीं होगा।

राज्यशासनमें भी जब प्रजा और राज्यशासनमें द्विधाभाव न होगा, प्रजामें संपूर्ण राज्यशासन सुस्थिर है ऐसा अनुभव होगा और राज्यशासनसे प्रजा सुरक्षित है, ऐसा अनुभव होगा तब प्रजा और शासनतंत्रमें कोई भिन्नता नहीं रहेगी, इसी अवस्थामें जो एकात्मताका दर्शन होगा उस समय किसीको शोक या मोह नहीं होंगे।

जब राज्यशासन प्रजाके द्वारा, प्रजाके हितके लिये, प्रजाके प्रतिनिधियोंके द्वारा चलाया जायगा, तब वह राज्यतंत्र प्रजामें ही सुरक्षित रहेगा, उस समय प्रजा और राज्ययंत्र एकही होगा। यही राजकीय एकात्मताकी प्रतीति है। जहां पूर्ण रूपसे एकात्मता होगी, अर्थात् जहां राज्ययंत्र और प्रजा एक रूपमें रहेगी वहां किसीको भी मोह नहीं होगा और शोक भी नहीं होगा।

जब प्रजा और राज्ययंत्रमें संघर्ष होगा, विद्वेष होगा, परस्पर हारने जीतनेकी स्पर्धा होगी, तब किसीको अपने कर्तव्य अकर्तव्यके विषयमें मोह होगा और अपकृत्य होनेके कारण शोक करनेका भी प्रसंग होगा। पर जहां प्रजा और राज्ययंत्र एकरूप होंगे, प्रजाही राज्यशासन निर्माण करनेवाली होगी और राज्यशासकों द्वारा जो होगा वह प्रजाने ही किया ऐसा होगा। जब ऐसी एकात्मताकी अवस्थामें उस राज्यशासनमें किसीको भी मोह या शोक कभी नहीं होंगे।

तृतीय प्रकरण

पुनः आत्माके गुणोंका वर्णन करते हैं—

पच्चीसवाँ सिद्धान्त = "शारीरिक दोषोंसे विघ्न न हों"

२५ स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम्

'वह आत्मा बलपूर्वक शरीर-व्रण-स्नायु रहित रहता हुआ सर्वत्र व्यापता है।'

(२५) आत्मा (शुक्रं) बलयुक्त होकर तथा देह-व्रण-स्नायुके संबंधसे विरहित होकर सर्वत्र व्यापता है, सर्वत्र फैला है, सबको घेरता है, सबपर शासन करता है, सबपर अपना अधिकार चलाता है।

राज्यशासन चलानेवाले राजपुरुष भी बलिष्ठ वा सामर्थ्यवान् होकर अपना राज्यशासनका कर्तव्य करें, तथा शरीरके तथा स्नायुओंके व्रणादि दोषों और रोगोंके कारण अपने कर्तव्य करनेमें विघ्न न आने दें। राज्यके अधिकारी राजपुरुष शरीरसे सुदृढ, स्नायुमें निर्दोष तथा व्रणादि दोषोंसे विरहित रहें, अपना शरीर स्वास्थ्य उत्तम रखें, और शरीरदोषोंके कारण कोई अधिकारी अपने कर्तव्यमें शिथिल, असमर्थ अथवा हतबल न हो। किसी भी शारीरिक व्यथाके कारण राज्यशासनका कार्य बंद न रहे। सब अधिकारी अपना कर्तव्य करनेमें सदा समर्थ रहें। राज्यशासनका प्रबंध ऐसे सामर्थ्य संपन्न अधिकारियोंके द्वारा सर्व राष्ट्रभरमें व्यापक हो, सबपर शासन समान रूपसे चलावे और सब पर उसका उचित प्रभाव प्रस्थापित होता रहे।

छब्बीसवां सिद्धान्त = "पवित्रता रहे।"

२६ शुद्धं अपापविद्धम्

'वह शुद्ध और निष्पाप रीतिसे (सर्वत्र व्यापता है)।'

(२६) आत्मा शुद्ध तथा निष्पाप रूपसे सर्व विश्वमें व्यापता है। वह किसी तरह पापसे अथवा अपवित्रतासे कलंकित नहीं होता।

राज्यशासन तथा राज्यशासन करनेवाले राजपुरुष भी किसी तरह पापसे तथा अशुद्ध व्यवहारसे अपना संबंध न रखें। वे परिशुद्ध व्यवहार करें और पापसे सदा दूर रहें। कालाबाजार, रिश्वत खोरी, भ्रष्टाचार, नीचाचार, व्यभिचार, दुराचार आदिसे सदा दूर रहें और राज्यशासन परिशुद्ध रखें। कदापि किसी तरहका कलंक राज्यशासनपर अथवा राज पुरुषों पर न आवे, ऐसा व्यवहार दक्षतापूर्वक रखें। पापसे किसी समय धनादि प्राप्त होनेपर भी लगा, तो उस व्यवहारसे सदा दूर रहना अच्छा है, पर पाप मार्गसे धन कमाना बहुत बुरा है। राज्यशासन जितना पवित्र, शुद्ध और निष्पाप रहे उतनी उसकी शाश्वति अधिक होगी, और यदि राज्यशासन कलंकित हुआ, तो उसके शीघ्राति शीघ्र विनष्ट होनेमें संदेहही नहीं है। अतः राज्यशासनमें शुद्धता, पवित्रता, निर्दोषता और निष्पापता रखनेका यत्न सदा ही करना उचित है।

सत्ताईसवाँ सिद्धान्त =
"ज्ञानी और कर्तृत्ववान् राजपुरुष"

२७ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ।

'(ईश्वर) ज्ञानी, संयमी, विजयी और स्वयंभु है ।'

(२७) ईश्वर कवि. ज्ञानी. दूरदर्शी, अतींद्रियार्थदर्शी, दूरदर्शी, मनके ऊपर प्रभुत्व करनेवाला. मनका स्वामी, सबपर अपना प्रभाव डालनेवाला, विजयी शत्रुको पराभूत करनेवाला और स्वयं सिद्ध, अपनी शक्तिसे रहनेवाला दूसरोंपर अवलंबन न रखनेवाला, प्रत्युत दूसरोंको अपना आधार देनेवाला है ।

राज्यशासक, राज्यशासनके अधिकारी, राजपुरुष भी (कवि) ज्ञानी, दूरदर्शी, अतींद्रियदर्शी, (मनीषी) मननशील, मनपर संयम करनेवाले, मनःसंयमी, इन्द्रियदमन करनेवाले, मनको अपने अधीन करनेवाले, (परिभूः) अपने शत्रुका पराभव करनेवाले, विजयी, प्रभावी, सबपर अपना प्रभुत्व रखनेवाले, चारों ओर अपने प्रभावका फैलाव करनेवाले, (स्वयंभूः) स्वयं अपनी शक्तिसे रहनेवाले, अपनी शक्तिसे कार्य करनेवाले, दूसरेपर अपना भार न रखनेवाले, स्वयंप्रभावी, स्वयंसिद्ध, समयपर अपनी योजना सिद्ध करनेवाले राजपुरुष उत्तम राज्यशासन कर सकेंगे । प्रत्येक राज्याधिकारीकी नियुक्ति करनेके समय उसमें ये गुण हैं वा नहीं इसकी परीक्षा करनी होगी। राजसभाके सदस्योंमें भी ये गुण चाहिये। राजसभाके सभासदोंको चुननेवाले भी ऐसी परीक्षा करनेवाले होंगे तोंही वे उत्तम सदस्योंकी नियुक्ति कर सकेंगे । ऐसे चुनाव करनेवाले न हुए तो क्या होगा इसका विचार पाठक स्वयं विचार करके जान सकते हैं । चुननेवाले, जिनका चुनाव करना है, सदस्य, अधिकारी इन सबकी विशेष योग्यता होनी चाहिये । जिस स्थानपर उन्होंने बैठना है, जिस कार्यको करना है, उसको उत्तमसे उत्तम निभानेके योग्य उत्तम गुण उनमें चाहिये, तब राज्य शासन उत्तम होगा, अन्यथा भ्रष्टाचार होनेमें कुछ भी संदेह नहीं है ।

कवि, मनःसंयमी, प्रभावी व स्वयंसिद्ध ये चार पद सदा ध्यानमें रखने योग्य हैं । ऐसे अधिकारी होने चाहिये, ऐसे कार्यकर्ता होने चाहिये और ऐसे राजसभाके सभासद होने चाहिये ।

अट्ठाइसवाँ सिद्धान्त-- " यथायोग्य स्थायी अर्थ व्यवस्था "

२८ याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८१॥

(वह ईश्वर) यथायोग्य रीतिसे अर्थोंकी व्यवस्थाको शाश्वत कालसे करता आया है ।

(२८) इस विश्वमें सब अर्थोंकी व्यवस्थाको परमेश्वर शाश्वत समयसे करता आया है । उसकी अर्थव्यवस्थामें कोई दोष नहीं होता । उसकी अर्थ व्यवस्था पूर्णतासे निर्दोष और स्वयं पूर्ण रहती है । शाश्वत कालसे वह अर्थव्यवस्था जैसी की वैसी रही है और सबको सुख दे रही है ।

राज्यशासन व्यवस्थामें भी अर्थव्यवस्था उत्तम रीतिसे रखनी चाहिये और जितनी वह शाश्वत टिकनेवाली होगी उतनी वह अधिक सुखदायी होगी । अर्थव्यवस्थापर सब जनताके सुख अवलंबित है । अर्थव्यवस्था बिगड गयी तो जनताके दुःखोंकी सीमा नहीं रहेगी । राष्ट्रकी अर्थव्यवस्था विस्तृत नींवपर रखनी चाहिये और ऐसा नियोजन करना चाहिये कि जिससे वह बहुत देरतक चल सके । अर्थका मूल्य न्यूनाधिक न हो वह स्थायी रहे, जिससे जनताके सब व्यवहार उत्तम रीतिसे चलते जांय और उनमें किसी तरह विघ्न न हो । राष्ट्रकी अर्थव्यवस्थामें पापसे बढे, दोष न हों, मलीनता न हो, परिशुद्धता रहे ऐसी उत्तम वह अर्थ व्यवस्था हो ।

राष्ट्रकी अर्थव्यवस्थापर राज्यशासनकी स्थिरता अवलंबित होती है । अतः राष्ट्रकी अर्थव्यवस्था ठीक तरह रखनी चाहिये ।

' अर्थमूलं हि राज्यं ' अर्थके आधारसे राज्य रहता है । और अर्थसे ही राज्य बढता है । इसलिये राज्य शासकोंको उचित है कि वे अपने राष्ट्रमें अर्थव्यवस्था उत्तम रखें जिससे जनताको शाश्वत सुखकी प्राप्ति हो ।

चतुर्थ प्रकरण

विद्याका क्षेत्र (शिक्षा विभाग)

उनतीसवाँ सिद्धान्त= " आत्मज्ञान और प्रकृति विज्ञानका समन्वय । "

१९ अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
तते भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥९॥
अन्य देवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विच चक्षिरे ॥१०॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

" जो प्रकृति विज्ञानकी ही केवल उपासना करते हैं वे अन्धकारमें जाते हैं, पर जो केवल आत्मज्ञानमें ही रमते हैं वे उससे भी अधिक अन्धकारमें पहुंचते हैं ॥ आत्मज्ञानका फल भिन्न है और प्रकृतिविज्ञानका फल विभिन्न है ऐसा हमने उनसे सुना है कि जो उपदेश करते हैं ॥ आत्मज्ञान और प्रकृतिविज्ञान इन दोनों ज्ञानोंका समन्वय लाभकारी है ऐसा जो जानते हैं वे प्रकृति-विज्ञानसे दुःखोंको दूर करके आत्म ज्ञानसे अमृत प्राप्त कर सकते हैं । "

(२९) " विद्या " का अर्थ " आत्माकी विद्या, और " अ-विद्या " का अर्थ ' अनात्मा अर्थात् प्रकृतिकी विद्या । ' आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या अथवा परमात्मज्ञानसे आत्मिक शांति मिलती है और भूतविद्या, प्रकृतिविज्ञान अथवा विज्ञानसे ऐहिक सुख साधन विपुलतासे निर्माण किये जा सकते हैं अतः ऐहिक सुखोंकी वृद्धि भूत विद्यासे होती है । इसलिये प्रकृति विज्ञान भी आवश्यक है और आत्मज्ञान भी आवश्यक है क्योंकि मनुष्यको ऐहिक सुख भी चाहिये और आत्मिक शान्ति भी चाहिये । इसालिये प्रकृति विज्ञान और आत्मज्ञान इन दोनोंका सामवेश राष्ट्रीय शिक्षामें होना चाहिये ।

जो राष्ट्र अथवा जो समाज केवल प्राकृतिक विज्ञानके पीछे पडते हैं वे ऐहिक सुख भोग बढाते हैं. पर उनमें ईर्ष्याद्वेष बढनेके कारण वे लडाई झगडोंमें पडते और दुःख भोगते हैं । इसी तरह जो अध्यात्मज्ञानके ही केवल पीछे पडते हैं वे कदाचित् आत्मिक शान्ति पाते होंगे, पर उनके पास उपजीविकाके आवश्यक साधन भी न होनेके कारण ऐहिक सुख साधनोंसे वे वंचित रहते हैं और बडे दुःख भोगते रहते हैं इस तरह केवल आत्मज्ञान और केवल भूतविज्ञानके पीछे पडनेवालों की दुर्गति ही होती है । अतः ज्ञान और विज्ञानका समन्वय शिक्षामें होना आवश्यक है ।

अतः राज्यप्रबंध करनेवालोंको उचित है कि वे अपने राष्ट्रमें प्रकृतिविज्ञान पढावें और साथ साथ आत्मज्ञान भी पढावें । इस तरह दोनों ज्ञान विज्ञानोंको पढाईमें समन्वय होनेसे जनता दोनोंसे लाभ उठावेगी और निःसंदेह अधिक सुखी होगी ।

कर्मक्षेत्र

तीसवाँ सिद्धान्त=" समाज और व्यक्तिका सह विकास "

२० अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सभूत्यां रताः ॥१२॥
अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥
संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

" जो केवल व्यक्तिवादकी उपासना करते हैं वे अन्धकारमें जाते हैं, पर जो केवल समाजवादमें ही रमते हैं वे तो उससे भी घन अन्धकारमें जाते हैं ॥ व्यक्तिवादका फल भिन्न है और समाजवादका फल भिन्न है ऐसा हम उनसे सुनते आये हैं कि जो उपदेश करते हैं ॥ व्यक्तिवाद और समाजवाद इन दोनोंका समन्वय लाभकारी है ऐसा जो जानते हैं वे व्यक्तिवादसे व्यक्तिके दुःख दूर करते हैं और समाजवादसे (संघटित होकर) अमरत्व प्राप्त करते हैं ॥ "

(३०) " असंभूति, असंभव, विनाश " ये पद " व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद " के बोधक है और " संभूति संभव ये पद " समाजवाद " के बोधक हैं ।

व्यक्ति स्वातंत्र्य और समाजवाद ये दो पक्ष इस जगतमें प्रचलित हैं । व्यक्ति स्वातंत्र्य बढ गया तो समाजकी संघटना कम होती है और समाजवाद बढ गया तो व्यक्तिके लिये होती है और समाजवाद बढ गया तो व्यक्तिके लिये कुछ भी स्वातंत्र्य नहीं रहता । इस तरह इनमें कुछ गुण और कुछ दोष है । जो व्यक्तिको पूर्ण स्वतंत्रता देना चाहते हैं वे व्यक्ति की उन्नति करते हैं, पर वे समाजको सुसंघटित और बलवान नहीं बना सकते । यह व्यक्ति स्वातंत्र्यवादका दुष्परिणाम है । इसी तरह जो समाजवादी हैं वे व्यक्तिकी स्वतंत्रताको कम करते जाते हैं, इस कारण व्यक्ति दब जाती है और अवयव

होती है। व्यक्ति दब जानेसे उसका परिणाम अन्तमें समाजमें दास भाव बढनेमें होता है। इस तरह दोनोंमें कुछ गुण और कुछ दोष होते हैं। अतः जो व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद और समाज संघटनावाद इन दोनोंका समन्वय करते है वे व्यक्ति स्वातंत्र्यसे होनेवाला लाभ प्राप्त करते हैं और समाजको सुसंघटित करके बलवान भी बनाते हैं और समाजके साथ अमर हो जाते हैं क्यों कि व्यक्ति मरनेवाला है और समाज ही अमर है।

इसलिये राज्य व्यवस्थामें समाजकी संघटना बढे और व्यक्तिको भी आवश्यक स्वातंत्र्य मिले ऐसी योजना करनी चाहिये।

व्यक्तिको आवश्यक स्वातंत्र्य मिलनेसे व्यक्तिका विकास होगा और समाजकी संघटना होनेसे समाज भी बलवान बन जायगा। इस तरह समन्वयसे दोनोंका लाभ होगा और वह राष्ट्र विशेष प्रभावी बनेगा।

इकतीसवाँ सिद्धान्त=" सुवर्ण लोभके त्यागसे सत्य धर्मका दर्शन "

११ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये ॥१५॥

" सुवर्णके पात्रसे सत्यका मुख ढंका है। हे पोषक! सत्य धर्मके दर्शनके लिये वह ढक्कन तू दूर कर (और सत्यका दर्शन कर)।'

(३१) विश्वरूपी चमकीले सुवर्णके आच्छादनसे सत्य स्वरूप परमात्मा छिपाया है यह विवेकी लोग सब जानते हैं। व्यवहारमें अनेक अपराधी सुवर्ण दानसे निर्दोषी होकर मुक्त हो जाते हैं। यह भी प्रसिद्ध बात है इसलिये सत्य देखनेकी जिसको इच्छा हो, वह उस सुवर्णके ढक्कनको दूर करे और सत्य देखे।

राज्य व्यवहारमें जिन अधिकारियोंको सुवर्णका लोभ नहीं होगा, वे ही सत्य निर्णय कर सकेंगे, इसलिये ऐसे ही निर्लोभ सज्जनोंको अधिकार स्थानपर नियुक्त करना उचित है। राज्य के प्रबंध कर्ता अधिकारीकी नियुक्ति करनेके समय इसका अवश्य विचार करें और निर्लोभी अधिकारी ही स्थानापन्न करें।

जो धन-लोभसे सत्यको दबायेंगे उनको योग्य दण्ड देकर राज्य प्रबंधकी पवित्रता चिरस्थायी करनी उचित है। अन्यथा सुवर्ण प्रयोगसे सत्यको दबाया जायगा और राज्य व्यवस्था भ्रष्टाचार दोषसे दूषित होगी और पतित होगी।

बत्तीसवाँ सिद्धान्त=" कल्याणकारी रूपका दर्शन "

३२ पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य
व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

" हे एक अद्वितीय ज्ञानी नियामक तेजस्वी पोषणकर्ता प्रजापालक प्रभो! अपने चमकीले तेजस्वी किरणोंको समेट कर एक ओर कर। जो तुम्हारा कल्याणतम स्वरूप है वह मैं देखना चाहता हूं। जो इस जगत्प्राण रूपी आदित्यमें पुरुष है वही मैं हूं।"

(३२) ईश्वर सबका पोषक, अद्वितीय ज्ञानी, सबका नियामक, तेजस्वी, सबका पालक है। उसके दो स्वरूप है।

(द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे) एक तेजोमय बाह्य दृश्य स्वरूप है और दूसरा आंतरिक कल्याणमय आनन्द स्वरूप है। एक प्रखर स्वरूप है और दूसरा शान्त व सौम्य है। यह स्वरूप साधक देखना चाहता है। यह साधक भगवान् जगत्प्राण जगदात्मा सूर्य नारायणमें जो प्राण है उसी प्राणको धारण करनेवाला यहां साधक होकर खडा है। यही इस शान्त स्वरूपको देखना चाहता है।

इसी तरह राष्ट्रके शासक केन्द्रमें देखिये। यह शासक राष्ट्रका पालन पोषण करता है, अद्वितीय ज्ञानी इस शासनका कार्य करते हैं, वे ही सब शासक संस्थाका नियंत्रण करते हैं। वे ही सबको प्रेरणा करते हैं और संचालन करते हैं। इस संस्थाके दो विभाग हैं एक बाहरका चमकीला विभाग है, इसमें सैनिक, अधिकारी, संरक्षकदल, राजसभा, कारागृह, दण्ड, घोषणा आदि चमकनेवाला एक भाग है। इसमें दिखावा है, भय है, चमकाहट है। आंखें चकाचौंध होती हैं इसके दिखावेसे। इस दिखावेको एक ओर करके दूसरा जो राज्य-शासनका गुप्त कल्याणमय भाग है वह कितना प्रभावी है वह देखना चाहिये। इससे प्रजाका सच्चा आत्मिक कल्याण कितना

हो रहा है, सुख आराम आनन्द और शान्ति कितनी प्रजाको मिल रही है इसका निश्चय करना चाहिये। प्रजाका सच्चा हित कितना हो रहा है वह देखनेसे और विचार करनेसे पता लग जाता है। बाहरका दिखावा दूर करना और अन्दरकी शान्तिका पता लगानेसे इस शान्त स्वरूपका पता लग जाता है। यही राज्य शासनमें देखने योग्य बात है।

मानवोंकी अवश्यकताएं मानवोंको मिलती हैं वा नहीं, मानवताका मूल्य बढ रहा है या घट रहा है, मानवोंमें शान्ति व आनन्द बढ रहा है या घट रहा है इसका विचार करनेसे आन्तरिक स्वरूपका पता लग सकता है। राज्यशासनका कल्याणमय सत्य स्वरूप यह है। चमकीले स्वरूपको दूर कर इसका ही विचार करना चाहिये।

राज्यशासनके केन्द्रमें जो प्रबंधकर्ता कार्य कर रहे हैं वे वहां बैठकर कार्य कर रहे हैं। तथापि उनको नियुक्त करनेवाला मैं हूं। उनका निर्माण कर्ता मैं हूं। अर्थात वह और मैं मूलतः एक ही हूं। मैंने उनको वहां नियुक्त किया है अतः उनका कार्य कैसा हो रहा है उसका मैं निरीक्षण करना चाहता हूं। इस निरीक्षण करनेका मुझे अधिकार है। मैंने जो कार्यालय निर्माण किया उसमें सच्चा कल्याण रूप कार्य कहांतक हो रहा है, यह मैं देख रहा हूं। प्रजा ही अपने शासकोंका निर्माण करती है। अतः प्रजाही अपने निर्माण किये शासक कैसा कार्य कर रहे हैं इसका निरीक्षण करनेकी अधिकारिणी है। शासकों द्वारा सच्चा कल्याण कहांतक हो रहा है इसको देखना प्रत्येक प्रजाजनका कर्तव्य ही है। बाहरके दिखावेको न देख कर अन्दरका सच्चा स्वरूप देखना चाहिये। यदि सच्चा कल्याण न होता हो, तो इसका पुनः विचार करना चाहिये और सच्चा कल्याण हो ऐसा प्रबंधकी सुव्यवस्था करनी चाहिये।

तैंतीसवाँ सिद्धान्त=

"प्राण अमृत और भस्मान्त शरीर"

३३ वायुरनिलममृतं अथेदं भस्मान्तं शरीरम्।

"प्राण अपार्थिव अमृत है और यह शरीर भस्म होने वाला है।"

(३३) मानव शरीरके दो भाग हैं एक भाग स्थूल है जो भस्म होनेवाला है और दूसरा एक भाग है जो अमृतरूप आनन्दमय है। शरीर-इंद्रियां मन यह नष्ट होनेवाला भाग है, और प्राण-बुद्धि-आत्मा यह अमृत स्वरूप आनन्दमय भाग है। इसलिये व्यक्तिने अपने शरीरको तथा प्राणादिको शक्तिवान बना कर उससे समष्टिरूप विश्वात्माकी सेवा करनी चाहिये। व्यक्ति समष्टिकी सेवा करनेके लिये है। अपना शरीर जितना इस विश्व सेवामें लगेगा, उतना लगाना चाहिये। इसमें कसूर नहीं होना चाहिये। शरीर वैसाही रखा तो भी उसका नाश या भस्म होगा और यदि उससे विश्वसेवाके कार्य लिये तो भी वह विनष्ट होगा या भस्म होगा ही। इसलिये उससे विश्वसेवा जितनी अधिक हो सकती है उतनी लेना ही उचित है। इसीसे जीवितका सार्थक होना संभव है। जीवनका परम कल्याण समष्टिकी सेवासे ही है।

चौतीसवाँ सिद्धान्त="कृत कर्मका स्मरण"

३४ ॐ क्रतो स्मर, कृतं स्मर क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥ १७॥

"हे कर्म करनेवाले साधक। ॐकारका स्मरण कर, क्या किया है उसका स्मरण कर, हे कर्म करनेवाले साधक! जो पूर्व समयमें किया है उसका स्मरण कर।"

(३४) मनुष्य कर्म करनेका अधिकारी है, इसलिये उसका नाम 'क्रतु' है। सब मनुष्य कर्म करते हैं, इसलिये सब क्रतु कहलाते हैं। मनुष्य शुभ कर्म न करेगा तो अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट हुआ ऐसा समझना चाहिये। इस मनुष्यको 'ॐ' कारका स्मरण करना चाहिये। ओंकारमें 'अ-उ-म' ये तीन अवस्थाएं हैं। 'अ' (जाग्रति या स्थूल), 'उ' (मध्यस्थिति) स्वप्न या सूक्ष्म), और 'म' (बौद्धिक आत्मिक, सुषुप्त अवस्था) दर्शायी जाती है। इन तीनों अवस्थाओंपर राज्यशासनका परिणाम क्या हो रहा है, अर्थात् राज्यशासनसे इनमें उन्नति होती है या अवनति होती है, इनमें शान्ति होती है अथवा घबराहट हो रही है यह देखना चाहिये। मनुष्यको उचित है कि वह देखे कि मैंने जो भूतकालमें कार्य किया उसका क्या परिणाम हुआ और आज जो मैं कर रहा हूं उसका परिणाम भविष्यमें क्या होगा। इसी तरह राज्यप्रबंधके विषयमें भी देखना और अपनेद्वारा सुयोग्य कर्म होते रहें ऐसा प्रबंध करना योग्य है।

पैंतीसवाँ सिद्धान्त="मार्गकी शुद्धता"

३५ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्

'हे तेजस्वी प्रभो! हमें ऐश्वर्य प्राप्त होनेके लिये उत्तम मार्गसे ले जा।'

(३५) मनुष्योंको ऐश्वर्य चाहिये, परंतु वह (सुपथा) उत्तम शुद्ध मार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये। कदापि अशुद्ध मार्गसे धन प्राप्त करना उचित नहीं है। ध्येय भी शुद्ध चाहिये और उसकी प्राप्तिका मार्ग अथवा साधन भी शुद्ध चाहिये।

छत्तीसवाँ सिद्धान्त=' कर्मोंका परीक्षण"

३६ विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्

'हे प्रभो! तू सबके कर्म जानता है।'

(३६ मनुष्योंके कर्म अच्छे हैं या बुरे हैं इसका ज्ञान प्रभुको निःसंदेह रूपसे होता है।—

इसी तरह राज्यशासनमें भी न्यायाधीश द्वारा लोगोंके कर्मोंका निरीक्षण और परीक्षण करना चाहिये। जिनके कर्म अच्छे हों उनका अभ्युदय और जिनके हीन कर्म हों उनका अवनत स्थान हो। इससे उत्तम शुभ कर्म करनेकी रुची जनतामें बढेगी। कर्मोंकी परीक्षासे मानवोंकी उच्च नीचता सिद्ध होती रहे।

सैंतीसवाँ सिद्धान्त="कुटिलताको दूर करना"

३७ युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः।

'हमसे कुटिलता और पाप प्रयत्न पूर्वक दूर करा दो।'

(३७) मनुष्योंने जो कुटिलता, टेढापन, वक्रता, और पाप आदि दोष हों उनको प्रयत्न पूर्वक दूर करना चाहिये, उनसे युद्ध करा कर उनको दूर भगाना चाहिये। ये दोष दूर हों इस लिये जाग्रत रहकर प्रयत्न करना चाहिये।

राज्यशासनसे भी कुटिलता, कपट, टेढीचाल, भ्रष्टाचार, पाप, रिश्वतखोरी, काळाबाजार आदि दोष प्रयत्न पूर्वक दूर करने चाहिये।

अडतीसवाँ सिद्धान्त=" ईश्वरकी भक्ति"

३८ भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम॥ १८॥

'हे प्रभो! तुम्हें मैं नमन करता हूं, (तेरी स्तुति करता हूं, उसका तू स्वीकार कर।)

(३८) मनुष्य ईश्वरकी भक्ति करे, उसे नमन करे, उसके गुणोंका चिंतन करे, उन गुणोंको अपने अन्दर धारण करे।

राज्यशासनमें भी ईश्वरभक्तिके लिये स्थान चाहिये। ईश्वरके लिये नमन करना, ईश्वरके सन्मुख नम्र होकर अपना कर्तव्य करना चाहिये। ईश्वरको सदा अपने सन्मुख देखकर अपना कर्तव्य सुयोग्य रीतिसे करना चाहिये।

शान्ति मन्त्र

"वह ब्रह्म पूर्ण है, यह विश्व पूर्ण है, क्योंकि उस पूर्ण ब्रह्मसे यह पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है। पूर्णसे जो उत्पन्न होता है वह पूर्ण ही होता है। उस पूर्ण ब्रह्मसे इस पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति होनेपर भी उस ब्रह्ममें कुछ भी न्यूनता नहीं हुई, वह वैसाका वैसाही पूर्ण रहा है।"

व्यक्तिमें शान्ति हो, समाजमें शान्ति रहे और विश्वमें शान्ति स्थापन हो।

ईशोपनिषद्ने बताये राज्यशासनके तत्त्व

१ राजा और राज्याधिकारी कैसे हों?

(ईश मं. १) जिसमें शासन करनेका सामर्थ्य अच्छा हो वह शासक बने, (शुक्रं मंत्र. ८) शुद्ध, स्वच्छ, निर्दोष, सामर्थ्यवान, बलवान्, वीर्यवान्, (शुद्ध) शुद्ध, पवित्र, निर्दोष, (अपापविद्धं) निष्पाप, (कविः) ज्ञानी, अतीन्द्रियार्थ दर्शी कवि, विद्वान्, काव्यनिपुण, (मनीषी) मननशील, बुद्धिवान्, मनका संयम करनेवाला, इंन्द्रिय दमन करनेवाला, मनपर प्रभुत्व रखनेवाला, (परिभूः) प्रभावी, अन्योंपर प्रभाव रखनेवाला शत्रुका पराभव करनेवाला, शत्रुको पराजित करनेवाला, विजयी दिग्विजयी, (स्वयंभूः) स्वयं अपनी शक्तिसे कार्य करनेवाला, अपने कार्यके लिये दूसरेपर अवलंबन न करनेवाला, स्वावलंबी, दूसरोंका सहाय न लेनेवाला, अपनी शक्तिसे स्वयं 'सब कार्य करनेवाला, स्वयंप्रभु' स्वयंस्फूर्तिसे कार्य करनेवाला, (पूषन् मं. १६) पोषण करनेवाला, पोषणका मार्ग सबको दर्शानेवाला, जनताका पोषण करनेवाला, (एकऋषे;) एक, अद्वितीय ज्ञानी, दूरका देखनेवाला, भविष्यका जानने वाला, सूक्ष्म दृष्टिवाला, (यमः) नियामक, सबका नियमन करनेवाला, अपराधियोंको दण्ड देनेवाला, (प्राजापत्यः प्रजापतिः) प्रजाजनोंका उत्तम पालन करनेवाला, प्रजा

पालनके कार्यमें तत्पर रहनेवाला, (**अनेजत् मं. ४**) न डरनेवाला, न कांपनेवाला, निर्भय, निडर रहकर कार्य करनेवाला, (**एकः**) अद्वितीय, जिसके समान दूसरा कोई नहीं है, (**मनसः जवीयः**) मनसे वेगवान्, जिसमें मनका वेग अधिक है, (**अर्शत्**) मतिमान्, प्रगतिशील, ज्ञान प्रसारक, ज्ञानदाता, (**तिष्ठत्**) स्थिर, अचल, जिसमें चञ्चलता नहीं है, (**धावतः अन्यान् अत्येति**) जो दौडनेवाले शत्रुओंका अतिक्रमण करके उनके परे पहुंचता है, जिसपर गुण्ड हमला नहीं कर सकते, जो दुष्टोंको चारों ओरसे घेर सकता है। ऐसे गुणोंसे युक्त राजा, अध्यक्ष तथा राज पुरुष होने चाहिये।

२ राष्ट्रकी शिक्षा-प्रणाली

राष्ट्रकी शिक्षा प्रणालीमें (मं. ९-११) प्राकृतिक विज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान इन दोनोंका योग्य समन्वय किया जाय। केवल प्रकृति विज्ञान बढ गया, तो भोग विलास बढेंगे व स्पर्धा बढनेके कारण युद्ध बढ जायेंगे और केवल आध्यात्मिक ज्ञानही राष्ट्रमें बढ गया ता ऐहिक अभ्युदयकी ओर दुर्लक्ष्य होगा, जिससे ऐहिक सुखभी नहीं प्राप्त होगा। ये दोनों भय हैं। इनको दूर करनें के लिये राष्ट्रीय शिक्षामें भौतिक और आत्मिक विद्याओंका समन्वय करना योग्य है। इससे प्रजाजनोंमें अभ्युदय और निश्रेयसका सम विकास होगा और ऐहिक सुख और आत्मिक शान्ति प्रजाजनोंको प्राप्त होगी। दोनों विद्याओंका समविकास राष्ट्रमें करनेसे सबका लाभ है। इसलिये एक राष्ट्रव्यापी नियोजन करना चाहिये।

३ ध्येय और मार्गकी शुद्धता

(मं० २) मनुष्योंको अनेक प्रकारके श्रेष्ठतम कर्म करने चाहिये सर्वजनहित करनेका ही इनका उद्देश्य हो। इनसे सब जनोंका धन ऐश्वर्य और सुख बढे। कोई दुःखी न रहे।

(मं० १८) जो धन प्राप्त करना है वह शुद्ध मार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये। ध्येय भी शुद्ध हो और मार्ग भी शुद्ध हो। अपवित्रता, पाप, भ्रष्टाचार, कुटिलता आदि दोष न हों।

राज्यव्यवस्थामें ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि जिससे कोई भी अपवित्र मार्गसे न जा सके।

४ आर्य और अनार्यकी परीक्षा

प्रजाजनोंमें गुणकर्म स्वभावसे आर्य कौन हैं और अनार्य कौन हैं, इसका प्रजापतिने परीक्षण करना चाहिये। आसुरी और दैवी मार्गसे कौन चल रहा है इसका निरीक्षण भी वह करे। इनको पृथक् रखना और इनके अधिकार भी पृथक् होने चाहिये। दैवी मार्गपर चलनेवालोंको विशेष सहूलियतें मिलें और आसुरी मार्गसे जानेवालों पर अधिक नियंत्रण रखे जाय। (मं० १)

समाज व्यवस्था

५ समाज और व्यक्तिका संबंध

(**जगत्यां जगत् मं० १**) समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है. कोई व्यक्ति समाजके बिना जीवित नहीं रह सकती। व्यक्ति (**विनाशः मं० १४**) विनष्ट होनेवाली है। कितना भी यत्न किया जाय तो व्यक्ति चिरस्थायी नहीं रह सकती। परन्तु समाज (**संभूत्या अमृतं** । मं० १२) अमर है। जाति सदा टिकनेवाली है। (**सं-भूतिः**) संघ करके रहना समाजकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। (**असंभूति उपासते ते अन्धंतमः प्रविशन्ति** मं० १२) जो केवल व्यक्तिशः पृथक् पृथक् रहते हैं वे विनष्ट हो जाते हैं। परंतु (**ये संभूत्यां रताः ते ततः भूयः**) जो केवल समाज संगठनमें मस्त होते हैं वे उससे भी अधिक अवनत होते हैं। इसलिये (**उभयं सहवेद**) व्यक्ति स्वातंत्र्य और संघबल इन दोनोंकी उपयोगिता जो जानते हैं, वे दोनोंका समन्वय करते हैं और वैयक्तिक उत्कर्षसे व्यक्तिकी प्रगति करते हैं और संघशः संगठन करके समाज और राष्ट्रको सामर्थ्यवान बनाकर अमर बनाते हैं। (मं० १२-१४)

६ त्याग और भोग

(**त्यक्तेन भुञ्जीथाः** । मं० १) समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है. इसलिये व्यक्ति अपने भोगोंको समाजके लिये समर्पण करे, अपने भोगोंका समाजहितके लिये यज्ञ करे और ऐसा यज्ञ करके जो अवशिष्ट रहेगा उसका अपने लिये भोग करे। (**मा गृधः**) लोभ न करे। लोभसे दुःख बढते हैं। (**कस्यस्विद् धनं**) प्रजापतिका प्रजापालनमें व्यय करनेके लिये सब धन है जो धन यहां है उसका उपयोग सब प्रजाजनोंकी उत्तम पालना करनेके लिये होना चाहिये। धन किसी व्यक्तिका नहीं है। व्यक्ति धनकी विश्वस्त रह सकती है।

(मं० १५) सुवर्णसे सत्य ढंक जाता है। सुवर्णके लोभसे जगत्‌में अनर्थ होते और दुःख बढ जाते हैं। इसलिये सुवर्णका प्रलोभन दूर करना चाहिये और सत्यका दर्शन करना चाहिये। सत्य नित्य मार्गदर्शन करता रहे।

(अपापविद्धं। मं० ८) पापका आचरण कोई न करे। (शुद्ध) शुद्ध और पवित्र आचरण करे।

७ राज्यशासन कैसा हो?

(मं० ५) राज्यशासनद्वारा प्रजाजनोंकी उन्नतिके सब योजनाओंको प्रेरणा मिलती रहे, परंतु राज्यशासन स्वयं कभी चंचल तथा अस्थिर न हो। वह केन्द्रमें तथा बाहर एक जैसा प्रभावी रहे। वह जैसा समीप वैसा ही दूर समान तथा कार्यक्षम रहे। (मं० ६) सब प्रजाजन उसकी सहायतासे उन्नत होते रहें, तथा सब प्रजाजनोंमें उस राज्यशासनके विषयमें आदरका स्थान रहे। (मं.७) सर्व प्रजाजन तथा राज्यके शासक इनकी एकात्मता रहे। इनमें कभी विरोध न हो। प्रजा और राज्यशासक इनमें पूर्णरूपसे अविरोध रहे। (मं० ८) राज्यशासन (धावतः अन्यान् अत्येति) दौडनेवाले अन्य शत्रुओंसे भी अधिक वेगवान् हों, अर्थात् अन्य शत्रु जितने वेगसे प्रगति करते हैं उससे अधिक वेगसे अपनी प्रगति हो। शत्रु या गुण्ड जितने वेगसे कार्य करेंगे उससे अधिक वेगसे राज्यशासक उन अपराधियोंको पकडनेमें सदा दक्ष रहें। जितनी प्रगति अन्य लोग कर सकते हैं उससे अधिक प्रगति अपने राज्यशासक करते रहें। कदापि गुण्डोंके पास अधिक वेगके साधन न हों, उनसे अधिक वेग अपने राज्यशासकोंका हो। अर्थात् वे अन्य लोग अपने शासकोंके सन्मुख कुण्ठित गति हो जावें।

अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः (मं. ८) शाश्वत रहनेवाली अर्थव्यवस्था अपने राष्ट्रमें शुरू की जाय।

राज्यशासन ऐसा उत्तम हो कि जिसकी योजनासे व्यक्ति तथा समाजकी अखण्ड उन्नति होती रहे और किसी तरह अवनति न हो। व्यक्ति स्वातंत्र्य और संघवाद ये राष्ट्रमें पृथक् पृथक् और परस्पर विरोधी न रहें, परंतु इनमें परस्पर सहकार्य हो जिससे दोनोंसे जनताका लाभ ही होता रहे। प्रजाकी व्यक्तिशः उन्नति हो और सांघिक शक्ति भी बढे ऐसी योजना राज्यप्रबंधके द्वारा होनी चाहिये। राज्यशासनका ध्येय ऐसा हो कि जिससे व्यक्ति और संघ दोनों उन्नत होते रहें।

राज्यशासन प्रभावी और प्रबल चाहिये वह थोडेसे गुण्डोंके गुण्डपनसे न टूटे। इसी तरह राज्यशासनका प्रभाव गुण्डोंपर जमा रहे और वे गुण्डपन न कर सकें, इतने वे दबे रहें अथवा पूर्ण रूपसे सुधर जांय।

८ राष्ट्रका आरोग्य

राज्यशासनके द्वारा राष्ट्रका आरोग्य बढाया जाय और रोग कम करनेका प्रयत्न होता रहे। स्वास्थ्य बढे और औसत आयु १०० वर्षोंकी बने। (मं. २)

इस तरह ईशउपनिषदने राज्यशासन की रूपरेखा बतायी है और यह परमात्माके वर्णनके मिषसे बतायी है। इसका विचार पाठक करें और मनन करके इससे भी अधिक बोध प्राप्त करें।

सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सबको कल्याणका मार्ग दीखे, और कोई दुखी न हो।

भारतीय-बहुराज्य-स्वराज्य-पक्षकी
घोषणा

[वेद तथा उपनिषदादि भारतीय अध्यात्मशास्त्रके ग्रंथोंमें प्रतिपादित चिरस्थायी अध्यात्मतत्त्वोंपर अधिष्ठित एक उत्तम 'बहुराज्य-स्वराज्य-व्यवस्था' है। इसतरह का स्वराज्य व्यवस्था अपने देशमें स्थापित करनेके लिये एक पक्ष कार्य कर रहा है, ऐसा मानकर वह स्वराज्यपक्ष अपने पक्षकी घोषणा वैदिक सिद्धान्तोंके आधारपर किसतरह करेगा, इसकी घोषणामें कौनसे विशेष तत्त्व होंगे, इसकी चिन्ता विचारशील व्यक्तियोंके मनमें उत्पन्न होती है। इसलिये विशेषतः ईशोपनिषद् के अनुसार साथ साथ भगवद्गीता का सहारा लेकर भी 'बहुराज्य-स्वराज्य-पक्षकी घोषणा' यहाँ हम प्रस्तुत करते हैं।]

हमारी घोषणा

हमारा " भारतीय बहुपाय्य स्वराज्य-पक्ष ' ऋषिकाल में स्थापित हुआ और हमारे पक्षने उसी समय यह घोषणा प्रकाशित की ।—

१ हमारा ध्येय

हमारे पक्षका ध्येय (शान्तिः शान्तिः शान्तिः) " विश्व में चिरस्थायी शान्ति स्थापित करना है । " इस साध्यको सिद्ध करनेके लिये हम सबसे प्रथम अपने भारतीय समाजमें तथा भारत राष्ट्रमें स्थायी शान्ति स्थापित करेंगे और इसका प्रारम्भ एक एक व्यक्तिके अन्तःकरणमें समत्वपूर्ण एकात्मताका भाव प्रस्थापित करनेसे होगा । इसीकी सिद्धिके लिये हम अपने राष्ट्रमें आध्यात्मिक तत्त्वोंपर अधिष्ठित बहुपाय्य-स्वराज्य-शासन ÷ शुरू करना चाहते हैं; क्योंकि सुयोग्य स्वराज्य-शासन अपने हाथ रहे बिना न तो हम राष्ट्रमें शान्ति स्थापन कर सकेंगे और न ही व्यक्तिमें एकात्मता स्थापन कर सकेंगे, फिर विश्वमें शान्ति स्थापन करना तो दूरकी बात है ।

२ यह विश्व पूर्ण है

हमारे बहुपाय्य-स्वराज्य-पक्ष का मन्तव्य यह है कि यह विश्व जैसा चाहिये वैसा, मानवीय उन्नतिके सब साधनोंसे परिपूर्ण है, इस विश्वमें किसी तरह की न्यूनता नहीं है । (पूर्णमदः, पूर्णमिदम्) क्योंकि यह पूर्ण विश्व पूर्ण परमेश्वरका बनाया हुआ है । इस कारण यह सर्वतो परिपूर्ण है । इसमें किसी तरह दोष नहीं है । इस साधनसे ही हमने अपनी व्यक्तिशः, संघशः तथा राष्ट्रशः उन्नति करनी है । दोष मनुष्यकी सदोष साधनामें होता है, इसलिये हम ऐसा यत्न करेंगे और अपने समाजको ऐसे अनुशासनमें ले आयेंगे कि, जिस अनुशासनमें रहे मनुष्य साधनामें दोष नहीं करेंगे; अथवा प्रयत्न करनेपर भी यदि दोष होगा, तो कमसे कम हो सकेगा । इस हेतुकी सिद्धिके लिये हम अनुशासनमें चलनेवाला समाज बनायेंगे । यह हमारा सबसे पहला कार्य होगा ।

३ प्रशासन शक्तिवाला शासक होगा

(ईशा वास्यं इदं सर्वं) जिसमें प्रशासन करनेकी शक्ति होगी, वही इस संसारमें ठीक तरह शासन का कार्य कर सकता है । इसलिये हम अपने भारत देशमें अपना भारतीय समाज अच्छी तरहसे अनुशासन युक्त और उत्तम सुसंगठित बनायेंगे; जिससे अपने समाजमें प्रशासन करनेकी शक्ति बढेगी और अनुशासनमें रहकर अपना कर्तव्य करनेका उसका सहज स्वभाव भी बन जाएगा ।

४ व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध

(जगत्यां जगत्) समष्टिके आधारसे व्यक्ति रहती है । व्यक्ति समाजके आधारके बिना कभी नहीं रह सकती । इसलिये हमारा ध्येय यह होगा कि अपना समाज अच्छी तरह सुसंगठित हो और व्यक्तिको समाजके संगठनको बढानेके लिये तथा सेवा करनेके लिये अनुशासनबद्ध किया जाए । व्यक्तिको अपना तन, मन, धन, समाजकी परम उन्नति करनेके लिये समर्पण करना होगा । हमारे राज्य-प्रबंधमें व्यक्ति समाजकी परम उन्नतिके लिये ही रहेगी । समाजकी परम उन्नतिके विरोधमें व्यक्ति खडी न रह सकेगी । व्यक्तिकी शक्ति इसीलिये विकसित करनी है कि उससे समाज शीघ्र ही परम उन्नतिको प्राप्त हो ।

५ त्यागसे भोग

(त्यक्तेन भुञ्जीथाः) हमारे राज्यशासनमें व्यक्ति समाजकी परम उन्नतिके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण करेगी और समाज प्रत्येक व्यक्तिकी सब परम आवश्यकताओंके लिये आवश्यक भोग साधन देता रहेगा । किसी व्यक्तिको अपने योग-क्षेमकी चिन्ता नहीं रहेगी । (तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहामि) क्योंकि अनुशासनमें रहकर समाजकी सेवा करनेवालोंके योगक्षेमके लिये हमारे राज्यशासनमें राज्य-शासन ही उत्तरदायी रहेगा ।

६ लोभका त्याग

(मा गृधः) प्रत्येक व्यक्तिको उचित है कि वह सब

÷ बहुपाय्ये स्वराज्ये (ऋ. ५.६६.६ रातहव्य आत्रेय ऋषिकी घोषणा)

प्रकारका लोभ छोड देवे । हमारे राज्यप्रबंधने ही राष्ट्र-सेवा करनेवालोंकी सब योग्य आवश्यकताओंको पूर्ण किया जाएगा । हमारे राज्यशासनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने योगक्षेमकी चिन्तासे मुक्त रहेगी । प्रत्येक व्यक्तिको अनुशासनमें रहकर अपना नियत कर्तव्य उत्तम रीतिसे करना होगा।

७ सब धन राष्ट्रका है

(कस्य प्रजापतेः स्वित् धनं) सब धन राष्ट्रका है और वह प्रजापालक संस्थाके पास रहेगा। सब धनका उपयोग प्रजाकी उत्तम पालनाके लिये ही होगा। यदि धन किसी व्यक्तिके पास हो तो वह उसका विश्वस्त रहेगा स्वामी नहीं।

८ कुशलतासे कर्म करना

(इह कर्माणि कुर्वन्नेव) यहां हमारे इस राज्यशासनमें प्रत्येक मनुष्यको अपने गुण, कर्म, स्वभाव प्रवृत्ति तथा समाजकी आवश्यकताके अनुसार किसी न किसी सर्व जन-हितकारी कर्ममें कौशल्य अवश्य प्राप्त करना होगा और यह कर्म उसे समाजकी परम उन्नति सिद्ध करनेके लिये करना होगा। योग्य कर्मका योग्य फल कर्मकर्ताको अवश्य मिलेगा। ऐसे कुशल कार्यकर्ताको योग्य कार्य देने, और उसका उसकी योग्यतानुसार योगक्षेम चलानेके लिये हमारा राज्यशासन सदा उत्तरदायी रहेगा। जो स्वस्थ रहनेपर भी किसी भी कर्ममें कुशल नहीं होंगे, उनके योगक्षेमके लिये हमारा राज्यशासन उत्तरदायी नहीं रहेगा। कर्मकी कुशलता सम्पादन करनेके मार्ग सबके लिये सदा खुले रहेंगे।

९ सौ वर्षोंकी पूर्ण आयुकी प्राप्ति

(शतं समाः जिजीविषेत्) हमारे राज्यशासनमें प्रत्येक मनुष्य सौ वर्ष जीनेकी महत्त्वाकांक्षाका धारण करें। ग्राम, नगर, पत्तन, क्षेत्र राष्ट्रके उत्तम स्वास्थ्य रक्षाका सब सुयोग्य प्रबन्ध तथा राष्ट्रीय आरोग्य संवर्धनका उत्तम नियोजन हमारा राज्यशासन करेगा। परन्तु प्रत्येक नागरिकको राज्यशासनके स्वास्थ्य सुरक्षाके नियोजनके अनुसार अनुशासनमें रहना होगा। बालमृत्यु, अकालमृत्यु तथा सांघिक रोगोंको; साथ ही यावच्छक्य अन्य रोगोंको भी दूर करनेका प्रबन्ध हमारा राज्यशासन करेगा। इस विषयके सब अनुशासन जनताको पालन करने होंगे। भारत राष्ट्रकी औसत आयु सौ वर्षकी करनेके लिये हमारा राज्यशासन सदा प्रयत्न शील रहेगा।

१० कर्ताकी दोषसे मुक्ति

(न कर्म लिप्यते नरे) हमारे राज्यशासनके अनुशासनके अनुसार उत्तम कुशलतासे सर्व जनहित साधनके लिये कर्म करनेवालेको कर्मका दोष नहीं लगेगा। उस कर्मके कर्ताको उत्तम कर्म करनेका यश ही मिलेगा। ऐसे कर्मके परिणामके लिये हमारा राज्यशासन उत्तरदायी होगा।

११ दूसरा मार्ग नहीं है

हमारा राज्यशासन भारत राष्ट्रकी परम उन्नतिके लिये ही केवल होगा। इसका स्वरूप पूर्वोक्त दस घोषणाओंसे प्रकट हुआ है। सच्ची उन्नतिका यही दशविध उपाय है। (न अन्यथा इतः अस्ति) इससे विभिन्न उन्नतिका कोई दूसरा मार्ग नहीं है। सब जनता (एवं मनसि धारयतु) इसपर पूर्ण रूपसे विश्वास रखे और भारत-राष्ट्रकी परम उन्नति करनेमें हमारे साथ रहे। हम निःसंदेह इस पद्धतिसे अपने राष्ट्रकी परम उन्नति अल्प समयमें करके दिखा देंगे।

१२ असुरी लोगोंकी पृथक् गणना

(असुर्या अन्धेन तमसा आवृता लोकाः) जो आसुरी वृत्तीके अज्ञानी गुण्डे लोग होंगे, यदि उन्होंने दैवी सन्मार्गका आचरण स्वीकार न किया तो उनकी असुर वर्गमें गणना की जाएगी और उन्हें नागरिकत्वके अधिकार न रहेंगे; जो कि सुर वर्गके लोगोंको होंगे। उनके लिये उन्नतिका मार्ग खुला रहेगा। परन्तु जो असुरवर्गमें रहेंगे वे नागरिक नहीं माने जाएंगे। अतः उचित यह है कि सब जनता सुरवर्गका रहन सहन स्वीकार करें। हमारे राज्यशासनमें किसीको भी उन्नति करनेके लिये प्रतिबन्ध नहीं होगा। सदा सर्वदा उन्नतिके द्वार सबके लिये खुले रहेंगे।

१३ न डरनेवाला शासन

हमारा राज्यशासन एक जैसा सबके लिये समान

निर्भय वृत्तिसे चलता रहेगा। किसीके डरसे या अन्य प्रलोभनके कारणसे उसमें (अनेजत्) परिवर्तन न होगा।

१४ अद्वितीय शासन

(एकं) हमारा राज्यशासन अद्वितीय होगा, क्योंकि इसका एक ही ध्येय है और वह है भारत राज्यको सर्वांगीण परम वैभव शाली बनाना। हमारे पक्षके सब व्यवहार एक मात्र ध्येयके लिये साधक होते रहेंगे। किसीकी इस विषयकी सूचना विचारणीय सिद्ध होनेपर हम उसे अवश्य स्वीकार करेंगे।

१५ मनसे भी वेगवान्

(मनसः जवीयः) हमारे राज्यशासनके सब अधिकारी ऐसे चुने होंगे कि जिनके मनका वेग बहुत होगा। जो स्फूर्तिवाले होंगे और निरुत्साहका नाम भी उनके पास न होगा। क्योंकि तभी भारतके शासनका कार्य पूर्णतः निर्दोष होगा।

१६ अन्योंको अधिकारके स्थान नहीं मिलेंगे

(न अन्ये एनत् आप्नुवन्) कोई दूसरे-विदेशी या सदा परकीय वृत्तिसे रहनेवाले-हमारे इस अध्यात्म-अधिष्ठित, इस सर्वाङ्गपूर्ण राज्यशासनके अधिकारोंको प्राप्त न कर सकेंगे। अर्थात् जो भारतको अपनी मातृ पितृ भूमि नहीं मानते वे अन्य लोग इस राज्यशासनके अधिकारी पदपर नहीं रख जाएंगे। इसी तरह अधिकारियोंको राज्यशासन विधान करनेका अधिकार नहीं रहेगा.

१७ गुण्डोंको घेरनेका सामर्थ्य

(धावतः अन्यान् अत्येति) गुण्डे कितना भी तेज दौडनेवाले यदि हुए तब भी हमारे इस राज्यशासनके अधिकारी उनको घेरकर पकडनेका सामर्थ्य रक्खेंगे। इसलिये हमारे राज्य शासनमें सब प्रजा सच्ची शान्तिका अनुभव लेती रहेगी। अतः सब प्रजाजन हमारे पक्षमें आजाएं और उत्तम राज्यशासनके भागी बनें।

१८ स्थायी शासन

(तिष्ठत्) हमारा राज्यशासन चञ्चल नहीं होगा। तथा आज एक, कल दूसरा, परसों तीसरा ऐसा नहीं होगा। किसी एक अधिकारीकी इच्छानुसार बदलना नहीं रहेगा। अर्थात् स्थिर शासन समितिके बनाये विधानके अनुसार स्थिर रूपसे चलता रहेगा। आवश्यक सुधारके लिये यह जागरूक रहेगा।

१९ कर्मोंकी धारणा

(अपः दधाति) हमारे राज्यशासनमें सबके कर्मोंका धारण होगा। करनेवालेके लिये योग्य काम मिलेगा। काम करनेवाला व्यर्थ नहीं जाएगा। किये कामका योग्य फल कर्ताको मिलेगा। किये कर्म कभी विनष्ट न होंगे।

२० स्थिर रहकर उत्साह प्रदान करना

(तदेजति, तन्नैजति) हमारा राज्यशासन सबै हितकारी कर्मोंको प्रोत्सहन देगा, परन्तु स्वयं अपनी अनुशासन पूर्ण परिशुद्ध नीतिपर सुस्थिर रहेगा। स्वयं चंचल न होता हुआ दूसरोंको शुभ मार्गपर चलावेगा।

२१ समीप और दूर रहनेपर भी समान

(तद्दूरे तद्वन्तिके) हमारा राज्यशासन जैसा केन्द्रमें प्रभावी होगा वैसा ही सुदूर स्थानमें भी प्रभावी होगा अधिकारियोंकी दूरी और समीपतासे इसमें न्यूनाधिकता नहीं होगी।

२२ शासन और शास्यकी सहकारिता

(ईशे सर्वे भूतानि, सर्वे भूतेषु ईशः) हमारे राज्यशासनमें सब प्रजाजन आनन्दसे रहेंगे और सब जनतामें राज्यशासनके तथा राज पुरुषोंके विषयमें आदर रहेगा। शासक और शास्योंमें पूर्ण सामञ्जस्य रहेगा। इसलिये यहाँ किसीको किसीकी निन्दा करनेका अवसर ही न मिलेगा। राज्यशासन पूर्णतया सर्वजन हित करनेके लिये चलाया जाएगा। और इसका ज्ञान प्रजाको रहेगा। इसलिये विरोध भावही उत्पन्न न होगा

२३ एकात्मकताका अनुभव

(सर्वाणि भूतानि आत्म ईश एव अभूत्) सब प्रजाजन ही जहाँ राज्यशासक रहेंगे, जहाँ शासित और शासकमें एकात्मता होगी वहाँ कोई किसीका द्वेष नहीं करेगा। ऐसा ही हमारा यह राज्यशासन होगा।

२४ शरीर व्रण रोगादिदोष-रहित

(अकायं, अव्रणं, अस्नाविरं) हमारा राज्यशासन किसीके शरीर दोष, व्रण या रोगादिके कारण बंद नहीं रहेगा। शारिरीक दोषोंसे हमारे राज्यशासनमें त्रुटी नहीं रहेगी। हमारा राज्यशासन बल और सामर्थ्य पूर्वक यथा योग्य रीतिसे चलाया जाएगा।

२५ शुद्ध और पापरहित

(शुद्धं अपाप विद्धं) हमारा राज्यशासन सदा शुद्ध रहेगा और पापाचार आदि दोषसे रहित होगा। भ्रष्टाचार काळाबाजार रिश्वतखोरी आदि दोष यहाँ नहीं होंगे।

२६ ज्ञानी और संयमी शासक होंगे

(कविः मनीषी परिभूः स्वयंभूः।) हमारे राज्यशासनके चलानेवाले अधिकारी ज्ञानी, कवि, विद्वान् अतीन्द्रियदर्शी मननशील, मनः संयमी, इन्द्रियदमनी, प्रभावी, शत्रुका पराभव करनेवाले और अपनी शक्तिसे स्वयं अपना कार्य करनेवाले और कभी दूसरोंके आधीन न होनेवाले होंगे। इसीलिये हमारा राज्यशासन उत्तम और निर्दोष होगा

२७ शाश्वत अर्थ व्यवस्था

(याथातथ्यतो अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) हमारे राज्यशासनमें अर्थ व्यवस्था यथा योग्य और स्थायी रहेगी, जिससे प्रजाजनोंको निर्विघ्न रीतिसे व्यापार व्यवहार करना सुगम होगा। स्थिर अर्थ व्यवस्था के सब लाभ सब प्रजाजनोंको प्राप्त होंगे। हमारा राज्य-शासन अपने राष्ट्रकी अर्थ व्यवस्थाको गिरने नहीं देगा

२८ ज्ञान और विज्ञानका सहयोग

(विद्यां च अविद्यां च उभयं सह) हमारे राज्य शासनके शिक्षाविभागमें अध्यात्मज्ञान और प्रकृतिविज्ञान इन दोनोंका ज्ञान साथ साथ दिया जाएगा। जिससे जनता को प्रकृति विज्ञानसे ऐहिक सुख मिलेंगे और आत्म ज्ञानसे परम शान्ति प्राप्त होगी। इस तरह हमारी यह संयुक्त शिक्षा अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन अवश्य करेगी।

२९ व्यक्ति और समाजका सह विकास

(संभूतिं च असंभूतिं च उभयं सह) संघ और व्यक्तिका सह विकास करनेका प्रयत्न हमारे राज्यशासनमें होगा। हमारा संगठन प्रबल रहेगा, परन्तु व्यक्तिकी स्वातन्त्रता भी नष्ट नहीं होगी। व्यक्ति स्वातन्त्र्य यहाँ राष्ट्रीय संगठनका बाधक नहीं होगा। हमारा ध्येय यह है कि व्यक्तिका विकास हो और विकसित व्यक्तियोंका प्रबल संगठन हो।

३० सत्यका दर्शन

(हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् तत् त्वं अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये) सुवर्णसे सत्य ढंका जाता है, इसलिये सत्य देखनेके लिये सुवर्णके प्रलोभनको दूर किया जाएगा। हमारे राज्य शासनमें सुवर्णके प्रलोभन-से कोई सत्यको नहीं दबा सकेगा। इसलिये लोगोंको किसी तरह भी सत्य व्यवहार करनेमें कोई कष्ट न होगा।

३१ कल्याण स्वरूपका दर्शन

(पूषन् एक ऋषे यम सूर्य प्राजापत्य) हमारे राज्य शासनमें प्रजाका पोषण करने ज्ञानदान देने, दुष्टोंका नियमन करने, प्रजाको सत्यमार्गका दर्शन कराने, प्रजाका योग्य पालन करने आदि कार्य निर्दोषताके साथ होते रहेंगे। इससे अधिकसे अधिक प्रजाका कल्याण हो रहा है या नहीं (कल्याणतमं रूपं पश्यामि) इसका निरीक्षण प्रत्येक व्यक्ति करता रहे; क्यों कि प्रत्येक व्यक्ति भारतीय शासक संस्थाका एक भाग है। अतः उसको इसके निरीक्षणका अधिकार है।

३२ अमर प्राण और नाशवान् शरीर

(भस्मान्तं शरीरम्) मनुष्यका शरीर भस्म होने-वाला है और उसका (वायुः अमृतं) प्राण अमर है। इसलिये हमारे राज्य शासनमें प्रजाके शरीर दीर्घायु और दीर्घजीवी करनेका पूर्ण यत्न किया जाएगा, पर साथ साथ मनुष्यमें जो अमर अमृतमय भाग है उसका भी प्रकाश अधिकाधिक होता रहेगा। ऐसी राष्ट्रीय शिक्षाकी सुव्यव-स्था की जाएगी, जिससे ऐहिक उन्नतिके साथ आत्मिक शान्तिका भी यहाँ लाभ होगा।

३३ सिंहावलोकन

(कृतं स्मर) किये हुए कार्यका परिणाम क्या हुआ, वह योग्य हुआ या नहीं, उसमें क्या सुधार करने चाहिए

आदिका निरीक्षण करनेकी व्यवस्था हमारे राज्यशासनमें नियमके बाद होगी । सुयोग्य विद्वान् इस समितिमें रहेंगे, और इनका जो निर्णय होगा, तदनुसार राज्य शासनपद्धतिमें सुधार होगा । यह सुधार राष्ट्रसभाके निश्चयानुसार होगा ।

३४ साध्य और साधनकी शुद्धता

(सुपथा राये नय) हमारे राज्य शासनमें रहकर सब लोग उत्तम शुद्ध मार्गसे धनका उपार्जन कर सकेंगे । यहाँ सबको साध्य और साधन तथा मार्गकी पवित्रता रखनी होगी । जो इस तरहकी शुद्धि नहीं रखेंगे वे दण्डनीय समझे जायेंगे ।

३५ कर्मोंकी परीक्षा

(विश्वानि वयुनानि विद्वान्) सबके कर्मोंका निष्पक्ष परीक्षण हमारे राज्य शासनमें होता रहेगा । मनुष्य शुद्ध और सत्यमार्गसे धनोपार्जन करते हैं वा नहीं, अथवा भ्रष्टाचार कर रहे हैं, इसका निर्णय सुयोग्य न्यायाधीश निष्पक्ष होकर करेंगे। इसका परिणाम कर्ताको भोगना पडेगा । हमारे राज्यशासनमें किसीके अपराध क्षमा नहीं किये जायेंगे ।

३६ कुटिलता और पापसे युद्ध

(जुहुराणं एनः युयोधि) जहाँ कुटिलता, भ्रष्टाचार और पाप होंगे, वहाँ उनके कर्ताको क्षमा नहीं किया जाएगा । हमारे राज्यमें पवित्र मार्गसे व्यवहार करनेवाले ही आनन्दसे रह और बढ सकेंगे । पापियों और भ्रष्टाचारियोंको दूर किया जाएगा । हमारे राज्यमें इस विषयमें कभी पक्षपात नहीं होगा ।

३७ ईश्वरकी भक्ति

(भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम) हमारे राज्यशासनमें परमेश्वरकी भक्ति करनेके लिये योग्य स्थान अवश्य रहेगा । ईश्वर-स्तुति, प्रार्थना, उपासना, भक्ति, ज्ञान आदि जो ईश्वर भक्तिकी विधियाँ होंगी वे व्यक्तिशः और संघशः हमारे राज्यमें होती रहेंगी । इससे व्यक्तिके अन्तःकरणमें शान्ति रहेगी और सांघिक बल भी बढेगा । निरीश्वरवादको यहां स्थान नहीं रहेगा । क्यों कि 'ईशा वास्यं' से ही इस घोषणाका प्रारम्भ हुआ है । अतः ईशके लिये यहाँ सदा श्रेष्ठ स्थान रहेगा । हमारा राज्यशासन ईशके गुणोंपर ही अधिष्ठित हुआ है । इसलिये ईशका त्याग यहाँ सम्भव नहीं है ।

सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सबको कल्याण प्राप्त हो, किसी को दुःख न हो ।

(यह आध्यात्मिक-बहुराष्ट्र-स्वराज्य-पक्षकी घोषणा है । यह वेदके समान प्राचीन है तथापि यह आज नवीन जैसी भी है । यह ऋषियों की घोषणा है । सबका कल्याण होगा)

सूचनाः – यह 'बहुराष्ट्र-स्वराज्य-पक्ष' की घोषणा 'ईश उपनिषद्' के वचनोंपर रची गई है । पाठक इसका मनन और विचार करें ।

वेदमन्त्रोंमें जो सूचनायें मिलती हैं, उनका समावेश इस घोषणामें करनेसे यह घोषणा कभी न कभी परिपूर्ण हो सकती है । आज यह केवल 'ईशोपनिषद्' के ही वचनों के आधार पर रची है। ईशोपनिषद्के वचन क्रमपूर्वक लिये हैं । क्वचित् शब्दोंमें थोडासा हेरफेर भी किया है, जो अर्थज्ञानके लिये आवश्यक है ।

वेदमें जो ईश्वरका वर्णन है, वही मर्यादित स्वरूपमें राज्यशासकका वर्णन होता है और उन वचनोंसे राज्य शासकके नियमोंका भी ज्ञान होता है । इस दृष्टिसे पाठक इस घोषणका विचार करें ।

विश्वशान्ति सत्वर स्थापित हो ।

बीजारोपण

(कर्मबीज बोनेका क्षेत्र) (खेत)

लेखक— श्री रूपलालजी विद्यारत्न, ३२।१२५ बगिया मनीराम कानपूर.

इदं शरीरं कौन्तेय, क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः
(गीता अध्याय १३ श्लोक १)

श्री कृष्ण भगवानके वचनोंके अनुसार यह शरीर ही एक क्षेत्र (खेत) है। जैसे खेतमें बोये हुए बीजोंका उनके अनुरूप फल समय पर प्रकट होता है वैसे ही इसमें बोये हुए कर्मोंके संस्कार रूप बीजोंका फल समय पर प्रगट होता है इसलिए इसका नाम क्षेत्र (खेत) ऐसा कहा है।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि ब्रह्मवीर्य, क्षात्रियवीर्य संसारसे सम्प्रतिकालमें नष्टप्राय हो गया है। 'शमोदमस्तपः गी. अ. १८ श्लो. ४२ के अनुसार इस नवगुण रूपीरत्नोंके धारण करनेवाले ब्राह्मण अथवा 'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं ' इत्यादि गी. अ. १८ श्लो ४३ के कथनानुसार सप्तगुणरूपी सप्तसागर वेष्टित् वसुन्धरा पर सार्वभौम वा चक्रवर्ती राज्य करनेवाले वीरशिरोमणियोंका समयकी गतिके अनुसार लोप सा हो गया है। यह क्यों ? वशिष्ठ, विश्वामित्र, गुरु द्रोणाचार्य ऐसे गुरु प्रकट हों तो अपने पट्ठ (वीर शिरोमणि) प्रकृतिके शिष्य तैयार कर सकते है।

यजुर्वेदके शब्दानुसार 'शर्मचमे, वर्मचमे ' शब्दोंपर भी राहु ग्रसित सूर्य चंद्रकी तरह ग्रहण लग गया है, क्योंकि यजुर्वेद मंत्र- 'इमं देवा असपत्न० ' से लेकर 'ब्राह्मणाना०५० राजा ' तक स्पष्ट मालूम होता है कि ब्राह्मणोंका राजा चन्द्र है और ' आकृष्णेन रजसा, वर्तमानसे भी प्रतीत होता है कि क्षत्रियोंका राजा सूर्य है। शर्मा, वर्मा, गुप्ता, दास इन चारों शब्दोंकी उलटी गति देखनेमें आ रही है। व्याकरणके अनुसार ' शर्मा ' शब्द सर्व सुखीवाचक है जो कि किसी भी प्रकार दुखी न हो उसको शर्मा कहते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृतिमें लिखा है ' चतुर्वेदाश्चतुर्वर्णा युग चत्वारमेव च। त्रयःसंध्या त्रयो लोकाः एते ऽष्टादश ब्राह्मणा ''। इस समय अष्टादश वर्णोंके राजा होते हुए भी ब्राह्मण जाति सबसे ज्यादा दुखी है इसी प्रकार वर्मा शब्द ऐसों पर घटित होता है, जिस क्षत्रियके कंधे सांड, बैल जैसे उठे हुए हो, धनुषकी प्रत्यंचा खींचते ही खींचते हाथकी चुटकियोंमें और बाहोंमें वर्म पड गये हों, उसको असली क्षत्रिय कहते हैं। आजकलके क्षत्रिय नाम धारी ठाकुर कोमलांगी प्रतीत होते हैं।

गुप्ता— यह वैश्य जाति भी अरबोंका धन गुप्त रूपसे अपने पास रखती थी आज देखनेमें आता है, जितनेके लालाजी हैं उतना धन बैंकोंमें प्रगट है, यह भी अपनेको गुप्ता कैसे कह सकते हैं।

दास— इस जातिका कहना ही क्या है, बाजारसे यज्ञोपवीत (जनेऊ) मोल-लेकर गलेमें धारण कर अपनेको ब्राह्मण बताते हैं और हाथमें लट्ठ लेकर सबपर रोब जमाकर अपनेको ठाकुर कहकर क्रान्ति करते देखे जाते हैं। और कुछ द्रव्य इधर उधरसे इकट्ठा कर वाणिज्य (व्यापार) करते दृष्टि गोचर होते हैं और कहते हैं कि हम कांधो बनियाँ हैं।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं— गी. अ. २, श्लो० ११. भगवानके वचनानुसार सोच करनेकी कोई बात नहीं, विचार करनेकी बात है। पाण्डित्यका भार उठानेवाला ब्राह्मण जातिको चाहिये कि अपनी अपनी गुप्त विद्याओंको जो कि आजतक किसी कृपण की तरह उनको संसारमें प्रकट कर देना समयोचित है। उन सुरक्षित गुप्त मंत्रोंके बीजोंको क्षेत्र रूपी ब्राह्मण--क्षत्रिय--वैश्य--शूद्र इन चारों वर्णोंकी देहमें बो देना चाहिये। उन गुप्त मंत्रोंके बीज इस प्रकार है जो कि प्राचीन समयमें आर्य ऋषियोंने लोकोपकारार्थ, उपनिषद्, और पुराणोंमें विभक्त कर प्रचारार्थ प्रगट कर दिये हैं। ऐसे तो बीज मंत्र हजारोंकी संख्यामें तंत्र शास्त्रोंमें (उड्डीश, डामर इत्यादि ग्रंथोंमें) देखनेमें आते है। मुख्यतत्व बीज—चारकी संख्यामें हैं ॐ, ह्रीं

क्लीँ, श्रीँ, है। इसके अतिरिक्त ऐँ बीज नवार्णव बीज है जो कि किसी भी मंत्रके साथ सम्पुट किया जाता है।

१–ॐ–यह महान् बीज मंत्र चारों वर्णोंके बालकोंके जातकर्मके पहले माताके दुग्ध पानके प्रथम नाढा छेदनके उपरान्त बच्चेका मुख खोलकर स्वर्ण शलाका (सोनेकी कलम) से मधु (शहद) में शलाका बोरकर नवजात शिशुकी जिह्वा (जीभ) पर गुरु द्वारा लिख दिया जाता है। इसके बाद माता उस पुत्रको अपने स्तनसे दूध पिलावे। इस जातकर्मके प्रभावसे ३ वर्षकी अवस्थामें ही विरक्त और प्रौढताके भाव दीखेंगे। ब्राह्मण–क्षत्रिय-वैश्यका उपवीत (द्विज) संस्कार ५-७-९ अथवा ८-१०-१२ वर्षकी उमरमें क्रमसे करनेके उपरान्त गुरु दीक्षा संस्कार कर देनेसे अंतमें वह बालक मोक्षके सिंहासन पर आरूढ होकर कृत कृत्य होकर आवागमनसे छूट जाता है। इस क्रियाका संस्कार वैशंपायन मुनि, श्री वेदव्यास मुनीने अपने छोटे पुत्र सुखदेवको और प्रातःस्मरणी पतिव्रता अनुसूयाजीके पति अत्रि मुनीने अपने पुत्र श्री दत्तात्रेयजीको प्रमाण रूप सारे जगतमें विख्यात करके दिखादिया-उपरोक्त जातकर्म संस्कार शूद्र बालक द्विज कर्मका अधिकारी नहीं है। केवल दीक्षान्त होकर मतंग मुनिकी भांति परम गतिको प्राप्त हो, मुक्त हो जाता है।

२—ह्रीँ:–दूसरा बीज ह्रीँ सिद्ध सरस्वती महान् मंत्र है। इस बीजको उपरोक्त विधि द्वारा केवल ब्राह्मण नवजात बालककी जिह्वापर रौप्य (चांदी) की शलाका (कलम) से गुरु द्वारा अथवा पिताके हाथसे शिशुका मुंह खोलकर मधु (शहद) में कलम बोरकर ह्रीँ बीज लिख देना चाहिये. ऊपरसे माताका दूध पिलावे इस क्रियाके प्रभावसे ब्राह्मण बालक जो भी विद्याध्यन करेगा, केवल एक बार पढनेसे वह विद्या कंठ हो जावेगी। चार वेद, छः शास्त्र, १८ पुराण, १९ वां भागवत और सातों स्मृति मानों उसकी पूर्व जन्ममें पढी हुई, इस जन्ममें प्रगट हो गयी हैं।

३—क्लीँ— यह महान् क्रान्तिकारी सिद्ध मंत्र है–उपरोक्त विधि–विधान द्वारा क्षत्रिय नवजाति शिशुका मुंह खोलकर एक खस खस भर मृगमद (कस्तूरी) मधुमें मिश्रित (मिलाकर) स्वर्ण शलाका (सोनेकी सलाईसे) बोरकर नवजात क्षत्रिय बालककी जिह्वापर लिख देनेसे महान् तेजधारी क्रूरकर्मी रण चण्डीरूप होकर अपने शत्रुओंका बध करनेमें अतिवीर और प्रवीण हो जाता है। यह क्रिया बनमें ऋषियोंने युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन इत्यादि पर की थी।

४—श्रीँ:—इस लक्ष्मी महान् बीजको ताम्र शलाका (तांबेकी कलम) से हरिद्रा (हल्दी) और शहदमें घिसकर इस स्याहीसे वैश्यके नवजात शिशुका मुख खोलकर गुरू द्वारा श्रीँ. पिज, गुरु द्वारा अथवा पिताके हाथ लिखना चाहिये--इस क्रियाके प्रभावसे बालक धर्मके अनुसार कृषि, गोरक्षण, वाणिज्यमें नन्दबाबा (नन्दराय) की तरह जगतमें विख्यात होता–अटूट धनराशि उसके पास हर समय गुप्त रूपसे रहेगी--इसके अतिरिक्त स्वपच, अन्त्यज (अछूत जाति) के लोगों पर गुरुकी कृपा दृष्टि द्वारा शक्तिपात करनेसे उपरोक्त शक्ति प्राप्त कर सकता है। जैसे मतंग ऋषिकी कृपासे भिलनी-शवरी और गुरू द्रोणाचार्यकी प्रेम दृष्टिसे एक लव्य भील और जाबाली ऋषिकी कृपासे निषादराज जिनकी बनवासमें श्री रामचन्द्रजीसे भेट हुई थी, इसी निषाद राजके दो पिढी ऊपर वंशके भिलनी शवरी उत्पन्न हुई थी। जिस स्थानका नाम आजकल जब्बलपुर है। इसी प्रातःस्मरणीय भक्त शिरोमणि भिलनी शवरीका जीवन चरित्र आगे किसी लेखमें पाठकोंकी सेवामें भेंट करनेका प्रयत्न करूंगा जो अभीतक प्रचलित रामायणोंमें छपकर मुद्रित नहीं हुआ है।

उपरोक्त विधिके अनुसार जो अपने शरीरमें बीजारोपण नहीं करता उसको संत कबीरकी वाणीके अनुसार पछताना पडेगा॥

करनी करे तो क्यों डरे, करके क्यों पछताय।
रोपे पेड बबूलके आम कहासे खाय॥

—**—

हमारे वर्षारम्भका दिन वर्ष-प्रतिपदा :

विक्रम संवत्‌ही राष्ट्रीय संवत् है

(लेखक— श्री देवकीनन्दन खेडवाए)

भारतीय संवत्‌का प्रयोग हो

—स्वामी राघवाचार्य—

चैत्र शुक्ल १ को १९७२९४४ सहस्राब्दियों, ५० शताब्दियों और ५१ वर्षोंके पश्चात् विश्व नववर्षमें प्रवेश कर रहा है। भारतके राष्ट्रीय संवत्‌का आरम्भ भी इसी दिन होता है। इसका स्वागत करते हुए हम समझ लें कि अपनी समय-गणनाका प्रयोग करना स्वतन्त्रताका द्योतक है। यदि भारतकी अपनी गणना पद्धति न होती तो कथञ्चित् विदेशी समयगणनाको ग्रहण किए रहनेमें दोष न होता। परन्तु भौतिक विज्ञानकी कसौटी पर सर्वथा खरे सांस्कृतिक जीवनमें सदासे व्यवहृत अपनी गणना जब मौजूद है और उसका ईस्वीसन्‌के महात्मा ईसाके समान किसी मत-विशेषसे संबन्ध न होकर विश्वसे सम्बन्ध है, तो उसका व्यवहार करना हमारा अन्तर्राष्ट्रिय कर्तव्य भी है। वर्ष गणना चाहे शालिवाहनसे की जाय चाहे विक्रमादित्यसे, चाहे युधिष्ठिरसे आरम्भ की जाय चाहे युग या विश्वके आरम्भसे, किन्तु प्रयोग भारतीय संवतका होना आवश्यक है। भारतीयताके नाते भारतकी जनता और सरकारको इसकी पूर्ति करनी चाहिए।

किसी भी धार्मिक कृत्यके लिए हिन्दू धर्ममें पहले संकल्प करनेका विधान है। संकल्पमें कल्पसे लेकर संवत, अयन, ऋतु, मास, पक्ष तिथि, वार, नक्षत्रादि सबका उच्चारण आवश्यक माना गया है। यह प्रथा सूचित करती है कि अनादि कालसे हिन्दुओंको समयका अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान था। वे काल एवं ग्रह-नक्षत्रादिकी स्थितिसे पूर्ण परिचित रहते थे। इस कालज्ञानके लिए भारतीय ज्यौतिषशास्त्रने बहुत विचार किया है।

तुलनाकी दृष्टिमें

कालगणनामें कल्प, मन्वन्तर, युगादिके पश्चात् संवत्सरका नाम आता है अनेक राजाओं तथा सम्प्रदायाचार्योंके नाम पर संवत् चलाए गए हैं। भारतीय संवतोंके अतिरिक्त विश्वमें और भी संवत् हैं। तुलनाके लिए उनमेंसे प्रधान-प्रधानकी तालिका नीचे दी जा रही है—

भारतीय

नाम	वर्तमान वर्ष
१. कल्पाब्द	१,९७,२९,४९,०५०
२. सृष्टि संवत्	१,९६,५८,८५,०५०
३. वामन ,,	१,९६,०८,८९,०५०
४. श्रीराम ,,	१,२५,६९,०५०
५. श्रीकृष्ण ,,	५,१७५
६. युधिष्ठिर ,,	५,०५०
७. बौद्ध ,,	२,५२४
८. महावीर (जैन) ,,	२,४७१
९. श्री शंकराचार्य ,,	२,२२९
१०. विक्रम ,, ,,	२,००६
११. शालिवाहन ,,	१,८७१
१२. कलचुरी ,, ,,	१,७०१

१३. वलभी ,, ,,	१,६२९
१४. फसली ,, ,,	१,३६९
१५. बंगला ,, ,,	१,३५६
१६. हर्षाब्द ,, ,,	१,३४२

विदेशीय

१. चीनी सन्	९,६०,०२,२४७
२. खताई ,,	८,८८,३८,३२०
३. पारसी ,,	१,८९,९१७
४. मिश्री ,,	२७,६०२
५. तुर्की ,,	७,५५६
६. आदम ,,	७,३०१
७. ईरानी ,,	५,९५४
८. यहूदी ,,	५,७१०
९. इब्राहीम ,,	४,३८९
१०. मूसा ,,	३,६५६
११. यूनानी ,,	३,५८२
१२. रोमन ,,	२,७००
१३. ब्रह्मा ,,	२,४९०
१४. मलयकेतु ,,	२,२६१
१५. पार्थियन ,,	२,१९६
१६. ईस्वी ,,	१,९४९
१७. जावा ,,	१,८७५
१८. हिजरी ,,	१,३६९

यह तुलना इस बातको तो स्पष्टही कर देती है कि भारतीय संवत् अत्यन्त प्राचीन हैं। साथ ही ये गणितकी दृष्टिसे अत्यन्त सुगम और सर्वथा ठीक हिसाब रखकर निश्चित किए गए हैं।

संवत् चलानेकी विधि

नवीन संवत् चलानेकी शास्त्रीय विधि यह है कि जिस नरेशको अपना संवत् चलाना हो उसे संवत् चलानेके दिन से पूर्व कमसे कम अपने पूरे राज्यमें जितने भी लोग किसीके ऋणी हों, उनका ऋण अपनी ओरसे चुका देना चाहिए। कहना नहीं होगा कि भारतके बाहर इस नियमका पालन कहीं नहीं हुआ। भारतमें भी महापुरुषोंके संवत् उनके अनुयाइयोंने श्रद्धावशही चलाए; लेकिन भारतका सर्वमान्य संवत् विक्रम है और महाराज विक्रमादित्यने देश के सम्पूर्ण ऋणको, चाहे वह जिस व्यक्तिका रहा हो, स्वयं देकर इसे चलाया है।

इस संवत्के महीनोंके नाम विदेशी संवतोंकी भांति देवता मनुष्य या संख्य-वाचक कृत्रिम नाम नहीं हैं। ये नाम आकाशीय नक्षत्रोंके उदयास्तसे संबंध रखते हैं। यही बात तिथि तथा अंश (दिनाङ्क) के सम्बन्धमें भी है। वे भी सूर्य चन्द्रकी गति पर आश्रित हैं। सारांश यह कि यह संवत् अपने अङ्ग उपाङ्गोंके साथ पूर्णतः वैज्ञानिक सत्य पर स्थित है।

ईस्वी सनूपर एक दृष्टि

उज्जयिनी सम्राट् महाराज विक्रमके इस वैज्ञानिक संवत्के साथ विश्वमें प्रचलित ईस्वी सन पर भी ध्यान देना चाहिए। ईस्वी सन्का मूल रोमन संवत् है। पहले यूनानमें ओलिम्पियद् संवत् था, जिसमें ३६० दिनका वर्ष माना जाता था। रोम नगरकी प्रतिष्ठाके दिनसे वही रोमन संवत् कहलाने लगा। ईस्वी सन्की गणना ईसामसीहके जन्मसे तीन वर्ष बादसे की जाती है। रोमन सम्राट् जूलियस सीजरने ३६० दिनके बदले ३६५¼ दिनके वर्षको प्रचलित किया। छठी शताब्दीमें डायोनिसियसने इस सनमें फिर संशोधन किया; किन्तु फिर भी प्रति वर्ष २७ पल ५५ विपलका अन्तर पडता ही रहा। सन् १७२९में यह अन्तर बढते बढते ११ दिनका होगया; तब पोप ग्रेगरीने आज्ञा निकाली कि 'इस वर्ष २ सितम्बरके पश्चात् ३ सितम्बरको १४ सितम्बर कहा जाय और जो ईस्वी सन् ४ संख्यासे विभाजित हो सके उसका फरवरी मास २९ दिनका हो। वर्षका प्रारम्भ २५, मार्चके स्थान पर १ जनवरीसे माना जाय।' इस आज्ञाको इटली, डेनमार्क, हालैंडने उसी वर्ष स्वीकार कर लिया। जर्मनी और स्विजरलैंडने सन् १७५९ में, इंग्लैंडने सन् १८०९ में, प्रशियाने सन् १७३५ में, आयर्लैंडने सन् १८३९ में और रूसने सन् १७५९में इसे स्वीकार किया। इतना संशोधन होने पर भी इस ईस्वी सन्में सूर्यकी गतिके अनुसार प्रति वर्ष एक पलका अन्तर पडता है। सामान्य दृष्टिसे यह बहुत थोडा अन्तर है, पर गणितके लिए यह

एक बडी भूल है। ३६०० वर्षोंके बाद यही अन्तर एक दिन का हो जायेगा और ६६०० वर्षोंके बाद दस दिनका और इस प्रकार यह अन्तर चालू रहा तो किसी दिन जूनका महीना वर्तमान अक्टूबरके शीतक समयमें पडने लगेगा।

विक्रम संवत्‌ स्वीकार

सुननेमें आया है कि विश्व राष्ट्र संघमें प्रतिवर्ष तारीख और वारको एक रखनेके लिए ग्रेगरी-कलेंडरको बदलनेकी किसी एलिजाबेथ नामक महिलाने प्रार्थना करी है। ऐसा हुआ तो गणितकी दृष्टिसे एक बडी भूल होगी। कमसे कम भारतको तो इसका विरोध करनाही चाहिए। भारतका राष्ट्रीय संवत्‌ तो केवल विक्रम संवत्‌ हो सकता है, जिसमें आज तक कोई अन्तर नहीं पडा और न आगे पडनेकी संभावना है। अतएव हम एक विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिसे चाहते हैं कि वह भारतका राष्ट्रीय संवत्‌ घोषित किया जाय। उज्जैनके समयसे दिनके समयका निर्धारण हो। घंटा, मिनट, सेकंड के स्थान पर होरा, विहोरा, प्रतिविहोरा रक्खे जावें। 'बजे' के स्थान पर 'इष्टकाल' शब्दका प्रयोग हो। दिनका प्रारम्भ वर्तमान सात बजेको १ मानकर हो और १२ बजे दिन तथा १२ बजे रात्रिकी समाप्ति मानी जाय।

(कल्याणसे)

समालोचना एवं प्राप्ति स्वीकार

जाति-भेद उसकी उत्पत्ति और वृद्धि, उससे हानियां और उसके उपाय

लेखक— श्री पं० गंगाप्रसादजी, एम्. ए. रिटायर्ड चीफ जस्टिस टिहरी गढवाल राज्य
तथा
भूतपूर्व प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, मूल्य १॥)

प्रस्तुत पुस्तकमें विद्वान लेखकने अत्यंन्त विस्तार पूर्वक जाति भेद पर प्रकाश डाला है। आप आर्य जगत्के अनुभवी एवं सुप्रसिद्ध लेखक हैं। वेद, उपनिषद्, महाभारत, मनुस्मृति, पुराण तथा अन्य शास्त्रोंके अनेक प्रमाणों द्वारा आपने यह सिद्ध किया है कि जातिभेद प्राचीन नहीं है। द्वितीय अध्यायमें जातिकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई तथा उसकी भारतमें उत्तरोत्तर किस प्रकारसे वृद्धि होती गई इसका स्पष्टीकरण बडे अनुसन्धानके साथ तथा कारण निदर्शन पूर्वक किया है। तृतीय अध्यायमें जातिभेदसे होनेवाली हानियों पर प्रकाश डाला गया है। उसके कारण होनेवाली सामाजिक असुविधायें, व्यापार और शिल्पको होनेवाली हानियाँ, विदेशीय उन्नतिका रुक जाना, शूद्रोंपर होनेवाला सामाजिक अन्याय और हिन्दुमतपर उसका प्रभाव आदि बातोंका अच्छा स्पष्टीकरण किया है। इसके साथ यह भी बताया गया है कि इस जातिभेदके परिणाम स्वरूप ब्राह्मणोंको जो अनुचित अधिकार मिल गये; उनके कारण स्वयं ब्राह्मण वर्गकी भी कितनी दुरवस्था हुई। उनमें पुरानी कुरीतियोंको ज्योंका त्यों सुरक्षित रखनेकी एक प्रबल आतुरता उत्पन्न होगई तथा किसी भी सामाजिक सुधारमें उन्हें भय लगने लगा। इसका परिणाम राष्ट्र और समाजके साथ साथ हमारे धर्मके लिये भी बुरा हुआ। चौथे अध्यायमें यह बताया गया है कि किस प्रकारसे यह जातिभेद दूर किया जाय। उसे एक दम तोड सकना सम्भव भी नहीं है। ब्रह्म समाजको इसीलिये इस दिशामें सफलता नहीं मिली। यद्यपि कुछ आर्यसमाजी भी उसी विचारके हैं। जनसमूहकी शिक्षा तथा ज्ञान वृद्धिसे आन्तरिक सुधार होकर इसे दूर किया जा सकता है। इस विषयमें आर्य समाजोंके लिये जो कर्तव्य बताये गये हैं उनपर आजके आर्य जगत्को गम्भीरतासे विचार करना चाहिये।

आजकल अनेक स्थानोंपर जो जातीय परिषदें चलती जा रही हैं उनके विषयमें भी इस पुस्तकमें पर्याप्त जानकारी दीगई है। अन्तमें हिन्दू महासभाका कार्य, धारा सभाओंका कर्तव्य तथा जातिभेदकी ओर ठीक ठीक कर्तव्य शीर्षकके अन्तर्गत आपने कुछ सुझावों की ओर निर्देश किया है।

यद्यपि इन सारी आशाओंसे किसी विशेष परिणामकी सम्भावना प्रतीत नहीं होती। क्योंकि यह एक ऐसा कार्य है जो स्वयंस्फूर्ति एवं स्वयं प्रेरणासे आगे बढकर करनेका है। हम देखते हैं कि आर्य समाजमें भी इस रचनात्मक कार्यकी ओर किसी प्रकारकी आशामयी प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती। यों तो इस प्रकारके अनेक रचनात्मक कार्योंका भार आज तो भी आर्य समाजको अपने ऊपर लेनेकी आवश्यकता है। प्रजातन्त्र घोषित हुए भारतमें आर्य समाजके ऊपर अत्यधिक जिम्मेदारियाँ आजाती हैं। यदि यहींसे कोई कार्य आरम्भ होसके तो उसे एक शुभ सत्कृत्यका आरम्भ समझा जायेगा।

सब कुछ देखते हुए पुस्तक न केवल संग्रहणीय है, अपितु अत्यन्त मननीय भी है। इसका अधिकसे अधिक प्रचार आवश्यक है। अन्य भाषाओंमें भी इसका प्रचार हो सके तो वह उपयोगी सिद्ध होगा।

महेशचन्द्र शास्त्री विद्यालङ्कार

राजयोगके मूलतत्त्व और अभ्यास

(दूसरा प्रकरण)

लेखक— श्री.राजाराम सखाराम भागवत, एम्. ए.
अनुवादक— श्री. महेशचन्द्रशास्त्री विद्याभास्कर

' योग ' का अर्थ क्या है ?

' योग ' का अर्थ क्या है ? इस प्रश्नका थोडेसे शब्दोंमें, सबके लिये समझने योग्य और व्यावहारिक उत्तर दिया जाय तो वह यह होगा कि—मनुष्यके लिये उत्क्रान्ति-मार्ग पर अग्रसर होनेके लिये विचारपूर्वक किये जानेवाले प्रयत्न तथा इष्टस्थान शीघ्र प्राप्त करनेकी श्रेष्ठ क्रिया ही ' योग ' है। मनुष्यकी इच्छा हो या न हो उसे जन्म लेना होता है और छोटेसे बडा होना पडता है। वह चाहे या न चाहे अपने चारों ओर एक विस्तृत संसार फैला हुआ है इसका ज्ञान उसे हो ही जाता है और उदरभरणके लिये, पैसा, अधिकार, यश आदि पानेकी महत्त्वाकांक्षाके कारण अथवा दुःख दूर करनेके लिये तथा सुखकी प्राप्तिके लिये वह छोटे मोटे प्रयत्न करता ही रहता है। उसकी इच्छा हो या न हो इन सारे प्रयत्नोंके कारण सुखदुःख भोगकर और अनेक अनुभवोंसे निकलकर उसकी क्रिया करनेकी शक्ति थोडी बहुत बढ जाती है। भावनायें कुछ तीव्र हो जाती हैं और बुद्धि भी थोडी बहुत चालाख हो जाती है। कार्य-शक्ति, भावना और बुद्धिका जो यह जो विकास होता है, वह प्रायः धीरे धीरे एवं अज्ञातरूपसे हुआ करता है। सृष्टि-क्रमके अनुसार मनुष्यकी शक्ति तथा गुणोंका जो धीरे धीरे और अज्ञातरूपसे विकास होता है, उसे अवश्य करनेके लिये, समझबूझकर करनेके लिये, लक्ष्यपूर्वक व शीघ्रता पूर्वक करनेके लिये जो प्रयत्न किया जाता है अथवा जिस क्रियाद्वारा यह इष्टकार्य पूर्ण हो सकता है वही 'योग' है।

संसारमें एक बहुत बडा प्रवाह बह रहा है। वह प्रवाह समस्त जीवोंको उत्क्रान्ति मार्ग द्वारा क्रमशः आगे बढा रहा है। जीव इस मार्ग द्वारा जैसे जैसे बढता है वैसे वैसे उसके गुणोंका विकास भी होता जाता है। खनिज कोटीके जीव-पाषाण, मिट्टी, धातु, स्फटिक, हीरे मोती इत्यादि जीव भूकंप, ज्वालामुखी, अग्निप्रलय, बाढ इत्यादिके चपेटे खाकर अन्तरंगमें जागृत हो जाते हैं और उनके गुणोंका विकास कुछ हदतक हो जाता है। फिर वे जीव वनस्पति कोटीमें आते हैं और धूप, पानी, हवा खाकर तथा नाना ऋतुओंका अनुभव लेकर उनकी उत्क्रान्ति एक कदम और आगे बढती है और पत्ते, फूल, फल उत्पन्न होना, आकृति द्वारा छोटेसे बडा होना, अन्धकार एवं सूर्यप्रकाशको पहिचानना पानी सोखकर प्रफुल्लित होना आदि क्रियाएँ वे कर सकते हैं। फिर वे ही जीव प्राणी कोटीमें आकर घूमने फिरने लगते हैं, झुण्ड बनाते हैं, शत्रुओंसे युद्ध करते हैं और अपने बच्चोंको प्यार करतेहैं तथा अन्नादि ढूंढनेके लिये प्रयत्न करनेके कारण होशियार और चालाख बन जाते हैं। बन्दर, घोडे, कुत्ते, बिल्ली आदि प्राणियोंको जिसने जिज्ञासावृत्तिसे पाला होगा वे अनायास ही समझ जाते हैं कि प्राणियोंमें भावना तथा बुद्धिका पर्याप्त विकास होता रहता है। पश्चात् ये ही जीव मनुष्य कोटीमें आते हैं और शुरू शुरूमें अज्ञ, अक्खड तथा पिछडी जातियोंमें जन्म लेते हैं। हम उन्हें जंगली कहते हैं। इस जंगली जातिमें जन्म लेकर उनकी क्रिया-शक्ति, बुद्धिमत्ता, वासना, आदिमें वैचित्र्य तथा गम्भीरता उत्पन्न होने लगती है और इस प्रकार मध्यम कोटीके वे मनुष्य संसारमें अपनी जीविका चलाते पाए जाते है।

उत्क्रांतिका प्रवाह

खनिज कोटीकी अवस्थासे क्रमशः उन्नत होते होते ये जीव सामान्य स्थितिके मनुष्यतक पहुँच जाते हैं, इसका वर्णन अभी किया जा चुका है। गुणोंका यह विकास प्रयत्नद्वारा या समझबूझकर नहीं किया जाता। सृष्टि प्रवाह उन जीवोंको आगेकी ओर बढाया करता है; किन्तु इस प्रगतिको समझनेकी शक्ति उन जीवोंमें तबतक नहीं रहती। खनिज-कोटि, वनस्पति-कोटि, प्राणिकोटि तथा मानवकोटि की प्रारम्भिक अवस्थामेंसे प्रगति करते हुए इन जीवोंकी

आँखें मानो बंद रहती हैं। जिस प्रकार ग्वाला पशुओंको हाँकता है उसी प्रकार सृष्टि-नियम उन अज्ञ जीवोंको हाँककर आगे बढ़ाया करता है।

मनुष्यकोटिमें अनेक जन्म बिता लेनेपर मनुष्यकी बुद्धि जागृत होती है। क्यों और कैसे ? की बुद्धि उसके मनमें उत्पन्न होने लगती है। संसारकी अनेक समस्यायें उसे घेर लेती हैं। "मैं संसारमें जो अनेक संघर्षोंका सामना करता रहता हूँ, वह किसलिये ? संसारमें न्याय है या नहीं ? सृष्टिमें उत्क्रान्तिक्रम है या नहीं ? यदि है तो उस उत्क्रान्तिके प्रवाहका फल क्या है ? मैं अपने सुखके लिये प्रयत्नशील रहूँ अथवा लोकसेवाके लिये प्रयत्न करता रहूँ ? विद्वान् बनकर बड़ा बनूँ अथवा सम्पत्ति पैदा करके धनवान् बनूँ ! अधिकार पाकर जनतापर सत्ताका प्रभाव जमाऊँ या जनताके लिये अपनेको अर्पण करके यश प्राप्त करूँ ? मैं अपने वैयक्तिक स्वार्थके लिये प्रयत्नशील रहूँ या जाति, देश और धर्मके स्वार्थके लिये प्रयत्नशील रहूँ ! क्या ईश्वर है ? क्या उस ईश्वरकी प्राप्ति मुझे करनी चाहिये ?" इस प्रकारके अनेक विचारोंका तूफान उसके मनमें उठखड़ा होता है तथा वह अज्ञानके अन्धकारसे जागृत हो जाता है। संसारमें जो मनुष्य सामान्य स्थितिके हैं, वे जब इस प्रकार एक कदम आगे उन्नति करते हैं तब उनके मनमें इस प्रकारके विचार उठने लगते हैं। संसारमें आज जो विशेष उन्नत अवस्थाके लोग हैं वे सब आज इस परिस्थिततक पहुँच चुके हैं।

खनिजकोटिसे निकलकर सामान्य अवस्थाके मनुष्यतक जीव जो प्रगति करता है वह निद्रितावस्था में होती है, यदि ऐसा कहा जाय तो कुछ गलत न होगा। उस स्थिततक पहुँचनेसे पूर्व योगशास्त्रका तथा उसका वास्तवमें कोई सम्बन्ध नहीं रहता। मैट्रिक पास होनेतक विद्यार्थीका जिस तरह कॉलेजके अभ्यासक्रमसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता; उसी तरह उत्क्रान्तिक्रममें जबतक मनुष्यमें जागृति पैदा नहीं हो जाती तबतक योगशास्त्रसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

योगशास्त्रका मूल

जागृति उत्पन्न होनेपर आत्मामें नवीन प्रकारकी हलचल होने लगती है। इस हलचलकी स्थितिमें उसके अन्तःकरणमें अनेक प्रश्नोंका तूफान उठ खड़ा होता है। इस तूफानमें पड़े हुए लोगोंमेंसे कुछ ही यह समझ पाते हैं कि उन्नतिका यह प्रवाह सारे संसारको एक विशिष्ट प्रकारसे आगे बढ़ा रहा है। उसी निश्चित प्रकारसे हम भी इस अवस्थातक पहुँचे हैं। उसी दिशामें हमें इससे भी आगे जाना है। तब अज्ञान अवस्थामें जिस प्रकार ठोकरें खाते हुए हम यहाँ तक आये हैं वैसे ही आगे न जाना पड़े और इस सारे उतार चढ़ावोंसे बचकर सीधे मार्गद्वारा हम अपना उद्दिष्ट शीघ्र पा सकें, यह समझकर जो तदर्थ व्यक्तिशः प्रयत्न करने लगते हैं, वे योगशास्त्रके मूलतक पहुँच चुके हैं, ऐसा समझना चाहिये। अनेक प्रकारके प्रश्नोंका तूफान अन्तःकरणमें जब उठता है तब सभी व्यक्ति उपयुक्त विचार एवं स्थिततक पहुँच ही जाते हैं, ऐसी बात नहीं है। योगशास्त्रके मूलतक पहुँचनेके लिये संसारमें एक उत्क्रान्ति प्रवाह है, वह एक विशिष्ट दिशासे सम्पूर्ण विश्वको आगे ले जा रहा है और उसके साथ वह मुझे भी आगे बढ़ा रहा है, यह विचार जमना आवश्यक होता है। खनिजकोटिमें पत्थरकी स्थावर स्थितिमें रहनेपर मेरी शक्तियाँ यदि अत्यन्त संकुचित थीं, वनस्पतिकोटि, प्राणिकोटि, मानवकोटि आदि इन कोटियोंमेंसे उन्नत होते होते आज मुझे पांच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पांच कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त हो चुकी हैं, यदि आज सत्य-प्रेम, दया मैत्री, ध्येय-प्रेम, विवेक, बुद्धिमत्ता आदि गुणोंका विकास मुझमें हो सका है, तो भविष्यमें भी उसी क्रमसे आगे बढ़ जानेपर मेरे अन्तःकरणमें नवीन शक्ति तथा नवीन गुणोंका भी विकास होगा और इस समय जो गुण हैं वे अधिक निर्दोष तथा शक्तिशाली होंगे, ऐसे ये विचार उसे युक्तियुक्त लगने चाहिये और उस दिशासे मैं प्रयत्न करूँगा, ऐसा उत्साह उसके अन्तःकरणमें उत्पन्न होना चाहिये। तभी यह कहा जा सकता है कि वह योगशास्त्रके मूलतत्त्वतक पहुँचा है। कुछ मनुष्य इस रीतिसे योगशास्त्रके मूलतक पहुँचे हुए दिखाई देते हैं।

मूलतक पहुँचनेवाले भी अनेक प्रकारके हो सकते हैं। उपर्युक्त विचारोंको माननेवाले व्यक्तियोंमें जो मनुष्य धार्मिकवृत्तिका होगा वह 'उत्क्रान्ति-प्रवाहकी दिशा' इन शब्दोंका प्रयोग न कर 'ईश्वर' शब्दको अधिक पसन्द करेगा। उत्क्रान्तिप्रवाहकी दिशामें मैं अग्रसर हो रहा हूँ,

यों न कहकर मैं ईश्वरकी ओर जारहा हूँ, उसकी प्राप्ति कर लेना चाहता हूँ; उसमें तद्रूप होनेवाला हूँ इस प्रकार के शब्दोंका प्रयोग वह करेगा। उसकी वृत्ति सगुणप्रधान होगी तो, मैं श्रीकृष्णमें एकरूप होनेवाला हूँ यों भी वह कह सकता है। निर्गुणत्वकी ओर उसकी वृत्ति होगी तो परमात्मामें, परब्रह्ममें अथवा निर्वाणमें एकरूप होऊँगा, इस तरह कहेगा। सम्भवतः धर्ममें अथवा नियममें एकरूप होऊँगा, इस प्रकारके शब्दोंका प्रयोग भी वे कर सकते हैं। यदि वह धार्मिक प्रवृत्तिका न हुआ तो परमोच्चावस्था, अन्तिमध्येय, आदर्श मानव इन शब्दोंका प्रयोग करेगा। भिन्न भिन्न वृत्तियोंके मनुष्य अपनी अन्तर्वृत्तिको उत्क्रान्तिद्वारा विभिन्न शब्दोंमें कहकर व्यक्त करें, यह स्वाभाविक ही है। अपने भविष्यको उत्क्रान्तिका मार्ग विवेकपूर्वक व्यवस्थित रूपसे पूर्ण करनेवाला तथा अन्तमें एक आदर्श स्थिति प्राप्त कर सकनेवाला व्यक्ति यदि इस प्रकारका दृढ़निश्चय करके प्रयत्नमें लग जाय तो समझना चाहिये कि वह योग के मूल (तत्त्व) तक पहुँच गया है अपनी आकांक्षाओंको चाहे फिर वह किसी भी भाषामें क्यों न व्यक्त करे।

मूलतक पहुँचे हुए इस व्यक्तिका प्रयत्न किस प्रकारका होता? उत्क्रान्ति-मार्गद्वारा जिस अन्तिम स्थितिकी प्राप्ति उसे स्वाभाविक रूपसे धीरे धीरे होती है, वह स्थिति विशेष प्रयत्नों द्वारा यदि वह शीघ्र सम्पादन कर ले तो उसकी समता निम्न उदाहरणसे हो सकती है। एक ऐसा वृक्ष है कि जो दस वर्षके पश्चात् एक निश्चित ऊंचाईतक बढ़ता है और तब उसमें स्वाभाविक रूपसे फल लगते हैं। यदि कोई उस जातिके वृक्ष लगाकर विशेष प्रयत्नोंद्वारा उसकी वृद्धि शीघ्र कर सके, उसकी मिट्टी बारबार बदलकर और उसमें विशेष प्रकारके खाद डालकर उस वृक्षकी उतनी ही ऊँचाई पांच वर्षमें पूरी कर दे तथा यदि पांच वर्षमें ही उसमें वैसे फल लगाकर दिखा दे तो ऐसे व्यक्तिके प्रयत्नोंकी यह तुलना योगशास्त्रके मूलतक पहुँच सकनेवाले व्यक्तिसे की जा सकती है। पचीस वर्षका युवक जितना बोझ उठा सकता है, पन्द्रह वर्षका युवक भी उतना बोझ उठा सके, इसलिये उसमें शक्ति बढ़ाई जाय, विशेष प्रकारके व्यायाम कराये जाँय और विशेष प्रकारकी खुराक खिलाकर, जागरण, उत्तेजक पेय आदिसे उसे अलिप्त रखा जाय तथा उसके व्यवहारमें विशेष प्रकारका अनुशासन एवं नियमितता उत्पन्न करके उसे भी पचीस वर्षके युवकके समान ही बोझ उठानेमें समर्थ बना देना ठीक ऐसा ही है जैसे अनेक जन्मोंके अनुभवके पश्चात् जो समझदारी, जो विवेकबुद्धि, जो नैतिकता, जो धार्मिक शक्ति, जो कार्यकुशलता, तथा जो अन्तःकरणकी अनेक कलायें मनुष्यको प्राप्त होती हैं वे सब अधिक प्रयत्न करके थोड़ेसे जन्मोंमें हस्तगत कर लेना है। शक्ति बढ़ानेके प्रयत्नमें और इस प्रयत्नमें समानता है। उत्क्रान्तिक्रममें मनुष्य अन्ततः सर्वाङ्गपरिपूर्ण आदर्श स्थिति प्राप्त कर लेता है। वह ईश्वर जैसा सर्वगुणसम्पन्न तथा परमोच्चकोटिका हो जाता है। ज्ञान, भावना तथा कर्ममें उसे सर्वोच्च स्थिति प्राप्त कर लेता है। श्रीकृष्ण भगवान् जिस तरह ईश्वरसे एकरूप हो गये थे उसी प्रकार वह भी होता है। मूलतक पहुँचा हुआ मनुष्य इस प्रकारका ध्येय अपने सामने रखकर व्यवस्थित रूपसे उसे प्रयत्नमें लग जाता है और इस प्रकार योगशास्त्रमें उसका प्रवेश हो जाता है।

ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग।

योगशास्त्रके दायरेमें प्रविष्ट हो जानेपर अपनी स्वयं की मनोरचना ध्यानमें रखकर मनुष्यको इसका ठीक ठीक विचार कर लेना आवश्यक है कि ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोगमें से कौनसा मेरे स्वभावके अनुकूल रहेगा। स्थूल रूपसे मनुष्य स्वभावके तीन विभाग हैं। वासना, भावना, हृदयवृत्ति, ये एक विभाग; संस्कृतमें इसे भक्ति कहते हैं। चौकसपना, जिज्ञासा बुद्धि यह दूसरा विभाग; संस्कृतमें इसे ज्ञान कहते हैं। उद्योग, सेवा, कार्यशीलता, पराक्रम, ये तीसरा विभाग; संस्कृतमें इसे क्रिया अथवा कर्म कहते हैं। उत्क्रान्तिके अन्तमें मनुष्यके ये तीनों विभाग पूर्णतः विकसित हो जाते हैं तथा वह सर्वाङ्गपरिपूर्ण हो जाता है। कमल पूर्णतः विकसित हो जानेपर उसकी सभी पंखुड़ियाँ पूर्णतः विकसित हो जाती हैं और वह मनोहररूपमें पूर्ण दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार ईश्वरसमान हुआ मनुष्य सर्वतः विकसित, सर्वतः महान् एवं सर्वतः ऐश्वर्यशाली रहता है। किन्तु योगकी सीमामें जिसने प्रवेश किया ही हो, वह इस प्रकार सर्वतोमुखी विकास एकदम करनेमें असमर्थ रहता है। प्रत्येक मनुष्यके

स्वभावमें ये तीनों अंश (विभाग) रहनेपर भी एक अंश विशेष प्रभावशाली रहता है तथा अन्य दो गौणरूपसे रहते हैं। जो अंश प्रभावशाली हो उसपर जोर देना मनुष्यके लिये स्वाभाविक है। इसलिये जिसकी मनोवृत्तिमें ज्ञानका अंश विशेष है उसके लिये ज्ञानको अपनाना सरल रहता है। शक्ति, इच्छा, भावना आदिका विकास उसमें कुछ कम होता है। अर्थात् हृदयवृत्तिपर यदि दबाव डाला गया तो वह उसे जंचेगा नहीं। इसीलिये ज्ञानयोगके मार्गसे आगे बढना उसके लिये आसान रहता है। ज्ञानयोगका मार्ग केवल बुद्धिमत्ताका ही मार्ग है, ऐसी बात नहीं है। उस मार्गपर भी कार्यशीलता (कर्म) और हृदयवृत्ति (इच्छा) का पोषण, संवर्धन और विकास करना होता है। किन्तु बुद्धि-का विकास कुछ अधिक प्रमाणमें और दूसरे विभागोंका कुछ कम प्रमाणमें करना होता है। कर्मयोग और भक्तियोग का भी ऐसाही रहता है। जो भावनाप्रधान होगा, उसको भक्तियोगका अवलम्बन करके भावनाओंके विकासकी ओर अधिक ध्यान देना पडता है; इसलिये यदि ज्ञान व कर्मके लिये वह विशेष ध्यान न भी दे तो चल सकता है।

कर्मयोग कार्यशील तथा उद्यमी मनुष्योंके लिये अधिक स्वाभाविक रहता है। ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग ये सर्वथा भिन्न मार्ग हैं, ऐसी बात बिलकुल नहीं है। क्योंकि सभी योगोंमें सभी ओरसे प्रगति करनी पडती है। एक भी अंशकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि प्रत्येक योगमें एक अंशपर विशेष जोर रहता है। ये मार्ग आरम्भ में बिलकुल भिन्नसे मालूम होते हैं और अज्ञ मनुष्योंको तो वे परस्पर विरुद्ध भी मालूम पडते हैं। किन्तु इन तीनों मार्गोंसे आगे बढनेवाले मनुष्योंको देखा जाय तो यह सिद्ध हो जायगा कि वे जितने अधिक प्रगतिशील हैं उतनी अधिक उनमें समानता अधिक है। तीन भिन्न भिन्न बिन्दुओंसे तीन रेखायें बनाकर वे चौथे एक बिन्दुमें मिलादी जावें तो आरम्भमें उनमें अन्तर अधिक दिखाई देगा, किन्तु आगे आगे उनमें वह अन्तर कम होता दिखाई देगा और वे सब परस्पर अधिकाधिक समीप दिखाई देंगी और बिन्दुतक आनेपर उनमें बिलकुल भी अन्तर नहीं रह जायगा। यही स्थिति इन तीनों योगोंकी है। कोई भी परस्परविरोधी नहीं है, कोई भी सभीके लिये सरल नहीं है। मनुष्योंके स्वभावानुरूप किसीके लिये एक सरल है तो किसीके लिये दूसरा सरल है। अपनी स्वयंकी अन्तर्वृत्तिका निरीक्षण करके स्वभावानुकूल योगका निश्चय कर लेना चाहिये।

इसका अर्थ केवलमात्र यह भी नहीं है कि इन तीनों योगोंमें भेदही नहीं है। ज्ञानयोगीके लिये ज्ञानबुद्धिपर जोर विशेष देना पडता है। अर्थात् ग्रन्थोंका अभ्यास, मनन, शिक्षण और निरीक्षणके लिये उसे अधिक समय देना पडेगा। इस बुद्धिवादी मनुष्यको चाहिये कि वह इच्छा-अनिच्छा एक ओर रखकर स्वतन्त्र बुद्धिसे विचार करना सीखे। बुद्धिकी निष्पक्षपातिता उसके स्वभावमें विशेषरूपसे रहनी चाहिये। उसे अपनी बुद्धिका निर्णय यह कहकर अस्वीकार करनेका अधिकार नहीं है कि- वह मुझे रुचिकर नहीं। सत्यशोधन ज्ञानयोगका प्रमुख कार्य है। वह कार्य उसे न्यायनिष्ठुरवृत्तिसे, नापतोलकर करना चाहिये। जात्यभिमान, देशाभिमान, प्राचीन परम्पराका अभिमान आदि भावनाओंके कारण उसे अपने सत्यकी तुला चाहे जिस ओर न झुकने देनी चाहिये। जिस तरह प्रत्येक औषधिका पथ्य भिन्न है उसी प्रकार प्रत्येक योगका पथ्य भी कुछ भिन्न सा रहता है। ज्ञानमार्गी मनुष्य न्यायनिष्ठुरवृत्तिसे सत्यशोधक होनेके कारण सत्यशोधकका गुण उसके लिये अनिवार्य है। इसके अभावमें उसे ज्ञानयोगके मार्गपर चलते हुए बहुतसी ठोकरें खानी पडती है। यदि उसके हृदयकी सहृदयताकी मात्रा कुछ कम हो जाय और उसका मन कुछ रूखा एवं पत्थरसा कठोर हो जाय तो उपर्युक्त दोषोंका दुष्परिणाम उस मार्गपर विशेष नहीं हो सकता। भक्तिमार्गी मनुष्य-का मुख्य कर्तव्य है कि वह स्नेहभावनाओंका विकास करे। यह विकास करते समय सत्यकी तुला यदि अनपेक्षित दिशा में भी झुक जाय तो भी उसे ज्ञानयोगी जितनी ठोकरें खानी नहीं पडती। किन्तु यदि वह हृदयसे कठोर बन गया तो अपने मार्गका मुख्य पथ्य उसने तोड दिया ऐसा समझना चाहिये और ऐसी दशामें उसकी अधिकही अधोगति होगी यह निश्चितसा है। कर्मयोगीके लिये आलस्य का विघ्न भक्तियोगीकी अपेक्षा अधिक रहेगा; क्योंकि कर्तृत्वशक्तिपर उसका अधिक जोर रहना आवश्यक है। इससे यह प्रतीत होता है कि ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोगमें सादृश्य होनेपर भी प्रत्येक योगकी अपनी अपनी विशेषता है, प्रत्येक योगीके रहन-सहन और दृष्टिकोणमें

कुछ अन्तर रहता है। किन्तु यह अन्तर एक विशिष्ट तारतम्य का रहता है; उसमें विरोध बिल्कुल नहीं रहता, यह भूलना नहीं चाहिये।

जब मनुष्य योगाभ्यास आरम्भ करता है तब उसे पहिले की बहुतसी बातें पूर्ववत् चालू रखनी पडती हैं और बहुत सी नवीन करनी पडती हैं। अधिकतर मनुष्योंपर गृहस्थी का बोझ रहता है, उसके लिये पैसे कमाने पडते हैं और अपनी आजीविका भी व्यवस्थित रखनी पडती है। योग-की सीमामें प्रविष्ट हुए व्यक्तिके लिये द्रव्यार्जन, सांसारिक कर्तव्य इत्यादि जो जिम्मेदारियाँ पहिलेसे उसके ऊपर रहती है, वे नेकी और दक्षतापूर्वक निभानी पडती हैं। अपने रहन-सहन और व्यवहारमें उसे नीति और संस्कृति-का उच्च आदर्श निभाना पडता है। जो लोकोत्तर व्यक्ति बनना चाहता है उसमें साधारण जनतामें रहनेवाले सद्गुण तो अवश्य रहनेही चाहिये। नई जिम्मेदारियाँ और कर्तव्यका बोझ सिरपर लेनेसे पूर्व वह यह सोच लेगा कि जो कर्तव्य योगमार्गके लिये पोषक हैं उन्हींको जिम्मेदारी ली जावे तथा जो बाधक हैं उनको न ली जावे। किन्तु जिन जिम्मेदारियोंको वह जानबूझकर अपने ऊपर पहिलेसेही लिए हुए हैं, उन्हें वह पूर्ण करेगा ही, बीचमें छोडेगा नहीं। अविचारके कारण बालबच्चोंको दरिद्र अवस्थामें छोडकर जानेवाला, लोगोंका कर्ज बिना चुकाये दूर जाकर बैरागी बननेवाला, असंस्कृत मनवाला तथा तामसी स्वभाववाला होता है। ऐसे व्यक्तियोंमें योगशास्त्रके मूलतक पहुँचनेके चिन्ह दिखाई नहीं देते। योगशास्त्रमें प्रवेश करनेसे पूर्व परोपकार, लोकसेवा ईश्वरभक्ति, स्वाध्याय आदि श्रेष्ठ कर्मोंकी ओर उसकी प्रवृत्ति होना आवश्यक है, जिनका बादमें उत्तरोत्तर क्रमशः विकास होता चला जाय।

योगमार्गीके लिये इस मार्गपर आ जानेपर बहुतसी ऐसी बातें भी आरम्भ करनी पडती हैं, जिन्हें वह पहिले करता नहीं था। उन बातोंमें 'ध्यान' प्रमुख है। 'ध्यान' योगीके लिये कामधेनु है। ध्यानका समुचित रीतिसे दीर्घ-कालतक अभ्यास करनेवाले व्यक्ति अपने स्वभावके दुर्गुणों-को दूर कर उनके स्थानपर सद्गुण उत्पन्न कर सकते हैं। मनकी शक्ति बढा सकते हैं, मनोवृत्ति अधिकाधिक अन्तर्मुखी करके आत्माकी नवीन नवीन शक्तियोंका विकास कर सकते हैं, सिद्धियाँ सम्पादित कर सकते हैं, विभिन्न भूमिकाओं पर मन ले जा सकते हैं, वहां उसे नवीन ज्ञान प्राप्त हो सकता है, और धारणा तथा समाधिकी उपलब्धि हो सकती है। इस प्रकार योगमार्गीको ध्यानके एक या दो ही लाभ नहीं हैं, किन्तु उसे इससे अनेक लाभ हैं। इसीलिये हम यह कह सकते हैं कि 'ध्यान' योगीके लिये कामधेनुके तुल्य है। बिना ध्यानके योगाभ्यास करना ऐसाही है जैसे बिना पेट्रोलके मोटर चलानेका प्रयत्न। ध्यानके साहचर्यसे वह आसन, प्राणा-याम आदि कर पाता है। इसके अतिरिक्त पवित्र आचरण, शराब, भांग, गांजा इत्यादि मादक पदार्थ तथा मांसाहार-का परित्याग एवं ब्रह्मचर्य भी उसके लिये आवश्यक है। इसी प्रकार उसे अपने व्यवहारको भी व्यवस्थित बनाना पडता है रहन-सहनके नियम बनाकर उनका पालन करना पडता है और अपने जीवनका दृष्टिकोणही एक विशेष प्रकारका बना लेना पडता है।

योगमार्गपर चलनेवाला व्यक्ति इस प्रकारसे जो नई बातें आरम्भ करता है, उन्हींको कभी कभी कुछ लोग—

योगशास्त्र

कहना शुरू कर देते हैं। अन्य सब बातें छोडकर केवल इन्हीं बातोंको वे योग कहने लगते हैं। मान लीजिए कि एक छात्र व्यवस्थित रूपसे कॉलेजमें रसायनशास्त्र पढकर एम्. एस्.सी. बना और उसके बाद सूत तथा कपडे रंगने की कलाकी शिक्षा लेकर उत्कृष्ट प्रकारकी रंगीन साडियाँ तैयार करने लगा। यह छात्र केवल रंगनेकी कला सीखकर अपने कार्यमें अग्रसर हुआ है, ऐसा बहुतसे लोग कहेंगे। रंगनेकी कलाका शिक्षण प्राप्त करनेके लिये डायहाऊसमें जाकर वहां भिन्न भिन्न सूत रंगनेकी शिक्षा लेनी पडती है। उस डायहाऊसमें ठंडे और गरम पानीकी टाकी, सूतकी गुण्डियां, उन्हें सुखानेके डण्डे, गरमी पहुँचानेके लिये भट्ठी या उबलती भाफ आदि साधन आवश्यक रहते हैं। जो लोग केवल ऊपर ऊपर सोचते हैं वे इन्हीं साधनोंको और इनकी सहायतासे प्राप्त शिक्षाकोही रंगकला समझेंगे।

योगके विषय जो ऊपर ऊपर विचार करते हैं वे भी आसन लगाकर ध्यान करना, मन एकाग्र करना, इसी प्रकार शरीरसे जीव निकालकर चैतन्य शरीरसे बाहर ले जाना विभिन्न

प्रकारके नाद सुनना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, प्राणायाम करना, नाकके सिरेकी और दृष्टि लगाना, मयूरासन, कुक्कुटासन आदि आसन करना, पेटके हिस्सोंको इधर उधर घुमाना, कपडेका टुकडा गलेमें डालकर अन्दरका हिस्सा साफ करना आदि क्रियायें ही 'योग' है, ऐसा समझते हैं। किन्तु रंगकलाकी उच्च शिक्षा लेनी हो तो पहिले कई वर्ष कॉलेजमें रसायन-शास्त्रकी शिक्षा लेना पडती है और यदि यह शिक्षा प्राप्त न की जाय तो रंगकलाकी शिक्षा साङ्गोपाङ्ग पूर्ण नहीं होती, यह बात रंगकलाके विषयमें जितनी सच है उतनी ही योगशास्त्रके सम्बन्धमें भी सत्य है। योगशास्त्रके लिये भी उत्क्रान्तिकी दृष्टिसे पूर्व तैयारी करनी पडती है। यह तैयारी हो जाने-पर ही मनुष्य योगशास्त्रके मूलतत्त्वतक पहुँचता है और आसन लगाकर मन एकाग्र करना, विशिष्ट बातका ध्यान लगाना इत्यादि कार्य आरम्भ करता है। ये विशिष्ट बातें पूर्ण रूपसे तभी सफल हो सकती हैं जब मनुष्य उस सारी पूर्वतैयारी-को कर चुके; क्योंकि वह नितान्त आवश्यक है। 'योगशास्त्र-का अभ्यास' इन दो शब्दोंके अन्तर्गत यदि मनुष्य चाहे तो वह इस पूर्व तैयारीका समावेश कर सकता है और साथ ही योगीकी जो विशेष क्रियायें रहती हैं उनका भी समावेश कर सकता है। यह तो कहनेकी भाषा और अर्थ की अनुकूलतापर निर्भर है। किन्तु योगशास्त्र शब्दमें इन दोनों बातोंका समावेश किया जाय या न किया जाये तो भी योगीकी विशेष क्रियायें जितनी महत्वपूर्ण हैं उतनी ही उसकी पूर्व तैयारी भी महत्त्वपूर्ण है इसे भूलना न चाहिये। किसी प्रकारकी भी पूर्व तैयारी किये बिना डाक्टर के दवाखानेमें नौकरके रूपमें रहनेवाला व्यक्ति जखम धोना, पट्टी बांधना आदि काम यत्नपूर्वक कर सकता है और एकाध समय किसी रोगीको वह आवश्यक औषध भी दे सकता है; किन्तु इतनेसे ही उसे कोई डॉक्टर नहीं कहेगा।

डाक्टरकी कल्पना सभीको रहती है। इसलिये डाक्टरमें और दवाखानेमें मरहमपट्टी करनेवाले नौकरमें क्या अन्तर है यह प्रायः सभी समझ सकते हैं। किन्तु योगशास्त्रकी कल्पना लोगोंको ठीक न होनेसे, वे यह समझ नहीं पाते कि योगशास्त्रके मूलतक पहुँचनेके लिये उत्क्रान्तिकी दृष्टिसे जिसकी तैयारी हो चुकी है ऐसे सच्चे योगके अधिकारी और उससे भिन्न नाक पकडकर बैठने जैसी कुछ योग-क्रिया करनेवालेमें कितना महान् अन्तर है।

योगकी तैयारी और यम नियम।

यह तैयारी अनेक जन्मोंतक धीरे धीरे होती रहती है। पहले मनुष्यकोटिमें जंगली जातिमें जन्म लेकर और उसके बाद अनेक जन्म लेता लेता सामान्य मनुष्यकी अवस्थातक पहुँचता है। बादमें उससे भी आगे प्रगति कर योगशास्त्रके मूलतक वह पहुँचता है। इन सारे जन्मोंमें इसकी यह तैयारी धीरे धीरे लगातार होती रहती है, ऐसा निःसंकोच कहा जा सकता है। इस भूमिकाके लिये पातञ्जलयोगसूत्रोंमें यम व नियम इन शब्दोंका प्रयोग किया गया है और भाष्यकार व्यासने इनको बहिरंग साधनोंमें समाविष्ट किया है। + योगाभ्यासके मूलतक पहुंचे हुए व्यक्तिका कितना विकास हो जाना चाहिये, इसकी कल्पना यम-नियमोंको देखनेसे स्पष्ट हो सकेगी। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ये यम हैं। हिंसा न करना, मांसाहारका परित्याग, सत्य बोलना और आचरण करना, दूसरेकी वस्तुएं न छीनना, ब्रह्मचर्यका पालन करना और निर्लोभ वृत्ति इन पांच गुणोंको यम कहा जाता है। इनका अखण्डरूपसे पालन करनेके लिये पतञ्जलीने 'महाव्रत' शब्दका प्रयोग किया है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, ये नियम हैं। शौचका अर्थ स्वच्छतासे रहना। सन्तोषका अर्थ सन्तुष्ट वृत्ति। तपका अर्थ दृढताका गुण, आपत्तियाँ सहकर भी लगनसे काम करनेकी निष्ठा। स्वाध्यायका अर्थ अपना अध्ययन और ईश्वर-प्रणिधानका अर्थ ईश्वरकी भक्ति। *

सामान्य मनुष्यकी अवस्थासे जो एक कदम आगे बढ चुका है, उसके मनमें विभिन्न प्रकारके प्रश्न उत्पन्न होकर वह जागृत होने लगता है, यह पहले ही कहा जा चुका है। इस अवस्थातक पहुँचे हुए मनुष्योंमेंसे बहुत थोडे व्यक्ति

+ विभूतिपादके प्रारम्भमें ही व्यासभाष्यमें लिखा है— "उक्तानि पंच बहिरङ्गसाधनानि।"

* अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। शौच-सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (पातञ्जल सूत्र २।३० से ३२)

योगमार्गके द्वारतक आकर अन्दर प्रवेश कर सकते हैं। कौन अन्दर प्रवेश कर सकते हैं और कौन नहीं कर सकते यह यम और नियमोंसे स्पष्ट हो जाएगा। स्वाभाविकरूपसे ही जिन्हें ये यम-नियम प्रिय होंगे, तद्वत् आचरण करनेकी जिन्हें उत्कण्ठा होगी और वे गुण जिनके स्वभावमें पूर्वसे ही प्रमुखतः चमकते होंगे, वे ही योगकी सीमामें प्रवेश कर सकते हैं। आज उन्हें देखिये जो संसारके उन्नत लोगोंमें माने जाते हैं; जिन्हें हम सुशिक्षित, चतुर, सदाचारी और सज्जन कहते हैं। जिलेके किसी बड़े शहरमें सामान्य प्रकार के मनुष्योंकी तुलनामें एक कदम आगे बढ़े हुए डॉक्टर, वकील, इंजिनियर, व्यापारी, उच्च शिक्षणालयोंके शिक्षक, प्रोफेसर्स, वरिष्ठ अधिकारी, धारासभाओंके सदस्य, सम्पादक, साहित्यकार आदिमें अहिंसा (मांसाहार-त्यागका भी इसीमें समावेश हो जाता है) सत्याचरण, ब्रह्मचर्य, दूसरों की सम्पत्तिके प्रति निरिच्छता, निर्लोभवृत्ति, शरीर व मन की स्वच्छता, सन्तोष, तपस्वीवृत्ति, अध्ययन-शीलता और ईश्वरभक्ति जैसे दैवी सम्पत्तिके गुणोंके प्रति रुचि, तथा इन गुणोंको अपने अन्दर समाविष्ट करनेकेलिये प्रयत्नशील व्यक्ति अधिक नहीं मिलेंगे। ऐसे मनुष्य तो उंगलियोंपर गिननेलायक बहुत ही थोड़े होते हैं। इन्हीं लोगोंको योगकी सीमामें प्रवेश करनेका निसर्गतः अधिकार हो सकता है इसीलिये इस सीमामें प्रवेश करके शीघ्र प्रगति कर सकना इन्हींके लिये प्रयत्नतः थोड़ा बहुत सम्भव हो सकता है।

जिनमें यम-नियमकी मात्रा अत्यन्त सीमित है। वे राजही योगके क्षेत्रमें प्रवेशकर सरपट दौड़ नहीं लगा सकते। योगके क्षेत्रमें प्रवेश करनेके लिये यम-नियमोंको हृदयंगम करनेका प्रयत्न वे आजसे कर सकते हैं, भविष्यमें योगमार्गपर शीघ्र प्रगति करनेके लिये यह पूर्व तैयारी वे आज साध सकेंगे। अधिकसे अधिक इस प्रकार वे योग-क्षेत्रमें प्रवेश कर दो चार कदम रख भी सकते हैं, किन्तु योगके अभ्यासमें वे प्रवीणता नहीं प्राप्त कर सकते। गणित विषयमें सीमितसी गति रखनेवाला मनुष्य एकदम सीनियर रैंगलर नहीं बन सकता। इसमें किसीको भी आश्चर्यान्वित होनेकी आवश्यकता नहीं है।

गणित विषयमें जिसकी गति जैसे तैसे है, वह मनुष्य यदि सीनियर रैंगलरकी परीक्षामें न बैठे तो कोई भी उसे उलहना न देगा, बल्कि यदि वह उस परीक्षामें बैठनेकी इच्छा रखकर विलायतमें रहनेके लिये जाये तो लोग उसकी आलोचना अवश्य करेंगे। यम-नियमोंको आत्मसात् कर लेना कोई सरल बात नहीं है। मनुष्यके अन्तःकरणमें जो जन्मजात दोष होते हैं, उनकी जड़ मूल उनके हृदयमें दूरतक गहरी जमी रहती है। वह जड़ समूल नष्ट किये बिना यम नियम हृदयङ्गम नहीं हो सकते। मनुष्यके स्वभावमें जो विरुद्ध गुण हैं, उनके लिये पतञ्जलिने एक-स्थानपर 'वितर्क' शब्दका प्रयोग किया है और उस वितर्कके विषयमें—

> वितर्काः हिंसादयः कृतकारितानुमोदिताः
> लोभक्रोधमोहपूर्वका: मृदुमध्याधिमात्राः
> दुःखाज्ञानानन्तफलाः। (२, ३४) ऐसा लिखा है।

उसका यह अर्थ है कि, अहिंसा आदि जिन यमोंका उल्लेख किया है उनके विपरीत ये हिंसा आदि दोष होते हैं। ये ही वितर्क कहाते हैं। इनके कृत, कारित और अनु-मोदित, ऐसे भेद किये गये हैं। कृत का अर्थ है स्वयं किया हुआ (हिंसाके समान) दुष्कृत्य; कारित का अर्थ है दूसरेके द्वारा कराया गया दुष्कृत्य; अनुमोदित का अर्थ है कि चाहे हमने दूसरेके द्वारा न कराया हो तथापि दूसरेके द्वारा किये गये जिस दुष्कृत्यके लिये हमारी सम्मति हो। ये सारे वितर्क आरम्भमें लोभ, क्रोध और मोह मनमें होनेके कारण स्वभावमें उत्पन्न हो जाते हैं। उन वितर्कोंके और भी तीन प्रकार हो सकते हैं। उनमेंसे जिसमें दोष कम रहता है वह मृदु; साधारण कोटिका जो है वह मध्यम; जिसमें अतिशय है वह अतिमात्र। उदाहरणार्थ-ट्रामका टिकेट बिना निकाले ट्राममें यात्रा करना अपरिग्रह नामक 'यम' के विपरीत रहनेवाला लोभीवृत्ति नामक जो 'वितर्क' है, उसके 'मृदु' भेदका उदाहरण है। सारे जीवन लोभीवृत्तिसे आजीविका चलाकर तथा घरके आदमि-योंके लिये आवश्यक खर्च भी बन्द करके उन्हें दुःख पहुँ-चानेवाला 'मध्यम' का उदाहरण है। तथा लोभीवृत्तिसे धूर्ततापूर्वक दूसरेकी सम्पत्तिका अपहरण कर डुबा देनेका

कार्य 'अतिमात्र' का उदाहरण है। इन वितर्कोंद्वारा दुख-दायी और अज्ञानवर्धक अनन्त फलोंका निर्माण हो जाया करता है।

मनुष्यमें रहनेवाले कुछ और दोषोंके लिये पतञ्जलिने क्लेश शब्दका प्रयोग किया है। अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः क्लेशाः (२,३) ये उनके नाम हैं। अविद्या का अर्थ अज्ञान है। अस्मिता का अर्थ अहंभावका सम्बन्ध है; रागका अर्थ रुचिदायक बाह्य विषयोंके प्रति होनेवाला आकर्षण या मोह; द्वेषका अर्थ हम जिसे नहीं चाहते ऐसी बातोंके विषयमें होनेवाला विरोध; अभिनिवेश का अर्थ- हमारा जीवन-प्रवाह सतत रूपसे ऐसा ही चलता रहे, उसमें किसी प्रकारका व्यवधान न हो; इस प्रकारकी आन्तरिक आकांक्षा। ये क्लेश मानव हृदयमें गहराईतक अपनी सत्ता बनाये रखते हैं। इसीको दिखाने के लिये पतञ्जलिने लिखा है कि इन क्लेशोंके प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार ये भेद होते हैं। (सूत्र २.४ अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्) जिसे शराबका व्यसन है, इस परिभाषाके अनुसार उसे शराबका राग (रुचि, चटक) है ऐसा कहना चाहिये। यदि किसीको अत्यधिक व्यसन होगा तो उस रागको उदार (अति प्रचण्ड) कहना पडेगा। मान लीजिये कि किसीको यह व्यसन अत्यधिक नहीं है, उसके विवेकपर शराब हावी नहीं हो सकती और कहींपर भी आवश्यकतासे अधिक शराब पीने का मोह उसे नहीं होता। रागकी इस अवस्थाको तनु (अल्प, छोटी) कहा जा सकता है। यदि किसीको पहले शराब पीनेका व्यसन हो और बादमें प्रयत्न करनेपर वह छूटसी जाय; किन्तु फिर भी बीच बीचमें शराब पीनेकी जो हुकहुकीसी उठती है, उस रागकी यह अवस्था विच्छिन्न (त्रुटित) कही जा सकती है। कुछ ऐसे होते हैं कि कई वर्षोंतक शराब पीनेकी उनकी इच्छा नहीं होती, वे उसे छूतेतक नहीं; किन्तु अकस्मात् किसी शराबी मित्रके सम्पर्कमें आनेपर यदि वह शराब पीने लग जाय तो पहिले उनके स्वभावमें शराबका राग था किन्तु वह प्रसुप्त (निद्रित) अवस्थामें था, ऐसा कहना चाहिये। प्रत्येक क्लेशकी ये ही प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार अवस्थायें होती हैं ऐसा पतञ्जलिका अभिप्राय है। इन बातोंसे योगशास्त्र कितना गहन है तथा आजकलके मानस शास्त्र साइको-ॲनालिसीस अर्थात् मानसावगाहन शास्त्र आदि शास्त्रोंकी बातें योगशास्त्रद्वारा किस प्रकार संनिविष्ट होकर व्याख्या रूपसे स्पष्ट की गई है, इसकी कल्पना पाठक कर सकेंगे। विभिन्न दोषोंको ऊपर ऊपर दूर करके योगकी तैयारी नहीं होती। अन्तरतमतक पहुँचकर उसकी जडें उखाड फेंकनेकी आवश्यकता है। अनेक रूपोंमें फैले हुए उन दोषोंको पूर्णतः नष्ट करना चाहिये। तभी योगशास्त्रकी तैयारी पूरी होती है और उस शास्त्रमें प्रवेश करनेपर शीघ्र प्रगति हो सकती है।

प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग।

योगके मूलतत्त्वतक पहुँचते समय मनुष्यको उसके लिये किस प्रकारकी तैयारी करनी होती है, इसका स्पष्टीकरण विशद रूपसे एक अन्य प्रकारसे भी किया जा सकता है। प्राणिकोटिसे जीवके मनुष्यकोटिमें आनेपर उसके उत्क्रान्ति-मार्गके दो विभाग किये जा सकते हैं। पहलेका प्रवृत्ति-मार्ग तथा दूसरेका निवृत्तिमार्ग नाम है। प्रवृत्तिमार्गके आरम्भके मानवजन्म जंगली और पिछडी जातियोंमें होते हैं। उस जंगली अवस्थामें अन्नकी प्राप्ति, धूप, वर्षा, हवा आदिसे, इसी प्रकार हिंस्र पशु या मानव शत्रुओंसे स्वयंकी रक्षा करना आदि कार्य उसे सतत करने पडेंगे। इस कारण उसकी आलसी वृत्ति कुछ कम होकर वह थोडा बहुत उद्यमी बनने लगता है। निम्नकोटिमें अनेक जन्म लेता लेता वह बादमें कुछ सुसंस्कृत समाजमें आ जाता है। वहाँ उसपर समाजका नियन्त्रण होनेके कारण उसकी जंगली वृत्तियाँ उभरने नहीं पाती। उसकी दुष्टता, क्रूरता, मदान्धता, झगडालूपना, चोरी, शत्रुको दबा देना आदि वृत्तियाँ कमजोर पड जाती हैं। इसके पश्चात् वह और अधिक सुसंस्कृत समाजमें जन्म लेता है। तब अन्य सभ्य मनुष्यों-को देखकर उसमें भी महत्त्वाकांक्षा पैदा होती है कि मैं भी प्रयत्न करके अधिक पैसे कमाऊँ। अच्छा अन्न खाऊँ और अच्छे मकानमें ऐश आरामसे रहूँ। उन महत्त्वाकांक्षाओंके कारण वह अधिक परिश्रमी, अधिक चतुर और अधिक बुद्धिमान होने लगता है। उसकी उस समयकी सम्पूर्ण महत्त्वा-कांक्षायें वैयक्तिक सुखकी होती है और वे सब स्थूल, उथ-खाबड और हलके प्रकारकी रहती हैं। बादमें और भी

प्रगति होती है और वह अधिक सुसंस्कृत समाज एवं श्रेष्ठ व कुलीन घरमें जन्म लेता है। वहाँपर विवेकके कारण जंगलीवृत्ति प्रायः समाप्त हो जाती है और निम्नकोटिके सुखोंकी लालसा कम होकर मैं सत्ताधारी बनूँ, कीर्तिशाली बनूँ, जनतामें आगे आऊँ इस प्रकारकी उच्च महत्त्वाकांक्षायें उसे आकर्षित करने लगती हैं। यह सबका सब प्रवृत्ति-मार्ग है। इस मार्गसे होकर आगे बढता हुआ मनुष्य बुद्धिमान्, चतुर, उद्योगी और शक्तिशाली हो जाता है। किन्तु उसके सारे ध्येय वैयक्तिक बडप्पनके होते हैं। संसारमें कुछ न कुछ प्राप्त करना ही है, ऐसी निरन्तर उसकी मनीषा रहती है। इसलिये इस प्रवृत्तिमार्गपर उसके 'अहं' भावका व्यक्तिकेन्द्र शक्तिशाली बनता जाता है। प्रवृत्तिमार्ग अहंवृत्तिकी आधारशिलापर ही आश्रित रहता है।

आगे जाकर प्रवृत्तिमार्ग समाप्त हो जाता है तथा निवृत्तिमार्गका आरम्भ धीरे धीरे होने लगता है। निवृत्ति-मार्ग निरुद्योगीवृत्तिका मार्ग है ऐसा बहुतसे समझने लगते हैं, किन्तु यह उनकी गलती है निवृत्तिमार्गपर मनुष्यको पहलेकी तरहसे ही व्यवस्थितरूपसे उद्यम करना पडता है। किन्तु प्रवृत्तिमार्गके उद्योग जिस अहंकी भित्तिपर आधारित होते हैं, वह आधारशिला निवृत्तिमार्गपर धीरे धीरे हिलने लगती है तथा अन्तमें उखाडकर फेंक दी जाती है। अर्थात् निवृत्तिमार्गकी खटपटमें जो व्यक्तित्वका केन्द्र था उसके स्थानपर, ईश्वर, धर्म, देशसेवा परोपकार, विश्व-बन्धुत्व, कला जैसे ध्येय सामने आजाते हैं और मनुष्यके वैयक्तिक बडप्पनकी महत्त्वाकांक्षा कमजोर होकर अन्तमें नष्ट हो जाती है। वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा कम होते समय मुझे व्यक्तिशः संसारसे कुछ प्राप्त करना है, यह प्रवृत्तिमार्गकी वृत्ति ओझल हो जाती है, स्वार्थ छूट जाता है और 'मैं अपने ध्येयके लिये सर्वस्व अर्पण कर दूंगा' ऐसी आत्मसमर्पणकी वृत्ति अन्तःकरणमें एकरूप हो जाती है। प्रवृत्तिमार्गमें बुद्धिमत्ता, उद्योगप्रियता, चातुर्य, तेजस्विता आदि जिन गुणोंका विकास मनुष्य कर लेता है, वे सब निवृत्ति-मार्गमें काम आते हैं। किन्तु उन गुणोंका अस्तित्व सुरक्षित रखने एवं उनका विकास करनेके लिये अहंकी आधारभित्ति प्रवृत्तिमार्गपर निर्माण की थी; वह आधारभित्ति उस निवृत्ति मार्गपर हटा देनी पडती है।

मानवी विकासकी मीनार तैयार करना उत्क्रान्तिका ध्येय है। स्वार्थका आधार लिये बिना वह तैयार नहीं हो सकती प्रवृत्तिमार्गपर अहं भावकी आधार भित्तियाँ बांधकर उनकी सहायतासे मीनारका निर्माण कार्य किया जाता है। सारा ढांचा खडा हो जानेपर प्रवृत्तिमार्ग समाप्त होने लगता है और निवृत्तिमार्गका आरम्भ हो जाता है। इस खडे ढांचेके आगेके काम निवृत्तिमार्गपर शुरू होने लगते हैं। निवृत्तिमार्गपर न कोई नया ढांचा खडा किया जाता है और नहीं कोई नया कार्य आरम्भ किया जाता है। आरम्भ किये गये मकानके अन्दरके काम, जैसे व्यवस्था आदिकी दृष्टिसे आवश्यक सुधार, सुन्दरता लानेके लिये आवश्यक उपकरणोंका संचय, यदि कोई स्थान कच्चा रह गया हो तो उसे अन्य साधनोंसे मजबूत बनानेके काम, वह मकान अधिकसे अधिक उपयोगी व सुव्यवस्थित बनानेके काम आदि मानो निवृत्तिमार्गपर आनेके बाद ही पूर्ण होते हैं। अतः स्वार्थके आधार-उपकरण धीरे धीरे कम कर दिये जाते हैं और इसीलिये वैयक्तिक स्वार्थके ध्येय धीरे धीरे विलीन कर देने पडते हैं।

जिसका प्रवृत्तिमार्ग समाप्त होनेको है, निवृत्तिमार्गका आरम्भ हो जानेके कारण जिसकी स्वार्थग्रन्थियाँ खुलने लगी हैं, और अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, तप, ईश्वरप्रणिधान इत्यादि जो निवृत्तिमार्गके स्वाभाविक गुण-जिन्हें पतञ्जलिने यम-नियम कहा है— उनके विषयमें जिनके मनमें सच्ची रुचि उत्पन्न हो चुकी है, वही योगमार्ग के निकटतक पहुँच चुका है, ऐसा कहा जा सकता है।

क्या मनुष्येतर (मनुष्यसे उच्च श्रेणीकी)

देव आदि योनियोंका मानना

आर्यसमाजके सिद्धान्तोंके विरुद्ध है?

(लेखक— श्री. पं० गंगाप्रसादजी, एम्. ए., कार्यनिवृत्त मुख्य न्यायाधीश, जयपुर.)

यह प्रश्न कुछ विवादास्पद है इसलिये इसपर विचार करनेकी आवश्यकता है।

(१) संसारमें असंख्य प्रकारके जीवधारी हैं। कहावत है कि जीवोंकी ८४ लाख योनियां हैं। मैंने इसकी पुष्टिमें कोई शास्त्रका वचन नहीं देखा। परन्तु संसारमें लाखों प्रकारके वृक्ष वनस्पति हैं और लाखों प्रकारके जीवजन्तु हैं। इसलिये यदि ८४ लाख योनियां हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

(२) परन्तु इस पृथ्वीपर जितने जीव रहते हैं वे संसारभरके सब जीवोंका एक अल्प भाग ही हैं। इस सूर्य परिवारमें जिसका पृथिवी एक भाग है पृथ्वीके सिवाय मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर ग्रह और इनके सिवाय ३ अन्य नये ग्रह जिनके यूरेनस Uranus (वरुण), नेपचून Neptune (केतु) और प्लेटो Plato नाम रखे गये हैं, शामिल हैं। इनमें बुध और शुक्र पृथ्वीसे छोटे हैं, मंगल उसके लगभग समान है, शेष बृहस्पति शनैश्चर, यूरैनस् आदि उससे बहुत बडे हैं। अनुमान है कि पृथ्वी-की तरह उनमें भी अनेक प्रकारके वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी व जीवजन्तु रहते होंगे।

फिर यह हमारा सूर्यमंडल भी सारी सृष्टिका अति तुच्छ भाग ही है। रातके समय आकाशमें जो तारे दिखलाई देते हैं वे असंख्य हैं। लगभग सात हजार विना दूरबीन दिखलाई देते हैं। परन्तु जितनी बडी दूरबीन बनती जाती है उतने ही अधिक तारे आकाशमें दिखाई देने लगते हैं। पहले दो अरब दीखते थे, अब उनकी संख्या ४ या ५ अरब है। इनमें सिवाय ९ या १० ग्रहोंके जो पृथ्वीके समान हमारे सूर्यकी परिक्रमा करते हैं, बाकी सब बडेबडे सूर्य हैं। उनमें कई हमारे सूर्यसे छोटे भी हैं, बहुतसे उसके समान हैं, और अधिकतया उससे भी बडे हैं। उनमेंसे प्रत्येकके साथ कुछ लोक-लोकान्तर होंगे जैसा कि हमारे सूर्यके साथ ९ ग्रह Plantes हैं यह अनुमान सब प्रकार युक्त ही है। यह भी मानना होगा कि उन असंख्य लोक-लोकान्तरोंमें भी पृथ्वीके समान अनेक जीवधारी रहते हैं। मंगल ग्रहमें जो पृथ्वीके बहुत समीप है और पृथ्वीके लगभग समान भी है; मनुष्य जैसी बुद्धि रखनेवाले जीवोंके बसनेके चिह्न पाये गये हैं जिनका ज्योतिषके विद्वानोंने वर्णन किया है। बाकी ग्रह पृथ्वीसे अधिक दूर हैं। दूसरे तारा-गण वा सूर्योंके लोकलोकान्तरोंकी दूरीका तो कहना ही क्या है? वहां जीवोंकी किस प्रकारकी योनियां हैं यह नहीं कहा जा सकता। यहांके जीवोंकी योनियां जैसी होंगी और उनसे नीचे व ऊंचे दर्जेकी भी हो सकती हैं।

(३) हमारे सनातनी भाई मनुष्यसे इतर देव, पितर, यक्ष, गंधर्व आदि कई प्रकारकी योनियां मानते हैं। जहां-तक मैं जानता हूं ऋषि दयानन्दने मनुष्येतर और मनुष्यसे ऊँचे दर्जेकी किसी योनिका न होना स्पष्ट रूपसे कहीं नहीं लिखा। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी को (जैसा कि उनके विशेष परिचित मित्रोंसे ज्ञात हुआ) ऐसी योनियोंका होना माननीय था। संभव है कि आर्यसमाजके विद्वानोंमें अब भी कोई ऐसा मानते हों। साधारण मत आर्यसमाजका यही समझा जाता है कि मनुष्ययोनि सबसे ऊंची योनि है, इससे अधिक ऊंची श्रेणीकी कोई और योनि नहीं। यही प्रश्न है जिसपर मैं इस लेखके द्वारा विचार करना चाहता हूं। परंतु यह पहले ही कह देना अनुचित न होगा कि ऐसा माननेसे ईश्वरकी एकता, सर्वोच्चता आदि आर्य-समाजके अन्य सिद्धान्तोंमें कोई बाधा नहीं पड सकती। क्योंकि यदि मनुष्येतर और मनुष्यसे ऊंचे दर्जेकी देव,

पितर, गन्धर्व आदि योनियां मानी जाय तो वे बिलकुल मनुष्योंके समान जीवोंकी ही योनियां मानी जायगी न कि कुछ पौराणिकोंकी तरह विशेष प्रकारकी दिव्य योनियां, उपास्य देव केवल एक परमात्मा ही माना जायगा और कोई नहीं।

(४) वेदोंमें देव, पितर, गन्धर्व आदि शब्द बहुत वार आते हैं। देव शब्दके बहुत अर्थ हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि जड पदार्थोंके लिये— जिनमें दिव्य गुण हैं— देव शब्दका प्रयोग होता है और दिव्य गुणयुक्त चेतन पदार्थोंके लिये भी। शतपथ ब्राह्मणका "विद्वांसो हि देवाः" एक प्रसिद्ध प्रमाण है जिसके अनुसार विद्वान् मनुष्योंके लिये देव शब्दका प्रयोग माना जाता है। वेद-मंत्रोंमें (जड पदार्थोंके अतिरिक्त) बहुधा देव शब्दका यही अर्थ किया जाता है। परन्तु जैसा स्वाध्यायशील सज्जनोंको अनुभव हुआ होगा, वेदमंत्रोंमें केवल मनुष्यों-हीमें देव शब्दका प्रयोग सीमित रखकर और मनुष्येतर कोई देवयोनि न मानकर अर्थ करनेमें बहुधा कठिनाई पडती है। मैं उदाहरणार्थ कुछ मंत्र और उनके अर्थ देकर लेखको बढाना उचित नहीं समझता। संकेतमात्र संस्कारविधिमें दिये गये स्वस्तिवाचन के मंत्रोंमेंसे मंत्र सं० ४,८,९, ११,१२,१७, १९,२४ व ३० वर्णन पाठ के मंत्रोंमें मंत्र सं० ३ व ४ की ओर पाठकोंका ध्यान दिलाता हूं। उन मंत्रोंमें तथा वेदके अन्य बहुतसे ऐसे मंत्रोंमें देव शब्दसे मनुष्येतर विशेष योनि अर्थ लेना अधिक युक्त और सुसंगत प्रतीत होता है।

(५) उपनिषदोंमें भी देव, पितर, गन्धर्व आदि शब्द आये हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मवल्लीके ८ प्रपाठक-में आनन्द-मीमांसा का इस प्रकार वर्णन है—

"सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात् साधुयुवाऽध्यायकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः॥ १॥ ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्य-गन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकाम-हतस्य॥ २॥ ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामा-नन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥ ३॥ ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितृणां चिर-लोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकाम-हतस्य॥ ४॥ ते ये शतं पितृणां चिरलोक-लोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकाम-हतस्य॥५॥ ते ये शतं आजानजानां देवाना-मानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकाम-हतस्य॥ ६॥ ते ये शतं कर्मदेवानां देवाना-मानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रि-यस्य चाकामहतस्य॥ ७॥ ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥ ८॥ ते ये शत-मिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥ ९॥ ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥ १०॥ ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥ ११॥

(तैत्ति. उपब्रह्मवल्ली)

मैं उसका अर्थ भी नीचे लिखता हूं—

"वह यह आनन्दकी मीमांसा होती है। मनुष्य युवा हो, सदाचारी युवा और सुपठित हो, सुशिक्षित, सुदृढ और अतिशय बलवान् हो। उसको यह सारी पृथिवी धनसे पूर्ण होकर मिल जावे तो यह एक मानुष आनन्द है॥ १॥

वे जो १०० मानुष आनन्द हैं उसके बराबर यह एक मनुष्य गन्धर्वोंका आनन्द है। और जो वेदवेत्ता हो और कामनासे न मारा गया हो॥ २॥

वे जो सौ मनुष्य गन्धर्वोंके आनन्द हैं उनके बराबर वह एक देवगन्धर्वोंका आनन्द है। और जो वेदवेत्ता हो और कामनासे रहित हो॥ ३॥

वे जो सौ देवगन्धर्वोंके आनन्द हैं उनके बराबर वह एक चिरलोक पितरोंका आनन्द है। और जो वेदवेत्ता और कामनारहित हो॥ ४॥

वे जो चिरलोक पितरोंके सौ आनन्द हैं उनके बराबर वह एक आजानज देवोंका आनन्द है। और जो वेदवेत्ता और कामनारहित है ॥ ५ ॥

वे जो आजानज देवोंके सौ आनन्द हैं उनके बराबर वह एक कर्मदेवोंका आनन्द है। और जो वेदवेत्ता और कामनारहित हो ॥ ६ ॥

वे जो कर्मदेवोंके सौ आनन्द हैं उनके बराबर एक देवोंका आनन्द है। और जो वेदज्ञ हो और कामनारहित हो ॥ ७ ॥

वे जो देवोंके सौ आनन्द हैं उनके समान इन्द्रका एक आनन्द है। और जो वेदवेत्ता और कामना रहित हो ॥ ८ ॥

वे जो इन्द्रके सौ आनन्द हैं उनके बराबर एक बृहस्पतिका आनन्द है। और जो वेदवेत्ता और कामनारहित हो ॥ ९ ॥

वे जो बृहस्पतिके सौ आनन्द हैं उनके बराबर प्रजापतिका एक आनन्द है। और जो वेदवेत्ता और कामनारहित हो ॥ १० ॥

वे जो प्रजापतिके सौ आनन्द हैं उनके बराबर ब्रह्माका एक आनन्द है। और जो वेदज्ञ और कामनारहित हो ॥ ११ ॥

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी लगभग इसी प्रकार देव, पितर, आदिका वर्णन है। वह नीचे दिया जाता है-

"स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दः। अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दः अथ स एको गन्धर्वलोक आनन्दः। अथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो यो कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते। अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। अथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। अथैष एव परम आनंद एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः।" (बृह० उप० ४।३।३३)

अर्थ—वह मनुष्य जो सब मनुष्योंमें सर्व भोग साधनों और देहकी पुष्टतासे संसिद्ध, धनैश्वर्यसे समृद्ध, दूसरोंका स्वामी सारे, मानुष भोगोंसे संपन्नतम, हो उसका वह सुख मनुष्योंका परम आनंद है। अब जो ऐसे सौ मानुष आनन्द हैं, उनके बराबर आनन्द जिन्होंने जीत लिया उन जित लोक पितरोंका वह एक आनन्द है। और जो जित लोक पितरोंके सौ आनन्द हैं वह गन्धर्वलोकमें एक आनन्द है। और जो गन्धर्वलोकमें सौ आनन्द हों वह कर्मदेवोंका एक आनन्द है। जो कर्मसे देवत्वको प्राप्त करते हैं वे कर्मदेव हैं। अब जो कर्मदेवोंके सौ आनन्द हैं वह आजानदेवोंका एक आनन्द है। और जो वेदवेत्ता है, पापरहित है और कामनासे नहीं मारा गया अर्थात् निष्काम है। और जो आजानदेवोंके सौ आनन्द हैं वह प्रजापति लोकमें एक आनन्द है। और जो वेदवेत्ता है, पाप रहित है और कामनासे मारा नहीं गया (अर्थात् निष्काम है)। और जो प्रजापतिलोकमें सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मलोकमें एक आनन्द है और जो वेदवेत्ता है, पापरहित है और कामनासे मारा नहीं गया। तब याज्ञवल्क्यने कहा "हे सम्राट् यह ही परम आनन्द है यही ब्रह्मलोक है।"

ऐसा ही वर्णन शतपथ ब्राह्मणमें भी आया है। उसके प्रतीक धरने व अर्थ करनेकी मैं आवश्यकता नहीं समझता।

ऊपर दी हुई दोनों सूचियोंमें थोडासा भेद है। तैत्तिरीय उप० में गन्धर्वलोक पितरलोकसे ऊपर रखा गया है। और देवलोक और प्रजापतिलोकके बीचमें इन्द्रलोक और बृहस्पतिलोक अलग रखे गये हैं। इस प्रकार मनुष्यलोक व ब्रह्मलोक सहित तैत्तिरीय उप० में ११ लोक होते हैं, बृहदारण्यक उप० में ७ होते हैं।

श्री नारायण स्वामी तथा पं० भीमसेन शर्माने ब्रह्माके अतिरिक्त अन्य सब लोक वा अवस्थाओंको मनुष्योंमेंही घटाया है। परन्तु मेरी तुच्छ सम्मतिमें

गन्धर्व, पितर, देव आदिको मनुष्योंसे भिन्न और मनुष्यसे उच्च श्रेणीकी योनियां मानकर अर्थ करना अधिक युक्त और सुसंगत होगा।

तैत्ति० उप० में मनुष्यके बाद हरलोकके वर्णनमें— "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" शब्द आये हैं, बृहदारण्यक उप० में इनके स्थानमें "यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः" शब्द आये हैं, परन्तु वे आजान देवोंसे शुरू होकर ब्रह्मलोकतक हैं, केवल तीन बार आये हैं। तैत्ति० उप० में गन्धर्वलोकहीसे आरंभ होकर दस बार प्रयुक्त हुए हैं।

(६) शायद यह कहा जाय कि "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" शब्दोंका यह भाव है कि, जो वेदवेत्ता है और निष्काम है वह सब प्रकार मोक्षका अधिकारी है। इसके माननेमें कोई आपत्ति नहीं। परन्तु लोकोंकी आनन्द मात्रामें जो भेद वर्णन किया गया वह बना ही रहता है यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उपर दिये गये "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" शब्दोंमें च शब्द आया है। इस वाक्यके संबंधमें मैं अन्तमें फिर कथन करूंगा।

जीव इस पृथ्वीपर अधिकसे अधिक जितना आनंद प्राप्त कर सकता है वह तो सब पहली ही कण्डिकामें वर्णन कर दिया गया है— "तस्येयं पृथ्वी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्" (अर्थात् उसके लिये यह सारी पृथ्वी धनधान्यसे पूर्ण हो)। इस कण्डिकामें केवल धनादि सम्पत्तिका ही वर्णन नहीं है किन्तु "साधुर्युवाऽध्यायकः" शब्दोंमें आध्यात्मिक और मानसिक आनन्द भी आ जाते हैं।

वास्तवमें इस मीमांसाका उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि जीवको सब अवस्थाओंमें अधिकसे अधिक जितना आनन्द प्राप्त हो सकता है उसकी व्याख्या की जाय। पृथ्वीपर (अर्थात् मनुष्यजीवनमें) अधिकसे अधिक जो आनंद मिल सकता है वह पहिली कण्डिकामें वर्णित किया गया और उसके लिये कहा गया— "स एको मानुष आनंदः।" अर्थात् उसका नाम मानुष आनंद रखकर यह आनन्दकी एक इकाई (Unit of Bliss) नियत की गई, मनुष्य गन्धर्वलोक में उससे १०० गुना आनंद प्राप्त कर सकता है। देव गन्धर्वलोक में उससे १००×१०० दश सहस्र गुना, पितृ चिरलोक में उससे १००×१००×१०० अर्थात् दश लाख गुना, आजान देवलोक में १००×१००×१००×१०० दश करोड गुना कर्म देवलोक में १० करोडसे १०० गुना अर्थात् १० अरब गुना, देवलोक में उससे भी १०० गुना अर्थात् १० खर्व गुना इसी प्रकार इन्द्रलोकमें १० पद्म गुना, बृहस्पति लोकमें १० नील गुना, प्रजापतिलोकमें १० महानील गुना और ब्रह्मलोकमें मानुष लोक से एक सहस्र महानील गुना आनन्द प्राप्त कर सकता है जो आनंदकी चरम सीमा है। बृह० उप० के अनुसार जिसमें १० के स्थानमें ७ लोक बतलाये गये मानुष लोकसे १० अरब गुना आनन्द ब्रह्मलोकमें होता है। ये अंकोंकी संख्या काल्पनिक ही है। भाव आध्यात्मिक उन्नतिकी भिन्न भिन्न श्रेणियोंमें उत्तरोत्तर वृद्धिका बतलाना है।

(७) स्वामी ओमानंदजी जिनका उत्तम योगभाष्य पातंजल योगप्रदीपभाष्यके नामसे प्रसिद्ध है आर्यसमाजी विचारके उच्च श्रेणीके योगी हैं। मेरा उनसे इस विषयपर वार्तालाप हुआ। उनका कहना है कि ये लोक विचारानुगत, अस्मितानुगत और आनन्दानुगत संप्रज्ञात समाधियोंके अन्तर्गत हैं जिसमें सूक्ष्म शरीर काम करता है। इन्हींको पौराणिक लोग अपने स्वर्गलोक कहते हैं। वेदान्तमें इनको योगकी भूमियां कहा है। कोई लोग इनको पुनरावर्तिनी मुक्तिके नामसे पुकारते हैं। असली वा पूर्ण मुक्ति, जिसको प्राप्त करके मुक्त जीवका (इस कल्पके भीतर) फिर पुनर्जन्म नहीं होता असंप्रज्ञात समाधिके बाद ही होती है। गीता के अ० ८ का १६ वां श्लोक इस प्रकार है—

आ ब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

अर्थात् ब्रह्मलोकतक हे अर्जुन पुनरावृत्ति होती है। परन्तु ईश्वरको प्राप्त करके फिर जन्म नहीं होता। दोनों सूचियोंके अन्तमें ब्रह्मलोक है। वहांतक जीवका पुनर्जन्म होता है।

इन दोनों उपनिषदोंकी सूचियोंमें कुछ अन्तर होनेका कारण स्वामी ओमानन्दजीने यह बतलाया कि भिन्न भिन्न

ऋषियोंके अनुभवमें कुछ कुछ भेद होता है। कोई कोई ऋषि वा योगी अपनी साधनामें कुछ योग भूमियोंको लांघ भी जाते हैं। जैसे तैत्ति० उप० में ३ प्रकारके देवलोक बतलाये गये बृहदा० उप० में २ प्रकारके कहे गये। फिर देवलोक और प्रजापतिलोकके बीचमें तैत्ति० उप० में इन्द्रलोक और बृहस्पतिलोक आते हैं जो बृहदा० उप० में नहीं है।

(८) परिणाम यह है कि तैत्तिरीय और बृहदारण्यक दोनों उपनिषदों और शतपथ ब्राह्मणमें जो लोक कहे गये वे जीवात्माकी मनुष्यलोकसे ऊपर क्रमोन्नतिके जो वह योगके द्वारा प्राप्त कर सकता है और उस आनन्दकी उत्तरोत्तर वृद्धिके जो उन लोकोंमें मिलता है, सूचक है। वे सब मोक्षसे नीचे दर्जेके ही हैं। जब याज्ञवल्क्यने अन्तिमलोकका वर्णन करके महाराजा जनकसे यह कहा—"अथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति।" कि हे सम्राट् यह ही परम आनन्द है यही ब्रह्मलोक है, तो जनकने कहा- "सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति।" (अर्थात्) "सो मैं श्रीमान्‌को सहस्र गौ दान करता हूं। इसके उपर मोक्षका ही उपदेश कीजिये।" उपनिषद्‌कार कहते हैं..."अत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मान्तेभ्य उदरौत्सीदिति।" (अर्थात्) तब याज्ञवल्क्यको भय हुआ कि बुद्धिमान् राजाने मुझसे सारे तत्त्वनिर्णय करके फिर भी आगेको कहनेके लिये अनुरोध किया। परन्तु आगे इस विषयका वर्णन नहीं-पुनर्जन्मका वर्णन है।

(९) मोक्षका दर्जा बहुत ऊंचा है, उससे ऊपर जीवात्माके लिये कुछ नहीं रह जाता। मोक्षमें जीव परमात्माके दर्शन करके अनंत आनन्दको पा लेता है। ऊपर लिखे लोकोंमें आनन्दकी मात्रा बहुत बडे अंकोंमें वर्णन की गई, परन्तु वे सब सान्त होनेसे अनन्तके सामने अल्प ही हैं।

(१०) जैसा पहले कहा गया यह पृथिवी और हमारा सूर्य और सूर्यमंडल सारी सृष्टिके सामने जिसमें करोडों व लाखों ऐसे सूर्य हैं बहुत तुच्छ ही हैं, इतना भी नहीं जितनी समुद्रमें एक बूंद होती है। फिर उन असंख्य लोकलोकान्तरोंमें जो इस सारी सृष्टिमें हैं किस किस प्रकारके प्राणी रहते हैं यह कौन कह सकता है। इस पृथिवीपर ही लाखों प्रकारके जीवजन्तु हैं जिनमें मनुष्य सर्वश्रेष्ठ हैं। मनुष्योंमें भी कितने भेद हैं? एक जंगली भीलको देखिये और महात्मा गांधी जैसे उन्नत आत्माका ध्यान कीजिये कितना महान् अन्तर है? फिर यदि मनुष्य से भी ऊंचे दर्जेके जीवधारी हों तो इसमें आश्चर्य क्या हो सकता है?

(११) एक बातका लिखना आवश्यक है। तैत्ति० उप० की सूचीमें आरंभसे ही और बृह० उप० में कर्म-देवलोकसे आगे ये शब्द आते हैं—"यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः" (अर्थात्) "जो वेदवेत्ता हो, पापरहित हो और कामनासे न मारा हुआ हो वह भी—" इसका भाव यही है कि जो मनुष्य वेदज्ञानी, निष्पाप और कामनारहित हो वह मनुष्यलोकहीमें उस बडे आनन्दको प्राप्त कर सकता है जिसका उस लोकके लिये वर्णन किया गया। यह युक्त भी है। क्योंकि जिस मनुष्यकी सब कामनाएँ और एषणायें नष्ट हो गई और जो वेदवेत्ता और पापरहित है वह मोक्षका अधिकारी हो चुका और मोक्षप्राप्ति करनेपर उसको वह पूर्ण वा अनन्त आनंद प्राप्त हो जायगा जिसके सामने ये सब आनंद; जिनका लोकोंमें वर्णन है अल्प ही हैं। सार यह है कि जीवात्मा मनुष्य लोकहीमें मोक्षका अधिकारी बन सकता है और यदि मोक्ष प्राप्तिके योग्य उन्नति न कर सके तो ऊपर लिखे लोकोंमेंसे (जो मनुष्य लोकसे उच्च और मोक्षके नीचे है) किसी लोककी प्राप्ति कर सकता है?

सांख्य—दर्शनमें ईश्वरवाद

(लेखक—श्री० सोमचैतन्य सांख्यशास्त्री, वेदवागीश)

सांख्य-ज्ञान परम पवित्र ज्ञान है और सबसे प्राचीन है। महाभारतकारके शब्दोंमें-" इस ज्ञानके तुल्य अन्य कोई ज्ञान नहीं है " " इसमें संशय नहीं करना चाहिये कि सांख्यज्ञान परम=अत्युत्कृष्ट माना गया है "। पितामह भीष्म कहते हैं कि- " अमूर्तेस्तस्य कौन्तेय सांख्यं मूर्तिरिति श्रुतिः "=" यह श्रुति है कि सांख्य उस अमूर्त, शुद्ध, चिन्मात्र परब्रह्मकी मूर्ति है " (म० शा० ३०१)· इस कथनसे ही सांख्यकी पवित्रता और उत्कृष्टताका किञ्चित् अनुमान हो सकता है। श्रुति, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, महाभारत, गीता, पुराणादि सब ग्रन्थोंमें सांख्यज्ञानका संक्षेप वा विस्तारसे कथन अवश्य किया गया है।

सांख्यके वक्ता परमर्षि कपिल माने जाते हैं। इनसे पुरातन इस तत्त्वका वक्ता अन्य कोई नहीं मिलता। इनके नामसे ही इस दर्शनका नाम 'कापिल दर्शन' भी पड गया है। सांख्य मत कापिल मतके नामसे भी कहा जाता है। महर्षि कपिल की हमारे शास्त्रोंमें अत्यन्त प्रतिष्ठा की गई है। उन्हें महर्षि न कहकर परमर्षि कहा गया है। गीताने इन्हें सिद्धोंमें श्रेष्ठ कहा है। श्वेताश्वेतरके मतानुसार ये भी सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हुये थे और अन्य अङ्गिरादि ऋषियोंको जैसे वेदका ज्ञान ईश्वरसे मिला था, वैसे ही इन्हें भी तत्त्वज्ञान मिला था। उपनिषद्के शब्दोंमें " आदि सृष्टिमें उत्पन्न ऋषि कपिलको जो ईश ज्ञानसे भर देता है।" वाचस्पति मिश्र लिखते हैं-आदि विद्वान् अत्र भगवान् कपिल सर्गके आदिमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन चार भावोंसे सम्पन्न प्रादुर्भूत हुये। आदि विद्वान्‌की उच्चतम उपाधिसे विभूषित होनेका सौभाग्य परमर्षि कपिलके अतिरिक्त अन्य किसीको प्राप्त नहीं हुआ है।

न जाने कबसे यह भ्रान्त धारणा प्रसरित हुई कि सांख्य-दर्शन निरीश्वरवादी है। और यह भ्रांति इतनी प्रबलतासे प्रसरित हुई कि प्रायः उपलब्ध होनेवाले सांख्य ग्रंथोंके सभी वृत्तिकार और भाष्यकार इस भ्रांत भावनाके आखेट बन गये। सांख्य ग्रंथोंमें उन्होंने जहाँ कहीं ईश्वरविषयक वचन देखा, वा उन्हें विचार हुआ कि यह वचन ईश्वर-विरुद्ध हो सकता है, उसका उन्होंने अपने मस्तिष्कपर बल देकर, श्रुतिस्मृति विरुद्धता और प्रकरणका बिना विचार किये ही, ईश्वरनिषेधपरक व्याख्यान कर दिया। फल यह हुआ कि यह निरीश्वरवादिता परमर्षि आदि विद्वान् कपिलके नामसे कथन की जाने लगी और वृत्तिकारोंके दोषसे पूजनीय महामुनि कलङ्कित हुये।

षडध्यायी सांख्यसूत्र कपिल प्रोक्त नहीं है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या वृत्तिकारों वा भाष्यकारोंके लेखमात्रसे कपिलपर नास्तिकताका दोष लग सकता है? कभी नहीं। सभी वृत्तिकार प्रायः अपनी धारणा और सूझके आधीन होकर ही वृत्तिरचना करते हैं। धारणायें देश, काल, परिस्थितिके अनुसार बदलती रहती हैं। कई बार साम्प्रदायिक हठ और कई बार अपने ही विचारोंके पक्षपातके कारण वृत्तिकार सूत्रोंके विरुद्ध अर्थ व्याख्यान करते हैं। सूत्र ग्रंथके सम्बन्धमें मूल सूत्रकारका अभिप्राय क्या है इसका मूल सूत्रकारद्वारा लिखित कोई लेखबद्ध ग्रंथ न होनेसे कोई निर्णय नहीं हो पाता। इसीलिये वामन जैसे सूत्रकारोंने अपने सूत्र ग्रंथोंकी वृत्तिकी स्वयं रचना की है। अतः सूत्रग्रंथोंके वृत्तिकारों वा भाष्यकारोंका जो मत उनके लेखसे ध्वनित होता है, वह उन्हींका समझना चाहिये न कि मूल सूत्रकारका अतः सांख्य ग्रन्थोंपर निरीश्वरवादिताका जो आक्षेप है उससे वृत्तिकार दूषित हो सकते हैं, न कि आदि विद्वान् महामुनि कपिल।

दूसरा प्रश्न उठता है कि सांख्यका उपलब्ध षडध्यायी सूत्रग्रंथ जिसकी ' सांख्य-प्रवचन ' संज्ञा है, क्या कपिल-प्रोक्त है? इसका समाधान निम्न प्रकार है—

सांख्यशास्त्रके तीन ग्रन्थ आजकल उपलब्ध होते हैं,--(१) तत्त्वसमास, (२) सांख्यकारिका (३) सांख्य-प्रवचनसूत्र—

(१) तत्त्वसमास—उपलब्ध इन तीनों सांख्यग्रन्थोंमें तत्त्वसमास सबसे प्राचीन है। अति संक्षिप्त और सरल २२ सूत्रोंमें इसकी रचना की गई है। इसका चौथा सूत्र है—'पुरुषः'। इसके अतिरिक्त अन्य कहीं भी पुरुष वा जीव वा ईश्वर वा परब्रह्मके सम्बन्धमें कोई चर्चा नहीं है। अतएव यह ग्रन्थ ईश्वरका निषेध करता है, यह हम नहीं मान सकते। पुरुषः की विशेष व्याख्या "षड् दर्शन-समन्वय" ग्रंथमें देखनी चाहिये। इस तत्त्व समास पर "सांख्य-तत्त्वविवेचनम्" "सांख्यतत्त्व याथार्थ्य दीपन," समाससूत्र व्याख्या" "सर्वोपकारिणी टीका" "सांख्यसूत्र-विवरणम्" "तत्त्वसमाससूत्र-वृत्तिः" ये वृत्तियां प्रकाशित हुई हैं। ये सभी टीकाकार इन सूत्रोंको कपिलप्रोक्त बताते हैं।

सर्वोपकारिणी टीकाके टीकाकारने लिखा है--" अनादि क्लेशकर्मवासना समुद्रमें पडे हुये अनाथ दीनोंके उद्धारकी इच्छा करनेवाले परम कृपालु जिनको तत्त्वज्ञान स्वतः सिद्ध है ऐसे महर्षि भगवान् कपिलने बाईस सूत्रोंका उपदेश दिया। "सूचनात् सूत्रम्" यह व्युत्पत्ति है। इसलिये इनसे समस्त तत्त्वोंका-सकल षष्टितन्त्रार्थोंका सूचन हो जाता है। और इसलिये कि यह सकल सांख्यतीर्थ (शास्त्र)का मूलभूत है। अन्य तीर्थ (शास्त्र) इसके ही-प्रपञ्चभूत हैं। सूत्र षडध्यायी तो वैश्वानरके अवतार महर्षि भगवान् कपिलद्वारा प्रणीत है, यह तो उसकी भी बीजभूता द्वाविंशती सूत्री नारायणावतार महर्षि भगवत् कपिलप्रणीता है ऐसा वृद्धाचार्य कहते हैं।

सर्वोपकारिणी टीकाकारके मत उल्लेख करनेका हमारा अभिप्राय इन दो कपिलमेंसे किसी एकका निर्णय करना नहीं है, अपितु इसका उल्लेख इसलिये किया है कि इसके कथनानुसार भी तत्त्वसमास और षडध्यायीके लेखक एक नहीं हैं।

जबतक विरोधी प्रमाण न मिले तबतक ये सूत्र कपिल प्रोक्त माने जांय इसमें हमारा मतभेद नहीं है, परन्तु निश्चय-पूर्वक यह कहना कि यह कपिलप्रोक्त ही हैं,—कठिन है। कारण कि प्रमाणरूपमें ये कहीं भी अभी तक उद्धृत किये गये नहीं मिले हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि भगवान् व्यासने योगभाष्यमें सांख्य सिद्धान्त दर्शानेके लिये पञ्चशिखाचार्यके सूत्रोंको उद्धृत किया है, न कि इनको। श्री शङ्कराचार्यने भी सांख्य कारिकाओंका ही आश्रय लिया है। अतः मेरी सम्मतिमें अब भी इसका मूल लेखक अन्वेषणीय है।

तत्त्वसमासके कपिलप्रोक्त होनेके पक्षमें यह कहा जा सकता है कि भगवान कपिलने अति संक्षिप्त रूपसे आसुरीको उपदेश दिया था। सृष्टिके आदिमें साधनचतुष्टययुक्त, शुद्धान्तःकरणवाले आसुरीको विस्तारसे ज्ञान देनेकी आवश्यकता नहीं थी। उस समय संकेतमात्रसे ही ज्ञानका ग्रहण हो जाता था। अतएव भगवान् कपिलने भी—अष्टौ प्रकृतयः ॥ १ ॥ षोडशविकाराः ॥२॥ पुरुषः॥३॥ त्रैगुण्यम् ॥ ४ ॥ इस प्रकारके सङ्केतसूत्रोंद्वारा आसुरीको प्रकृति पुरुषका विवेक कराकर मोक्षलाभ करा दिया हो यह सम्भव है। प्रमाणरूपसे इन सूत्रोंके उद्धृत न किये जानेका कारण यह हो सकता है कि इनमें तत्त्वोंका परिगणन मात्र है, पक्ष-प्रतिपक्षके स्थापन खण्डनद्वारा किन्हीं सिद्धान्तों की पुष्टि नहीं की गई है, अतः वादीके विचारके लिये ये सूत्र उतने उपयोगी सिद्ध न हो सकते हों।

(२) सांख्यकारिका— यह सांख्यका लोकप्रिय और प्रामाणिक ग्रन्थ है। वाचस्पतिमिश्रने इसीपर सांख्यतत्त्व-कौमुदी नामसे टीका लिखी है। गौडपादाचार्यकृत टीका भी सुप्रसिद्ध है। माठरवृत्ति सबसे प्राचीन मानी जाती है। शंकराचार्य जैसे दार्शनिकने भी शारीरिक भाष्यमें सांख्य मतके उपन्यास करनेके समय सांख्यसूत्रका निर्देश न करके इन्हीं कारिकाओंका उद्धरण दिया है। केवल यही एक बात इसकी प्रामाणिकताकी पुष्टिके लिये पर्याप्त है।

यह ग्रन्थ ईश्वर कृष्ण आर्य द्वारा रचा गया है। चीनी भाषामें भी वृत्तिसहित इस ग्रन्थकी उपलब्धि हुई है। ईश्वर कृष्ण ईसाकी प्रथम शताब्दीकालके माने जाते हैं। अतः यह ग्रन्थ दो सहस्र वर्ष प्राचीन है।

इन कारिकाओंमें भी स्वयं कहीं भी ईश्वरका वर्णन वा निषेध नहीं है। पुरुषका वर्णन अवश्य है। हाँ, "वत्स-विवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य" इस ५७वीं कारिकाकी व्याख्यामें कतिपय टीकाकारोंने ईश्वरनिषेधकी

खींचातानी अवश्य की है, पर यह उनका हठ, दुःस्साहस या बलात्कार है। इसलिये इसके दोषी वे टीकाकार ही हैं न कि ईश्वर कृष्ण आर्य।

(३) सांख्यप्रवचनसूत्र—इस ग्रन्थमें ५२७ सूत्र हैं। यह छः अध्यायोंमें विभक्त है। इसपर तीन व्याख्या ग्रन्थ मिलते हैं,—(१) अनिरुद्ध वृत्तिः (२) विज्ञानभिक्षुकृत-प्रवचनभाष्य (३) वेदान्ती महादेव कृत टीका ग्रन्थ।

इनमें अनिरुद्धवृत्ति प्राचीनतमा है। अनिरुद्ध, तत्त्व-कौमुदीकार वाचस्पतिमिश्र और सर्वदर्शनसंग्रहकार सायण माधवाचार्यसे अर्वाचीन हैं, ऐसा उनके टीका ग्रन्थमें उद्धृत तत्त्वकौमुदी और सर्वदर्शनसंग्रहके पङ्क्ति विशेषके दर्शनसे अनुमान होता है। विज्ञानभिक्षुने अपने प्रवचन भाष्यमें कई जगह जिस सूत्र व्याख्याकारके मतकी आलोचना की है वह अनिरुद्ध सूत्रव्याख्याकार अनिरुद्धके सिवा अन्य कोई नहीं हैं। फलतः अनिरुद्ध सायणमाधवाचार्य और विज्ञानभिक्षुके मध्यकालके ठहरते हैं। फलतः ईसाकी पन्द्रहवीं शताब्दीमें इनका होना पाया जाता है। अनिरुद्ध सांख्यप्रवचनसूत्रोंको कपिलकृत ही मानते हैं। जैसा कि इन्होंने लिखा है— परमकारुणिकः महामुनिः जगदुद्दिधीर्षुः कपिलो मोक्षशास्त्रमारभमाणः प्रथमं सूत्रं चकार।

प्रवचनभाष्य विज्ञानभिक्षुकृत है। १६ वीं शताब्दीके प्रथमार्धमें ये काशीमें ही विद्यमान थे। फलतः प्रवचनभाष्य १६ वीं शताब्दीके प्रारम्भ होनेके कुछ वर्ष बाद वा उसके प्रथमार्धमें रचा गया— यह कहा जा सकता है। यह भाष्य प्रामाणिक माना जाता है।

विज्ञानभिक्षु सांख्यके अन्तिम आचार्य हैं। उनके कालमें सांख्यशास्त्रका पठन-पाठन, प्रचार बहुत क्षीण हो चला था। यह इनके इस लेखसे पता लगता है—

कालार्कभक्षितं साङ्ख्यशास्त्रं ज्ञानसुधाकरम्।
कलाऽवशिष्टं भूयोऽपि पूरयिष्ये वचोऽमृतैः॥

(प्र० भा० भूमिका)

ज्ञानसुधाकी खान सांख्यशास्त्रको कालरूपी सूर्यने खा लिया है। जो कलामात्र बचा है, उसको मैं पुनः वाणीरूपी अमृतसे भरूंगा।

और सचमुच उन्होंने सांख्यशास्त्रको अपने वचोऽमृतसे लेकर ज्ञान सुधाकर बना दिया। प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्यद्वारा शारीरिक भाष्यमें लिखित इस वाक्यने कि "सांख्य ही हमारे अखाडेका प्रधान मल्ल है" नवीन वेदान्तियोंको सांख्यशास्त्र पढनेसे विमुख कर दिया। नवीन वेदान्तका बोलबाला होने तथा उसके द्वारा सांख्यका लगातार प्रतिवाद होनेसे लोगोंकी रुचि इसके अध्ययनाध्यापनमें न्यून हो गई। सांख्यको पुनः उसके महनीय परम-प्रतिष्ठित पदपर आसीन करनेका श्रेय और सुयश विज्ञान-भिक्षुको ही है। साङ्ख्यके उद्धारकी इन्हें लगन थी। इन्होंने सांख्यके लुप्त गौरवका उद्धार किया है, सांख्यके निरीश्वरवादके लाञ्छनको हटाकर पुनः सेश्वरवाद की स्थापना की है। इस तन्त्रप्रणालीको पुनः जागृत करने तथा पुनरुज्जीवित करनेमें जितना श्लाघनीय उद्योग विज्ञान-भिक्षुने किया है, वैसा किसीने नहीं किया।

विज्ञानभिक्षु भी इस षडध्यायी सूत्रग्रन्थको कपिल मुनि रचित मानते हैं। प्रवचन भाष्यमें इन्होंने लिखा है,—

"नन्वेवमपि तत्त्वसमासाख्यसूत्रैः सहास्याः षडध्याय्याः पौनरुक्त्यमिति चेत्? मैवम्; संक्षेपविस्तररूपेणोभयोरप्यपौनरुक्त्यात्, अतएवास्याः षडध्याय्या योगदर्शनस्येव साङ्ख्यप्रवचनसंज्ञायुक्ता। तत्त्वसमासाख्यं हि यत् संक्षिप्तं साङ्ख्यदर्शनं तस्यैव प्रकर्षेणास्यां निर्वचनमिति। विशेषस्त्वयं यत् षडध्याय्यां तत्त्वसमासाख्योक्तार्थविस्तर मात्रम्, योगदर्शने त्वाभ्यामभ्युपगमवादप्रतिषिद्धस्यैवेश्वरस्य निरूपणेन न्यूनता परिहारोऽपीति"॥

(प्रश्न) "ननु-इस तरहसे भी तो तत्त्वसमासाख्य सूत्रोंके साथ इस षडध्यायीकी पुनरुक्तता होगी? (उत्तर) ऐसा मत कहो, संक्षेप विस्ताररूपसे दोनोंकी भी अपुनरुक्तता है, अतएव इस षडध्यायीका योगदर्शनकी तरह ही सांख्य-प्रवचनसंज्ञा युक्त है। क्योंकि तत्त्वसमास नामक जो सांख्य-दर्शन है उसका ही प्रकर्षसे उसमें निर्वचन है। विशेष तो यह है, कि षडध्यायीमें तत्त्वसमासाख्योक्त अर्थका विस्तार मात्र है, और योगदर्शनमें तो इन दोनों द्वारा अभ्युपगमवादसे प्रतिषिद्ध ईश्वरके निरूपणसे न्यूनताका परिहार भी है।"

यह तो हुई प्राचीनोंकी बात। विज्ञानभिक्षुने एक युक्ति यह दी है कि योगप्रवचनकी तरह षडध्यायीका नाम भी सांख्य-प्रवचन है। क्योंकि तत्त्वसमास नामक संक्षिप्त सांख्यदर्शनका ही इसमें प्रकर्षतया निर्वचन है। परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि (१) इसके सदृश वह कौनसा संक्षिप्त योगदर्शन है जिसका प्रकर्षेण निर्वचन 'योग-प्रवचन' में किया गया है? (२) संक्षेप और विस्तार रूपसे दो दर्शनग्रन्थोंके निर्माणकी कपिलको आवश्यकता क्यों पड़ी? क्या षडध्यायीके निर्माणसे ही 'तत्त्वसमास' की गतार्थता नहीं हो जाती? (३) अन्य किसी दर्शन ग्रन्थका ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जो संक्षेप और विस्तार रूपसे दो प्रकारका निर्माण किया गया हो? उदाहरणके लिये मीमांसा जैसे बृहत् दर्शन का संक्षिप्त संस्करण होता तो अच्छा था।

आधुनिक विद्वानोंका मत— आधुनिक आलोचक विद्वान् इसकी प्राचीनताको माननेके लिये तैयार नहीं है। उनकी सम्मतिमें इस ग्रन्थकी रचनाका समय चतुर्दश शताब्दी है।

इसके प्राचीन न होनेमें जो युक्तियां दी जाती हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) अनिरुद्ध पन्द्रहवीं शताब्दीमें हुये हैं, उनसे पूर्व किसीकी टीका नहीं मिलती।

(२) कपिलप्रोक्तशास्त्र अतिसंक्षिप्त था। यह विस्तृत है। एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ। (सां० का० ७०) पर जयमंगला टीकाने एक छोटीसी गाथा लिखी है—

'मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ' इति। कपिलस्य महामुनेः सहोत्पन्नाश्चत्वारो धर्मादयः। तत्र ज्ञानाख्येन भावनान्धे तमसि वर्तमानं जगत् दृष्टवतो मुनेः करुणोत्पन्ना। तया च प्रर्यमाण आसुरिं सगोत्रब्राह्मणं वर्षसहस्रयाजिन-मागत्योवाच। 'आसुर रमसे त्वं गृहस्थ-धर्मेण' इति। स तमाह—''भगवन् न रमे-ऽहम्'' इति। पुनर्वर्षसहस्रे पूर्णे तं गत्वा तथोवाच। सोऽपि "भगवन् न रमेऽहम्" इत्युवाच। ततो मुनिना "यदि विरक्तस्त्वम् एहि ब्रह्मचर्यं चर" इत्यभाबुक्तः। स तु प्रतिपद्य गृहस्थधर्मं त्यक्त्वा प्रव्रजितः। तस्मै शिष्यायानुकम्पया संक्षिप्य दत्तवान्। आसुरि-रपि तदेव संक्षिप्तं पञ्चशिखाय स्वशिष्याया-ऽनुकम्पया प्रददौ॥

कपिल महामुनिके साथ ही धर्मादि चार भाव उत्पन्न हुये। ज्ञान नामक भावसे अन्धतमसमें वर्तमान जगत्को देखते हुये मुनिको करुणा उत्पन्न हुई। उस करुणासे प्रेरित होकर वे वर्षसहस्र याजी सगोत्र ब्राह्मण आसुरिके पास आकर बोले—"आसुर! गृहस्थधर्ममें रम रहे हो"। उसने उनको उत्तर दिया—"भगवन्! मैं नहीं रम रहा हूँ"। फिर वर्षसहस्र पूर्ण होनेपर मुनिने उसके पास जाकर वैसाही पूछा। वह भी "भगवन्! मैं नहीं रम रहा" यही बोला। तब मुनिने कहा— यदि तू विरक्त है, तो आ ब्रह्मचर्यका पालन कर। उसने यह स्वीकार करके गृहस्थधर्म-को छोड़कर प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। उस शिष्यपर अनु-कम्पा करके मुनिने संक्षेप से उपदेश दिया। आसुरिने भी वही संक्षिप्त उपदेश अपने शिष्य पञ्चशिखपर अनुकम्पा करके दिया।"

यही गाथा कुछ विस्तारके साथ माठर आदि वृत्तियोंमें लिखा हुई है। महर्षि कपिलने ग्रन्थ बनाया था, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि योगसूत्र १।२५ में पञ्चशिखाचार्यका वचन है—

आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारु-ण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।

आदि विद्वान् भगवान् परमर्षि कपिलने निर्माणचित्त (सांसारिकसंस्कारोंसे सर्वथा शून्यचित्त) के अधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुये आसुरिको करुणाभावसे शास्त्रका प्रवचन किया। परन्तु कपिलप्रोक्त वह शास्त्र इन वृत्तिकारों के लेखानुसार अतीव संक्षिप्त होना चाहिये। वर्षसहस्र याजी महाविद्वान् ब्राह्मण आसुरीको इस प्रकार आख्यान और पक्षप्रतिपक्षके खण्डन-मण्डनसे युक्त षडध्यायीका उपदेश देना सचमुच ही युक्तिसंगत नहीं ठहरता है।

सांख्यका इतिहास यही बताता है कि परमर्षि कपिलने अतिसंक्षिप्त शास्त्रका उपदेश आसुरीको दिया। आसुरीने यही संक्षिप्त शास्त्र पञ्चशिखको पढ़ाया और पञ्चशिखने इसके पश्चात्— तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् (सां.का.७०) पञ्चशिखने नाना प्रकारके ग्रन्थोंकी रचना की। पञ्चशिखाचार्यके ग्रन्थ आजकल अभीतक कोई नहीं मिले हैं, परन्तु विज्ञानभिक्षुके शिष्य भावागणेशके समय इनके ग्रन्थोंके होनेका उल्लेख मिलता है। जैसा कि तत्त्वयाथार्थ्यदीपनमें भावागणेशने लिखा है—

समाससूत्राण्यालम्ब्य व्याख्यां पञ्चशिखस्य च।
भावागणेशः कुरुते तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम् ॥२॥

"समाससूत्रों और पञ्चशिखकी व्याख्याका अवलम्बन करके भावागणेश तत्त्वयाथार्थ्यदीपनकी रचना करता है। यदि पञ्चशिखकी यह व्याख्या तत्त्वसमासपर ही हो तो इसके कपिलप्रोक्त होनेमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। परन्तु आश्चर्यकी बात तो यह है कि विज्ञानभिक्षुने कहीं भी अपने ग्रन्थोंमें पञ्चशिखकी व्याख्याका न उल्लेख किया है और न उद्धरण ही दिया है? अपने प्रवचनभाष्यमें भी पक्षपुष्टिके लिये सांख्यकारिकाओंको उद्धृत किया है, तत्त्वसमास या पञ्चशिखव्याख्याका उद्धरण नहीं दिया। तत्त्वसमासपर भी उन्होंने स्वयं लेखनी नहीं उठाई, अपितु इसकी व्याख्याका भार अपने शिष्यपर डाल दिया।

श्री पं० राजारामजी प्रोफेसर डी. ए. वी. कालेज लाहौरने स्वरचित ग्रन्थ सांख्यशास्त्रकी भूमिकामें पृष्ठ ८ पर तत्त्वसमासकी एक प्रतिका उल्लेख किया है जिसके आदि और अन्तमें "कपिलमुनिप्रणीतं तत्त्वसमासाख्यं सांख्यदर्शनम्" लिखा है। इसमें २२ सूत्र हैं और भाष्य सनन्दनाचार्यकृत है। दुर्भाग्यकी बात है कि पं०जीने सनन्दनाचार्यके भाष्यको मुद्रित नहीं किया। न जाने उस ग्रन्थरत्नका क्या हुआ। उससे यह तो सिद्ध होता है कि तत्त्वसमास कपिलमुनिप्रणीत है।

अस्तु जो हो, इन उद्धरणोंसे यही सिद्ध होता है कि कपिलकृत ग्रन्थ संक्षिप्त था, अतः षडध्यायी कपिलकृत नहीं है। और ऐसा कहीं नहीं लेख मिलता कि परमर्षि-रासुरये जिज्ञासमानाय संक्षेपविस्तररूपेण द्विविधं तन्त्रं प्रोवाच' "परमर्षि कपिलने आसुरीको संक्षेप विस्तार रूपसे दो प्रकारके शास्त्रका उपदेश दिया—" अतः षडध्यायीकी पुनरुक्तताको हटानेके लिये विज्ञानभिक्षुने जो कुछ कहा है, वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

(२) [ख] सूत्र ५।१२३ का "स्मृतेश्च" पाठ स्मृतिकालके बाद इसकी रचनाका होना सिद्ध करता है। कपिलका काल इससे पूर्व है। अतः यह तत्प्रणीत नहीं हो सकता।

(३) श्री वाचस्पतिमिश्र एक बड़े योग्य दार्शनिक हुये हैं। उन्होंने छहों दर्शनोंपर अपने ग्रन्थ रचे हैं वैशेषिक, न्याय, योग और वेदान्तपर तो भाष्य पहले विद्यमान थे, अतः उन्होंने सीधा सूत्रोंपर नहीं, अपितु उनके प्रामाणिक भाष्योंपर अपनी टीका लिखी है। मीमांसापर भाष्य यद्यपि विद्यमान था, तथापि मीमांसामें दार्शनिक विचार बहुत थोड़े सूत्रोंमें है, शेषमें कर्मकाण्डकी इतिकर्तव्यतापर विचार है, अतः मीमांसाके दार्शनिक विचारोंको दर्शानेके लिये उन्होंने स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा है, पर सूत्रोंके प्रमाण उन ग्रन्थोंमें बराबर हैं। सांख्यपर वाचस्पतिने अपनी टीका लिखनेके लिये कारिकाओंको ही चुना। यदि षडध्यायी सूत्र ग्रन्थ और उसपर भाष्य वाचस्पति मिश्रके समय वर्तमान होते तो इस सूत्रग्रन्थपर वा इसके सूत्र भाष्यपर अपनी टीका लिखते। उन्होंने अपनी टीकामें कहीं भी इन सूत्रोंका प्रमाण नहीं दिया है, यदि ये सूत्र उपलब्ध होते, तो वे इतने उदासीन न होते कि उनपर टीका न लिखें तो न लिखें, उनका कहीं प्रमाणरूपसे उल्लेख भी न करें। इससे स्पष्ट है कि षडध्यायी सूत्र ग्रन्थ उनके सामने था ही नहीं, कारिकायें ही थीं। अतः इनका निर्माण वाचस्पतिमिश्रके बाद हुआ है।

(४) श्री शंकराचार्यने अपने शारीरिक भाष्यमें सांख्यमतका उपन्यास कारिकाके द्वारा किया है। उनके समय भी ये सूत्र उपलब्ध नहीं थे। किञ्च, विज्ञानभिक्षुने अपने भाष्यमें कई जगह कारिकाओंके प्रमाण देनेकी आवश्यकता समझी, परन्तु वाचस्पतिने अपनी कारिका-

टीकामें कहीं भी प्रमाणरूपसे सूत्रोंको नहीं दिया है। जब आचार्योंने सब जगह प्रमाणरूपसे अन्य दर्शनोंके सूत्र ही उद्धृत किये हैं, तो भी शंकर जैसे आचार्योंने जो इन सूत्रोंको उद्धृत न करके कारिकाओंको उद्धृत किया है, इससे स्पष्ट है कि कपिलरचित नामसे या अन्य रूपमें भी ये सूत्र उनके सामने नहीं थे।

(५) षडध्यायी सूत्र ग्रन्थमें ५।३२ और ६।६८ में पञ्चशिखके मतका उल्लेख है। ५।३६ में पञ्चशिखके मतका खण्डन भी किया गया है। ६।६९ में सनन्दाचार्यके मतका उल्लेख है। आचार्याः कहकर सांख्यके तथा अन्य मतोंके आचार्योंके मतका उल्लेख किया गया है। सांख्यकी शिष्य परम्परा यह है। कपिलके साक्षात् शिष्य आसुरी थे। आसुरीके साक्षात् शिष्य पञ्चशिख थे। पञ्चशिख और विज्ञानभिक्षुके मध्यकालीन निम्न प्रमुख सांख्याचार्योंके नाम यत्र तत्र ग्रन्थोंमें मिलते हैं,— पतञ्जलि, जैगीषव्य वार्षगण्य, सनन्दनाचार्य, विन्ध्यवासी (रुद्रिल), जनक, पराशर (बादरी), व्यास, भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल, वाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, कौण्डिन्य, मूक, गर्ग, गौतम, ईश्वर कृष्ण आर्य।

पञ्चशिख और सनन्दनाचार्यके मतके उद्धृत किये जानेसे यह सिद्ध है कि उनके बादका यह ग्रन्थ बना है। पञ्चशिख आसुरीका शिष्य है। आसुरिने परमर्षि कपिलसे सांख्यशास्त्र पढनेके बाद उसको पढाया। तब उसे सांख्यशास्त्रका ज्ञान हुआ। जब पञ्चशिखको सांख्यशास्त्रका ज्ञान भी न था तब उसका मत, उसके गुरु आसुरीको कपिल कैसे पढा सकते थे। अतः षडध्यायीको कपिलरचित कहना हास्यास्पद ही प्रतीत होता है।

(६) इसमें न्याय, वैशेषिक, नवीन वेदान्त, जैन, पाशुपत, बौद्ध, चार्वाक आदिके सिद्धान्तोंका उल्लेख कर खण्डन किया गया है, अतः यह ग्रन्थ इन सबके पीछेका प्रतीत होता है। अतः यह आधुनिक है। आदि विद्वान् रचित नहीं हो सकता। नवीन परिष्कृत वेदान्त और न्यायके पारिभाषिक शब्दोंका उल्लेख भी इसमें मिलता है। उदाहरणके लिये १।२०-२५ में अविद्याका, ५।५४-५७ में अनिर्वचनीय ख्याति, अन्यथाख्याति, सदसत्ख्यातिका ६।५ में अनवच्छेदका उल्लेख है। अतः इन पारिभाषिक शब्दोंके निर्माणके पीछे इसका रचा जाना सिद्ध है।

(७) सूत्रोंकी रचना कारिकाके साँचेमें ढली है। पूरी जगह पूरी कारिका, तीन जगह कारिकार्ध, कई जगह कारिकापाद ज्योंके त्यों उद्धृत किये गये हैं। कई जगह थोड़ा सा हेरफेर है। उदाहरणके लिये,—हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् (सांख्यसूत्र १।१२४), और सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्यावायवः पञ्च (२।३१) ये दो सूत्र कारिका १० और २९ से ज्योंका त्यों मिलते हैं। कारिका २५ का पूर्वार्ध है "सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्," इसके स्थानपर सूत्र २।१८ है सात्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्," इसमें केवल पुल्लिंग नपुंसकका भेद है। क्रियाका मध्यमें आना छन्दो रचनाके लिये कारिकाकारको अभीष्ट था न कि सूत्रकारको। अतः यह कारिकाकी नकल है। कारिकापादके उदाहरण देखिये,—

कारिका १७ है—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥

सूत्र १।१४० से १४४ तक इस तरह है—

संहतपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययात्,
अधिष्ठानाच्चेति, भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च

कारिका ९ है —

शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च।

सूत्र १।११७, ११८ हैं,—

शक्तस्य शक्य करणात्' कारणभावाच्च।

कारिका १५ है,—

परिणामात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च॥

सूत्र १।१३० से १३२ तकका पाठ है —

परिणामात्, समन्वयात्, शक्तितश्चेति॥

कारिका ५४ का पाठ है,—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजो विशालो, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः॥

सूत्र ३,४८,४९,५०,४७ में पाठ है—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला, तमोविशाला मूलतः, मध्ये

रजो विशाला, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम् ॥
कारिका ८ है— सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः।
सूत्र १।१०९ में भी यही पाठ है।

सूत्रोंमें जहाँ कारिकाके पाठ थोडे भेदके साथ दिये गये हैं, उसके कुछ उदाहरण देखिये,—

कारिका १२ में है,— प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः॥
सूत्र १।१२७ में है,— प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः॥
कारिका ६७ में है,— चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः।
सूत्र ३।८२ में है— चक्रभ्रमणवद्-धृतशरीरः॥

इस 'धृतशरीरः' पदको 'तिष्ठति' की आकाङ्क्षा है, यह पद कारिकामें विद्यमान है, सूत्रमें इसका अध्याहार करना पडता है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि सूत्रोंमें ये छन्दोबद्ध रचनाएँ अपने आप नहीं हो गई, कहीं एक दो हो जाती तो आश्चर्यकी बात नहीं थी, पर इतनी जगह कारिकाओंके साथ रचनामें इतनी समानता होना कि दोनों हूबहू मिल जायें, यह निश्चय करनेको बाध्य करती हैं कि सूत्रोंकी रचना कारिकाओंके आधार पर हुई है और इसके पीछे ये सूत्र रचे गये हैं।

इस षडध्यायी सूत्र ग्रन्थके रचयिताने सूत्र निर्माणमें छन्दोंकी नकल करते हुये सूत्र निर्माणके उद्देश्यको ही नष्ट कर दिया है। सूत्रका लक्षण है,—

स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

सूत्रनिर्माण इसलिये किये जाते हैं कि स्वल्पाक्षरों द्वारा असन्दिग्ध बह्वर्थका प्रतिपादन किया जा सके। सूत्रोंमें अक्षरोंका लाघव होना चाहिये, इसके लिये उक्ति है— "अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः" यदि सूत्रनिर्माणमें आधीमात्राका भी लाघव हो जाये तो सूत्रकारको पुत्रजन्मके समान हर्ष होता है। सांख्यसूत्रोंमें कारिकाओंकी नकलसे सूत्र स्वल्पाक्षर न होकर बह्वक्षर हो गये हैं, जो सूत्रनिर्माणके प्रयोजनके विरुद्ध है। यदि कारिकाओंकी नकल न की जाती तो इनसे भी संक्षिप्त सूत्रोंका सरलतासे निर्माण किया जा सकता था।

इस सूत्र ग्रन्थकी रचना अन्य दर्शनके सूत्रग्रन्थोंके समान गूढ, गम्भीर और सुसम्बद्ध नहीं है। कितनी जगह सूत्रोंसे स्पष्ट अर्थका पता नहीं चलता। कई जगह प्रकरण टूट गया है। सूत्रोंकी और विषयोंकी पुनरुक्ति कई स्थलों पर हुई है। अतः किसीके द्वारा संग्रह किया गया प्रतीत होता है। कपिलकी रचना नहीं है। इत्यादि हेतुओंसे ये सूत्र कारिकासे नवीन हैं। कारिका कपिलके उपदेशके बहुत पीछे ईसाकी प्रथम शताब्दीमें निर्माण की गई है। पञ्चशिखके शिष्य विदेह जनककी अवस्थिति रामायण कालमें पाई जाती है, जो कि ईसासे कई सौ शताब्दी पूर्व है। कपिल इससे भी बहुत पूर्वके हैं।

सांख्यप्रवचन सूत्रमें ईश्वरविषयक स्थल

अब यह तो निश्चित हो गया कि तत्त्वसमास ही कपिलप्रणीत हो सकता है, न कि सांख्यप्रवचन सूत्र। तत्त्वसमास और सांख्य कारिका ईश्वरका निषेध नहीं करते। सांख्यसूत्रका ईश्वर विषयमें क्या मत है, इसे दर्शानेके लिये प्रथम वृत्तिकार और भाष्यकारके मतका उल्लेख करूंगा। यह उल्लेख आर्यभाषामें अनुवादरूपमें ही होगा, जो मूलको संस्कृत भाषामें देखना चाहें वे मूल ग्रन्थोंमें देख सकते हैं। क्योंकि संस्कृत पाठ भी देनेसे उद्धरण बहुत लम्बा हो जाता; अतः अनुवाद ही देना उचित समझा है। इन दोनोंका मत दिखानेके पश्चात् आजकलके विद्वानोंका मत दिखाया जायेगा। ततः कपिल ईश्वरको मानते थे, इसको प्रमाणों द्वारा सिद्धि की जायेगी। प्राचीन सांख्य ईश्वरवादी था, निरीश्वरवाद बहुत पीछे सांख्यमें घुसेडा गया है, इसका भी प्रसंगके अनुसार वर्णन किया जायेगा। ततः सांख्य प्रवचन-सूत्र ईश्वरका निषेध नहीं, अपितु सिद्धि करता है, इसका दिग्दर्शन कराया जायेगा, अन्तमें "सांख्यदर्शनमें ईश्वरका स्वरूप क्या है, इसका वर्णन किया जायगा।

सांख्यप्रवचनसूत्रोंमें अध्याय १ के ९२ से ९९ सूत्रों तक, अध्याय ३ के ५६ और ५७ सूत्रमें तथा अध्याय ५ के २ सूत्रसे १२ सूत्रतक में ईश्वर का चर्चा की गई है। अनिरुद्ध ने २।१ पर भी ईश्वरविषयमें कुछ कहा है।

अनिरुद्धका मत

संगति- सूत्र १।८९ में यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् इससे प्रत्यक्षका लक्षण किया गया है।

(अध्याय १)

अनिरुद्धवृत्ति— यह ईश्वर प्रत्यक्षका लक्षण नहीं है, इसका उत्तर देते हैं,—

ईश्वरासिद्धेः ॥ ९२ ॥

यदि ईश्वरकी सिद्धिमें प्रमाण है, तब तो उसके प्रत्यक्ष (प्रमाण) की चिन्ता उत्पन्न होती है। वह (तत्सिद्धिमें प्रमाण) ही तो नहीं है। यदि यह कहो कि, "क्षित्यादि सकर्तृक हैं, कार्य्य होनेसे,"— यह अनुमान प्रमाण है, तो क्या वह शरीरी है अथवा अशरीरी है? इस प्रकार दोनों तरहसे भी कर्तृत्वका असम्भव होनेसे, विशेषवादि योंके (मतमें सकर्तृकत्व साधक हेतुमें) कार्य्यत्वका अभाव होनेसे (ईश्वर सिद्ध नहीं होता)। इस विषयका अन्यत्र बहुत प्रपञ्च किया गया है।

अन्य युक्ति कहते हैं,—

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ॥ ९३ ॥

वह ईश्वर क्या बद्ध है वा मुक्त है? यदि बद्ध है तब तो उसको धर्माधर्मका योग होनेसे ईश्वरत्व नहीं है उसे असर्वज्ञता प्राप्त होगी। यदि मुक्त है तब ज्ञानचिकीर्षा प्रयत्नका अभाव होनेसे कर्तृत्व नहीं होगा– इस प्रकार ईश्वरकी सिद्धि नहीं है।

अथ अन्य= बद्धमुक्तसे भिन्न ही यह (ईश्वर) जीवन्मुक्त है,—ऐसा कहें तो? यदि ऐसा कहो तो (तथा विध ईश्वर के अनुमानमें व्याप्तिग्राहक) दृष्टान्तका अभाव होनेके कारण हेतुकी असाधारणता होगी।

इसीको निम्न सूत्रसे कहते हैं,—

उभयथाऽप्यसत्करत्वम् ॥ ९३ ॥

ऊपर इस सूत्रका व्याख्यान कर चुके हैं॥

यदि ऐसा है, तब तो ' स हि सर्ववित् सर्वस्य कर्त्ता, इत्यादि श्रुतिका बोध होगा। इसका उत्तर देते हैं,—

मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा ॥९५॥

रागादिका अभाव होनेसे जो मुक्तात्माके तुल्य है ऐसे मुक्तात्माकी, मुक्तात्माकी तो नहीं; क्योंकि उसमें संकल्प-कर्तृत्वादिका अभाव है। उसकी प्रशंसा विधिवाक्यके उपलम्भनके लिये है। उपासासिद्धस्य वा इति। उपासनाद्वारा लब्धातिशय अणिमादिसिद्ध योगीकी प्रशंसा अभ्यासके उत्तम्भनके लिये है।

चेतनके अधिष्ठानके बिना अचेतन प्रवृत्त नहीं होता है, इस युक्तिसे भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती, यह कहते हैं,—

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥९६॥

जैसे प्रतिबिम्बित (चित्रित) शरीरमें मणि (दर्पण) के चलनेपर शरीरके न चलनेपर " शरीर चलता है " यह अभिमान होता है, उसी प्रकार तत्सन्निधानात् — आत्माके प्रकृति प्रतिबिम्बित होनेके कारण प्रकृतिके कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अधिष्ठातृत्वका आत्मा अपनेमें अभिमान कर लेता है। इसलिये अधिष्ठाता चेतन है, यह अभिप्राय है। तथा च—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते॥

सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जा रहे हैं। अहङ्कारसे विमूढ आत्मा उन कर्मोंका 'कर्ता मैं हूँ' यह मान लेता है।

यदि चेतनका अधिष्ठातृत्व नहीं है, तब तो मृतशरीरकी भी आहारादि क्रिया होनी चाहिये? अतः कहते हैं—

विशेषकार्य्येऽपि जीवानाम् ॥९७॥

वायुयुक्त बुद्ध्यादि जीव हैं, न कि आत्मा जीव है। आहारादि विशेष कार्यमें भी जीवोंका ही कर्तृत्व है, आत्माके अपरिणामी होनेके कारण (उसका कर्तृत्व नहीं है)।

आत्मामें यदि ज्ञान नहीं है, तो ज्ञानके लिये उपदेश किस प्रकार हो सकता है? इस विषयमें कहते हैं—

सिद्धरूपबोद्धृत्वाद् वाक्यार्थोपदेशः ॥९८॥

उत्तर सूत्रमें स्थित ' अन्तःकरणस्य ' इस पदका अनुषञ्जन कर लेना चाहिये। अथवा "वाक्यार्थोपदेशोऽन्तःकरणस्य" यहाँतक एक सूत्र है। उससे यह अर्थ होता है— महत्=अन्तःकरणके सिद्धरूपबोद्धृ = तात्त्विकरूपसे ज्ञाता होनेके कारण वाक्यार्थका उपदेश है, और तत्प्रतिबिम्बित होनेके कारण पुरुषका बोद्धृत्वाभिमान है।

इसीको स्पष्ट करते हैं,—

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वादधिष्ठातृत्वम् ॥९९॥

बुद्धिमें पुरुषच्छायापत्ति होनेसे तच्चैतन्येनोऽऽवलित अन्तःकरणका चेतनत्वाभिमान होनेके कारण अधिष्ठातृत्व है। लोहवत् इति- जैसे चुम्बक लोहा निष्क्रिय भी सन्निधिमात्रसे आकर्षण कर लेता है।

(अध्याय ३)

वह आत्मा किस स्वरूपवाला है, इस विषयमें कहते हैं,-

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता ॥५६॥

प्रकृति प्रतिबिम्बित होनेसे ऐसा अभिमान है।

तात्विक ही वर्तृत्व मान लो, प्रतिबिम्ब कल्पनासे क्या (लाभ)? तथा च न्यायाभिमतही ईश्वर है? इस विषयमें कहते हैं--

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥५७॥

यदि हमारा अभिमत आत्मा ईश्वर है, तो होवे, और न्यायाभिमतमें प्रमाण नहीं है। और इसका प्रथमाध्यायमें 'ईश्वरासिद्धेः' इस सूत्रमें खण्डन कर दिया है।

(अध्याय ५)

पूर्व सिद्ध ईश्वरासत्वको अब युक्तिसे कहते हैं,--

नेश्वराधिष्ठिते फलसम्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥२॥

यदि ईश्वर स्वतन्त्र (अदृष्ट निरपेक्ष) कर्त्ता है, कर्मके बिना भी (क्षित्यादिका निर्माण) कर लेवे? अथ कर्म सहकारी (क्षित्यादिका निर्माण) करता है, कर्मको ही कारण मान लो, ईश्वरसे क्या? और सहकारी प्रधानशक्तिका बाध नहीं करता है, स्वातन्त्र्यका विघात होनेसे। विश्व स्वार्थ और परार्थक कारण प्रवृत्ति देखी जाती है, और ईश्वरका कोई स्वार्थ नहीं है, परार्थक कारण प्रवृत्ति कहो तो कारुणिक ईश्वरकी दुःखमय सृष्टिकी अनुपपत्ति होगी। और परार्थ प्रवृत्ति है भी नहीं, क्योंकि परोपकारादिके द्वारा भी स्वार्थ लाभ होनेसे प्रवृत्ति होती है, इसलिये कर्मही जगत्कारण होवे?

इसको ही दिखाते हैं--

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत्।

और नित्यका स्वोपकार सम्भव नहीं है।

स्वोपकार ही होगा, इसका उत्तर देते हैं,--

लौकिकेश्वरवदितरथा ॥४॥

स्पष्ट यह अर्थ है।

अन्य दूषण कहते हैं,—

पारिभाषिको वा ॥५॥

प्रकृतितच्छायाऽऽपत्तिद्वारा तत्कर्तृत्वसे आत्माही कर्ता है, इस प्रकार उसकी ईश्वर संज्ञा है यह परिभाषा है।

अन्य हेतु कहते हैं,—

न रागादृते तत्सिद्धिः, प्रतिनियतकारणत्वात् ॥६॥

अविनाभावका कारणत्वव्यभिचार होनेपर सर्वत्र अनाश्वास होगा। और राग प्रवृत्ति निमित्त है, इसलिये उसके बिना जगन्निर्मातृत्व कैसे हो सकता है। और मुक्तका राग नहीं है।

रागही होगा, इसका उत्तर देते हैं--,

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥७॥

तद्योगेऽपि— रागयोग होनेपर भी।

प्रधानशक्तियोगसे कर्तृत्व होगा, इसका उत्तर देते हैं-

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ॥८॥

"असंगो ह्ययं पुरुषः" इससे विरोधापत्ति होगी।

प्रधानका सङ्ग नहीं, किन्तु प्रधानकी सत्तामात्रसे कर्तृत्व होगा, इसका उत्तर देते हैं,—

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥९॥

सब आत्माओंके प्रति प्रधानसत्ताका अविशेष होनेसे सर्वात्माओंका ईश्वरत्व होगा। ईश्वरसाधक प्रमाण है। तो किस प्रकार (ईश्वर निषेध करते हो)? इसका उत्तर देते हैं,—

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥१०॥

प्रत्यक्षप्रमाणका अभाव होनेसे।

अनुमान होगा, इस विषयमें कहते हैं,—

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥११॥

व्याप्तिके प्रत्यक्षपूर्वक होनेके कारण। उसका सम्बन्ध न होनेसे व्याप्ति ग्रह कहाँसे हो? और जो सहचार ग्रहका अविषय है उसका सम्बन्ध ग्रह नहीं होता।

शब्दप्रमाण होगा, इसका उत्तर देते हैं,—

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥१२॥

"प्रधानसे जगत् उत्पन्न होता है" ऐसी श्रुति है। इसलिये ईश्वरसाधक प्रमाण आभास हैं।

इसलिये प्रकृतमें प्रवाहका विच्छेद होता है।

(अध्याय २ सूत्र १)

स द्विविधः परश्चापरश्च इति। तथा चोक्तं—"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चापरमेव च" इति। विद्यैश्वर्याविशिष्टः संसारधर्मैः ईषदपि असंस्पृष्टः परः भगवान् महेश्वरः सर्वज्ञः सकलजननविधाता। सः कथं ज्ञातव्यः? अनुमानात् वा? आगमात् वा? तथाहि विवादाध्यासितम् उपलब्धं सकारणकम्, अभूत्वा भावित्वात्, चित्रवत् इति अनुमानम्। ततः सामान्येन अवगतस्य योगेन विशेषतो ज्ञानम्। अपरस्य च जीवस्य स्वानुभाव एव सिद्धिः। तयोश्च परापरयोः विवेकज्ञानाय प्रकृतेः प्रवृत्तिः।

वह आत्मा दो प्रकारका है—पर और अपर। तथा कहा भी है-"पर और अपर दोनों ब्रह्म जाननेके योग्य हैं' इति। विद्या और ऐश्वर्यसे विशिष्ट, संसार धर्मोंसे किञ्चित् भी असंस्पृष्ट परब्रह्म भगवान् महेश्वर सर्वज्ञ सबके उत्पादक होनेसे सकल-जनन-विधाता हैं। इन्हें किस प्रकार जानना चाहिये?

अनुमानसे? वा आगमसे?" तथाहि विवादाध्यसितं उपलब्धं सकारणकम्, अभूत्वा भावित्वात्, चित्रवत इति अनुमानम्"=जैसे कि "विवादास्पद उपलब्ध (प्रकृत्यादि जगत्), कारणवाला है. अभूत्वा=अनागत होने=प्रागभावप्रतियोगी होनेपर भावी विद्यमान होनेसे. चित्रकी तरह यह अनुमान है। (यथा चित्र पहले नहीं होता (प्रागभावप्रतियोगी), चित्रकार (कारण) के खींचनेपर चित्रपटपर वह दिखलाई देता है (भावी), इसी प्रकार प्रागभावप्रतियोगी जगत् जो इस समय भावरूपमें दिखलाई देता है, इसका कोई कारण होना चाहिये-(वह परमेश्वर है)" ततः—इस प्रकार सामान्य रूपसे ज्ञात परमात्माका योगके द्वारा विशेष रूपसे ज्ञान करना चाहिये।

और अपर जो जीव है उसकी स्वानुभवसे ही सिद्धि है। और उन दोनों पर तथा अपर आत्माके विवेकज्ञानके लिये प्रकृतिकी प्रवृत्ति है॥

अनिरुद्धकी परस्परविरुद्ध द्विविधोक्ति

अनिरुद्धने अपने लेखमें परस्परविरुद्ध दो प्रकारकी उक्तियोंका कथन किया है। प्रथमाध्यायमें वे कहते हैं ईश्वरसाधक प्रमाण नहीं हैं। पंचम अध्यायमें कहते हैं उसके साधक अनुमान और आगम नहीं हैं। ईश्वरसाधक प्रमाण प्रमाणाभास हैं। और द्वितीय अध्यायमें वे ही अनुमान और आगमके द्वारा सकल-जनन विधाता, सर्वज्ञ, भगवान् महेश्वरकी अनुमान और आगमद्वारा सिद्धि करते हैं। तृतीय अध्यायमें भी परमात्माका क्या स्वरूप है? इसके उत्तर सर्ववित् सर्वकर्ताका उन्होंने समाधान किया है कि प्रकृति प्रतिबिम्बित होनेसे ऐसा अभिमान है। अर्थात् यदि ईश्वरमें तात्त्विक कर्तृत्व न माना जाये तो सांख्यमतमें ईश्वरसिद्धि सिद्ध है। पर पाँचवेंमें इन्होंने फिर कहा कि पूर्वसिद्धम् ईश्वरासत्त्वं न्यायेन इदानीमाह—इन्होंने वृत्तिकार और प्रामाणिक ग्रन्थकर्ता होकर भी अपनी इन विरोधी उक्तियोंकी कहीं संगति दिखानेकी चेष्टा नहीं की। यदि लोकमें कोई पुरुष इस तरहके परस्पर विरोधी कथनोंको करे तो वह प्रमत्त माना जायेगा। लोकमें उसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकेगा। प्रतीत होता है कि अनिरुद्धके मनमें यह बात घर कर गई थी कि सांख्य 'सेश्वर और निरीश्वर' भेदसे दो प्रकारका है और इसीलिये वृत्ति लिखते समय दोनों बात लिख डाली। ईश्वरविषयक जो सूत्र थे उसे तो इन्होंने निरीश्वरवादमें लगा दिया, जब सेश्वर पक्षमें ईश्वरका स्वरूप निरूपण करनेके लिये कोई सूत्र न मिला तो अध्याय दो सूत्र एकमें (२।१) प्रसङ्ग निकालकर ईश्वरका स्वरूप वर्णन कर दिया।

वस्तुतः सांख्यका ईश्वर अनिरुद्ध के ही शब्दोंमें संसार धर्मैः ईषदसंस्पृष्ट है, और इससे उसपर कोई आक्षेप नहीं लगता।— यह ईश्वरका स्वरूप निरूपण करते समय सिद्ध हो जायगा। पर आश्चर्य यही है कि अनिरुद्ध इतने बड़े विद्वान् होकर भी प्रचलित भ्रान्तिके प्रवाहमें बह गये, उन्होंने अपना एक निश्चित मत लेकर वृत्ति नहीं लिखी। यदि वे ईश्वरवादी थे. तो जिन सूत्रोंको ईश्वरके निषेधमें लगाया है उनकी संगति ईश्वरपरक लगानी थी। यदि निरीश्वरवादी थे तो २।१ में स्पष्टताके साथ परमेश्वरके

स्वरूपका अनुमान और आगम प्रमाणद्वारा निरूपण नहीं करना चाहिये था। यही हाल उनका परिणामवादादिके सम्बन्धमें है। उन्होंने परिणामवाद, विवर्त्तवाद और आरम्भवाद इन तीनोंमेंसे किसका अवलम्बन कर साङ्ख्य की व्याख्या करनेमें प्रवृत्त हुए हैं,—इसका निर्णय अभी नहीं हो सका है। परिणामवादमें इनकी अतिशय श्रद्धा तो थी ही, पर कहीं कहीं वृत्तिग्रन्थमें आरम्भविवर्त्तवाद पक्षपातिनी उक्ति भी मिलती है।

अनिरुद्ध ईश्वरवादी हैं

चाहे जो हो, अनिरुद्ध शेषमें ईश्वरवादके प्रतिपादक होनेसे निरीश्वरवादीकी कोटिमें नहीं रखे जा सकते। समयके प्रवाहमें पड़कर उन्होंने चाहे भले ही सूत्रोंको ईश्वर निषेध परक लगाया, पर उनका प्रसंग निकालकर भी ईश्वरका निरूपण करना यह सिद्ध करता है कि वे ईश्वरवादी थे। हम भी यही कहते हैं कि वे ईश्वरवादी थे।

विज्ञानभिक्षुका मत

सांख्य-प्रवचन-भाष्यकी भूमिकामें दर्शनोंका समन्वय करते हुये न्याय वैशेषिकसे सांख्यका अविरोध दिखलानेके बाद पृष्ठ ३ से ६ तकमें भाष्यकार लिखते हैं—

अच्छा यह मान लेते हैं कि न्याय वैशेषिकसे इस विषयमें अविरोध है, परन्तु ब्रह्ममीमांसा और योगसे तो विरोध है ही, क्योंकि वे दोनों नित्येश्वरकी सिद्धि करते हैं और इसमें ईश्वरका प्रतिषेध किया गया है।

न चात्रापि०—यहाँ भी व्यावहारि-पारमार्थिक भेद-से सेश्वर-निरीश्वरवादका अविरोध है, सेश्वरवादका उपासना परत्व सम्भव होनेसे—ऐसा मत कहो, क्योंकि विनिगमकका अभाव है। ईश्वर दुर्ज्ञेय है, इसलिये ऐश्वर्य वैराग्यार्थ लोकव्यवहारसिद्ध निरीश्वरत्व भी अनुवादके लिये शक्य है, आत्माके सगुणत्व की तरह; श्रुत्यादिमें कहीं भी तो ईश्वरका स्फुटरूपसे प्रतिषेध नहीं किया गया है, जिससे सेश्वरवादका ही व्यावहारिकत्व अवधारित किया जाय, इति।

अत्रोच्यते० यहाँ इसका उत्तर दिया जाता है,—यहाँ भी व्यावहारिक पारमार्थिक भाव होता है—

"असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।"

(गीता० अ०, १६ श्लो० ८)

इत्यादि शास्त्रोंके द्वारा निरीश्वरवादके निन्दित होनेके कारण। इन्हीं शास्त्रमें व्यावहारिक ईश्वरप्रतिषेधका ही ऐश्वर्य वैराग्याद्यर्थ अनुवादत्वौचित्य होनेसे। क्योंकि यदि लोकायतिक मतके अनुसारसे नित्यैश्वर्यका प्रतिषेध नहीं किया जाय, तो परिपूर्ण नित्य निर्दोष ऐश्वर्यके दर्शनसे वहाँ चित्तावेश होनेके कारण विवेकाभ्यासका प्रतिबन्ध हो जायगा ऐसा साङ्ख्याचार्योंका आशय है। सेश्वरवादकी कहीं भी निन्दादिक नहीं है, जिससे उपासनादिपरतया उस शास्त्रका सङ्कोच किया जाय। जो तो—

"नास्तिसांख्य समं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्। अतः वः संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम्॥"

"सांख्यके समान ज्ञान नहीं है, योगसदृश बल नहीं है। इस विषयमें तुम्हें संशय नहीं होना चाहिये कि सांख्यज्ञान सर्वोत्कृष्ट माना गया है।" इत्यादि वाक्य हैं, वह विवेकांशमें ही सांख्यज्ञानका दर्शनान्तरोंसे उत्कर्ष प्रतिपादन करता है, न कि ईश्वर प्रतिषेधांशमें भी। तथा पराशराद्यखिलशिष्ट संवादसे भी सेश्वरवादका ही पारमार्थिकत्व अवधारित होता है। अपि च—

"अक्षपाद प्रणीते च काणादे सांख्य योगयोः। त्याज्यः श्रुतिविरुद्धांशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः॥ जैमिनीये च वैयासे विरुद्धांशो न कश्चन। श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने श्रुतिपारं गतौ हि तौ॥"

"श्रुति ही एक मात्र शरण है जिनकी ऐसे मनुष्योंको चाहिये कि वे अक्षपाद प्रणीत न्यायमेंसे, काणाद (वैशेषिक) मेंसे, तथा सांख्य और योगमेंसे श्रुतिविरुद्ध अंशका त्याग कर दें॥

जैमिनीय (मीमांसा) और व्यास (ब्रह्मसूत्र) में श्रुतिविरुद्धांश कोई नहीं है। श्रुतिके द्वारा वेदार्थज्ञानमें वे दोनों श्रुतिके पार चले गये हैं॥"

इति पराशरोपपुराणादिसे भी ब्रह्ममीमांसाका ईश्वरांशमें बलवत्त्व है॥ तथा—

"न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानिवादिभि ।
हेत्वागमसदाचारैर्यद्युक्तं तदुपास्यताम् ॥ "

" उन उन वादियोंने अनेक न्यायतन्त्रोंको कहा है। जो युक्ति, श्रुति और सदाचार शिष्टोंके आचरणसे युक्त हो, उसकी उपासना करो ॥ "

इति मोक्ष धर्म वाक्यसे भी पराशराद्यखिल शिष्ट जनोंके व्यवहारसे ब्रह्म—मीमांसा न्याय वैशेषिकाद्युक्त ईश्वर-साधक न्याय ही बलवान होनेके कारण ग्राह्य है। तथा-

"यं न पश्यन्ति योगेन्द्राः साङ्ख्या अपि महेश्वरम् । अनादिनिधनं ब्रह्म तमेव शरणं व्रज ॥ "

" बडे बडे योगी और साङ्ख्यज्ञानी भी जिस महेश्वरको नहीं देखते हैं, उसी अनादिनिधन ब्रह्मकी शरणमें तू जा ॥ "

इत्यादि कौर्मादि वाक्योंसे साङ्ख्योंके ईश्वरज्ञानका ही नारायणादिसे प्रोक्त होनेसे भी (ईश्वरसाधक न्याय बलवान् होनेसे ग्राह्य है)

किञ्च, ब्रह्ममीमांसाका ईश्वर ही मुख्य विषय उपक्रमादिकोंसे अवधृत है, उस अंशमें उसका बाध होनेपर शास्त्रकी ही अप्रमाणता हो जायगी "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इस न्यायसे। साङ्ख्यशास्त्रका तो पुरुषार्थ और तत्साधन प्रकृति-पुरुषविवेक ये ही दो मुख्य विषय हैं, इसलिये ईश्वरप्रतिषेधांशमें बाध होनेपर भी अप्रामाण्य न होगा, " यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इस न्यायसे; अतः सावकाश होनेसे सांख्य ही ईश्वर-प्रतिषेधांशमें दुर्बल है, इति ।

नच० - ब्रह्ममीमांसामें भी ईश्वर ही मुख्य विषय है, नित्यैश्वर्य तो नहीं है यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि स्मृत्यनवकाशदोष प्रसङ्गरूप पूर्वपक्षकी अनुपपत्ति होनेसे नित्यैश्वर्यविशिष्टत्वेन ही ब्रह्ममीमांसाविषयत्वका अवधारण हुआ है । ब्रह्म शब्दका परब्रह्ममें ही मुख्यतया प्रयोग होनेसे "अथातः परब्रह्मजिज्ञासा " ऐसा सूत्र नहीं बनाया; एतेन० - इससे सांङ्ख्यका विरोध होनेके कारण ब्रह्म-योगदर्शनका कार्य्येश्वरपरत्व भी शङ्कनीय नहीं है, प्रकृतिस्वातन्त्र्यकी आपत्ति होनेसे रचनानुपपत्ति होनेके कारण 'और नानुमानम्' (वे० सू० २।२।१) इत्यादि ब्रह्मसूत्रपरम्पराकी अनुपपत्ति होनेके कारण, तथा "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (समा० पा० २६ सू०) इस योगसूत्र और उसके व्यास भाष्यके द्वारा स्पष्टरूपसे ईशनित्यताका अवगम होनेके कारण इति; इसलिये अभ्युपगमवाद प्रौढिवादादिसे ही साङ्ख्यकी व्यावहारिकेश्वरप्रतिषेधपरता होनेसे ब्रह्म-मीमांसा और योगके साथ विरोध नहीं है और अभ्युपगमवाद शास्त्रमें देखा गया है । जैसे विष्णुपुराणमें—

" एते भिन्नदृशां दैत्य ! विकल्पाः कथितामया।
कृत्वाऽभ्युपगमे तत्र संक्षेपः श्रूयतां मम ॥ "

" हे दैत्य ! भिन्न दृष्टिवालोंके ये विकल्प अभ्युपगम करके मैंने कहे । उन्हें संक्षेपसे सुनो ॥ " इति-

अथवा (यह मान लें कि चाहे भले ही) पापियोंके ज्ञान प्रतिबन्धनार्थ आस्तिक दर्शनोंमें अंशतः श्रुतिविरुद्धार्थ व्यवस्थापन हो, और उन उनमें अप्रामाण्य भी हो; श्रुत्यविरुद्ध मुख्य विषयोंमें तो प्रामाण्य है ही; अतएव पद्मपुराणमें ब्रह्मयोगदर्शनातिरिक्त दर्शनोंकी निन्दा भी उपपन्न हो जाती है । जैसे वहाँ पार्वतीके प्रति ईश्वरवाक्य है —

"श्रृणु देवि! प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम्।
येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि॥
प्रथमं हि मयैवोक्तं शैवं पाशुपतादिकम्।
मच्छक्त्याऽऽवेशितैर्विप्रैः सम्प्रोक्तानि ततः परम्॥
कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यन्तु कपिलेन वै॥
द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमयार्थतः।
निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम्॥
धिषणेन तथा प्रोक्तं चार्वाकमतिगर्हितम्।
दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा॥
बौद्धशास्त्रमसत्प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम्।
मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च॥
मयैव कथितं देवि ! कलौ ब्राह्मण रूपिणा।
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयल्लोकगर्हितम्॥
कर्मस्वरूप त्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते।

सर्वं कर्म परिभ्रंशान्नैष्कर्म्यं तत्रचोच्यते ।
परात्मजीवयोरैक्यं मयाऽत्र प्रतिपाद्यते ॥
ब्रह्मणोऽस्य परं रूपं निर्गुणं दर्शितं मया ।
सर्वस्य जगतोऽप्यस्य नाशनार्थं कलौ युगे ॥
वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम् ।
मयैव कथितं देवि ! जगतां नाशकारणात् ॥
इति ।

हे देवि ! सुनो, यथाक्रम उन तामसोंको कहूँगा जिनके श्रवणमात्रसे ज्ञानियोंको भी पतित होना पडता है । मैंने ही पहले पहल शैव पाशुपतादिकको कहा । तत्पश्चात् मेरी शक्तिसे आवेशित विप्रोंने उनका कथन किया । कणादने महान् वैशेषिक शास्त्रको, गौतमने न्यायको और कपिलने साङ्ख्यको कहा । द्विजन्मा जैमिनिने निरीश्वरवादसे युक्त महान् शास्त्र बनाया । तथा बृहस्पतिने अतिनिन्दित चार्वाकमतका उपदेश दिया ॥ दैत्योंके नाशके लिये विष्णुने बुद्धरूप होकर असत् बौद्धशास्त्रको कहा । हे देवि ! कलियुगमें ब्राह्मणरूप होकर मैंने ही श्रुतिवाक्योंके लोकनिन्दित अपार्थको दिखाते हुये प्रच्छन्न बौद्ध असच्छास्त्र मायावादका कथन किया । इसमें कर्मका स्वरूपसे ही त्याग करना प्रतिपादन किया जाता है और सर्वकर्मोंसे परिभ्रष्ट होनेसे नैष्कर्म्य होता है-यह यहाँ कहा जाता है । मैंने इसमें जीव और परमात्मताकी एकताका प्रतिपादन किया है, मैंने ब्रह्मका परं रूप निर्गुणदर्शित किया है । हे देवि ! कलियुगमें इस सम्पूर्ण जगत्के नाशके लिये मैंने-ही वेदार्थकी तरह महाशास्त्र अवैदिक मायावादको कहा है ॥ " इति ।

अधिक तो ब्रह्ममीमांसाभाष्यमें हमने प्रपञ्चित किया है । इसलिये किसी भी आस्तिक शास्त्रका अप्रामाण्य वा विरोध नहीं है, क्योंकि स्वस्वविषयोंमें सबका अबाध है और अविरोध है ॥ इति ॥

सांख्यसूत्र अध्याय १

संगति-सूत्र १।८९ में " यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् " इससे प्रत्यक्षका लक्षण किया गया है । उसीका विचार चल रहा है । ९०-९१में योगी- प्रत्यक्षके सम्बधमें विचार किया गया है । अब ईश्वर प्रत्यक्षका विचार है ।

विज्ञान भिक्षुः- ननु तथापि ईश्वर प्रत्यक्षमें अव्याप्ति है, उसका नित्यत्व होनेसे सन्निकर्षाजन्यत्व होनेके कारण ? तत्राह—

ईश्वरासिद्धेः ॥९२॥

ईश्वरमें प्रमाणका अभाव होनेसे, न दोषः (दोष नहीं है) इसकी अनुवृत्ति (१।९०से) आ रही है । और यह ईश्वर प्रतिषेध एकदेशियोंका प्रौढवादसे ही है, यह पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं; अन्यथा ईश्वराभावात् ऐसा ही कहते । ईश्वराभ्युपगममें तो सन्निकर्षजन्य जातीयत्व ही प्रत्यक्षलक्षण विवक्षित है, और साजात्यज्ञानत्व साक्षाद्व्याप्य जातिसे है, यह भाव है ॥

श्रुतिस्मृतिद्वारा ईश किस प्रकार सिद्ध नहीं होता है ? इस आकांक्षामें तर्कविरोध लौकिक ही बाधक कहते हैं—

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ॥९३॥

अभिमत ईश्वर क्या क्लेशादिसे मुक्त है ? वा उनसे बद्ध है? अन्यतरका भी असम्भव होनेसे ईश्वरासिद्धि नहीं है-यह अर्थ है ॥

उभयथाऽप्यसत्करत्वम् ॥९४॥

मुक्तत्व होनेपर स्रष्टृत्वाद्यक्षमत्व है, तत्प्रयोजकाभिमान रागादिका अभाव होनेके कारण । बद्धत्वमें भी मूढत्व होनेसे सृष्ट्यादि क्षमत्व नहीं है, यह अर्थ है ।

ननु एवम् ईश्वरप्रतिपादक श्रुतियों की क्या गति होगी ? तत्राह—

मुक्तात्मनः प्रशंसा, उपासासिद्धस्य वा ॥९५॥

यथायोग कोई श्रुति मुक्तात्मा को केवलात्मसामान्यके ज्ञेयताऽभिज्ञानके लिये सन्निधिमात्रैश्वर्यसे स्तुतिरूपा प्ररोचनाके लिये है । और कोई सङ्कल्पपूर्वक स्रष्टृत्वादि प्रतिपादिका श्रुतिसिद्ध ब्रह्म-विष्णु-हरादिकी ही अनित्येश्वरके अभिमानादिमान्की भी गौणनित्यत्वादिमान् होनेके कारण नित्यत्वाद्युपासापरा है, यह अर्थ है ।

ननु तथापि श्रूयमाण प्रकृत्याद्यखिलाधिष्ठातृत्व उपपन्न नहीं होता है, लोकमें सङ्कल्पादिसे परिणमनका ही अधिष्ठातृत्व व्यवहार होनेके कारण ? तत्राह—

तत्सान्निधानादधिष्ठातृत्वं, मणिवत् ॥९६॥

यदि संकल्पसे स्रष्टृत्व अधिष्ठातृत्व कहा जाय, तब यह दोष हो सकता है । हम तो मणिकी तरह पुरुषके

सान्निधानसे ही अधिष्ठातृत्व स्रष्टृत्वादिरूप चाहते हैं। जैसे अयस्कान्त मणिके सान्निध्यमात्रसे शल्यनिष्कर्षकत्व है, सङ्कल्पादिसे नहीं; वैसे ही आदि पुरुषके संयोगमात्रसे प्रकृतिका महत्त्वरूपसे परिणमन है; और यह ही स्वोपाधि स्रष्टृत्व है, यह अर्थ है। तथा च कहा है—

" निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्त्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनिः॥
अत आत्मनि कर्त्तृत्वमकर्त्तृत्वं च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादकर्त्ताऽसौ कर्त्ता सान्निधिमात्रतः॥'

" जैसे निरिच्छ (इच्छारहित) रत्न (चुम्बक) के स्थित रहनेमात्रमें लोहा अपने आप प्रवृत्त होता है, वैसे ही सत्तामात्र देव (ईश्वर) से यह संसारकी उत्पत्ति होती है। अतएव आत्मा (ईश्वर) में कर्तृत्व और अकर्तृत्व भी भली प्रकार सिद्ध है। वह निरिच्छ होनेसे अकर्त्ता है और सन्निधिमात्रसे कर्त्ता है॥ "

इति, " तदैक्षत बहु स्याम् " (छान्दोग्य ६।२।३) इत्यादि श्रुति तो कूलं पिपतिषति इसके समान गौणी है, प्रकृतिके आसन्न बहुतर गुणसंयोग होनेके कारण। अथवा एतादृश वाक्यसमूह बुद्धिपूर्वसृष्टिविषयक हैं, नकि आदि सर्ग परक, उसका अबुद्धि पूर्वकत्व स्मरण होनेके कारण-यह भाव है। यथा कूर्मपुराणमें—

"इत्येष प्राकृतः सर्गः संक्षेपात् कथितो मया।
अबुद्धिपूर्वकस्त्वेष ब्राह्मीं सृष्टिं निबोधत॥ "

" यह प्राकृत सर्ग मैंने संक्षेपसे कह दिया। अब यह अबुद्धिपूर्वक ब्राह्मी सृष्टि सुनो॥ "

इति, और इस वाक्यके आदि पुरुष बुद्ध्यजन्यत्व होनेसे संकोचमें गौरव है॥

न केवल सर्गादिमें ही पुरुषके संयोगमात्रसे स्रष्टृत्वादिक है, अपितु अन्य भी संकल्पादिपूर्वक भूतादिकोंमें अखिल विशेष कार्योंमें भी सर्व पुरुषोंका है,-यह कहते हैं—

विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ॥९७॥

अधिष्ठातृत्वं सन्निधानात् इसका अनुषञ्जन होता है। अन्तःकरणोपलक्षितका ही जीव शब्दार्थत्व छठे अध्यायमें कहेंगे। तथा च, विशेषकार्य विसर्गाख्य व्यष्टि-सृष्टिमें भी जीवोंका=अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चेतनोंका सन्निधानसे ही अधिष्ठातृत्व है, न कि किसी भी व्यापारसे, कूटस्थचिन्मात्ररूप होनेके कारण यह अर्थ है।

ननु यदि ईश्वर सदा सर्वज्ञ नहीं है, तो वेदान्त महावाक्यार्थका विवेकके उपदेशमें अन्धपरम्पराकी आशङ्का होनेसे अप्रामाण्य प्रसक्त होगा ? तत्राह—

सिद्धरूप बोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः ॥९८॥

हिरण्यगर्भादिकोंका सिद्धरूप यथार्थका बोद्धृत्व होनेसे और तद्वक्तृकायुर्वेदादि प्रामाण्येन अवधृत होनेसे इनका वाक्यार्थोपदेशप्रमाण है यह शेष है।

ननु यदि पुरुषका सन्निधिमात्रसे गौण अधिष्ठातृत्व है, तो मुख्य अधिष्ठातृत्व किसका है ? इस आकांक्षाके होनेपर उत्तर देते हैं—

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवद-
धिष्ठातृत्वम् ॥९९॥

अन्तःकरणका अनुपचरित अधिष्ठातृत्व सङ्कल्पादिद्वारक समझना चाहिये।

ननु अधिष्ठातृत्व घटादिवत् अचेतनका युक्त नहीं है! तत्राह-उस विषयमें कहते हैं—लोहवत् तदुज्ज्वलितत्वादिति क्योंकि अन्तःकरण तप्त लोहवत् चेतनोज्ज्वलित होता है, अतः उसका चेतनायमान होनेसे अधिष्ठातृत्व घटादिसे व्यावृत्त उपपन्न होता है यह अर्थ है। ननु एवं चैतन्यसे अन्तःकरणका उज्ज्वलन होनेपर चितिका सङ्गित्व अग्निकी तरह ही होगा ऐसा यदि कहो! तो यह ठीक नहीं, नित्योज्ज्वलचेतन्यसंयोगविशेषमात्र संयोग विशेषजन्यचैतन्यप्रतिबिम्बका ही अन्तःकरणोज्ज्वलन रूप होनेके कारण, चैतन्य तो अन्तःकरणमें संक्रमण नहीं करता, जिससे सङ्गिता हो। यतः अग्निका भी प्रकाशादिक लोहमें संक्रमण नहीं करता, किन्तु अग्नियोग विशेष ही लोहका उज्ज्वलन है। ननु एवमपि संयोगसे परिणामित्व होगा ऐसा यदि कहो ? तो ठीक नहीं, क्योंकि सामान्य गुणातिरिक्त धर्मोत्पत्तिमें ही परिणामका व्यवहार होता है। और यह संयोगविशेष अन्तःकरणके ही सत्त्वोद्रेकरूप परिणामसे होता है. ऐसा फल बलसे कल्पित किया जाता है, क्योंकि पुरुषका अपरिणामित्व होनेसे संयोगमें तान्निमित्तक विशेषका होना सम्भव नहीं है। और यही संयोग विशेष बुद्धि तथा आत्माके अन्योन्य प्रतिबिम्बनमें हेतु है।

ननु प्रतिबिम्ब हेतुतासे संयोगविशेषकी आवश्यकता होनेपर प्रतिबिम्बकल्पना व्यर्थ है, प्रतिबिम्बकार्य अर्थ-ज्ञानादिका संयोगविशेषसे ही सम्भव होनेके कारण इति चेत्! ऐसा यदि कहो? तो ठीक नहीं, बुद्धिमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब चैतन्य—दर्शनार्थ कल्पित किया जाता है, दर्पणमें मुख प्रतिबिम्बकी तरह, अन्यथा कर्म-कर्तृ-विरोधसे स्वका साक्षात् स्वदर्शनकी अनुपपत्ति होनेसे और यह ही चित्प्रतिबिम्ब "बुद्धिमें चिच्छायापत्तिः," "चैतन्याध्यास, और चिदावेश" यह कहा जाता है। और जो चैतन्यमें बुद्धिका प्रतिबिम्ब है, वह आरूढ विषयोंके साथ बुद्धिके भावार्थ चाहा जाता है, अर्थाकारतया ही अर्थ ग्रहणका बुद्धिके स्थलमें दृष्ट होनेसे उसके बिना संयोगविशेषमात्रसे अर्थभानका पुरुषमें भी अनौचित्य होनेके कारण, और अर्थाकारका ही अर्थग्रहण शब्दार्थत्व होनेके कारण। और वह अर्थाकार पुरुषमें परिणाम सम्भव नहीं है इति अर्थात् प्रतिबिम्बरूप ही पर्य्यवसित होता है इति दिक्।

और वह यह अन्योन्य प्रतिबिम्ब योगभाष्यमें व्यासदेवने सिद्धान्तित किया है, "चिति शक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्त चैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारिमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टाहि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते' इत्यादि। और योगवार्तिकमें इसका हमने विस्तारसे प्रतिपादन किया है।

किसीने तो बुद्धिगत चिच्छायासे बुद्धिका ही सर्वार्थ-ज्ञातृत्व, इच्छादिकोंसे ज्ञानका सामान्याधिकरणानुभव होनेके कारण, और अन्यके ज्ञानसे अन्यका प्रवृत्त्यनौचित्य होनेके कारण कहा है। वह आत्मा ज्ञानमूलक होनेसे उपेक्षणीय है। एवं हि बुद्धिका ही ज्ञातृत्व होनेपर "चिदवसानो भोगः" (१।१००) इत्यागामिसूत्रद्वयविरोध और पुरुषमें प्रमाणका अभाव होगा, पुरुषलिङ्गभोगका बुद्धिमें ही स्वीकार होनेके कारण—

प्रतिबिम्बकी अन्यथानुपपत्तिसे बिम्बभूत पुरुष सिद्ध हो जायगा यह मत कहो, अन्योन्याश्रयसे पृथक् बिम्बसिद्धि होनेपर बुद्धिस्थ चैतन्यकी प्रतिबिम्बता सिद्धि है, और प्रतिबिम्बतासिद्धि होनेपर तत्प्रतियोगितया बिम्ब सिद्ध है इति। और हमारे मतमें ज्ञातृतया पुरुषसिद्धिके अनन्तर उसके दोषवकी अन्यथानुपपत्ति होनेसे प्रतिबिम्बसिद्धि होनेपर अन्योन्याश्रय नहीं है। अथ वृत्ति-साक्षितया बिम्बरूपचेतन सिद्ध होता है ऐसा यदि कहो, तो साक्षीका ही प्रमातृत्व भी उचित है, दोनोंके ज्ञातृत्व-कल्पनामें गौरव होनेके कारण, तथा वृत्तिज्ञान और घटज्ञानका सामान्याधिकरणानुभव होनेके कारण, किञ्च, ऐसा होनेपर बुद्धिका ही भोक्तृत्व होनेपर "भोक्तृभावात्" (१।१४३) इस आगामीसूत्रसे भोक्तृतया पुरुषसाधन विरुद्ध होगा। अथ बुद्धिगतचिच्छायारूप सम्बन्धसे बिम्बका ही ज्ञान चितिमें बुद्धि प्रतिबिम्ब तो कल्पित नहीं किया जाता है, इति एतावन्मात्रमें यदि उसका आशय कहा जाये; वह भी असत् है, सूर्यादिका स्वप्रतिबिम्बरूप सम्बन्धसे जलादि-तटस्थवस्तुभासकत्वका अदर्शन होनेके कारण, किरणों द्वारा ही उन दोनोंका भासन होनेके कारण। मरुमरीचिकादिमें तो स्वाध्यस्त जलादि भासकत्व दृष्ट ही है इसलिये दृष्टानुसारेण हमने चितिमें बुद्धिप्रतिबिम्ब ही सर्वार्थ-भान हेतुतया सम्बन्ध कल्पित किया है। और जो कहा है, अन्यके ज्ञानसे अन्यकी प्रवृत्तिकी अनुपपत्ति है, वह भी ठीक नहीं, "अकर्त्तुरपि फलोपभोगः अन्नाद्यवत्" (१।१०५) इस आगामीसूत्रसे ज्ञान और प्रवृत्तिके वैयधिकरण्यका दृष्टान्तसे उपपादन किये जानेसे, बुद्धिके सङ्कल्पसे देहक्रिया की तरह यहाँ भी संयोगविशेषादिका ही नियामकत्व होनेसे इति॥

अध्याय ३

प्रकृतिलयसे पुरुषके उत्थानमें प्रमाण भी कहते हैं—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥ ५६॥

वह पूर्वसर्गमें कारणमें लीन सर्गान्तरमें सर्ववित् सर्वकर्त्ता ईश्वर आदि पुरुष होता है, प्रकृतिलय होनेपर उसका ही प्रकृतिपदप्राप्तिका औचित्य होनेसे। "तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य" (बृह० उ० ४।४।६) इत्यादि श्रुतिसे यह अर्थ है।

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥ ५७॥

प्रकृति लीन जन्येश्वरकी सिद्धि 'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः" (मुण्ड० १।१।९) इत्यादि श्रुतियोंसे सर्वसम्मत ही है, निरीश्वरके ही विवादास्पद

होनेके कारण यह अर्थ है। इस सूत्रद्वयकी व्याख्या करके पार वश्यको भी प्रतिपादन करते हैं, स हि इस सूत्रसे। वह पर पुरुष सामान्य सर्वज्ञानशक्तिमत् और सर्वकर्तृता शक्तिमत् है, अयस्कान्तवत् सान्निधिमात्रसे प्रेरक होनेके कारण यह अर्थ है। और तब असमानार्थ पुरुषसान्निध्यके कारण उसके लिये अन्यच्छानधाना प्रकृति की भी प्रवृत्ति आवश्यकी है। ननु एवं ईश्वरप्रतिषेधका विरोध है? तत्र कहते हैं—ईदृशेश्वरासिद्धिः सिद्धा सान्निध्यमात्रसे ईश्वरकी सिद्धि तो श्रुति-स्मृतियोंमें सर्वसम्मत है-यह अर्थ है।

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥"
(कठ० ४।१२)

"सृजते च गुणान् सर्वान् क्षेत्रज्ञस्त्वनुपश्यति।
गुणान् विक्रियते सर्वानुदासीनवदीश्वरः ॥"

इत्यादि श्रुति-और स्मृतियाँ एतादृशेश्वरमें प्रमाण हैं ॥

पञ्चमाध्याय

ईश्वरासिद्धेः यह जो कहा है वह ठीक नहीं है कर्मफलदाता होनेसे उसकी सिद्धि होती है- इस प्रकारके कहनेवाले जो पूर्वपक्षी हैं, उनका निराकरण करते हैं,—

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥२॥

ईश्वराधिष्ठित कारणके होनेपर कर्मफलरूपपरिणाम-की निष्पत्ति युक्त नहीं है, आवश्यक कर्मसे ही फल-निष्पत्तिसम्भव होनेके कारण यह अर्थ है ॥

ईश्वरका फलदातृत्व भी घटित नहीं होता है, यह सूत्रों से कहते हैं—

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ॥३॥

ईश्वराधिष्ठातृत्व होनेपर स्वोपकारार्थ ही लोकवत् अधिष्ठान होगा, यह अर्थ है ॥

ईश्वरका भी उपकार होता है, क्षति क्या है? यह आशङ्का कर उत्तर देते हैं,—

लौकिकेश्वरवदितरथा ॥४॥

ईश्वरका भी उपकार स्वीकार करनेपर लौकिक ईश्वरकी तरह ही वह भी संसारी होगा, अपूर्ण कामता होनेसे दुःखादि प्रसङ्ग होनेके कारण यह अर्थ है ॥४॥

वैसा ही होवे ? यह आशङ्का करके कहते हैं,—

पारिभाषिको वा ॥५॥

संसारसत्त्व होनेपर भी यदि ईश्वर है, तो सर्गोत्पन्न पुरुषमें परिभाषामात्र हम लोगोंकी तरह आपका भी होगा, संसारित्व और अप्रतिहतेच्छत्व इन दोनोंका विरोध होनेसे नित्यैश्वर्यकी अनुपपत्ति होनेके कारण, यह अर्थ है ॥

ईश्वरके अधिष्ठातृत्वमें बाधकान्तर कहते हैं,—

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥६॥

किञ्च, रागके बिना अधिष्ठातृत्व सिद्ध नहीं होता है, प्रवृत्तिमें रागका प्रतिनियतकारणत्व होनेके कारण यह अर्थ है। इष्टार्थसिद्धिका नाम उपकार है, राग तो उसकी इच्छाको कहते हैं, अतः पुनरुक्ति नहीं है।

ननु एवं राग भी ईश्वरमें होवे ? तत्र कहते हैं—

तद् योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥७॥

राग योग होनेपर भी स्वीकार किये जानेपर वह नित्यमुक्त न होगा, और तब तुम्हारी सिद्धान्त हानि होगी, यह अर्थ है।

किञ्च प्रकृतिके प्रति ऐश्वर्य प्रकृतिपरिणामभूतेच्छादि के द्वारा सम्भव नहीं है, अन्योऽन्याश्रय होनेसे। और नित्येच्छादिक प्रकृतिमें युक्त नहीं है, श्रुति-स्मृतिसिद्ध साम्यावस्थाकी अनुपपत्ति होनेके कारण, अतः प्रकारद्वय अवशेष रहते हैं, तद्यथा—ऐश्वर्य क्या प्रधान शक्तियोग अस्मदभिमत इच्छादिकोंके साक्षात् ही चेतनसम्बन्धसे होता है ? किं वा अयस्कान्त मणिवत् सन्निधिमात्रसे प्रेरकत्व होनेसे होता है ? उनमें आद्य पक्षको दूषित करते हैं—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ॥८॥

प्रधानशक्ति इच्छादिका पुरुषमें योग होनेसे पुरुषमें भी धर्मसंगापत्ति होगी, तथा च "स यत् तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगो ह्ययं पुरुषः" (बृ० उ० ४।३।१५) इत्यादि श्रुतिसे विरोध होगा, यह अर्थ है ॥

अन्य पक्षमें कहते हैं,—

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥९॥

अयस्कान्तवत् सन्निधिसत्तामात्रसे यदि चेतनैश्वर्य हो, तो सबका ही तत्तत्सर्गोंमें भोक्ता पुरुषोंका अविशेषेण ऐश्वर्य अस्मदभिप्रेत ही सिद्ध है, अखिल भोक्तृसंयोगसे ही प्रधानके द्वारा महदादिका सर्जन होनेके कारण इति; और तब एक ही ईश्वर है इस आपके सिद्धान्तकी हानि होती है, यह अर्थ है ॥

अच्छा ऐसा ही सही, ईश्वर साधक प्रमाण विरोधसे वे असत्तर्क ही हैं, अन्यथा एवं विध असत्तर्कसहस्रोंसे प्रधान भी बाधित हो सकता है ? तत्र कहते हैं,—

प्रमाणाभावान्नतत् सिद्धिः ॥१०॥

तत्सिद्धिः नित्येश्वरमें प्रत्यक्ष प्रमाण तो है ही नहीं, अनुमान और शब्द ही कहे जा सकते हैं, और वे सम्भव नहीं हैं. यह अर्थ है ।

असम्भवको ही दो सूत्रोंसे प्रतिपादित करते हैं.—

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥११॥

सम्बन्ध कहते हैं व्याप्तिको, अभावका अर्थ है असिद्धि; तथा च, महदादिकं सकर्तृकं कार्य्यत्वात् " इत्यादि अनुमानोंमें अप्रयोजकत्वेन व्याप्यत्वासिद्धि होनेसे ईश्वरमें अनुमान नहीं हो सकता । यह अर्थ है ।

शब्द भी नहीं है, यह कहते हैं,—

श्रुतिरपि प्रधानकार्य्यत्वस्य ॥ १२ ॥

प्रपञ्चमें प्रधान कार्य्यत्वकी ही श्रुति है, चेतन कारणत्वमें नहीं है । यथा—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ॥

(श्वेता० ४।५)

"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्,
तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत "

(बृहदा० १।४।७)

इत्यादि यह अर्थ है। और जो "तदैक्षत बहु स्याम्" (छान्दो–६।२।३) इत्यादि चेतनकारणता श्रुति है, वह सर्गादिमें उत्पन्न महत्त्वोपाधिक महापुरुषकी जन्यज्ञानपरा है, किं वा बहुभवनानुरोधसे प्रधानमें ही " कूलं पिपतिषति " इतिवत् गौणी है; अन्यथा 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च " (श्वेता० ६।११) इत्यादि श्रुत्युक्त अपरिणामित्वका पुरुषमें अनुपपत्ति होनेसे इति ।

और यह ईश्वरप्रतिषेध ऐश्वर्यमें वैराग्यके लिये तथा ईश्वरज्ञानके विना भी मोक्ष प्रतिपादनके लिये प्रौढिवाद मात्र है यह पहले ही व्याख्यान कर चुके हैं। अन्यथा जीव व्यावृत्त ईश्वर नित्यत्वादिकी गौणत्व कल्पनाका गौरव होगा । औपाधिक नित्यज्ञानेच्छादिकोंके और महदादि परिणामोंके अङ्गीकारसे कौटस्थ्यादिकी उपपत्ति होनेके कारण – इत्यादिक ब्रह्ममीमांसामें देखना चाहिये ॥

विज्ञानभिक्षुके मतमें—

(१) सांख्य श्रुति-स्मृतिसम्मत सान्निध्यमात्रसे ईश्वरकी सिद्धि मानता है ।

(२) निरीश्वरवादका पक्ष एकदेशीका है, सूत्रकारका नहीं।

(३) व्यावहारिक ईश्वरका प्रतिषेध किया गया है, पारमार्थिकका नहीं ।

(४) व्यावहारिक ईश्वरका प्रतिषेध करनेमें अभिप्राय यह है कि अभ्यासीको ऐश्वर्यसे वैराग्य हो जाये । अन्यथा अभ्यासमें-नित्य-निर्दोष पूर्णैश्वर्यका दर्शन होनेपर उसका चित्त ऐश्वर्यमें बँध जायगा, यह उसके लिये विवेकका प्रतिबन्धक होगा । अतः विवेकके लिये ऐश्वर्यवैराग्यार्थ ऐसा किया गया है ।

(५) ईश्वरप्रतिषेध अभ्युपगमवाद और प्रौढिवादसे किया गया है, सिद्धान्ततः नहीं ।

(६) सांख्यका मुख्य विषय ईश्वर नहीं है, अपितु पुरुषार्थ और प्रकृति पुरुषका विवेक है । अतः " यत्परः शब्दः स शब्दार्थः " इस न्यायके अनुसार इसके प्रामाण्य होनेमें कोई बाधा नहीं ।

(७) श्रुति-स्मृति और पुराणके प्रमाणोंसे तथा अखिल शिष्टजनोंके आचरणसे ईश्वरसाधकन्याय ही बलवान् है । ईश्वरप्रतिषेधमें सांख्यका पक्ष दुर्बल है ।

(८) पापियोंको ज्ञान न हो इसलिये आस्तिक दर्शनोंमें भी अंशतः श्रुतिविरुद्ध अर्थका व्यवस्थापन है। श्रुतिविरुद्धांशमें उनका अप्रामाण्य है, परन्तु श्रुतिस्मृत्यविरुद्ध मुख्य विषयोंमें उनका प्रामाण्य है ही ।

सांख्यमें ईश्वरप्रतिषेधके विषयमें इतने पक्ष विज्ञानभिक्षुने उपस्थित किये हैं । उनके मतसे भी सान्निध्यमात्रसे जगदुत्पत्ति करनेके लिये ईश्वरकी सिद्धि है । सूत्रकार ईश्वरका प्रतिषेध नहीं करते। प्रतिषेध एकदेशीका है, जो विशिष्ट अभिप्रायसे किया गया है। यदि ईश्वरप्रतिषेध

माना भी जाये तो निन्दित होनेसे उस विषयमें सांख्यका प्रामाण्य नहीं है। सूत्र ३।५६,५७ के विज्ञानभिक्षुने दो अर्थ किये हैं। पहला अर्थ ईश्वरका प्रकृतिलीन अर्थ किया है। दूसरा अर्थ नित्य ईश्वरका है जिसके परवश हो प्रकृति काम करती है। प्रकृतिलीन अर्थकी समीक्षा आगे चलकर की जायेगी।

आधुनिक विद्वानोंका मत

आधुनिक विद्वानोंका मत है कि सांख्य अपने मूलरूपमें सेश्वरवादी था। उपनिषद्, गीता, महाभारत और पुराणोंके कालतक सांख्य ईश्वरवादका समर्थक है। इसके बाद जब बौद्धों और जैनियोंका बोलबाला हुआ और नास्तिकताकी लहर प्रबल हुई, तब सांख्यमेंसे ईश्वरको निकालकर केवल प्रकृति और पुरुष दो हीके आधारपर इसके सिद्धान्तोंकी दृढ भीत्तिको स्थापित करनेका प्रयत्न किया गया। ये इसके विकासका सुन्दर इतिहास उपस्थित करते हैं,-

"सांख्य नितान्त प्राचीन दर्शन है। सांख्यके सिद्धान्तोंकी उपलब्धि उपनिषदोंमें होती है। यद्यपि 'सांख्य' शब्द 'योग' शब्दके साथ श्वेताश्वेतर उपनिषद् (तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ६।१३) में उपलब्ध होता है, तथापि इसके अनेक माननीय सिद्धान्त उससे प्राचीन उपनिषदोंमें बीजरूपसे मिलते हैं। सत्त्व, रज, तम यह त्रिगुणका सिद्धान्त छान्दोग्यमें प्रथमतः दृष्टिगोचर होता है। छान्दोग्य (६।४।१) का कथन है कि अग्निका रूप लाल है, जलका शुक्ल तथा पृथिवीका कृष्ण। इस जगत्की सृष्टिमें ये तीन ही रूप कारणभूत हैं, ये ही सत्य हैं। जगत् केवल नामरूपात्मक होनेसे विकारमात्र है - वाक्का आरम्भमात्र है। प्रकृतिकी कल्पनामें श्वेताश्वेतर (४।५) ने इन्हीं वर्णोंका उपयोग किया है। "प्रकृति एक है, अजा- उत्पन्न न होनेवाली है, लोहित, कृष्ण तथा शुक्ल रूपोंको धारण करनेवाली है तथा अपने स्वरूपानुसार प्रजाओंको उत्पन्न करनेवाली है।" 'इन्द्रियोंसे बढकर अर्थ, अर्थसे बढकर मन, मनसे बढकर बुद्धि, बुद्धिसे बढकर महान् आत्मा, महत्से बढकर अव्यक्त तथा अव्यक्तसे बढकर पुरुष; पुरुषसे बढकर अन्य कोई भी वस्तु नहीं होती।' कठ (१।३।१०,११) के इस क्रमको सांख्यने अपने ग्रन्थोंमें अपनाया है। प्रश्नोपनिषद् (६।२) में पुरुषकी सोलह कलाओंका वर्णन मिलता है जो सांख्यके सूक्ष्म शरीरकी कल्पनाका मूलाधार है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् तो सांख्य सिद्धान्तोंका भण्डार है। ईश्वर प्रधान या प्रकृति, क्षेत्रज्ञ या जीवोंका तथा गुणोंका अधिपति है। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः)॥ श्वेता० ४।१६) जिस प्रकार मकडा अपने शरीरसे उत्पन्न होनेवाले तन्तुओंसे जाला तानता है, उसी प्रकार ईश्वर प्रकृतिजन्य गुणोंके द्वारा अपनेको प्रकट करता है। (श्वेता० ६।१०)। प्रकृति ईश्वरकी मायाशक्ति है तथा प्रकृतिका अधिपति महेश्वर मायी कहलाता है (मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेता० ४।१०)। तन्मात्रा, त्रिगुण तथा प्रकृति पुरुष विवेकके सिद्धान्त मैत्रायणी उपनिषद् (द्वितीय और तृतीय प्रपाठक) में संकेतित किये गये हैं।

बुद्धदर्शन तथा सांख्यदर्शनके पारस्परिक सम्बन्धका निरूपण अभीतक नहीं हो पाया है। बुद्धचरितमें सिद्धार्थ आराड कालाम जैसे सांख्य-तन्त्रोपदेशक आचार्यके समीप शिक्षाग्रहणके लिये जाते हैं। दार्शनिक दृष्टिमें भी कतिपय समानताएँ दृष्टिगत होती हैं। दुःखकी सत्तापर जोर देना, वैदिक कर्मकाण्डकी गौणता स्वीकृत करना तथा जगत्को सतत परिवर्तनशील मानना (परिणामनित्यता) अहिंसा आदि सिद्धान्त सांख्य तथा बौद्धदर्शन दोनोंमें समान रूपेण मान्य हैं। बौद्धदर्शन आरम्भ कालमें सांख्य-सिद्धान्तोंसे प्रभावित अवश्य हुआ था।

महाभारतके समयमें अनेक सांख्याचार्योंका पता तो चलता ही है। साथ ही साथ तीन प्रकारके सांख्यका वर्णन मिलता है (महा० १२।३१८)। एक सांख्य २४ तत्त्वोंको, दूसरा २५ तत्त्वोंको और तीसरा २६ तत्त्वोंको अङ्गीकार करता था। महाभारतके जनक पञ्चशिख-संवादमें (शान्ति ३०३-३०८) सांख्यके प्रधान सिद्धान्तोंका सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें भी लोकप्रिय दर्शन सांख्य ही है। इस प्रकार उपनिषत्, इतिहास, पुराण तथा स्मृति ग्रन्थोंमें सांख्यके सिद्धान्तोंकी उपलब्धि इसकी प्राचीनता तथा महनीयता की पर्याप्त बोधिका है।

(अपूर्ण)

ऋग्वेद-संहिता

इस ग्रन्थमें प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है, उसके पश्चात् **मण्डलानुक्रमणिका** तथा **अष्टकानुक्रमणिका** है, पश्चात् **ऋषिसूची** तथा **देवता-सूची** है। इसमें मण्डलों और अष्टकोंका क्रम तथा सूक्तक्रम भी दिया है। इतनाही नहीं, पर इस सूचीमें प्रत्येक सूक्तमें आये देवता कौनकौनसे मन्त्रमें हैं यह भी दर्शाया है। इसी तरह इसकी टिप्पणीमें वे देवता दिये हैं जो मन्त्रोंमें तो हैं, पर सर्वानुक्रमणीमें दिये नहीं हैं। यह सूची मन्त्रक्रमके अनुसार है, इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कौनसा देवता है, यह हरकोई देख सकता है। इसके नंतर **अकारक्रमसे ऋषिसूची** है। प्रत्येक ऋषिके कितने मंत्र हैं और वे कहां हैं यह सब यहां दर्शाया है। इस सूचीमें इन ऋषियोंके गोत्र दिये हैं और प्रत्येक गोत्रमें कितने ऋषि हैं यह भी इसी सूचीमें है।

इसके पश्चात् **अनुवाक-सूत्र** स्पष्टीकरणके साथ दिया है। प्रत्येक अनुवाकमें कितने मंत्र हैं और वे कहां हैं, यह सब यहां बताया है। इसी तरह अध्यायानुक्रमणी वैसेही स्पष्टीकरणके साथ यहां दी है।

इसके नंतर '**सांख्यायन-संहिता**' का पाठक्रम तथा '**बाष्कल-संहिता**' का पाठक्रम दिया है।

इसके पश्चात् **संपूर्ण ऋग्वेद-संहिता** मण्डल और अष्टकोंके साथ दी है। इसमें **प्रत्येक मंत्र स्वतंत्र और पृथक् पृथक् छपा है। तथा मन्त्रके चरण, मंत्रके अर्धभाग, मंत्रके बहुतसे पद पृथक् पृथक् दिये हैं** और प्रत्येक सूक्त पृथक् पृथक् स्पष्ट दर्शाया है। प्रति सूक्तके प्रारंभमें ऋषि, देवता और छन्द दिये हैं और मंत्रोक्त-देवत भी कई स्थानोंपर दर्शाया है।

इसके बाद मण्डलान्तर्गत तथा अष्टकान्तर्गत **सूक्त-संख्या, वर्गसंख्या, मन्त्रसंख्या** तथा **अक्षरसंख्या** दर्शानेवाले कोष्टक दिये हैं।

नंतर सब **परिशिष्ट** दिये हैं तथा उनके पाठभेद भी दिये हैं। ऋग्वेदसंहिताके अन्यान्य शाखाओंमें जो अधिक सूक्त मिलते हैं वेही ये परिशिष्ट हैं। ये कुल ३७ हैं।

इसके पश्चात् **अष्टविकृतियाँ**, उनकी बनानेकी विधिके साथ दी हैं। इनकी विधि जानकर पाठक अन्यान्य मंत्रोंकी भी विकृतियाँ स्वयं कर सकते हैं। यहां **पञ्चसंधि** भी दिये हैं जो विशेष महत्त्वके हैं।

इसके पश्चात् **कात्यायनमुनि**-विरचित **सर्वानुक्रमणिका** टिप्पणीके साथ संपूर्ण दी है। उसके बाद **शौनकाचार्यकृत अनुवाकानुक्रमणी** है। इसके बाद छन्दोंके उदाहरण लक्षणोंके साथ दिये हैं। इसमें **११ छन्द** और उनके अनेक **उपछन्द** उदाहरणोंके साथ दिये हैं। इसके देखनेसे किस मन्त्रका कौनसा छन्द है इसका ज्ञान हो सकता है।

इसके बाद अकारक्रमसे ऋग्वेदके संपूर्ण **मंत्रोंकी सूची** है। ये मंत्र अन्य वैदिक संहिताओंमें कहां हैं, उनका भी पता यहां दिया है। इससे ऋग्वेद मंत्र अन्य संहिताओंमें कहां हैं इसका ज्ञान हो सकता है।

इतनी सूचियोंके साथ इतने परिश्रमसे यह ऋग्वेद-संहिता छापी है। इस समय जो ऋग्वेदके ग्रंथ हैं उनमेंसे किसीमें इतने ज्ञानके साधन नहीं हैं। वेदका अनुसंधान करनेवालोंके लिये यह एक अनुपम साधन है। इसकी कुल पृष्ठसंख्या १०५० है। मूल्य केवल ६) डा. व्य. १ા।) है।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम' पारडी, (जि. सूरत)

Regd. No. B 1463

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस 'पुरुषार्थ बोधिनी' भाषा-टीका में यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंके ही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। 'वैदिक धर्म' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता-श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकारादिक्रमसे आद्य क्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। मूल्य केवल ॥।), डा० व्य० =)

सामवेद कौथुमशाखीयः
ग्रामगेय (वेय प्रकृति) गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः ।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् 'प्रकृतिगान' तथा 'आरण्यकगान' है। प्रकृतिगानमें अग्निपर्व (१८१ गान) ऐन्द्रपर्व (६३३ गान) तथा पवमानपर्व (३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। आरण्यकगानमें अर्कपर्व (८९ गान), द्वन्द्वपर्व (९७ गान) शुक्रियपर्व (६४ गान) और वाचोव्रतपर्व (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३६ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल 'गानमात्र' छपा है। इसके पृष्ठ २८४ और मू० ४) रु. तथा डा०व्य०॥) है।

आसन ।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका संपूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से ३॥।≤) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, पारडी (जि. सूरत)

अंक ५ | वर्ष ३१

क्रमांक] | [१७

वैदिक धर्म

मई १९५०

संपादक : पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

वैदिक धर्म

[मई १९५०]

....

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक
महेशचन्द्रशास्त्री, विद्याभास्कर

स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' पारडी (जि. सूरत)

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष ३१] [अङ्क ५

विषयानुक्रमणिका

वर्ष ३१ **वैदिक धर्म** अंक ५

क्रमांक १७

वैशाख, विक्रम संवत् २००७, मई १९५०

सबका संरक्षक देव

त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नॄन् पाह्यसुर त्वमस्मान् ।
त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः ॥

(ऋग्वेद १।१७४।१)

" हे प्रभो ! तू सबका राजा है । जो देव हैं, उनका भी तू अधिपति है । हम मनुष्योंका संरक्षण कर । हे बलवान् प्रभो ! तू हमारा संरक्षण कर । तू सचमुच अच्छा और उत्तम पालन करनेवाला है । तू धनवान् है । तू हम सबकी शीघ्र रक्षा कर । तू सत्यनिष्ठ है । तू सबको बसानेवाला है तथा तू सहनशक्ति देनेवाला है । "

परमेश्वर सबका एक अधिपति है । जो बडे बडे सूर्य आदि देव हैं, उनका भी वही अधिपति है । वह सबका संरक्षण करता है । वह बलवान् है । वही सच्चा संरक्षण है । वही सबका उत्तम पालन करता है । वह ऐश्वर्यवान् है । सत्यनिष्ठ है । सबको आश्रय देनेवाला वही है तथा वही सबको सहनशक्ति देता है । ऐसे ईश्वरकी भक्ति मनुष्योंको करनी चाहिये । यह हमारा आदर्श पुरुषोत्तम है । मनुष्य अपने सामने इस आदर्शको रक्खे तथा वैसा बननेका प्रयत्न करे ।

(ले०- श्री माधव वैद्यः)

(युगधर्मात्)

(१)

काश्मीर समस्या ।

काश्मीरसमस्या दिने दिने नितरां समाकुलत्वं व्रजन्ती दृश्यते। काश्मीरेण विधिवत् भारतान्तर्गतत्वं स्वीकृतमासीत् । अतः आक्रमणकारिणां निर्दलनार्थं भारतेन स्वसैन्यं प्रेषितम् । यावद् आक्रमणकारिणामेकोऽपि अवशिष्यते, तावन्न विरामः स्वोद्यमादिति उद्घोषितमुद्घोषणपटुना अस्मन्महामात्येन। परमनन्तरं तदानीन्तनगव्हर्नरजनरललॉर्डमौंटबॅटनमहाशयानां प्रेरणया संयुक्तराष्ट्रसभायाः द्वारि आरोपितमिदं सर्वं प्रकरणमिति न कस्यचिदपि गूढम् । तदनन्तरं युद्धमवसितम्। काश्मीरकमिशनं सम्प्राप्तम् । अधुना दिल्ली, पश्चात् कराची , अनन्तरं श्रीनगरं ततश्च रावलपिंडी इत्येवं पर्यटनं कारं कारं स्वनिर्णयार्थं प्रमाणानि सङ्कलयता, यत्र यत्र गतं तत्र तत्र जनानां हृदयेषु मोघाशाः समुत्पादयता तेन काश्मीरकमिशनेन कालो यापितः । अधुना तस्य सदस्याः श्रीमन्तः डॉ. ऑल्ड्रीक् चॉईलमहाशयाः स्वनिवेदने कमिशनस्य प्रमादानां परम्परां प्रकाशितवन्तः, अपि च नवीनमन्यत् कमिशनं स्थापितव्यमित्यपि उपदिष्टम् ।

जनतंत्रवादिना भा तेन इदं तु पूर्वमेव स्वीकृतं यद् सर्वमतं तत्र स्यादिति । परं समीचीन-सार्वमतार्थं समीचीना स्थितिः आदौ तत्र स्थापनीया । तदर्थं च आझाद-काश्मीरसेनायाः निष्कासनं नितरामावश्यकम् । परमेतदेव पाकिस्तानस्य असम्मतम् । तद्विपरीतं किमपि कर्तुं न शक्यते कमिशनस्य, स्वार्थपरराष्ट्रायत्तायाः सुरक्षासमितेः वा धैर्यम् । एवं निष्प्रयोजनं काश्मीरकमिशनम्। ॲट लीट्रुमनद्वयेनापि इमां समस्यां निराकर्तुं प्रयत्नाः कृताः । परं तत्रापि पाकिस्तानस्य अनुनयः एव प्रधानः आसीत् ।

अधुना रशियादिराष्ट्राणि अपि अस्मिन् विषये समुत्सुकानीव । सुरक्षासमितेः नूतनाः अध्यक्षाः श्रीमॅक्टनौटन महाशयाः पुनः समस्यानिरासार्थं सप्रयत्ना इति समाचारः प्राप्तः। तेषामपि प्रयत्नानां किं फलं स्यादिति प्राक्कथनं न सर्वथा दुष्करम् । किन्तु अनुचितः समयः अयं तदर्थम् । एकं तु निश्चितं यदखण्डभारतस्य कृते बद्धपरिकरेण कॉंग्रेसपक्षेण यथा द्विखण्डं भारतं स्वीकृतं, तथैव संपूर्ण-काश्मीरस्य कृते बद्धवचनमस्मच्छासनं तस्य विभाजनं स्वीकरिष्यति। हन्त, जयतु जयतु राजनीतिः।

(२)

भारतेन जपानस्य अनुकरणं कर्तव्यम् ।

द्वितीयमहायुद्धस्य परिणामेन जापानस्य पारतन्त्र्यं प्रनष्टम्। अणुबाम्बस्य महता आघातेन विच्छिन्नः अयं देशः स्वेतिहासे प्रथममेव पारतन्त्र्यं प्राप्तवान् । नैकवर्षपर्यन्तमुपभुक्तं स्वसाम्राज्यविभवविराजि स्व-राज्यं परकीयाणां हस्ते गतं दृष्टं तद्देशीयैः। ये च स्वदेशस्य नेतारः शौर्यशालिनः सेनापतयः कुशलाः राज्यधुरंधराः ते 'साम्राज्यलिप्सवः अपराधिनः' इति कृत्वा साम्राज्य- लिप्सुभिरेव देहदण्डं प्रापिताः । विनष्टं जापानम्, अधःपतितं जापानमित्येव मतिः बभूव प्रायः सर्वेषाम् । परं गतेषु चतुर्षु वर्षेषु किञ्चिदपि कोलाहलमकृत्वैव या प्रगतिः तेन देशेन कृता सा खलु नितरां प्रशंसनीया, विशेषतः अस्मत्कृते तु अनुकरणीया एव ।

भारतस्य महामात्येन श्रीपंडितजवाहरलालनेहरुणा नागपुरे स्व- व्याख्यानद्वये जापानस्य उदाहरणं पुरस्कृतम् । महायुद्धे जाता क्षतिः तेन कथं पूर्णा इति विशदीकृतम् । पुनश्च तस्मिन् देशे व्यापारस्य या स्थितिः महायुद्धात् पूर्वमासीत् तामेव स्थितिं ते अधुना आगताः इति, जापानस्य-अमेरिकावाणिज्य प्रशासकेन श्री मॅकऑर्थर महाशयेन उक्तमास्ति । यादृशी च प्रगता अवस्था व्यापारस्य तादृशी अन्यत्राऽपि वर्तते तस्मिन् देशे। पारतन्त्र्यस्य वर्षचतुष्टयेऽपि येन राष्ट्रेण एवं जातीयका प्रगतिः कृता न खलु तद् राष्ट्रं बहुकालं पारतन्त्र्ये अवसीदति इति यद् अस्मन्महामात्येनोक्तं तत्सत्यमेव । इदमेव उदाहरणं पुरस्कृत्य स्वदेशीयेभ्यः " व्यवसाये एवं अनुयुज्यस्व " इति उपदेशः तैः दत्तः । परम्, अपि परोपदेश श्रवणमात्रेणैव कृतार्थं मन्यमानाः अस्मद्देशीयाः जापानवासिनः इव स्वराष्ट्रोद्धरणव्यवसाये स्वचित्तं समाधाय परस्परकलहं च तिरस्कृत्य, सकलं स्वबलं स्वांशं च सङ्कलय्य, राष्ट्रहितैक बुद्धया स्वचरितेषु परिवर्तनं कर्तुं यतिष्यन्ते ? अथवा उपदेशः श्रवणाय न च आचरणाय इति मतिं कृत्वा पुनरपि स्वार्थपरे स्वोद्यमेषु मग्नाः भविष्यन्तीति ?

सन्त-सन्देश

(लेखिका— श्री. दयावती, भक्तिसेवाश्रम, डा० बन्त, जि. मुजफ्फरनगर [यू. पी.])

कबीर

बुद्धि विहुना आदमी, जाने नाहिं गंवार ॥
जैसे कपि परबस परयो नाचे घर घर बार १२२
बुद्धि विहुना अंध गज परयो फंदमें आय ॥
ऐसे ही सब जग बंधा कहा कहुं समझाय १२३

व्याख्याः— बुद्धि विहीन मनुष्य गंवार है, वह अपना हिताहित नहीं समझता। जिस प्रकार पराधीन बंदर घट घट नाचता फिरता है, ऐसे ही वह भी इन्द्रियोंके वशमें होकर अपनी स्वतंत्रताको खो देता है। बुद्धि विहीन हाथी अंधा होकर फंदमें आ जाता है। इसी प्रकार सारा संसार इन्द्रियासक्तिके बंधनमें पड़ा हुआ है। किसे समझाऊं?

मनुष्य हृदयमें अनासक्त रहनेकी शक्ति और स्वतंत्रता विद्यमान है। स्पष्ट भाषामें यों कहें कि मनुष्य स्वयं अपने स्वरूप ईश्वरत्वको अपनाए रहनेमें समर्थ है। ऐसी अनंत शक्तिसे शक्तिमान होते हुए भी मनुष्य अज्ञानवश अपनी मनुष्यताको खो देते हैं अक्षय ब्रह्मानंदसे वंचित रहते हैं और इन्द्रियोंके दास बनकर सुख दुःखके बंधनमें पड़ रहते हैं।

मूरखको समझावते, ज्ञान गांठिको जाय।
कोइला भी होइ ऊजरा, नौ मन साबुन लाय १२४
कोइला भी होइ ऊजरो, जरि बरि होय जो स्वेत।
मूरख होइ न ऊजरो, ज्यों कालर का खेत १२५
मूरखसे क्या बोलिए, शठसे कहा बसाय।
पाहनमें क्या मारिए, चोखा तीर नसाय १२६

व्याख्याः— जैसे कोयला नौमन साबुन लगानेपर भी सफेद नहीं होता, सब साबुन व्यर्थ ही हो जाता है, इसी प्रकार मूर्खको समझानेमें ज्ञानका दुरुपयोग ही होता है। कहते है कि कोयला भी जलकर भस्म होनेपर सफेद हो जाता है, पर मूर्ख कभी ज्ञानी नही होता, जैसे बंजर जमीनमें खेती नहीं होती। मूर्ख और शठको समझाना व्यर्थ है, जैसे पत्थरमें मारनेसे पैना तीर अपने आप ही नष्ट हो जाता है, पत्थरपर कोई असर नहीं होता।

संसारमें मूर्खसे भी ज्ञानीको उचित वर्ताव करनेका अवसर आता है। मूर्ख अपने स्वभावके अनुसार मूर्खता ही करता है। उसकी मूर्खता दूसरोंको हानि पहुंचानेका ही रूप धारण कर लेती है। लालचसे ही मनुष्य अन-धिकार चेष्टा करके दूसरेका उचित अधिकार छीनना चाहता है। जब ऐसा अनधिकारी अज्ञानी, ज्ञानीके अधिकार पर आक्रमण करता है, तब अपना लालच पूरा करना और अपने शिकारकी कायरतासे लाभ उठाना ही उसका उद्देश्य होता है, ज्ञानीसे ज्ञानका व्याख्यान सुनना या उपदेश लेना नहीं। ज्ञानकी बात सुननेका अधिकारी तो ज्ञानी ही होता है, जिसके मनमें ज्ञानके लिए स्वाभाविक आग्रह और उत्सुकता है। मूर्खको समझा बुझाकर मूर्खता से निवृत्त करनेका चेष्टा करना दुराशा मात्र है और वास्त-वमें उसकी कृपा मांगना है। जैसे कुत्तेकी पूंछ ज्यों ज्यों मली जाती है त्यों त्यों टेढीही होती जाती है और छोड़ते ही तुरंत सीधी हो जाती है, इसी प्रकार मूर्खको जितना भी सम-झाया जाता है उसे वह समझाने वालेकी निर्बलता समझता है और उससे उसका दुःसाहस और भी अधिक बढ जाता है। इसके विपरीत उसकी समझमें आनेवाला अधिकतर शक्तिशाली मानसिक दृढताके साथ बिना वाक्य व्ययसे किया गया उचित व्यवहार ही उसके जी को तोडनेवाला होता है। इसीमें मूर्खसे वर्ताव करनेकी ज्ञानीकी व्यवहार कुशलता है।

मन ही को परमोधए, मन ही को उपदेश।
जा यदि मनको बस करै, (ते) सिष्य होय
सब देस ॥ १२७ ॥

व्याख्याः— मनको ही समझाओ और मनको ही

उपदेश करो। जो मनको वशमें कर लेता है सारा देश उसका शिष्य हो जाता है।

समझानेका पात्र सचमुच मनुष्यका अपना ही मन है, दूसरा कोई नहीं, जिसका मन समझा हुआ है वही ज्ञानी है। मनको समझाना और वशमें करना एक ही बात है। यही ज्ञान है। ज्ञानी समग्र मनुष्य समाजकी श्रद्धा पाने योग्य है, क्योंकि उसका आचरण ही मनुष्य समाजको सच्चे सुख शान्तिका मार्ग दिखाने वाला होता है।

मन पंछी तब लगि उडे, विषय वासना माहिं।
प्रेम बाजकी झपटमें, जब लगि आयो नाहिं १२८

व्याख्याः— मन रूपी पक्षी तभी तक विषय वासनाओंके पीछे भागता है, जब तक प्रेमरूपी बाजकी झपटमें नहीं आता।

अनासक्ति ही प्रेम है। जब मनुष्य अपनी स्वतंत्रतासे अनासक्तिरूपी ज्ञानको अपना लेता है, तब उसका मन ज्ञानस्वरूप हो जाता है और उसमें अज्ञान नहीं रहता।

मनके हारे हार है, मनके जीते जीत ॥
कह कबीर पिउ पाइए, मनहीं की प्रतीत १२९

व्याख्याः— मनके हार जानेपर हार होती है और मनके जीतने पर जीत। कबीर कहते हैं कि मनके द्वारा अनुभव करके ही प्यारेको पाया जा सकता है।

अनासक्त मन ही विश्व विजयी है। इसके विपरीत आसक्त मन सर्वावस्थामें हारा हुआ है। अपनी शान्तिको न खोना ही विजय है और अपनी शान्तिको खोनाही हार है। विजयी मन सत्यकी सेवामें शरीरका बलिदान होना स्वीकार करके भी अपनी शान्तिको सुरक्षित रखता है। हार जीतका प्रश्न संग्राममें ही होता है। ज्ञानीका जीवन ही असत्यसे विरोध करने रूपी संग्राम है। यह संग्राम स्वयं ही विजय है और इस संग्रामको न करना अज्ञानी बन जाना रूपी हार है। असत्यका विरोध रूपी संग्राम और कर्तव्य एक ही बात है। इसका भौतिक परिणाम चाहे कुछ भी हो इस संग्रामको स्वीकार करना ही सत्यकी सेवामें सबलता रूपी विजय है। ज्ञानीकी दृष्टिमें भौतिक परिणाममें सफलता असफलता नहीं है, कर्तव्य निष्ठा ही उसकी सबलता है। ज्ञानीका जीवन स्वयं ही विजय है। विजयी मनका विजयोत्सव अपनेमें ही होता है। बाहरी जगकी निंदास्तुतिसे उसका कोई संबंध नहीं है।

माया तरवर त्रिविधिका, साख विषय संताप।
सीतलता सुपने नहीं, फल फीका तन ताप १३०

व्याख्याः— माया रूपी वृक्षकी शाखा, छाया और फल तीनों दुःखदायी हैं। विषय और संताप उसकी शाखा हैं। उसकी छायामें शीतलता नहीं है और उसका फल फीका तथा शरीरको कष्ट पहुंचानेवाला है।

विषयासक्ति ही माया है। यही अज्ञान है। इसीमें सुख मानकर मनुष्य विषयोंमें सुख ढूंढता है। इसीको अपने जीवनका सहारा समझता है और इनको भोग करनेमें मिठास मानता है। परन्तु विषयकामना रूपी दुःख मिटाने वाली शक्ति इस मायामें नहीं है। अनित्य विषय उसकी कामाग्निमें आहुति बनकर उस दुःखदायी अग्निको ही प्रज्वलित रखते हैं। जीवनमें शान्तिकी शीतलता क्षण भरके लिए भी नहीं मिलती। वे सुख समझकर जिस भोगमें लिपटे रहते हैं वह वास्तवमें दुःखका ही रूप धारण कर लेता है एकमात्र मन ही अनासक्त निष्काम स्थितिमें ही विषयकामना रूपी दुःख मिटानेकी शक्ति है।

पूजा सेवा नेम व्रत, गुडियन का सा खेल।
जब लगि पिव परसै नहीं, तब लगि संसय मेल १३१

व्याख्याः— पूजा सेवा करना तथा नियम और व्रत रखना ऐसा ही है जैसा बच्चोंका गुडियाओंका खेल। जब तक मनके प्यारे उसके स्वरूप अनासक्तिका दर्शन नहीं कर लिया जाता तब तक संशय बना ही रहता है।

अनासक्तिमें ही मनुष्यकी सब कामनाएं शान्त होती हैं। इस पूर्ण शान्तिकी अवस्थामें मनमें ऐसा कोई भी अभाव शेष नहीं रह जाता जिसको मिटानेके लिए किसी प्रकारके पूजा, सेवा, नियम, व्रत आदि करनेकी आवश्यकता हो। आसक्त स्थितिमें इस शान्तिसे वंचित तथा अनजान रह कर जो भी कुछ साधन किया जाता है, वह सब अज्ञान रूपी अंधेरेमें किया हुआ बच्चों जैसा काल्पनिक खेल होता है। अप्राप्त ईश्वरके लिए किए गए संशयात्मा अज्ञानीके इस प्रकारके भ्रान्त साधन भजनका अन्त अनासक्तिरूपी प्यारेसे मिले बिना नहीं होता।

आश्विन २००७

वर्ष ३१ ♦ अंक १०

क्रमांक २२

अक्टूबर १९५०

▲ संपादक : श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ▲

वैदिक धर्म

[अक्टूबर १९५०]

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक
महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी जि. सूरत

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वर्ष ३१] विषयानुक्रमणिका [अंक १०

माननीय लेखकोंसे----

'वैदिक धर्म' में प्रकाशनार्थ कई महत्वपूर्ण लेख हमारे पास आये हुए हैं। किन्तु बहुत समय बीत जानेपर भी हम उन्हें प्रकाशित करनेमें असमर्थ रहे। हमारे माननीय लेखकोंको इससे असन्तोष होना स्वाभाविक है। हम विनम्रतापूर्वक उनसे क्षमा चाहते हैं। अति विलम्बके कारण यदि लेखक महानुभाव अपने लेख लौटाना चाहें तो कृपया लिखें; हम उनके लेख लौटा सकेंगे। अन्यथा शनैः शनैः हम सभीके लेख प्रकाशित करनेका यत्न करेंगे।

एक विशेष निवेदन

हम १ जनवरी ५१ ई० से 'वैदिक धर्म' में 'जीवन परिचय' नामक एक स्तम्भ प्रारम्भ करना चाहते हैं। उसके लिये हम लेखकोंके पास प्रार्थना-पत्र भेज रहे हैं। प्रत्येक अंकमें एक 'जीवन परिचय' लेख रहेगा। इसमें वैदिक धर्मके विद्वानों लेखकों, कार्यकर्ताओं, अधिकारियों आदिका जीवनवृत्त रहेगा। यदि सम्भव हुआ तो अपना जीवनवृत्त अपनी ही लेखनीसे लिखकर भेजनेका हम अनुरोध करेंगे। भारतभरके आर्य विद्वानोंसे इस कार्यके लिये सहयोगकी अपेक्षा है।

निवेदक
महेशचन्द्र शास्त्री

वैदिक धर्म

क्रमांक २२,

वर्ष ३१ अंक १०

आश्विन
विक्रम संवत् २००७,
अक्टूबर १९५०

वीर कैसा होना चाहिये

शूरग्रामः सर्ववीरः सहावान् जेता
पवस्व सनिता धनानाम् ।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वसाळ्हः
साह्वान् पृतनासु शत्रून् ॥

(ऋग्वेद ९।९०।३)

[शूरग्रामः] शूरोंके समुदाय जिसके साथ रहते हैं, [सर्ववीरः] समस्त वीरोंका अग्रणी [सहावान्] शत्रुका पराभव करनेवाला, [जेता] विजयी, [धनानां सनिता] धन देनेवाला, [तिग्म आयुधः] तीक्ष्ण शस्त्रोंको अपने पास रखनेवाला, [क्षिप्र-धन्वा] धनुष चलानेमें प्रवीण [समत्सु साळ्हः] युद्धमें शत्रुओंके लिये दुर्धर्ष, [पृतनासु शत्रून् साह्वान्] युद्धमें शत्रुका नाश करनेवाला तू [पवस्व] जीवन प्रवाह चला ।

वीर कैसा होना चाहिये, यह बात इस मन्त्रमें स्पष्ट की गई है। उसके साथ वीरोंके संघ होने चाहिये । समस्त वीरोंके लिये यह सन्मान योग्य हो, शत्रुका आक्रमण होनेपर उन्हे नष्ट करके अपने स्थानपर स्थिर रहनेवाला, विजयी होनेवाला, अपने अनुयायियोंकी आर्थिक स्थिति सुधारनेवाला, अपने शस्त्रास्त्र शत्रुके शस्त्रास्त्रोंकी अपेक्षा सर्वदा अधिक कार्यक्षम रखनेवाला, शस्त्रास्त्रोंके प्रयोगमें प्रवीण, युद्धके समय शत्रुपर चढाई करके असह्य आक्रमण करनेवाला, युद्धमें शत्रुका नाश करके सदा अपनी विजयके लिये प्रयत्नशील रहनेवाला होना चाहिये ।

हर्ष सूचना!

हमें यह घोषित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि २-३ सितम्बरकी परीक्षाओंमें उत्तीर्ण निम्नलिखित परीक्षार्थियोंको समितिकी ओरसे निम्न पारितोषिक प्रदान किया जाता है।

विशारद १- श्री गंगाधर रावजी गुर्जर (पंढरपुर)
१०) रु० तथा ' **गीता** ' पुरुषार्थ बोधिनी टीका श्री पं. सातवलेकर कृत

प्रवेशिका २- ,, सुशीलादेवी प्रेमनाथ कौल (काश्मीर)
५) रु. तथा ' **ईश्वरका साक्षात्कार** '

प्रारंभिनी ३ - ,, मोहम्मद महबूबअली (हैद्राबाद)
५) रु. तथा ' **सूर्यनमस्कार** '

सूचना: — संस्कृत परीक्षाओंमें उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंके लिये जो महानुभाव ' पारितोषिक ' नियत करना चाहें, वे इस विषयमें केन्द्रीय कार्यालयसे पत्रव्यवहार कर सकते हैं। —परीक्षा-मन्त्री

यदि आप भारतीय हैं

तो मैं आपके लिये कुछ प्रश्न उपस्थित करना चाहता हूँ। आप स्वतन्त्र बुद्धिसे इन प्रश्नोंपर विचार कीजिये और अपने जीवनक्रमको निश्चित करनेके लिये उनका उपयोग कीजिये।

१- भाषा सम्बन्धि प्रान्तीय विवादको समाप्त करनेके लिये क्या प्रयत्न हो सकते हैं ? क्या संस्कृत भाषाका प्रचार इस महान् कार्यकी पूर्तिमें अनिवार्य है ?

२- स्वतन्त्र भारतकी राष्ट्र भाषाको अधिक सुन्दर, अधिक सम्पन्न, अधिक प्रिय एवं अधिक प्रचलित करनेके लिये कौनसे साधन उपयोग में लाये जासकते हैं ? क्या संस्कृत भाषाका प्रचार इसके लिये अत्यन्त आवश्यक है ?

३- राष्ट्रभाषामे निर्माण होनेवाले अर्थशास्त्रके कोष, राजनीतिके कोष, विज्ञान-कोष एवं अन्य कोष क्या संस्कृत ज्ञानके बिना, समझे जासकेंगे ? यदि इन कोषोंमें आये हुए शब्द जनसाधारण, उच्चकक्षाओंके छात्र एवं शासक वर्गकी समझमें अच्छी प्रकारसे न आयके तो उनका क्या उपयोग ? तब क्या संस्कृत का प्रचार होनेपर यह समस्या हल हो सकेगी ?

४- शीघ्रसे शीघ्र अंग्रेजीको विदा कर देनेके लिये प्रत्येक राष्ट्रभक्त आतुर है। उसका स्थान जिस राष्ट्रभाषाको लेना है, उसे अधिक सबल बनाकर अंग्रेजीके स्थानपर विराजित करनेके लिये पूर्व भूमिकाके रूपमें अतिशीघ्र क्या आज संस्कृत प्रचार आरम्भ करना प्रथम कर्तव्य नहीं है ?

५- जिस भाषामें आपके पूर्वज कभी बोलते थे, गाते थे, उत्सव एवं अभिषेक करते थे, क्या उसे आप भी सीखना चाहते हैं ? भारतके प्राचीन इतिहास, काव्य, गाथा, दर्शन आदि जानने के लिये आपके पास क्या साधन है ? क्या संस्कृतको ही आप इसका एकमात्र साधन नहीं समझते ?

६- बहुतोंकी मान्यता है कि संस्कृत व्यवहारकी भाषा नहीं है और जो भाषा लोक-व्यवहारमें नहीं है, वह भाषा जीवित भाषा नहीं हो सकती। क्या आपकी भी यही मान्यता है ? यदि ऐसा है तो कृपया विचार कीजिये कि जिस देशमें आपने जन्म लिया उसका नाम किस भाषाका है ? उस देशके पर्वतों, नदियों, वनों, उपवनों, सागरों एवं सरोवरोंके नाम किस भाषामें हैं ? पिता, माता, भ्राता, भगिनी, पुत्र, पत्नी आदि सम्बन्ध वाचक शब्द कौनसी भाषाके हैं ? रातदिन बोले जानेवाले दुग्ध, घृत, शाक, फल, जल आदि शब्द किस भाषाके हैं ? औषधि, पथ्य, निद्रा, जागरण पेय, वायु आदि कौनसी भाषाके शब्द हैं ? जब आपके जातकर्म, नामकरण, उपनयन, विवाह आदि संस्कारोंके समारोह होते हैं तो वे कौनसी भाषामें होते हैं ? ध्यानस्थ होकर जब आप ईश्वरका चिन्तन करते हैं तो आपकी जिव्हापर कौनसा शब्द नृत्य करने लगता है ? यदि मानव जीवनकी इन पद पदपर होनेवाली घटनाओंके साथ श्वास और प्रश्वास के समान संस्कृत भाषाका सम्बन्ध है तो क्या फिर भी आप इसे जीवित एवं लोक व्यवहारकी भाषा माननेको तत्पर नहीं हैं ?

७- गत महायुद्धके समय जर्मनीमें ८० शिक्षणालय ऐसे थे जहाँ संस्कृत भाषा पढाई जाती थी। काबुलके विश्व विद्यालयमें तथा कन्धारकी शालाओंमें आज संस्कृतको अनिवार्य विषय मानकर पढाया जाता है। पोलेण्ड और रूसमें संस्कृतके अनुसन्धानकर्ता विद्वानोंकी कमी नहीं है। वे आज रामायण और महाभारतको पढने और समझनेके लिये उत्सुक हैं। ऑफ्रिकाके एक रोमन कॅथोलिक बिशपने संस्कृत सीखकर अपनेको भाग्यशाली समझा और आज सभाओंमें जब वह संस्कृतमें भाषण देता है तो फूला नहीं समाता। मेक्समूलर अपने आपको मोक्षमुलर भट्ट कहलाना पसन्द करता है और वर्षोंतक केवल संस्कृत भाषा बोलनेकी प्रतिज्ञा करके उसे पूरा निभाता है। जिन वैदिक ग्रन्थोंका मूल्य भारतमें दस रुपये हैं उन्ही

ग्रन्थोंका (यूरोपमें छपे हुए) मूल्य विदेशोंमें २००) रु. है। पेरिस विश्वविद्यालयके प्रो० डॉ० लुई रेणु भारतमें आकर संस्कृतके प्रति भारतीयोंकी रुचिका जब अवलोकन करते हैं तो उनके मुंहसे निकल पडता है कि 'वह भारतीय कैसे माना जा सकता है जो अपनी मातृभाषा संस्कृतको नहीं जानता', 'भारतका शिक्षामन्त्री संस्कृतसे अनभिज्ञ है, यह आश्चर्यकी बात है,

भारतसे बाहरके निवासियोंकी संस्कृत भाषाके प्रति जो भावना है, उसका बहुत कुछ निदर्शन उपर्युक्त विवरणसे जाना जा सकता है।

क्या हम अपनी मातृभाषाको सीखनेके लिये उतनी उत्सुकताभी नहीं दिखा सकते जितनी उत्सुकता विदेशी दिखा रहे हैं?

मैं प्रत्येक भारतीयसे निवेदन करना चाहता हूँ कि वह इन बातों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करे। शिक्षा-क्षेत्रमें कार्य करनेवाले महानुभावोंको इन बातोंपर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है। उनके हाथोंमें आज हजारों छात्रोंका जीवन सुनिहित है। यदि वे चाहें तो इस महान् कार्य को अनायास ही बहुत व्यापक रूपसे पूर्ण कर सकते हैं।

वह दिन कितना सुन्दर होगा जब कलके नागरिक अपनी प्रान्तीय भाषाओंके साथही अपनी प्रिय मातृभाषामें भी बोलने लगेंगे। भारतीय युवकके मुखसे आज जब हम विदेशी शब्दोंकी बौछार होते हुए देखते हैं तो कभी कभी कुछ प्रश्न हठात् सामने आजाते हैं और मनमें ये विचार उठने लगते हैं कि- क्या हम स्वतन्त्र होचुके हैं ? क्या हमारी कोई पूर्ण भाषा नहीं है, जिसमें कि हम बोलते हुए गौरव-का अनुभव करें ? हममें अपनेपनकी कुछ भावना अवशिष्ट है या नहीं ?

वह दिन कब आयेगा जब भारतका प्रत्येक बालक, युवक एवं नागरिक खेलकूदके समय, हंसने बोलनेके समय, मिलन और विछोहके समय, स्वागत, सत्कार एवं संघर्षके समय अपनी मातृभाषा संस्कृतमें बोलता हुआ सुनाई देगा। वह दिन जब बालक हठ करेगा तो स्वभावतः उसके मुँहसे मातृभाषा निकल पडेगी, जब युवक आवेशमें आकर बोलेगा तो उसकी जिह्वासे संस्कृतके शब्द निकल पडेंगे और जब नागरिक अपने कर्तव्य और अधिकारकी चर्चा करेगा तो उसकी वाणी संस्कृतमें फूट पडेगी, तब सचमुच एक ऐसा सुन्दर वातावरण इस भारत वसुन्धरापर उत्पन्न हो जायेगा कि जिसकी कल्पना भी अभिमान-से हमारा मस्तक ऊँचा कर देगी। उस समय देखनेवाले देखेंगे कि ये सचमुच स्वतन्त्र भारतके निवासी हैं, सुननेवाले सुनेंगे कि ये सचमुच भारतीय वाणीके शब्द हैं और विचार-वान अनुभव करेंगे कि अब भारतमें स्वतन्त्रताकी वास्तविक झलक झिलमिलाने लगी है।

पुनः इस बातका स्पष्टीकरण कर देना मैं आवश्यक समझता हूँ कि संस्कृत भाषा वैसी कठिन नहीं है, जैसी प्रायः जनता समझती है। यहाँ मैं यह अवश्य स्वीकार करूंगाकि आजतक की संस्कृत के पठन पाठन की जो प्रणाली रही है वह कठिन रही है उस प्रणाली द्वारा बहुत अधिक समयमें बहुत थोडी पढाई हो पाती है। किन्तु जिन परीक्षाओं द्वारा हम संस्कृतका प्रसार करनेके लिये कृतसंकल्प हैं उनका पाठ्यक्रम अतिशय सरल है। अधिकसे अधिक सरलतापूर्वक इस पाठ्यक्रमसे जन साधारण भी बहुत थोडे समयमें संस्कृत सीख सकेगा। इस पाठ्यक्रमके अनुसार एक बार अध्ययन प्रारम्भ करनेके पश्चात् प्रतिदिन केवल एक घण्टे का समय देकर दो वर्षमें इतनी योग्यता हो जाती है कि उससे कोई भी गीता, रामायण और महाभारत जैसे ग्रन्थ समझ सकता है। उसके पश्चात् यदि कोई चाहे तो संस्कृत साहित्य-के विभिन्न अङ्गों, काव्य, नाटक, आख्यायिका, निबन्ध आदि का अध्ययन भी खूब अच्छी प्रकारसे किया जा सकता है।

इस प्रकारकी इस अभिनव योजनाका प्रसार भारतमें उत्तरोत्तर विस्तृत होता जारहा है। कोई भारतीय इस योजना के लाभसे वंचित न रहे इस इच्छासे सबके सन्मुख यह वक्तव्य प्रस्तुत किया जा रहा है।

निवेदक

महेशचन्द्रशास्त्री विद्याभास्कर

राजयोगके मूलतत्त्व और अभ्यास

[प्रकरण ६]

लेखक — **श्री. राजाराम सखाराम भागवत**, एम्. ए.
अनुवादक-- **श्री. महेशचन्द्रशास्त्री**, विद्याभास्कर

धारणा और ध्यान

इस पुस्तकमें उल्लिखित पहिलेके विवरणसे पाठकोंको यह बात स्पष्ट विदित होचुकी है कि राजयोगमें नये शरीरका उपयोग करना सीखना पडता है। उस शरीरसे वह नये लोकमें व्यवहार करता है और उस समय ज्ञानकी एक नवीन अवस्था का वह अनुभव किया करता है। इस कार्यमें प्रवीण होनेपर और एक नये शरीरका उपयोग करना उसे सीखना पडता है, उस शरीरसे अगले लोकोंमें वह व्यवहार किया करता है और अगली एक ज्ञानकी अवस्थाका अनुभव करता है। इसी प्रकार आगे करता करता वह सम्पूर्ण लोकोंमें व्यवहार करके ज्ञानकी सम्पूर्ण अवस्थाओंका उपभोग करता है और अन्ततः अपने उत्क्रान्ति क्रमको समाप्त करता है।

एक बंगला है। उसमें कई मंजिलें हैं। उसमें एक मनुष्य आरम्भमें पहली मंजिलमें रहकर अपना काम कर रहा है; दूसरी मंजिल पर जानेके लिये एक जीना है; वहां एक दरवाजा है और वह बन्द है। ऐसी स्थितिमें वह मनुष्य पहली मंजिलपर रहेगा। यदि कोई उस मनुष्यको जीनेके दरवाजेको खोलने की युक्ति बता दे तो वह उसे खोलकर दूसरी मंजिलपर चढेगा और वहाँ काम करता रहेगा। तीसरी मंजिलपर जानेका जीना जबतक बंद है तबतक वह पहली और दूसरी मंजिलपर काम चलाता रहेगा। किन्तु उस जीनेके खुलते ही वह तीसरी मंजिलपर भी जायगा और वहाँ रहकर अपना कार्य करेगा इस प्रकार धीरे धीरे वह सभी मंजिलोंपर रहने लगेगा और उन सभी स्थानोंमें अपना व्यवहार कर सकेगा। यदि ऐसा मान लें कि प्रत्येक मंजिलपर रहते समय या व्यवहार करते समय भिन्न भिन्न प्रकारका कोट पहनना पडे और प्रत्येक मंजिलकी खिडकीसे भिन्न भिन्न दृश्य दिखाई दें तो इसे ऐसा ही समझना चाहिये कि मनुष्यकी उत्क्रान्ति इस बंगलेकी भिन्न भिन्न मंजिलें तय करके वहाँ बसनेकी क्रिया करनेके समान है। विशेष प्रकारका कोट पहनकर एक मंजिलपर रहना, वहां विशिष्ट उद्योग करना और वहाँ की खिडकीमें से दिखाई देनेवाली विशिष्ट दृश्यावलि देखकर एक विशिष्ट प्रकारका ज्ञान, क्रिया और आनन्द प्राप्त करना, यही प्रत्येक मंजिलपर होगा। उत्क्रान्तिक्रममें मनुष्य सृष्टिकी एक मंजिल पर (एक लोकमें) एक प्रकारका कोट (शरीर) पहनकर जाता है, वहाँ एक विशेष प्रकारका ज्ञान, क्रिया आनन्द (अवस्था) का अनुभव करता है और क्रमशः सारी मंजिलें हस्तगत करता है। सृष्टिक्रममें इस प्रकार धीमे धीमे होनेवाली यह बात राजयोगमें शीघ्र समाप्त करनी होती है।

एक मंजिलसे ऊपरकी मंजिलपर जाना होतो जीना चढना पडता है। निचली मंजिलसे दूसरी मंजिलपर जाना हो तब भी जीना चढना पडता है और दूसरी मंजिलसे तीसरी मंजिलपर जाना हो तब भी जीना चढना पडता है। अन्तर केवल इतना ही है कि एक जीना निचला है और दूसरा ऊपरका है। यदि कोई कहे कि अमुक एक आदमी इस बंगलेका जीना चढकर ऊपर जा रहा है, तो वह क्या कर रहा है, इसकी केवल आधी कल्पना हमें हो सकती है। वह चढावपर है, शरीरका वजन ऊपर लेजानेका कार्य वह कर रहा है, उसका अगला कदम अगली सीढीपर है और पिछला नीचेकी सीढीपर है, इतनी कल्पना केवल हमें हो सकती है। किन्तु जमीनसे वह कितनी उंचाईपर है, जीना समाप्त होजानेपर कौनसी दृश्यावली उसे दिखाई देगी, इसकी कल्पना हम नहीं कर सकेंगे। जबतक हमें यह न मालूम हो जायगा कि वह किस मंजिल पर जानेका जीना चढ रहा है तब तक ये सारी कल्पनायें हमें नहीं हो सकतीं।

परिभाषा की विशेषता

जिस प्रकार जीना शब्दका प्रयोग चाहे जिस मंजिलके लिये प्रयुक्त हो सकता है उसी प्रकार राजयोग शास्त्रके अन्दर के अनेक शब्द प्रयुक्त किये जा सकते हैं। वे ज्ञानके अनेक केन्द्र एवं अनेक लोगोंके लिये प्रयुक्त होते हैं। एक ही शब्द भिन्न भिन्न अवस्थाओंका उल्लेख करनेके लिये प्रयोग किया जाता है। इस बातसे अनभिज्ञ रहनेके कारण जिज्ञासु दुविधा में पड जाया करता है। ' परीक्षा ' शब्दका अर्थ विशेष और स्पष्ट है। वह विशेष अर्थ मॅट्रिककी परीक्षाके लिये लागू है। इण्टर और बी० ए० की परीक्षाके लिये भी लागू है। परीक्षा से पूर्व विशेषरूपसे अभ्यास करना आवश्यक है, परीक्षासे पूर्व प्रिलिमिनरीमें बैठना पडता है, परीक्षामें अङ्क दिये जाते हैं, परीक्षाका परिणाम निकलने पर ही उत्तीर्ण-अनुत्तीर्णका पता लगता ये सारेके सारे कार्य कलाप परीक्षाके साथ संलग्न हैं। जबतक यह पता न लगे कि किस परीक्षाके विषयमें कहा जा रहा है तबतक परीक्षा सम्बन्धी किये गये विधानसे आधा बोध होगा, पूरा नहीं हो सकता। ' परीक्षा ' शब्द जिस प्रकार शिक्षाकी भिन्न भिन्न अवस्थाके अनुसार प्रयोगमें आता है; जीना शब्द जिस प्रकार भिन्न भिन्न मंजिलोंके सम्बन्धमें प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार ध्यान, धारणा, समाधि आदि योगशास्त्रके अनेक पारिभाषिक शब्दोंके विषयमें है। मेरे दोनों भाई अभ्यास करके अभी अभी परीक्षामें उत्तीर्ण हुए हैं, ऐसा कहनेपर उन दोनोंकी योग्यता एक सी है यह हम नहीं कह सकते। क्योंकि एक प्रथम कक्षा उत्तीर्ण कर चुका होगा और दूसरा एम. ए. उत्तीर्ण कर चुका होगा। अमुक एक व्यक्तिने समाधि लगाई है, ऐसा कहें तो, जबतक किस मंजिलकी वह समाधि है यह न कह दिया जाय तबतक उस-की पूरी कल्पना नहीं हो सकती है। क्योंकि वह पहली मंजिलकी भी हो सकती है तथा सातवी मंजिलकी भी हो सकती है। ' दो मनुष्योंने समाधि लगाई है, ' यह कथन ' दो मनुष्योंने पानीमें डुबकी लगाई है ' इस कथनके समान होगा। पानीमें डुबकी लगानेवाले दोनों मनुष्य आँखोंसे ओझल होजाय तो भी उनमें से एक दो चार हाथ नीचे गया होगा और दूसरा तलहटीमें जाकर मोती ढूंढ रहा होगा।

इसी प्रकार समाधि लगानेवाले दो मनुष्योंको देखने पर वे दोनों ही आँख बन्द किये हुए समान रूपमें दिखाई देंगे; किन्तु उनमेंसे एककी प्रज्ञा भुवर्लोकमें गई हुई होगी और दूसरीकी जनलोकमें गई हुई होगी। योगमें अनेक शब्द भिन्न भिन्न अवस्थाओं के रहते हैं, यह ध्यानमें रखना चाहिये। बहुतसोंको इस बातका ज्ञान न होनेके कारण वे योगशास्त्र की बिलकुल मिट्टीपलीत कर डालते हैं। पाठकोंको यह बात विशेष रूपसे ध्यानमें रखनी चाहिये। जिससे राजयोग शास्त्रकी विशेष क्रियाओंका जो विवेचन अब इस प्रकरण में आगे करना है, वह विशुद्धरूपसे उन्हें समझमें आजाय।

प्रारम्भ के भाग

योगके प्रथम अङ्ग **यम** और दूसरे **नियम** हैं। इनका विस्तारपूर्वक विचार पिछले प्रकरणमें हो चुका है। स्वाभाविक रूपसे ही ये यम और नियम जिसके स्वभावमें पर्याप्त रूपसे विकासको प्राप्त हो चुके हैं, उन्हींके लिये यह योगशास्त्र है, औरों के लिये नहीं है। योगमें प्रवेश करनेपर ये यम नियम तथा तत्सदृश अन्य गुण और अधिक विकसित करने पडते हैं एवं सर्वाङ्गीण चित्त शुद्धि करनी पडती है।

> ' जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्व-
> भौमाः महाव्रतम् ' (२, ३१)

अर्थात् जाति, देश, काल, समय, ये किसी प्रकारके भी हों तब भी स्वयंको विचलित न करते हुए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह, ये जो पांच यम हैं उनका प्रत्येक परिस्थिति में पालन करना ही महाव्रत कहाता है और वह राजयोगमें आवश्यक है। एक ही अवस्था विशेष में अहिंसा का पालन करना है, यह बात नहीं है। प्रत्येक अवस्थामें उसका पालन होना चाहिये। भुवर्लोकमें संचार कर-नेवाले एक योगीमें अपने देशके विरुद्ध लडनेवाले सेनापतिके (समझिये) हिंसा करनेका सामर्थ्य होनपर भी उसे वैसा करनेकी मनाई है।

राजयोगका तीसरा अङ्ग **आसन** है। ' **स्थिर सुखम् आसनम्** (२, ४६) ऐसा पतंजलिने कहा है। अर्थात् सुखसे स्थिर बैठना ही आसन है। पौर्वात्य लोग आसन पालथी लगाकर ठीक बैठ सकते हैं। उस समय पीठ सीधी रखनी

पडती है और हाथ गोदके स्थानपर रखने पडते हैं। जो इस प्रकार नहीं बैठ सकते वे विशेषतः पाश्चात्य लोग- यदि कुर्सीपर बैठें तो कोई हानि नहीं है। हठयोगके टेढे मेढे आसनोंका तो कोई उपयोग नहीं।

चौथा अ है **प्राणायाम**. आसन लगाकर बैठ जानेपर आवश्यक हो तो आरामके साथ धीरे धीरे नाकसे अन्दरकी ओर श्वास खींचना चाहिये और दो चार क्षण ठहरकर धीरे धीरे बाहर छोडना चाहिये। इससे मनमें थोडी स्थिरता आ-जाती है। (**धारणास्तु योग्यता मनसः** । २, ५३) यह आवश्यक नहीं है। किन्तु बहुतसों के लिये यह लाभदायक है। अनुभवके बाद यदि किसीको इससे लाभ न हो तो वे इसे छोड सकते हैं तथा हठयोगके किसी भी प्राणायाम से वे बरी रह सकते हैं।

इस प्रकार से आसन जमाकर मनुष्य जब बैठे तो उसे चाहिये कि वह बाहरकी सारी दुनियांको भूल जाय, अपना शरीर भी भूल जाय; क्योंकि अगले सारे प्रयत्न मनसे करने के होते हैं। ये अगले सारे प्रयत्न करनेमें अत्यन्त कठिन हैं। जिसका मन अभ्यासद्वारा सुसंस्कृत हो चुका है, जिसके लिये मनकी थोडी बहुत भी एकाग्रता साध्य है, जो क्रमशः आगे बढानेवाली किसी सुसंगत विचार मालिकाको धारण कर अपने मनको दूसरी ओर नहीं जाने देता तथा उस विचारसरणी-के सूत्रोंको तन्मयतासे पकडकर आगे प्रगति करनेकी जिसकी आदत है उसीके लिये अगली कुछ बातें साध्य हो सकती हैं। औरोंको चाहिये कि वे मनकी ऐसी तैयारी करके इन बातोंको सम्पादन करनेका यत्न करें।

यदि कोई बोझा उठाना पडे तो उसके लिये पहले स्नायु-ओंका सशक्त होना जरूरी है। उसी प्रकार मन भी निर्मल, सशक्त एवं इष्ट बातको दृढतासे ग्रहण करने योग्य होना आवश्यक है। उत्क्रान्तिके क्रममें मनुष्यका मन क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध, इन अवस्थाओंमें से संक्रमण करता है (**क्षिप्तम्, मूढम्, विक्षिप्तम्, एकाग्रम्, निरुद्धम् इति चित्त भूमयः** । १, १ का व्यास भाष्य) ऐसा भाष्यकार व्यास ने कहा है। प्रारम्भ में मनुष्यका मन क्षिप्त अर्थात् पतङ्ग की तरह सर्वत्र भ्रमण करनेवाला होता है। आगे कुछ और उत्क्रान्ति करनेपर मोह से वह आकर्षित किया जाता है। इस प्रकारका वासनाओंके मोहमें पडा हुआ मन **मूढ** कहा जाता है। पुनः और उत्क्रान्ति होनेपर मन **विक्षिप्त** हो जाता है। विक्षिप्त याने किसी कल्पनाद्वारा अभिभूत। इस वृत्तिका मनुष्य जिस चीजको ग्रहण कर लेता है उसे दृढतासे निभाता रहता है।

वीर-वृत्तिके मनुष्यका मन इसी प्रकार का होता है। स्वयं की लाभहानि और सुख दुखका विचार न कर इस प्रकारका मनुष्य एक ध्येयके पीछे पड जाता है और उसे किसी प्रकार भी नहीं छोडता। यदि उसके ध्येयमें कुछ दोष हुए तब भी वह उसे नहीं देखता। एक विशेष कल्पनासे वह घिरा रहता है। जिसके मनमें इस प्रकारकी शक्ति प्रादुर्भूत होचुकती है, ऐसे मनुष्यके लिये ही योगकी क्रियाएं साध्य होना सम्भव है। आसन जमाकर और आँखे बन्द करके बैठ जाना ही योग नहीं है। यह प्रश्न तो सामर्थ्य का है। स्वभावमें यदि पहलेसे ही शक्तिमत्ता और निष्ठा होगी तो ही आसन जमाकर बैठनेसे कुछ लाभ सम्भव है। विक्षिप्त अवस्थासे अगली अव-स्था **एकाग्र** है। इस अवस्थामें मनुष्य किसी भी कल्पनासे घिरा नहीं रहता, उस कल्पना का गुलाम नहीं रहता, अपितु वह उस कल्पनाको अपने वशमें करके रखता है। ऐसा मनुष्य भी निष्ठावान्, दृढवृत्तिवाला अपनी लाभहानिकी चिन्ता न कर अच्छी बातको ग्रहण करके रहनेवाला होता है; किन्तु उसके आधीन नहीं रहता। किसी कारणसे यदि वह बात अनावश्यक प्रतीत हुई, उसमें कुछ दोष पैदा होगये तो वे उसे दिखाई देने लगते हैं। अन्तिम अवस्था '**निरुद्ध**' है। इसमें एक ही कल्पनाको वह दृढता से ग्रहण किये हुए नहीं रहता। आत्म-ज्योतिके प्रकाशसे वह अनेक कल्पनाओंमें से जो आवश्यक रहती है उसे चुन लेता है और जो उपयुक्त रहती हैं उसे दृढता से ग्रहण कर लेता है। यदि एक बात अनावश्यक सिद्ध होकर दूसरी आवश्यक सिद्ध हो तो वह पहली सुखसे छोड सकता है और दूसरीसे पहलीके समान ही एकजीव हो सकता है। ये अगले केन्द्र हुए। योगमें यदि साधारण प्रगति भी करनी हो तो **विक्षिप्त** नामक अवस्थातक पहुँचा हुआ होना मनुष्यके लिये आवश्यक है। उसका क्षिप्त या मूढ होना उपयोगी नहीं।

प्रत्याहार

राजयोगका पांचवाँ अङ्ग या विभाग **प्रत्याहार** है। यह प्रत्याहार केवल ध्यानकी अवस्थामें ही किया जाता है ऐसा

नहीं है, अपितु सदैव उस वृत्तिको स्थिर रखनेका प्रयत्न करना होता है। ध्यानके समय तीव्रता पूर्वक उसे उत्पन्न करना और आठों प्रहर उसे कायम रखनेका प्रयत्न करना यह आवश्यक है, नहीं तो ध्यानके समय दो कदम आगे प्रगति करने तथा सारे दिन विरुद्ध आचरण करके फिर दो कदम पीछे हट जानेके समान होगा। प्रत्याहारका अर्थ यह है कि इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर मनको शान्त एवं एकाग्र कर लिया जाय। भगवान् श्री कृष्णने गीतामें वर्णन किया है कि इन्द्रियोंकी शक्तियाँ विषयोंसे हटाकर अन्तर्मुखी करलेनी चाहिये, जिस प्रकार कछुआ अपने हातपैर खींचकर अन्दर कर लेता है।

एक पेटू आदमी है। मीठी और चटपटी चीजें खानेकी उसे बहुत आदत है। ऐसे मनुष्यका मन सदा खानेपीनेकी बातोंमें निमग्न रहता है। उसके मनमें हलवा, रबडी, दालमोठ, कचौरी आदि खानेकी उत्कट भावना हमेशा उठा करती है। उसे थोडा भी खाली समय मिला कि इन पदार्थोंपर उसका मन दौडता है; उनके स्वादकी कल्पना सामने आकर मुँहमें पानी आजाता है और उसकी पेटूपने की वृत्तियाँ उत्तेजित होने लगती है। इस प्रकार खाऊपनेकी ओर उसका मन आकर्षित होकर उसका स्वभाव भी खाऊ बन जाता है। जिव्हालौल्यसे जो भावनायें संश्लिष्ट रहती हैं उनके वासना शरीरके द्रव्य उसी दिशाकी ओर आकृष्ट होते रहते हैं। जिव्हा और वासना शरीरके वे द्रव्य ही उसकी 'इन्द्रियाँ' हैं। तब प्रत्याहारका अभिप्राय यह है कि इन इन्द्रियोंमें हम जो अपने मनको लगाते हैं, जो चैतन्यता उत्पन्न करते हैं, वह न करके मनको पीछे खींचा जाय, चटपटे पदार्थोंका संकल्प मनमें न लाकर उन इन्द्रियोंकी आतुरता नष्ट कर दी जाय।

मान लीजिये कि एक मनुष्यने खूब प्रयत्न करनेके बाद इस प्रत्याहारको साध लिया, तो ऐसी अवस्थामें अपने मनमें चटपटी चीजोंके विचार और भावना को वह टिकने नहीं देगा, और दूसरी अच्छी बातोंके विचार मनमें उत्पन्न करनेके लिये वह स्वतन्त्र होजायगा। पहले जलेबी देखते ही या उसके तलने की गन्ध आते ही उन्हें खानेकी उत्कट भावना मनमें आती थी; किन्तु बादमें जलेबी देखनेपर, चटपटी वस्तुओंकी गन्ध आनेपर भी खानेकी उत्कट भावना मनमें नहीं आयेगी। जलेबी और चटपटी चीजें यदि कभी विवेकदृष्ट्या, आवश्यक हुई तो वह उन्हें खायेगा, खाते समय उसका स्वाद औरों जैसा ही उसे भी आयेगा और औरों की तरह आनन्द भी प्राप्त करेगा। किन्तु वह पेटूकी तरह उन पदार्थोंको बहुत अधिक नहीं खायेगा। जब उनका खाना अनुचित होगा तब वह नहीं खायेगा, उन पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये अवास्तविक यत्न भी नहीं करेगा और नहीं उसमें उसका मन तल्लीन रहेगा। अन्य बातोंकी तरह ही जलेबी और चटपटी चीजोंके विषयमें भी वह विचारशीलतासे काम लेगा।

स्वविषय-असंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकारः इव इन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (२,५४) ऐसी प्रत्याहार की व्याख्या है। अपने अपने विषयोंसे इन्द्रियोंका संयोग न होनेके कारण उन इन्द्रियोंका चित्तके स्वरूपकी तरह संकल्परहित और शान्त रहना ही 'प्रत्याहार' है। चटपटी चीजोंके प्रश्नपर विचार करें तो उन वस्तुओंका स्वाद पहचाननेवाली जिव्हा उसके अन्दरके मसालेकी गन्ध लेनेवाली नासिका तथा इन दोनोंके व्यापारोंसे सम्बन्धित रहनेवाले एवं खानेके स्वादको व्यक्त करनेवाले वासनाशरीरके द्रव्य, इन सबका समावेश **इन्द्रिय** शब्दमें होजाता है। इस पुस्तकमें पहले चित्तशुद्धिका विवेचन होचुका है। प्रत्याहार उसीका एक हिस्सा है, यह पाठकोंके ध्यानमें आयेगा ही। **ततः परमा वश्यता इन्द्रियाणाम्** (२, ५५) अर्थात् प्रत्याहार सफल होजानेपर इन्द्रियजय उत्तम प्रकारसे हो जाता है ऐसा पतञ्जलि कहते हैं।

धारणा

राजयोगका छठा अङ्ग **धारणा** है। धारणाके विषयमें पतञ्जलिने लिखा है कि '**देशबंधः चित्तस्य धारणा।** (३, १) अर्थात् चित्तको किसी एक स्थानपर केन्द्रितसा करके रखना या स्थिर करना। कभी शरीरके विशिष्ट स्थानमें (हृदयमें, कण्ठमें या और कहीं) चित्त स्थिर किया जाता है या किसी बाहरकी वस्तु पर स्थिर करते हैं। श्रीकृष्णके किसी सुन्दर चित्रपटपर भी चित्त एकाग्र किया जा सकता है; अथवा प्रातःकाल सूर्योदय के समय जो शोभा दिखाई देती है। उसे देखकर उस दृश्यपर भी स्थिर किया जा सकता है।

धारणाका विचार समझनेके लिये पहले अनेक बातोंका स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक है। उसे कुछ विस्तार पूर्वक कर लेना चाहिये।

पूर्व कहा जा चुका है कि मनुष्यके स्थूल शरीरके दो भाग हैं। एक अन्नमय कोष अर्थात् अन्नसे पोषित होनेवाला दृश्य शरीर। इसका बहुत सा ज्ञान आधुनिक इन्द्रिय विज्ञान शास्त्रमें स्पष्ट हुआ है। दूसरा भाग प्राणमय कोष है। इसका पता अभीतक शास्त्रज्ञोंको नहीं लगा है। यह कोष सारे दृश्य शरीरके आसपास उस शरीरके अन्दर व्याप्त रहता है। ईथर नामक द्रव्यका वह बना हुआ है। अर्थात् उसका आकार भी दृश्य शरीरके समान ही ओतप्रोत रहता है। उस कोशमें प्राण, अपान इत्यादि प्राणप्रवाह प्रवाहित होते रहते हैं। प्राणमय कोषके द्रव्योंमें नानारङ्गके भ्रमर (चक्र) होते हैं और आकृतिमें तश्तरी जैसे दिखते हैं। पीठके (रीढके) भिन्न भिन्न स्थानोंमें मानो अंकुर निकल आये हैं और वे शरीरकी त्वचातक आजाने पर तश्तरीके समान हो गये हैं, अथवा गहरेसे फूलकी तरह खिले हुए हैं और मानो उन फूलों में नई पंखुडियाँ हैं इस प्रकारकी उन चक्रोंकी रचना दिखाई देती है; अथवा चारों ओर चक्रकी तरह गोल भागके समान और अन्दर चक्रके आरोंके समान दिखाई देता है, ऐसा कहें तो भी चल सकता है।

इन चक्रोंमेंसे भिन्न भिन्न प्राणोंके प्रवाह और अन्य शक्तियाँ घूमा करती हैं। प्राणमय कोषके ये चक्र अनेक हैं। ÷ उनमेंसे सात महत्वके हैं। प्राणमय कोष अन्नमय कोषको अन्दरसे सब ओरसे-व्याप्त किये रहता है। प्राणमय कोषका जो हिस्सा पीठकी रीढके नीचेकी ओर (कमरके पास) होता है, उसमेंके चक्रको मूलाधार चक्र कहते हैं। तिल्लीके पास एक दूसरा चक्र रहता है। नाभि, हृदय और कण्ठ इन स्थानोंके पास प्राणमय कोशका जो भाग आया हुआ रहता है, वहाँ मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध नामके चक्र रहते हैं। दोनों आँखोंके बीच मस्तकपर एक तथा सिरके बिल्कुल ऊपरकी ओर एक इस प्रकार दो चक्र रहते हैं। उनके नाम आज्ञाचक्र और सहस्रार चक्र हैं। ये चक्र प्राणमय कोषके ईथर द्रव्यके अन्तर्गत भ्रमर हैं। ईथर अदृश्य होनेके कारण प्राणमय कोष हमें दिखाई नहीं देता। अर्थात् यदि उसमेंके भँवरे दिखाई न दें तो वह स्वाभाविक ही है। डॉक्टर लोग जब शव चीरते हैं, तब उन्हें वे चक्र दिखाई नहीं देते। इस आधार पर जो चक्रोंको कवि की कल्पनामात्र समझते हैं वे गलत समझते हैं शवमें चक्र न दिखाई देनेका कारण यह है कि मृत्युके समय प्राणमय कोष दृश्य शरीरको छोड देता है और यदि वह प्राणमय कोष शवमें विद्यमान रहे तब भी उसका ईथरमय द्रव्य

÷ आज्ञाचक्र और सहस्रार चक्रका मस्तिष्ककी दो ग्रन्थियोंसे निकट सम्बन्ध है। उन ग्रन्थियोंके पिनियल ग्लैंड (Pineal Gland) और पायट यूटरी बॉडी (Pituitary Body) ये नाम इन्द्रिय विज्ञान शास्त्रने रक्खे हैं। ये चक्र विकसित होकर शक्तिशाली बनते ही उनमेंकी प्रेरणा इन ग्रन्थियोंको उत्तेजित करती है। इन ग्रन्थियोंके द्वारा मनुष्य उन दो चक्रोंकी शक्तिको जागृति अवस्थामें ला सकता है और तब भुवर्लोक देखनेका सामर्थ्य उसमें आजाता है। मस्तिष्कके अमुक भागमें श्रवणशक्तिका स्थान है' अमुकमें दर्शन शक्तिका स्थान है, इस प्रकार भिन्न भिन्न मानसिक शक्तियोंके मस्तिष्कके स्थान प्रयोगोंके बाद शास्त्रज्ञोंने निश्चित कर लिये हैं। उस दृष्टिसे कहना होतो उपर्युक्त दोनों ग्रन्थियाँ अदृष्ट सृष्टि देखनेके मस्तिष्कके केन्द्रस्थान हैं; ऐसा कहनेमें कोई रुकावट नहीं है। ध्यान धारणा करते समय इन केन्द्रस्थानोंको जागृत करनेका यत्न मनुष्य करता है। शराब जैसे मादक पदार्थ अथवा मांसका सेवन करनेपर इन केन्द्रोंपर विपरीत परिणाम होते हैं। राजयोग सीखनेवाला मनुष्य यदि इन पदार्थोंका सेवन करेगा तो इन केन्द्रोंके ऊपर ध्यानका परिणाम भिन्न दिशासे और उन पदार्थोंका परिणाम विरुद्ध दिशासे होकर योग सिखनेका प्रयत्न व्यर्थ जायगा, साथ ही मस्तिष्कको उससे पीडा होनेका भी भय रहेगा। इसलिये राजयोगमें इस प्रकारके पदार्थोंको विल्कुल त्याग देना पडता है। 'मस्तिष्कके ऊपरके केन्द्रस्थान अदृश्य सृष्टि देखने की इन्द्रियाँ हैं;' कुछ जानकार लोगोंका जो यह कहना है, उसका अभिप्राय पाठक अब अच्छी तरह समझ चुके होंगे।

अदृश्य होनेके कारण उसमेंके भँवरे किस प्रकार दिखाई दे सकते हैं ? *

इन चक्रोंमें से कमरके पास जो मूलाधार चक्र है उसमें घेरेके आकार की एक शक्ति रहती है। उसका उगम पृथ्वीसे होता है। **पृथिव्याम् या देवता सैषा पुरुषस्य अपानम् अवष्टभ्य** [तिष्ठति] अर्थात् पृथ्वीमें देवता हैं और वे मनुष्यके अपानस्थानको व्याप्त करके रहते हैं; ऐसा प्रश्नोपनिषद् में (४१९) लिखा है। इस शक्तिको कुण्डलिनी कहते हैं। सन्त ज्ञानेश्वरने नागिनके बच्चेके टेढे मेढे गमनके समान कुण्डलिनीके घेरे आदिका वर्णन किया है। प्राणमय कोषमें इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना ये तीन नाडियाँ हैं। उनमें सुषुम्ना पीठकी रीढसे होकर ऊपर जाती है। पुरुषोंमें सुषुम्ना की बाईं ओर कमरके पास इडा आरम्भ होती है और पिङ्गला दाहिनी ओर आरम्भ होती है। (स्त्रियोंमें इससे उल्टा होता है) ये दोनों नाडियाँ सुषुम्नासे लिपटती हुई ऊपर जाया करती है। सामान्य मनुष्यमें कुण्डलिनीकी शक्ति प्रायः सम्पूर्ण सुप्त रहती है और उसका थोडासा भाग मूलाधार चक्रमेंसे इडा, पिङ्गला और सुषुम्नाके मार्गसे ऊपर जाया करता है।

शरीरके किसी विशिष्ट भागपर मन एकाग्र करके उसे वहाँ स्थिर करनेका नाम धारणा है। इस प्रकार मनुष्य करे तो उसका परिणाम प्राणमय कोषपर होता है। प्राणमय कोषमें रहनेवाले प्राणोंके प्रवाह वहाँ बहते हुए आकर केन्द्रित होजाते हैं। प्राणमय कोषके किसी चक्रके स्थानपर ये प्रवाह यदि धारणाके द्वारा केन्द्रित होगये तो उनकी शक्ति चक्रमें जाती है और वे चक्र धीरे धीरे विकसित होने लगते हैं। प्राणमय कोषके परे [अथवा अन्दर समझिये] वासना शरीर रहता है। वासना शरीरमें ये चक्र रहा करते हैं। वासना शरीरके चक्र और प्राणमय कोषके चक्र इनकी जांच हो चुकी है और वे एक दूसरेसे सटे रहते हैं। यदि प्राणमय कोषमेंके विशिष्ट चक्र धारणाके द्वारा विकसित किये जासकें तो बीचके दरवाजेको खोलनेके समान होकर वासना शरीरके चक्रोंको जो ज्ञान होगा वह मनुष्यके मस्तिष्कमें अर्थात् जागृतिमें उतरेगा। वासना शरीरके चक्र वासना शरीरके लिये इन्द्रियोंके समान हैं। वासना शरीरके द्रव्य फिरते हुए पानीके समान निरन्तर आन्दोलित होते रहनेके कारण उसके लिये स्थिर इन्द्रियोंका होना असम्भव है। उसको भँवर या चक्र हुआ करते हैं। वासना शरीरके सम्पूर्ण द्रव्य घूमते समय प्रत्येक भँवरमेंसे जाया करते हैं।

वासना शरीरके एक एक भँवरमें एक एक ज्ञानशक्ति रहती है। उत्क्रान्ति क्रमानुसार उस भँवरके फूलने विकसित होने या सामर्थ्यवान होनेपर वासना शरीरमें एक एक ज्ञान शक्तिका विकास होता है, क्योंकि वासना शरीरके सम्पूर्ण चक्र उस भँवरमेंसे जाया करते हैं अतः उसके गुणोंको ग्रहण करनेके कारण वासना शरीरके सम्पूर्ण द्रव्योंको वह ज्ञानशक्ति

---

* किन्हीं डॉक्टरोंने कुण्डलिनी को एक व्हेगस नर्व्ह नामकी मज्जा बताया है कुछ डॉक्टर कहते हैं कि आज्ञा, विशुद्ध मणिपूर आदि नामके जो चक्र ग्रन्थोंमें लिखे हुए हैं, वे चक्र न होकर जिसे शरीरशास्त्रमें प्लेक्सस अथवा मज्जातन्तुओंकी जाली कहा जाता है उन्हींके पुराने लोगोंने ये नाम रख दिये थे (देखिये S. C. Vasu कृत ' योगशास्त्र ' पुस्तक का Foreword डॉ० वसंत जी- रेलेकृत The Mysterious kundalini) [पृ० ५७,६५,३३ और ३५]

सचमुच ये चक्र प्राणमय कोषमें रहते हैं। प्राणमय कोष दृश्य शरीरसे चिपका हुआ रहता है और उसमें प्राणके प्रवाह रहते हैं। प्राणोंके प्रवाह और मज्जातन्तुका सम्बन्ध है किन्तु इसी आधारपर प्राणमय कोषके चक्र अर्थात् मज्जातन्तुओंकी जाली ऐसा कहना उचित नहीं है।

इन चक्रोंको प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है। उन्हें प्रत्यक्ष बारीकीसे देखकर उस विषयमें मि० लेडबीटर ने The Chakras नामक पुस्तक लिखी है। जिज्ञासु उसे देखें।

प्राणमय कोष ईथरका होनेके कारण वह दिखाई नहीं देता था। डॉ० किल्नर नामक विद्युत् शास्त्रज्ञने डायसानीन नामक औषध डालकर कुछ कांच तैयार किये हैं। उसमेंसे मनुष्य की ओर देखने पर मनुष्यके अन्दर-बाहर बादलों जैसा आवरण दिखाई देता है। प्राणमय कोष आदि पदार्थ सचमुच अस्तित्वमें हैं, वह कवि-कल्पना नहीं है, यह बात इस प्रमाणसे सिद्ध होजाती है (देखिये Kilner कृत Human Atmosphere)

प्राप्त होजाती है । मानवी वासना-शरीरकी उत्क्रान्ति आजतक धीरे धीरे इसी प्रकार होती रही है । अत्यन्त प्राचीन समयमें मनुष्यके वासना शरीर बिल्कुल अप्रबुद्ध थे । उत्क्रान्ति क्रमानुसार धीरे धीरे उनमें चक्र बने, वे आगे जाकर धीरे धीरे बड़े बने और उन चक्रोंने उस शरीरमेंके द्रव्योंको एक एक ज्ञानशक्ति प्रदान की । आजके सुसंस्कृत और सुशिक्षित मनुष्यका उदाहरण लें तो विदित होगा कि उसके वासना शरीरकी बाढ बहुत कुछ होचुकी है । सुनना, देखना, घूमना आदि शक्तियाँ उनमें विकसित रूपमें दिखाई देती है। किन्तु उन शक्तियोंका उपयोग करने की आदत न होनेके कारण वे कार्यक्षम नहीं होती। कुछ थोडेसे मनुष्य ही उस शक्तिका सम्पूर्ण उपयोग करना आज सीख पाये हैं; अतः वे वासना शरीरके द्वारा भुवर्लोकमें निरीक्षण, संशोधन, परोपकार, लोकसंग्रह आदि अनेक खटपट कर सकते हैं । किन्तु इन प्रयत्नों की जानकारी मस्तिष्कको बिल्कुल भी नहीं रहती । धारणाके द्वारा प्राणमय कोषमेंके किसी चक्रको फुलानेसे, शक्तिशाली बनानेसे, वासना शरीरमेंके उस चक्रमें विद्यमान ज्ञानशक्ति समझके रूपमें मस्तिष्क में उतरती है । प्राणमय कोषमेंके विशिष्ट चक्रोंका फुलानेका अर्थ-भूलोक, स्थूलशरीर और जागृति, यह त्रयी तथा भुवर्लोक, वासना शरीर और स्वप्न अवस्था यह त्रयी इन दोनोंमें एक ज्ञानशक्तिके विषयमें जीना बनानेके समान है । वासना शरीरमें कण्ठस्थानमें विशुद्ध चक्र है और दोनों आँखोंमें आज्ञाचक्र है । ये चक्र यदि विकसित हो तो विशुद्ध चक्रके कारण भुवर्लोकमें सुननेकी शक्ति और आज्ञाचक्रके कारण देखने की शक्ति वासनाशरीरको प्राप्त रहती है। यदि प्राणमय कोषमेंके कण्ठस्थानीय चक्र धारणाके द्वारा सम्पूर्णतः विकसित किये गये हों तो भुवर्लोककी ध्वनि जागृत अवस्थामें मनुष्यको सुनाई देती है और आँखोंके आज्ञाचक्र सम्पूर्ण रूपसे विकसित किये गये तो हों भुवर्लोककी सारी बात देखनेकी शक्ति मस्तिष्क को जागृतिमें प्राप्त हो जाती है ।

कुण्डलिनी

मनुष्यके मूलाधार चक्रमें जो कुण्डलिनी शक्ति रहती है-जिसका कि ऊपर उल्लेख है- वह भी उस चक्रपर धारणा करके जागृत की जा सकती है। चिनगारीमें फूंक मारनेसे वह जिस प्रकार तेज होती है और उसमेंसे जिस प्रकार आगकी तेज लपटें निकलने लगती हैं, उसी प्रकार कुण्डलिनीका हुआ करता है । इस शक्तिको यदि ऊपर खींचकर प्राणमय कोषमेंके सम्पूर्ण चक्रोंमें घुमाया जाय तो वे सारे चक्र विकसित होते हैं और आकृतिसे विशाल एवं तेजस्वी हो जाते हैं । इस प्रकारसे प्राणमय कोषमेंके चक्र विकसित होजाँय तो भुवर्लोकके सारे व्यवहार मस्तिष्कमें [जागृतीमें] उतरते हैं और भुवर्लोक तथा भूलोकके बीचका पडदा बिल्कुल हट जाता है। सोते समय मनुष्यके मनमें कोई ज्ञान नहीं रहता, इस प्रकारकी जो सदा की स्थिति है वह समाप्त होकर सुषुप्तावस्थामें ज्ञान की ज्योति न बुझकर अखण्ड रूपसे आगे जाती रहती है और जागनेकी अवस्थामें अखण्ड रूपसे लौट आती है; जिससे कि सोते हुए वासना शरीरके द्वारा भुवर्लोकमें मनुष्यने जो जो उद्योग किये होंगे उनकी याद मनुष्यको जागृतिमें रहती है । जागृतिमें अन्य लोगोंसे बैठकर वार्तालाप करता हुआ मनुष्य आसपासके भुवर्लोक एवं तदन्तर्गत प्रक्रिया देख सकता है साथ ही अपने सामने बैठे मित्रोंके वासना शरीर तथा उसमें की लहरें देखकर उनके मनोव्यापार समझ सकता है । भूलोक और भुवर्लोक उसके लिये समानरूप है । +

कुण्डलिनी जागृत करके चक्रोंका विकास करनेकी जो रीति है उसमें जिम्मेदारी अधिक रहती है । उस रीतिसे चक्र शीघ्र सम्पूर्णतः विकसित होते हैं और भुवर्लोकका सम्पूर्ण ज्ञान उत्कृष्टरूपसे मस्तिष्कमें लाया जा सकता है । कुण्डलिनी को जागृत न करते हुए यदि किसी विशेष चक्रपर धारणा की तो वे

+ कुण्डलिनी मूलतः एक सर्वव्यापी वस्तु है । मनुष्यके शरीरमें कमरके पास वह एक विशिष्ट स्वरूपमें रहती है। पानी नामका पदार्थ सृष्टिमें सब स्थानपर है । किन्तु नारियलके वृक्षपर नारियलके अन्दर जो पदार्थ विशिष्टरूपसे एकत्रित रहता है। तद्वत् यह सर्वव्यापी कुण्डलिनी शक्ति कमरके पास रहनेवाले मूलाधार चक्रमें केन्द्रित रहती है ।

उसे जागृत करके चक्रोंमें घुमाया गया तो उसका मुख्य परिणाम क्या होता है वह संक्षेपमें बताया जा चुका है। किन्तु कुण्डलिनी शक्ति बलवती हुई कि अन्तःप्रज्ञा तीव्र होती है इत्यादि दूसरे अनेक परिणाम भी होते हैं इसी प्रकार कुण्डलिनीके दूसरे उपयोग भी किये जा सकते हैं । स्थानाभावके कारण वे बातें इस पुस्तकमें छोड देनी पडी है ।

चक्र बहुत अधिक विकसित नहीं हो पाते अर्थात् इस रीतिसे धोका और जिम्मेदारी कम रहती है और फल भी कम मिलता है। +

ये सब बातें ऊपरकी भूमिकाका ज्ञान नीचेकी भूमिका पर लानेके लिये है। किन्तु ऊपरकी भूमिकापर ज्ञान प्राप्त ही न किया गया तो ये बातें व्यर्थ हैं।

किसी घरकी दूसरी मंजिलपर पैसोंकी तिजोरी है। उसमें हजारों रुपये हैं, हीरे मोतीके जेवर हैं। कोनेमें सितार, दिलरुबा आदि गानेके उपकरण हैं, दिवार पर उत्तम चित्र हैं। एक ओर एक सुन्दर पुस्तकालय है और टेवलके ऊपर कीमती इत्र रक्खे हैं; इस ऐश्वर्यका उपभोग करनेके लिये नीचे रहनेवाला मनुष्य यदि सुतारको बुलाकर और पैसे खर्च करके लकडीका एक जीना तैयार करावे और उसे उचितरूपसे लगाकर नीचेसे ऊपर और ऊपरसे नीचे जाने आने की व्यवस्था करालेवे तो यह उसकी बुद्धिमत्ता होगी। किन्तु ऊपरकी मंजिल ठीक बांधी हुई भी न हो, उस मंजिलपर एक भी उपयुक्त वस्तु न हो तो जीना बनानेसे कोई लाभ न होगा। धारणाके द्वारा चक्रोंको उत्तेजित करके अथवा उन चक्रोंमें कुण्डलिनी पहुँचाकर ऊपरका ज्ञान नीचे लानेकी व्यवस्था सामान्य स्थितिके मनुष्यने की तो उसका कोई उपयोग न होगा; क्योंकि उसके ऊपरकी मंजिल पर ज्ञान पैदा ही नहीं हुआ है। मनुष्यके वासनाशरीरका पर्याप्त रूपसे विकसित होना आवश्यक है, वासनाशरीरसे भुवर्लोकमें घूमकर व्यवहार करनेकी शक्ति उसके वासनाशरीरमें आजानी चाहिये, उस वासना शरीरके द्वारा ज्ञानकी थोडीसी तो भी पुंजी इकठ्ठी की हुई होनी चाहिये; तभी जागृतिसे ऊपर जीना लगाकर ऊपरकी अवस्थामेंकी ये बातें जागृतिमें लानेका कुछ उपयोग है। जिसका वासना शरीर इनमेंसे एक भी बात करनेमें असमर्थ है वह यदि ऐसा जीना लगाए तो वह व्यर्थ परिश्रम होगा। इससे सिद्ध होता है कि एक विशिष्ट मर्यादा तक मनुष्यकी उत्क्रान्ति हुए बिना इन बातोंका करना व्यर्थ है। कुछ थोडे मनुष्योंकी अत्यधिक उत्क्रान्ति हुई रहती है। निर्वाणकी भूमिका, बुद्धिकी भूमिका, श्रेष्ठ मनकी भूमिका इनपर उस उस शरीरसे उस उस ज्ञानकी अवस्थामें जानेकी शक्ति उनमें आई हुई रहती है।

ऐसे मनुष्योंको ही यह उद्योग करना चाहिये। इसीलिये (देखिये, लेडबीटर कृत The Master and the Path आवृत्ति २, पृ० ३१२) मुमुक्षु मार्गपर दूसरी महादीक्षाके आगे मनुष्यके पहुँचनेपर जीवन्मुक्त गुरु शिष्यको ये बातें प्रायः सिखाता है। किसी एक चक्रका विकास आरम्भमें थोडा बहुत हो सकता है। किन्तु कुण्डलिनी जागृत करके उसे सम्पूर्ण चक्रोंमें घुमाकर सारे चक्रोंको पूर्णतः विकसित करनेका कार्य जीवन्मुक्त गुरुके कहनेपर उचित समयपर ही करना होता है। किसी स्थानपर उसे बहुत पूर्व करना भी उचित हो सकता है; किन्तु सामान्यतः अधिकतर जनता के विषयमें वह बहुत आगेका प्रश्न है। आज ही उस उद्योगके करनेका अर्थ ऊपरकी मंजिलपर रेडियो न होते हुए भी वहाँ एक खीलेसे एक रेडियोका लाउडस्पीकर तारसे जोडकर उसे नीचेकी मंजिल पर लाकर रखनेके समान है। एक रेडियोके चालू रहनेपर उसमें एक लाउडस्पीकर जोडकर उसे चाहे जिस मंजिलपर रक्खा जा सकता है और रेडियोके गाने सुने जा सकते हैं। किन्तु यदि ऊपर रेडियो ही न हो तो नीचेकी मंजिल पर क्या सुनाई देगा ?

इन सब बातोंको करते समय यह न भूल जाना चाहिये कि इन प्रयोगोंमें बडा धोका है। यदि कोई चक्र अतिरिक्त प्रमाणमें विकसित होजाय तो उससे मनुष्यको प्रायः कष्ट पहुँचता है। किसीके पास कोई न रहनेपर भी उसे भिन्न भिन्न ध्वनियाँ सुनाई देंगी। किसीको चारों ओर भिन्न भिन्न रङ्ग और चित्र विचित्र दृश्य दिखाई देंगे। किसीके हृदयमें भय,

+ हिन्दूधर्ममें और दूसरे धर्मोंमें कुछ धार्मिक विधियाँ ऐसी हैं कि जिनका उद्देश इन चक्रोंको धीरे धीरे विकसित करना है। इन विधियोंमें धोका नहीं रहता। चक्र धीरे धीरे विकसित और अंशतः जागृत होते रहनेके कारण मनुष्यका ज्ञान केवल सूक्ष्म और तीव्र होता है और स्वभावमें कोमलता तथा सुसंस्कृतता आजाती है; किन्तु भुवर्लोकमें की स्मृति मस्तिष्कतक आनेकी मंजिल तय नहीं हो पाती। सन्ध्याके अन्तर्गत न्यास, मन्त्र मानकर शरीरके भिन्न भिन्न भागोंमें अग्निकी विभूति लगाना आदि क्रियाएँ समझबूझके साथ की जाँय तो वे इस प्रकारसे उपयुक्त रहती हैं।

सन्ताप, लोभ आदिकी भावनाओंके प्रवाह वहनेका आभास सा होगा । इस प्रकारकी बातोंका परिणाम मनुष्यके मनपर होता है; जिससे उसके मनका सन्तुलन नष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। ऐसे प्रयोग करनेके कारण पागल होजानेके उदाहरण अस्तित्वमें हैं । समझदारीके साथ इन बातोंके होनेपर उनसे लाभ होता है । जैसे ध्वनि सुनाई देने लगे तो उसका अर्थ समझना आवश्यक है। 'अमुक गांवमें जा' ऐसी वाणी सुनाई दे तो वैसा करें या न करें इसके निर्णयमें मनुष्य समर्थ होना चाहिये। जो बातें सुनाई देती हैं, उनमें सच्ची कौनसी है और झूठ कौनसी है, समझदारी की कौनसी हैं और नासमझीकी कौनसी हैं, उनमेंसे किस बातको कितना महत्त्व देना चाहिये आदिका विवेक पूर्वक निर्णय करनेकी शक्ति उसमें रहनी चाहिये ।

यदि एक आदमी पूर्णतः अन्धा और बहरा है । वह जब बम्बईके भूलेश्वर मार्केटके पास जारहा हो तब किसीने उसके कानमें स्वर्गीय औषधिकी दो बूंदें डालकर उसका बहरेपना एकक्षणमें बिल्कुल दूर कर दिया, तो उसे उस समय अनेक प्रकारकी आवाजें एकदम सुनाई देंगी । रास्तेपर जाने आने-वाली मोटरोंके भोंपू, ट्रामकी घर घर, मन्दिरके घण्टे, घोडा-गाडीकी टपटप, बाजारके लोगोंकी बोलियाँ आदि हजारों प्रकारकी आवाजें सुनाई देंगी; किसीका भी रहस्य और तारतम्य समझमें नहीं आयेगा। भुवर्लोकमेंकी ध्वनि सुनाई दे तो ऐसी स्थिति होगी । उचित एवं अधिकारी मनुष्य सिखानेके लिये मिल जाय तब तो ठीक है; अन्यथा इन ध्वनियोंसे कष्ट होकर पागल होनेकी सम्भावनामात्र रहती है ।

योग शास्त्रमें के धोके

कुण्डलिनीको जागृत करनेमें एक और धोका है। ब्रह्मचर्य-के विषयमें अत्युच्चकोटि की निर्मलता जिसके अन्तःकरणमें नहीं है ऐसे प्रत्येक व्यक्तिको वह धोका है। अन्नमयकोषमें जिसप्रकार अन्ननलिका, श्वासनलिका, आँतें, धमनियाँ आदि मार्ग हैं उस प्रकार प्राणमय कोषमें भी भिन्न भिन्न मार्ग हैं। कुण्डलिनी यदि जागृत हो जाय तो उसकी शक्ति जिस प्रकार एक मार्गसे ऊपर जासकती है उसी प्रकार नीचेकी ओर जननें-न्द्रियके पास तक भी जासकती है । उसे अधिकार पूर्वक ऊपर लेजानेमें असमर्थता रहेगी तो वह नीचेकी ओर बढेगी और उससे जननेन्द्रियोंको अत्यधिक उत्तेजना मिलेगी। इस कारण उस मनुष्यकी काम वासना इतनी उद्दाम होजायेगी कि उसके सामने उसका कुछ भी बस नहीं चलता । उसका सारासार विचार नष्ट होकर वह मदमस्तकी तरह विषय रूपी कीचडमें लोटने लगता है। कभी कभी कुण्डलिनी प्राणमय कोषके द्रव्योंको जला भी देती है। कुण्डलिनीकी शक्ति अत्यधिक होनेके कारण उसपर ठीक ठीक नियन्त्रण न होसका तो मनुष्य के मरनेका भय भी रहता है । इसीलिये चित्तशुद्धिकी दृष्टिसे अपना अन्तरङ्ग निर्मल हुए बिना किसी भी मनुष्यको कुण्ड-लिनीसे खेल करनेका दुःसाहस नहीं करना चाहिये। कुण्डलिनी किस प्रकार जागृत की जावे, वह किस क्रमसे भिन्न भिन्न चक्रों-में ले जाई जावे। इत्यादि बातें जानबूझकर गुप्त रक्खी गई हैं। मनुष्य मनुष्य में अन्तर होनेके कारण कुण्डलिनी जागृत करनेकी एक ही रीति सबके लिये समान रूपसे उपादेय नहीं है। किसी भी ज्ञानी और जिम्मेदार व्यक्तिने उस विषयमें इतनी व्यवस्थित जानकारी पुस्तकमें नहीं दी है कि जिससे कोई भी मनुष्य वह क्रिया कर सके। पैसेवालेके घर-में पकवानोंका भोजन हो चुकनेपर पत्तलें घरके बाहर फेंक दी जाती है । तब वहाँ कुछ भिकमङ्गे पत्तल चाटते हुए तथा उन-के ढेरमें जलेबीके टुकडे ढूंढते हुए दिखाई देंगे। योगशास्त्र-की मेजवानीमेंके इस प्रकारके पकवानोंके टुकडे कुछ भिकमङ्गों के हाथ पड गये हैं और वे उन्होंने साहित्यके बाजार में बडे अभिमानके साथ रख दिये हैं। किसी भी विचारशील व्यक्तिको वे ग्रहण नहीं करने चाहिये ।

संसारके अधिकतर व्यक्तियोंको अपनी दुनियांका और भूलोकके अन्य कर्तव्योंका इतना बोझा लगता रहता है कि उस-के नीचे ही वे परेशान हुए रहते हैं । ऐसे मनुष्योंके लिये भुवर्लोकका द्वार खुलजाय और उन लोकोंका संसार उनपर आपडे तो वह उसके मस्तिष्कके लिये असह्य हो जायगा । जबतक कोई 'लोक' दृष्टिगोचर नहीं होता तबतक तद्विषयक कर्तव्योंकी जिम्मेदारी मनुष्य के ऊपर नहीं आती। जागृत स्थितिके व्यवहार करते हुए जिसे भुवर्लोक दिखाई नहीं देता उसे उसका बोझा भी नहीं लगता। किन्तु यदि वह लोक दिखाई देने लग जाय तो उसमेंका मोह उसे चाहे जिस तरफ खींचने लगता है। वहाँके कर्तव्य-अकर्तव्यकी जिम्मेदारी अपने सिरपर लेनी पडती है। भूलोकके कर्तव्योंको सम्हालते सम्हालते जो ऊब चुके हों ऐसे मनुष्योंके ऊपर एक नये

लोकके कर्तव्य आ पडते हैं। संसारमें आज बहुत थोडे मनुष्य अध्यात्म दृष्टिसे इतने पक्के हैं कि जो इसे सहन कर सकें।

आजकी दुनियां सामान्य मनुष्योंके लिये होकर वह सामान्य मनुष्यों द्वारा विनिर्मित है। उसमें जो रहन सहन आदि है वह इस प्रकारका है कि जो केवल साधारण मनुष्योंके लिये ही उपयुक्त है। इसीलिये आज संसारमें कसाईखाने, जेलें, वेश्यालय, शराब-खाने, जुएके अड्डे जैसे निम्नस्थान सर्वत्र रखने पडते हैं। साधारण स्थितिके मनुष्यमें अनेक दुर्गुण होते हैं। इसीलिये पुलिस, मॅजिस्ट्रेट न्यायालय, वकील, बेलफि, गुप्तरोग अच्छे करनेवाला डाक्टर, दूसरेके प्राण लेनेवाला सैनिक, मनुष्यको फांसीपर लटकानेवाला कातिल आदि व्यक्ति समाजके लिये आवश्यक होते हैं। समाजमें गन्दे चलचित्र, अश्लील साहित्य और ऊटपटांग तमाशे जितने लोकप्रिय होते हैं उतने उच्चकोटिके मनोरंजनके साधन नहीं होते। पूना स्टेशनके एक प्लेटफार्म पर भगवान् गौतम बुद्ध आजायं और दूसरे प्लेटफॉर्म पर सिनेमाकी कोई अभिनेत्री या क्रिकेट का कोई प्रसिद्ध खिलाडी आजाय तो पहले प्लेट-फार्मपर शायद ही कोई दिखाई देगा पर दूसरे प्लेटफार्म पर इतनी अधिक भीड होगी कि आदमी दबकर मरने लगेंगे। ऐसी स्थिति जनसाधारणकी है। सामान्य कोटिके मनुष्यके कपडे पर साधारण सी धूल हुई तब भी उसे उसकी चिन्ता न होगी। शरीरमें पसीनेकी थोडी बहुत गंदगी चल सकती है। अन्तःकरणकी कामक्रोधादि अस्वच्छ वृत्तियोंको वह मजबूत पकडे रहता है और बुद्धिका संकुचित दुराग्रह भी वह किसी प्रकार भी छोडनेको उद्यत नहीं रहता। बाह्य संसार ऐसे मनुष्यों द्वारा स्वयं अपने लिये निर्माण किया हुवा होनेके कारण उसमें अनेक प्रकारकी गन्दगी आई हुई रहती है। सामान्य मनुष्यकी नाकके लिये वह कष्टदायिनी नहीं रहती।

मनुष्यके उत्क्रान्ति द्वारा खूब प्रगति कर चुकने पर रामदास और ज्ञानेश्वर बन चुकनेपर; क्योंकि इसके लिये योगशास्त्रमें वह प्रयत्न करना होता है- कि जिससे संसार के अन्तरङ्ग और बहिरङ्गकी गन्दगी उसके लिये असह्य हो जाती है। आजकी दुनिया, उसके अन्दरकी संस्था, उद्योग, रहन सहन और परिस्थिति उत्क्रान्ति द्वारा आगेबढे हुए व्यक्तिके लिये नहीं है। इसलिये ऐसे मनुष्य जन संमर्द छोडकर पर्वतपर, आश्रममें या किसी एकान्त स्थानमें रहते हैं। १ वहाँ उनकी अन्तःचक्षु खुल जाती है तथा एक नये संसारकी जिम्मेदारी उनपर आपडे तो उसे वे किसी तरह निभा ले जाते हैं। साधारण व्यक्ति अध्यात्म दृष्टिसे अभी इतना सहनशील नहीं बन पाया है कि ऐसे नये संसारकी जिम्मेदारी आपडनेपर वह उसे बुद्धि, नीति एवं कर्तव्यके संतुलन के साथ निभा सके। अतः साधारण अवस्थाके व्यक्तिको चाहिये कि वह धारणाके इन अन्तिम प्रयोगों के फन्देमें अपने आपको न डाले। १

धारणा बाह्यपदार्थोंपर भी करनी होती है। बाह्य पदार्थपर धारणा करनेका अभिप्राय यह है कि उस पदार्थपर मन एकाग्र करके उसे वहाँ स्थिर किया जाय। यह दृष्टिका उद्योग न होकर मनका है इस बातका ध्यान रखना चाहिये। यदि किसीकी भगवान् श्रीकृष्णपर हार्दिक श्रद्धा है तो वह मनुष्य उनका एक सुन्दर चित्र सामने रखकर उसके ऊपर धारणा लगा सकता है। ऐसी धारणाके समय वह उस चित्रकी ओर देखेगा, क्योंकि चित्रकी ओर दृष्टि एकाग्र करनेसे मनको मदत मिलती है। किन्तु इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि 'धारणा' दृष्टिका प्रयत्न है। सचमुच तो वह मनका प्रयत्न

१ उच्च अवस्थाके सन्तोंके लिये भी मनका सन्तुलन रखकर इन उच्च शक्तियोंका विकास करना कठिन रहता है। कभी कभी उनका संतुलन भी नष्ट होजाता है। ख्रिस्ती धर्मके अनेक सन्तोंको मज्जा तन्तु क्षोभ, हिस्टेरिया आदि रोग रहते थे, ऐसा उनके चरित्रोंसे विदित होता है (देखिये प्रो० जेम्सकृत The varieties of religion इस पुस्तकका Retigion and neurology अर्थात् धर्म और मज्जातन्तूके रोग, नामक प्रथम प्रकरण) हनुमान स्वामी द्वारा लिखित रामदासस्वामीके चरित्रमें एक बात है; वह यह कि एकबार रामदासस्वामी अचानक कहीं भाग गये, शिष्य चिन्तित हुए। उन्होंने जंगल ढूंढना शुरू किया, अन्तमें एक स्थानपर वे मिले किन्तु वे शिष्योंको नजदीक नहीं आने देते थे। पास आओगे तो मैं तुम्हें मारूँगा, इस प्रकार वे कहने लगे। किन्तु धीरे धीरे वे जब शान्त होगये तो शिष्योंके साथ लौट आये। मनपर अन्तरङ्ग की बातोंका जोर अधिक पडजानेके कारण मनका सन्तुलन नष्ट होगया होगा ऐसा प्रतीत होता है।

है। आँखोंके सामने यदि चित्र रक्खा जावे तब भी उसकी ओर टकटकी लगाकर देखना आवश्यक नहीं होता। चित्र एवं उसके आकर्षणको ठीक प्रकार देखकर उसे अपने अन्तःकरणके सामने खडा करना चाहिये और उस समय आँखोंका खुला रखना आवश्यक नहीं है। वह चित्र जब अन्तःकरण के सामने होगा तो उस समय चित्रका कागज, उस चित्रकी घुटाई, उसके रंग, ये सब उपेक्षित करके गीतामें प्रतीत होनेवाली उनकी बुद्धिमत्ता, रणाङ्गणमें दिखाई देनेवाला युद्ध कौशल्य, गोप गोपियोंके सम्पर्कमें दिखाई देनेवाला वात्सल्य आदि गुणोंसे अन्तःकरणको परिपूर्ण करना होता है। इस पद्धतिसे धारणा की जाय तो मनको एकाग्र करनेकी शक्ति मनुष्य धीरे धीरे सम्पादन कर सकता है। एकाग्र मन ही सशक्त मन है।

ध्यान

'ध्यान' योगका सातवाँ अङ्ग है। **तत्र प्रत्यय एकतानता ध्यानम्** (३,२) अर्थात् धारणाके समान जिस पदार्थ पर मन स्थिर किया हो उस बातके प्रत्ययकी जो एकतानता है वही ध्यान है। किसी पदार्थपर मन एकाग्र करके स्थिर करनेपर उसकी ओर निरन्तर मनको लगानेपर नवीन ज्ञान उत्पन्न होता है और नवीन अनुभव उत्पन्न होता है। यह जो अनुभवकी, ज्ञानकी, और प्रत्ययकी एकतानता है उसे 'ध्यान' कहते हैं। किसी बर्तनसे तेल उंडेला जाय तो तेलकी अखण्ड धार नीचे गिरती है। तद्वत् ध्यानकी अखण्ड धार उस पदार्थ पर छोडनी होती है। जैसे हम किसी वस्तुकी ओर आँखोंसे लगातार देखते रहते हैं वैसे ही ध्यानके समय मनको भी किसी वस्तुकी ओर लगातार देखना होता है। बन्दूक छोडते समय अन्दर के बारूदकी सारी शक्ति इकट्ठी होकर वह शक्ति बन्दूक की नलीमेंसे लक्ष्य-पदार्थकी ओर सीधी जाती है। ठीक इसी प्रकार मनकी शक्ति ध्यानमें जानी चाहिये।

इस प्रकारसे मनकी शक्ति शरीरके किसी स्थानमें केन्द्रित होकर कार्यक्षम होजाय तो शरीरमेंके प्राणोंके प्रवाह एक विशेष स्थानपर एकत्रित होजाते हैं, उससे चक्र उत्तेजित होते हैं, कुण्डलिनी जागृत होती है, आदि विवेचन अभी अभी हो ही चुका है।

किसी बाह्य वस्तुपर ध्यान लगाया जाय तो उसका परिणाम दूसरे प्रकारका होता है। जिस वस्तुपर ध्यान किया जाता है उसके विषयमें मनुष्यका ज्ञान बढ जाता है। 'वस्तु' का अर्थ भूलोकका कोई निर्जीव पदार्थ अपेक्षित नहीं है। उस शब्दका व्यापक अर्थ है। यदि कोई मनुष्य भगवद्गीताके गूढ अर्थ वाले किसी श्लोक पर ध्यान लगाये तो वह श्लोक उसकी समझ में ज्यादा अच्छी तरहसे आजाएगा। किसी कठिन विषयमें ध्यान लगाया जाय तो जो अनेक बातें पहिले उसकी समझमें न आई होंगी वे भी समझमें आजायेंगी। इस प्रकारसे ध्यान लगानेपर मनकी शक्ति गहरी होती है, कुशाग्र होती है, तथा अधिकाधिक विकसित होती जाती है।

मनुष्य जब किसी बातपर ध्यान केन्द्रित करता है तब उसकी भावनाओंसे उसका वासना शरीर तथा विचारोंसे उसका मनःशरीर आन्दोलित होने लगता है। तब यह आन्दोलन सर्वत्र व्याप जाता है। उसी प्रकार इस शरीरमेंसे कुछ आकृतियाँ बाहर होकर वे विशिष्ट स्थानोंपर जाया करती हैं। इन क्रियाओंका परिणाम भी विशेष रूपसे हुआ करता है। हम रबरकी गेंद दीवार पर फेंके तो उसकी प्रतिक्रिया होकर वह गेंद उंचाई पर जाकर पुनः लौट आती है। भावना, वासना, विचार आदि जो मनकी क्रियायें हैं वे भुवर्लोक-स्वर्लोकमें होती रहती हैं और उनसे प्रतिक्रियायें उत्पन्न होती रहती हैं। यदि कोई अपने मनको भक्तिसे परिपूर्ण करके ध्यान करे तो भक्तिकी लहरें जोरोंके साथ विशेष स्थानपर चली जाती हैं। ऐसा करनेसे उसका केवल चित्त ही शुद्ध होगा, ऐसी बात नहीं है, अपितु उन लहरों की प्रतिक्रिया भी होगी; फेंकी हुई गेंद जिस प्रकार लौट आती है। तद्वत वे लहरें अधिक सामर्थ्यवान् होकर उसके पास लौट आयेंगी और उनसे उसे बहुत सहायता मिलेगी। कुछ लोग देवी देवताओंका ध्यान करते हैं, उनसे उन्हें स्फूर्ति मिल सकती है (**स्वाध्यायात् इष्ट देवता संप्रयोगः ।** २,४४ स्वाध्यायके द्वारा इष्ट देवतासे ऋणानुबन्ध सम्बन्ध जुड जाता है) श्रीकृष्ण, गौतमबुद्ध, क्राइस्ट, झोरोअस्टर, वैवस्वत मनु, सनत्कुमार और वर्तमान समयमें विद्यमान जीवन्मुक्त पुरुषोंपर ध्यान करनेसे उन उन श्रेष्ठ पुरुषोंसे मनुष्य अपना सम्बन्ध जोड सकता है। उनपर यदि प्रतिदिन ध्यान धरा

जाय तो उसकी प्रतिक्रिया रूप जो शक्ति मनुष्य की ओर आती है उसकी सहायतासे मनुष्य उत्क्रान्ति प्रवाहमें अत्यन्त शीघ्रतासे आगे बढ सकता है।×

आजकल संसारमें सब जगह जडवाद अपना प्रभाव जमाये हुए है और इसीलिये अत्यन्त स्पष्ट बातें भी बहुतसे आदमियों को जल्दी समझ नहीं आती। प्रत्येक मनुष्यको जिस प्रकार अनेक शरीर रहते हैं और उन शरीरोंके अन्दर उनका स्वामी रहता है, तद्वत् सृष्टीमें भी सर्वत्र रहा करता है। डार्विन नामका एक बहुत बडा प्राणी शास्त्रज्ञ पिछली शताब्दि- में हो चुका है। डार्विन कौन था? यदि ऐसा प्रश्न करें तो उसका उत्तर यह होगा कि वह विशाल बुद्धिमत्ताका सुव्यवस्थित रूपसे प्रयोग करनेवाला एक अंग्रेज प्राणी शास्त्रज्ञ था। उसनेOrigin Of Species नामक ग्रन्थ लिखकर नैसर्गिक चुनाव के तत्व प्राणीशास्त्रमें समाविष्ट किये। किन्तु डार्विनकी योग्यता न समझनेवाले किसी जंगली मनुष्यको डार्विनके सामने खडा रखकर पूछा जाय कि यह कौन है? तो वह कहेगा कि यह बाहरसे आधासेर दाढीके बाल, छटांक भर मूँछें, सिकुडी त्वचा, अन्दरकी ओर दो गॅलन खून और पच्चीस रत्तल हड्डी, इन सबका गोला रूप है। केवल बाह्यरूपका विचार किया जाय तो इसमें असत्य कुछ भी नहीं है। किन्तु यह डार्विन का उचित वर्णन है ऐसा कौन कहेगा?

सूर्य क्या है? इसके उत्तरमें जडवादी कहेगा कि सूर्यमाला में का एक बडी भारी आगका गोला ही सूर्य है। अर्थात् हिन्दूलोग, गायत्री रूपसे सूर्यकी उपासना करते हैं, पारसी भी उसकी उपासना करते हैं, प्राचीन इजिप्शियन भी उपासना करते थे, ये सब बातें मूर्खता पूर्ण हैं। किन्तु जिस प्रकार डार्विनके शरीरसे संलग्न उसकी जीवात्माका, बुद्धिमत्ता का और सत्य अन्वेषण का श्रेष्ठ भाग है वैसा ही सूर्यका भी एक श्रेष्ठ भाग है। **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।** ईशोपानिषद्‌में सूर्यको उद्देश्य करके ऐसा कहा गया है। अर्थात् सूर्यनामकी जो सुनहली तश्तरी है, उससे आन्तरिक सत्यका मुख ढंका हुआ है। हे पूषन्! वह तश्तरी खोल और मुझे सत्यधर्म देखने दे। आगे कहा है **यत्ते रूपं कल्याणतमम् तत्ते पश्यामि। योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।** अर्थात् जो तेरा अत्यन्त कल्याणकारी स्वरूप है वह मैं अब (तश्तरी खोलनेपर) देख रहा हूँ। जो यह पुरुष दिखाई दे रहा है वह मैं हूँ (ईशावास्य० १५ और १६) छान्दोग्य उपनिषदमें '**यः एषः अन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेशः आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः**' अर्थात् आदित्यके अन्तर्यामी रूपमें एक सुनहरा पुरुष दिखाई देता है। उसके बाल सुनहरे हैं, श्मश्रु सुनहरी है, नखतक सारे भाग सुनहरे दिखाई देते हैं, ऐसा काव्यमय वर्णन सूर्यके विषयमें किया गया है। (छान्दोग्य १, ६, ६) इस वर्णनसे यह स्पष्ट होता है कि सूर्यका एक अन्तरङ्ग भाग भी है। गायत्री मन्त्रके विषयमें आधुनिक थिऑसफीय आन्दोलनमें कुछ संशोधन हुआ है और जो अदृश्य सृष्टि प्रत्यक्ष देख सकते हैं ऐसे अधिकारी व्यक्तिने वह किया है। उस संशोधनमें प्रतीत हुआ है कि यह आन्तरिक भाग सत्य है तथा गायत्री मन्त्रके उच्चारण द्वारा ध्यान किया जाय तो सूर्यकी ओरसे कुछ ऊर्मियाँ निकलकर वे ध्यान करनेवाले मनुष्यकी ओर आती हैं।

ध्यान करनेसे जो परिणाम होते हैं उनमेंसे कुछ का उल्लेख ऊपर किया गया है। उससे पाठक कमसेकम इतना अवश्य समझ सकेंगे कि ध्यानके अनेक परिणाम अदृश्य सृष्टिमें होते हैं और उनसे मनुष्यकी उत्क्रान्तिमें सहायता मिल सकती है।

× निष्काम भक्तिसे यदि मनुष्य ध्यान करे तो प्रतिक्रिया होकर उस मनुष्यकी ओर श्रेष्ठ प्रकारकी प्रेरणायें किस प्रकारसे आती हैं इसका चित्र Thought Forms नामक बेझंट लेडबीटर कृत पुस्तकमें है वह देखें।

सूचना

वैदिक पुनर्जन्म मीमांसापर पिछले अंकोंमें दो विचारधाराओंके लेख 'वैदिक धर्म' में प्रकाशित किये जा चुके हैं। श्री. नाथूलालजी ने आलोचनाओंका उत्तर भेजा है, किंतु इस विवादको अब हम यहीं समाप्त कर देना चाहते हैं, इसलिये इनका उत्तर प्रकाशित नहीं किया गया।

(११) ५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

१ महाँ अस्यध्वरस्य प्रकेतो न ऋते त्वदमृता मादयन्ते ।
आ विश्वेभिः सरथं याहि देवैर्न्यग्ने होता प्रथमः सदेह ९८

२ त्वामीळते अजिरं दूत्याय हविष्मन्तः सदमिन्मानुषासः ।
यस्य देवैरासदो बर्हिरग्नेऽहान्यस्मै सुदिना भवन्ति ९९

३ त्रिश्चिदक्तोः प्र चिकितुर्वसूनि त्वे अन्तर्दाशुषे मर्त्याय ।
मनुष्वदग्न इह यक्षि देवान् भवा नो दूतो अभिशस्तिपावा १००

---

[१] (९८) हे अग्ने! (अध्वरस्य महान् प्रकेतः असि) तू हिंसारहित कर्मका महान ध्वज जैसा सूचक है। (त्वत् ऋते अमृताः न मादयन्ते) तेरे विना अमर देव आनंदित नहीं होते। (विश्वेभिः देवैः सरथं आ याहि) सब देवोंके समेत एक रथपर बैठकर आओ और (इह प्रथमः होता नि षद) यहां पहिला आह्वाता होकर बैठो।

१ अध्वरस्य महान् प्रकेतः असि—हिंसा-कुटिलता रहित कर्मोंका महान् प्रचारक बन । क्योंकि जगत्में हिंसा और कुटिलता बढ जाती है, इसालिये उसका प्रतिकार करनेके लिये महान् प्रयत्न सरलतावादियोंके द्वारा होना आवश्यक है ।

२ त्वदृते अमृताः न मादयन्ते—अहिंसा-सरलताका प्रचार तथा आचार करनेवालोंके विना श्रेष्ठ पुरुषोंकी प्रसन्नता नहीं होती । इसलिये अहिंसा-सरलता युक्त कर्मोंका प्रचार करनेका कार्य मनुष्य करें।

३ विश्वेभिः देवैः सरथं आ याहि—सब विबुधोंके साथ एक रथमें बैठकर आओ। सदा विबुधों, ज्ञानियोंके साथ रहो ।

४ इह प्रथमः निषद—यहां पहिला बनकर रह । सब से प्रथम स्थानमें बैठनेकी योग्यतावाला बनकर रह !

इस तरह अग्निका ही वर्णन मानव धर्म बताता है पाठक इसका विचार करें।

[२] (९९) हे अग्ने! (अजिरं त्वां) प्रगतिशील तुझको (मानुषासः हविष्मन्तः) मनुष्य हवि लेकर (सदं इत्) सदा ही (दूत्याय ईळते) दूत कर्म करनेके लिये प्रार्थना करते हैं। (यस्य बर्हिः) जिसके आसनपर (देवैः आसदः) देवोंके साथ तू बैठता है (अस्मै अहानि सुदिना भवन्ति) उसके लिये अच्छे दिन आते हैं।

मानवधर्म-- प्रगतिशील वीरको मनुष्य दूतकर्ममें नियुक्त करें । त्वरासे कर्म करनेवाला दूतकर्मके लिये अच्छा है । जिसके आसनपर विबुध आकर बैठते हैं, उसके लिये अच्छे दिन आयेंगे ।

१ मानुषासः आजिरं सदं इत दूत्याय ईळते—मनुष्य सत्वर कार्य करनेवाले दूतको ही सदा चाहते हैं ।

२ यस्य बर्हिः देवैः आसदः अस्मै अहानि सुदिना भवन्ति—जिसके घर विबुध आकर बैठते हैं उसके लिये उत्तम दिन आते हैं ।

दूत सत्त्वर कार्य करनेवाला, तथा तत्परतासे कार्य करनेवाला हो। सुस्त न हो । जिसके घरमें उत्तम ज्ञानी आते हैं उसके लिये उत्तम दिन प्राप्त होते हैं । अर्थात् जिसकी संगति बुरी है उसके लिये खराब दिन आते हैं । इसलिये संगति देवोंकी करनी चाहिये, असुरोंकी नहीं ।

[३] (१००) हे अग्ने! (त्वे अन्तः अक्तोः वसूनि त्रिः चित् मर्त्याय दाशुषे) तेरे पास दिनमें तीनवार दाता मनुष्योंको देनेके लिये धन है ऐसा (प्रचिकितुः) सब जानते हैं। (मनुष्वत् इह नः दूतः भव, देवान् यक्षि) मनुके समान यहां हमारा दूत होकर देवोंका यजन कर और (नः अभिशस्ति-पावा भव) हमारा रक्षण शत्रुओंसे करनेवाला हो।

४ अग्निरीशे बृहतो अध्वरस्याऽग्निर्विश्वस्य हविषः कृतस्य ।
क्रतुं ह्यस्य वसवो जुषन्ताऽथा देवा दधिरे हव्यवाहम् ॥ १०१

५ आग्ने वह हविरद्याय देवानिन्द्रज्येष्ठास इह मादयन्ताम् ।
इमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १०२

(१२) ३ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । त्रिष्टुप् ।

१ अगन्म महा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धः स्वे दुरोणे ।
चित्रभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुतं विश्वतः प्रत्यञ्चम् ॥ १०३

मानवधर्म-- यज्ञ करनेवाले दाता मनुष्योंको धन दिया जावे । धन इसी कार्यके लिये है, यह मनुष्य जानें । दूत होकर विबुधोंका सत्कार करें और दूतको उचित है कि वह दुष्टोंसे संरक्षण करे ।

१ दाशुषे मर्त्याय अक्तोः त्रिः वसूनि प्र चिकितुः- दाता मनुष्योंको दिनमें तीन वार धनका दान करना योग्य है यह सब जानते हैं ।

२ इह दूतः भव, देवान् यक्षि, अभिशस्ति-पावा भव --यहां दूत हो, देवोंके लिये सत्कार कर और दुष्टोंको दूर कर तथा सबकी सुरक्षा कर । दूतका यह कर्तव्य है । जिसका जो दूत हो वह उसका संरक्षण अवश्य करे ।

३ अभिशस्ति-पावा भव--शत्रुओंसे अपनी सुरक्षा करनी चाहिये ।

जो सुरक्षा करनेवाला है उसको अन्न धन आदि देकर उसका सत्कार करना चाहिये । उसको उचित है कि वह अपने घर दैवी संपत्तिवालोंका सत्कार करें और आसुरी लोगोंको दूर करें ।

[४] (१०१) (बृहतः अध्वरस्य अग्निः ईशे) महान हिंसारहित प्रशस्ततम कर्मका अग्नि अधिपति है । (विश्वस्य कृतस्य हविषः) सब संस्कार किये हविष्यान्नका अग्नि ही अधिपति है । (हि अस्य क्रतुं वसवः जुषन्त) इसके किये क्रतुका वसुदेव सेवन करते हैं । (अथ देवाः हव्यवाहं दधिरे) और देवोंने अग्निको हव्योंका वहनकर्ता करके धारण किया है ।

[५] (१०२) हे अग्ने ! (हविरद्याय देवान् आ वह) अन्नके भक्षण करनेके लिये देवोंको यहां बुलाकर ले आओ । (इह इन्द्रज्येष्ठासः मादयन्तां) इस यज्ञमें इन्द्र प्रमुख देव आनन्द प्रसन्न हों । (इमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहि) इस यज्ञको द्युलोकमें देवोंके अन्दर स्थापन कर । (यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पात) आप सब हमें कल्याण करनेवाले साधनोंसे सुरक्षित रखो ।

मानवधर्म-- भोजनके लिये विबुधोंको बुलाओ । वीर श्रेष्ठ विबुध यहां भोजन पाकर आनन्द प्रसन्न होते रहें । प्रशस्तकर्म ऐसा करो कि जो विबुधोंको प्रिय हो । और सबकी सुरक्षा करो ।

अग्निके वर्णनसे मानवधर्म और मानवोंके लिये जीवन धर्मका बोध किस तरह मिलता है । यह यहां पाठक देखें । और अधिक विचार करके अधिक बोध प्राप्त करें ।

[१] (१०३) (यः स्वे दुरोणे समिद्धः दीदाय) जो अपने स्थानमें जागकर प्रकाशित होता है, और (उर्वी रोदसी अन्तः) विस्तीर्ण द्यावापृथिवीके मध्यमें (चित्रभानुं यविष्ठं स्वाहुतं विश्वतः प्रत्यञ्चं) विलक्षण प्रकाश देनेवाले तरुण उत्तम पदार्थोंसे हवन किये हुए और सब ओरसे संसेवित उस अग्निकी (नमसा अगन्म) नमस्कारसे हम सेवा करते हैं ।

१ स्वे दुरोणे समिद्धः दीदाय--अपने निज स्थानमें (घरमें, देशमें, राष्ट्रमें) तेजस्वी होकर प्रकाशित हो । अपने देशमें जागते हुए प्रकाशित हो । अपने राष्ट्रमें जागो और बाहर अपने तेजको फैलाओ ।

२ चित्रभानुं स्वाहुतं, विश्वतः प्रत्यञ्चं यविष्ठं

२ स मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वानग्निः ष्टवे दम आ जातवेदाः ।
स नो रक्षिषद् दुरितादवद्यादस्मान् गृणत उत नो मघोनः १०४

३ त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः ।
त्वे वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः १०५

नमसा अगन्म--विलक्षण तेजस्वी, उत्तम प्रकारसे सत्कार पूर्वक अन्नका सेवन करनेवाला, सब ओरसे जिसके पास लोग आते हैं ऐसे तरुण वीरके समीप हम नमस्कार करते हुए जाते हैं। तेजस्वी उत्तम अन्नका सेवन करनेवाले, सबके प्रिय तरुण वीरका सब सत्कार करें । तेजस्वी तरुणोंका राष्ट्रमें सत्कार हो ।

[२] (१०४) (सः अग्निः मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वान्) वह अग्नि अपने महत्वसे सब पापोंको दूर करता है, (जातवेदाः दम आ स्तवे) वह वेदोंका तथा धनोंका उत्पादक अपने स्थानमें प्रशंसित होता है। (सः दुरितात् अवद्यात् नः रक्षिषत्) वह पापोंसे और निंदित कर्मोंसे हमें बचावे। (गृणतः अस्मान्) स्तुति करनेवाले हम सबकी तथा (उत नः मघोनः) हमारे धनवान यज्ञ कर्ताकी सुरक्षा करे।

मानवधर्म-- तेजस्वी पुरुष अपने सामर्थ्यसे सब पापोंको दूर करता है । पापमय तथा निंदित कर्मोंसे सबको सुरक्षित रखता है । वह ज्ञानका प्रकाशक और धनका दाता अपने स्थानमें प्रशंसित होकर प्रकाशता है। जो ऐसे तेजस्वी पुरुषका वर्णन करते हैं, गुणगान गाते हैं, जो धनी अपने धनका दान प्रशस्त कर्ममें करते हैं, उनकी सुरक्षा वह करता है ।

१ मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वान्--अपने महत्त्वसे सब पापोंको दूर करो । अपनी आत्मिक शक्ति बढाओ और पाप विचारोंको दूर करो । अपने उपस्थित रहनेसे ही सब पाप दूर हो जांय, इतनी अपनी शक्ति बढानी चाहिये ।

२ दमे जातवेदाः-- अपने स्थानमें, घरमें (देशमें राष्ट्रमें) विद्याका प्रचार करो, धनोंका वितरण करो, सबको ज्ञानी और धनी बनाओ ।

३ सः दुरितात् अवद्यात् नः रक्षिषत्- वह पापों और निंदित कर्मोंसे सबको सुरक्षित रखे । पापोंसे और निंदित हीन कर्मोंसे अपने आपको बचाना चाहिये ।

४ गृणतः मघोनः रक्षिषत्--प्रभुका काव्य गान करनेवालों और यज्ञमें धन दान करनेवालोंकी राष्ट्रमें सुरक्षा हो ।

' जात-वेदाः ' में ' वेदस् ' पदका अर्थ ' वेद और धन ' हैं । जिससे वेदोंका और धनोंका प्रचार होता है वह ' जात-वेदाः ' है ।

[३] (१०५) हे अग्ने ! (त्वं वरुणः असि) तू वरुण है, (उत मित्रः) और मित्र भी तू है; (वसिष्ठाः मतिभिः त्वां वर्धन्ति) वसिष्ठ मननीय स्तोत्रोंसे तुम्हें बढाते हैं। (त्वे वसु सुषणनानि सन्तु) तेरे पास सब प्रकारके धन संसेवनीय हों। (यूयं स्वस्तिभिः नः सदा पात) आप कल्याणोंके साथ हम सबको सदा सुरक्षित रखिये।

अग्नि ही वरुण तथा मित्र है। अर्थात् वरुण और मित्र देवताके गुण धर्म अग्निमें है और अग्निके गुण इनमें हैं । जो वरण करने योग्य होता है वह वरुण है और जो मित्रवत् आचरण करता है वह मित्र है । अग्नि सबको स्वीकारने योग्य है और सबका मित्रवत् हितकारी है ।

यहां " **वसिष्ठाः मतिभिः वर्धयन्ति** " सब वसिष्ठ स्तोत्रोंसे अग्निके महत्त्वका काव्य गाते और उसका महत्त्व बढाते हैं ऐसा कहा है । यहां ' **वसिष्ठाः** ' पद बहुवचनमें है । इससे स्पष्ट होता है कि यह जातिनाम है, गोत्रनाम है, जो सबके लिये प्रयुक्त हो सकता है।

वसु सुषणनानि सन्तु-धन सबको सेवनीय हो। किसी एकके उपभोगके लिये धन नहीं है। जो धन है वह सबके लिये है । जिस किसीके पास धन हो वह उसका विश्वस्त पालक है, वह उसका भोक्ता नहीं । धन ' सु षणन ' है । सबके उपभोगके लिये है। यदि धन किसी एकके ही उपभोगके लिये रहा तो वह पाप करेगा और वह सबका विनाश करेगा ।

(१३) ३ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। वैश्वानरोऽग्निः। त्रिष्टुप्।

१ प्राग्नये विश्वशुचे धियंधेऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम्।
भरे हविर्न बर्हिषि प्रीणानो वैश्वानराय यतये मतीनाम् १०६

२ त्वमग्ने शोचिषा शोशुचान आ रोदसी अपृणा जायमानः।
त्वं देवाँ अभिशस्तेरमुञ्चो वैश्वानर जातवेदो महित्वा १०७

३ जातो यदग्ने भुवना व्यख्यः पशून् न गोपा इर्यः परिज्मा।
वैश्वानर ब्रह्मणे विन्द गातुं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः १०८

---

[१] (१०६) (विश्वशुचे धियंधे) विश्वको प्रकाश देनेवाले, बुद्धियों और कर्मोंका धारण करनेवाले, (असुरघ्नो अग्नये) असुरोंके नाश कर्ता अग्निके लिये (मन्म धीतिं प्र भरध्वं) मननीय काव्यों और प्रशस्त कर्मोंको भर दो। (मतीनां यतये) कामनाओंके दाता और (वैश्वानराय बर्हिषि) विश्वके नेताके लिये यज्ञमें (हविः न) हविष्यान्नके समान शुद्ध अन्न (प्रीणानः भरे) संतुष्ट हुआ मैं देता हूं अर्पण करता हूं।

मानवधर्म- जो विश्वमें प्रकाशमान वा शुद्ध है, जो बुद्धिमान तथा पुरुषार्थी है, जो असुरोंका विनाश करता है, उसका काव्यगान करो और उसकी सहायतार्थ उत्तम कर्म करो। जो कामनाओंकी पूर्ति करता है, उस सबके नेता पुरुषके लिये संतुष्ट होकर उत्तम अर्पण देना योग्य है।

१ विश्वशुचे धियंधे असुरघ्ने अग्नये मन्म धीतिं प्रभरध्वं—विश्वमें तेजस्वी, पवित्र, बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, शत्रुनाशक नेताका सन्मान करो। उसके चरित्रका गान करो, उसका महत्त्व बढाओ, उसको संतुष्ट करनेके लिये अर्पण करो।

२ प्रीणानः वैश्वानराय हविः भरे--संतुष्ट होकर सबके नेता अग्रणीके लिये मैं अन्न देता हूं। अर्पण करता हूं। उसको संतुष्ट करनेके लिये अपना समर्पण करता हूं।

मनुष्य विश्वमें पवित्र हो, सबको प्रकाश देनेवाला बने, दुष्टोंका नाश करे, सबका संचालन करे, विश्वका नेतृत्व करे।

[२] (१०७) हे अग्ने! (त्वं शोचिषा शोशुचानः) तू अपने तेजसे प्रकाशित होकर (जायमानः रोदसी अपृणः) उत्पन्न होते ही द्युलोक और पृथिवीको भरपूर भर देता है। हे (जातवेदः वैश्वानर) वेद और धनके उत्पन्न कर्ता और विश्वके नेता! (महित्वा) अपनी महिमासे (त्वं देवान् अभिशस्तेः अमुञ्चः) तूने देवोंको शत्रुओंके द्वारा होनेवाले विनाशसे बचाया है।

मानवधर्म- तेजस्वी पुरुष अपने तेजसे प्रकाशित हो और अपनी दीप्तिसे विश्वको भर देवे। ज्ञानका प्रसार करे, धनकी निर्मिति करे, विश्वका नेतृत्व करे। और अपनी शक्तिसे सबको शत्रुसे बचावे।

१ त्वं शोचिषा शोशुचानः रोदसी अपृणः—तू तेजस्वी होकर अपने तेजसे विश्वको भर दे।

२ जात-वेद, वैश्वानर—ज्ञानका प्रसार कर, धनका उत्पादन कर, विश्वका नेतृत्व कर।

३ त्वं अभिशस्तेः अमुञ्चः— तू शत्रुओंसे सबको बचाओ।

[३] (१०८) हे वैश्वानर अग्ने! (जातः) उत्पन्न होते ही तू (इर्यः परिज्मा) सबका प्रेरक और सर्वत्र गमन कर्ता होकर (पशून् गोपाः) पशुओंका संरक्षण करता है। (यत् भुवना व्यख्यः) जब तू भुवनोंका निरीक्षण करता है, तब (ब्रह्मणे गातुं विंद) ज्ञान प्रसारके लिये मार्ग प्राप्त करता है। (सदा नः यूयं स्वस्तिभिः पात) सदा हम सबको आप कल्याणोंके द्वारा सुरक्षित रखो।

(१४) ३ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। अग्निः। त्रिष्टुप्, १ बृहती।

१ समिधा जातवेदसे देवाय देवहूतिभिः।
हविर्भिः शुक्रशोचिषे नमस्विनो वयं दाशेमाग्नये १०९

२ वयं ते अग्ने समिधा विधेम वयं दाशेम सुष्टुती यजत्र।
वयं घृतेनाध्वरस्य होतर्वयं देव हविषा भद्रशोचे ११०

३ आ नो देवेभिरुप देवहूतिमग्ने याहि वषट्कृतिं जुषाणः।
तुभ्यं देवाय दाशतः स्याम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः १११

मानवधर्म— प्रकट होते ही सर्वत्र जाकर देखो और सबको प्रेरणा करो, पशुओंकी पालना करो, सब प्रदेशोंका निरीक्षण करो, ज्ञानके प्रसारका मार्ग देखो और सबकी सुरक्षा करो।

१ **जातः परिज्मा इर्यः**—बाहर प्रकट होते ही सब स्थानोंमें जाओ और सबको उन्नतिके मार्गपर चलनेकी प्रेरणा करो।

२ **पशून् गोपाः**—पशुओंका संरक्षण करो।

३ **भुवना व्यख्यः**—सब प्रदेशोंका निरीक्षण करो।

४ **ब्रह्मणे गातुं विंद्**—ज्ञानके प्रसारका उत्तम मार्ग ढूंढो और उसको प्राप्त करो (अर्थात् उस मार्गसे ज्ञानका प्रचार करो ।)

५ **स्वस्तिभिः पातं**—कल्याणमय योजनाओंके द्वारा सब को सुरक्षित करो।

[१] (१०९) (जातवेदसे अग्नये) जिससे वेद प्रकट हुए उस अग्निके लिये (समिधा वयं दाशेम) समिधाओंसे हम परिचर्या करते हैं। (देवाय देव-हूतिभिः) इस अग्निदेवके लिये देवस्तुतियोंसे, तथा (शुक्रशोचिषे नमस्विनः हविर्भिः) पवित्र प्रकाशवाले अग्निके लिये अन्न लेकर हम हविकी आहुतियोंसे (दाशेम) सेवा करते हैं।

अग्निसे यज्ञ होता है और यज्ञमें वेद बोले जाते हैं, इस कारण अग्निसे वेद प्रकट हुए ऐसा कहा है । '**जातवेदा**' शब्दका अग्निपरक इस तरह अर्थ है। समिधा अग्निमें डालकर अग्निकी सेवा करनेसे अग्नि प्रदीप्त होता है । '**देव-हूति**'का अर्थ ईश्वरस्तुति है । ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये उसकी स्तुति गाई जाती है। यह गाई हुई स्तुति भक्तके लिये मार्ग बताती है। अग्नि आदि देवताके वर्णनसे मनुष्यकी उन्नतिका मार्ग मनुष्यके सन्मुख प्रकट होता है। अग्नि प्रदीप्त होनेपर उसमें आहुतियां डालना चाहिये। यह यज्ञविधि प्रसिद्ध है।

१ **समिधा वयं दाशेम**—प्रथम अग्निमें समिधा डाल-कर उसे प्रदीप्त करना। अग्नि उत्पन्न करनेपर यह प्रथम करने योग्य सेवा है।

२ **देवहूतिभिः देवाय**—ईश्वर स्तुतिके स्तोत्रोंका पाठ करना, यह द्वितीय विधि है।

३ **शुक्रशोचिषे हविर्भिः दाशेम**—अग्नि प्रदीप्त होने-पर हविकी आहुतियां देना, यह यज्ञकी तीसरी विधि है।

इस तरह यहां यज्ञविधि बतायी है।

[२] (११०) हे अग्ने! (ते वयं समिधा विधेम) तेरी हम समिधाओंसे परिचर्या करते हैं। हे (यजत्र) यजनीय अग्ने! (वयं सुष्टुतीः दाशेम) हम उत्तम स्तुतियोंसे तुम्हारी सेवा करते हैं। हे (अध्वरस्य होतः) हिंसारहित यज्ञके होता अग्ने! हम (घृतेन) घृतसे तेरी परिचर्या करते हैं। हे (भद्रशोचे देव) कल्याण प्रकाशवाले अग्ने! हे देव! (वयं हविषा) हम हविके अर्पणसे तेरी परि-चर्या करते हैं।

इस मंत्रमें यज्ञविधि बतायी है। प्रथम '**समिधा**' डालना और अग्निको जगाना, पश्चात् '**सुष्टुती**' स्तोत्र पाठ करना, पश्चात् '**घृतेन**' घीसे उसको प्रदीप्त करना, अग्नि अच्छी तरह प्रदीप्त होनेपर 'हवि' अर्पण करना। यह यज्ञका क्रम है।

[३] (१११) हे अग्ने! (नः देवहूतिं) हमारी देवस्तुतिरूप यज्ञके प्रति (देवेभिः) देवोंके साथ

[१५] १५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । गायत्री ।

१ उपसद्याय मीळ्हुष आस्ये जुहुता हविः । यो नो नेदिष्ठमाप्यम् ११२
२ यः पञ्च चर्षणीरभि निषसाद दमेदमे । कविर्गृहपतिर्युवा ११३

(वषट्कृतिं जुषाण) वषट् कारसे दिये अन्नका सेवन करते हुए तू (उप आ याहि) आ (देवाय तुभ्यं दाशतः स्याम) तुझ देवकी सेवा करनेवाले हम हों। (यूयं सदा नः स्वतिभिः पातं) आप सदा हमारी कल्याणके साधनोंसे सुरक्षा कीजिये।

हम ईश्वरकी स्तुति गाते हैं, वषट् कारसे अन्न अथवा हवि समर्पण करते हैं और देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं। वह यज्ञ हमारा सफल हो। इससे हम सबकी सुरक्षा होती रहे।

[१] (११२) (उपसद्याय मीळ्हुषे) पास बैठने योग्य और इच्छाकी पूर्ति करनेवाले अग्निके लिये (आस्ये हविः जुहुत) उसके मुखमें हविका हवन करो। (यः नः नेदिष्ठं आप्यं) जो हमारा अत्यंत समीपका बंधु है।

मानवधर्म–अत्यंत समीपका बन्धु उसको कहते हैं कि जो समीप बैठनेयोग्य है और जो अपना हित करता है।

(नेदिष्ठं आप्यं) समीपका बन्धु वह है कि जो (उप-सद्यः) कठिन प्रसंगमें भी पास जाने और उससे सहायता मांगने योग्य है। तथा (मिळ्हुष्) जो समयपर आवश्यक सहायता करता है।

आजकल हम देखते हैं कि भाई भाईमें मित्रताकी अपेक्षा द्वेष ही अधिक होता है। कौरव–पांडवोंका द्वेष प्रसिद्ध है। आज इससे भी अधिक द्वेष है। वेदमें समीपस्थ (नेदिष्ठं आप्यं) भाईचारा यहां वर्णन किया है। वैसी स्थिति समाजमें आजाय तो अच्छा है। वेदका आदर्श कुटुंब वह है कि जिसमें,—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्
मा स्वसारमुत स्वसा ।(अथर्व)

' भाई भाईसे द्वेष न करे और बहिन बहनसे वैर न करे।' यह आदर्श कुटुंब है। यही सुखी कुटुंब हो सकता है।

[२] (११३) (यः कविः गृहपतिः युवा) जो अग्नि ज्ञानी, गृहस्वामी और तरुण है,(पंच चर्षणीः दमे दमे) पांचों लोगोंके घरघरमें (निषसाद) रहता है।

' **पंच चर्षणीः** ' ये पञ्च मानव हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पञ्चजन हैं। इनमेंसे प्रत्येक घर, घरमें यह अग्नि रहता है। यह ज्ञानी गृहस्थी युवा है। आठवें वर्ष बालक गुरुकुलमें जाता है, वहां १२ वर्ष विद्या पढता है २० वें वर्ष स्नातक होकर वापस आता है। यह तरुण है, कवि-ज्ञानी है और गृहपति भी है। गुरुकुलका ब्रह्मचारी गृहपति नहीं होता, क्योंकि वह गुरुकुलमें प्रविष्ट होते ही घरका संबंध छोड देता है। वह विद्यामाताके गर्भमें जाता है। वानप्रस्थी और संन्यासी भी गृहपति नहीं होते। इन तीनों–ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी—को गृहपति नहीं कहते। ये 'अ-**निकेतन** ' होते हैं। इनका अपना निज कोई घर नहीं होता। इसलिये गृहस्थाश्रमी युवा पुरुष ही गृही अथवा गृहपति कहलाता है। कवि-गृहपति-युवा ये विशेषण गृहस्थीके होते हैं। २५ वर्षसे ५० वर्षतक तारुण्य अवस्था है और इसी अवस्थामें ये तरुण गृहपति होते हैं।

पंचजनोंके घर घरमें ये युवा गृहपति होते हैं। इससे स्पष्ट होता है ब्रह्मचर्य, वानपस्थ, संन्यास पञ्चजनोंमें सबमें होते थे। नहीं तो 'पञ्चजनोंमें युवा गृहपति' का दूसरा कोई तात्पर्य नहीं हो सकता।

' अनिकेतन ' ' अ–गृही ' होनेकी अवस्था जिनमें होगी उनको ही ' तरुण कवि गृहपति ' कहा जा सकता है। पञ्च जनोंमें ' युवा ही गृहपति ' होता था, और घर घरमें (दमे दमे) होता था। इससे स्पष्ट है कि इन पञ्चजनोंमें बालक, वानप्रस्थी, यती इन अवस्थाओंमें अर्थात् तरुण अवस्थाको छोडकर दूसरी किसी अवस्थामें गृहपति नहीं होता था।

३	स नो वेदो अमात्यमग्नी रक्षतु विश्वतः	उतास्मान् पात्वंहसः	११४
४	नवं नु स्तोममग्नये दिवः श्येनाय जीजनम्	वस्वः कुविद् वनाति नः	११५
५	स्पार्हा यस्य श्रियो दृशे रयिर्वीरवतो यथा	अग्रे यज्ञस्य शोचतः	११६
६	सेमां वेतु वषट्कृतिमग्निर्जुषत नो गिरः	यजिष्ठो हव्यवाहनः	११७
७	नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्तं देव धीमहि	सुवीरमग्न आहुत	११८
८	क्षप उस्रश्च दीदिहि स्वग्नयस्त्वया वयम्	सुवीरस्त्वमस्मयुः	११९

[३] (११४) (सः अग्निः नः आमात्यं वेदः) वह अग्नि हमारा साथ रहनेवाला धन (विश्वतः रक्षतु) सब ओरसे सुरक्षित रखे। (उत अस्मान् अंहसः पातु) और हमें पापसे बचावे।

'**अमा-त्यं वेदः**' जन्मके साथ आया हुआ धन, पैतृक धन जो अपने साथ रहता है, साथ आया धन। गुरुकुलसे स्नातक बनकर अपने घर जानेपर उसका जैसा अपने घर पर स्वामित्व होता है, वैसा उसका पैतृक धन भी उसको प्राप्त होता है। यह '**अमा-त्य वेदः**' है। यह 'साथ रहा, साथ आया धन' है। जन्म और धनका यहां साथ निवास कहा है। पैतृक संपत्तिपर पुत्रका जन्मके साथ अधिकार आता है यह इससे सिद्ध है। यद्यपि यह धन यज्ञके लिये है तथापि पिताके धनका अधिकारी पुत्र है यह इस शब्दसे सिद्ध होता है।

[४] (११५) (दिवः श्येनाय अग्नये) द्युलोकमें श्येनपक्षीके सदृश शीघ्र गमन करनेवाले अग्निके लिये (नवं स्तोमं) नवीन स्तोत्र (जीजनं) मैं बनाता हूँ, वह अग्नि (नः) हमारे लिये (कुवित् वस्वः वनाति) बहुत धन देवे।

[५] (११६) (यज्ञस्य अग्रे शोचतः) यज्ञके अग्रभागमें प्रकाशित होनेवाले अग्निकी (श्रियः) शोभा देनेवाली ज्वालाएँ (वीरवतः रयिः यथा) जैसा वीर पुत्रवालेका धन होता है, उस प्रकार (दृशे स्पार्हाः) देखनेके लिये स्पृहणीय होती हैं।

वीरवतः रयिः स्पार्हः— वीर पुत्र जिसको हैं उसका धन स्पृहणीय होता है। पुत्रहीनके पासका धन वैसा शोभा-दायी नहीं होता। पुत्रका महत्त्व इतना है।

[६] (११७) (यजिष्ठः हव्यवाहनः अग्निः) यजनके लिये योग्य हवनीय द्रव्योंका वहन करनेवाला अग्नि (इमां वषट् कृतिं) हमारी दी हुई इस आहुतिको (वेतु) स्वीकारे और (नः गिरः जुषतं) हमारे वचन सुने।

[७] (११८) हे (नक्ष्य विशांपते) पास जाने-योग्य, प्रजाओंके अधिपते (आहुत अग्ने देव) आहुति दिये हुए अग्निदेव ! (द्युमन्तं सुवीरं त्वा नि धीमहि) तेजस्वी उत्तम वीरोंके साथ रहनेवाले ऐसे तेरा हम यहां स्थापन करते हैं।

सुवीरं निधीमहि—जो उत्तम वीरोंसे युक्त है उसको यहां स्थापन करते हैं। ऐसा यहां कहा है। जिसके पास वीर नहीं अथवा जिसको संतान नहीं, उसको हम यहां नहीं सन्मानित करेंगे यह इसका भाव है। अपने पास वीर संतान अवश्य चाहिये।

[८] (११९) (क्षपः उस्रः च दीदिहि) रात्रिमें और दिनमें प्रदीप्त होते रहो, (त्वया वयं स्वग्नयः) तेरे कारण हम उत्तम अग्निवाले होंगे और (त्वं अस्मयुः सुवीरः) तू भी हमारे कारण उत्तम वीरोंसे युक्त होगा।

देवसे भक्त और भक्तोंसे देव लाभ प्राप्त करते हैं। देवसे भक्तोंको धनादि प्राप्त होता है और भक्तोंके कारण देवका यश तथा माहात्म्य बढता है।

९	उप त्वा सातये नरो विप्रासो यन्ति धीतिभिः ।	उपाक्षरा सहस्रिणी	१२०
१०	अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः ।	शुचिः पावक ईड्यः	१२१
११	स नो राधांस्या भरेशानः सहसो यहो ।	भगश्च दातु वार्यम्	१२२
१२	त्वमग्ने वीरवद् यशो देवश्च सविता भगः ।	दितिश्च दाति वार्यम्	१२३
१३	अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति ष्म देव रीषतः ।	तपिष्ठैरजरो दह	१२४
१४	अधा मही न आयस्यनाधृष्टो नृपीतये ।	पूर्भवा शतभुजिः	१२५

[९] (१२०) (त्वा नरः विप्रासः) तेरे पास नेता ज्ञानी लोग (धीतिभिः सातये उपयन्ति) बुद्धिपूर्वक किये कर्मोंके साथ धन प्राप्तिके लिये आते हैं। (सहस्रिणी अक्षरा उप) सहस्रों अक्षरोंवाली हमारी वाणी भी तेरे पास पहुंचती है।

[१०] (१२१) (शुक्रशोचिः अमर्त्यः) शुभ्र किरणवाला अमर (शुचिः पावकः ईड्यः) पवित्र शुद्धता करनेवाला स्तुत्य (अग्निः रक्षांसि सेधति) अग्नि राक्षसोंका नाश करता है।

तेजस्वी शुद्ध पवित्र प्रशंसनीय वीर शत्रुओंका नाश करे, उनको दूर भगावे, जैसा अग्नि करता है।

[११] (१२२) हे (सहसः यहो) बलके पुत्र अग्ने! (सः ईशानः नः राधांसि आ भर) वह सबका स्वामी तू हमें भरपूर धन दो। (भगः च वार्यं दातु) भाग्यवान् देव भी हमें धन देवे।

इस मंत्रमें धनके नाम दो दिये है। 'राधांसि' और 'वार्यं'। जो धन परम सिद्धितक सहायक होता है वह धन 'राधांसि' है, यह अनेक प्रकारका होनेसे इसका प्रयोग यहां बहुवचनमें किया है। सिद्धितक पहुंचानेवाले धन बहुत होते हैं। दूसरा धन 'वार्यं' है। शत्रुओंका निवारण करना जिसके लिये आवश्यक होता है उसको वार्य कहते हैं। सभी धन शत्रुसे संरक्षणीय होता है। हम धन प्राप्त करें और डाकू उसे लूट लेवे तो वह हमारे क्या कामका होगा। इसलिये धन भी चाहिये और उसका संरक्षण करनेकी शक्ति भी चाहिये।

[१२] (१२३) हे अग्ने! (त्वं वीरवत् यशः) तू वीर पुत्रोंसे युक्त यश हमें दे, (सविता भगः च वार्यं) सविता और भाग्यवान् देव वरणीय श्रेष्ठ धन हमें देवे। (दितिः च दाति) दिति देवी भी हमें धन देवे।

इस मंत्रमें अग्निके साथ सविता और भग, तथा दिति भी गिनाये हैं। दिति यह दैत्यों, राक्षसोंकी माता कही जाती है। वह यहां किस तरह गिनाई है यह अन्वेषणीय है।

[१३] (१२४) हे अग्ने! तू (नः अंहसः रक्ष) हमारा पापसे बचाव कर। हे देव! तू (अजरः) जरारहित है अतः तू (रिषतः तपिष्ठैः दह स्म) शत्रुओंको अपने दाहक तेजोंसे जला दे।

यहां अपना पापसे बचाव करना और शत्रुओंका नाश करना ये दो बातें है। पापसे बचकर हम पवित्र बनेंगे और शत्रुका नाश होनेसे हम निर्भय होंगे। उन्नतिके लिये इन दोनोंकी आवश्यकता है।

[१४] (१२५) (अध अनाधृष्टः) और शत्रुओंसे आक्रान्त न होकर (नः नृपीतये) हमारे सब मानवोंकी सुरक्षाके लिये (शतभुजिः मही आयसीः पूः भव) सैंकडों मानवोंसे सुरक्षित बडी विस्तृत लोहेके प्रकारावाली पुरी जैसा तू संरक्षक हो।

शतभुजिः मही आयसी पूः नृपीतये। - [शतभुजिः] सैंकडों वीरोंकी भुजाओंसे सुरक्षित होनेवाली बडी (आयसी पूः) लोहेके प्राकारोंसे वेष्टित नगरी, 'आयस्' का अर्थ लोहा है, तथा पत्थरोंसे बनी कीलेकी दिवार भी है। 'पूः' का अर्थ बडी नगरी है, जो सब सुख साधनोंसे भरपूर होती है, उसका नाम 'पूः या पुरी' है। इसकी सुरक्षाके लिये लोहेके अथवा

१५ त्वं नः पाह्यंहसो दोषावस्तरघायतः । दिवा नक्तमदाभ्य १२६

(१६) १२ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । प्रगाथः (= विषमा बृहती, समा सतोबृहती)।

१ एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् १२७

२ स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः ।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम् १२८

पत्थरोंके शक्तिशाली प्राकार होते हैं। सात प्राकार होनेका वर्णन है। ऐसे सात प्राकारोंसे वेष्टित होनेके कारण पुरी सुरक्षित होती है। वेदमें ऐसी नगरियोंके निर्माण करनेका आदेश है। पुरीके बाहर सात प्राकार हों और प्रत्येक प्राकारका संरक्षण सैकडों वीर, आलस्य छोडकर करते रहें। ऐसा सुरक्षाका प्रबंध होगा, तो अंदर रहनेवाले नागरिक सुराक्षित होनेका आनंद प्राप्त कर सकते हैं। नागरिकोंकी सुरक्षा (नृपीतये) होनी चाहिये।

[१५] (१२६) हे (अदाभ्य) न दबनेवाले वीर! (त्वं नः) तू हमें (दोषावस्तः) रात्रीके समय और दिनके समय (अंहसः पाहि) पापसे बचाओ और (दिवा नक्तं अघायतः) दिनमें और रात्रीमें दुष्ट पापी शत्रुओंसे बचाओ।

यहां सुरक्षाका प्रबंध जैसा रात्रीके समय वैसा ही दिनके समय भी जागरूकताके साथ होना चाहिये ऐसा कहा है। वह योग्य है। यह सुरक्षाका प्रबंध जैसा अन्धेरेमें वैसा ही प्रकाशमें होना चाहिये। प्रति समय संरक्षक वीर जागते रहें और अपना कर्तव्य करते रहें। सुरक्षाके प्रबंधमें ढिलापन न रहे।

[१] (१२७) (ऊर्जः नपातं) बलका पतन न करनेवाले (प्रियं चेतिष्ठं) प्रिय और चेतना देनेवाले (अरतिं स्वध्वरं) प्रगतिशील और उत्तम अहिंसामय यज्ञ निर्माता (विश्वस्य अमृतं दूतं) सबका अमर दूत ऐसे (एना नमसा आ हुवे) इस अग्निको नम्रता पूर्वक (वः) आप सबके हितके लिये मैं बुलाता हूं।

यहां का अग्नि '**ऊर्जः न-पातः**' है। बलको कम न करनेवाला है। बलको क्षीण न करनेवाला। '**चेतिष्ठः**' चेतना देनेवाला, उत्साह बढानेवाला, चित्तके व्यापारको चलानेवाला '**अरतिः**' गमनशील, प्रगतिवान् शीघ्र गति करनेवाला '**स्वध्वर (सु-अ-ध्वर)**' उत्तम रीतिसे हिंसारहित रीतिसे प्रशस्ततम कर्म करनेवाला, जिसमें कुटिलता, टेढापन, हिंसा नहीं है ऐसे कर्म करनेवाला। '**अमृतः दूतः**' जो मरनेवाला नहीं ऐसा दूत, जो मुर्दा जैसा नहीं जो जीवित और जाग्रत रहता है ऐसा दूत। ऐसे दूत अग्निको यहां बुलाया है।

मानवधर्म— अपना बल कम होने योग्य कुछ भी न करना, प्रिय आचरण करना, उत्साह बढाना, प्रगतिशील होना, हिंसारहित कर्म करना, मुर्दा जैसा न रहना, प्रभुसेवाके भावसे कार्य करना, नम्रतापूर्वक वीरको बुलाना, सबके हितके लिये प्रयत्नशील रहना।

[२] (१२८) (सः विश्वभोजसा अरुषा) वह अग्नि विश्वको भोजन देनेवाले अपने तेजसे (योजते) युक्त होता है। प्रकाशता है। और (स दुद्रवत्) शीघ्र गतिसे जाता है। वह (स्वाहुतः सुब्रह्मा) वह उत्तम आहुतियोंको लेनेवाला, उत्तम ज्ञानी, (यज्ञः सुशमी) यजनीय और उत्तम कर्म करनेवाला अग्नि (वसूनां देवं राधः) धनोंमें दिव्य धन (जनानां) लोगोंको देता है।

पूजा योग्य तरुण वीर कैसा होना चाहिये, इसका उत्तर यहां दिया है—वह (विश्व-भोजसा अरुषा योजते) विश्वरक्षक, विश्वको भोजन देनेवाले तेजसे युक्त हो, (सु ब्रह्मा) उत्तम ज्ञानी हो, उत्तम अन्न अपने पास रखे, (यज्ञः) सत्कार-संगठन दानात्मक शुभ कर्म करता रहे, (सुशमी) इन्द्रियोंका शमन करनेवाला हो, उत्तम कर्म करे और उत्तम धन लोगोंको देता रहे।

३	उदस्य शोचिरस्थादाजुह्वानस्य मीळ्हुषः ।	
	उद् धूमासो अरुषासो दिविस्पृशः समग्निमिन्धते नरः	१२९
४	तं त्वा दूतं कृण्महे यशस्तमं देवाँ आ वीतये वह ।	
	विश्वा सूनो सहसो मर्तभोजना रास्व तद् यत् त्वेमहे	१३०
५	त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे ।	
	त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि वेषि च वार्यम्	१३१
६	कृधि रत्नं यजमानाय सुक्रतो त्वं हि रत्नधा असि ।	
	आ न ऋते शिशीहि विश्वमृत्विजं सुशंसो यश्च दक्षते	१३२
७	त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः ।	
	यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वान् दयन्त गोनाम्	१३३

---

[३] (१२९) (मीळ्हुषः आजुह्वानस्य) कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले और जिसमें हवन हो रहा है ऐसे (अस्य शोचिः उत् अस्थात्) इस अग्निकी ज्वालाएं ऊपर उठती हैं। (अरुषासः दिविस्पृशः धूमासः उत्) तेजस्वी आकाशको स्पर्श करनेवाले धूम ऊपर जा रहे हैं। ऐसे (अग्निं नरः सं इन्धते) अग्निको लोग प्रदीप्त करते हैं।

[४] (१३०) हे (सहसः सूनो) बलसे उत्पन्न हुए अग्ने! (यशस्तमं तं त्वा दूतं कृण्महे) अत्यंत यशस्वी ऐसे तुझे हम दूत करते हैं। वह तू (देवान् वीतये आवह) देवोंको हविका भक्षण करनेके लिये यहां ले आ। (यत् त्वा ईमहे) जब हम तेरे पास आते हैं तब (तत् विश्वा मर्तभोजना रास्व) सब मनुष्योंको भोगने योग्य धन हमें दो।

विश्वा मर्तभोजना रास्व — मनुष्योंके लिये जो जो धन भोगने योग्य हैं वे सब धन हमें चाहिये। धन, रत्न, घोडे, गौवें, रथ, घर आदि सभी भोग्य पदार्थ हमें चाहिये।

[५] (१३१) हे (विश्ववार अग्ने) सबके द्वारा वरने योग्य अग्ने! (त्वं नः अध्वरे गृहपतिः) तू हमारे यज्ञ कर्ममें गृहका संरक्षक है, (त्वं होता) तू देवोंको बुलानेवाला है, (त्वं पोता प्रचेता) तू पवित्र करनेवाला अत्यंत बुद्धिमान है अतः तू (वार्यं यक्षि वेषि च) यज्ञमें प्रयुक्त होनेवाले हविरूप अन्नका यजन कर और उसकी प्राप्तिकी इच्छा कर।

मनुष्य (विश्ववारः) सबको प्रिय, (गृहपति) अपने घरका स्वामी, अपने स्थानका स्वामी, देशका पालक, (प्रचेताः पोता) उत्तम बुद्धिमान और पवित्र करनेवाला बने। अग्निके गुण मनुष्यमें देखनेसे आदर्श व्यक्ति सामने खडी हो जाती है।

[६] (१३२) हे (सुक्रतो) उत्तम कर्म करनेवाले अग्ने! (यजमानाय रत्नं कृधि) यजमानके लिये रत्न वा धन दो। (हि त्वं रत्न धाः असि) क्योंकि तू रत्नोंका धारण करानेवाला है। (नः ऋते) हमारे यज्ञमें (विश्वं ऋत्विजं आशिशीहि) सब ऋत्विजोंको तेजस्वी कर। (यः सुशंसः च दक्षते) जो उत्तम प्रशंसा योग्य है उसको दक्षतासे बढाओ।

[७] (१३३) हे अग्ने, हे (स्वाहुत) उत्तम आहुति लेनेवाले! (ते सूरयः प्रियासः सन्तु) तुझे विद्वान् प्रिय हों। विद्वानोंके लिये तू प्रिय हो। तथा (ये यन्तारः मघवानः) जो दाता धनवान हैं और जो (जनानां गोनां ऊर्वान् दयन्त) लोगोंको गौओंके झुण्डोंको दानमें देते हैं, वेभी तुझे प्रिय हों।

८ येषामिळा घृतहस्ता दुरोण आँ अपि प्राता निषीदति ।
ताँस्त्रायस्व सहस्य द्रुहो निदो यच्छा नः शर्म दीर्घश्रुत् ॥ १३४

९ स मन्द्रया च जिह्वया वह्निरासा विदुष्टरः ।
अग्ने रयिं मघवद्भ्यो न आ वह हव्यदातिं च सूदय ॥ १३५

१० ये राधांसि ददत्यश्व्या मघा कामेन श्रवसो महः ।
ताँ अंहसः पिपृहि पर्तृभिष्ट्वं शतं पूर्भिर्यविष्ठ्य ॥ १३६

---

१ सूरयः ते प्रियासः सन्तु — ज्ञानी तुझे प्रिय हों, ज्ञानीयोंके पास रहो, उनकी संगतिमें रहो ।

२ मघवानः यन्तारः — धनवान् दाता हों, धनी लोग अपने धनका दान करते रहें ।

४ जनानां गवां ऊर्वान् दयन्त — उत्तम सत्पुरुषोंको गायोंके झुण्डके झुण्ड दानमें दिये जाय ।

[८] (१३४) (येषां दुरोणे घृतहस्ता इळा) जिनके घरमें घी हाथमें लेकर अन्न परोसनेवाली देवी (प्राता आ निषीदति) भरपूर अन्न लेकर बैठती है। हे (सहस्य) बलवान्! (तान् त्रायस्व) उनको सुरक्षित करो। (द्रुहः निदः) द्रोहकारी निंदक शत्रुसे उनको बचाओ। (नः दीर्घश्रुत् शर्म यच्छ) हमें दीर्घकाल टिकनेवाले यशसे युक्त सुख या घर दो ।

१ येषां दुरोणे घृतहस्ता इळा प्राता आ निषीदति — जिनके घरोंमें देवियाँ घी और अन्नके भरे पात्र लेकर अन्नपान करानेके लिये सिद्ध रहती हैं। **तान् त्रायस्व** - उनका संरक्षण कर ।

१ द्रुहः निदः तान् त्रायस्व — द्रोही तथा निंदक शत्रुओंसे उनका संरक्षण कर ।

३ दीर्घश्रुत् शर्म नः यच्छ — जिसकी कीर्ति दीर्घकाल तक टिकी रहती है ऐसा घर, सुख, संरक्षण हमें दो। पूर्वोक्त प्रकारका अन्नदान करनेवाला घर ही ऐसा यशस्वी घर है।

इस मन्त्रसे पता लगता है कि घरमें भरपूर घी और अन्न चाहिये और उसको मुक्त हस्तसे देना चाहिये। पर आजकल अन्न, दूध, दही, घी शहदकी इतनी कमी हुई है कि यह वैदिक समयका घर आजकल मिलना असंभव सा दीखता है ।

*

[९] (१३५) हे अग्ने! (मन्द्रया आसा जिह्वया) आनन्ददायक मुखमें रहनेवाली जिह्वासे-ज्वालासे-(वह्निः विदुष्टरः) हवनीय द्रव्योंका वहन करनेवाला ज्ञानी (सः) वह अग्नि तू (मघवद्भ्यः नः रयिं आ वह) धन देनेवाले हम सबके लिये धन ले आओ, और (हव्यदातिं च सूदय) हवनीय अन्नका दान करनेवाले यजमानको प्रशस्त कर्ममें प्रेरित करो ।

१ विदुष्टरः वह्निः मन्द्रया आसा जिह्वया नः रयिं आ वह — विद्वानोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी वीर आनन्द देनेवाली मधुर भाषाके साथ हमें धन देवे। उत्तम भाषण करे और श्रेष्ठ अन्न भी देवे ।

२ मघवद्भ्यः रयिं आ वह — धनवान् दानी मनुष्योंके लिये धन दो। जिससे वे अधिक दान देते रहें ।

३ हव्यदातिं सूदय—अन्नका दान करनेकी प्रेरणा कर ।

[१०] (१३६) हे (यविष्ठ्य) अत्यंत तरुण वीर अग्ने! (महः श्रवसः कामेन) बडे यशकी इच्छासे जो (राधांसि अश्व्या मघा) सिद्धिदायक अश्व युक्त धन (ददति) दानमें देते हैं, (तान् अंहसः) उनको पापसे अथवा दुष्ट शत्रुसे (पर्तृभिः शतं पूर्भिः त्वं पिपृहि) संरक्षक साधनोंसे तथा सैंकडों कीलोंवाली नगरियोंसे तू सुरक्षित रख ।

१ महः श्रवसः कामेन राधांसि अश्व्या मघा ददाति -- जो बडे यशकी इच्छासे सिद्धि देनेवाले धन, जिनमें अश्व गौ घर आदिका समावेश होता है, दानमें देते हैं, उसका संरक्षण होना चाहिये ।

११ देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्यासिचम् ।
उद् वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद् वो देव ओहते ॥ १३७

१२ तं होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत ।
दधाति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुषे ॥ १३८

(१७) ७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः । द्विपदा त्रिष्टुप् ।

१ अग्ने भव सुषमिधा समिद्ध उत बर्हिरुर्विया वि स्तृणीताम् १३९
२ उत द्वार उशतीर्वि श्रयन्तामुत देवाँ उशत आ वहेह ॥१॥ १४०

---

२ तान् अंहसः पर्तृभिः पिपृहि — उनको पापसे बचाओ। उनको दुर्गतिसे बचाओ।

३ शतं पूर्भिः पिपृहि — सौ पौरकीलोंसे उनको सुरक्षित कर, सौ प्राकारोंके अन्दर ऐसे दाताओंको सुरक्षित रख।

यहां 'शतं पूर्भिः पर्तृभिः पिपृहि' ऐसा कहा है। नगरकी सुरक्षाका साधन नगरका प्राकार है, नागरिक दुर्ग है। दुर्गके ऊपर शतघ्नी, वीर, शत्रुनाशक यंत्र, शस्त्र अस्त्र आदि अनेक हैं। ये सब साधन सदा सुसज्ज रहें। जो अपने धनका दान करते हैं, उसको उत्तम संरक्षण मिलना चाहिये। यहां 'सैंकडों कीलों' का वर्णन है। एक ही नगरीमें सौ प्राकार नहीं होते। अधिकसे अधिक सात प्राकार होंगे। यहां राष्ट्रमें सैंकडों नगरियोंमें ऐसे दुर्ग हों और उनसे प्रजा सुरक्षित हो, ऐसा कहा है। प्रजाकी सुरक्षाका प्रश्न बडे महत्त्वका है। नागरिकोंकी सुरक्षाका प्रश्न प्रथम विचारणीय है, यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वका है।

[११] (१३७) (द्रविणोदाः देवः) धन देनेवाला अग्निदेव (वः पूर्णां आसिचं विवष्टि) आपकी घृतादिसे परिपूर्ण चमसकी इच्छा करता है। (वा उन् सिंचध्वं) पात्र भरपूर भर दो, अथवा (वा उप पृणध्वं) पात्रको परिपूर्ण करो। (आत् इत् देवः वः ओहते) अनंतर अग्निदेव तुम्हें उच्च अवस्थाको पहुंचा देता है।

चमस भरपूर भरकर आहुतियाँ दे दो। इससे यज्ञ सफल होगा और यज्ञकर्ताका यश फैलेगा।

[१२] (१३८) (देवाः प्रचेतसं तं वह्निं) देव उत्तम ज्ञानी अग्निको (अध्वरस्य होतारं अकृण्वत) हिंसारहित कर्मका करनेवाला करके निर्माण करते हैं। वह (अग्निः विधते दाशुषे जनाय) अग्नि परिचर्या करनेवाले दाता मनुष्यके लिये (सुवीर्यं रत्नं दधाति) उत्तम पराक्रम करनेकी शक्ति और उत्तम धन देता है।

१ देवाः प्रचेतसं वह्निं अध्वरस्य होतारं अकृण्वत — देवोंने विशेष ज्ञानी अग्निके समान तेजस्वी वीरको कुटिलता रहित कर्मके करनेके लिये निर्माण किया है।

२ अग्निः विधते दाशुषे जनाय सुवीर्यं रत्नं दधाति — यह तेजस्वी वीर कर्ता दाता जनके लिये उत्तम वीर्य और धन देता है।

मनुष्य कुटिलता रहित कर्म करें, शौर्यके कर्म करे और धन प्राप्त करे। छल कपट, भीरुता आदि के द्वारा धन कमाना अच्छा नहीं है।

[१] (१३९) हे अग्ने! (सुषमिधा समिद्धः भव) उत्तम समिधासे प्रदीप्त हो। (उत) और (उर्विया बर्हिः विस्तृणीतां) याजक उत्तम विस्तीर्ण आसन फैलावे।

यज्ञकर्ता लोग समिधा डालकर अग्निको प्रदीप्त करें और यज्ञशालामें बैठनेवालोंके लिये विस्तीर्ण आसन फैला देवे।

[२] (१४०) (उत उशतीः द्वारः विश्रयन्तां) और देवभक्ति करनेवाली देवियां विश्राम करें। (उत उशतः देवान् इह आ वह) यज्ञ करनेकी इच्छा करनेवाले देवोंको यहां यज्ञमें ले आ।

३	अग्ने वीहि हविषा यक्षि देवान् त्स्वध्वरा कृणुहि जातवेदः	१४१
४	स्वध्वरा करति जातवेदा यक्षद् देवाँ अमृतान् पिप्रयच्च ॥२॥	१४२
५	वंस्व विश्वा वार्याणि प्रचेतः सत्या भवन्त्वाशिषो नो अद्य	१४३
६	त्वामु ते दधिरे हव्यवाहं देवासो अग्न ऊर्ज आ नपातम् ॥३॥	१४४
७	ते ते देवाय दाशतः स्याम महो नो रत्ना वि दध इयानः ॥४॥	१४५

[३] (१४१) हे जातवेदः! (वीहि) जाओ (हविषा देवान् यक्षि) हविसे देवोंका यजन करो, उनको (स्वध्वरा कृणुहि) उत्तम यज्ञवाले बनाओ।

[४] (१४२) (जातवेदाः अमृतान् देवान्) जातवेद अग्नि अमर देवोंको (स्वध्वरा करति) उत्तम यज्ञवाले बनाता है, (यक्षत् पिप्रयत् च) यज्ञ करता और प्रसन्न करता है।

[५] (१४३) हे (प्रचेतः) उत्तम बुद्धिवान् अग्ने! (विश्वा वार्याणि वंस्व) सब प्रकारके धन हमें दो। और (नः आशिषः अद्य सत्या भवन्तु) हमारे आशीर्वाद आज सत्य हों।

[६] (१४४) हे अग्ने! (ऊर्जः नपातं त्वां बलको न गिरानेवाले तुझको (हव्यवाहं ते देवासः दधिरे उ) हविका वहन करनेके लिये उन देवोंने धारण किया है।

अग्नि शरीरके बलको गिराता नहीं, उत्साहको स्थायी रखता है, शरीर ठंडा होने लगा तो बल न्यून होता है। इस शरीर स्थानीय अग्निका धारण शरीरके इन्द्रियोंनें – देवोंने किया है।

[७] (१४५) (देवाय ते) तुझ देवके लिये (ते दाशतः स्याम) वे हम हवि देनेवाले हों और (महः इयानः) महत्त्वको प्राप्त होकर (नः रत्ना विदधः) हमें रत्नोंको दे दो।

॥ यहां अग्नि प्रकरण समाप्त ॥

अनुवाक दूसरा [अनुवाक ५२ वाँ]

[२] इन्द्र प्रकरण

१ (१८) २५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः, २२-२५ सुदाः पैजवनः । त्रिष्टुप् ।

१ त्वे ह यत् पितरश्चिन्न इन्द्र विश्वा वामा जरितारो असन्वन् ।
त्वे गावः सुदुघास्त्वे ह्यश्वास्त्वं वसु देवयते वनिष्ठः १४६

[१] (१४६) हे इन्द्र ! (त्वे ह यत् नः पितरः चित्) तेरे पाससे ही हमारे पितर (जरितारः विश्वा वामा असन्वन्) स्तुति करते हुए सब प्रकारके धन प्राप्त करते रहे। (त्वे सुदुघा गावः) तेरे पास उत्तम दूध देनेवाली गौवें हैं, (त्वे हि अश्वाः) तेरे पास उत्तम घोडे हैं, (त्वं देवयते वसु वनिष्ठः) तू देवत्वकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवालेके लिये अत्यंत श्रेष्ठ धन देता है।

१ हे प्रभो ! हमारे पितर तुम्हारी भक्ति करते थे और तुम्हारे पाससे सब प्रकारका धन प्राप्त करते थे । हमारे माता पिता जिस तरह सर्व नियंता प्रभुकी उपासना करते थे, वैसे ही हम भी उसी प्रभुकी उपासना करते हैं ।

२ उसके पास गौवें, घोडे और सब प्रकारके धन हैं। जो देवभक्ति करते हैं उनको वह सब प्रकारका धन देता है ।

'इन्द्र' वह है जो (इन् + द्र) शत्रुओंका विदारण या नाश करता है। शत्रुका नाश करना यह इसका स्वभाव है। इन्द्र युद्धकी देवता है। वेदमें वृत्रके साथ इन्द्रका युद्ध प्रसिद्ध है। असुरोंका नाश यह इन्द्रका मुख्य कर्म है।

'इन्द्र' शरीरमें जीवात्मा है। यह देवोंका राजा है। यहां शरीरमें सब इन्द्रियां देव हैं और उनका शासक शरीरमें इन्द्र है। रोग, कुविचार आदि यहां शत्रु है। यह इन्द्र इनका नाश करके विजयी होता है।

विश्वमें विश्वके प्रभुका नाम 'इन्द्र' है। यह परमात्मा है। यहां सूर्य, विद्युत्, अग्नि, वायु, आदि देव हैं। इनका यह राजा है। अन्धकार यहां असुर है।

राष्ट्रमें राजा इन्द्र है, राज्यशासनके अधिकारी देव हैं। राष्ट्र विरोध करनेवाले यहां असुर हैं। इस तरह इन्द्र, उसके शत्रु आदिका स्वरूप है। मनन पूर्वक यह इसका कार्यक्षेत्र जानना चाहिये ।

इस प्रभुकी — इस इन्द्रकी उपासना हमारे पितर करते थे, हम करते हैं और हमारे वंशज भी करेंगे। इस तरह इन्द्रकी भक्ति वंशानुवंश इन्द्र भक्ति होती रहेगी ।

'**विश्वा वामा**' सब प्रकारके संसेवनीय धन हैं वे सबके सब इन्द्रके पास हैं और अपने भक्तोंको वह बांट देता है। जिसके पास जो धन होगा, वह अपने अनुयायियोंको बाटनेके लिये ही है। वह धन अपने भोगके लिये ही केवल नहीं। परंतु वह सबके लिये है। धनपर एक व्यक्तिका अधिकार नही है। सब धन संघका है। इसलिये वह अनुयायियोंमें बांट, दिया जाता है। बांट देना ही यज्ञ है और केवल अपने भोगके लिये रखना अयज्ञ है। यज्ञ उपकारक है और अयज्ञ हानिकारक है।

यहां धन गिनाये हैं ! '**सुदुघाः गावः**' उत्तम दूध देनेवाली गौवें यह पहिला धन है। '**अश्वाः**' उत्तम घोडे यह दूसरा धन है। '**वसु**' अपने उत्तम निवासके लिये जो उपयोगी है वह धन है। धान्य, वस्त्र, गृह, भूमि आदि अनेक प्रकारके धन हैं। वे इन्द्रके पास रहते हैं और वह भक्तोंको बांट देता है ।

'**देवयन्**' देव बननेकी इच्छा करनेवाला जो होता है, देवताके समान जो बनना चाहता है, उसको ये धन मिलते हैं। मनुष्योंकी उन्नतिका अनुष्ठान इस शब्दसे सूचित होता है। देवताके गुण जानना और वैसा बननेका यत्न करना, वे गुण अपने अन्दर ढालनेका प्रयत्न करना, यह भाव 'देवयन्'

२ राजेव हि जनिभिः क्षेष्येवाऽव द्युभिरभि विदुष्कविः सन्।
पिशा गिरो मघवन् गोभिरश्वैस्त्वायतः शिशीहि राये अस्मान् १४७

३ इमा उ त्वा पस्पृधानासो अत्र मन्द्रा गिरो देवयन्तीरुप स्थुः।
अर्वाची ते पथ्या राय एतु स्याम ते सुमताविन्द्र शर्मन् १४८

शब्दसे सूचित होता है। दैवी संपत्ति अपने अन्दर बढाना और आसुरी वृत्तीको दूर करना ही मानवी उन्नतिका अनुष्ठान है। मनुष्य इस तरह अनुष्ठान करे और देवत्व प्राप्त करे।

[२] (१४७) (जनिभिः राजा इव) जैसा स्त्रियोंके साथ राजा रहता है, वैसा (द्युभिः क्षेषि) दीप्तियोंके साथ तू निवास करता है। हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र! तू (विदुः कविः सन्) ज्ञानी और दूरदर्शी, होकर (पिशा गोभिः अश्वैः) सुंदर रूपसे, गौओं और घोडोंसे (गिरः) वाणियोंको (त्वायतः अस्मान् राये अभि शिशीहि) तेरे साथ रहनेकी इच्छा करनेवाले हम सबको धनके लिये संस्कार संपन्न कर।

जनिभिः राजा — अनेक स्त्रियोंके साथ राजा रहता या विलास करता है। यह उपमा यहां है। 'जनिभिः' का अर्थ कमसे कम तीन या तीनसे अधिक स्त्रियां ऐसा है। इतनी स्त्रियों के साथ राजा रहता है। दशरथकी जैसी तीन रानियाँ थी और अन्य स्त्रियां तीनसौं थी। यह आदर्श राजा नहीं है क्योंकि एक पत्नी भगवान् रामचन्द्र ही आदर्श पुरुष है। पर यहां इन्द्रका वर्णन करनेके प्रसंगमें अनेक स्त्रियोंके साथ रहनेवाले राजाकी उपमा है। संभव है कि इन्द्रके साथ भी स्त्रियां रहती होंगी। पंखा, चंवर आदि तथा तांबूलधारी स्त्रियां इन्द्रके साथ रहती होंगी।

यहां '**द्युभिः क्षेषि**' ज्वालाओंके साथ रहता है ऐसा वर्णन है। ज्वाला, तेजकी दीप्ति यहां स्त्रीरूपसे वर्णन की है। अतः इन्द्रपर अनेक पत्नियां करनेका दोष नहीं आ सकता। अनेक दीप्तियोंका होना यह अनेक स्त्रियोंके साथ रहनेके समान है ऐसा यहां वर्णन है। यह एक आलंकारिक वर्णन है। तथापि उपमासे राजाकी अनेक पत्नियोंका होना सिद्ध हो रहा है, वह दूर नहीं हो सकता।

यहां इन्द्र (मघवान्) धनवान्, (विदुः) ज्ञानी और (कविः) क्रान्तदर्शी, दूरदर्शी, अतींन्द्रियार्थदर्शी वर्णन किया है। राजा भी इन गुणोंसे युक्त हों। राज पुरुष, राज्याधिकारी इन गुणोंसे युक्त होने चाहिये। वे अज्ञानी, अदूरदर्शी और निर्धन होनेके कारण रिश्वतखोर नहीं होने चाहिये।

वह (पिशा) सुन्दर रूपवाला हो तथा उसके पास उत्तम गायें और श्रेष्ठ घोडें हो तथा अन्य प्रकारका धन भी उसके पास पर्याप्त हो। यह राजाका वैभव है। वह उसके पास अवश्य चाहियें।

(गिरः अभि शिशीहिं) वह राजा प्रजाकी वाणीको शुभ संस्कारोंसे सुसंस्कृत बनावे। तथा (राये अभि शिशीहि) धन प्राप्त करनेके लिये जैसे उत्तम संस्कार होने चाहिये वैसे उत्तम संस्कार प्रजापर होंगे ऐसा शिक्षा प्रबंध राज्यमें राजा करे। (त्वायतः — इन्द्रायतः) इन्द्रके समान बननेका यत्न करनेवाली प्रजा हो। राजा अपने राष्ट्रमें ऐसा शिक्षाका प्रबंध करे कि जिससे प्रजाजन इन्द्र जैसे शूरवीर हों और प्रजामें कोई भीरु न हो।

[३] (१४८) हे इन्द्र! (त्वा अत्र पस्पृधानासः) तेरे वर्णन करनेमें यहां इस यज्ञमें स्पर्धा करनेवाली (मन्द्राः इमाः देवयन्तीः गिरः) आनन्ददायक और देवत्वको प्राप्त करनेवाली ये वाणियाँ (उपस्थुः) तेरे पास उपस्थित होती हैं, तेरा वर्णन करती हैं। (ते रायः पथ्या अर्वाची एतु) तेरे धनके मार्ग सीधे हमारे पास आवें। (ते सुमतौ शर्मन् स्याम) तेरी उत्तम बुद्धिमें रहकर हम सुखमें रहें।

१ **त्वा पस्पृधानासः गिरः** — तेरा वर्णन करनेमें स्पर्धा करनेवाली हमारी वाणियाँ हैं। हममें तेरा वर्णन करनेकी स्पर्धा लगी है।

२ **देवयन्तीः मन्द्रा गिरः**— हमारी वाणियाँ देवत्वको

४ धेनुं न त्वा सूयवसे दुदुक्षन्नुप ब्रह्माणि ससृजे वसिष्ठः ।
त्वामिन्मे गोपतिं विश्व आहा ऽऽ न इन्द्रः सुमतिं गन्त्वच्छ ॥ १४९
५ अर्णांसि चित् पप्रथाना सुदास इन्द्रो गाधान्यकृणोत् सुपारा ।
शर्धन्तं शिम्युमुचथस्य नव्यः शापं सिन्धूनामकृणोदशस्तीः ॥ १५०

प्राप्त करनेकी इच्छा करती है, इसलिये तुम्हारे देवत्वका वर्णन वे कर रही हैं, इस कारण वे आनन्द देती हैं। तुम्हारे देवत्वके शुभ गुण काव्यरूपमें वर्णन करनेसे वे गुण अपनेमें धारण करनेकी स्फूर्ति हम में उत्पन्न होती है, और उन गुणोंके धारण करनेसे हमारे अन्दर देवत्व बढता जाता है। इस तरह तुम्हारा वर्णन स्तोताकी उन्नति करनेवाला होता है।

३ ते रायः पथ्या अर्वाची एतु -- तेरे धनके मार्ग सीधे हमारे पास पहुंचनेवाले हों। अर्थात् वह धन हमारे पास ही आ जावे।

४ ते सुमतौ शर्मन् स्याम — हम सब तेरी सुमतिमें रहकर सुखी हो जांय। तुम्हारी सुमति हमारे ऊपर रहे और हम सब प्रकारसे सुखी हो जांय।

[४] (१४९) (सुयवसे धेनुं न) उत्तम घास जहां है ऐसी गोशालामें रहनेवाली धेनुके पास जानेके समान (त्वा दुधुक्षन् वसिष्ठः) तेरा दोहन करके बहुत धन प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला वसिष्ठ (ब्रह्माणि उप ससृजे) बहुत स्तोत्र निर्माण करता है। (विश्वः त्वां इत् गोपतिं मे आह) सब लोग तू ही गौओंका स्वामी है ऐसा मुझे कह रहे हैं। (नः सुमतिं इन्द्रः अच्छ आ गन्तु) हमारे स्तोत्र सुननेके लिये इन्द्र सीधा हमारे पास आ जावे।

१ दुधुक्षन् सुयवसे धेनुं — दूध दुहनेकी इच्छा करने वाला जहां घांस अच्छा है ऐसी गौशालामें रहनेवाली धेनुके पास जाता है। क्योंकि ऐसी धेनु पुष्ट होती है और उत्तम स्वादु दूध देती है। गौको उत्तम गौशालामें रखा जाय और उनको उत्तम घासका प्रबंध किया जाय। जिससे गौवें पुष्ट होकर अधिक दूध देती रहेगी।

२ वसिष्ठः दुधुक्षन् ब्रह्माणि उप ससृजे -- वसिष्ठ धनकी कामनासे ज्ञानमय काव्य निर्माण करता है। इनके गानसे सुननेवालोंपर अच्छा प्रभाव होता है और वे धनको प्राप्त करने के प्रयत्नमें लगे रहते हैं।

३ विश्वः इन्द्रं गोपतिं आह -- सब विश्व कहता है कि इन्द्रके पास बहुत गौवें हैं। जीवात्मा इन्द्र है और उसके पास इन्द्रिय रूपी गौवें हैं, राजा इन्द्र है उसके पास गौवें रहती हैं। सूर्य इन्द्र है उसके पास किरणें गौवें हैं।

४ नः सुमतिं इन्द्रः आगन्तु -- हमारी स्तुति सुननेके लिये इन्द्र आवे और हमें धन देवे।

[५] (१५०) (नव्यः इन्द्रः अर्णांसि) प्रशंसनीय इन्द्रने जलोंको (पप्रथाना) फैलाकर (सुदासे गाधानि सुपारा) सुदास राजाके लिये चलकर पार करने योग्य (अकृणोत्) किया, बनाया। (शर्धन्तं उचथस्य शिम्युं शापं) उत्साही उचथके शिम्युके पास शाप और तथा (सिन्धूनां अशस्तीः) नदियोंके घोर प्रशस्त महापूरको पहुंचने योग्य (अकृणोत्) किया, पहुंचाया।

१ इन्द्रः सुदासे अर्णांसि गाधा सुपारा अकृणोत् -- इन्द्रने राजा सुदासके लिये परुष्णी-रावी-नदीके अगाध जलोंको पार करने योग्य बना दिया। परुष्णी नदीको महापूर आया था, और सुदासकी सेना पार जा नहीं सकती थी। उस समय सुदासकी सहायताके लिये इन्द्र आया और उसने उतारके लिये नदीमेंसे मार्ग किया अथवा किसी अन्य युक्तिसे सुदासका सैन्य सुखसे नदीपार कर सके ऐसा प्रबंध किया। इसका बोध यह है कि महापूरके समयमें भी नदीके पार जानेके साधन अपने पास रखने चाहिये। अपना मार्ग कहीं भी रुकना नहीं चाहिये।

२ उचथस्य शापं, सिन्धूनां अशस्तीः शर्धन्तं शम्युं अकृणोत् — उचथके शापको, तथा नदियोंके महापूरके जलोंको शत्रुभूत शम्युके ऊपर भेजा अर्थात् नदियोंके जलोंने शत्रुका नाश किया और उसको कष्ट पहुंचाये। युद्धमें नदियोंके जल प्रवाह तथा अन्य आपत्तियां शत्रुको कष्ट दें ऐसा करना योग्य है। अपने लिये सुख हो और शत्रुकी खराबी हो ऐसा करना योग्य है।

६ पुरोळा इत् तुर्वशो यक्षुरासीद् राये मत्स्यासो निशिता अपीव।
श्रुष्टिं चक्रुर्भृगवो द्रुह्यवश्च सखा सखायमतरद् विषूचोः ॥ १५१

७ आ पक्थासो भलानसो भनन्तालिनासो विषाणिनः शिवासः।
आ योऽनयत् सधमा आर्यस्य गव्या तृत्सुभ्यो अजगन् युधा नॄन् ॥ १५२

[६] (१५१) (यक्षुः पुरोळाः इव् तुर्वशः) यज्ञ करनेवाला प्रगतिशील तुर्वश राजा (आसीत्) था। (मत्स्यासः राये निशिताः अपि इव) मत्स्य लोग धन प्राप्तिके लिये सिद्ध जैसे थे। (भृगवः द्रुह्यवः च श्रुष्टिं चक्रुः) भृगु और द्रुह्य शीघ्र धन प्राप्तिके लिये स्पर्धा कर रहे थे। (विषूचोः सखा सखायं अतरत्) दोनों स्पर्धकों में मित्रने मित्रका संरक्षण किया।

१ तुर्वशः पुरोळाः यक्षुः आसीत् — तुर्वश पुरोडाश अन्न तैयार करके यज्ञ करना चाहता था। 'तुर्वश' (तुर्-वश) त्वरासे वश करनेवाला, किसी कार्यको कुशलतासे सत्त्वर करनेवाला तुर्वश कहलाता है। ऐसा यज्ञ करनेकी इच्छा करता था। वह अपने कर्म कौशलसे धन प्राप्त करना चाहता है।

२ मत्स्यासः राये निशिताः अपि इव — मत्स्य उनको कहते हैं कि जो अपने जीवनके लिये दूसरोंको निगलते हैं, खाते हैं। 'मत्स्य-न्याय' उसको कहते हैं कि जहां बडा छोटेको खाजाता है। जीवन कलहमें बडा छोटेको खाता है। वह बडा है इसीलिये वह छोटेको खायगा। जो ऐसा आचरण करते हैं उनका नाम मत्स्य होता है। ये मत्स्यवृत्तिके लोग धन प्राप्त करनेके लिये तीक्ष्ण होकर आपसमें स्पर्धा करते रहते हैं। प्रत्येक अपने आपको अधिक योग्य सिद्ध करता रहता है और दूसरेको अपनेसे कम दिखाता है और उस कारण वह धन कमाता है। इस तरह मत्स्य लोगोंमें सतत स्पर्धाका जीवन रहता है। स्पर्धा करना और दुर्बलोंको खानाही उनका जीवनका मध्य बिन्दु होता है।

३ भृगवः द्रुह्यवः श्रुष्टिं चक्रुः — भृगु और द्रुह्युमें सत्त्वर धन प्राप्ति करनेकी स्पर्धा रहती है। 'भृ-गु' अपने भरण पोषणके लिये जो हलचल करते हैं 'वे भृ-गु' हैं। (भृ-) भरणपोषणके लिये जो (गु) अपनी गति करते हैं, अपने प्रयत्नोंकी पराकाष्ठा करते हैं वे भृगु हैं। आजीविका के लिये सदा प्रयत्न करना ही इनका कार्य होता है। 'द्रुह्यु' वे हैं कि जो द्रोह करते हैं, घातपात करते हैं, डाका डालते हैं। भृगु-जीवन निर्वाहकी चिंतामें रहते हैं और द्रुह्यु द्रोह करके, घातपात करके अपनी आजीविका करते हैं। ये सब प्रत्येक अपनी पराकाष्ठा करके धन शीघ्रसे शीघ्र कमानेके यत्नमें रहते हैं।

४ विषूचोः सखा सखायं अतरत् — इन परस्पर विरोधियोंमें जो मित्र होता है वह अपने मित्रका तारण करता है। उक्त स्पर्धा करनेवालोंमें मित्र और शत्रु होते ही हैं। जो जिसका मित्र होता है वह अपने मित्रको संकटसे तारता है।

यहां धन कमानेवालोंके कई वर्ग हैं। वे ये हैं—

(अ) तुर्वशः यक्षुः -- सत्त्वर कुशलतासे अपना कर्म करनेवाला, यज्ञकर्म कुशलतासे करनेवाला,

(आ) मत्स्यासः — अपने जीवनके लिये दूसरोंको खानेवाले,

(इ) भृ-गुः — अपने भरणपोषणके लिये हलचल करनेवाले,

(ई) द्रुह्युः — द्रोहकारी, घातपात कर्ता, डाकु,

(उ) सखा सखायं अतरत् -- कठिन समयमें सहायक होता है वह मित्र है।

ये सब धन मनुष्य प्राप्त करना चाहते हैं। इनमें 'तुर्वश' त्वरासे कुशलताद्वारा कर्म करनेवाला और 'सखा' मित्रकी सहायता करनेवाला ये श्रेष्ठ हैं। इन्द्र इनका सहायक होता है। ये सब लोग इस समय भी समाजमें दिखाई देते हैं। परमेश्वर इनमेंसे तुर्वशकी सहायता करता है। इसलिये त्वरासे कुशलता द्वारा कर्म करनेकी पराकाष्ठा करना मनुष्यके लिये योग्य है। ऐसे कुशल मनुष्योंपर प्रभुकृपा होती है।

[७] (१५२) (पक्थासः) हविष्यान्नका पाक यज्ञके लिये करनेवाले, (भलानसः भल-आनसः) सुन्दर प्रसन्न मुखवाले, (अलिनसः) अलिन, तपके कारण क्षीणशरीर, (विषाणिनः) सींग हाथमें लेनेवाले, खुजली करनेके लिये अथवा शत्रुपर प्रहार करने-

८ दुराध्यो३ अदितिं स्रेवयन्तोऽचेतसो वि जगृभ्रे परुष्णीम् ।
महाविव्यक् पृथिवीं पत्यमानः पशुष्कविरशयच्चायमानः १५३
९ ईयुरर्थं न न्यर्थं परुष्णीमाशुश्चनेदभिपित्वं जगाम ।
सुदास इन्द्रः सुतुकाँ अमित्रानरन्धयन्मानुषे वध्रिवाचः १५४

के लिये हाथमें कृष्ण मृगका सींग लेनेवाले, (शिवासः) सब जनोंका कल्याण करनेकी कामना मनमें धारण करनेवाले इन्द्रकी (आ भनंत) प्रशंसा करते हैं। (यः आर्यस्य सधमाः गव्याः) जो इन्द्र आर्यकी साथ रहनेवाली गायोंके झुण्डोंको (तृत्सुभ्यः आ अनयत्) हिंसक शत्रुओंसे वापस लाता है। और उसने (युधा नॄन् अजगन्) युद्धसे उन शत्रुके वीरोंपर आक्रमण करके उनका वध किया।

इन्द्रकी प्रसन्नता करनेके लिये यज्ञमें उत्तम अन्नका (पक्तासः) पाक करनेवाले, (भल-आनसः) यज्ञ हो रहा है यह देखकर जिनके मुखपर प्रसन्नता दीखती है, (अलीनसः) जो यज्ञमें आवश्यक परिश्रमके कारण क्षीण हो रहे हैं, (विषाणिनः) जो हाथमें सींग रखते हैं, शरीरपर खुजली करनेके लिये जिन्होंने हाथमें सींग लिया है, (शिवासः) सब कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ये सब याजक इन्द्रके गुण गाते हैं। ये गुण ये हैं—

१ यः आर्यस्य सध-माः गव्याः तृत्सुभ्यः आ अनयत् -- यह इन्द्र आर्योंके घरोंमें घरवालोंके साथ रहनेवाली गौवें हिंसक शत्रुओंसे वापस लाता है और जिसकी थी उनको वापस देता है। राजाका यह कर्तव्य है कि वह चोरको ढूंढ निकाले और उससे चोरीकी वस्तुएं प्राप्त करे और जिसकी वह थी उसको वापस देवे।

२ अजगन्, नॄन् युधा -- शत्रुओंपर आक्रमण करे और शत्रुके वीरोंका बध युद्धमें करे।

इन्द्र ये कर्म करता है। मनुष्य ये कर्म देखे और वैसे कर्म करे और इन्द्र जैसे पराक्रम करे।

'**सध-माः गव्यः**' ये पद बता रहे हैं कि गौवें घरके घरवालोंके समान आर्योंके घरमें रहती थीं। जैसी माताएं वैसी ही गोमाताएं घरमें रहती थी। गौको घरके कुटुंबका अंग माना जाता था। और गौका इतना संमान होता था। गौ घरके परिवारका एक सदस्य थी।

[८] (१५३) (दुराध्यः अचेतसः) दुष्टबुद्धिवाले मूढ शत्रु (अदितिं परुष्णीं) अन्न देनेवाली परुष्णी नदी-रावी नदीके तटको (स्रेवयन्तः वि जगृभ्रे) तोडते रहे। उस इन्द्रने (मह्ना पृथिवीं आविव्यक्) अपने सामर्थ्यके द्वारा पृथिवीको व्याप दिया। अर्थात् उसका यश पृथिवीपर फैल गया। और शत्रुरूपी (चायमानः कविः पत्यमानः पशुः अशयत्) चायमानका कवि वीर पशु जैसा सोया, अर्थात् इन्द्रके द्वारा उसका वध हुआ।

दुष्ट शत्रुने आक्रमण किया, उस समय शत्रुओंने परुष्णी नदी के तटोंको, बन्धारोंको तोड दिया, जिससे नदीका जल इतस्ततः फैल गया और बडी हानि हुई। युद्धमें शत्रु ऐसा करते ही रहते हैं। अपने पास उनका निवारण करनेकी योजना तैयार चाहिये। इन्द्रके पास ऐसी योजना थी, इसलिये इन्द्रने उस संरक्षक योजना द्वारा संरक्षक किया, जिससे उसका यश पृथिवी-भर फैल गया। पश्चात् इन्द्रने शत्रुपर आक्रमण किया। शत्रु (चायमानः) अपने स्थानसे उखाडा गया और स्थानभ्रष्ट होनेके कारण (पत्यमानः) भाग रहा था। यद्यपि वह (कविः) ज्ञानी था, तथापि (पशुः) पाशवी बलसे युक्त था, पाशवी बलकी घमेंड उसमें था। इसलिये इन्द्रने उसको पशु जैसा मारकर गिरा दिया।

शत्रुके साथ, शत्रुका आक्रमण होनेके पश्चात्, किस तरह व्यवहार करना चाहिये और उसका नाश किस तरह करना चाहिये यह इस मन्त्रमें कहा है। इस दृष्टीसे इस मंत्रका विचार करना चाहिये।

[९] (१५४) इन्द्रने परुष्णीके जलप्रवाहोंको पहिलेके समान (अर्थं ईयुः) योग्य मार्गसे चलाया और (न्यर्थं परुष्णीं न ईयुः) अयोग्य मार्गसे परुष्णीके प्रति नहीं जाने दिया। (आशुः चन इत्) उसका शीघ्रगामी घोडा भी (अभिपित्वं

१०	ईयुर्गावो न यवसादगोपा यथाकृतमभि मित्रं चितासः।	
	पृश्निगावः पृश्निनिप्रेषितासः श्रुष्टिं चक्रुर्नियुतो रन्तयश्च	१५५
११	एकं च यो विंशतिं च श्रवस्या वैकर्णयोर्जनान् राजा न्यस्तः।	
	दस्मो न सद्मन् नि शिशाति बर्हिः शूरः सर्गमकृणोदिन्द्र एषाम्	१५६

जगाम) अपने जानेके मार्गसे ही गया। (इन्द्रः सुदासे) इन्द्रने सुदासके लिये (मानुषे) मनुष्य लोकमें रहनेवाले (वध्रिवाचः सुतुकान् अमित्रान् अरंधयत्) व्यर्थ बडबड करनेवाले, उत्तम पुत्र-वाले शत्रुओंको मार दिया।

१ इन्द्रने परुष्णीके दोनों ओरकी बाजुओंकी दिवारोंको ठीक किया और परुष्णी नदीका पानी जैसा पहिले बहता था, वैसा बहने योग्य बना दिया। इससे जो खेतोंकी हानि होना संभव थी वह हानि नहीं हुई। और खेतोंका संरक्षण हुआ।

२ इससे घोडे गाडियां जानेके मार्ग भी ठीक हो गये।

३ इन्द्रने सुदास राजाके लिये शत्रुओंको उनके पुत्रों समेत विनष्ट किया।

यहां बताया है कि राजा नदी और नहरोंकी उत्तम व्यवस्था रखे। नदीके और नहरोंके बंध शत्रुने तोड दिये, तो उनको अतिशीघ्र ठीक करे और जलसे खेतोंको हानि न पहुंचे ऐसा करे। और दुष्ट शत्रुओंको संपूर्णतया विनष्ट कर देवे। ताकि उनमेंसे दुःख देनेके लिये एक भी अवशिष्ट न रहे। यहां राज-नीतिका पाठ उत्तम स्पष्ट शब्दों द्वारा दिया है।

[१०] (१५५) (पृश्नि-निप्रेषितासः) माताके द्वारा प्रेरित हुए (चितासः) उत्तम संगठित हुए (पृश्निगावः) नाना वर्णवाली गौवें जिनके पास हैं, ऐसे मरुत् वीर (यथाकृतं) जैसा पहिले किया था वैसा सहाय्य करनेके निश्चयसे (मित्रं) मित्र इन्द्रके पास (यवसात् अगोपाः गावः) जौ के खेतके पास गवालियेके विना रही गौवें जाती हैं, वैसे (अभि ईयुः) गये। (रंतयः नियुतः च श्रुष्टिं चक्रुः) आनंदित हुए मरुतोंके घोडे भी चपलतासे अच्छी दौड करने लगे।

पूर्वोक्त प्रकार सुदासके संरक्षणार्थ इन्द्र युद्धमें तत्पर हो रहा है, यह देखकर उत्तम संगठित हुए मरुद्वीर भी इन्द्रके सहायतार्थ दौडे। सैनिकोंका कर्तव्य यहां बताया है। मुख्य वीर युद्ध कर रहा है यह देखकर उसके सहायकोंको उचित है कि वे उस-मुख्य वीरकी सहायता करनेके लिये उद्यत हों। (अ-गोपाः गावः) जिनके लिये गवालिया नहीं हैं ऐसी स्वतंत्र गौवें जिस तरह घासवाली भूमिके पास दौडती हैं, वैसे ये वीर अपने नेता वीरके सहायार्थ दौडे। यह उपमा बहुत ही अच्छी उपमा है। घोडोंपर चढे वीर भी इसी तरह दौडें और अपने प्रमुख नेताकी सहायता करें।

' पृश्निगावः ' गौका दूध पीनेवाले ये मरुद्वीर हैं, (चितासः) चित्तवाले, ज्ञानी तथा संगठित हैं। (पृश्नि-निप्रेषितासः) माताके द्वारा प्रेरित हुए ये वीर हैं। माताएं भी अपने पुत्रोंको-युद्धमें जानेका उपदेश करें। राष्ट्रके वीर किस तरह तैयार रहें यह यहां बताया है।

[११] (१५६) (यः राजा श्रवस्या) इस राजाने यशकी इच्छासे (वैकर्णयोः एकं च विंशतिं च जनान्) वैकर्ण राष्ट्रोंके इक्कीस वीरोंका (नि अस्तः) वध किया। जैसा (दस्मः न) दर्शनीय युवा (सद्मन् बर्हिः नि शिशाति) अपने घरमें दर्भोंको काटता है। ऐसे युद्धोंके लिये ही (शूरः इन्द्रः एषां सर्गं अकरोत्) शूर इन्द्रने इन मरुतोंको निर्माण किया था।

मानवधर्म- दुष्ट शत्रुओंके वीरोंका नाश शूरवीर ऐसा करें कि जिस तरह याजक यज्ञशालामें दर्भोंको काटते हैं। इसी कार्य करके लिये शूरोंका जन्म है।

१ राजा श्रवस्या वैकर्णयोः जनान् नि अस्तः- राजा-क्षत्रिय यशकी इच्छासे विकर्ण-न सुननेवाले शत्रुके लोगोंका वध करे। क्षत्रिय यशके लिये शत्रुका नाश करे।

' विकर्ण ' उनको कहते हैं कि जो वारंवार समझानेपर भी बिलकुल सुनते नहीं हैं। संधि करनेके समय ' हां ' कहते हैं, पर पीछेसे वैसे ही उद्दण्डतासे वर्तते हैं। सुनानेपर भी जान बूझ कर शत्रुता छोडते नहीं।

*

१२ अध श्रुतं कवषं वृद्धमप्स्वनु द्रुह्युं नि वृणग्वज्रबाहुः ।
वृणाना अत्र सख्याय सख्यं त्वायन्तो ये अमदन्ननु त्वा १५७

१३ वि सद्यो विश्वा दृंहितान्येषामिन्द्रः पुरः सहसा सप्त दर्दः ।
व्यानवस्य तृत्सवे गयं भाग्जेष्म पुरुं विदथे मृध्रवाचम् १५८

---

२ दस्मः सद्मन् बर्हिः नि शिशाति- तरुण सुंदर याजक यज्ञशालामें – घरमें दर्भोंको काटता है, वैसे शत्रुको काटा जाय।

३ शूरः इन्द्रः एषां सर्गं अकरोत्- शूर वीर इन्द्रने- प्रभुने- इन वीरोंको इस शत्रु निर्दालनके कार्यके लियें ही निर्माण किया है वीरोंका यही कार्य है कि वे शत्रुको दूर करे।

[१२] (१५७) (अध वज्रबाहुः) इसके पश्चात् वज्रधारी इन्द्रने (श्रुतं कवषं वृद्धं द्रुह्युं अनु) श्रुत, कवष, वृद्ध और द्रुह्यु इनको क्रमसे (अप्सु निवृणक्) जलमें डुबा दिया। (अत्र ये त्वायन्तः त्वा अनु अमदन्) इस समय जिन्होंने तेरे अनुकूल रहकर तेरे लिये आनन्द होने योग्य कर्म किया, वे (सख्याय सख्यं वृणानाः) तेरी मित्रताको प्राप्त हुए।

शत्रुमित्रकी परीक्षा

मानवधर्म- विद्वान् या वृद्ध भी यदि द्रोहकारी हुए तो शस्त्रधारी वीर उन वशमें न आनेवाले शत्रुओंको नष्ट करे। जो लोग अनुकूलतासे रहकर आनन्द बढानेवाले सहायक मित्र हैं उनके साथ मित्रवत् बर्ताव करे।

१ वज्रबाहुः श्रुतं वृद्धं द्रुह्युं कवषं अप्सु निवृणक् — शस्त्रधारी संरक्षक वीर, द्रोहकारी शत्रु ज्ञानी तथा वृद्ध भी हुआ तो भी उस, वशमें न आनेवाले शत्रुको जलमें डुबा देवे, उसका नाश करे।

'श्रुतं' = जो बहुश्रुत विद्वान है, 'वृद्धं' = जो आयुसे वृद्ध है, 'कवषं = कं-वशं' = जो वशमें नहीं रहता, जो कठिनतासे वश हो सकता है, 'द्रुह्युं' = जो द्रोह करता है। शत्रु ज्ञानी वयोवृद्ध भी हुआ तो भी उसको क्षमा करना उचित नहीं है। उसका नाश करना ही चाहिये।

२ ये त्वायन्तः त्वा अनुअमदन् सख्याय सख्यं वृणानाः — जो अनुकूल रहकर आनंद बढाते हैं, सख्य करते हैं, उनसे मित्रता करनी चाहिये।

इस मंत्रमें राजनीतिका उत्तम पाठ दिया है। जो सदा शत्रुता करनेवाले द्रोही दुष्ट हैं, वे विद्वान् हों, वृद्ध हों अथवा अन्य रीतिसे पूज्य भी हों, तो भी उनका नाश करना चाहिये। तथा जो अपने साथ मित्रता करता हैं, समय पर सहायता करता है, आनन्द बढाने योग्य व्यवहार करता है, उनके साथ मित्रता करनी चाहिये और उनका हित करना चाहिये।

[१३] (१५८) (एषां विश्वा दृंहितानि पुरः) इन शत्रुओंके सब सुदृढ नगरोंके (सप्त सहसा सद्यः विदर्दः) सातों प्राकारोंको बलसे तत्काल तोड दिया, और (अनवस्य गयं तृत्सवे वि भाक्) शत्रुभूत अनुके घरको तृत्सुको दिया। हमने (मृध्रवाचं पुरुं जेष्म) असत्यवादी मनुष्योंपर विजय किया।

मानवधर्म – शत्रुओंके सब कीलों और नगरोंको तथा सब प्राकारोंको तोड दो, शत्रुओंके स्थान मित्रोंको दो और असत्य व्यवहार करनेवालों पर विजय प्राप्त करो।

१ एषां विश्वा दृंहितानि पुरः सप्त सहसा सद्यः विदर्दः—इन शत्रुओंके सब कीले, नगर आदिके सब सातों प्राकारोंको अपने बलसे तत्काल तोड दो। अपना बल इतना बढाओ कि जिससे शत्रुके कीले तोडना सहज हो जाय।

२ अनवस्य गयं तृत्सवे वि भाक्—[illegible]के स्थान मित्रोंको दो। शत्रुका नाश करके वहां मित्रोंका निवास हो ऐसे करो।

३ मृध्रवाचं पुरुं जेष्म—असत्य भाषी मनुष्योंपर हमारा विजय हो। हम इस तरह उत्तम व्यवहार करते रहेंगे कि जिससे असद्व्यवहार करनेवालोंका पराजय ही होता रहे।

१४ नि गव्यवोऽनवो द्रुह्यवश्च षष्टिः शता सुषुपुः षट् सहस्रा ।
षष्टिर्वीरासो अधि षड् दुवोयु विश्वेदिन्द्रस्य वीर्या कृतानि १५९
१५ इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा आपो न सृष्टा अधवन्त नीचीः ।
दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाना जहुर्विश्वानि भोजना सुदासे १६०
१६ अर्धं वीरस्य शृतपामनिन्द्रं परा शर्धन्तं नुनुदे अभि क्षाम् ।
इन्द्रो मन्युं मन्युम्यो मिमाय भेजे पथो वर्तनिं पत्यमानः १६१

[१४] (१५९) (गव्यवः अनवः द्रुह्यवः च) गौओंको चुरानेवाले अनु और द्रुह्युके अनुयायी (षष्टिः शता षट् सहस्रा षष्टिः च अधि षट् वीरासः) छियासठ हजार, छियासठ वीरोंको (दुवोयु नि सुषुपुः) सहायकोंके हित करनेके लिये निःशेष मारे गये, (विश्वा इत्) ये सभी (इन्द्रस्य वीर्या कृतानि) इन्द्रके किये पराक्रम हैं।

मानवधर्म – धन लूटनेवाले डाकू और द्रोहकारी शत्रु सहस्रोंकी संख्यामें रहे तो भी उनको निःशेष करना चाहिये।

१ गव्यवः द्रुह्यवः अनवः नि सुषुपुः—गौवें चुरानेवाले द्रोही तथा उनके अनुकूल रहनेवाले उनके साथी दुष्टोंको निःशेष सुलाया, उनका वध किया । इनका नाश ही करना चाहिये।

[१५] (१६०) (एते दुर्मित्रासः तृत्सवः) ये दुष्टोंके साथ मित्रता करनेवाले बाधाकारी शत्रु (प्रकलवित्) विशेष युद्ध कलाको जाननेवाले (इन्द्रेण वेविषाणाः सृष्टाः) इन्द्रके द्वारा अन्दर घुसकर हटाये गये शत्रु (आपः न नीचीः अधवंत) जलप्रवाहोंके समान नीचे मुंह करके भागने लगे। (मिमानाः) मारे जानेपर (विश्वानि भोजना सुदासे जहुः) सब भोजन साधन रूप धनोंको सुदासके लिये छोडकर भाग गये।

मानवधर्म– दुष्टोंके साथ मित्रता करनेवाले बडे कलानिपुण होनेपर भी शत्रु ही होते हैं। उनके अन्दर घुसकर उनका वध करना चाहिये, तथा उनको भगाना चाहिये। उनके अन्दर ऐसी घबराहट उत्पन्न करनी चाहिये कि वे जल प्रवाह जैसे नीचेकी ओर दौडते हैं, वैसे वे दौड कर भाग जांय और भागनेके समय उनके भोजन धन आदि उनको वहीं छोडने पडें।

१ दुर्मित्रासः तृत्सवः प्र-कल-वित्—दुष्टोंके मित्र विशेष कला निपुण होनेपर भी शत्रु ही समझने चाहिये। शत्रुके मित्र शत्रु ही होते हैं।

२ वेविषाणाः सृष्टाः नीचीः अधावंत—उनके अन्दर घुसकर उनको नीचे मुंह करके भगानेके योग्य घबराना चाहिये। उनको असावध अवस्थामें पकडकर मथना चाहिये और भगादेना चाहिये।

३ विश्वा भोजना जहुः—अपने भोजन छोडकर भाग जांय ऐसी घबराहट उनमें उत्पन्न करनी चाहिये।

[१६] (१६१) (इन्द्रः क्षां अभि) इन्द्र मातृभूमिको देखकर (वीरस्य अर्धं) वीरका नाश करनेवाले तथा (शृतपां शर्धन्तं अनिन्द्रं परा नुनुदे) हविष्यान्न खानेवाले विनाशक शत्रुका नाश करता रहा। (इन्द्रः मन्युम्यः मन्युं मिमाय) इन्द्रने शत्रुता करनेवालेके शत्रुके क्रोधका नाश किया। और (पत्यमानः पथः वर्तनिं भेजे) भागनेवालेके मार्गका अवलंबन करनेके लिये शत्रुको बाधित किया।

मानवधर्म – मातृभूमिके हितका विचार मनुष्य करे। अपने वीरोंका नाश करनेवाले और अपने भोगोंका हरण करनेवाले शत्रुओंका नाश करना या इनको दूर करना चाहिये। शत्रुके क्रोधको निष्फल बनाना चाहिये और शत्रुको भागनेके मार्गसे भिन्न दूसरा कोई मार्ग रखना नहीं चाहिये।

१७ आभ्रेण चित् तद्वेकं चकार सिंह्यं चित् पेत्वेना जघान ।
अव स्रक्तीर्वेश्यावृश्चदिन्द्रः प्रायच्छद् विश्वा भोजना सुदासे १६२

१८ शश्वन्तो हि शत्रवो रारधुष्टे भेदस्य चिच्छर्धतो विन्द रन्धिम् ।
मर्ताँ एनः स्तुवतो यः कृणोति तिग्मं तस्मिन् नि जहि वज्रमिन्द्र १६३

---

१ क्षां अभि—मातृ भूमिकी ओर ध्यान दो। प्रत्येक कार्य करनेके समय इसका परिणाम मातृ भूमिपर क्या होगा इसका विचार करो।

२ अनिन्द्रं वीरस्य अर्धं शर्धन्तं परा नुनुदे—नास्तिक तथा वीर घातक हिंसाकारी शत्रुको दूर भगाना चाहिये।

३ मन्युम्यः मन्युं मिमाय—क्रोधी हिंसक शत्रुके क्रोधका नाश करना, अर्थात् उसके क्रोधको निष्फल करना चाहिये।

४ पत्यमानः पथः वर्तनिं भेजे—भागनेवालोंके मार्गका ही सेवन शत्रु करें। उनके लिये दूसरा मार्ग ही न रहे ऐसा करना चाहिये।

'**अनिन्द्रः**' (अन्-इन्द्रः) जो प्रभुको मानता नहीं, नास्तिक, ईश्वरको न माननेवाला शत्रु। '**मन्यु-म्यः**' क्रोधसे हिंसा करने वाला। क्रोधी हिंसक शत्रु। '**शृत-पा**' –सिद्ध किये अन्नको ले जाकर खानेवाला। ये सब शत्रुके लक्षण हैं।

[१७] (१६१) (तत् इन्द्रः आभ्रेण चित् एकं चकार) तब इन्द्रने दरिद्रके द्वारा भी एक बडा दान कराया। (सिंह्यं चित् पेत्वेन जघान) प्रबल सिंहको भी बकरेसे मरवाया। (वेश्या स्रक्तीः अव अवृश्चत्) सूईसे स्तंभके कोने कटवा दिये। और (विश्वा भोजना सुदासे प्र अयच्छत्) सब भोग्य धन सुदासको दिये।

ये असंभवसे दीखनेवाले कर्म इन्द्रने अपनी शक्तिसे करवाये। इसी तरह मनुष्यको उचित है कि वह अपनी शक्ति बढावे और असंभव कार्योंको भी सिद्ध करके दिखावे।

[१८] (१६३) हे इन्द्र! (ते शत्रवः शश्वन्तः ररधुः हि) तेरे बहुतसे शत्रु वशमें आ गये हैं। (शर्धतः भेदस्य रन्धिं विंद) स्पर्धा करनेवाले भेदकर्ताको वश करनेका उपाय प्राप्त कर। (यः स्तुवतः मर्तान् एनः कृणोति) जो भक्तोंके प्रति भी पाप करता है, (तस्मिन् तिग्मं वज्रं निजहि) उस शत्रुपर तीक्ष्ण वज्रका प्रहार कर।

मानवधर्म – शत्रुओंको वशमें कर, अपने समाजमें भेद करके आपसमें स्पर्धा करानेवालेका दमन कर, जो सज्जनोंके विरुद्ध भी पापका आचरण करता है उसको शस्त्रके प्रहारसे विनष्ट कर।

१ ते शत्रवः शश्वन्तः ररधुः—तेरे शत्रुओंको वशमें कर, वे शत्रुता न कर सकें ऐसे उनको शान्त कर।

२ शर्धतः भेदस्य रन्धिं विन्द—अपने समाजमें पक्षभेद निर्माण करनेवालोंको शान्त करनेका उपाय प्राप्त कर। अपने समाजमें रहकर अनेक पक्षभेद उत्पन्न करते हैं, आपसमें झगडते हैं और इस तरह संघटना नष्ट करते हैं। ये समाजके महा शत्रु हैं। इनको शान्त करना चाहिये। ये अपने समाजमें भेद उत्पन्न न कर सकें ऐसा प्रयत्न करना योग्य है। भेद उत्पन्न करनेवाले असफल रहें।

३ यः स्तुवतः मर्तान् एनः कृणोति—जो धार्मिक सदाचारी लोगोंको भी, स्वयं पाप करके, कष्ट देता है उसपर (**तिग्मं वज्रं निजहि**) तीक्ष्ण शस्त्र फेंककर उसका वध ही करना योग्य है। ऐसे असत्याचारी लोग समाजके लिये हानिकारक हैं।

शत्रुओंको दूर करना चाहिये। आपसमें फूट बढानेवालोंके षड्यंत्र असफल करने चाहिये, तथा आपसमें फूट नहीं होगी ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। समाज ऐसा सुसंस्कारसंपन्न करना चाहिये कि जो आपसमें फूट पाडनेवालोंके प्रयत्नोंको सफल होने न दे। तथा जो सज्जनोंके विषयमें भी पाप करता और उनको कष्ट देता है उसका वध शस्त्रसे करना चाहिये।

१९ आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वताता मुषायत् ।
अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्रुरश्व्यानि १६४

२० न त इन्द्र सुमतयो न रायः संचक्षे पूर्वा उषसो न नूत्नाः ।
देवकं चिन्मान्यमानं जघन्थाऽवत्मना बृहतः शम्बरं भेत् १६५

२१ प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः ।
न ते भोजस्य सख्यं मृषन्ताऽधा सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान् १६६

---

[१९] (१६४) (अत्र सर्वताता यः भेदं प्रमुषायत्) इस सर्वत्र फैले युद्धमें जिस इन्द्रने भेद करनेवाले शत्रुका वध किया, (तं इन्द्रं यमुना तृत्सवः च आवन्) इस इन्द्रका रक्षण यमुना और तृत्सुओंने किया। (अजासः च शिग्रवः यक्षवः च अश्व्यानि शीर्षाणि बलिं जभ्रुः) अज, शिग्रु तथा यक्षु लोगोंने प्रमुख घोडोंका प्रदान इन्द्रके लिये किया।

मानवधर्म – यज्ञसें उसको दूर करो कि जो आपसमें फूट निर्माण करता है। यम नियम पालन करनेवाले तथा संकटोंसे पार करनेवाले वीर अपने नेताका संरक्षण करें। हलचल करनेवाले, सत्वर कार्य करनेवाले तथा याजक ये सब अपने नेताको सहायता प्रदान करें और उसको युद्धमें प्राप्त किये उत्तम घोडोंका प्रदान करें।

'सर्वताता'–सर्वत्र फैलनेवाला यज्ञ तथा युद्ध। **'भेदः'**–समाजमें पक्ष भेद करनेवाला शत्रुका मनुष्य। **'यमुना'**–यमन, नियमन करनेवाले शासक। **'तृत्सवः'** संकटोंसे पार होनेवाले वीर। **'अजासः'**–हलचल करनेवाले वीर, (अजति इतिः अजः) सतत प्रयत्न शील जो होते हैं। **'शिग्रवः'**–सत्वर कुशलताके साथ कर्म करनेवाले। **'यक्षवः'** याजक, यजन करनेवाले।

१ सर्वताता भेदं प्रमुषायत्— सबका शक्ति-विस्तार करनेके कार्यके समय आपसमें फूट करनेवालेको दूर कर। आपसकी फूट बढेगी तो शक्तिका विकास नहीं होगा।

२ तं यमुना तृत्सवः आवन्— उस वीरको यमनियमोंके पालक तथा संकटोंसे पार करनेवाले वीर सुरक्षित रखें।

३ अजासः शिग्रवः यक्षवः अश्व्यानि शीर्षानि बलिं जभ्रुः-- हलचल करनेवाले शीघ्रकारी याजक मुख्य श्रेष्ठ घोडोंका दान अपने नेताको करते हैं। शत्रुसे प्राप्त किये घोडे अपने नेताको अर्पण करते हैं।

[२०] (१६५) हे इन्द्र! (ते पूर्वाः सुमतयः न संचक्षे) तेरी पुरातन समयसे चली आयी शुभ कृपाएं अवर्णनीय हैं तथा (रायः) धन भी (उषसः न) उषाओंके समान (न संचक्षे) अवर्णनीय हैं तथा (नूत्नाः न) तुम्हारी नूतन कृपाएं भी अवर्णनीय हैं। (मान्यमानं देवकं चित् जघंथ) मान्यमान देवक शत्रुका तूने वध किया। और (त्मना बृहतः शंबरं अवभेत्) तूने स्वयं ही बडे पर्वतसे शंबर नामक असुर शत्रुका नाश किया।

१ पूर्वाः नूतनाः च सुमतयः न संचक्षे—पूर्व समयकी तथा इस समयकी कृपाएँ अवर्णनीय हैं। कृपा निष्कपट भावसे करनी चाहिये।

२ रायः न संचक्षे— धन भी नानाप्रकारके हैं और वे भी अवर्णनीय हैं। धन अनेक प्रकारके होते हैं और वे सब उपयोगी होते हैं।

३ मान्यमानं देवकं जघंथ--घमंडी गर्विष्ठ लोग ही जिसकी मान्यता करते हैं ऐसे दांभिक तुच्छ देवताके पूजकोंको' अर्थात् श्रेष्ठ एक देवकी भक्ति श्रद्धासे न करनेवाले शत्रुका वध करना योग्य है। देव, देवक इनमें 'देव-क' शब्द तुच्छ देवकी पूजाके निषेध अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। 'देवक' का अर्थ 'छोटा देव' है। हीन पूजक शत्रु।

४ बृहतः शंबरं अव भेत्—बडे पहाडपर रहकर युद्ध करनेवाले शत्रुका नाश करना योग्य है।

[२१] (१६६) (ये पराशरः शतयातुः वसिष्ठः) जो पराशर, सैंकडों राक्षसोंका सामना करनेवाला वसिष्ठ ये (त्वायाः) तेरी भक्ति करनेवाले ऋषि

२२ द्वे नप्तुर्देववतः शते गोर्द्वा रथा वधूमन्ता सुदासः ।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सद्म पर्येमि रेभन् १६७

२३ चत्वारो मा पैजवनस्य दानाः स्मद्दिष्टयः कृशनिनो निरेके ।
ऋज्रासो मा पृथिविष्ठाः सुदासस्तोकं तोकाय श्रवसे वहन्ति १६८

(गृहात् प्र अममदुः) घरघरमें तुझे संतुष्ट करते हैं। (ते भोजस्य सख्यं न मृषन्त) वे ऋषि भोजन देनेवाले तुम्हारी मित्रताका विस्मरण नहीं होने देते। (अध सूरिभ्यः सुदिना वि उच्छान्) इन ज्ञानियोंको उत्तम दिन प्राप्त हों।

पराशर तथा वसिष्ठ ये ऋषि ऐसे हैं कि जो सैंकडों राक्षसोंका सामना करनेवाले (शत-यातुः) थे। 'परा-शर' वह है कि जो दूरतक शर संधान कर सकता है और 'वसिष्ठ' वह है कि जो शत्रुओंके हमले होनेपर भी (वसति इति वसिष्ठः) अपने स्थानपर रहता है। ये दोनों गुण विजयके लिये आवश्यक हैं। दूरसे बाणोंका प्रयोग करनेसे दूरसे ही शत्रु भाग जायगा अथवा विनष्ट होगा। तथा अपना स्थान न छोडनेवाला भी शक्तिशाली चाहिये। ऋषियोंके आश्रम शस्त्रास्त्रोंसे संपन्न थे इस बातकी सूचना इन शब्दोंसे बोधित होती है। राक्षसोंका प्रतीकार करनेकी शक्ति ये अपनेमें रखते थे। इस कारण ही वनमें आश्रम करके ये अपना कार्य कर सकते थे।

१ गृहात् प्र अममदु—घर घरमें अपने नेताको संतुष्ट करते थे। अपने नेताका यश घर घरमें गाया जाता था। धर्मका प्रचार घर घरमें करना चाहिये यह इसका बोध है।

२ ते भोजस्य सख्यं न मृषन्त--भोग्य वस्तुओंका प्रदान करनेवाले प्रभुकी भक्तिसे वे दूर नहीं होते थे। वे उसका नित्य स्मरण रखते थे।

३ सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान्-ज्ञानियोंके लिये अच्छे दिन प्राप्त हों। ज्ञानी, विद्वान, सदाचारी, सज्जन जो होंगे उनके लिये उत्तम दिवस होने चाहिये। राज्य व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि जिसमें सज्जनोंकी सुरक्षा हो और उनके लिये अच्छे दिन मिलते रहें। और जो दुष्ट लोग हों उनके लिये कष्ट हों। उनका निर्दालन होता रहे।

[२१] (१६७) हे (अग्ने) अग्ने! (देववतः नप्तुः) देव भक्तके पौत्र (पैजवनस्य सुदासः) पिजवनके पुत्र सुदासकी (गोः द्वे शते) दो सौ गाइयाँ (वधूमन्ता द्वा रथा) वधुओंके साथ दो रथ (दानं रेभन्) इस दानकी प्रशंसा करता हुआ मैं (अर्हन्) योग्य (होता इव सद्म परि एमि) होता यज्ञगृहमें जाता है वैसा मैं अपने घरमें जाता हूं।

इस मंत्रमें एक राजासे सौ गौवें, दो रथ तथा रथके साथ कन्याएं दानमें मिलनेका उल्लेख है। इस तरहके दान ऋषियोंके आश्रमोंको मिलते थे जिनपर आश्रम चलते थे। ऐसे दान देने चाहिये यह इसका तात्पर्य है।

गौवें तो छात्रोंके दूध पीनेके लिये हैं। रथ और घोडे तो वाहनके कार्यके लिये हैं। पर वधूयें, कन्याएं क्यों दी हैं? प्रत्येक रथके साथ कन्याएं क्यों दी जाती थी यह एक अन्वेषणीय विषय है। ये कन्याएं यहां वसिष्ठ जैसे महातपस्वी ऋषिको मिली हैं। और वसिष्ठ तो श्रेष्ठसे श्रेष्ठ ऋषि हैं। इस लिये इसकी खोज विशेष मनन पूर्वक होनी चाहिये

[२३] (१६८) (पैजवनस्य सुदासः) पिजवनके पुत्र सुदास राजाके (स्मद्दिष्टयः कृशनिनः) दानमें दिये, सुवर्णके अलंकारोंसे लदे (निरेके ऋज्रासः) कठिन स्थानमें भी सरल जानेवाले ऐसे सुशिक्षित (पृथिवीस्थाः दानाः चत्वारः) पृथिवीपर प्रसिद्ध दानमें दिये चार घोडे (तोकं मा) पुत्रवत् पालनीय मुझ वासिष्ठको (तोकाय श्रवसे वहन्ति) पुत्रोंके पास यशके साथ जानेके लिये ले जाते हैं।

दो रथोंके साथ, प्रत्येक रथमें दो घोडे मिलकर, चार घोडे हुए। ये घोडे सुवर्णालंकारोंसे लदे थे। इससे अनुमान हो सकता है कि कितना धन वसिष्ठको एक ही समय मिला होगा। ऐसे दान मिलने चाहिये और देने चाहिये यह इसका तात्पर्य है।

२४ यस्य श्रवो रोदसी अन्तरुर्वी शीर्ष्णेशीर्ष्णे विबभाजा विभक्ता
सुप्तेदिन्द्रं न स्रवतो गृणन्ति नि युध्यामधिमशिशादभीके १६९

२५ इमं नरो मरुतः सश्चतानु दिवोदासं न पितरं सुदासः ।
अविष्टना पैजवनस्य केतं दूणाशं क्षत्रमजरं दुवोयु १७०

(१९) ११ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

१ यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः ।
यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः १७१

---

[२४] (१६९) (**यस्य श्रवः उर्वी रोदसी अन्तः**) जिसका यश इस बडी द्यावा पृथिवीके अन्दर फैला है, (**विभक्ता शीर्ष्णे शीर्ष्णे विबभाज**) जो मुख्य मुख्य विद्वानोंको ऐसा ही धन देता है, (**सप्त इन्द्रं न इत् गृणन्ति**) सात लोक इन्द्रकी स्तुति करनेके समान इसकी प्रशंसा करते हैं। उसके शत्रु (**युध्यामधिं सरितः अभीके नि अशिशात्**) युध्यामधिका नदीके समीप वध हुआ।

ऐसा दान देना कि जिससे चारों ओर यश फैले। विद्वानोंमें जो श्रेष्ठ विद्वान हों उनको ही दान देना। विद्या विहीनको दान न देना। दानका यह नियम " **विभक्ता शीर्ष्णे शीर्ष्णे विबभाज** " दान देनेवाला श्रेष्ठसे श्रेष्ठ विद्वानको दान देवे इस मंत्रसे सिद्ध होता है।

युध्यामधिं सरितः अभीके नि अशिशात्-शत्रुको युद्धमें नदीके समीप नष्ट किया। यहां नष्ट करना मुख्य है। नदीके समीप शत्रुका नाश किया जाय वा अन्यत्र किया जाय, यह तो महत्त्वकी बात नहीं हैं, पर शत्रु का वध करना चाहिये यह मुख्य विषय है।

' **युध्या-मधि** ' उसको कहते हैं कि जो शत्रु युद्धसे ही सदा दुःख देता रहता है। नाना प्रकारसे कहनेपर सुनता नहीं और आक्रमण करता ही रहता है। ऐसे शत्रुका वध करना योग्य है।

[२५] (१७०) हे (**नरः मरुतः**) नेता मरुद्वीरो! (**इमं पितरं दिवोदासं न**) उसके पिता दिवोदासके समान ही इस (**सुदासः अनु सश्चत**) सुदासकी सहायता करो। (**दुवोयु पैजवनस्य केतं अविष्टन**) आशीर्वाद प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले पिजवन पुत्र सुदासके घरकी सुरक्षा करो। तथा इसका (**क्षत्रं दुणाशं अजरं**) क्षात्र बल बढता जाय कभी कम न हो।

राष्ट्रसुरक्षाका अमर संदेश

जो (मर्-उत्) मरनेतक उठकर लडते हैं वे वीर मरुत् हैं। ये ही युद्धके नेता हैं। युद्ध संचालन करनेकी विद्या ये जानते हैं। इसीलिये इनको ' नरः ' पुरुष कहते हैं। ये वीर्यवान् पुरुष वीर हैं। ये सब जनताके संरक्षक हैं। दाताकी सुरक्षा ये करते हैं।

राष्ट्रकी सुरक्षा करनेके लिये ' **अ-जरं क्षत्रं दुणाशं** ' क्षात्र-बल अविनाशी और बढनेवाला, शिथिल न होनेवाला चाहिये। यह इस सूक्तका अंतिम संदेश बडा स्मरण रखने योग्य है।

[१] (१७१) (**यः तिग्मशृंगो वृषभो न भीमः**) जो तीखे सींगवाले बैलके समान भयंकर (**एकः विश्वाः कृष्टीः प्र च्यावयति**) अकेला ही सभी शत्रुओंको स्थानसे भ्रष्ट कर देता है। (**यः अदाशुषः शश्वतः गयस्य**) जो दान न देनेवालेके अनेक घरोंको भी स्थान भ्रष्ट कर देता है, वह (**सुष्वितराय वेदः प्रयंता असि**) तू यज्ञ करनेवालोंके लिये धन देता है।

मानवधर्म – वीर तीक्ष्ण सींगवाले बैलके समान बलवान और भयंकर हो। वह सब शत्रुओंको स्थानभ्रष्ट करे। कोई शत्रु अपने स्थानपर स्थिर न रह सके। कंजूस और

२ त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये ।
दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन् १७२

३ त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम् ।
प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम् १७३

४ त्वं नृभिर्नृमणो देववीतौ भूरीणि वृत्रा हर्यश्व हंसि ।
त्वं नि दस्युं चुमुरिं धुनिं चाऽस्वापयो दभीतये सुहन्तु १७४

अनुदार लोगोंके स्थान भी अस्थिर रहें, ऐसे लोग राष्ट्रमें बलिष्ठ होने न पावें। जो यज्ञ करता और दान देता है, उसको पर्याप्त धन प्राप्त हो।

१ एकः भीमः विश्वाः कृष्टीः प्रच्यावयति–अकेला सच्चा वीर सब शत्रुओंको अपने स्थानसे उखाड देता है।

२ अदाशुषः शश्वतः गयस्य च्यावयिता--कंजूसके घरोंका उखाडनेवाला वीर हो। कंजूस राष्ट्रमें न रहे।

३ सुष्वि-तराय वेदः प्रयंता--यज्ञकर्ताको धन दो, सब लोग यज्ञकर्ताको धनका दान देते रहें। धनके अभावके कारण यज्ञ बंद करना न पडे। राष्ट्रके दाता लोग राष्ट्रमें यज्ञ होते रहें इतना दान यज्ञकर्ताओंको देवें।

[२] (१७२) हे इन्द्र! (त्वं ह त्यत् तन्वा शुश्रूषमाणः) तूने तब अपने शरीरसे शुश्रूषा करके (समर्ये कुत्सं आवः) युद्धमें कुत्सकी सुरक्षा की, (यत् आर्जुनेयाय अस्मै शिक्षन्) उस अर्जुनीके पुत्र कुत्सको धन दिया और (दासं शुष्णं कुयवं नि अरंधयः) दास शुष्ण और कुयवका नाश किया।

'**दास**' उनको कहते हैं कि जो (दस् उपक्षये) नाश करता है, घात पात करता है, लोगोंको नष्ट भ्रष्ट करता है। समाजमें उपद्रव मचाता है। '**शुष्ण**' वह है कि जो लोगोंके धनों भोगों और सुखोंका शोषण करता है, अपने सुखके लिये दूसरोंको चूरता है। '**कु-यव**' वह है कि जो अपने बुरे सडे जौको अच्छे बताकर लोगोंको देता है। इससे खानेवालोंके स्वास्थ्यका बिगाड होता है। इनका समाजके हितके लिये नाश करना चाहिये। समाजसे इनको दूर करना चाहिये।

१ तन्वा शुश्रूषमाणः समर्ये कुत्सं आवः—स्वयं अपने प्रयत्नसे युद्धमें अपने अनुयायी कुत्सकी रक्षा की। अपने जो अनुयायी होंगे उनकी सुरक्षा करनी चाहिये।

२ दासं शुष्णं कुयवं निरंधयः—घातपाती, शोषण कर्ता तथा बुरे रोगोत्पादक धान्यका व्यवहार करनेवालोंका नाश कर। इनको दूर कर।

३ शिक्षन्—इनको उत्तम शिक्षा दो, उनपर शुभ संस्कार कर, जिससे ये वैसे घातपातके कर्म न कर सकें ऐसा कर।

[३] (१७३) हे (धृष्णो) शत्रुधर्षक इन्द्र! तूने (धृषता वीतहव्यं सुदासं) अपने बलसे अन्नका दान करनेवाले सुदासका (विश्वाभिः ऊतिभिः प्र आवः) अनेक संरक्षणके साधनोंसे संरक्षण किया। (वृत्र हत्येषु क्षेत्र साता) वृत्रवध करनेके युद्धमें तथा क्षेत्रका बंटवारा करनेके समय (पौरुकुत्सिं त्रसदस्यु पुरुं च प्र आवः) पुरुकुत्सके पुत्र त्रसदस्यु तथा पुरुका संरक्षण किया।

१ धृषता विश्वाभिः ऊतिभिः प्रावः—शत्रुको उखाडनेके बलसे सब सुरक्षाके साधनों द्वारा प्रजाका संरक्षण करो। अर्थात् शत्रुको उखाड दो और संरक्षणके साधनोंसे प्रजाका संरक्षण करो।

२ वृत्रहत्येषु क्षेत्रसाता पुरुं आवः—युद्धोंमें तथा भूमिका बटवारा करनेके समयमें झगडे होते हैं, उस समय नागरिकोंका संरक्षण करना चाहिये। भूमिका बटवारा करनेके समयमें भाई भाईयोंमें झगडे होते हैं, उस समय योग्य विभाग करके झगडेकी जड दूर करनी चाहिये।

[४] (१७४) हे (नृ-मनः) मनुष्योंके मनोंको आकर्षित करनेवाले इन्द्र! अथवा जिसका मन मनुष्योंका हित करनेमें लगा है ऐसे इन्द्र! (देव-

५ तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत् पुरो नवतिं च सद्यः।
निवेशने शततमाविवेषीरहञ्च वृत्रं नमुचिमुताहन् ॥ १७५

६ सना ता त इन्द्र भोजनानि रातहव्याय दाशुषे सुदासे।
वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि व्यन्तु ब्रह्माणि पुरुशाक वाजम् ॥ १७६

वीतौ त्वं नृभिः भूरीणि वृत्रा हंसि) युद्धमें तू अपने वीरोंके द्वारा बहुत शत्रुओंको मारता है। हे (हर्यश्व) हरिद्वर्णके घोडोंवाले इन्द्र! तूने (दभीतये सुहन्तु) दभीतिके लिये वज्रके द्वारा दस्यु चुमुरि और धुनिको (नि अस्वापयः) सुलाया, मारा।

'**नृ-मनः**'—मनुष्योंका, प्रजाजनोंका हित करनेमें जिसका मन तत्पर रहता है, इसलिये प्रजाओंका मन जिसपर लगा है, जिसने प्रजाओंका मन आकर्षित किया है। '**देव-वीती**'—देवोंका सत्कार जहां होता है, व्यवहार करनेवाले जहां एकत्रित होते हैं, वीर जहां एकत्रित होते हैं। यज्ञ, सभा अथवा युद्ध। '**हर्यश्व**'—हरित् वर्णके घोडे जिसके रथको जोते हैं। '**सु-हन्तु**' जिससे शत्रु अच्छी तरह काटे जाते हैं वह शस्त्र, तीक्ष्ण धारावाला शस्त्र। '**दस्युः**'—घातपात करनेवाला, '**चुमुरि**' (चु-मुरि)=चुभ चुभ कर, कष्ट दे देकर नाश करनेवाला, '**धुनिः**'–हिलानेवाला, भगानेवाला, जो अपने निवास स्थानमें सुखसे रहने नहीं देता, ये सब समाजके शत्रु हैं। इनको दूर करना चाहिये। '**द-भीतिः**'–दमनके कारण जो भयभीत हुआ है।

१ **नृ-मनः**—मनुष्योंका हित करनेमें अपना मन लगा। प्रजाका हित करनेमें तत्पर हो। प्रजाके मनोंको आकर्षित करो।

२ **देववीतौ नृभिः भूरीणि हंसि**—युद्धोंमें अपने वीरों द्वारा बहुत शत्रुओंका नाश कर।

३ **दस्युं चुमुरिं धुनिं नि अस्वापयः**—घातपाती, कष्टदायी और घबराहट करनेवाले शत्रुओंका वध कर। ये फिर न उठें ऐसा कर।

४ **दभीतये भूरीणि हंसि**—दमनके कारण जो भयभीत हुआ है उसकी सुरक्षा करनेके लिये बहुत दुष्टोंका वध कर। प्रजापर कोई दमन न करे ऐसा कर।

*

[५] (१७५) हे (वज्रहस्त) वज्रधारी इन्द्र! (तव चौत्न्यानि तानि) तेरे वे प्रसिद्ध बल हैं कि जो (यत् नव नवतिं च पुरः सद्यः) तूने शत्रुके नौ और नव्वे नगरोंका भेदन तत्काल ही किया था और (निवेशने शततमा आविवेषीः) अपने ठहरनेके लिये जब सौवी नगरीमें तूने प्रवेश किया उसी समय (वृत्रं च अहन्) वृत्रको तूने मारा और (उत नमुचिं अहन्) नमुचिको भी मारा।

मानवधर्म - शत्रुके कीलों और प्राकारों तथा नगरोंका नाश करना चाहिये और उनपर अपना स्वामित्व स्थापन करना चाहिये। तथा उनमें जो नाना रूपोंमें कष्ट देनेवाले शत्रु रहते हों उनका नाश करना चाहिये।

'**वज्रहस्त**'—हाथमें वज्र, तीक्ष्ण धाराका शस्त्र, धारण करनेवाला वीर। यह वीर '**नव च नवतिं च पुरः**' शत्रुके निन्यानवे नगरियोंका भेदन करता है, नगरीके बाहेरके कीलोंका तथा उनके प्राकारोंका नाश करके विजयी होकर उन नगरियोंमें प्रवेश करता है। और स्वयं सौवी नगरीमें प्रवेश करके वहां रहता है। '**वृत्र**' (आवृणोति)—जो घेरकर हमला करता है वह वृत्र है और '**नमुचि**' (न मुञ्चति) जो प्रयत्न करनेपर भी जो छोडता नहीं, किसी न किसी रूपमें वहां रहता और कष्ट देता ही रहता है वह '**नमुचि**' है। ये सब शत्रु हैं। इनका नाश इन्द्र करता है।

[६] (१७६) हे इन्द्र! (ते रातहव्याय दाशुषे सुदासे) तुझे हव्य देनेवाले दानी सुदासके लिये (ता भोजनानि सना) जो तू भोगके योग्य धन दिये, वे सदा टिकनेवाले थे। हे (पुरुशाक) बहु शक्तिमन् वीर! (वृष्णे ते) बलशाली ऐसे तुझे लानेके लिये रथको (वृषणा हरी युनज्मि) बलशाली घोडोंको जोतता हूं। (ब्रह्माणि वाजं व्यन्तु) स्तोत्र बलशाली ऐसे तेरे पास पहुंचें।

७ मा ते अस्यां सहसावन् परिष्टावघाय भूम हरिवः परादै ।
त्रायस्व नोऽवृकेभिर्वरूथैस्तव प्रियासः सूरिषु स्याम ॥ १७७

८ प्रियास इत् ते मघवन्नभिष्टौ नरो मदेम शरणे सखायः ।
नि तुर्वशं नि याद्वं शिशीह्यतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन् ॥ १७८

१ दाशुषे सना भोजनानि--दाताके लिये उपभोग लेने योग्य शाश्वत टिकनेवाले भोग दो ।

२ पुरु-शाकः--बहुत शक्तिवाला बन, बहुत सामर्थ्य अपनेमें वढाओ । ' वृषा '--बलवान्, बैल जैसा शक्तिमान् ।

३ वाजं ब्रह्माणि व्यन्तु--बलवान् वीरके पास प्रशंसाके वर्णन पहुंचे । बलवानकी ही प्रशंसा होती रहे ।

४ वृषणा हरी रथे युनज्मि--बलवान घोडेमें रथको जोतता हूं । रथमें बलवान घोडे जोतने चाहिये ।

[७] (१७७) हे (सहसावन् हरिवः) बलशाली और घोडोंवाले इन्द्र ! (तव अस्यां परिष्टौ) तेरी इस प्रशंसामें (परादै अघाय मा भूम) दूसरोंसे सहाय्य लेनेका पाप हमसे न हो । (नः अवृकेभिः वरूथैः त्रायस्व) बाधा न करनेवाले संरक्षक साधनोंसे हमें बचाओ । (सूरिषु तव प्रियासः स्याम) ज्ञानियोंमें हम तेरे अधिक प्रिय बनें ।

मानवधर्म - मनुष्य शक्तिशाली बनें । दूसरेकी सहायतासे ही सब करनेका पाप न करें, अपनी शक्तिसे अपने कार्य करें, स्वावलंबन शील बनें । क्रूरतारहित संरक्षक साधनोंसे प्रजाजनोंका बचाव होता रहे और ज्ञानियोंमें भी अधिक विद्वान बनकर प्रभुके प्यारे भक्त बनें ।

१ सहसावन्--परिश्रम सहन करनेकी शक्ति, शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति ऐसे अनेक शक्तियोंसे युक्त, ' हरिवः ' --घोडे पास रखनेवाला वीर ।

२ परादै अघाय मा भूम--दूसरोंसे सहायता लेकर ही अपने कार्य करनेकी स्थिति (पर-आदा) यह अत्यंत निकृष्ट स्थिति है । अतः यह पापकी अवस्था है । ऐसी स्थितिमें हमें रहना न पडे । अर्थात् हम अपनी शक्तिसे ही हमारे सब कार्य करें, इतनी हमारी शक्ति बढी हो ।

३ अवृकेभिः वरूथैः त्रायस्व--वृक क्रूरताका रूप है । अवृकसे क्रूरतारहित वीरताका बोध होता है । वरूथ संरक्षणके साधनोंका नाम है । क्रूरतारहित रक्षासाधनोंसे हमारा तारण हो ।

४ सूरिषु तव प्रियासः स्याम--महा ज्ञानियोंमें हम अधिक ज्ञानवान् बनें और इस ज्ञानकी अधिकताके कारण हम प्रभुके प्यारे बनें ।

[८] (१७८) हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र ! (ते अभिष्टौ) तेरी स्तुति करते हुए (नरः सखायः प्रियासः शरणे इत् मदेम) हम सब नेता समान कार्य करनेवाले तुम्हें प्रिय होकर अपने घरमें आनन्दसे रहें । (अतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन्) अतिथि सत्कार करनेवालेके लिये प्रशंसनीय सुखकी अवस्था निर्माण करके (तुर्वशं याद्वं नि नि शिशीहि) तुर्वश और याद्व इन शत्रुओंको अपने वशमें कर ।

मानवधर्म - धनवान बनो, क्योंकि धनसे सब कार्य होते हैं । अपने देशमें सुखसे रहो, अपने ही देशमें दुःख भोगनेका अवसर न आवे । अतिथिसत्कार करो । शत्रुओंको वशमें रखो, उनको बढने न दो ।

१ मघवान्--धनवान् बनना चाहिये, क्योंकि धनसे ही सब कार्य होते हैं । ' मघवान् ' (इन्द्र) ही ' शतक्रतु ' सैंकडों कार्य करनेवाला होता है ।

२ सखायः प्रियासः नरः शरणे मदेम--हम सब एक कार्य करनेवाले, परस्पर प्रीति करनेवाले नेता, अग्रगामी होकर कार्यको संपन्न करनेवाले होकर अपने स्थानमें आनंदसे रहें । दुःखमें न रहें । हमें अपने देशमें दुःख भोगना न पडे ।

३ अतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन्--अतिथि सत्कार करनेवालेका हित करो ।

९ सद्याश्चिन्नु ते मघवन्नभिष्टौ नरः शंसन्त्युक्थशास उक्था।
ये ते हवेभिर्वि पणीँरदाशन्नस्मान् वृणीष्व युज्याय तस्मै १७९
१० एते स्तोमा नरां नृतम तुभ्यमस्मद्र्यञ्चो ददतो मघानि।
तेषामिन्द्र वृत्रहत्ये शिवो भूः सखा च शूरोऽविता च नृणाम् १८०
११ नू इन्द्र शूर स्तवमान ऊती ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधस्व।
उप नो वाजान् मिमीह्युपस्तीन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः १८१

४ तुर्वशं याद्वं निशिशीहि--त्वरासे वशमें होनेवाले और क्रूरकर्मा शत्रुओंको दूर करो। याद्व (यादोवान्)- जलोंमें जिसका स्थान है, द्वीपमें रहनेवाला शत्रु।

[९] (१७९) हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र! (ते नु अभिष्टौ उक्थशासः ये नरः सद्यः चित् उक्था शंसति) तेरी स्तुति करनेके कार्यमें स्तोत्र बोलनेवाले जो नेता तत्काल ही स्तोत्रोंको बोलते हैं। (ते हवेभिः पणीन् वि अदाशन्) उन्होंने अपने दानोंसे पण्य करनेवालोंको भी दान करनेवाले बना दिया है। (तस्मै युज्याय अस्मान् वृणीष्व) उस मित्रताके लिये हमारा स्वीकार कर।

'पणी' वे होते हैं कि जो पण्य करते हैं, वस्तुकी क्रय और विक्रय करते हैं। व्यापार व्यवहार करनेवाले ये हैं। ये अपना धन बढाना चाहते हैं। ऐसे लोगोंको भी (पणीन् वि अदाशन्) पण्यव्यवहारियोंको भी दाता बना दिया। यह परिणाम (हवेभिः) स्तुतिके काव्य पढनेसे हुआ। इसलिये इन्द्रकी स्तुति करनी चाहिये।

[१०] (१८०) हे (नृतम इन्द्र) नेताओंमें अत्यंत श्रेष्ठ इन्द्र! (तुभ्यं एते स्तोमाः मघानि ददतः) तुम्हें ये संघ धन देते हुए (अस्मद्र्यंचः) हमारी ओर आरहे हैं। (तेषां वृत्रहत्ये शिवः भूः) उनके लिये शत्रुका नाश करनेके युद्धमें तुम कल्याण करनेवाला हो, तथा उन (नृणां सखा च शूरः अविता च) मानवोंका मित्र और शूर संरक्षक हो।

मानवधर्म- मनुष्योंमें श्रेष्ठ बन। धनका दान कर। युद्धके समय मनुष्योंकी सहायता करके उनका कल्याण कर। मनुष्योंका संरक्षण कर और इसके लिये शूर बन और मनुष्योंके साथ मित्रवत् व्यवहार कर।

१ 'नृतमः'--नेताओंमें श्रेष्ठ नेता बन।

२ मघानि ददतः अस्मद्र्यंचः--धन देते हुए ये नेता हमारी ओर आरहे हैं। हमें भी ये धन देंगे और उस धनका हम यज्ञ करेंगे।

३ वृत्रहत्ये तेषां शिवःभूः-- युद्धमें उन दाताओंका कल्याण हो ऐसा करो। युद्धमें उनका नाश न हो।

४ नृणां सखा शूरः अविता च भूः—मानवोंका मित्र और शूर संरक्षक हो।

[११] (१८१) हे शूर इन्द्र! (स्तवमानः (ब्रह्मजूतः) स्तुतिसे और ज्ञानसे प्रेरित होकर (तन्वा ऊती वावृधस्व) अपने शरीरसे और संरक्षणकी शक्तिसे बढता जा। (नः वाजान् उप मिमीहि) हमें अन्न और बल दो, (स्तीन् उप) हमें घर दो। (यूयं नः सदा स्वस्तिभि पात) आप हमें सदा कल्याणोंसे सुरक्षित करो।

मानवधर्म- मनुष्य शूर हों। देवता स्तुतिसे और ज्ञान विज्ञानसे उनको प्रशस्ततम कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती रहे। शरीर स्वस्थ नीरोग और बलवान बने और उनमें संरक्षण करनेका सामर्थ्य बढे। अन्न ऐसे प्राप्त हों कि जिससे बल बढे। रहनेके लिये उत्तम घर हों। मानवोंका कल्याण होकर उनका संरक्षण भी हो।

१ शूरः—नेता शूर हो, भीरु न हो

२ स्तवमानः ब्रह्मजूतः—स्तुति और ज्ञानसे उसको प्रेरणा मिले। प्रशस्त कार्य करनेकी प्रेरणा उसको (स्तव) ईशस्तुतिसे मिले तथा ज्ञानसे मिले। ईशस्तुतिसे ईश्वर जैसा बनूंगा इस भावसे सत्कर्मकी प्रेरणा मिलती है और ज्ञानवि-ज्ञानसे भी प्रशस्त कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है। वैसी प्रेरणा मिले।

(१०) १० मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। इन्द्रः। त्रिष्टुप्।

१ उग्रो जज्ञे वीर्याय स्वधावाञ्चक्रिरपो नर्यो यत् करिष्यन् ।
जग्मिर्युवा नृषदनमवोभिस्त्राता न इन्द्र एनसो महश्चित् १८२

२ हन्ता वृत्रमिन्द्रः शूशुवानः प्रावीन्नु वीरो जरितारमूती ।
कर्ता सुदासे अह वा उ लोकं दाता वसु मुहुरा दाशुषे भूत् १८३

---

३ तन्वा ऊती वावृधस्व—अपना शरीर और अपने अन्दरकी संरक्षण करनेकी शक्ति बढायी जाय। देवता स्तुति और ज्ञानसे अपने शरीरके संवर्धनके उपाय तथा संरक्षणकी शक्ति बढानेके उपाय विदित हो सकते हैं।

४ वाजान् नः उपामिमीहि—अन्न और बल हमें प्राप्त हों। उत्तम बल बढानेवाले अन्न हमें मिलें और अन्न मिलनेपर उससे हमारे बल बढें। अन्नका उपयोग ऐसा किया जावे कि जिससे शरीरका बल बढे पर कभी न घटे।

५ स्तीन् उपामिमीहि— रहनेके लिये घर हों। विना घरके जीवित रहना पडे ऐसा कभी न हो।

६ स्वस्तिभिः नः पात—कल्याण करनेवाले साधनोंसे हमारी सुरक्षा हो। ऐसा न हो कि हम सुरक्षित तो हों पर हमारी हानि ही हानि होती जाय। तात्पर्य हमारा कल्याण भी हो और उत्तम संरक्षण भी हो।

[१] (१८२) (स्वधावान् उग्रः इन्द्रः वीर्याय जज्ञे) अपनी धारणा शक्तिसे युक्त वीर इन्द्र पराक्रम करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है। (नर्यः यत् करिष्यन् अपः चक्रिः) मानवोंका हित करनेकी इच्छासे जो कर्म करना चाहता है वह कर्म वह करता ही है। (नृषदनं युवा अवोभिः जग्मिः) मनुष्योंके स्थानमें यह तरुण संरक्षणके साधनोंसे जाता है। और (महः चित् एनसः नः त्राता) बडे पापसे हमारा संरक्षण करनेवाला है।

मानवधर्म-मनुष्य अपनी आन्तरिक धारणा शक्ति बढावे, उग्रवीर बने, मानवोंका हित साधन करनेके अर्थ आवश्यक पराक्रम करनेके लिये ही अपना जीवन है ऐसा समझे। मानवोंका हित साधन करनेके लिये जो प्रशस्त कर्म करने आवश्यक हों, उनको उत्तम रीतिसे करे, उनके करनेमें असावधानी न होने दे। मानवी समाजमें यह तरुण वीर अपने संरक्षक साधनोंके साथ जावे और उनका हित करे, उनको पतनके मार्गसे गिरने न दे, उनको बचावे, पापसे बचावे और सब प्रकारसे उनका कल्याण करके उसका संरक्षण करे।

१ स्व-धा-वान् उग्रः वीर्याय जज्ञे—(स्व) अपनी (धा) धारक शक्तिसे (वान्) युक्त, जिसके अन्दर अपनी निज शक्ति है, जो (स्वधा) अच्छा अन्न खाकर अपनी धारक शक्ति बढाता है। ऐसा (उग्रः) उग्र शूरवीर धीर प्रभावी तरुण पराक्रम करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है। यह केवल सुख भोगनेके लिये ही नहीं उत्पन्न हुआ, परंतु यह (नर्यः) जनताका हित करनेके लिये उत्पन्न हुआ है।

२ नर्यः यत् करिष्यन् अपः चक्रिः—(नर्यः नरेभ्यः हितः) मानवोंका हित करनेकी इच्छासे जो कार्य वह करना चाहता है वह (अपः चक्रिः) व्यापक कर्म वह कर ही छोडता है। ' अपः ' आप्नोति व्याप्नोति इति अपः) जिसका परिणाम सब लोगोंतक पहुंचता है वह सार्वजनिक हितका कर्म ' अपः ' कहा जाता है। जैसा जल सर्वत्र फैलता है वैसा इस कर्मका परिणाम सब जनताका हित करता हुआ फैलता है।

३ युवा नृषदनं अवोभिः जग्मिः—यह तरुण वीर मनुष्य रहनेके स्थानके पास अपने सब संरक्षक साधनोंसे जाता है, और उनका उत्तम संरक्षण करता है। यह आदर्श तरुण है।

४ महः एनसः त्राता—बडे पापसे बचानेवाला यही है। जो ऐसे गुणोंसे युक्त तरुण होता है वही सच्चा संरक्षक है।

[२] (१८३) (इन्द्रः शूशुवानः वृत्रं हन्ता) इन्द्रः बढता हुआ वृत्रका वध करता है। (वीरः जरितारं नु ऊती प्र आवीत्) यह वीर स्तोताका संरक्षण अपने सुरक्षाके साधनसे करता है। (सुदासे लोकं कर्ता वै उ) सुदासके लिये लोगोंको,

३ युध्मो अनर्वा खजकृत् समद्वा शूरः सत्राषाड् जनुषेमषाळ्हः ।
व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजा अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान १८४
४ उभे चिदिन्द्र रोदसी महित्वाऽऽपप्राथ तविषीभिस्तुविष्मः ।
नि वज्रमिन्द्रो हरिवान् मिमिक्षन् त्समन्धसा मदेषु वा उवोच १८५

नागरिकोंको, तैयार करता है। (दाशुषे अह वसु मुहुः दाता आ भूत्) दाताको धन वारंवार दे डालता है।

मनवधर्म- वीर सामर्थ्यसे बढे और शत्रुओंका नाश करें। वीर नागरिकोंका संरक्षण करें विशेष कर वीरकाव्योंके निर्माताओंको सुरक्षित रखें। राजाके लिये उत्तम नागरिक बना दें जिससे उनका राज्यशासन उत्तम रीतिसे चल सके। और जो उदार दाता हैं उनको वीर वारंवार धन देवे जिससे उनका दातृत्व खंडित न हो जावे।

१ शूशुवानः वृत्रं हन्ता—सामर्थ्यसे बढनेवाला वीर घेरनेवाले शत्रुका नाश करता है।

१ वीरः जरितारं ऊती प्रावीत्—वीर वीरोंके काव्यों-का गान करनेवालोंका अपनी रक्षासाधनोंसे संरक्षण करता है। वीरोंके काव्य सर्वत्र गाये जांय और उनके सुननेसे श्रोता लोग वीर बनें।

३ सुदासे लोकं कर्ता—उत्तम दान करनेवाले राजाके लिये उसके जनपदके नागरिकोंको शिक्षा और सुरक्षासे उत्तम नागरिक बनाता है।

४ दाशुषे मुहुः वसु दाता आभूत—दाताके लिये वारंवार धनका दान करता है।

[३] (१८४) (युध्मः अनर्वा खजकृत्) योद्धा युद्धसे निवृत्त न होनेवाला युद्धमें कुशल (समद्वा शूरः जनुषा सत्राषाट्) युद्धमें जानेके लिये सिद्ध शूरवीर जन्मस्वभावसे ही शत्रुका पराभव करने-वाला (अषाळ्हः स्वोजाः ई इन्द्रः) स्वयं कभी पराभूत न होनेवाला उत्तम बलशाली यह इन्द्र (पृतनाः वि आसे) शत्रुकी सेनाको अस्तव्यस्त करता है। (अथ विश्वं शत्रुयन्तं जघान) और सब शत्रुके समान आचरण करनेवालोंका वध करता है।

मानवधर्म- वीर ऐसा हो कि जो (युध्मः) योद्धा हो, युद्ध करनेवाला हो, (अनर्वा) युद्धसे डरकर अथवा किसी अन्य कारण युद्धसे पीछे हटनेवाला न हो, (खज-कृत्) युद्ध करनेमें कुशल, (समत्-वा) युद्धमें जानेके लिये सदा सिद्ध, (शूरः) शूरवीर, (जनुषा सत्रा-साह) जन्मस्वभावसे शत्रुओंका पराभव करनेमें समर्थ, स्वभाव प्रवृत्तिसे ही युद्धमें साहस करनेवाला (अ-षाळ्हः) कभी पराभूत न होनेवाला, (स्वोजाः-सु ओजाः) उत्तम बलवान। ऐसा वीर ही शत्रुकी सेनाको तितर बितर कर देता है, उध्वस्त करता है। और शत्रुके समान दुष्ट व्यवहार करनेवालोंका नाश करता है।

अपने राष्ट्रमें ऐसे वीर निर्माण होने चाहिये। ऐसे वीर ही शत्रुका निःपात कर सकते हैं।

[४] (१८५) हे (तुवि-ष्मः इंद्र) बहुत धनसे युक्त इंद्र! (महित्वा तविषीभिः) अपने महत्त्वसे और अपने बलोंसे तू (उभे रोदसी आ पप्राथ) दोनों द्यावा=पृथिवीको भरपूर भर देता है। (हरिवान् इंद्रः वज्रं नि मिमिक्षन्) घोडोंवाला इंद्र अपने वज्रको शत्रुओंपर फेंकता है और (मदेषु वै अन्धसा सं उवोच) यज्ञोंमें अन्नको प्राप्त करता है।

१ 'तुवि-ष्म' बहुत धन प्राप्त करना।

२ महित्वा तविषीभिः आ पप्राथ—अपने महत्त्वसे और शक्तिसे सर्वत्र व्यापता है, सर्वत्र प्रसिद्धिको प्राप्त होता है।

३ हरिवान् वज्रं नि मिमिक्षन्—उत्तम घोडोंको अपने पास रखनेवाला घुडसवार वीर शत्रुपर वज्रको फेंकता है।

४ अन्धसा मदेषु समुवोच—अन्नरसको आनन्दके समयमें प्राप्त करता है। रसपान करता है।

५ वृषा जजान वृषणं रणाय तमु चिन्नारी नर्यं ससूव ।
प्र यः सेनानीरध नृभ्यो अस्तीनः सत्वा गवेषणः स धृष्णुः १८६

६ नू चित् स भ्रेषते जनो न रेषन् मनो यो अस्य घोरमाविवासात् ।
यज्ञैर्य इन्द्रे दधते दुवांसि क्षयत् स राय ऋतपा ऋतेजाः १८७

पुत्र कैसा हो

[५] (१८६) (वृषा वृषणं रणाय जजान) बलवान् पिताने बलवान् वीर पुत्रको युद्ध करनेके लिये उत्पन्न किया है, (नर्यं तं उ नारी चित् ससूव) मानवोंके हित करनेवाले उस पुत्रको स्त्रीने जन्म दिया। (अध यः नृभ्यः सेनानीः प्र अस्ति) और जो मानवोंका हित करनेवाला सेना नायक प्रभाव युक्त होता है वह (सः इनः) वह सबका स्वामी होता है वह (सत्वा) शत्रुनाशक (गवेषणः) गौओंको प्राप्त करनेवाला और (धृष्णुः) शत्रुओंका धर्षण करनेवाला है।

मानवधर्म- पिता बलवान बने और बलवान् योद्धा पुत्र उत्पन्न करे, माता भी मानवोंका हितकर्ता, सेनापति होने योग्य वीर, प्रभावी, राजा होने योग्य, शत्रुनाशक, शत्रुको भय दिखानेवाला, शत्रुसे धन वापस लानेवाला पुत्र हो ऐसी इच्छा धारण करे ।

१ **वृषा वृषणं रणाय जजान**—बलवान पिताने अपने बलवान् पुत्रको युद्ध करके शत्रुनाश करनेके लिये उत्पन्न किया है। घर घरमें पिता स्वयं बलवान बने और अपनी संतान बलवान बनानेका यत्न करे ।

२ **नारी नर्यं ससूव**—स्त्री भी मानवोंका हित करनेमें समर्थ बलवान पुत्र निर्माण करे। इस तरह जहां पिता और पत्नी ये दोनों बलवान् शूर और युद्ध कुशल पुत्र निर्माण करना चाहती है वहां वैसे ही पुत्र उत्पन्न होगें ।

३ **यः नृभ्यः सेनानीः प्र अस्ति**--जो पुत्र मानवोंका हित करनेवाला और सेना संचालन करनेमें कुशल तथा प्रभावी नेता है, ऐसा पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा माता पिता करें ।

४ **सः इनः सत्-वा गवेषणः धृष्णु**--वह पुत्र स्वामी, शत्रुका नाश कर्ता, गौओंको शत्रुओंसे वापस लानेवाला और शत्रुका धर्षण करनेवाला हो । ऐसा पुत्र उत्पन्न करनेका प्रयत्न मातापिताको करना चाहिये ।

[६] (१८७) (यः अस्य घोरं मनः) जो इस वीरके शूर मनको (यज्ञैः आ विवासत्) यज्ञों-द्वारा प्रसन्न करनेके लिये सेवा करता है (सः जनः नु चित् भ्रेजते) वह मनुष्य स्थानभ्रष्ट नहीं होता, और (न रेषत्) वह क्षीण भी नहीं होता। (यः इंद्रे दुवांसि दधते) जो इन्द्रके स्तोत्र धारण करता है, अपने पास रखता है, उसके लिये (सः ऋतपाः ऋते जाः) वह सत्यपालक और सत्यके लिये उत्पन्न हुआ इंद्र (राये क्षयत्) धन देता है।

मानवधर्म- मनुष्य वीरके वीरता युक्त मनको प्रसन्न करें और वह वीर मनुष्योंको सुरक्षित रखे, सुस्थिर रखे तथा वह वीर सत्य पक्षका संरक्षण करे और उनके धनको सुरक्षित रखे ।

१ **यः अस्य घोरं मनः आ विवासत्, स जनः नुचित् भ्रेजते, न रेषत्**— जो इस वीरके शूर मनको प्रसन्न करता है वह अपने स्थानपर सुरक्षित रहता है और क्षीण भी नहीं होता है । सुरक्षित संपन्न अवस्थामें अपने स्थानमें वह रहता है।

२ **यः इन्द्रे दुवांसि दधते, सः ऋतपाः ऋतेजा राये क्षयत्**—जो इस वीरके काव्य गाता है उसको वह सत्य पालक और सत्यके लिये जन्मा वीर धन देता है।

'**ऋतपाः**'--वीरको सत्यका पालन करना चाहिये, सत्यका पक्ष लेना चाहिये । '**ऋतेजाः**'--सत्यको सुरक्षित रखनेके लिये ही अपना जन्म है ऐसा इस वीरने समझना चाहिये। '**अस्य घोरं मनः**' वीरका मन घोर, साहसी, प्रभावी होना चाहिये, दुर्बल और निर्बल नहीं होना चाहिये।

संस्कृत भाषा प्रचार परीक्षा सम्बन्धी

आवश्यक सूचनायें

२-३ सितम्बरकी परीक्षामें लगभग सौ केन्द्रोंसे एक हजार परीक्षार्थी सम्मिलित हुए हैं। स्त्री, पुरुष एवं आबालवृद्ध सभीने परीक्षाओंमें सम्मिलित होकर संस्कृत भाषाकी लोकप्रियता सिद्ध की है। यह अत्यन्त हर्षका विषय है कि लगभग सभी केन्द्रोंसे अगली परीक्षाके लिये अधिकसे अधिक परीक्षार्थी सम्मिलित होनेकी आशा प्रकट की जा रही है। हमें विश्वास है कि हमारे उन सभी सहयोगियोंकी यह आशा पूरी पूरी सफल होगी। फरवरीमें होनेवाली परीक्षाओंके लिये निम्नलिखित सूचनायें प्रकाशित की जाती हैं—

१— अगली परीक्षायें ता० ३-४ (शनि. रवि.) फरवरी सन् १९५१ को होंगी।

२— आवेदनपत्र भरनेकी अन्तिम ता० १५ दिसम्बर है।

३— केन्द्र-स्वीकृतिके लिये १५ नवम्बरतक आवेदन आजाने चाहिये।

४— २-३ सितम्बरकी परीक्षाओंका परिणाम ३० सितम्बरको प्रातः ८ बजे प्रत्येक केन्द्रमें प्रकाशित हो रहा है।

५— परीक्षा-परिणाम प्रकाशित होते ही एक सप्ताहके अन्दर प्रमाणपत्र भेज दिये जायेंगे।

६— प्रमाणपत्र मिलनेके १५ दिनके अन्दर ही उन्हें एक समारोहके साथ केन्द्रव्यवस्थापक वितरित करेंगे।

७— अपने समारोहोंकी सूचना स्थानीय पत्रोंमें प्रकाशित की जाय तथा केन्द्रीय कार्यालयको भी उसकी एक रिपोर्ट भेजी जावे।

इसके साथ समस्त सहयोगियोंसे हमारा साग्रह निवेदन है कि वे अगली परीक्षाओंके लिये अधिकसे अधिक नवीन केन्द्र स्थापन करनेका प्रयत्न करें। प्रचार सम्बन्धि आवश्यक सामग्री एवं परामर्श किसी भी समय केन्द्रीय कार्यालयसे मंगा सकते हैं।

हमारी इच्छा है कि ३-४ फरवरीकी परीक्षामें कमसे कम ५००० परीक्षार्थी संमिलित हों तथा ५०० नवीन केन्द्रोंकी स्थापना हो।

स्वाध्यायमण्डल 'आनंदाश्रम'
किल्ला-पारडी, (जि. सूरत)

निवेदक
महेशचन्द्र शास्त्री
परीक्षा-मन्त्री

मुद्रक और प्रकाशक- **व० श्री० सातवलेकर**, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, पारडी (जि. सूरत)

अंक ११ वैदिकधर्म वर्ष ३१

नवम्बर १९५०

चिर-प्रसन्नता

: सम्पादक :
पं. श्री. दा. सातवळेकर

[नवम्बर १९५०]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक

श्री महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

वैदिक धर्म
क्रमांक २३ वर्ष २१ अंक ११

क
ध
र्म

शस्त्र अधिक तीक्ष्ण कीजिये

द्रुहं जिघांसन् ध्वरसमनिन्द्रां तेतिक्ते तिग्मा तुजसे अनीका।
ऋणाचिद्यत्र ऋणया न उग्रो दूरे अज्ञाता उषसो बबाधे ॥

(ऋग्वेद ४।२३।७)

(ध्वरसं, अनिन्द्रां, द्रुहं) घात करनेवाली, अधिपति विहीन शत्रुसेनाका (जिघांसन्) नाश करनेकी इच्छा करनेवाला वीर (तुजसे) शत्रुसेनाका नाश करनेके लिये (तिग्मा) अपने तीक्ष्ण (अनीका) शस्त्रों एवं सेनाओंको (तेतिक्ते) पुनः अधिक तीक्ष्ण करता है। (ऋणयाः यत्र नः ऋणा चित्) उऋण होनेवाला, ऋणकी बाधा न हो इसलिये ऋण चुकाकर ऋण मुक्त होता है; तथा (दूरे अज्ञाताः उषसः) दूर रहनेवाली अज्ञात उषाओंको-अन्धकारोंको- भी (उग्रः बबाधे) उग्र प्रभावी सूर्य नष्ट करके जिस प्रकार अपना अभ्युदय कर लेता है उसी प्रकार मनुष्योंको अपना अभ्युदय कर लेना चाहिये।

इस मंत्रमें अभ्युदयार्थ तीन प्रकारकी तैयारीका वर्णन है। (१) शत्रुके शस्त्रोंकी अपेक्षा अपने शस्त्र अधिक तीक्ष्ण होने चाहिये तथा सेना अधिक बलवती होनी चाहिये। (२) अपना ऋण बढने न देना चाहिये। वह मर्यादित हो एवं शीघ्र चूकता कर दिया जावे। ऋण सर्वदा पीडाकारक होता है, अतः मनुष्य ऋणी न रहे (३) जब उषा दूर रहती है, अज्ञात होती है, तब चतुर्दिक अन्धकार रहता है। सूर्य अपने प्रखर तेजसे अन्धकार दूर करता है, उन अर्ध-प्रकाशरूप उषाओंको भी दूर करता है और स्वयं अपने तेजसे प्रकाशित होता है। तद्वत् मनुष्यों-को अपना अज्ञान व अर्धज्ञान दूर करना चाहिये तथा अपने स्वयंके ज्ञानरूप प्रकाशसे अपना उदय करना चाहिये।

यह दीपावली

पाठकोंके लिये

मंगलमय हो!!

भारतके जगमगाते वे और ये दीपक

उत्सव प्रिय भारतके जीवनमें— जब कि वह आज प्रजातन्त्र राष्ट्रके रूपमें विश्वमें अपना मस्तक ऊंचा किये है— पुनः दीपावलीका उत्सव आया है। भूकम्पसे उध्वस्त एवं भयभीत, निर्वासनसे निपीडित एवं आर्त बाढोंसे बीरान और बेचैन, तथा अकालकी छायासे आतंकित एवं आहत भारतका कोटि-कोटि मानव समुदाय ऐसी स्थितिमें भी दीपावलीका उत्सव अवश्य मनायेगा! लगभग सहस्र वर्षोंके पश्चात् निस्सीम त्याग व कठोर तपकी सिद्धि आज भारतको मिली है। शताब्दियों बाद प्रजातन्त्र राष्ट्रके रूपमें खडे हुए इस भारतकी यह प्रथम दिवाली अपना विशेष महत्त्व रखती है।

सम्पूर्ण वर्षकी ३६० रात्रियोंमें सबसे अधिक अंधकारपूर्ण काली रात कार्तिककी अमावस्या है। उसी भीषण अन्धकारमयी रात्रिमें प्रकाश फैलानेका पूर्ण प्रयत्न हम भारतवासी न जाने कितनी शताब्दियोंसे करते आरहे हैं। घरघरमें इस अवसरपर भगवती लक्ष्मीकी पूजा होती है। प्रतीत होता है कि लक्ष्मी एवं अन्धकारका कोई विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध है। लक्ष्मी आती है अपने सम्पूर्ण उद्दाम एवं मोहक ऐश्वर्यके साथ किन्तु उसे अन्धकारमें आना अधिक प्रिय है। अन्धकारमें उसका रूप अधिक निखर आता है। जब लक्ष्मीका आगमन किसी व्यक्ति या राष्ट्रके जीवनमें होता है तो उसके साथ अन्धकार भी आता है। इस अन्धकारमें मनुष्यको स्वयंका रूप भी दिखाई नहीं देता, अपना मार्ग उसे नहीं सूझता तथा गर्वमयी मादकतासे उसकी बुद्धि भी आभिभूत हो जाती है। ऐसी स्थितिमें राष्ट्र एवं व्यक्तिको किसी मार्गदर्शिका दीपज्योति की, या प्रकाश किरणकी नितान्त आवश्यकता रहती है। यदि वह प्रकाश ऐसे समय उसे न मिले तो महान् अनर्थ होने लगते हैं। पंचतन्त्रकी यह सूक्ति सच है—

यौवनं धनसम्पत्ति प्रभुत्वमविवेकिता; एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।

धनसम्पत्ति भी अनर्थका एक कारण है, यदि उसके साथ अन्धकार है। अतः हम सर्वसुन्दर, मोहक एवं महान होनेपर भी उसके साथ अन्धकारको पसन्द नहीं करते। यही हमारी संस्कृति है। लक्ष्मीके साथ वह काला घना अन्धकार जब जब भी आता है, हम अपने असंख्य दीप जलाकर उसे दूर करना चाहते हैं। भगवान् रामने सम्पूर्ण भरतखण्डका अन्धकार दूर कर इसी दिन अयोध्यामें पदार्पण किया था और उत्सव मनाया था। बात यह थी कि उन्हें सुदीर्घकालतक कठोर तप एवं त्यागके पश्चात् विजय-श्री मिली थी, राज्य-श्री मिली थी तथा यशः-श्री मिली थी। ये सब तभी मिलती हैं जब वहांका अन्धकार दूर होजाता है। ऐसा ही रामके समय हुआ था। वे ही संस्कार आजतक अत्यन्त शुद्ध व श्रेष्ठ रूपमें हममें भी पालित और पोषित होते चले आरहे हैं।

श्रीकृष्णके अधिनायकत्वमें महाराजा युधिष्ठिरने राष्ट्रका अन्धकार दूरकर हस्तिनापुरमें ऐसाही दीपोत्सव मनाया था। समय समयपर न जाने कितनी बार राष्ट्रपर लक्ष्मीके साथही अन्धकारका काला आवरण छागया किन्तु उस समय ऐसे ही दीपक जगमगाये और उन्होंने इस आवरणको दूर किया। अन्धकारको दूर करनेवाले ये दीपक भारतको अत्यन्त प्रिय है। भारत इन्हे भगवान्की तरह पूजता रहा है और पूजता रहेगा।

भारतभूमिने समय समयपर ऐसे ही दीपक जलाये। हम भी आज दीपावलीके रूपमें दीपक जलाते हैं। वे जलते हैं- जितना स्नेह डालो उतने अधिक जलते हैं। उनकी ज्योतिष्मति लौ किस प्रकार लहरदार होकर हमारे हृदयोंमें भी जगमगाती है। उसके उस आकर्षक सौन्दर्यपर मुग्ध होकर भक्तपतङ्ग तो अपना सर्वस्व स्वाहा कर देते हैं। हम भी तो इन्हीं संस्कारोंसे संस्कृत हैं।

हमारे ही अगणित देशबन्धु भी तो इसी प्रकार अपने राष्ट्रके अन्धकारको दूर करनेके लिये दीपकके समान तिल-तिल करके जल गये। एक दो नहीं, सैकडों और हजारों जलकर भस्म होगये। आज वे सब कहां हैं? इच्छा हो तो देखे जा सकते हैं—नील आकाशके सुविस्तृत वक्षस्थलपर तथा इतिहासके स्वर्णिम अक्षरोंसे अंकित पृष्ठोंपर। इतिहासके वे पृष्ठ साक्षी हैं कि इनकी बदौलत राष्ट्रका अन्धकार समय समयपर सचमुच दूर हटा है। आज पुनः हम क्यों न आशा करें कि आज पुनः हमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य-वह लुटा वैभव-जिसके बिना हम अकिंचन हैं- मिल जायेगा। हमें तो विश्वास है कि जिन दीपोंकी बदौलत हमें राज्यश्री मिली है, उसीकी बदौलत हमें अब पुनः सुखश्री एवं यशःश्री भी अवश्य मिलेगी। वे दीपक जो इह लोक छोड चुके हैं, हमारी आत्मामें सर्वदा प्रकाश करते रहेंगे और ये दीपक जो आज हमारे राष्ट्रके अन्धकारको दूर करनेके लिये जगमगा रहे हैं— हमारे दुःख और दारिद्र्यके अन्धकारको भी अवश्य दूर करेंगे। बात केवल एक है कि—

(हम उनपर पतङ्गोंकी भांति आकर्षित होकर उन्हें सतायें नहीं; उन्हें बुझा न दें, अपितु हम उन्हें निरंतर स्नेहका दान देते रहें जिनसे उनकी ज्वलनशक्ति एवं प्रकाश-शक्ति सदा सर्वदा बढती रहे। यदि ऐसा हुआ तो ही हम सच्चे अर्थोंमें दीपावली मना सकेंगे। अन्यथा हम कृतघ्नता करेंगे उनके प्रति जो दिवंगत हैं तथा अपराध करेंगे इनके प्रति जो विद्यमान हैं। इसलिये स्नेहदान दीजिये उन्हे और इन्हे, जिससे वे अनन्त प्रकाश-दाता बनें। आज तो हमारे लिये— जब कि हम दीपावली मना रहे हैं- सर्वस्व हैं " जगमगाते वे और ये दीपक "।

बाल--पक्षाघात
अर्थात्
पोलिओ-माईलीटीस

योगीराज परिव्राजक राजवैद्य— श्री श्रीमत् ब्रह्मचारी गोपाल चैतन्य देव, पीयूषपाणी, केलेवाडी, मुंबई ४

(३)

वास्तवमें यह रोग संक्रामक है क्या ??

पाश्चात्य– विज्ञान– शास्त्रीके मतसे यह रोग "भाईरास' नामक अति सूक्ष्म–तम अणु जंतुसे उत्पन्न होता है एवं यह संक्रामक (चेपी) है अर्थात् राजयक्ष्मा, कोलेरा, डिपथिरिया, चेचक आदि रोगकी भाँति संसारमें एक शिशुके हो तो, दूसरे को भी यह रोग हो सकता है। उनके इस मत पर पहिले-पहल मेरा विश्वास था।

परंतु वास्तव-क्षेत्रमें विशेष अनुसंधानमें लिप्त होनेसे, जितना अनुभव हुआ है, उससे मनमें शंका उत्पन्न हुई है एवं मेरा विश्वास हो गया है, कि यह चेपी (संक्रामक) रोग नहीं है। इसके कारण निम्न प्रकारके हैं।

कोलेरा, प्लेग आदि रोग संक्रामक है एवं जन्तु–जन्य है। यह बात जगतके सभी लोग मानते हैं। इस कारणसे प्लेगादि रोग होते ही मानव–वृन्द विशेष सावधान हो जाते हैं एवं उस रोगका प्रतिबंधक औषधि सेवन तथा इन्जेक्शन लेकर जान बचानेका प्रयत्न करते हैं। कोई कोई तो उस देशको परित्याग करना अपना महामंगल समझते हैं— करते भी हैं।

परंतु, पोलीओ माइलीटिस तथा मिनिन जाईटीस रोग होनेसे उपर्युक्त शंका ही मानवके मनमें उदय नहीं होती है, न वे कहीं भागते हैं। संभव है, कि प्लेगादि रोगोंने अनेक–बार महामारी रूपमें प्रकाश होकर अनेक जीवोंको अपने उदर-ब्रह्मांडमें प्रवेश कराया है, इस कारणसे शायद उक्त रोगका नाम सुनते ही मानव वृन्द भयभीत हो जाते हैं; क्योंकि, दावानल सदृश उन रोगोंकी ताण्डव–लीलासे मनुष्यकुल परि-चित है।

हो सकता है कि बालक--पक्षाघात रोग भारतमें नवीन है। इस रोगने अभी तक ताण्डव संहार-- लीला प्रकाश नहीं किया; इस कारणसे इस रोगके लिए मानव इतना भयभीत नहीं हुए हैं। जो कुछ भयभीत हुए हैं उसकी जडमें है, पत्र पत्रिकाओंका प्रचारकार्य, एवं चिकित्सक मण्डलियोंका उपदेश।

परंतु, मिनिन जाईटीस रोग भारत-खंडमें नवीन नहीं है-यह पुरातन हो गया है। १९२९ या १९३० में कलकत्तामें इस मिनिन जाईटीस रोगने (गर्दन तोड बुखार) प्रलयाकार रूप धारण किया था; लेकिन प्लेग, कोलेरा चेचककी भाँति इतना संक्रामक भी नहीं था,-- मृत्यु संख्या भी महामारीकी भाँति नहीं थी। वरना,–स्वनाम–ख्यात मेलेरिया उससे सहस्र-सहस्र गुण अधिक मानवको इस लोकसे परलोक पहुँचाकर ही चुप होता है। फिर भी मेलेरियाके लिए सर्व साधारण तथा चिकि-त्सकवर्ग इतना भयभीत नहीं होते हैं,-- जितना होते हैं– मिनिन जाईटीसके लिए !!! वास्तवमें विचार किया जाय तो यह हमारे कितने बडे पाप हैं-- कितनी महान भूल है ? जिस रोगने भारत खण्डसे प्रतिवर्ष लाखों मानवोंका संहार किया है, उसके लिए सोच--विचार न करके, सोच विचार करते हैं उस-के लिए जो रोग सारे वर्षभरमें अधिकसे अधिक एक सहस्र मानवको भी संहार करनेमें असमर्थ है !! कितनी अधिक अज्ञानता, कितनी अधिक अविवेकता, कितनी अधिक मूर्खता हमारी ! खैर—

पाश्चात्य--विज्ञान--विद्के मतसे भी मिनिनजाईटीस रोग

जीवाणु बिजाणुसे उत्पन्न होता है एवं वह जीबाणु बीजाणु भयंकर विषाक्त हैं तथा संक्रामक हैं। हो सकता है, कि यमराज दूत सदृश यह भयंकर रोग जीवाणु से उत्पन्न होता है एवं यह संक्रामक भी है। परंतु वास्तव क्षेत्रमें मैं इस बातको मानने में असमर्थ हूँ। क्योंकि, मैंने अनेक मिनिन जाईटीस रोगी देखें हैं, अपनी हाथोंसे दो एक की सेवा भी की, चिकित्सा भी की, फिर भी तो मुझे मिनिन जाईटीस नही हुआ। मेरी बात त्याग करने पर भी, जो सब सद्-गृहस्थ अपने हाथोंसे मिनिन जाईटीसकी सर्व प्रकारकी सेवा कार्य की, फिर भी उनमेंसे भी तो, किसी को भी मिनिन जाइटीस नहीं हुआ ? जिस गृहस्थके घरमें एकको मिनिन जाईटीस हुआ वह जीवाणु बीजाणुजन्य संक्रामक रोग होनेपर भी उस गृहस्थके घरमें दूसरेको क्यों इस मिनिन जाईटीस पाजी रोगने अपना शिकार नहीं बनाया ?

यह भी दाखिला देखने तथा सुननेमें नहीं आया कि एक ही गृहस्थके घरमें एकसे अधिक मिनिन जाइटीस केस नहीं हुआ, --न उस महल्ला भरमें ही दूसरे रोगी क्यों नहीं होते हैं ? एक उग्र वर्जीला क्षय रोगीके शरीरसे जितने L. B. के जन्तु निकलते हैं; इतने मानव इस संसारमें विद्यमान ही नहीं है-- ऐसा पाश्चात्य विज्ञान-- शास्त्रियोंका मत है। जब उग्र वर्जीक्षा-क्षय इतने अधिक बीजाणु--जीवाणु उत्पादक है, तब मिनिन जाईटिस जैसा महा भयंकर एवं अति शीघ्र (उग्र वर्जीला क्षयसे भी) मारनेवाला मिनिन जाईटीस रोग भी तो अवश्य ही बर्जिला क्षयसे भी अधिक विषाक्त बीजाणु उत्पादक होना चाहिए यदि मान लिया जाय कि मिनिन जाइटीस भी अत्यधिक विषाक्त जीवाणु उत्पादक है, तो उस रोगकी सेवा करनेवाले तथा जिस गृहस्थके घरमें उक्त रोग होता है उस संसारके दूसरे मानव को, तथा उस महल्लाके दूसरेको क्यों नहीं मिनिन जाइटीस होता है ?

उक्त कारणोंसे शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है, कि मिनिन जाइटीस रोग वास्तवमें विषाक्त जीवाणु- कीटाणुओंसे उत्पन्न होता है क्या ? साथ ही यह भी शंका उत्पन्न होती है कि यह रोग वास्तवमें संक्रामक है क्या ? यदि संक्रामक हो तो, उसकी सेवा करनेवाले, तथा उस गृहस्थके घरमें तथा उस महल्लामें यह विषाक्त रोग दूसरेको क्यों नहीं आक्रमण करता ?

पाश्चात्य-विज्ञान-शास्त्रियोंका मत है कि मिनिन जाईटीस-रोग- जन्तुकी परीक्षाके लिए मेरु दण्डस्थ मज्जा रूपी जलसे पता लगता है। हो सकता है कि मेरुदण्डस्थ मज्जा रूपी जलमें रुग्णावस्थाके कारण विकृति आजाती है उसी विकृतिमें उन्हें मिनिन जाईटीसका जन्तु मिलता है। लेकिन, उसका उपचार (चिकित्सा) यथोपयुक्त नहीं होता है, जिसके लिए अधिकांश बीमार ही खराब हालतमें पहुँच जाता है। कदाचित दो एक बीमार सुधर जानेपर भी सदा ही अस्वस्थ जैसा रहता है एवं उसका मस्तिष्क बराबर काम नहीं करता है। मेरी इस बात की सत्यता प्रायः सभी सज्जन जानते हैं।

जब इतने प्रबल प्रचेष्टाके बाद मिनिन जाइटीसके जन्तुका अविष्कार हो गया, एवं उसकी चिकित्सा विधि भी डाक्टरी विज्ञानानुसार बराबर होती है, फिर भी वह रोग साध्य न होनेका कारण क्या है ? उसमें कौनसी गलती रह गयी है, जिसके लिए उस रोगमें सफलता नहीं मिलती है ? मैं आगेके परिच्छेदमें इसका कारण सविस्तार वर्णन करूंगा।

अबतक जितना विवेचन किया गया है, उससे प्रत्येक विज्ञ सज्जन, चिकित्सक मण्डली अवश्य समझ गये होंगे कि, मिनिन जाईटीस रोग पाश्चात्य विज्ञान-शास्त्रीके मतसे जन्तु-जन्य होने पर भी, वह संक्रामक नहीं है ! उस रोगका संक्रामकताका कोई भी प्रमाण नहीं मिलता है। भले ही पाश्चात्य-विज्ञान-विद् इस रोगको संक्रामक मान लें, परंतु वास्तव-क्षेत्रमें जब उसका संक्रामकता का कोई प्रमाण नहीं मिलता है; तब सर्व-साधारणको चाहिए कि इस रोगको संक्रामक समझ कर, भूल न करें एवं न घबरावे।

बालक-पक्षाघात यानी पोलीओमाईलीटिस रोग, मिनिन-जाईटीसका वैमात्र-भ्राता जैसा है। मिनिन जाईटीस रोगमें जितने प्रकारके उपसर्ग पहिले-पहल होता है, पोलीओमाइलीटीसमें भी वैसा ही उपसर्ग पहिले-पहल शुरू होता है। परंतु सब रोगी में नहीं। कोई कोई रोगीमें मिनिन जाइटीस जैसा लक्षण (उपसर्ग) प्रकाश पाता है, एवं ज्वरावस्थामें अथवा ज्वर त्याग होनेके बाद रोगीका एकांग अथवा पैर वा एक हाथ अकर्मण्य (पक्षाघात) हो जाता है। कोई कोई बालक-पक्षाघात रोगी को,

मलेरिया जैसा तीव्र ज्वर होनेके ३।४ रोजके बाद ज्वर उतर जाता है तब मालूम पडता है कि उसका पैर वा हाथ अकर्मण्य हो गया है; परंतु उसके मस्तिष्क को किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता है। ज्वरावस्था में भी उसके मस्तिष्क का विकार वा प्रलापावस्था नहीं होती है।

पैर अकर्मण्य हो जानेसे डाक्टर वृन्द कहते हैं, कि उसे पोलीओमाईलीटिस हो गया है, परंतु उसी विज्ञानका मत है, कि पोलीओ रोग (आगे पोलीओमाइलीटीस इतने बडे शब्दके स्थान पर केवल "पोलीओ" शब्द लिखूंगा, डाक्टरीमें भी संक्षेपमें इसे केवल "पोलीओ" ही कहा जाता है) होनेसे मस्तिष्कमें विकार आना ही चाहिए। जब पोलीओ हो गया, फिर भी मस्तिष्कमें विकार क्यों नहीं आया? इसका दो उदाहरण (दाखिला) मेरे पास मौजूद है। पहिले मेरा अपना बालक जिसे १९४२ में दोनों पैर अकर्मण्य हो गया था। दूसरे ज्योतिःबाला नाम्नी एक सात वर्ष की बेबी (वर्तमान में उसकी उम्र १० वर्षकी है) काफी प्रयत्न करनेके बाद मेरा बालकका पैर ठीक हो गय। ज्योतिःबालाका पैर अभी तक ठीक नहीं हुआ; परंतु वह चल फिर सकती हैं। उसे अति साधारण कष्ट होता है। परंतु इन दोनोंकी बीमारी की स्थितिमें मस्तिष्क अच्छा था।

अब विचार्य बात यह है, कि जब पोलीयो हो गया, फिर भी मतिष्कमें विकार क्यों नहीं? अधिकंतु न उसका गर्दन सख्त हुआ, न उसका श्वासोच्छ्वासमें कष्ट रहा, फिर भी उसका पैर रह गया। पोलीओ होनेसे गर्दन सख्त होनी चाहिए, श्वासोच्छ्वासमें कष्ट होना चाहिए यह मत पाश्चात्य विज्ञानका है। मान लीजिए कि मेरे बालकके रोगके समय उसे किसी पास किए हुए डाक्टर को नहीं बताया था, परंतु ज्योतिःबालाके रोगके समय डाक्टरको बताया गया था; एवं डाक्टरोंका मत है, कि यह पोलीओ है, क्योंकि पैर अकर्मण्य हो गया है।

पोलीओका दूसरे उपसर्ग न मिलने पर भी पैर पंगु होजानेसे उसे पोलीओ मान लेना उचित है या नहीं यह विचार्य्य बात है। यदि उसे पोलीओ ही माना जाय तो उसे रुग्णावस्थामें मस्तिष्कमें विकार आना ही चाहिए यह पाश्चात्य मनीषिका मत है। तो मस्तिष्क में विकार क्यों नहीं आया एवं श्वासोच्छ्वासमें भी कष्ट नहीं हुआ? फिर भी पैर पंगु विचारणीय बात है। खैर—

पोलीओ संक्रामक है क्या?

अब इस बातका विचार करना चाहिए कि पोलीओ रोग संक्रामक है क्या? मैं पहिले ही लिख चुका हूँ कि पोलीओ रोग मिनिन जाइटीसका वैमात्र भ्राता है। मिनिन जाइटीस रोग जिस प्रकारसे संक्रमण नहीं होता है, उसी प्रकारसे पोलीओ रोग भी संक्रामक नहीं है, यह मेरा आत्म-विश्वास है।

केवल मेरा आत्म विश्वास ही नहीं, वास्तव क्षेत्रमें भी देखा है कि मिनिन जाइटीस रोगकी भाँति यह संक्रामक नही है। क्योंकि, इस एक वर्षके भीतर मैंने अनेक पोलीओ रोगीको देखा है। जिस महल्लामें एक पोलीओ रोगी देखा, उस महल्लामें दूसरे बालक बालिकाएँ पोलीओंका शिकार नहीं बनी। महल्ला तो छोड दीजिये, उस गृहस्थके घरमें भी अनेक बालक बालिकाएँ होते हुए भी; दूसरेको पोलीओ नहीं हुआ। यदि वह संक्रामक हो तो महल्ल में दूसरे को क्यों नहीं पोलीओ होता है। महल्ला की बात छोड देने पर भी जिस गृहस्थके घरमें एक पोलीओ बीमार हुवा, उस घरमें दूसरे बच्चे रहते हुए भी दूसरे बच्चेको क्यों नहीं पोलीओ हुवा है? जब सर्व साधारणमें पोलीओके सम्बंधमें कोई ज्ञान ही नही था, तब भी तो पोलीओ रोगीके साथ रहनेवाले बच्चे को नहीं हुआ? इसका कई एक दाखिला मेरे पास विद्यमान है। केवल एक दाखिला देता हूँ।

बोम्बेके उपनगरमें एक सज्जन के घरमें गत नवेम्बर महीनामें "ज्योत्स्ना" नाम्नी एक बेबीको पोलीओ हुआ। सुचिकित्सा होनेपर भी दिन दिन उसकी स्थिति खराब होती गई। रोगकी गंभीरतासे घबडाकर "ज्योत्स्ना" को शहरमें लाकर एक पोलीओ क्लीनिकमें रक्खा गया तथा पाश्चात्य विज्ञानानुसार सर्व प्रकारकी सुचिकित्सा होने लगी। फिर भी उसकी स्थिति विशेष खराब होती गई। जबसे क्लिनिकमें आई, तब से नित्य ही उसके मेरुदण्ड से मज्जारूपी जल निकाल कर परीक्षा होती थी, उस समय उसकी स्थिति निम्न प्रकार थीः—

हरवक्त ज्वर रहता, ज्वर कभी १०२ डिग्रीसे नीचे नहीं आता था, कुछ भी पथ्य पिलाया जाय तो उसी वक्त उल्टी करके निकाल देती थी। सदा ही अस्थिरता, नींद नहीं आती थी, मल मूत्रमें विकार होनेसे वह नहीं निकलता था, यंत्रकी सहायतासे टट्टी पेशाब कराया जाता था, प्रायः सब समय ही प्रलाप बकती थी, गर्दन की शिरा तथा मांस पत्थर जैसा सख्त हो गया था। मस्तिष्कका पीछेका भाग भी सख्त हो गया था। आँखोंकी ज्योति नाश हो गई थी एवं आँखें टेढी हो गई थी तथा सदा शिवनेत्र यानी आँखें उल्टी कर रखती थी। इसके उपरांत कभी कभी दो चार घण्टेमें श्वासोश्वासमें कष्टके साथ हिक्का (हिचकी) की प्रबल दौड होती थी मानो अभी उसका जीवनांत हो जायगा।

सर्व प्रकारके लक्षणोंके साथ विचार करके इस रोगको डाक्टर वृन्द उग्र पोलीओ कहते थे। कोई कोई विज्ञ डाक्टर यह भी कहते थे, कि यह Tubercular meniregitis है एवं यह रोग असाध्य अवस्थामें पहुँच गया है, किसी भी हालतसे यह रोग अच्छा नहीं हो सकता न वह बच सकता है न उसे ज्ञान ही हो सकता है।

पोलीओ क्लिनिक के मालिकसे लेकर सर्व मण्डली ज्योत्स्ना बेबीके लिए महान दुःखी हो गये थे। उसके माता-पिता पोलीओ क्लिनिकके मालिक तथा डाक्टर साहेबकी अनुमति लेकर मुझे दिखानेके लिए ले गये। उसे देखकर मैं भी हताश हो गया। परंतु मेरी एक आदत ऐसी है कि मैं निराशाके भीतर आशा का संचार कैसा हो सकता है, हमेशा ही उसके अनुसंधान में रहता हूँ - यहाँ भी उसी आशाको सुहृद बनाकर, परम करुणामय श्री श्री सद्गुरु महाराजके श्री श्री चरणसरोजों में पूर्ण विश्वास रखकर चिकित्सा शुरु की। मेरी सभी दवाईयाँ आयुर्वेदिक है तथा स्वयं ही बनाता हूँ।

पहिली मात्रा दवासे ही उसकी प्रलापावस्था बन्द होकर दो घण्टे की नींद आई। अनेक दिनोंसे वह अज्ञानावस्थामें पडी रहती थी, नींद नहीं आती थी। दूसरे दिन उसकी स्थिति इतनी सुधर गई कि, उसे जो प्रख्यात डाक्टर साहेब इलाज करते थे, वे देखकर खुश हो गये एवं कई बार c. k.-o. k बोले। धीरे धीरे वह स्वस्थ होने लगी। उसकी स्वस्थता देखकर उसके पिता ६।७ रोज बाद अपने घर ले गये।

उसका ज्वर बंद करनेके लिए उसे स्टेप्ट माईसिन का Injection रोजाना दो बार देता था। उसके भी लगभग दो महीनामें उसका ज्वर बन्द नही हुआ। परंतु आयुर्वेदिक दवाओंसे ८।१० दिनके भीतर ही उसका ज्वर एकदम बन्द हो गया था। धीरे धीरे यह स्वस्थ होती गई। केवल मात्र आँखमें ज्योतिः नहीं आई। लगभग डेढ महीनाके बाद दूसरे कोई कारणसे उसका स्वर्ग वास हो गया। उस को मैंने आयुर्वेदिक सिद्ध औषधियोंसे ही चिकित्सा की थी उन सब दवाइयोंका सर्व विवरण तथा तैयारी की विधि आगे सविस्तार इस लेखमालामें प्रकाश करूंगा। केवल पोलीओ ही नहीं सर्व प्रकारके असाध्य रोगी को ही, उन्हीं दवाओंसे आप साध्य बना सकते हैं। खैर,

इतना लिखनेका मतलब यही है कि पोलीओ रोग यदि संक्रामक हो तो, ज्योत्स्ना घरमें रहती थी, तब दूसरेको यह रोग क्यों नहीं हुआ? न उस महल्लामें ही किसीको यह रोग हुआ है?

दूसरे, मैंने बोम्बमें ही और कइ एक पोलीओ केस देखे, वहाँ भी वही बात है, जिसे पोलीओ हुआ, उसके सिवाय दूसरे को, उस खोलीमें, उस बिल्डींगमें तथा महल्लामें और पोलीओ नहीं हुआ!

तीसरे, संक्रामक रोगका नियम ऐसा है, कि जिस घरमें वा खोलीमें संक्रामक रोग होता है, सबसे पहिले उसी घरके वा उसी बिल्डींगके दूसरेको यह रोग होना ही चाहिये, यदि वे लोग उसके लिए खास व्यवस्था न करें तो। पोलीओ तथा मिनिन जाइटीस रोगके सम्बंधमें जनता अज्ञ है। सब रोगोंके लिए क्या क्या सावचेती ली जाती हैं तथा लेना चाहिए, यह भी ये लोग नहीं जानते हैं एवं सावचेती नहीं लेते हैं; फिर भी इतनी सुविधा मिलने पर भी वे रोग दूसरे को (उस घर वा महल्लाके) क्यों नहीं अपना शिकार बना लेते हैं?

उन दोनों रोगोंके लिए डाक्टर विज्ञानानुसार Precoution की दवा वा Injection अबतक नहीं निकला है-जैसा, टाईफाइड, कॉलेरो, चेचक आदि का निकला है। अतः

किसी भी प्रकारका Precaution न लेनेपर भी, रोगीके पास रहनेवालेको यह रोग नहीं हुआ है। अतः इस कारणसे कैसे इन रोगोंको संक्रामक मान सकता हूँ ?

चौथे—बोम्बे शहरमें सारे वर्षभरमें, जबसे इस रोगके लिए बहुत आन्दोलन शुरु हो गया था, तबसे आजतक इतने बडे शहरमें पांचसौ रोगी भी पोलीओ रोगसे आक्रांत नहीं हुए हैं एक रोगी कोलाबा, एक फोर्ट, एक कालबादेवी एक दादर, एक कुर्ला, एक शान्ताकुज, इस ढंगसे, इतने दूर दूर पर एक एक रोगी हो गया है। जब इतना दूर दूर पर एक केस होता है, तब कैसे मान सकता हूँ कि यह रोग संक्रामक है !

पाँचवा, डाक्टरी विज्ञानके मतानुसार पोलीओ रोगका जन्तु मेरुदण्डके मध्यस्थ मज्जा रूपी जलमें रहता है। यह जन्तु इतना सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते हैं कि चालु अणुवीक्षण यंत्र से उसका पता नहीं चलता था। तब विज्ञान विद् पोलीओ रोगीका मेरुमध्यस्थ मज्जारूपी जल निकाल कर, बन्दरों के शरीरमें प्रवेश कराते थे। उससे बन्दरोंको पोलीओ रोग हो जाता था। उसीके ऊपर विश्वास स्थापन कर विज्ञानविद् प्रकाश किए कि पोलीओ रोगका जन्तु है।

उनकी दूसरी परीक्षा यह रही कि पोलीओ रोगी मरनेके बाद, उसका मृत देहको Oparatian कर मेरुदण्ड निकाल कर उसकी परीक्षा की। उस परीक्षा से उन्हें पता चला कि मेरु मध्यस्थ मज्जामें एवं स्नायुमण्डलियोंका जहाँ संयोग है, उसी स्थान पर ही पोलीओ जन्तुका अड्डा है एवं उस स्थानके मांस पेशिओं तथा स्नायुओंको पोलीओ जन्तु खा डालते हैं।

मेरुदण्डके सिवाय भी दूसरे दूसरे स्थानोंमें पोलीओ जन्तु अपने किले बाँधते हैं। कहीं भी किला बाँधे, वहाँ मज्जा होनी ही चाहिए, फिर वह मज्जा मजबूत हड्डीके भीतर ही रहता है। मैं आगे बताऊंगा कि ऐसी मजबुत हड्डीके भीतर कैसे मज्जाकी उत्पत्ति होती है। संक्षेपमें आयुर्वेदके मतानुसार—

अस्थि यत् स्वाग्निना पक्वं तस्य सारो भवेद्धि यत्। यो मेदोवत् पृथग्भूतः स मज्जेत्यभिधीयते ॥

जीवित शरीरमें अस्थिमें जो अग्नि रहती है, उसी अग्निसे अस्थि (हड्डी) परिपक्व होनेसे उससे जो मेद जैसा स्नेह पदार्थ निकलता है, वही मेदवत् घन सार पदार्थ (सार-वस्तु) पृथक् (अलग) होता है, वही मज्जा है।

मजबूत हड्डीके अन्दरके सिवा दूसरे स्थान में कभी भी मज्जा नहीं जमता। दूसरे स्थानोंमें जो मज्जा जैसा मेद जमता है, वह मज्जा नहीं है, वह मेद यानी चर्बी है। मज्जा तथा मेद दोनों पृथक् वस्तु हैं।

पाश्चात्य विज्ञान शास्त्रीके मतसे पोलीओका भाइरास जन्तु मेरुदण्डस्थ उक्त मज्जा रूपी जलमें अड्डा जमाकर जीव को रोगग्रस्त करते हैं सुधी पाठक महोदयोंको स्मरण रहा होगा कि, मैंने पहिले लिखा था, कि भाइरास जन्तु किसी भी प्रकारसे मेरुदण्डस्थ मज्जामें प्रवेश नहीं कर सकता। क्योंकि वहाँ पहुँचनेके लिए उसे कोई मार्ग नहीं है। तद्वत् यदि पाश्चात्य विज्ञानविद् के मत से मानही लिया जाय कि, उसी मज्जामें भाईरास जन्तु विद्यमान रहता है एवं रोगकी तीव्रता तथा प्रकोप के समय वह बाहर निकलता है। तब यहाँ आप ही आप प्रश्न का उदय होता है कि इतनी मजबूत हड्डीका अन्दरके मज्जासे भाईरास जन्तुको निकलनेका मार्ग कौनसा है ?

जीव शरीरसे रोग जन्तु निकालनेका मार्ग निम्न प्रकारके हैं:—(१) नासिका के मार्गसे प्रश्वासके समय, (२) मुख मार्गसे, (३) मूत्र मार्गसे, (४) मल द्वारसे, (५) त्वचाके रोमस्थ कूप मार्गसे, पसीने के साथ, (६) आँखोंसे जलके साथ। अब विचार इस बातका है कि भाइरास जन्तु जो मेरुमध्यस्थ मजबूत हड्डीके भीतर मज्जामें रहता है, वहाँ से वह कैसे बाहर आ सकता है? मेरु मध्यस्थ मज्जासे जब उसे बाहर आने का मार्ग नहीं है, तब वह बाहर नहीं आ सकते हैं जब बाहर नहीं आ सकते हैं, तब वे संक्रामक कैसे हो सकते हैं? डाक्टरी मतसे यदि वे संक्रामक ही हों तो, तब हमारे देशमें एक ही गृहस्थ के घरमें एक शिशुके सिवाय दूसरेको क्यों नहीं पोलीओ होता है। इसके कई एक दाखिला ऊपरमें लिख चुका हूँ।

ऐसा भी दाखिला अमेरिकामें पढनेमें आया कि उक्त

महादेशमें एकही गृहस्थके घरमें एकसे अधिक केस हुआ है। हो सकता है इसका कारण पंखानुपुंख रूपमें अनुसंधान तो वहाँ के विज्ञान्‌विद् ही कर सकते हैं। हमारे देशमें इसका उदाहरण विद्यमान नहीं है; अतः हम इसका अनुसंधान नहीं कर सकते।

कुछ भी हो, मेरी मान्यता तो ऐसी है, कि यदि पोलीओ रोग जन्तु-जन्य भी हो तो, भी यह संक्रामक नहीं है। अतः सुज्ञ सज्जनोंसे नम्र निवेदन है, कि आप इसकी संक्रामकता मानकर न घबराएं। यह संक्रामक ही नहीं है- यह मिथ्या प्रचार मात्र है।

कोई कोई अनुमानविद् (अन्दाजवाले) डाक्टरोंका मत है कि भाईरास जन्तु नासिका अथवा मुख मार्गमेंसे शरीरमें प्रवेश कर, रक्तमें मिल जाता है एवं वही रक्तका प्रवाह मेरु मध्यस्थ मज्जाके साथ संयोग रहनेसे, वह मज्जाके भीतर प्रवेश कर अड्डा जमाते हैं। उनके यह मत अनुमान यानी आन्दाजके ऊपर हैं। अतः यह असत्य है। क्योंकि, नासिका तथा मुखमार्गसे जो जन्तु प्रवेश करते हैं, उसकी स्थिति कैसी होती है, वे क्यों मज्जाके भीतर प्रवेश नहीं कर सकते, इन सबका खुलासा मैं पहिले ही कर चुका हूँ।

अब बात रही,--मज्जाके भीतर रक्त प्रवेश कर सकता है या नहीं? आयुर्वेद तथा योग शास्त्रके मतानुसार मज्जाके साथ-शोणित स्रोतके प्रवाहका संयोग नहीं है। शोणित स्रोत मज्जाके चारों ओर दीवाल रूप जो मजबूत हड्डी रहती है, उसके बाहरसे प्रवाहित होता है एवं हड्डीको मजबूत बनाता है। उसी रक्तकी गर्मीसे जीवित शरीरकी हड्डियाँ भी नर्म रहती हैं एवं उसी हड्डीकी गर्मीसे मेद रूपी स्नेह पदार्थ अति सूक्ष्म रूप में निकलती है, वह स्नेह पदार्थ हड्डीके भीतर जमता रहता है, वही मज्जा है। अतः कार्य्य कारण वश भाइरास जन्तु यद्यपि रक्तमें मिल भी सके तो भी, मज्जामें पहुँच नहीं सकते। अतः यह असंभव जैसी बात है। क्योंकि, रक्तके साथ मज्जाका सीधा संयोग नहीं है। कोई विज्ञान शास्त्री यदि बोले, कि रक्तके साथ मज्जाका सीधा संयोग है, तो पोलीओ तथा मिनिन जाइटीस रोगीकी मज्जास्थ जल न निकाल कर, रक्तकी परीक्षा क्यों नहीं करते? यदि मज्जाके साथ रक्तका संयोग हो तो रक्तकी परीक्षामें ही तो सब तत्त्व निकाल सकते हैं। उक्त कारणोंसे आपही आप प्रतिपादित होता है कि उनके वह " अनुमान " सर्वथा असत्य हैं।

कोई कोई विद्वान् शास्त्री का मत है कि भाईरास जन्तु दो हड्डीका संयोग स्थल (संधिस्थान) के भीतरसे मज्जामें प्रवेश करते हैं। ये बात भी मुझे असत्य ही मालूम पडती है। क्योंकि दो हड्डीके संयोग स्थल में यथेष्ट (प्रभूत) परिमाणमें मेद रूपी स्नेह पदार्थ रहता है। चलने फिरनेमें अशक्त निर्जीव जैसा सजीव अति सूक्ष्मतम भाईरास जन्तु इतने मेदको पार कैसा करेंगे?

इतने मेदको पार करनेके लिए उनके पास एक मार्ग है, वह है संधि स्थानके मेदको खा जाना यदि ऐसाही मान लिया जाय कि भाईरास जन्तु हड्डियों के संधि स्थानको खा जाते हैं, तो वही संधि स्थान में पोलीओ रोग की उत्पत्ति न होकर, मज्जामें क्यों पोलीओ रोग होता है?

यदि मान लिया जाय कि हड्डियोंके संधिस्थानका मेदको खाकर, रोग उत्पन्न न करके भी भाईरास जन्तु मज्जामें पहुँच जाता है, ये बात भी मेरी दृष्टिसे असंभव जैसी है। क्योंकि, हड्डीके भीतर पहिले रबर जैसे नलके रहते हैं, उसी नल के भीतर मज्जा रहता है। उसी रबर जैसे सख्त नल को योगशास्त्र तथा आयुर्वेद शास्त्र सुषुम्णा नाडी कहते हैं। इस सुषुम्णा नाडीके भीतर मज्जा रहता है। योगशास्त्रानुसार उसके भीतर और तीन नाडियाँ विद्यमान हैं, जिनके नाम है वज्राणि, चित्राणि, तथा ब्रह्मनाडी। पाश्चात्य मनीषियोंको इन नाडियोंकी खबर अबतक मालूम ही नहीं हुई। खैर उस सुषुम्न नाडीके भीतर मज्जा रहता है। इस मज्जामें भाईरास जन्तु रहता है।

अब विचार्य्य यह बात है कि मेरुदण्डस्थ हड्डियोंके संधिस्थानके मेदको खाकर भाइरास जन्तु सुषुम्णाके पास पहुँचना एवं रबर जैसा सख्त सुषुम्णा नाडीको भेद करना निर्जीव जैसा सजीव सूक्ष्मतम कीटाणुके लिए संभव है? क्यों? यह भी असंभव जैसी बात है।

पाश्चात्य विज्ञानका मत है कि मानव शरीरस्थ मेरुदण्डके भीतर जहाँ स्नायु मण्डलियोंका संयोग है, उसी स्थान पर ही साधारणतः भाईरास जन्तु आक्रांत करके रोग उत्पन्न करता है।

योगशास्त्रके अनुसार तीसरे चक्र मणिपुर (षट् चक्रके अन्तर्गत) मणिपुर चक्र ही स्नायुओंके केन्द्रस्थान है। यह मणिपुर चक्र नाभिकुण्डसे सीधा मेरुदण्डके भीतर है। इस मणिपुरचक्रसे जो नाडी नाभिकुण्डमें आई है, उसीके साथ माता तथा संतानका संयोग रहता है। माताके गर्भमें जब संतान रहती है, उस समयसे प्रसव काल पर्यन्त माताके शरीरसे सर्व तत्त्व तथा सर्व पोषण पदार्थ संतान को केवल-मात्र यही नाभिकुण्डस्थ नाडीसे मिलता रहता है। वह सर्व तत्त्व तथा सर्व पोषण पदार्थ माताके शरीरसे उस नाभिस्थ नाडी द्वारा भ्रूण ग्रहण करता है अथवा प्राकृतिक नियमानुसार आप ही आप माताका शरीरके सर्व सार पदार्थ (पोषणार्थ) भ्रूणके भीतर प्रवेश कर मणिपुर चक्रमें जमा होता है। वही मणिपुर चक्र ही सर्व शरीरका केन्द्रस्थान है, प्रायः सर्व स्नायुओंका भी केन्द्रस्थान है। उसी मणिपुर चक्रसे सर्व प्रकारके पोषण तत्त्व सर्व शरीरमें स्नायुओंके द्वारा फैल जाता है। इसी नाभिकुण्डस्थ नाडीको काटकर ही संतान तथा माताको अलग किया जाता है।

इस मणिपुर चक्रको योगिवृन्द शरीरका एक प्रधान स्थान मानते हैं। इस चक्रका अंगरेजी नाम Epigastric Plxus है। यह चक्र सुषुम्णा विवरमें जहाँ स्थित है, वहाँ ही स्नायु मण्डलिओंका केन्द्र स्थान है। डाक्टरी मतसे उसी स्नायुकेन्द्रके स्थानपर भाइरास जन्तु अडा जमाते हैं एवं उस स्नायु केन्द्रको खाकर पोलीओ रोग उत्पन्न करते हैं। इस कारण से पाश्चात्य बिज्ञान शास्त्री नाभिकुण्डसे सीधा पीठ-की तरफसे मेरु मध्यस्थ मज्जा रूपी जल निकाल कर परीक्षा करके बताते हैं कि रोग पोलीओ माइलीटिस है या मिनिन जाइ-टीस है। यह मेरुदण्डस्थ मज्जा रूपी जल शरीर रक्षाके लिए अत्यन्त उपयोगी महत्त्व की वस्तु है, जो रक्तसे भी शतें शत गुण अधिक मूल्यवान शारीरिक उपादान है। इस विषयको आगे सविस्तार लिखूंगा। शरीरके भितर रक्त कम होनेसे डाक्टर वर्ग रक्त प्रवेश कराते हैं; लेकिन मेरुमध्यस्थ मज्जा प्रवेश नहीं करा सकते। वही महामूल्य वस्तु मज्जा निकालनेसे ही साध्य रोगी भी असाध्य हो जाता है। कदा-चित साध्य भी हो जाय तो, रोगी या तो चिररुग्ण रहता है या उसके शरीरका कोई अंश अकर्म्मण्य हो जाता है। खैर।

अब विचार्य्य विषय यह है कि मेरुमध्यस्थ वह स्नायु केन्द्रमें भाइरास जन्तु कहाँ से प्रवेश करते हैं। क्यों कि संतान प्रवेशके बाद माताके साथ जो नाभिकुण्डस्थ नाडी-का संयोग रहता है, उस नाडीके छेदनके बाद वह नाडी सूखनेके साथ ही साथ वह मार्ग बन्द हो जाता है। फिर उस नाडीसे सन्तान कोई भी पोषक पदार्थ ग्रहण नहीं कर सकता। तब प्राकृतिक नियमानुसार उसका मुख मार्ग ही पोषण का प्रधान द्वार होता है और भी द्वार होते हैं, लेखके विस्तर भयसे इस विषय पर लेखनी बन्द करनी पड़ी। उस तत्त्वके साथ पोलीओका कोई संयोग भी नहीं है।

अबतक जितनी आलोचना की गई है, उससे सुविज्ञ पाठक-वृन्द समाहित चित्र से विचार करेंगे तो, उन्हें अवश्य ही अनुभव होगा कि मानव शरीरके मज्जाके भीतर भाइरास जन्तुओं का जैसा प्रवेश मार्ग नहीं है- वैसा ही भाईरास जन्तुओं को मज्जासे निकालने का भी मार्ग नहीं है। सुतरां **यह संक्रामक रोग कैसे हो सकता है ?** डाक्टर मतसे संक्रमणता का प्रत्यक्ष प्रमाण कुछ नहीं मिलता है। वे अनुमानसे इसे संक्रामक मानते हैं।

अनुमान सदाही संशय का विषय है, उसमें कदाचित ही सत्यका समावेश रहता है।

बन्दर पर परीक्षा।

पाश्चात्य मनीषि-वृन्द प्रायः प्रत्येक रोग की परीक्षाके लिए अधिकांश स्थानपर, बन्दरोंको ही उपयोगमें लेते हैं। उनकी मान्यता तथा विश्वास ऐसा है कि मानव कुलका वृद्ध प्रपि-तामह बन्दरही थे। अर्थात् मानव वृन्दके पहिले बन्दर वृन्द थे। उसीका वंश परम्परासे प्राकृतिक संयोग वियोग से धीरे धीरे मानवका जन्म हुआ। सारांश यह है कि; हमारे आदि पुरुष बन्दर ही हैं भले ही वे इस बात पर विश्वास रक्खें, परंतु हम सनातनियोंका संस्कार इससे सम्पूर्ण पृथक् है। सना-तनियोंका संस्कार है, कि उनके आदि पुरुष परब्रह्म परमात्मा है। खैर इस विषय के तर्कवितर्क को प्रशांत महासागरके सुगंभीर जलमें विसर्जन कर, मूल विषयको लेता हूँ।

शारीरिक शास्त्र के हिसाब से (पाश्चात्य विज्ञानके मता-नुसार) मनुष्य तथा बन्दरका सर्वावयव लगभग एकसा है। इस कारणसे वे जैसा मानव वृन्दका पूर्व पुरुष बन्दरको मानते

है, वैसा ही कोई रोग नया तथा औषधियोंकी परीक्षाके लिए साधारणतः बन्दर पर ही प्रयोग करते हैं।

पोलीओ की परीक्षा भी वैसे ही की। पोलीओ रोगीका शरीरसे विषाक्त पदार्थ निकाल कर बन्दर के शरीरमें प्रवेश कराया तो बन्दरों को भी पोलीओ रोग हो गया। सर्व प्रथम इसी परीक्षा पर निर्भर (विश्वास) करके पाश्चात्य पण्डित वर्ग प्रचार किए कि पोलीओ जन्तु जन्य है तथा संक्रामक है। उस समय Microscope से पोलीओ जन्तुका पता नहीं लगा सका, वह जन्तु इतना सूक्ष्माति सूक्ष्म है। फिर भी प्रकाश किए कि पोलीओ जन्तुजन्य रोग है। वर्तमान समयमें Electromicroscope से वह सूक्ष्मतम जन्तुका पत लगा है ऐसा प्रकाश किए हैं।

कोई भी बीमारका शरीरस्थ विषाक्त वस्तु लेकर बन्दर वा मानवके शरीरमें प्रवेश कराया जाय तो; उसे यह रोग होगा यह स्वाभाविक बात है। ऐसी परीक्षासे ही उसे संक्रामक मान लेना, आत्म प्रवंचना के अतिरिक्त और क्या है?

ऐसा मानव भी विद्यमान है, जिसका शरीरमें रोगक, प्रतिषेधक तत्त्व विद्यमान रहता है। उसके शरीरमें रोग-विष प्रवेश करानेसे भी उसे रोग नहीं होता वरना रोगविष वा, रोगजन्तु नाश हो जाता है। वैसा चेचक का टीका लगाने पर भी अनेक के शरीरमें टीका का कुछ भी असर नहीं होता--

इस प्रकारसे सूक्ष्म विचार किया जाय तो पोलीओ रोग संक्रामक है, यह बात आत्मा नहीं मानती है। इसका दाखिला पहिले लिख चुका हूँ। बन्दर पर विषाक्त तत्त्व प्रवेश करानेसे बन्दर को पोलीओ होता है- इसीलिये पोलीओ है, ऐसा मान-कर अपनी इच्छाशक्ति को खर्च न करना चाहिए। वरना यह विश्वास दृढ रखना चाहिए कि पोलीओ एक प्रकारका "रोग" है सही लेकिन वह संक्रामक नहीं है।

पोलीओका जितने प्रकारके उपसर्ग पाश्चात्य शास्त्री वृन्द प्रकाश किए हैं, उस सम्बधमें मैं उनके साथ सहमत हूँ, क्योंकि मुझे जितने पोलीओ रोगी मिले, उनके उपसर्ग तद्रूप ही थे। अतः उनके लिखित लक्षण सत्य है इसके लिए वे सदा धन्यवादके पात्र हैं।

अब देखना चाहिए कि आयुर्वेद की दृष्टिसे यह पोलीओ रोग क्या है एवं यह साध्य है या नहीं?

केला की उपकारिता

[लेखक—योगीराज परिव्राजक राजवैद्य-श्री श्रीमत् ब्रह्मचारी गोपाळ चैतन्य देव, पीयूषपाणी, केळेवाडी, मुंबई ४]

सुजलां-सुफलां-शस्य-श्यामलां भारत माता अनेक प्रकारके सुरसाल फलद्रुम देश है। इनकी गोदमें जितने प्रकारके सुमधुर फल उत्पन्न होते हैं, उनमेंसे आम्रफल सर्वोत्कृष्ट, सर्वत्र-व्यवहार एवं सुपरिचित है। परंतु गत-वर्ष असमयमें प्राकृतिक-दुर्योगसे आम्रफलका अधिकांश भाग नाश हो जानेके कारण, हम जैसे गरीबगरवाके लिए वह "आकाश-कुसुम" की भाँति दुर्लभ हो गया था। गतवर्ष वह जैसा कम मिलता था, वैसा ही अति महार्घ हो गया था। अतः दरिद्र-नारायणका बुभुक्षित शुन्योदर इस अमृत फलसे पूर्ण नहीं हो सका। प्रतिवर्ष प्रायः दो महीना भारत-माताकी सन्तानवृन्द इस मधुमय फलसे जो पौष्टिकता, जो जीवनी शक्ति लाभ करते थे, उनसे हम वञ्चित रह गये हैं। इस मधुर-फल के भोजनसे सर्व-साधारणको जो पौष्टिकता मिलता था, उससे कई महीनों-तक हम जीवनी-शक्ति प्राप्त कर स्वस्थ रह सकते थे; परंतु दुर्भाग्यकी बात!! गतवर्ष एक ओर जैसे रेशनिंगका कदर्य-भोज्यसे हम जीवनी शक्तिको खो बैठे हैं, उसी भाँति दूसरी ओर सुधा सदृश आम्रफलसे भी हम वञ्चित रह गये हैं। इसे दैव-विडम्बनाके सिवा और क्या कहा जा सकता है? आगामी वर्ष आम्रफलका फसल कैसा होगा तथा काला बाजारसे धन-शोषक महोदयों (!!!) के सामने गतवर्षकी भाँति हम इससे वञ्चित रह जायेंगे, आदि बात विचार करते हुए, हमें इस पौष्टिक-फलकी बात भुलकर, दूसरे कोई ऐसे या इससे भी अधिक गुण-सम्पन्न फलका अनुसंधान करना चाहिए जिससे हम सरल-तासे तथा स्वल्पव्ययसे अपना क्षुधातुर उदर-ब्रह्माण्डकी पूर्त्ति कर सके; साथ ही यह भी ध्यान रक्खे कि, उससे हमारे शरीरका अधिकांश अभाव पूर्ण हो जाय एवं हम स्वास्थ्यकी रक्षा कर जीवनी-शक्तिको भी बराबर स्थिर रख सके। लगभग २७ वर्षोंतक चिकित्सा व्यवसायमें लिप्त रहनेके कारण मुझे अनुभव हो गया है, कि "केला एक ऐसे सुन्दर, सुलभ, सदा एवं स्वल्प मूल्यमें प्राप्त-वस्तु है, जिसका भोजनसे हम सदा ही स्वास्थ्य स्थिर रख सकते हैं। उसी उद्देश्यसे अनुप्राणित होकर ही सर्वसाधारण, खास करके हम जैसे गरीब-गरवाका परम मंगलार्थ हो, उद्देश्यसे लेखनी उठायी है, इसमें कहाँतक सफलता मिलेगी, यह तो सुज्ञ पाठक-वृन्द ही समझेंगे।

स्नेहमयी भारतमाताकी गोदमें शत-शत प्रकारके फलों प्रतिवर्ष उत्पन्न होनेपर भी केला प्रायः प्रधान स्थान अधिकार कर लिया अर्थात् फलोंके ज्येष्ठ भ्राता केला ही है। देव-पूजनादि शुभ क्रियाकाण्डसे लेकर अति साधारण काम-काजमें भी हम केलाको काममें लेते हैं। साधारणतः ग्रीष्म-प्रधान देश तथा समुद्र-पुलिनस्थ स्थानमें केला सर्व ऋतुमें प्रचुर परिमाणमें उत्पन्न होता है। शायद जगत् भर ऐसा प्रायः कोई भी फल नहीं है, जो सर्व ऋतुमें उत्पन्न होता हैं– प्रचुरपरिमाणमें उत्पन्न होता है। पपीता (पपैया, संस्कृत नाम पारीश फल, अंगरेजी नाम papaw, लैटिन नाम Carica papaya) फल भी प्रचुर-परिमाणमें सर्व-ऋतुमें उत्पन्न होता है सही, परंतु इतनी उपकारक तत्व उसमें समावेश नहीं हैं। ग्रीष्म-प्रधान देशमें केलाका जन्म होने पर भी यूरूप, आमेरिका आदि पाश्चात्य विज्ञान-वेत्ताके देशमें भी इसका आदर, यत्न तथा महत्व कम नहीं है। वरना हम लोगोंसे भी उनके समीप इसका महत्व विशेष अधिक है। अब देखना चाहिए कि केवल हमारे पास नहीं, पाश्चात्य मनीषिवृन्दके पास भी इसका महत्व इतना क्यों है? अतः पहिले आयुर्वेदका गुणागुण वर्णन करके, पाश्चात्य विज्ञोंका मतामत लिखना है। आयुर्वेद-का मतसेः—

कदली वारणा मोचाम्बुसारांशुमतीफला ।
मोचाफलं स्वादु शीतं विष्टंभि कफकृद्गुरु ॥
स्निग्धं पित्तास्रतृडदाह-क्षतक्षयसमीरजित् ।
पक्कं स्वादु हिमं पाके स्वादु वृष्यञ्च बृंहणम् ।
क्षुत्तृष्णानेत्रगदहृन्मेहघ्नं रुचिमांसकृत् ॥
माणिक्यमर्त्यामृतचम्पकाद्या भेदाः कदल्या बहवोऽपि सन्ति ।
उक्ता गुणास्तेष्वधिका भवन्ति निर्दोषता स्याल्लघुता च तेषाम् ॥

केलाका संस्कृत नाम,-कदली, वारणा, मोचा, अम्बु-सारा तथा अंशुमतीफला है।

गुणः— कच्चा केला, जिसका शाक खाया जाता है– मधुर-रस, शीतवीर्य, विष्टम्भी; कफघ्न गुरु तथा स्निग्ध-कारक है।

प्रयोगः- कच्चा केलाः- रक्तपित्त, पिपासा (प्यास) दाह, क्षत, क्षयरोग तथा वायुनाशक है।

पक्व केला का गुणः- मधुर रस, शीतवीर्य, मधुर-विपाक, शुक्रवर्धक, पुष्टिजनक, रुचिकारक तथा मांस-वर्धक है।

पक्व केलाका प्रयोगः— क्षुधा (भूख), तृष्णा (प्यास), चक्षुरोग (आँखकी बीमारी) तथा प्रमेह-नाशक है।

माणिक्य (लाल), मर्त्त (सोनेरी, गाऊटी), अमृत (सफेद एलची), तथा चम्पकादि जातिभेदसे केला अनेक प्रकारके हैं। वे सब केलामें उपर्युक्त गुणों यथेष्ट परिमाणमें विद्यमान रहते हैं। अधिकंतु दूसरे केलाकी अपेक्षा निर्दोष तथा लघु है।

एक एकर जमीनमें केलाका उपज किया जाय तो, उससे जितना मानवका जीविका निर्वाह हो सकता है, दूसरे और किसी वस्तुसे ऐसा नहीं हो सकता है। हामबोल्ट साहेब (Humboldt) निर्णय किया है, कि यदि गेहूँके साथ उपजमें केला की तुलना किया जाय तो, केला गेहूँकी अपेक्षा १३३ गुण ज्यादा होता है एवं आलु (Potato) से ४४ गुण ज्यादा होता है। एक एक पेड़में १६ से २० स्तवक केला होता है तथा एक एक स्तवकमें १२ से २० तक केला लगता है। उसका वजन भी प्रायः ६० पौंडसे ८० पौंड तक होता है। प्रकृति-माता की अनुकम्पासे हमारे देशमें प्रायः सभी ऋतुओंमें सहज-में केला मिलता है। इसमें शरीर-रक्षाकारी अनेक प्रकार पौष्टिक वस्तुएँ विद्यमान हैं।

केलामें रासयनिक विधान एवं पोषण-शक्ति आलुसे अनेक अंशमें खूब ज्यादा विद्यमान है। अन्न-भोजनके बराबर केलाको माना जाता है एवं यह अन्न की भाँति सर्व-पोषण-युक्त खाद्य-पदार्थ है। यदि कोई मानव सारा जीवन केवल केला खाकर रहना ही चाहे तो रह सकता है; उससे उसकी जीवनीशक्ति ह्रास नहीं होगी।

कच्चा-केलामें अधिक-मात्रामें स्टार्च (श्वेतसार- Carbohydrates) विद्यमान है; परंतु पकने पर वह श्वेतसार फल-शर्करा (Fruit Sugar) में बदल जाता है। भिन्न भिन्न जातिके केलामें भिन्न भिन्न अवस्थामें उसका रासयनिक विधान भिन्न भिन्न हो जाता है। भिन्न भिन्न जातिके केलामें भिन्न भिन्न अवस्थामें शर्करा का परिमाण भिन्न भिन्न होता है। पाका केलामें २२ प्रतिशत शर्करा रहता है, परंतु उसमें से फिर १६ प्रतिशत शुद्ध शर्करा है। पेड़ पर ही सम्पूर्ण रूपसे पक्व होनेसे शुद्ध शर्कराका भाग इससे अधिक होता है।

भिन्न भिन्न जातिके केलामें भोज्यअंश और छिलका रूप त्याज्यअंश भी भिन्न भिन्न होता है। पाका केलामें २० प्रतिशत फल–शर्करा तथा कच्चा केलामें २० प्रतिशत श्वेतसार (Carbohydrates- स्टार्च) रहता है। बोम्बे तथा बंगालमें जितने प्रकारके केला मिलते हैं, उनमें खाद्यांश तथा अखाद्यांश कितना है, वह रायबहादुर डॉक्टर चुनीलालजी बोस महोदय परीक्षा कर प्रकाश कर गये हैं। उसका परीक्षा-फल ऐसा है:—

	खाद्यांश	त्याज्यांश
ऐलची केला	७०.८५	२९.१५
सफेद ऐलची केला	७४.३७	२५.६३
सोनेरी वा गाऊटी	८६.०२	१३.९८

साधारण खाद्योपयोगी फलोंके भीतर केवल मात्र केलामें ही शरीर मजबुतकारक उपयोगी वस्तु कईद

(श्वेतसार Carbohydrates) सबसे अधिक है। इसमें चर्बी (स्नेह Fat) का परिमाण कम होनेपर भी दूसरे उपादान (वस्तुएँ) बहुत ज्यादा परिमाणमें विद्यमान है एवं आवश्यकीय ताप उत्पाद-शक्ति तथा शारीरिक-शक्तिका उपादान (तत्व) केलामें प्रभुत परिमाणमें विद्यमान है। केला से प्रायः ४६० केलारी (Calorie इंधन) ताप (गरमी Hot) मिलता है। इस हिसाबसे एक पुष्ट केला का वजन प्रायः १०० ग्राम १० तोला होता है एवं उससे १०० केलारी ताप मिलता है।

केलाको गरीब-गरबाकों फल कहकर अनेक अहंकारी धनाढ्य व्यक्ति उपहास करते हैं: परंतु अनुसंधान करनेसे अनेक घरमें भी केला मिलता ही रहता है। यह "गरीबका साथ" तो है ही, क्यों कि यह फल सदा ही ताजा मिलता है, एवं स्वल्पव्ययसे सदाही सन्तोषकारक उपादेय वस्तु है। दूसरे फलोंकी अपेक्षा यह सस्ता तथा सरलता से मिलता है। केलाकी ऊपरकी त्वचा (छिल्का) काला होनेपर यह अधिक गुणकारी वस्तु होती है। कोई कोई विज्ञानशास्त्री का मत है, कि केला की छिल्कामें लौह (Iron) ज्यादा रहता है; अतः जब केलाकी छिल्का काला हो जाता है, तब वह छिल्कास्थ-लौह छिल्कासे गोदामें पहुँच जाता है, इससे और ज्यादा उपकारी वस्तु बन जाती है।

आमेरिकाके वासिंटन (Washington) शहरके कृषि-विभाग (Agricultural Department) का बुलेटिनसे प्रकाशित विवरणीसे मालूम होगा कि, कौन्-कौन् सा फलोंमें कितना कितना खाद्यांश विद्यमान है। वह इस प्रकारके है:—

फलोंका नाम	जल Water	Protein आमिष जातीय उपादान	स्नेह जातीय तत्व (Fat)	Carbohydrate including fibre श्वेतसार व शर्करा जातीय तन्तुके साथ	भस्म (Ash)	प्रतिपौंडमें इंधन कितना है (Fuel Vatue per lb. Calories
केला (Benanas)	75·3	1·3	0·6	22·0	0·8	460
अंगुर (Grapes)	77·4	1·3	1·6	19·2	0·5	450
चेरी फल (Cherry)	80 9	1·0	0·8	16·7	0·6	365
सफर चाँद (Apple)	84·6	0·4	0·5	14·2	0·3	290
संतरा (Orange)	86·9	0·8	0·2	11·6	0·5	240
पीच फल (Peaches)	89 4	0·7	0·1	9·4	0·4	190
खरमुज (Muskmelons)	89·5	0·6	...	9·3	0·6	185
स्ट्रबेरी (Straw berries)	90·4	1·0	0·6	7·4	0·6	180

एक परिपुष्ट केलामें उपर्युक्त वस्तुओंके सिवाय प्रतिशतमें ३३ भाग छिल्का, ०·६ भाग तंतु, १९·२ भाग शकर, ०·३९ भाग स्याकनीक एसिड होता है। छिल्का छोड देनेसे पाका केलामें १/५ अंश ही शकर रहता है एवं कच्चा केलामें १/५ अंश स्टार्च (श्वेतसार Carbohydrate) रहता है। कच्चा केलामें १/५ भाग प्रोटिन (Protein) एवं २०-२१ भाग श्वेतसार रहता है। पाका केलामें तीन प्रकार शकर विद्यमान है। पाका केला इतनी जल्दी पाचन होता है, कि, बच्चें भी पेटकी बीमारी रहने पर भी बहुत जल्दी हजम कर लेते हैं।

केलामें शक्करका का परिमाण ऐसा है:— साक्रोज (Cane Sugar) 11·9, द्राक्ष-शकर (Grape Sugar) 4·5, तथा फल शर्करा, (Fruit Sugar) 3·5।

इसके अतिरिक्त केलामें कौन् कौनसा धातु कितना परिमाणमें मौजुद है, सो सुनिए:— चुना (Calcium)

·0090, तामा (Copper) ·0002, लोहा (Iron) ·0006, म्याग्नेसियाम (Magnesium) ·0280, मैंगानिज (Manganese) ·0004, सोडियाम (Sodium) ·348, पटाशियाम (Potassium) ·4010 भाग विद्यमान है।

धातुके अतिरिक्त अधातु भी केलामें विद्यमान है। कौन् कौन्सा अधातु कितना परिमाण (मात्रा) में है, सो सुनिए:— फसफरास (Phospherons) ·0310, गंधक (Sulhpor) .0100, सिलिकन (Silicon) ·0238 और क्लोरीन (Chlorin) ·9250 मात्रामें विद्यमान है।

दूसरे दूसरे फलोंकी तुलनामें केलामें धातु द्रव्यका परिमाण सबसे ज्यादा है एवं ये सब धातु उपादान शरीर मजबुतके लिए विशेष ही आवश्यक है। प्रायः सभी प्रकारके केलामें धातुसमूह एवं ऐसिड समभागमें विद्यमान है। माता (Copper) तथा Manganese (मैंगेनीज एक प्रकारके लोहा) के साथ लौह (Iron) रहनेसे केला जल्दी जल्दी हजम होकर शरीर तैयार तथा मजबुत करनेमें सहायक होता है। केलाके इन सब धातु व अधातु द्रव्योंसे शरीरस्थ रक्त-कण (Red cells) सृष्टिकी विशेष सहायता मिलती है। आयुर्वेद मतसे रुजकपित्त वृद्धिका केला एक प्रधान उपकरण (वस्तु) है।

प्रति १०० ग्राम (४ औंस, १० तोला) केलामें प्रायः 5·56 घन-सेन्टिमिटार क्षार-तत्त्व विद्यमान है। इसमें लवणाक्त पदार्थ (निमक जातीय तत्त्व) भी यथेष्ट परिमाणमें समावेश है। शरीरके भीतर केलाकी अन्तिम अवस्था क्षारमें परिणत होता है। यदि भोज्य वस्तुओंमें केला अधिक परिमाणमें खाया जाय तो, दूसरे रोज पेशाब की परीक्षा करनेसे, उसमें क्षार जातीय पदार्थ अधिक मिलेगा।

परम कृपालु भगवान केलाके अन्दरस्थ भोज्य-भागकी रक्षाके लिए, उसके ऊपरकी छिल्का विशेष रूपसे सृष्टि की है। यह भी परीक्षासे निश्चय हो चुका है, कि ताजा केलाकी छिल्कामें भीतर किसी भी प्रकारकी रोगबीजाणु प्रवेश नहीं कर सकता। यहाँ तक कि, कोई भी रोग-बीजाणुयुक्त तरल (प्रवाही) पदार्थके भीतर (यदि केला का ऊपरकी छिल्का ठीक रहे तो) डुबाकर रखनेसे भी केला के भीतर कोई रोग-बीजाणु प्रवेश नहीं कर सकता है।

१०० ग्राम सुखा केलामें प्रायः १॥ ग्राम एल्बुमेन रहता है। बहुमूत्र (मधुमेह, Diabetes) रोगीको कम एल्बुमेनवाला वस्तु भोजनके लिए दिया जाता है, इस कारण बंगालके डॉक्टर-वैद्य बहुमूत्र रोगीको केला खाने की व्यवस्था करते हैं।

कच्चा केलाकी छिल्का निकाल कर (न निकाले तो और उत्तम) बारिक काट कर धुपमें सुखाकर आटा बना लें। इस आटाके साथ गेहूँका आटा मिला कर रूची अनुसार भोज्य बना सकते हैं।

प्राकृतिक नियमानुसार केलाके भीतर कैसा शक्कर संग्रह होता है, वह सुनने योग्य बात है। सूर्य की किरण, चन्द्रमा की ज्योतिः एवं वायु-मण्डलसे केला की पत्ती कार्बन (Carbohydrate) संग्रह करता है। वह पहिले पहल पत्तीकी शिरा-शिरा (नस-नस) में स्याकारोज (एक प्रकार शक्कर जातीय पदार्थ) रूपमें विद्यमान रहता है। धीरे धीरे वह पत्ती की अग्रभागसे उसकी जड़ (डंटल) की तरफ आता है एवं धीरे धीरे श्वेतसार रूपमें रूपान्तरित हो जाता है उसके बाद वह अपरिवर्तित अवस्थामें ही केलाके फूलकी जड़ जिस डंटलमें संलग्न रहता हैं, उसमें जमते रहता है एवं फूल की परिपुष्टतामें सहायता करते रहता है। उसके बाद फूलसे जब केला उत्पन्न होता है, तब वह केला के भीतर उसी अवस्थामें ही प्रवेश करता रहता है। केलाके अन्दरस्थ यह श्वेतसार जब प्राकृतिक नियमसे परिवर्त्तित होकर धीरे धीरे शक्करमें परिणत होता है, तब केला भी पकता रहता है। पाका केलामें साधारण परिमाणमें " ऐमाईल ऐसिटेट " रहनेके कारण यह अति सुमिष्ट-गन्ध युक्त होता है। पाका केलामें सामान्य अंशमें " ऐसिड ऐलडिहाईट " भी रहता है। " ऐमाईल ऐसिटेट " वर्त्तमान रहनेका कारण ही केलाके अन्दरस्थ श्वेतसार शक्करमें परिणत होता है। पहिले पहल यह इक्षु शर्करा (Cane Sugar) में परिणत होता है, बादमें वह द्राक्ष-शर्करा

(Grape Sugar) में परिवर्त्तित होता है। केलाके भीतर " टेनिन " नामक एक प्रकारके यौगिक पदार्थ भी है। कच्चा केलामें यह तरल (प्रवाही) अवस्थामें रहता है; परंतु पकनेके बाद यद्यपि श्वेतसार कम होता जाता है, तथापि यह " टेनिन " का परिमाण जैसाके तैसाही रहता है; परंतु वह शक्त हो जाता है। केला सम्पूर्ण रूपसे पक जाने पर भी " टेनिन " का और कोई रासयनिक परिवर्त्तन नहीं होता है।

केला जब पेड पर ही पूर्णत्व लाभ करता है यानी पकने की पूर्वावस्थामें पहुँच जाता है, उस समय उसे काट लेनेपर भी कार्बोहाईड्रेट यानी स्टार्च (श्वेतसार) से शक्करमें परिवर्त्तन स्वाभाविक रूपसे ही चलता रहता है। अवश्य यह बात सत्य है, कि पकनेके समय यदि केलाको पेडसे अलग कर दिया जाय तो, एक प्रकारके शक्करसे दूसरे प्रकार के शक्करमें परिणत होने में अधिक समय लगता है, स्वाद तथा मिष्टत्वमें भी साधारण परिवर्त्तन होता है।

केला पकनेके समय धातु-द्रव्यों तथा प्रोटिन (Protein) का परिवर्त्तन खूब ही सामान्य अंशमें होता है। तथापि अन्दरमें विशेष रूपसे " पेन्टोजेन " कम हो जाता है; परन्तु उसकी छिलका तो प्रायः उसी अवस्थामें ही रहता हैं। यदि कच्चा केलाको साधारण " इथेलिन गैस " मिश्रित वायुमें रखकर पकाया जाय तो, उसकी छिल्का खुब ही जल्दी " हलदर " वर्ण धारण कर लेती है। इस प्रकारसे पकाने पर भी स्वाभाविक रूपसे पका केलाकी अपेक्षा, उसकी अवस्थामें विशेष कोई फर्क नहीं होता है, सही, परंतु स्वादमें तो साधारण परिवर्त्तन होता ही है।

जो " एनजाईम " प्रक्रियासे स्वाभाविक-वृत्तिसे केला का श्वेतसार शक्कर में परिणत होता है, वह १५० डिग्री " फारेन हाईट " से अधिक ताप देनेसे खराब हो जाता है। कोई कोई सुचतुर व्यापारी केलाको साधारण "इथेलिन-गैस" मिश्रित वायुमें रखकर जल्दी जल्दी पकाते हैं, उससे जल्दी केलाकी छिलका पीला हो जाता है। यह विधि ठीक नहीं है। केलाकी डांडी देखनेसे ही पता लग जाता है, कि वह पेड पर पका हुआ है या नहीं ? पका केलामें " मेलिक-ऐसिड " नामक एक प्रकारके जैविक-ऐसिड भी है। " पामिटिक ऐसिड, " " मपोलिक ऐसिड " आदि और कई एक प्रकारके आम्ल-द्रव्य भी साधारण अंशमें इसमें रहता है। केलामें " पेकटीन " नामक और एक पदार्थ भी है। अनेक सज्जनों की ऐसी धारणा है, कि पेट की बीमारीमें केला विशेष उपकारी फल है।

केलामें भोज्यांश प्रायः ७० से ८० प्रतिशत एवं त्याज्यांश प्रायः २० से ३० प्रतिशत Average में है। केला के भीतर स्नेह (Lat) तथा शालि (धान्य विशेष) जातीय उपादान २१ प्रतिशत रहता है। ये सब कार्बन (श्वेतसार) जातीय द्रव्यों होनेसे केला खानेवालेको काम करनेकी शक्ति बढती है। इसमें " नाईट्रोजेन " वा पेशी वर्धनकारी उपादान रहनेके कारण, केवल केला खाकर ही मानव हृष्टपुष्ट रह सकता है। दूसरे फलोंकी अपेक्षा इसमें नाईट्रोजेन अधिक परिमाणमें है।

इसमें Fat तथा Protein स्वल्पमात्रामें रहने पर भी Carbohydrates यथेष्टमात्रामें है; इन तीनों की रासयनिक प्रक्रियासे शरीरका ताप (heat) बढता रहता है। आश्चर्य तो इस बातकी है, कि Carbohydrate पदार्थ मधुमेह (Diabetis) रोगीका अखाद्य होनेपर भी, उक्त रोगमें केला सुखाद्य है। इस कारणसे मूत्राशय (kidney) की बीमारीमें विशेष उपकारी वस्तु है। Carbohydrate होते हुए भी केला मधुमेह का सुखाद्य है, इसे आयुर्वेदके मतसे प्रभाव कहता है। कोई वस्तुका अचिन्त्य तथा अमिमांसित विशिष्ट शक्तिका नाम प्रभाव है। जैसा काकजङ्घा (Leca Hirta) की जड सिरका केशमें बाँधनेसे सुनीद्रा होती है तथा सहदेवी जड सिरका केशमें बाँधनेसे ज्वर अपगत होता है, उसी प्रकार मधुमेहमें केलाकी प्रभावशक्ति है।

बहुमूत्र यानी मधुमेहवाले रोगीको शर्करा खाना बिलकुल माना है; परंतु वे केला खा सकते हैं। इसमें प्रकृति जात जो शर्कराका भाग रहता है, वह आसानीसे पाचन होकर रक्तमें मिल जाता है, कोई विकार उत्पन्न नहीं करता, वरना शरीरका रक्तमें नूतन-नूतन रक्तकण उत्पन्न

कर उसकी शक्ति बढाता है। पका केलामें स्टार्च (Starch) एक प्रतिशत भी नहीं है; अतः इस रोगमें यह सुपथ्य है।

अनेक सज्जनोंका कहना है, कि आलु (Potato) और केलामें रासयनिक विश्लेषणसे विशेष अन्तर नहीं है; डॉक्टरी मतसे इंधन (Calories) उत्पन्न करनेकी शक्ति प्रायः बराबर ही है; परंतु आलुसे केला अनेक कारणोंसे श्रेष्ठ है। अनेक कारणोंमेंसे प्रधान कारण तो यह हैं, कि आलु बिना पकाये कच्चा खा नहीं सकता, कच्चा खानेसे यकृत खराब होनेकी सम्भावना अत्यधिक है एवं पकाकर खानेसे उसमेंसे अनेक प्रकारका खाद्यप्राण (Vitamin) नाश हो जाता है, परंतु पक्का केलामें सो बात नहीं है। पक्का केला जब चाहे तब खा सकता है, उससे ज्यों का त्यों Vitamin शरीरमें प्रवेश करता है।

दूसरे एक कारण: — केला जितनी जल्दी पाचन होता है, आलु वैसा नहीं होता। अर्थात् केला सहज पाच्य है, आलु गरिष्ट है– पेटमें आफरा लाता है।

तीसरे एक प्रधान कारण यह है, कि कोई व्यक्ति यदि सारा जीवन पका केला और दूध खाकर रहना चाहे तो, रह सकता है, उसका कुछ भी नुकसान नहीं होगा, परंतु आलु और दूधपर यदि कोई व्वक्ति सारा जीवन व्यतीत करना चाहे तो, उसका मधुमेह तो होगा ही, यकृतका भी रोग उत्पन्न हो जायगा। इन कारणोंसे डॉक्टरी मतसे दोनोंका रासयणिक उपादान प्रायः बराबर होनेपर भी केला श्रेष्ठ तथा निर्दोष है।

अनेक व्यक्तिको पका केलाका शाक खानेको देखा है, मुझे भी विवश होकर खाने पडा। यह स्वास्थ्यके लिए सर्वथा अखाद्य है। तेल, घो, मीर्च, मसलाके संयोगसे यह रुचिकारक भोज्य, तो अवश्य बन जाता है, परंतु आयुर्वेदके मतसे यह " विरुद्ध भोजन " होनेके कारण, एक ओर जैसा यह यकृत को विकृत करता है, उसी प्रकार दूसरी ओर यह भविष्य में रोग का बीज होता है।

बर्मामें परिभ्रमणके समय कोई कोई कच्छी सज्जनके घरमें पक्का केलाके साथ खुब घी-शक्कर खाया है। वे जब ही केला खाते हैं ' घी-शक्कर लगाकर ही खाते हैं। इससे वे सदा ही कोई न कोई बीमार के शिकार बना ही रहते हैं। आयुर्वेदके मतसे यह भी " विरुद्ध भोजन " है। अतः स्वस्थताके लिए उपर्युक्त दोनों प्रकारके कदली मिश्रित खाद्य त्याग करना चाहिए।

केलामें सभी प्रकारके खाद्यप्राण (Vitamin) विद्यमान है, उनमेंसे A, C और E Vitamin सबसे ज्यादा है। यथा:—

Vitamin	A,	+ से ++
,,	B·1,	+
,,	B·2,	+
,,	C	++
,,	D	कम है
,,	E	++

८७ ग्राम पक्का केलामें प्रायः २५० यूनीट (Unit) Vitamin A तथा २७० ग्राम केलामें ५० यूनीट Vitamin B, एवं १० यूनीट Vitamin C मिलता है।

केलामें Vitamin A का भाग अधिक होनेके कारण केला दांत (Teeth) के लिए उपकारी वस्तु है।

अब यह जानना चाहिए, कि Vitamin A, B, C, आदिसे हमारे शरीरका क्या क्या उपकार होता है? सर्व साधारण इस बातको जानते नहीं हैं; अतः इसके सम्बधमें साधारण आलोचना करना असंगत नहीं होगा।

Vitamin A :— इस Vitamin से देहकी पुष्टि तथा वृद्धि होती है। इसका अभाव होनेसे मानवको सहज हीमें अनेक प्रकारके संक्रामक (Infectious) रोग पकड सकता है। स्वाभाविक नियमसे शरीरकी वृद्धि नहीं होती एवं उसमें बाँधा उत्पन्न होता है। शारीरिक तेज, लावण्य तथा स्फूर्ति कम हो जाता है। वह रातमें नहीं देखता है या कम देखने लगता है। अनेक प्रकारकी आँखकी बीमारी होती है। जीवनरक्षा तथा जीवनीशक्तिकी वृद्धिके लिए Vitamin A की विशेष आवश्यकता है।

Vitamin B. 1 :— शरीरका परिपोषण तथा जीवनीशक्तिको अक्षुण्ण (स्थिर) रखनेकी सहायताके लिए यह Vitamin पहिला Vitamin के साथ अवश्य

रहना चाहिए। B. जातके Vitamin A जातके Vitamin को दैहिक परिपोषण कार्य्यमें सहायता करती है। इसका अभाव वा कम होने पर बेरीबेरी, स्नायु-प्रदाह, स्नायु-दौर्बल्य, क्षुधामान्द्य (कम), कोष्ठ-काठिन्य, एवं अनेक प्रकारकी पेटकी बीमारी उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त हाथ-पैरमें सुजन, आमवात, आलसीपन, अमनोयोगिता आदि रोग भी होता है। यह Vitamin का विशेषत्व यह है, कि जो मानव कार्बोहाईड्रेड (Carbohydrate) वस्तु कम खाता है, उसके लिए इसका प्रयोजन भी कम है; परंतु जो मानव जितनी कार्बोहाईड्रेड (श्वेतसार) वस्तु खायगा, उसके लिए यह प्रजीवक तत्त्व (Vitamin) उतना ही अधिक परिमाणमें चाहिए। जो जात केवल भात खाकर ही जीवनयात्रा निर्वाह करता है, उस जातके लिए यह प्रजीवक तत्त्व अधिक-मात्रामें चाहिए। शायद इसका अभावसे ही अनेक प्रकारकी पेटकी बीमारी होती है।

Vitamin B 2 :— इसका अभाव होनेसे अनेक प्रकारके चर्म रोग होता है, जैसा दद्रु, खुजली, फोडे, फुन्सी आदि। प्रजीवक तत्त्व बी १, तथा बी २, ये दोनों चावल, दाल, यव, गेहूँ, मक्का प्रभृति अनाज़की भूषिमें रहता है। चना, मुंग, मटर, उडद आदि दाल जलमें भिगानेके बाद, उसमें जो अंकुर (Sprout) निकलता है, उसमें ये प्रजीवकतत्त्व अधिक परिमाणमें विद्यमान रहता है। पका हुआ भातका जल, दूध, पालककी पत्ती, शालगम, करमकल्ला (Cabage), नारियल, मुंगफली, अखरुट, अण्डा (Egg) जीवका यकृत आदिमें तथा कच्चा घासमें उपर्युक्त दोनों प्रजीवकतत्त्व विद्यमान है। जो जात केवल भात खाता है, उसे ये सब चीजें ज्यादा खाना चाहिए।

Vitamin C — इस जातके प्रजीवकतत्त्वका अभाव से रक्तका घनत्व कम हो जाता है यानि रक्त पातला हो जाता है एवं रक्तपात प्रवणता (Tendency) बढ जाता है। चमडाका स्थान स्थान पर चिर जाता है एवं रक्त गिरता है या चमडाके ऊपर काला काला दाग पड जाता है। स्कार्भि नामक रोग उत्पन्न होता है, दाँतकी जड ढीला पड जाती है तथा दर्द होता है। ताजा शाकभाजी, तरि-तरकारी, ताजा फलमूलमें यह प्रजीवकतत्त्व प्रचुर परिमाणमें रहता है। परंतु वे सब चीजें सुख जानेसे या उन्हें आगमें पकानेसे यह प्रजीवकतत्त्व नष्ट हो जाता है। यह प्रजीवकतत्त्व बिलकुल ही ताप सहन नहीं कर सकता। अति साधारण तापसे भी यह नष्ट हो जाता है। जो सब शाक भाजी, तरि तरकारी [Vegetable] हम पका कर खाते हैं उसमें दूसरे प्रजीवक-तत्त्व जैसाके तैसा रहने पर भी, यह Vitamin C खराब हो जाता है। यदि यह प्रजीवक-तत्त्वका लाभ उठाना हो तो, फल-मूल तरि-तरकारी कच्चा ही खाना चाहिए। कच्चा प्याजे (Onion) मूला, टमेटार, सेलाड आदि कच्चा ही खाना चाहिए। टमेटार का रस पीना उत्तम है, अनेक प्रकारके ताजा कच्चा घासका रस दवाका रूपमें एक औंस परिमाण पीनेसे A, B, C तीनों प्रकारके प्रजीवकतत्त्व हमारे शरीरमें पहुँच जाता है। अनेक प्रकारके कचा घासका रस रक्तका शोधक तथा अनेक प्रकार के रोग निवारक है।

शिशु-जीवनकी रक्षाके लिए यह प्रजीवक तत्त्वकी विशेष आवश्यकता है। केवल शिशुजीवन, ही नहीं प्रायः प्रत्येक मानवके लिए इस जात की खाद्य-प्राण (Vitamin) की सदा ही आवश्यक है। यदि स्वस्थताके साथ जीवित रहनेकी इच्छा है, तो अति बाल्यावस्थासे मृत्युतक सभी अवस्थामें इस जातका जीवन-तत्त्व थोडा-बहुत नित्य ही आवश्यक है। केलामें यह अधिक परिमाणमें विद्यमान है।

Vitamin D. भोज्य वस्तुओंमें इस प्रजीवक-तत्त्वका अभाव अथवा कम होनेसे अनेक प्रकारका अस्थिरोग, राजयक्ष्मा (T. B.), जीर्ण-शीर्णता यानी रिकेट रोग आदि रोगकी उत्पत्ति होती है। इसका अभाव होनेसे शरीर हृष्टपुष्ट-बलिष्ट नहीं हो सकता। शरीरमें चुना [calcium] का भाग कम होनेसे यह जीवनतत्त्व शरीरके भीतर पुनः केलशियाम प्रवेश करनेकी सहायता करती है। सीधी बातमें यह शरीरमें केलशियाम बनाकर उसका अभाव पूर्ण करता है। मेरु-मध्यस्थ स्नायु समूह यानी रीढ की हड्डी [Back Bone] के भीतरके स्नायु तथा मज्जा, [स्नेह, Fat], मास्तिष्क [Brain], अस्थि, [Bone], अस्थिमज्जा, स्नायु समूह, शुक्र, ओजः आदि शरीरस्थ श्रेष्ठ उपकरण

Materials की पुरिपुष्टिके लिए इसकी आवश्यकता खूब अधिक है। इसके सिवाय उपर्युक्त महान-तत्व-समूह उत्पन्न ही नहीं हो सकता, न उसकी पुरिपुष्टि ही होती है। परीक्षासे यह भी प्रमाण हो गया है, कि प्रजीवक-तत्व डि [D] के सिवाय दूसरे किसी भी उपायसे क्षय [Wasting] पूरन होकर शरीर परिपुष्ट नहीं हो सकता। इस कारणसे हम चिकित्सक-वृन्द क्षय [T. B.] बीमार मात्रको ही विटामिन ए तथा डी का व्यवस्था अधिक करते हैं। मैं तो ऐसी दवा का संयोजन करता हूँ, जिसमें सर्व प्रकारके विटामिन मौजुद रहता है।

शिशु तथा अल्पवयस्क बालक-बालिकाके अस्थि-गठन, अस्थिका बल संरक्षण एवं जीवनी शक्ति परिपूर्ण रूपसे अक्षुण्ण रखनेके लिए डी विटामिनकी अतीव आवश्यक है। इसका अभाव होनेसे बच्चे कमजोर, जीर्ण-शीर्ण, पतली अस्थिवाला, रुग्न तथा रिकेट (Rickets) वाला होता है एवं दाँत मजबुत नहीं होता, दाँतमें कीडा लग जाता है, शरीरका गठन भी उत्तम नहीं होता तथा दाँत निकालते समय कष्ट पाता है। उसके शरीरमें केल-सियाम (Calcium) तथा फसफरास (Phosphorus) का परिमाण कम हो जाता है। इससे शिशु-समूह अकालमें ही जालके गालमें पहुँच जाता है। मानव-जिवन परिपूर्ण स्वस्थताके साथ संजीवित रखना हो तो, शिशु-जीवनसे मृत्युतक प्रचुर परिमाणमें डी प्रजीवक-तत्वको काममें लेना चाहिए। इस कारणसे शक्त-बीमार होनेपर चिकित्सक-वृन्द डी विटामिन अधिक देते हैं।

Vitamin E :— इस विटामिनका अभाव होनेसे बंधत्व [सन्तान उत्पन्न न होना], सन्तान उत्पादन शक्तिका अभाव, शुक्र तारल्य, शिश्नका कमजोरी, ध्वजभंग आदि बीमार होता है। सीधि बातमें रमणीका गर्भाशय एवं पुरुषका वीर्याशय ही इसका आधार है अर्थात् रमणीका गर्भाशय परिपुष्ट नहीं होता तथा सन्तान उत्पन्न करनेका मूलतत्वका भी अभाव होता है; तद्रूप पुरुषका वीर्याशय अर्थात् पुरुषका वीर्यमें उजः पदार्थ कम होनेसे एक ओर जैसा शुक्र कीट उत्पन्न नहीं होता, तथा उत्पन्न होनेपर भी परिपुष्ट नहीं होता उसी प्रकार शुक्र संबंधीय नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होता है। भोज्य-वस्तुओंमें " ई " प्रजीवक-तत्व प्रभुत परिमाणमें रहनेसे उपर्युक्त बीमार नहीं होगा तथा कोई भी स्त्री-पुरुष बंधा नहीं हो सकता है। सच्ची बात तो यह है, कि यह हमारे उजः (शुद्ध वीर्य वा ब्रह्म-पदार्थ) धातु है जो सब धातुओंसे श्रेष्ठ है। बंधा स्त्री-पुरुष या पातला-वीर्यवाले वा ध्वजभंग (Impotent) मानव यदि स्थिर-चित्तसे दीर्घ समयतक दूसरे प्रजीवक तत्वोंके साथ यथोचित-भावसे प्रभुत परिमाणमें प्रजीवक-तत्व " ई " का सेवन करे तो, परमपिताकी कृपासे उनके निराशा-जनक मुँहमें आनन्दकी ज्योतिः प्रतिभात होती रहेगी एवं उसका निरानन्द तथा शिशु-शून्य सदन आनन्दका निकेतन बन जायगा और शिशुओंके कोलाहल (Uproar) से वे उत्तिष्ठ हो उठेंगे। जिस रमणी-का कच्चा गर्भ नष्ट हो जाता है एवं शिशु-जन्मके बाद ही जिसकी सन्तान स्वल्पकालमें ही यमराज का अतिथि बन जाता है, उनके लिए " ई " विटामिन भगवानका आशीष जैसा है।

योग-शास्त्र उजः धातुको ब्रह्मशक्ति मानते हैं। दूधका सार-भाग जैसा मालाई है, वैसा ही शुक्रका सारभाग उजः है। सांसारिककी तो बात ही क्या है, धार्मिक-जीवन व्यतीत करनेवाले को भी सदा ही उजः धातु शुद्ध रखना चाहिए।

वर्त्तमान-युगके विज्ञान-शास्त्री विशेष रूप स्वीकार कर लिया है, कि शरीर-रक्षाके लिए प्रजीवक " ई " की विशेष आवश्यकता है। स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका सभीका भोज्यमें " ई " खाद्यप्राण रहना ही चाहिए। हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियोंने अनंतकाल पूर्वसे ही उजः धातुकी पुष्टि तथा वर्धनके लिए वारंवार लिख गये हैं। कोई भी लाईनमें जीवनकी उन्नति करनेकी इच्छा हो, चाहे धार्मिक वा सांसारिक अथवा वैज्ञानिक यानी किसी भी लाईनमें उन्नति करनेके लिए मस्तिष्क (Brain) की शक्ति स्थिर रखना चाहिए, साथ ही जिससे वह शक्ति क्षय न होकर वृद्धि हो उस ओर तीव्र ध्यान रखना चाहिए। यह शक्ति स्थिर तथा वृद्धि करनेकी लभू है, उजः। इसी उजः को सहायता करती है, यह " ई " प्रजीवक तत्व।

(अपूर्ण)

७ यदिन्द्र पूर्वो अपराय शिक्षन्नयज्ज्यायान् कनीयसो देष्णम् ।
अमृत इत् पर्यासीत् दूरमा चित्र चित्र्यं भरा रयिं नः ॥ १८८

८ यस्त इन्द्र प्रियो जनो ददाशदसन्निरेके अद्रिवः सखा ते ।
वयं ते अस्यां सुमतौ चनिष्ठाः स्याम वरूथे अघ्नतो नृपीतौ ॥ १८९

[७] (१८८) हे (चित्र इंद्र) आश्चर्यकारक इंद्र! (यत् पूर्वः अपराय शिक्षन्) जो धन पूर्वज वंशजको देता है, जो (देष्णं ज्यायान् कनीयसः अयत्) जो धन श्रेष्ठको कनिष्ठसे प्राप्त होता है, जो (अमृतः दूरं परि आसीत) धन मृत्युरहित होकर दूर देशमें जाकर धारण किया जाता है वह तीन प्रकारका (चित्र्यं रयिं नः आभर) विलक्षण धन हमें दे दो।

मानवधर्म– पितासे पुत्रको जो मिलता है, जो कनिष्ठ से श्रेष्ठको प्राप्त होता है, जो दूरके देशमें जाकर प्राप्त किया जाता है, ऐसे तीनों प्रकारके धन मनुष्योंको प्राप्त करने चाहिये।

१ पूर्वः अपराय शिक्षन्–=पूर्वज वंशजको जो देता है, जो पितासे पुत्रको मिलता है, बडा भाई छोटे भाईको जो देता है, जो बडेसे छोटेको मिलता है वह एक प्रकारका धन है।

२ देष्णं कनीयसः ज्यायान् अयत्—जो धन कनिष्ठ से श्रेष्ठको मिलता है, जैसा प्रजा राजाको कर रूपसे देती है, पत्नीके घरसे पतिके घर आता है, सेवकके पाससे स्वामीके पास जो आता है वह एक प्रकारका धन है। यह धन देय धन होता है। देना ही चाहिये ऐसा यह धन है।

३ अमृतः दूरं परि आसीत—जो धन लेकर दूर दूरके देशमें जाकर वहां अमर जैसा रहकर जो व्यापार आदिसे बढाया जाता है वह भी एक धन है।

४ चित्र्यं रयिं नः आभर—वह विलक्षण धन, उक्त तीनों प्रकारोंसे प्राप्त होनेवाला, हमें प्राप्त हो।

यहां वंश परंपरासे प्राप्त होनेवाला धन कहा है। पिताका धन पुत्रको मिलता था, ऐसा यहां स्पष्ट रीतिसे दीखता है। दूसरा धन प्रजा राजाको देती है, भृत्य स्वामीको देता है, ऋणी श्रेष्ठीको देता है। तीसरा वह धन है कि जो देश देशान्तरमें जाकर प्राप्त किया जाता है, वहां व्यापार व्यवहार, कृषि आदि करके जो प्राप्त होता है। ऐसे तीन प्रकारके धन हैं। धन प्राप्त होनेके ये साधन हैं। मनुष्यको इन साधनोंसे जो धन मिलता है, वह प्राप्त करना चाहिये।

[८] (१८९) हे इंद्र! (यः ते प्रियः सखा जनः ददाशत्) जो तेरा प्रिय मित्रजन तुझे देता है, हे (अद्रिवः) किलोंमें रहनेवाले वीर! वह (ते सखा) तेरा मित्र (निरेके असत्) तेरे दानमें रहे, उसे दान मिले। (वयं अघ्नतः ते सुमतौ चनिष्ठाः) हम अहिंसित होकर तेरी कृपामें रहकर अधिकसे अधिक अन्न युक्त, धनवान् (स्याम) हों और (नृपीतौ वरूथे) मानवोंकी सुरक्षा करनेके समय हम स्वस्थानमें सुरक्षित रहें।

मानवधर्म– मनुष्य परस्परकी सहायता करें। राष्ट्रकी सुरक्षाके लिये पर्वतों पर कीले बनाये जांय और उनमें वीर रहें। सब लोग दुःखी कष्टी न हों, सब धनधान्य संपन्न हों। सब लोग सुरक्षित हों और अपने निवासस्थानमें आनन्द प्रसन्न रहें।

१ प्रियः सखा ते ददाशत्--प्रिय मित्र तुझे दान देवे और 'निरेके ते सखा असत्' —तेरा मित्र तेरे दानका संविभागी हो। अर्थात् लोग परस्परकी सहायता करके उन्नत होते रहें।

२ अद्रि-वः—(अद्रि-वान्) पर्वतके ऊपर कीले बनाकर उसमें लोग रहें, वीर और सैनिक रहें और राष्ट्रका संरक्षण करें।

३ अघ्नतः चनिष्ठाः वयं सुमतौ स्याम--हम दुःखी न होकर अत्यंत धनधान्यसे संपन्न होकर तेरी कृपाके भागी बनें। प्रभुकी कृपा हमपर सदा रहे।

४ नृ-पीतौ वरूथे स्याम--जनताकी सुरक्षा करनेके कार्यमें और उनको उनके स्थानमें सुरक्षित रखनेके कार्यमें हम कार्य करनेवाले हों। हम यह कार्य करें।

९ एष स्तोमो अचिक्रदद् वृषा त उत स्तामुर्मघवन्नक्रपिष्ट ।
रायस्कामो जरितारं त आगन् त्वमङ्ग शक्र वस्व आ शको नः ॥ १९०

१० स न इन्द्र त्वयताया इषे धास्त्मना च ये मघवानो जुनन्ति ।
वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्तिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १९१

(११) १० मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

१ असावि देवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्निन्द्रो जनुषेमुवोच ।
बोधामसि त्वा हर्यश्व यज्ञैर्बोधा नः स्तोममन्धसो मदेषु ॥ १९२

२ प्र यन्ति यज्ञं विपयन्ति बर्हिः सोममादो विदथे दुध्रवाचः ।
न्यु भ्रियन्ते यशसो गृभादा दूरउपब्दो वृषणो नृषाचः ॥ १९३

---

[९] (१९०) हे (मघवन्) धनवान् इंद्र! (ते वृषा एषः स्तोमः अचिक्रदत्) तेरा बल बढानेवाला यह सोम शब्द करता है। (उत स्तामुः अक्रपिष्ट) और स्तुति करनेवाला स्तुति करता है। (ते जरितारं रायः कामः आ अगन्) तेरी स्तुति करनेवाले मेरे पास धनकी कामना आ गयी है। हे (अंग शक्र) प्रिय इन्द्र! (त्वं वस्वः नः आशकः) तू धन हमें शीघ्र दे।

हे इन्द्र! तेरे लिये यह सोमका रस निकाला जा रहा है और निचोडनेका यह शब्द हो रहा है। इस समय स्तोत्र गान हो रहा है। मैं स्तोत्रका पाठ कर रहा हूं और मुझे धनकी इच्छा हुई है। अतः मुझे पर्याप्त धन दो।

यह सोम यज्ञका वर्णन है। सोमरस निकाला जा रहा है, स्तोत्र पाठ हो रहा है। यज्ञ चल रहा है। यज्ञकर्ता यज्ञके लिये धनकी प्राप्तिकी इच्छा कर रहे हैं।

[१०] (१९१) हे इन्द्र! (सः) वह तू (त्वयतायाः इषे नः धाः) तूने दिये अन्नका भोग करनेकी शक्ति हममें रहे। हमारा धारण कर, हमें सुरक्षित रखो। (ये च मघवानः त्मना जुनन्ति) जो धनी लोग हविष्यान्न तुझे देते हैं उनको भी सुरक्षित रखो। (ते जरित्रे वस्वी सु शक्तिः अस्तु) तेरी स्तुति करनेवालेको निवास करनेकी उत्तम शक्ति रहे। (यूयं सदा स्वस्तिभिः नः पात) आप सब सदा कल्याण करनेवाले साधनोंसे हमें सुरक्षित रखो।

१ नः इषे धाः--हम सबको अन्नके लिये धारण कर, प्राप्त अन्नका भोग करनेके लिये हमें सुरक्षित रख।

२ वस्वी शक्तिः सु अस्तु--सुखसे निवास करनेकी उत्तम शक्ति हमारे अन्दर रहे। हम सुखसे निवास कर सकें ऐसी उत्तम शक्ति हमारे अन्दर रहे।

३ नः स्वस्तिभिः पात--हमारा कल्याण हो और हम सुरक्षित भी हों। सुरक्षाके साथ कल्याण हो।

[१] (१९२) (देवं गोऋजीकं अन्धः असावि) दिव्य गोदुग्धसे मिश्रित सोमरस निचोडा गया है। (ईं इंद्रः अस्मिन् जनुषा नि उवोच) यह इंद्र इस सोमरसमें जन्म स्वभावसे ही संगत होते हैं, प्रीति रखते हैं। हे (हर्यश्व-हरि+अश्व) हरिद्वर्णके घोडोंको जोतनेवाले वीर! हम (त्वा यज्ञैः बोधामसि) तुम्हें यज्ञोंसे जगाते हैं, उत्साहित करते हैं। यहां (अन्धसः मदेषु नः स्तोमं बोध) सोमपानके आनन्दमें हमारे स्तोत्र पाठका श्रवण कर।

सोमयागमें सोम औषधिका रस निकालते हैं। उसमें गौओंका दूध मिला देते हैं। इस दुग्धमिश्रित सोमका अर्पण इन्द्रादि देवोंको करते हैं, इस समय वेद मंत्रोंका गान होता है, और पश्चात् इस रसका पान करते हैं। यह विधि इस मन्त्रमें है।

[२] (१९३) (यज्ञं प्रयन्ति) लोग यज्ञके पास जाते हैं। यज्ञशालामें (बर्हिः विपयन्ति) आसन फैलाये जाते हैं। (विदथे सोममादः दुध्रवाचः) यज्ञमें सोमकूटनेके पत्थर कूटनेका कठोर शब्द

३ त्वमिन्द्र स्रवितवा अपस्कः परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वीः।
त्वद् वावक्रे रथ्यो३ न धेना रेजन्ते विश्वा कृत्रिमाणि भीषा १९४

४ भीमो विवेषायुधेभिरेषामपांसि विश्वा नर्याणि विद्वान्।
इन्द्रः पुरो जर्हृषाणो वि दूधोत् वि वज्रहस्तो महिना जघान १९५

करते हैं, सोम कूटा जाता है। (यशसः दूर-उपब्दः नृ-षाचः) यश देनेवाले, दूरसे जिनका शब्द सुनाई देता है, ऐसे मनुष्योंकी सेवा करनेवाले (वृषणः गृभात् नि म्रियन्ते) बल बढानेवाले सोम कूटनेके पत्थर घरमेंसे लिये जाते हैं।

इस तरह सोम कूटकर सोमका रस निकाला जाता है।

[३] (१९४) हे शूर इंद्र! (त्वं अहिना परिष्ठिता पूर्वीः अपः) तूने वृत्रके द्वारा आक्रान्त होकर स्तब्ध हुए बहुतसे जल प्रवाह (स्रवितवा कः) प्रवाहित होनेवाले बना दिये। (धेना त्वत् रथ्यः न वावक्रे) नदियाँ तेरे कारण ही रथीवीरोंके समान चलने लगी। (विश्वा कृत्रिमाणि भीषा रेजन्ते) सब कृत्रिम भुवन तेरे भयसे कांपते हैं।

'अहि' (अ+हि) कम न होनेवाला शत्रु अ-हि कहलाता है। जिस शत्रुका बल बढता ही जाता है, उसको अ-हि कहते हैं। यह शत्रु हमला करके जलस्थान, नदियाँ आदिपर अपना अधिकार स्थापित करता है, जिससे प्रजा जलसे वंचित रहती है। इन्द्र इस शत्रुको परास्त करता है, जलस्थानोंपर अपना अधिकार स्थापन करता है और जल प्रवाह सब लोगोंके लिये खुले करता है। इस भयंकर युद्धके कारण सब भुवन कांपने लगते हैं।

अहि, वृत्र आदि नाम मेघके अथवा बर्फके हैं। सर्दीके कारण तालाव नदियां बर्फ बनकर सख्त हो जाती हैं, पहाडोंके ऊपर बर्फ जम जाता है। बर्फ बननेके कारण जल बहता नहीं। जल जहांका वहां रुकजाता है। सर्दीका ऋतु समाप्त होते ही सूर्यका उदय होकर प्रखर ताप बढने लगता है। इस सूर्यके तापसे सर्दी दूर होती है और बर्फ पिघलनेके कारण नदियोंको महापूर आते हैं। यही अहि तथा वृत्रका मारा जाना है और नदियोंका चलने लगना है। इसका आलंकारिक वर्णन इन्द्र वृत्र युद्धके रूपमें वेदके मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं।

[४] (१९५) (इन्द्रः नर्याणि विश्वा अपांसि विद्वान्) इन्द्र लोगोंके हितके लिये करने योग्य सब कर्मोंको जानता है। (आयुधेभिः) भीमः एषां विवेष) शस्त्रोंसे भयंकर हुआ इन्द्र इन सत्रुसेनाओंके अन्दर प्रविष्ट होता है। और (पुरः विधुनोत्) शत्रुओंके नगरोंको यह कंपाता है। (जर्हृषाणः महिना वज्र-हस्तः विजघान) हर्षित होकर अपनी महिमासे वज्र हाथमें लेकर शत्रुका वध करता है।

मानवधर्म- सब मानवोंका हित करनेके लिये जो कर्म करने चाहिये उनको प्रथम जानना चाहिये। प्रचण्ड भयंकर शस्त्रोंको लेकर शत्रुसेनामें घुसना चाहिये और उनके नगरों और सेना शिबिरोंको मथना चाहिये। शत्रुपर वज्र प्रहार करके शत्रुका नाश करना चाहिये।

१ नर्याणि विश्वा अपांसि विद्वान्— मानवोंका हित करनेके लिये जो कर्म करना आवश्यक है वे कर्म अच्छी-तरह इन्द्र जानता है। कौनसे कर्म मानवोंका हित करनेके लिये करने चाहिये, और उनको किस तरह करना चाहिये यह सब यह तरुण वीर जानता है।

२ भीमः आयुधेभिः एषां विवेश— यह प्रचण्ड भयंकर वीर आयुधोंको लेकर शत्रुसेनामें घुसता है और 'पुरः विधुनोत्'—उनके नगरोंको मथता है। शत्रुके सब लोग कांपने लगते हैं।

३ जर्हृषाणः वज्रहस्तः महिना जघान— प्रसन्न चित्तसे वज्र हाथमें पकडकर अपनी पूर्ण शक्तिसे शत्रुपर मारता है। और शत्रुको परास्त करता है।

*

५ न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः ।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः १९६

६ अभि क्रत्वेन्द्र भूरध ज्मन् न ते विव्यङ् महिमानं रजांसि ।
स्वेना हि वृत्रं शवसा जघन्थ न शत्रुरन्तं विविदद् युधा ते १९७

[५] (१९६) हे इन्द्र! (यातवः नः न जुजुवुः) राक्षस हमारा घात पात न करें। हे (शविष्ठ) बलशाली वीर! (वंदना वेद्याभिः न) वंदन करके हमारे अन्दर रहनेवाले हमारे अन्तःशत्रु उनके जाननेके साधनोंसे हमारा नाश न कर सकें। (सः अर्यः विषुणस्य जन्तोः शर्धत्) वह आर्य इन्द्र विषम मनुष्य प्राणियोंपर भी अधिकार चलानेकी इच्छा करता है। (शिश्नदेवाः नः ऋतं अपि मा गुः) शिश्न पूजक, ब्रह्मचर्यका पालन न करनेवाले, हमारे यज्ञके पास न आजांय।

मानवधर्म- डाकू हमारे पास न आवें। गुप्तरीतिसे अपने आपको सज्जन बताकर, हमारे समाजमें रहकर, अन्दर ही अन्दरसे हमारा नाश करनेकी आयोजना करनेवालोंका नाश उनके व्यवहारोंको ठीक तरह जानकर किया जावे। हमारे अन्दरके श्रेष्ठ पुरुष दुष्टोंका ठीक तरह शासन करें और हमारे समाजमें शिश्न परायण लोग न रहें।

१ यातवः नः न जुजुवुः--डाकू लुटेरे हमारे पास न आवें और हमें कष्ट न देवें।

२ वंदना वेद्याभिः नः न जुजुवुः-- प्रणाम करके हमारे अन्दर ही नम्रभावसे रहनेवाले हमारे शत्रु, हमारे अन्दर रहकर हमारा नाश करनेकी योजना करनेवाले हमारे अन्तः शत्रु हमें कष्ट न देवें। यह साध्य होनेके लिये 'वेद्याभिः' उनको यथावत् जाननेके साधनोंसे उनको जानना चाहिये। उनके मनके गुप्तभाव जाननेको 'वेद्य' कहते हैं। ऐसा जान कर उनको ऐसा रखना चाहिये कि वे गुप्त रीतिसे कुछ भी उपद्रव न कर सकें। जीवित जाति ऐसा उपाय करके अपना बचाव कर सकती है।

३ सः अर्यः विषुणस्य जन्तोः शर्धत्- वह आर्यश्रेष्ठ वीर विषम भाव रखनेवाले दुष्ट मानवोंका भी ठीक तरह प्रशासन कर सकता है।

४ शिश्नदेवाः नः ऋतं मा गुः-- शिश्नपरायण भोगी लोग हमारे यज्ञमें न आवें।

विजयका मुख्य सूत्र

[६] (१९७) हे इन्द्र! (त्वं क्रत्वा ज्मन् अभिभूः) तू अपने पुरुषार्थसे पृथ्वीके ऊपरके सारे शत्रुभूत प्राणियोंका पराभव करता है (अध ते महिमानं रजांसि न विव्यक्) और तेरी महिमाको सारे लोक नहीं जानते। (स्वेन शवसा हि वृत्रं जघन्थ) अपने बलसे तू वृत्रका वध करता है। (शत्रुः युधा ते अन्तं न विविदत्) शत्रु युद्ध करके तेरा नाश नहीं कर करता।

मानवधर्म- अपने प्रयत्नसे शत्रुका पराभव करना परन्तु अपनी शक्तिका पता अपने शत्रुओंको न होने देना। अपनी शक्तिसे शत्रुका वध करना, परन्तु शत्रु कदापि अपना वध कर न सके ऐसी सुरक्षित स्थितिमें स्वयं रहना।

१ क्रत्वा ज्मन् अभिभूः--अपने पुरुषार्थ प्रयत्नसे अपने शत्रुओंका पूर्ण रीतिसे पराभव करना, परंतु--

२ ते महिमानं रजांसि न विव्यक्--तेरी शक्तिको रजोगुणी भोगी लोग अर्थात् तेरे शत्रु न जान सकें ऐसा प्रबंध करना योग्य है।

३ स्वेन शवसा वृत्रं जघन्थ--अपने निज बलसे घेरनेवाले अपने शत्रुका वध करना, परंतु--

४ शत्रुः युधा ते अन्तं न विविदत्--तेरा शत्रु युद्ध करके तेरा नाश न कर सके, तेरे वध करनेका उपाय शत्रुको विदित न हो सके, ऐसा अपनी सुरक्षाका प्रबंध करना।

इस मंत्रमें विजयका मुख्य सूत्र कहा है जो विजय चाहनेवाले वीरोंको कभी भूलना नहीं चाहिये।

७ देवाश्चित् ते असुर्याय पूर्वेऽनु क्षत्राय ममिरे सहांसि ।
इन्द्रो मघानि दयते विषह्येन्द्रं वाजस्य जोहुवन्त सातौ ॥ १९८

८ कीरिश्चिद्धि त्वामवसे जुहावेशानमिन्द्र सौभगस्य भूरेः ।
अवो बभूथ शतमूते अस्मे अभिक्षत्तुस्त्वावतो वरूता ॥ १९९

९ सखायस्त इन्द्र विश्वह स्याम नमोवृधासो महिना तरुत्र ।
वन्वन्तु स्मा तेऽवसा समीकेऽभीतिमर्यो वनुषां शवांसि ॥ २००

[७] (१९८) हे इन्द्र ! (पूर्वे देवाः चित्) पूर्व देवों अर्थात् असुर लोगोंने (असुर्याय क्षत्राय) अपने बल और क्षात्र तेजको (ते सहांसि अनु-ममिरे) तेरे बलोंकी अपेक्षा हीन ही मान लिया था। यह (इन्द्रः विषह्य मघानि दयते) इन्द्र शत्रुका पराभव करके भक्तोंके लिये धनोंका दान करता है। और (वाजस्य सातौ इन्द्रं जोहुवन्त) धनकी प्राप्तिके लिये भक्त इन्द्रकी स्तुति करते हैं।

असुर लोग जो अपनी शक्तिकी घमेंडमें सदा रहते हैं, वे भी अपनी शक्तिको इन्द्रकी शक्तिसे न्यून ही अनुभव करते हैं। यह इन्द्र शत्रुका पराभव करके, उनसे धन प्राप्त करके, उस धनको अपने अनुयायियोंके लिये बांटता है। तथा धनकी आवश्यकता यज्ञके लिये हुई तो वे अनुयायी इन्द्रके पास ही आकर मांगते हैं।

राक्षस पहिले [पूर्व-देवाः] देव थे, अच्छे सत्पुरुष थे। पश्चात् वे स्वार्थसे बिगड गये, इसलिये वे राक्षस कहलाये गये। संरक्षक ही रात्रीके समय स्वार्थवश चोरी करने लगते हैं और दण्डनीय समझे जाते हैं, वैसा ही यह है। प्रजा उत्पन्न हुई, तब प्रजापतिने पूछा कि तुम क्या कार्य करोगे ? तब कईयोंने कहा कि (यक्ष्यामः) हम यज्ञ करेंगे, उनको प्रजापतिने 'यक्ष' माना। और दूसरोंने कहा कि (रक्षामः) हम प्रजाका संरक्षण करेंगे, उनको प्रजापतिने 'राक्षस' माना। ये 'राक्षस' जनताका संरक्षण करनेवाले थे। ये देव थे। पश्चात् ये ही रक्षक जनताका संरक्षण न करते हुए उनका भक्षण करने लगे, नाना प्रकारसे सताने लगे। इसलिये उन 'रक्षकों' के ही राक्षस माने गये। जो पहिले 'देव' थे वे ही राक्षस हुए। 'पूर्वे देवाः' पदका यह भाव पाठक ध्यानमें धारण करें।

[८] (१९९) हे इन्द्र ! (ईशानं त्वां कीरिः अवसे जुहाव हि) तुझ प्रभुकी प्रार्थना स्तोता अपने संरक्षणके लिये करता है। हे (शतं ऊते) सैंकडों साधनोंसे रक्षा करनेवाले इंद्र ! (अस्मे भूरेः सौभगस्य अवः बभूथ) हमारे बहुतसे धनोंकी सुरक्षा तू कर। तथा (अभिक्षत्तुः त्वावतः वरूता) तेरे साथ स्पर्धा करनेवाले शत्रुका निवारण कर।

मानवधर्म— अपने राष्ट्रके कारीगरोंका संरक्षण करना चाहिये। अनेक रीतिसे शत्रु आक्रमण करते हैं, उतने सैंकडों आक्रमणोंके क्षेत्रोंमें बचाव करना चाहिये। प्रजाओंके अनेक प्रकारके धनोंका संरक्षण होना चाहिये। स्पर्धा करनेवाले दुष्ट शत्रुओंका निवारण करना चाहिये।

१ कीरिः अवसे ईशानं जुहाव-- कारीगर अपनी सुरक्षाके लिये राजाको बुलावें। राजा अथवा राजपुरुष अपने राष्ट्रके कारीगरोंका संरक्षण करें।

२ शतं ऊतिः— राजा अनेक साधनोंसे अपनी प्रजाका संरक्षण करें।

३ भूरेः सौभगस्य अवः-- नागरिकोंके सभी धनों और सौभाग्योंका संरक्षण होना चाहिये। यह राजाका कर्तव्य है।

४ त्वावतः अभिक्षत्तुः वरूता— तेरे साथ चारों ओरसे हिंसा करनेमें स्पर्धा करनेवाले शत्रुओंका निवारण कर।

[९] (२००) हे इंद्र ! (ते नमोवृधासः विश्वह सखायः स्याम) तेरे यशकी वृद्धि करनेवाले हम सब सदा तेरे मित्र होकर रहेंगे। हे (महिना तरुत्र) अपनी शक्तिसे तारण करनेवाले इंद्र ! (ते अवसा) तेरे संरक्षणसे (समीके अर्यः अभीतिं) संग्राममें आर्य वीर अनार्य आक्रमकोंका तथा (वनुषां शवांसि वन्वन्तु) हिंसकोंके बलोंका नाश करें।

१० स न इन्द्र त्वयताया इषे धास्त्मना च ये मघवानो जुनन्ति ।
वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्तिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः २०१

(२२) ९ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। इन्द्रः। विराट्, ९ त्रिष्टुप्।

१ पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः ।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा २०२

२ यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि ।
स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु २०३

३ बोधा सु मे मघवन् वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम्
इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व २०४

मानवधर्म- यज्ञ करनेवाले सदा मित्रभावसे आपसमें मिलजुल संघटित होकर रहें। अपनी शक्ति बढाकर लोगोंका तारण करें। युद्धमें आर्यदलके वीर अनार्य दलके आक्रमणकारियोंको तथा सभी हिंसक दुष्टोंको विनष्ट करें।

१ नमो वृधासः विश्वहा सखायः स्याम- अन्नकी वृद्धि करनेकी इच्छा करनेवाले सभी आपसमें सदा मित्रभावसे मिल जुलकर रहें।

२ महिना तरुत्रः—अपनी शक्ति बढाकर जनताका संरक्षण कर।

३ अवसा समीके अर्यः अभीतिं वनुषां शवांसि वन्वन्तु—अपने बलसे युद्धमें आर्यदलके वीर आक्रमणकारियोंका तथा हिंसकोंके सब प्रकारके बलोंका नाश करें।

'**नमो-वृधासः**'-अन्नसे बढनेवाले, अन्नकी वृद्धि करनेवाले, शस्त्रसे बढनेवाले। '**नमः**'—अन्न, शस्त्र। 'तरुत्रः' (तरु-त्रः)- स्वयं तैरकर दूसरोंका संरक्षण करनेवाले। '**समीके**' (सं+ईके) सब ओरसे समूहके द्वारा जिसमें आक्रमण होता है, चारों ओरसे मारपीट होनेवाला युद्ध। '**अभीति**' (अभि+इति) चारोंओरसे जिसमें आक्रमण होता है।

[१०] (२०१) यह मंत्र १९१ स्थानपर अर्थके लिये देखो॥

[१] (२०२) हे इंद्र! (सोमं पिब) सोमका यह रस पीओ। (त्वां मन्दतु) यह सोमरस तुझे आनंद देवे। हे (हर्यश्व) उत्तम घोडोंको जोतनेवाले वीर! (ते सोतुः बाहुभ्यां, अर्वा न सुयतः, अद्रिः यं सुषाव) तेरे लिये यह सोमरस निचोडनेवालेके बाहुओंसे, रश्मियोंसे संयमित किये घोडेके समान, ये पत्थर इस रसको निकालते हैं।

पत्थरोंसे कूटकर सोमरस निकालते हैं। दोनों हाथोंसे ये पत्थर पकडे जाते हैं, जिस तरह सारथी घोडोंको संभालता है, उस तरह ये पत्थर दोनों हाथोंसे संभाले जाते हैं। इस मंत्रमें (सुयतः अर्वा न) वशीभूत घोडेकी उपमा पत्थरको दी है। हाथसे ठीक तरह संभाल कर न पकडे गये तो वे पत्थर स्थानपर रहेंगे नहीं और कूटनेका कार्य ठीक तरह होगा भी नहीं।

[२] (२०३) हे (हर्यश्व) हे घोडोंवाले इंद्र! (ते यः युज्यः चारुः मदः) जो यह तेरे योग्य उत्तम आनंद देनेवाला सोम है। (येन वृत्राणि हंसि) जिसके पीनेसे तू वृत्रोंका वध करता है। हे (प्रभुवसो) बहुत धनवाले इंद्र! (सः त्वां ममत्तु) वह तुम्हें आनन्द देवे।

सोम पीनेसे उत्साह और शक्ति बढती है, जिसके पश्चात् वृत्रोंका वध इन्द्र करता है। यह सोम शक्तिवर्धक है।

[३] (२०४) हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र! (ते प्रशस्तिं) तेरे प्रशंसारूप (यां इमां वाचं वसिष्ठः अर्चति) जिस स्तोत्रका पाठ वसिष्ठ कर रहा है (तां मे वाचं सु आबोध) उस मेरी वाणीको तू अच्छी तरह जान लो। और (इमा ब्रह्माणि सधमादे जुषस्व) इन स्तोत्रोंको यज्ञमें स्वीकृत करो।

वैदिक सूक्तोंसे उपासना होती है।

४ श्रुधी हवं विपिपानस्याद्रेर्बोधा विप्रस्यार्चतो मनीषाम्।
कृष्वा दुवांस्यन्तमा सचेमा २०५

५ न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान्
सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि २०६

६ भूरि हि ते सवना मानुषेषु भूरि मनीषी हवते त्वामित्।
मारे अस्मन्मघवञ्ज्योक् कः २०७

७ तुभ्येदिमा सवना शूर विश्वा तुभ्यं ब्रह्माणि वर्धना कृणोमि।
त्वं नृभिर्हव्यो विश्वधासि २०८

८ नू चिन्नु ते मन्यमानस्य दस्मोदश्नुवन्ति महिमानमुग्र।
न वीर्यमिन्द्र ते न राधः २०९

९ ये च पूर्व ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः।
अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः २१०

---

[४] (२०५) हे इंद्र! (विपिपानस्य अद्रेः हवं श्रुधि) सोमरसका पान करनेवाले पत्थरकी इस प्रार्थनाका श्रवण कर। (अर्चतः विप्रस्य मनीषां बोध) पूजा करनेवाले इस ब्राह्मणकी मनकी इच्छाको जान लो। (इमा दुवांसि अन्तमा सचा कृष्व) इन सेवाओंको अन्तःकरणमें पहुंचनेवाली साथ साथ करो। ये प्रार्थनाएं तुम्हारे अन्तः करणमें पहुंचे।

[५] (२०६) हे इंद्र! (ते असुर्यस्य विद्वान्) तेरे सामर्थ्यको जाननेवाला मैं (तुरस्यः गिरः अपि न मृष्ये) शत्रुका विनाश करनेवाले ऐसे तेरी प्रशंसाके भाषणोंको नहीं छोडूंगा और (न सुष्टुतिं) नहीं तुम्हारी स्तुति करना छोडूंगा। (स्वयशसः ते नाम सदा विवक्मि) उत्तम यशस्वी ऐसे तेरा नाम मैं सदा लेता ही रहूंगा।

इन्द्र शत्रुका नाश करता है इसलिये मैं उसका काव्य गाऊंगा और उसका यशस्वी नाम भी लेता रहूंगा।

[६] (२०७) हे (मघवन्) धनवान् इंद्र! (ते सवना मानुषेषु भूरि हि) तेरे लिये सोमरस निकालनेके सवन मनुष्योंमें बहुत हैं। (मनीषी त्वां इत् भूरि हवते) ज्ञानी स्तोता तेरा ही आह्वान करता है। (अस्मत् आरे ज्योक् मा कः) हमसे दूर अपने आपको तू न कर।

इन्द्रके लिये मनुष्य सोमरस निकालते हैं, उसके स्तोत्र गाते हैं और उसको अपने पास चाहते हैं।

[७] (२०८) हे शूर! (तुभ्य इत् इमा विश्वा सवना) तुम्हारे लिये ही ये सब सोमके सवन हैं। (तुभ्यं वर्धना ब्रह्माणि कृणोमि) तुम्हारे लिये ही ये यश बढानेवाले स्तोत्र हैं। (त्वं नृभिः विश्वधा हव्यः असि) तू ही मनुष्यों द्वारा प्रार्थना करने योग्य है।

[८] (२०९) हे (दस्म) दर्शनीय वीर! (मन्यमानस्य ते महिमानं नू चित् उत् अश्नुवन्ति) सन्माननीय ऐसी तेरी महिमाका कोई पार नहीं लगा सकते। तेरी महिमा अपार है। हे (उग्र) शूर वीर! (ते राधः वीर्यं न उत् अश्नुवन्ति) तेरे धन और वीर्यका भी पार किसीको लगता नहीं है।

इन्द्रकी महिमा, धन और पराक्रम शक्ति अपार है।

[९] (२१०) हे इंद्र! (ये च पूर्वे ऋषयः) जो प्राचीन ऋषि थे (ये च नूत्नाः) और जो नवीन ऋषि हैं, जो (विप्राः ब्रह्माणि जनयन्त) ज्ञानी विद्वान् स्तोत्रोंको करते हैं (अस्मे ते सख्यानि शिवानि सन्तु) उनमें और हम सबमें तेरी मित्रताएँ कल्याण करनेवाली हों। (यूयं सदा नः) तुम सब हम सबको सदा (स्वस्तिभिः पात) कल्याण करनेके साधनोंसे सुरक्षित कीजिये।

(२३) ६ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

१ उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि ॥ २११

२ अयामि घोष इन्द्र देवजामिरिरज्यन्त यच्छुरुधो विवाचि ।
नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु तानीदंहांस्यति पर्ष्यस्मान् ॥ २१२

३ युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः ।
वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वेन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान् ॥ २१३

४ आपश्चित् पिप्युः स्तर्यो न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र ।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥ २१४

[१] (२११) (श्रवस्या ब्रह्माणि उत् ऐरयत उ) यशकी इच्छासे स्तोत्रोंको इन्द्रकी प्रसन्नताके लिये प्रेरित करो। हे वसिष्ठ! (समर्ये इंद्रं महय) यज्ञमें इंद्रके महत्त्वका वर्णन कर। (यः विश्वानि शवसा ततान) जो सब भुवनोंको अपने बलसे फैलाता है, (ईवतः मे वचांसि उपश्रोता) उपासना करनेवाले ऐसे मेरे स्तुतियोंको वही सुननेवाला है।

ईश्वर इन सब भुवनोंको यथायोग्य रीतिसे निर्माण करके यथास्थान रखता है, वही सबकी पुकार सुनता है उसीका यश गाओ और उसीको प्रसन्न करो।

[२] (२१२) (यत् शु-रुधः इरज्यन्त) जब शोकको रोकनेवाली कृतियां बढती हैं, तब हे इंद्र! (विवाचि देवजामिः घोषः अयामि) हमारी स्तुतिका घोष देवताके पास मैं पहुंचाता हूं। (जनेषु स्वं आयुः नहि चिकीते) लोगोंमें अपनी आयुको कोई नहीं जानता, जिससे आयु क्षीण होती है (तानि अंहांसि इत् अस्मान् अति पर्षि) उन सब पापोंसे हमें पार ले जाओ।

(शु-रुधः) शोक या दुःखको रोकनेके कार्य करने चाहियें। ईश्वरकी स्तुति शोकको दूर रख सकती है, इसलिये ईश्वर स्तुति करनी चाहिये। इससे शोकको दूर करनेका मार्ग मिल सकता है। अपनी आयु कहांतक होगी यह कोई मनुष्य नहीं जान सकता, परंतु मनुष्य पापसे तो अपने आपको बचा सकता है। उतना मनुष्य अवश्य करे।

[३] (२१३) (गवेषणं रथं हरिभ्यां युजे) गौवें प्राप्त करानेवाले इंद्रके रथको मैं दो घोडे जोतता हूं। (ब्रह्माणि जुजुषाणं उप अस्थुः) स्तोत्र हमारे सेवा करने योग्य इंद्रकी उपासना करते हैं। (स्यः इंद्रः महित्वा रोदसी वि बाधिष्ट) यह इंद्र अपनी महत्त्वसे द्यावापृथिवीको व्यापता है। (इन्द्रः वृत्राणि अप्रति जघन्वान्) इंद्र वृत्रोंको अतुलनीय रीतिसे मारता है।

१ इन्द्रः महित्वा रोदसी विबाधिष्ट—ईश्वर अपने महत्त्वसे द्यावा पृथिवीको व्यापता है।

२ इन्द्रः वृत्राणि अप्रति जघन्वान्—इन्द्र शत्रुओंको अप्रतिम रीतिसे नष्ट करता है।

[४] (२१४) हे इंद्र! (आपः चित्, स्तर्यः गावः न पिप्युः)— जल प्रवाह, प्रसूत न हुई गाय की तरह, बढते जांय। (ते जरितारः ऋतं नक्षन्) तेरे स्तोतागण यज्ञको व्यापते रहें, यज्ञ करें। (नियुतः, वायुः न, नः अच्छ याहि) घोडा वायुके समान हमारे पास सीधा आजावे। अर्थात् इंद्र वेगसे आवे। (त्वं हि धीभिः वाजान् विदयसे) तूं बुद्धियोंके साथ अन्नों और बलोंको देता है।

५ ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराधसं जरित्रे ।
एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिञ्छूर सवने मादयस्व २१५

६ एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वासिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः ।
स नः स्तुतो वीरवद् धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः २१६

(२४) ६ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

१ योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्र याहि ।
असो यथा नोऽविता वृधे च ददो वसूनि ममदश्च सोमैः २१७

---

१ **स्तर्यः गावः न आपः चित् पिप्युः**—अप्रसूत गौवें अधिक पुष्ट होती हैं वैसे जलके स्रोत बढें ।

१ **ऋतं नक्षन्**—यज्ञ करते रहें । कोई यज्ञ करना छोड न देवे ।

३ **त्वं धीभिः वाजान् विदयसे**— तू बुद्धियोंके साथ अन्नों और बलोंको देता है । बुद्धि देता है, अन्न देता है और बल भी देता है ।

[५] (२१५) हे इंद्र! (त्वा ते मदाः मादयन्तु) तुझे ये सोमरस आनन्द देवें। (जरित्रे शुष्मिणं तुविराधसं) तेरे उपासकको बलवान् और अनेक सिद्धि जिसको प्राप्त हैं ऐसा पुत्र हो। (हि देवत्रा एकः मर्तान् दयसे) देवोंमें एक ही तू देव मानवोंपर दया करता है। (अस्मिन् सवने, हे शूर! मादयस्व) इस यज्ञमें, हे शूर! तू आनन्दित हो।

१ **शुष्मिनं तुविराधसं (पुत्रं)**-- बलवान् और अनेक कला सिद्धियाँ जिसको प्राप्त हैं, अनेक प्रकारका धन जिसको प्राप्त होता है ऐसा पुत्र होना चाहिये। 'संसिद्धि' का अर्थ 'राधः' शब्दसे प्रकट होता है। जिसको अनेक सिद्धियां प्राप्त हैं ऐसा पुत्र हो। पुत्रको सुशिक्षासे अनेक सिद्धियां प्राप्त हों।

२ **देवत्रा एकः मर्तान् दयसे**—देवोंमें एक ही मानवोंपर दया करनेवाला है। मानवोंपर दया करना योग्य है।

[६] (२१६) (वासिष्ठासः वज्रबाहुं वृषणं इंद्रं एव इत्) वासिष्ठ लोग वज्रके समान बाहुवाले बलवान् इंद्रको (अर्कैः अभि अर्चन्ति) स्तोत्रोंसे पूजते हैं। (सः स्तुतः वीरवत् गोमत् नः धातु) वह स्तुति करनेपर वीरोंसे और गौओंसे युक्त धन हमें देवे। (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) आप कल्याण करनेके साधनोंसे सदा हमें सुरक्षित रखो।

१ **वज्रबाहुं वृषणं अर्चन्ति**— वज्रके समान शक्तिशाली बाहुओंवाले बलवान् वीरकी सब पूजा करते हैं।

२ **सः वीरवत् गोमत् नः धातु**—वह वीरोंसे युक्त भी तथा गौओंसे युक्त धन हमें देवे। हमें वीरपुत्र हों और हमारे घरमें गौवें रहें।

[१] (२१७) हे इन्द्र! (ते सदने योनिः अकारि) तेरे बैठनेके लिये यह स्थान बनाया है। हे (पुरुहूत) बहुतोंद्वारा सुपूजित इन्द्र! (तं नृभिः आ प्र याहि) उस स्थानके प्रति तू अपने साथी नेताओंके साथ जा। और (नः यथा अविता वृधे च असः) हमारा संरक्षक हो और हमारे संवर्धन करनेके लिये तू सिद्ध रह। (वसूनि च ददः) अनेक प्रकारके धन दे और (सोमैः ममदः च) हमने दिये सोमरससे आनन्दित हो।

१ **सदने योनिः अकारि**—रहनेके लिये घर बनाओ,

२ **नृभिः आप्रयाहि**—नेताओंके साथ भ्रमण कर, श्रेष्ठोंके साथ घूमता रह।

३ **अविता वृधे च असः**—संरक्षक और बढानेवाला हो,

४ **वसूनि ददः**— धनका दान कर।

२ गृभीतं ते मन इन्द्र द्विबर्हाः सुतः सोमः परिषिक्ता मधूनि ।
विसृष्टधेना भरते सुवृक्तिरियमिन्द्रं जोहुवती मनीषा ॥ २१८

३ आ नो दिव आ पृथिव्या ऋजीषिन्निदं बर्हिः सोमपेयाय याहि ।
वहन्तु त्वा हरयो मद्र्यञ्चमाङ्गूषमच्छा तवसं मदाय ॥ २१९

४ आ नो विश्वाभिरूतिभिः सजोषा ब्रह्म जुषाणो हर्यश्व याहि ।
वरीवृजत् स्थविरेभिः सुशिप्राऽस्मे दधद् वृषणं शुष्ममिन्द्र ॥ २२०

५ एष स्तोमो मह उग्राय वाहे धुरीऽवात्यो न वाजयन्नधायि ।
इन्द्र त्वायमर्क ईट्टे वसूनां दिवीव द्यामधि नः श्रोमतं धाः ॥ २२१

---

[२] (२१८) हे इन्द्र ! (द्विबर्हाः ते मनः गृभीतं) दोनों स्थूल और सूक्ष्म— स्थानोंमें रहनेवाले ऐसे तेरे मनको हमने अपनी ओर आकर्षित किया है। यहां (सोमः सुतः) सोमरस तैयार है। (मधूनि परिषिक्ता) शहद उसमें मिलाया है। (विसृष्टधेना इयं जोहुवती मनीषा सुवृक्तिः) मध्यम स्वरसे उच्चारी जानेवाली यह प्रार्थनामय मनन योग्य स्तुति (इन्द्रं भरते) इन्द्रके लिये उच्चारी जाती है।

(विसृष्टधेना मनीषा सुवृक्ती) जिह्वा जिसमें शनैः शनैः प्रयुक्त की जाती है, अर्थात् मध्यम स्वरसे जिसका उच्चारण किया जाता है वह मननीय उत्तम वचनोंवाली ईश्वरस्तुति है। यही मानवोंकी तारक है।

सोमरस छाननेके बाद उसमें शहद मिलाया जाता और पश्चात् विधिपूर्वक पिया जाता है। देवताओंको अर्पण करके, हवन करके पश्चात् पीया जाता है।

[३] (२१९) हे (ऋजीषिन्) सोमपान करनेवाले इन्द्र ! (नः इदं बर्हिः) यह हमारा आसन है, उसपर बैठकर (सोमपेयाय) सोमपान करनेके लिये (दिवः पृथिव्याः आ याहि) द्युलोकसे अथवा पृथिवीके ऊपरसे, जहां तुम होगे वहांसे, आओ। (तवसं मद्र्यंचं त्वा) बलवान और मेरी ओर आनेवाले ऐसे तुझे (हरयः आंगूषं अच्छ मदाय वहन्तु) घोडे स्तोत्र पाठके स्थानके पास आनन्द लेनेके लिये तुझे सीधा ले आवें।

[४] (२२०) हे (हर्यश्व) उत्तम घोडोंको जोतनेवाले (सुशिप्र) उत्तम शिरस्त्राणवाले इंद्र ! (विश्वाभिः ऊतिभिः सजोषाः) संपूर्ण संरक्षणके साधनोंसे युक्त रहनेवाला तू (स्थविरेभिः वरीवृजत्) युद्धनिपुण श्रेष्ठ वीरोंके साथ रहकर शत्रुका नाश करता है। (अस्मे वृषणं शुष्मं दधत्) हमें बलवान सामर्थ्यशाली पुत्रको देता है। ऐसा तू (ब्रह्म जुषाणः नः आ याहि) स्तोत्रको सुननेके लिये हमारे पास आ।

१ वृषणं शुष्मं वीरं दधत्— बलवान और सामर्थ्यवान् पुत्र चाहिये। निर्बल और निस्तेज पुत्र न हो, परंतु सामर्थ्यवान् हो।

२ हर्यश्वः सुशिप्रः—शीघ्रगामी घोडे हों और वीरके लिये कवच हो।

३ विश्वाभिः ऊतिभिः सजोषाः स्थविरेभिः वरीवृजत्—संपूर्ण संरक्षणकी शक्तियोंके साथ अपना वीर रहे, और युद्ध कलामें जो वृद्ध अर्थात् निपुण वीर हैं, उनको अपने साथ रखकर शत्रुओंको दूर करे। यहां ' स्थविर ' का प्रसिद्ध अर्थ ' जीर्ण वृद्ध बुड्ढा ' नहीं है। विद्यामें वृद्ध अर्थात् अनुभवी वीर ऐसा अर्थ यहां इष्ट है।

[५] (२२१) (महे उग्राय वाहे) महान वीर विश्वके संचालक इन्द्रके लिये, (धुरि इव अत्यः न) रथकी धुरामें घोडे जोतनेके समान, (वाजयन् एष स्तोमः अधायि) बल प्रकट करनेवाला यह स्तोत्र किया है। हे इन्द्र ! (त्वा अयं अर्कः

६ एवा न इन्द्र वार्यस्य पूर्धि प्र ते महीं सुमतिं वेविदाम ।
इषं पिन्व मघवद्भ्यः सुवीरां यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः २२२

(२५) ६ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

१ आ ते मह इन्द्रोत्युग्र समन्यवो यत् समरन्त सेनाः ।
पताति दिद्युन्नर्यस्य बाह्वोर्मा ते मनो विष्वद्र्यग्वि चारीत् २२३

२ नि दुर्ग इन्द्र श्नथिह्यमित्राँ अभि ये नो मर्तासो अमन्ति ।
आरे तं शंसं कृणुहि निनित्सोरा नो भर संभरणं वसूनाम् २२४

वसूनां इट्टे) तेरे पास यह स्तोता धनोंको मांगता है। वह तूं (नः दिवि इव श्रोमतं अधि धाः) हमारे लिये द्युलोकमें भी यशस्वी धन या पुत्र दे।

१ मह उग्राय वाहे वाजयन् एषं स्तोमः अधायि —बडे उग्र वीरका प्रभाव वर्णन करनेवाला यह काव्य है। काव्यमें वीरका वर्णन किया जाता है।

२ धुरि अत्यः अधायि—रथ खींचनेके लिये दौडनेवाला घोडा जानते हैं। वैसा यह काव्य वीरका यश फैलानेवाला है।

३ अयं वसूनां इट्टे--यह धन मांगता है, चाहता है।

४ नः श्रोमतं अधिधाः— हमें धन कमानेवाला पुत्र हो। यशस्वी पुत्र हो।

[६] (२२२) हे इन्द्र ! (नः एव वार्यस्य पूर्धि) हमें संरक्षणीय धनसे परिपूर्ण कर। भरपूर धन दे डाल। (ते महीं सुमतिं प्र वेविदाम) तेरी महनीय सुमति हम सब प्राप्त करेंगे। (मघवद्भ्यः सुवीरां इषं पिन्व) हम धनवानोंके लिये वीर युक्त धन दे डाल। (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) आप कल्याणोंके साथ सदा हमें सुरक्षित रखिये।

१ नः वार्यस्य पूर्धि—हमें संरक्षण करने योग्य धन भरपूर दे।

२ ते महीं सुमतिं प्रवेविदाम—तेरा बडा आशीर्वाद हमें मिले।

३ सुवीरां इषं पिन्व—उत्तम वीर जिसके साथ रहते हैं वह धन हमें मिले। वीर पुत्रोंके साथ रहनेवाला धन हमें प्राप्त हो।

[१] (२२३) हे उग्र इन्द्र! (यत् समन्यवः सेनाः समरन्त) जब उत्साहयुक्त सेना युद्ध करती है तब (महः नर्यस्य ते बाह्वोः दिद्युत्) मानवोंका हित करनेवाले ऐसे तेरे बडे बाहुओंमें रहा शस्त्र (ऊती पताति) हमारी सुरक्षा करनेके लिये शत्रुपर गिरे। तेरा (विश्वद्र्यक मनः) सर्वतोगामी मन (मा विचारीत्) इधर उधर न जाय, वह हमारे हितके कार्यमें ही लग जाय।

१ समन्यवः सेनाः समरन्त—उत्साही सेना युद्ध करती है। जिसमें उत्साह नहीं वह क्या करेगी ?

२ नर्यस्य महः बाह्वोः दिद्युत ऊती पताति— मानवोंका हित करनेका यत्न करनेवाले महान वीरका तेजस्वी शस्त्र मानवोंका हित करनेके लिये ही शत्रुपर गिरे। अर्थात् जो मानवोंके हितमें बिगाड करता है वही शत्रु है और उसीका नाश शस्त्रसे करना चाहिये।

३ विश्वद्र्यक् मनः मा विचारीत्—इधर उधर भटकने वाला वीरका मन मानवोंके हित करनेके कार्यको छोडकर इधर उधर न विचरे, इसी कर्तव्यमें दत्तचित और स्थिर रहे।

४ उग्रः—वीर पुरुष उग्र हो। मन्द न हो, शिथिल न हो, निर्बल निस्तेज न हो।

[२] (२२४) हे इन्द्र ! (दुर्गे ये मर्तासः अभि युद्धमें जो शत्रुके मानव वीर हमारे सन्मुख खडे रहकर (नः अमन्ति) हमारा पराभव करना चाहते हैं, उन (अमित्रान् निश्नथिहि) शत्रुओंक नाश कर। तथा (निनित्सोः तं शंसं आरे कृणुहि निंदा करनेवाले शत्रुके उस प्रलापको दूर कर औ

३ शतं ते शिप्रिन्नूतयः सुदासे सहस्रं शंसा उत रातिरस्तु ।
जहि वधर्वनुषो मर्त्यस्याऽस्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि २२५
४ त्वावतो हीन्द्र क्रत्वे अस्मि त्वावतोऽवितुः शूर रातौ ।
विश्वेदहानि तविषीव उग्रँ ओकः कृणुष्व हरिवो न मर्धीः २२६
५ कुत्सा एते हर्यश्वाय शूषमिन्द्रे सहो देवजूतमियानाः
सत्रा कृधि सुहना शूर वृत्रा वयं तरुत्राः सनुयाम वाजम् २२७

(नः वसूनां संभरणं आ भर) हमारे पास धनोंको भरपूर ले आओ।

मानवधर्म - युद्धमें रहकर जो वीर हमारा नाश करना चाहते हैं वे शत्रु हैं, उनका नाश करना चाहिये। शत्रुओंके निंदाभरे शब्द सुनने नहीं चाहिये। अनेक प्रकारका भरपूर धन प्राप्त करना चाहिये।

१ दुर्गे मर्तासः नः अमन्ति, अमित्रान् नि श्नथिहि—युद्धमें अथवा कीलेमें रहकर जो शत्रुके वीर हमारा नाश करनेके इच्छुक हैं वे शत्रु हैं, उनका नाश करो। ये ही नाश करने योग्य हैं।

२ निनित्सो शंसं आरे कृणुहि——निंदकोंके शब्द दूर करो अर्थात् उनको तुम न सुनो।

३ वसूनां संभरणं नः आभर—धनोंका समूह हमारे पास ले आओ। बहुत प्रकारके धन हमें प्राप्त हों।

[३] (२२५) हे (शिप्रिन्) शिरस्त्राण धारण करनेवाले इन्द्र ! (ते शतं ऊतयः सुदासे) तेरी सैंकडों प्रकारकी संरक्षणकी साधनें हमारे जैसे तेरे उत्तम भक्तके संरक्षणके लिये रहें। तथा (सहस्रं शंसाः सन्तु) हजारों प्रशंसाएं हों। तथा (उत रातिः) वैसा दान भी हो। (वनुषः मर्त्यस्य वधः जहि) हिंसक शत्रुके मनुष्यके वधकारी शस्त्रको विनष्ट कर। और (अस्मे द्युम्नं रत्नं च अधि धेहि) हमें तेजस्वी रत्न दो।

मानवधर्म - जो मानवोंकी सेवा करते हैं उनको उत्तम संरक्षण मिलना चाहिये। उनको ही दान मिले। उनकी प्रशंसा हो। घातपात करनेवालोंको दूर करना चाहिये।

१ सुदासे शतं ऊतयः--उत्तम दाता भक्तके संरक्षणके लिये सैकडों संरक्षणके साधन रहें। ऐसे सज्जनोंका संरक्षण हो। '**सु-दास**' वह है कि जो जनताकी सेवा करता है। यही सज्जनका लक्षण है।

२ सुदासे सहस्रं शंसाः सन्तु--उत्तम दाता भक्तके संरक्षणके लिये हजारों प्रशंसा योग्य संरक्षक साधन सदा तैयार रहें।

३ रातिः अस्तु—उक्त प्रकारके सज्जनको ही दान मिले, सुखसाधन प्राप्त हों।

४ वनुषः मर्त्यस्य वधः जहि—घातपात करनेवाले शत्रुके मनुष्यने हमारा वध करनेके लिये जो शस्त्रके प्रयोग किये हों, उनका नाश कर।

५ अस्मे द्युम्नं रत्नं अधि धेहि--हमें तेजस्वी रत्न प्राप्त हों। तेजस्वी रत्नका तात्पर्य यह है कि रत्नोंपर उत्तम संस्कार करके उत्तम चमकनेवाले रत्न बनाये जाते हैं ऐसे संस्कार किये रत्न हमारे पास हों। ' द्युम्नं रत्नं ' इन शब्दोंसे रत्नोंपर चमक लानेकी विद्या थी ऐसा सिद्ध होता है।

[४] (२२६) हे इन्द्र ! (त्वावतः क्रत्वे अस्मि हि) तेरे अनुकूल कर्ममें ही मैं दत्तचित्त रहता हूं। हे शूर ! (अवितुः त्वावतः रातौ) तेरे अनुकूल रहकर संरक्षण करनेवालेके दान मुझे मिलें। हे (तविषीवः उग्र) बलवान् उग्र वीर! (विश्वा अहानि ओकः कृणुष्व) सब दिनोंमें हमारा घर अपना ही घर करो, हमारे पास रहो। हे (हरिवः) उत्तम घोडोंवाले वीर (न मर्धीः) हमारा नाश न कर।

[५] (२२७) (एते वयं हर्यश्वाय शूषं कुत्साः) ये हम सब उत्तम घोडे पास रखनेवाले इन्द्रके लिये सुखकर स्तोत्र करते हैं। (इन्द्रे देवजूतं सहः

६ एवा न इन्द्र वार्यस्य पूर्धि प्र ते महीं सुमतिं वेविदाम ।
इषं पिन्व मघवद्भ्यः सुवीरां यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः २२८

(२६) ५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

१ न सोम इन्द्रमसुतो ममाद नाब्रह्माणो मघवानं सुतासः ।
तस्मा उक्थं जनये यज्जुजोषन्नृवन्नवीयः शृणवद् यथा नः २२९

२ उक्थउक्थे सोम इन्द्रं ममाद नीथेनीथे मघवानं सुतासः ।
यदीं सबाधः पितरं न पुत्राः समानदक्षा अवसे हवन्ते २३०

३ चकार ता कृणवन्नूनमन्या यानि ब्रुवन्ति वेधसः सुतेषु ।
जनीरिव पतिरेकः समानो नि मामृजे पुर इन्द्रः सु सर्वाः २३१

इयानाः) इन्द्रके पाससे देवोंद्वारा सेवित बल प्राप्त करनेकी इच्छा हम करते हैं। (तरुत्रा वाजं सनुयाम) दुःखसे पार होनेवाले हम बलको प्राप्त करेंगे। हे शूर ! (वृत्रा सत्रा सुहना कृधि) शत्रुओंको सदा सहज रीतिसे वधके योग्य करो। शत्रुओंका वध सहज ही हो जावे ऐसा कर।

मानवधर्म – उत्तम वीरके काव्य गान करो। प्रशंसनीय बल प्राप्त करो। दुःखसे दूर होनेका यत्न प्रथम करो और भोग पीछेसे करो। अपना बल बढाओ और शत्रु सहजहीसे विनष्ट हो सके ऐसा यत्न करो।

१ हर्यश्वाय शूषं कृत्साः—उत्तम घोडोंकी पालना करनेवाले शूरका ही काव्य हम करेंगे। जो वीर नहीं उनका काव्य कदापि नहीं करेंगे।

२ देवजूतं सहः इयानाः—देव भी जिसकी प्रशंसा करेंगे वैसा बल हमें प्राप्त हो। सज्जनों द्वारा प्रशंसा होने योग्य बल हमारे पास हो।

३ तरुत्रा वाजं सनुयाम— दुःखोंसे पार होकर हम बल अन्न तथा सुख प्राप्त करेंगे।

४ सत्रा वृत्रा सुहना कृधि—सदा शत्रु सहज ही से नाश करने योग्य हों, अर्थात् अपना बल इतना बढे कि शत्रुका नाश सहजहीसे हो सके।

[६] (२२८) इस मन्त्रकी व्याख्या ६ (२२२) के मन्त्रके स्थानपर देखो।

[१] (२२९) (मघवानं इन्द्रं असुतः सोमः न ममाद) धनवान इन्द्रके लिये जो सोमरस निचोडा नहीं वह सोम आनंद नहीं देता। (सुतासः अब्रह्माणः न) रस निकालनेपर जो स्तोत्र पाठ रहित होता है वह सोम भी आनंद नहीं देता। (नः यत् उक्थं) हमारा जो सूक्त इन्द्र (जुजोषत्) स्वीकार करेगा (यथा नृवत् शृणवत्) और मनुष्योंमें बैठकर सुनेगा वैसा (नवीयः उक्थं तस्मै जनये) नवीन स्तोत्र उस वीरके लिये मैं बनाता हूं।

सोमरस इन्द्रके लिये निकाला जाय, उसे अर्पण किया जाय, और स्तोत्र पाठसे जो पवित्र हुआ हो वही सोम सच्चा आनंद देता है। हम ऐसा स्तोत्र पाठ करते हैं कि जो इस वीरको प्रिय लगे और सभामें बैठकर वह इसे ध्यानसे सुनना भी चाहें।

[२] (२३०) (उक्थे उक्थे सोमः इंद्रं ममाद) प्रत्येक स्तोत्रमें सोम इंद्रको आनंद देता है। (सुतासः नीथे नीथे मघवानं) सोमरस प्रत्येक प्रार्थनाके मंत्रमें धनवान् इंद्रकी प्रशंसा गाते हैं, (पुत्राः पितरं न) पुत्र जैसे पिताको बुलाते हैं उस तरह (सबाधः समानदक्षाः ईं अवसे हवन्ते) इकट्ठे मिले समानतया दक्ष रहनेवाले लोग अपनी सुरक्षाके लिये इंद्रको बुलाते हैं।

[३] (२३१) (वेधसः सुतेषु यानि ब्रुवन्ति) स्तोत्र पाठ करनेवाले सोमरस निकालनेके समय जिन इंद्रके कर्मोंका वर्णन करते हैं, (ता नूनं चकार) वे कर्म निश्चय ही इंद्रने पूर्व समयमें किये थे, (कृणवत् अन्या) दूसरे कर्म वह अब भी करता है। वही इंद्र (सर्वाः पुरः) शत्रुके सब

४ एवा तमाहुरुत शृण्व इन्द्र एको विभक्ता तरणिर्मघानाम् ।
मिथस्तुर ऊतयो यस्य पूर्वीरस्मे भद्राणि सश्चत प्रियाणि २३२

५ एवा वसिष्ठ इन्द्रमूतये नॄन् कृष्टीनां वृषभं सुते गृणाति ।
सहस्रिण उप नो माहि वाजान् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः २३३

(२७) ५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

१ इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते यत् पार्या युनजते धियस्ताः ।
शूरो नृषाता शवसश्चकान आ गोमति व्रजे भजा त्वं नः २३४

नगरोंको (समानः एकः) समवृत्तिसे अकेला-दूसरेकी सहायता न लेता हुआ ही (पतिः जनीः इव) पति अपनी पत्नियोंको वश करता है वैसा ही वह इन्द्र (सु नि मामृजे) उनको अपने वशमें करता है ।

[४] (२३२) (यस्य मिथस्तुरः पूर्वीः ऊतयः) जिस इन्द्रके पास परस्पर मिले जुले अनेक अपूर्व रक्षासाधन हैं, (तं एव आहुः) उसीका सब वर्णन करते हैं, (उत शृण्वे) और सुनते हैं कि (एकः इन्द्रः मघानां विभक्ता तरणिः) वही एक इन्द्र धनोंका दाता है और सबका तारक भी है। उसकी कृपासे (अस्मे) हमें (प्रियाणि भद्राणि सश्चत) प्रिय कल्याण हमें प्राप्त हों ।

१ **यस्य मिथस्तुरः ऊतयः**—उसके रक्षा साधन ऐसे हैं कि जो परस्पर मिले जुले हैं और त्वरासे सुरक्षा करनेवाले भी हैं ।

२ **एकः मघानां विभक्ता तरणिः**—वह एक ही वीर ऐसा है कि जो धनोंका विभाग करके सबको यथा योग्य रीतिसे देता है और सबकी सुरक्षा भी करता है ।

३ **अस्मे प्रियाणि भद्राणि सश्चत**—हमें प्रिय कल्याण करनेवाले सुख मिलें ।

[५] (२३३) (वसिष्ठः नॄन् कृष्टीनां ऊतये) वासिष्ठ मानवोंकी सुरक्षा करनेके लिये (वृषभं इन्द्रं एव) बलवान इन्द्रका ही (सुते गृणाति) यज्ञमें वर्णन करता है। स्तोत्र गाता है। हे इन्द्र ! (नः सहस्रिणः वाजान् उप माहि) हमें सहस्रों प्रकारके अन्न बल तथा धन दे डालो। (यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पात) तुम हमें सदा कल्याण करनेवाले रक्षा साधनोंसे सुरक्षित करो ।

१ **वृषभं इन्द्रं कृष्टीनां नॄन् ऊतये गृणाति**—बलवान् इन्द्र वीरकी मानवोंकी तथा नेताओंकी सुरक्षा करनेके हेतुसे प्रशंसा गाते हैं ।

२ **नः सहस्रिणः वाजान् उप माहि**—वह सहस्रों प्रकारके धन बल अन्न हमें देवे । जो हमें धन अन्न और बल बढानेमें सहायक होता है उसकी हम प्रशंसा करें ।

[१] (२३४) (यत् ताः पार्याः धियः युनजते) जब संकटोंसे बचनेके लिये बुद्धि युक्त कर्म किये जाते हैं तब (नरः नेमधिता इन्द्रं हवन्ते) नेता लोग युद्धके समय इन्द्रको ही बुलाते हैं। वह (त्वं शूरः नृषाता) तू शूर और मनुष्योंको धन देनेवाला (शवसः चकानः) तथा बल चाहनेवाला (गोमति व्रजे त्वं नः आ भज) गौओंके स्थानमें तू हमें पहुंचाओ ।

१ **नरः पार्याः धियः युनजते**—नेता लोग संकटोंसे पार होनेके लिये बुद्धि पूर्वक प्रयत्न करते हैं, करने चाहिये।

२ **नेमधिता नरः इन्द्रं हवन्ते**—युद्धमें नेता लोग वीर (इन्द्र) को ही सहायार्थ बुलाते हैं । युद्धके समय वीरोंको इकट्ठा करते हैं ।

३ **शूरः नृषाता शवसः चकानः**—शूर वीर मनुष्योंको उनकी योग्यतानुसार धनका बंटवारा करता है और उस

२ य इन्द्र शुष्मो मघवन् ते अस्ति शिक्षा सखिभ्यः पुरुहूत नृभ्यः ।
त्वं हि दृळहा मघवन् विचेता अपा वृधि परिवृतं न राधः ॥ २३५

३ इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति ।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद् राध उपस्तुतश्चिदर्वाक् ॥ २३६

समय बलको ही चाहता है, अर्थात् जिसका जैसा बल युद्धमें उपयोगी हुआ, उसको वैसा धन देता है।

४ **नः गोमति व्रजे त्वं आभज**—हम सबको गौओं वाले गोस्थानमें, गोशालामें, व्रजमें, रखो, जहां बहुत गौवें हों वहाँ हमें रहनेके लिये स्थान हो।

[२] (२३५) हे (पुरुहूत मघवन् इंद्र) बहुतों-द्वारा प्रार्थित धनवान् इंद्र! (ते यः शुष्मः अस्ति) तेरा जो बल है उसको तू (सखिभ्यः नृभ्यः शिक्ष) एक विचारसे कार्य करनेवाले मनुष्योंको देओ। हे (मघवन्) धनवान् इंद्र! (त्वं हि दृळहा) तूं सुदृढ कीलोंको भी तोड देता है इसलिये वह तूं (विचेताः परिवृतं राधः) विशेष ज्ञानी गुप्त धनको भी (न अपवृधि) निःसंदेह हमारे लिये प्रकट कर।

१ **यः ते शुष्मः अस्ति, सखिभ्यः नृभ्यः शिक्ष**—जो तेरा सामर्थ्य है, उसको तू समान विचारके संघटित नेताओंको, संघटित मनुष्योंको सिखाओ। बल बढानेकी, बलका प्रयोग करनेकी विद्याको सुसंघटित मानवोंको सिखाओ।

२ **त्वं दृळहा**—तूं शत्रुके सुदृढ कीलोंको तोड देता है ऐसी जो युद्धविद्या तुम्हारे पास है, उस विद्याकी हमारे वीरोंको शिक्षा दो।

३ **त्वं विचेताः परिवृतं राधः न अपवृधि**--तूं विशेष ज्ञानी गुप्त धनको भी हमारे लिये प्रकट कर। तुम्हारे पास अपने जो गुप्त धन हैं, अथवा शत्रुके नगरों और कीलोंमें जो गुप्त धन होंगे, उन सबको हमारे लिये प्रकट कर दो।

'राधः' वह धन है कि जो कर्मसिद्धि द्वारा प्राप्त होता है। कर्मकी कुशलतासे प्राप्त होता है। वह कुशलता हमें प्राप्त हो यह भाव यहां है।

[३] (२३६) (जगतः चर्षणीनां इन्द्रः राजा) जंगम और मानव इन सबका इन्द्र ही एकमात्र राजा है। (अधि क्षमि यत् विषुरूपं अस्ति) इस पृथिवीपर जो नाना प्रकारके रूपोंवाला जो भी कुछ है, उसका भी वही राजा है। (ततः दाशुषे वसूनि ददाति) इसलिये वह दाताको धन देता है। वह (उपस्तुतः चित्) स्तुति करनेपर (राधः अर्वाक् चोदत्) धनको हमारे समीप प्रेरित करता है।

१ **क्षमि अधि यत् विसुरूपं अस्ति तस्य जगतः चर्षणीनां इन्द्रः राजा**--पृथ्वीपर जो (विरूपं सुरूपं) कुरूप अथवा सुरूप ऐसा जो भी कुछ है, उस (जगतः) जंगम पदार्थका तथा स्थावर पदार्थ मात्रका भी, इतना ही नहीं परंतु (चर्षणीनां) नाना प्रकारके व्यवसाय करनेवाले मानवोंका भी वही एकमात्र प्रभु है। सब स्थावर जंगमका एक ही प्रभु है।

२ **ततः दाशुषे वसूनि ददाति**—वह दाताके लिये अनेक प्रकारके धन देता है। जो उदारचरित पुरुष हैं, जो मानवोंके हितके लिये यत्न करते हैं उनको वह प्रभु अनेक प्रकारके धन देता है।

३ **उपस्तुतः चित् राधः अर्वाक् चोदत्**--उसकी उपासना करनेपर वह अनेक प्रकारके धनोंको उपासकोंके समीप प्रेरित करता है।

इस मंत्रमें स्थावर जंगम संपूर्ण विश्वका, कुरूपों और सुरूपोंका, बलवानों और निर्बलोंका एक ही प्रभु है यह बात निःसंदेह रीतिसे कही है। वही सबका उपास्य है और वही सबको अनेक प्रकारके धन, जो सुखकी सिद्धिके लिये आवश्यक हैं, देता है। उसके काव्य गाने चाहिये और उसीके गुणोंको अपने अन्दर धारण करना चाहिये।

४ नू चिन्न इन्द्रो मघवा सहूती दानो वाजं नि यमते न ऊती ।
अनूना यस्य दक्षिणा पीपाय वामं नृभ्यो अभिवीता सखिभ्यः २३७

५ नू इन्द्र राये वरिवस्कृधी न आ ते मनो ववृत्याम मघाय ।
गोमदश्वावद् रथवद् व्यन्तो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः २३८

(२८) ५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

१ ब्रह्मा ण इन्द्रोप याहि विद्वानर्वाञ्चस्ते हरयः सन्तु युक्ताः ।
विश्वे चिद्धि त्वा विहवन्त मर्ता अस्माकमिच्छृणुहि विश्वमिन्व २३९

राष्ट्रकी राज्यशासन संस्था भी राष्ट्रके सब स्थावर जंगम पदार्थों तथा मानवोंका शासन करनेमें समर्थ रहनी चाहिये। वही सब प्रजाजनोंको सब सुखसाधन देती रहे यह भाव यहां लेना योग्य है। परमेश्वरके गुण राजपुरुषोंमें होने चाहिये।

[४] (२३७) (मघवा दानः इन्द्रः) धनवान् दाता इन्द्र (नः सहूती नः ऊती वाजं नूचित् नियमते) हमारे बुलानेपर हमारी सुरक्षाके लिये शीघ्र ही हमें बल देता रहे। (यस्य अनूना अभिवीता दक्षिणा) जिसका संपूर्ण प्राप्त दान (सखिभ्यः नृभ्यः वामं पीपाय) एक विचारसे कार्य करनेवाले नेताओंके लिये धन दुहता है, देता है।

१ दानः मघवा नः सहूती नः ऊती, वाजं नियमते--दाता धनपति हमारे कहनेपर हम सबकी सुरक्षा करनेके लिये हमें बल देवे। धनपति सबकी सुरक्षा करनेके लिये अपना धन देवे और धनसे बलवान वीर संगठित होकर सबकी सुरक्षा करें।

२ यस्य अनूना दक्षिणा सखिभ्यः नृभ्यः वामं पीपाय—जिसने दी हुई न्यूनतारहित धनकी पूंजी एक विचारसे कार्य करनेवाले नेता वीरोंके लिये आवश्यक धन दुहाती रहे।

'**दक्षिणा**'—दान, '**अ-नूना**'—जिसमें किसी तरह न्यून नहीं है। '**स-खिभ्यः नृभ्यः**'—समान ख्यानवाले सखा कहे जाते हैं। एक विचारसे कार्य करनेवाले '**नृ**' नेता, संचालक, वीर पुरुष। दाताओंका दान ऐसे वीरोंके लिये आवश्यक सहायता समयपर पहुंचानेमें समर्थ हो।

[५] (२३८) हे इन्द्र! (नः राये नु वरिवः कृधि) हमारे ऐश्वर्यवृद्धिके लिये तू सत्वर ही धन दे, धन निर्माण कर। हम (ते मनः मघाय आ ववृत्याम) तेरे मनको धनके दानके लिये प्रवृत्त करते हैं। (गोमत् अश्ववत् रथवत् व्यन्तः) गौवों, घोडों और रथोंके साथ रहनेवाला धन तुम्हारे पास है, उसका तू दाता है। (स्वस्तिभिः यूयं सदा नः पात) अपने कल्याणकारक साधनोंसे तुम सदा हमारी सुरक्षा करो।

१ नः राये वरिवः कृधि — हमारी ऐश्वर्यकी वृद्धि होनेके लिये श्रेष्ठ धन हमें चाहिये। श्रेष्ठ साधनोंसे प्राप्त हुआ धन (वरिवः) वरिष्ठ, श्रेष्ठ कहलाता है।

२ ते मनः मघाय आववृत्याम — तेरे मनको धन प्राप्ति करनेके लिये हम आकर्षित करते हैं। धनको प्राप्त करना और उसको सुरक्षित रखना, तथा उसका सत्कार्यमें अर्पण करना ऐसे कार्योंमें तेरा मन लगे।

३ गोमत् अश्ववत् रथवत् व्यन्तः --गौवों, घोडों और रथोंके साथ रहनेवाला धन है। घर, सेवक, इष्ट मित्र आदि भी धनके साथ रहनेवाले हैं। इनके साथ रहनेवाला धन हमें चाहिये।

[१] (२३९) हे इन्द्र! (विद्वान् नः ब्रह्म उपयाहि) तुम सब जाननेवाला हमारे स्तोत्र पाठके पास आओ। (ते हरयः अर्वाञ्चः युक्ताः सन्तु) तेरे घोडे हमारी ओर आनेके लिये ही जोते हुए हों। हे (विश्वमिन्व) विश्वको संतोष देनेवाले वीर! (त्वा विश्वे मर्ताः चित् ह विहवन्त) तुम्हें सारे मनुष्य पृथक् पृथक् बुलाते रहते हैं। तथापि (अस्माकं इत् शृणुहि) हमारी प्रार्थना सुनो।

२ त्वं त इन्द्र महिमा व्यानड् ब्रह्म यत् पासि शवसिन्नृषीणाम् ।
आ यद् वज्रं दधिषे हस्त उग्र घोरः सन् क्रत्वा जनिष्ठा अषाळ्हः २४०

३ तव प्रणीतीन्द्र जोहुवानान् त्सं यन्नॄन् न रोदसी निनेथ ।
महे क्षत्राय शवसे हि जज्ञेऽतूतुजिं चित् तूतुजिरशिश्नत् २४१

४ एभिर्न इन्द्राहभिर्दशस्य दुर्मित्रासो हि क्षितयः पवन्ते ।
प्रति यच्चष्टे अनृतमनेना अव द्विता वरुणो मायी नः सात् २४२

[२] (२४०) हे (शवसिन् इन्द्र) बलवान् इन्द्र! (यत् ऋषीणां ब्रह्म पासि) जब ऋषियोंका स्तोत्र तुम सुरक्षित रखते हो, तब (ते महिमा वि आनट्) तुम्हारी महिमा उसमें व्याप्त होती है। हे (उग्र) शूर वीर! (यत् हस्ते वज्रं आ दधिषे) जब तुम हाथमें वज्रका धारण करते हो, तब (घोरः सन् क्रत्वा अषाळ्हः जनिष्ठाः) तुम भयंकर शूर बनकर अपने युद्धरूप कर्मसे अपराजित होते हो।

मानवधर्म - वीर बलिष्ठ शूर और उग्र बने। जिन काव्योंमें वीरोंकी वीरताका वर्णन किया है वे ही काव्य सुरक्षित रहें। वीर हाथमें शस्त्र लेकर ऐसे पराक्रम करें कि वे शत्रुके लिये असह्य हों।

१ शवसिन् उग्र— वीर बलवान् हो और उग्र हो।

२ ते महिमा व्यानट्, ऋषिणां ब्रह्म पासि— वीरोंकी महिमा जिन काव्योंमें फैली है, गायी है, ऋषियोंके उन काव्योंकी सुरक्षा हो।

३ हस्ते वज्रं आदधिषे, घोरः सन् क्रत्वा अषाळ्ह जनिष्ठाः — जब तुम अपने हाथमें वज्र धारण करके युद्ध करता है, तब भयानक वीर बन कर अपने युद्ध कर्मसे शत्रुके लिये असह्य होता है।

[३] (२४१) हे इन्द्र! (यत् तव प्रणीती जोहुवानान्) जब तुम अपनी नेतृत्वकी पद्धतिके अनुसार स्तोत्र पाठ करनेवाले (नॄन् रोदसी सं निनेथ) मानवोंको द्युलोकसे पृथिवीतक सुप्रतिष्ठित करते हो, तब तुम (महे क्षत्राय शवसे जज्ञे) महान् क्षात्र कर्म तथा बलके कार्य करनेके लिये ही उत्पन्न हुए हो (हि) यह यह निःसंदेह ही है। (अतूतुजिं तूतुजिः चित् अशिश्नत) अदाताको दाता पराजित करता है।

मानवधर्म - उत्तम नीतिसे चलनेवाले वीरोंकी विश्वभरमें प्रतिष्ठा होती है। वीर पुरुष बलके और शौर्यके महान कार्य करनेके लिये उत्पन्न हुए होते हैं। नियम यह है कि दाता कंजूसको पीछे रखकर जगत्में प्रसिद्धि पाता है

१ तव प्राणीती नॄन् रोदसी संनिनेथ — तुम अपनी पद्धतिके अनुसार नेता वीरोंको इस विश्वमें सुप्रातिष्ठित करते हो, वीर नेताकी प्रतिष्ठा इस विश्वमें होती है। वीरोंकी प्रतिष्ठा होना उचित है।

२ महे क्षत्राय शवसे जज्ञे — वीर बडे शौर्यके और बलके कार्य करनेके लिये उत्पन्न हुआ है। वीर कभी कुछ भी हीन कार्य न करे।

३ तूतुजिः अ-तूतुतिं चित् अशिश्नत — उदार दाता कंजूसको पीछे रखता है। दाताका यश विश्वमें फैलता है।

[४] (२४२) हे इन्द्र! (दुर्मित्रासः क्षितयः पवन्ते) जो दुष्ट मनुष्य हम लोगोंपर हमला करते हैं, (एभिः अहभिः नः दशस्य) उनको इन अच्छे दिनोंके साथ हमारे अधीन करो। (अनेनाः मायी वरुणः) निष्पाप कुशल वरुण (यत् अनृतं प्रति चष्ट) जो असत्य हमारे अन्दर देखेगा वह (द्विता अव सात्) द्विधा होकर हमसे दूर हो जाय।

मानवधर्म- जब सज्जनोंपर दुष्ट लोग मित्ररूपसे रह कर आक्रमण करेंगे, तब उन दुष्टोंका नियंत्रण करना चाहिये और सज्जनोंको अच्छा अवसर देना चाहिये। इस नियमनका अधिकारी निष्पाप स्वकर्ममें प्रवीण और श्रेष्ठ हो। वह जो असत्य देखे, उसको वह दूर करे। किसी स्थानपर असत्य न रहने पावे।

५ वोचेमेदिन्द्रं मघवानमेनं महो रायो राधसो यद् ददन्नः
यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः २४३

(२९) ५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

१ अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्व आ तु प्र याहि हरिवस्तदोकाः ।
पिबा त्व१स्य सुषुतस्य चारोर्ददो मघानि मघवन्नियानः २४४

२ ब्रह्मन् वीर ब्रह्मकृतिं जुषाणोऽर्वाचीनो हरिभिर्याहि तूयम् ।
अस्मिन्नू षु सवने मादयस्वोप ब्रह्माणि शृणव इमा नः २४५

३ का ते अस्त्यरंकृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम ।
विश्वा मतीरा ततने त्वायाऽधा म इन्द्र शृणवो हवेमा २४६

---

१ दुर्मित्रासः क्षितयः पवन्ते, एभिः अहभिः नः शस्य — जो दुष्ट लोग सज्जनोंपर निष्कारण आक्रमण करते उनको हमारे अधीन रख, हमें अच्छे दिन प्राप्त हों और दुष्ट लोग दूर हों ।

'दुर्मित्र' — मित्रता दिखाते हुए जो दुष्टता करते हैं, वे शत्रुही हैं । जब ऐसे दुष्ट सज्जनोंपर हमला करें, तब उनका निग्रह करना चाहिये और सज्जनोंको अच्छा समय प्राप्त हो ऐसा शासन करना चाहिये ।

२ अनेनाः मायी वरुणः — वरुण शासक देव है, वह वरिष्ठ है, श्रेष्ठ है, पापरहित है, (मायी) काममें कुशल है, प्रज्ञावान्, बुद्धिपूर्व कर्म करनेवाला है । शासन कर्ममें नियुक्त अधिकारी निष्पाप, बुद्धिमान, अपने कर्ममें कुशल तथा वरिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ होना चाहिये ।

३ यत् अनृतं प्रति चष्ट द्विता अवसात् — जो पाप हममें दिखाई देगा वह द्विधा होकर दूर किया जावे । उसके टुकडे टुकडे होकर वह दूर हो । वह हममें किसी तरह न रहे।

[५] (२४३) (यत् महः राधसः रायः नः ददत्) जो बडे सिद्धिप्रद धनका हमें दान करता है (यः अर्चतः ब्रह्मकृतिं अविष्ठः) जो स्तोताके स्तोत्ररूप कृतिका संरक्षण करता है (एनं मघवानं इन्द्रं इत् वोचेम) उस धनवान् इन्द्रकी हम प्रशंसा करते (यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पात) तुम सदा हमारी सुरक्षा उत्तम कल्याणोंके साथ करो ।

१ महः राधसः रायः नः — बडी सिद्धि देनेवाले धन हमें चाहिये । जिससे उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है वैसे धन हमें मिलें । हीनता उत्पन्न करनेवाले धन हमारे पास न आवे ।

२ ब्रह्मकृतिं अविष्ठः — ज्ञान पूर्ण कृतिका रक्षण कर । जिससे ज्ञान बढे वैसी कृति सुरक्षित रहे ।

[१] (२४४) हे इन्द्र ! (तुभ्यं अयं सोमः सुन्वे) तुम्हारे लिये यह सोमरस निकालते हैं। हे (हरिवः) उत्तम घोडे रथको जोतनेवाले इन्द्र! (तदोकाः तु आ प्रयाहि) उस स्थानपर तुम सत्वर आओ । (अस्य सुसुतस्य चारोः तु पिब) इस उत्तम सुन्दर रसका पान करो । हे (मघवन्) धनवान्! (इयानः मघानि ददः) उपासना करनेपर धनोंका प्रदान कर।

[२] (२४५) हे (ब्रह्मन् वीर) ज्ञानी वीर! (ब्रह्मकृतिं जुषाणः) ज्ञानपूर्वक की हुई इस कृतिका-स्तुतिका सेवन करके (अर्वाचीनः हरिभिः तूयं याहि) हमारी ओर मुख करके घोडोंके साथ सत्वर हमारे पास आओ। (अस्मिन् सवने सु मादयस्व) इस सोमसवनसे आनंदित हो। (नः इमा ब्रह्माणि उप शृणवः) और हमारे ये स्तोत्र श्रवण कर।

[३] (२४६) (सूक्तैः ते अरंकृतिः का अस्ति) इन सूक्तोंसे तुम्हारी शोभा कैसी हो रही है।' हे

४ उतो घा ते पुरुष्या३ इदासन् येषां पूर्वेषामशृणोर्ऋषीणाम् ।
अधाहं त्वा मघवञ्जोहवीमि त्वं न इन्द्रासि प्रमतिः पितेव २४७

५ वोचेमेदिन्द्रं मघवानमेनं महो रायो राधसो यद् ददन्नः ।
यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः २४८

(३०) ५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः । त्रिष्टुप् ।

१ आ नो देव शवसा याहि शुष्मिन् भवा वृध इन्द्र रायो अस्य ।
महे नृम्णाय नृपते सुवज्र महि क्षत्राय पौंस्याय शूर २४९

(मघवन्) धनपते ! (कदा ते नूनं दाशेम) कब तुम्हें हम सचमुच प्रसन्न करें ? (त्वाया विश्वा मतीः आततने) तुम्हारे लिये ही ये स्तुतियां मैं करता हूं। हे इन्द्र ! (अध मे इमा हवा शृणवः) और मेरे ये स्तोत्र श्रवण करो।

[४] (२४७) हे (मघवन्) धनपते ! (उत येषां पूर्वेषां ऋषीणां) और जिन प्राचीन ऋषियोंकी स्तुतियां (अशृणोः) तुमने सुनी थीं, (ते पुरुष्याः इत् आसन्) वे ऋषि मनुष्योंका हित करनेवाले थे। (अध अहं त्वा जोहवीमि) अतः मैं तुम्हारी स्तुति करता हूं, हे इन्द्र! (त्वं नः पिता इव प्रमतिः असि) तुम हमारे पिता जैसे उत्तम बुद्धि दाता हो।

१ ते पुरुष्याः आसन्— वे ऋषि मानवोंका हित करनेवाले थे। मानवोंका हित साधन करना ऋषियोंका कर्तव्य था।

२ त्वं नः पिता प्रमतिः असि — ईश्वर हम सबका पिता और शुभमतिका प्रदाता है।

[५] (२४८) यह मंत्र २४३ पर हैं। वहीं उसका अर्थ देखिये।

[१] (२४९) हे (देव शुष्मिन् इन्द्र) प्रकाशमान बलशाली इन्द्र ! (शवसा नः आयाहि) बलके साथ हमारे पास आओ। (अस्य रायः वृधः भव) इस धनको बढानेवाले बनो। हे (नृपते सुवज्र) मनुष्योंके पालनकर्ता उत्तम वज्रधारी इन्द्र ! (महे नृम्ण) बडे बलको बढानेवाले बनो। हे शूर ! (महि क्षत्राय पौंस्याय) बडे क्षात्र सामर्थ्य और विशाल पौरुषके बढानेवाले बनो।

मानवधर्म - धन बढाओ, बल बढाओ, क्षात्र सामर्थ्य बढाओ और पौरुष बढाओ।

१ देव शुष्मिन् सुवज्र शूर इन्द्र नृपते— प्रकाशमान् तेजस्वी, बलवान्, उत्तम शस्त्रधारी, शूर वीर, शत्रुनाशक ऐसा मनुष्योंका राजा हो। राजा और राजपुरुषोंमें ये गुण हों और ये गुण बढें। इन्द्रके वर्णनसे नृपति- राजा- का वर्णन यहां किया है।

२ शवसा आयाहि — बलके साथ अपने कर्तव्यके स्थानपर आओ।

३ अस्य रायः वृधे भव — इस राष्ट्रके ऐश्वर्यको बढाओ।

४ अस्य महे नृम्णाय भव — इस राष्ट्रके महान सामर्थ्यको बढाओ।

५ अस्य महि क्षत्राय पौंस्याय भव—इस राष्ट्रका क्षात्रबल और पौरुष बढाओ।

इन्द्रके वर्णनके ये वचन राष्ट्रीय शिक्षाका भाव बता रहे हैं। इनका इस तरह मननपूर्वक विचार करना चाहिये।

*

२ हवन्त उ त्वा हव्यं विवाचि तनूषु शूराः सूर्यस्य सातौ ।
त्वं विश्वेषु सेन्यो जनेषु त्वं वृत्राणि रन्धया सुहन्तु २५०

३ अहा यदिन्द्र सुदिना व्युच्छान् दधो यत् केतुमुपमं समत्सु ।
न्य१ग्निः सीददसुरो न होता हुवानो अत्र सुभगाय देवान् २५१

४ वयं ते त इन्द्र ये च देव स्तवन्त शूर ददतो मघानि ।
यच्छा सूरिभ्य उपमं वरूथं स्वाभुवो जरणामश्नवन्त २५२

---

[२] (२५०) (हव्यं त्वा विवाचि ऊं हवन्ते) प्रार्थना करने योग्य ऐसे तुम्हारी प्रार्थना विवाद-युद्ध-में लोग करते हैं। (शूराः सूर्यस्य सातौ तनुषु) शूर लोग सूर्यकी प्राप्ति दीर्घ कालतक शरीरोंमें हो अर्थात् सूर्यसे शरीरमें दीर्घायु प्राप्त हो इसलिये तुम्हारी प्रार्थना करते हैं। (विश्वेषु जनेषु त्वं सेन्यः) सब लोगोंमें तुमही सेनाके लिये सुयोग्य संचालक हो। (त्वं सुहन्तु वृत्राणि रन्धय) तू उत्तम नाशक शस्त्रसे घेरनेवाले शत्रु-ओंका विनाश कर।

मानवधर्म – युद्धके समय शूर पुरुषोंकी सहायता प्राप्त करो। अपने शरीरका दीर्घ आयु सूर्य प्रकाशसे प्राप्त करो। जो शूर वीर तरुण होंगे, उनकी भरती सेनामें करो और सबसे विशेष वीर जो होगा वही सेनाका संचालन करे। अपने शस्त्र उत्तम तीक्ष्ण रखो और उनसे शत्रुओंका विनाश करो।

१ विवाचि हव्यं हवन्ते— युद्धके समय प्रशंसनीय वीर-को ही बुलाते हैं।

२ शूराः तनुषु सूर्यस्य सातौ — शूर पुरुष अपने शरीरोंका संरक्षण करनेके लिये सूर्यको प्राप्त करते हैं। सूर्यके किरणोंसे दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं। दीर्घ जीवनके लिये सूर्यका साधन है। सूर्यसे विमुख होना मृत्यु प्राप्त करना है।

३ विश्वेषु जनेषु शूरः सेन्यः— सब मानवोंमें जो शूर वीर हो वही सेनामें भरती होने योग्य है तथा सेनाका संचालक होने योग्य है।

४ त्वं सुहन्तु वृत्राणि रन्धय — तुम उत्तम मारक शस्त्रसे शत्रुओंका नाश करो।

[३] (२५१) हे इन्द्र ! (यत् अहा सुदिना व्युच्छात्) जब दिन अच्छे आयेंगे, (यत् समत्सु केतुं उपमं दधः) जब युद्धोंके संबंधका ज्ञान हमें तुम दोगे, हमें युद्धका कौशल प्राप्त होगा, तब (असुरः होता अग्निः) समर्थ और विबुधोंको बुलानेवाला अग्नि (सुभगाय) हमारे सौभाग्य वर्धनके लिये (देवान् हुवानः) विबुधोंको बुलाता हुआ, (अत्र नि सीदत्) यहां इस यज्ञमें प्रदीप्त होकर बैठे।

मानवधर्म– जब अच्छे दिन होंगे तब अच्छे कार्य करो, युद्धकी विद्याका ज्ञान प्राप्त करो। बलवान बनो और अग्नि समान तेजस्वी बनो। वीर होकर अपने राष्ट्रका भाग्य बढाओ।

१ अहा सुदिना व्युच्छात् — जब दिन अच्छे आयेंगे तब अच्छे ही कार्य करने चाहिये।

२ समत्सु केतुं उपमं दधः — युद्धोंके संबंधका ज्ञान प्राप्त करो। युद्ध करनेकी विद्या सीखनी चाहिये।

३ असु-रः अग्निः -- बलवान वीर अग्निके समान तेज-स्वी होता है।

४ असुरः सुभगाय अत्र निषीदत् — बलवान् वीर भाग्यका संवर्धन करनेके लिये यहां हमारे अन्दर बैठे रहे। वीर हमारे अन्दर रहे और हमारा भाग्य बढावे।

[४] (२५२) हे शूर इन्द्र देव ! (ते वयं) तुम्हारे ही हम हैं : (ये मघानि ददतः स्तवंतः) जो धनका दान करते और तुम्हारी स्तुति करते हैं उन (सूरिभ्यः उपमं वरूथं यच्छ) विद्वानोंके

५ वोचेमेदिन्द्रं मघवानमेनं महो रायो राधसो यद् ददन्नः ।
यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः २५३

(३१) १२ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। इन्द्रः। गायत्री, १०-११ विराट् ।

१ प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत । सखायः सोमपाव्ने २५४
२ शंसेदुक्थं सुदानव उत द्युक्षं यथा नरः । चकृमा सत्यराधसे २५५
३ त्वं न इन्द्र वाजयुस्त्वं गव्युः शतक्रतो । त्वं हिरण्ययुर्वसो २५६
४ वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र णोनुमो वृषन् । विद्धी त्व१स्य नो वसो २५७
५ मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे । त्वे अपि क्रतुर्मम २५८

लिये श्रेष्ठ धन दे दो । वे (स्वाभुवः जरणां अश्नवंत) उत्तम ऐश्वर्यवाले होकर वृद्धावस्थाका भोग करें।

मानवधर्म- मनुष्य समझें कि हम प्रभुके ही निज पुत्र हैं । धनका दान करें, ईश्वरकी स्तुति करें। हे प्रभो! ज्ञानियोंको धन दो । वे ज्ञानी समृद्ध होकर अतिवृद्ध होने तक दीर्घ आयुको उपभोग लें।

१ मघानि ददतः— मनुष्य धनोंका दान सत्पात्रमें करें।

२ सूरिभ्यः उपमं वरूथं यच्छ — ज्ञानियोंकोही उत्तम धन दो, क्योंकि वे अपने ज्ञानसे ही उस धनका उपयोग अच्छा करेंगे ।दानके लिये ज्ञानी ही सत्पात्र हैं ।

३ स्वाभुवः जरणां अश्नवंत -- ऐश्वर्यवान् होकर दीर्घ आयु प्राप्त करें। ऐश्वर्यका उपयोग दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिये करें।

[५] (२५३) यह मंत्र २४३ पर है वहीं इसकी व्याख्या देखो ।

[१] (२५४) हे (सखायः) हे मित्रो ! (वः हर्यश्वाय सोमपाव्ने) तुम उत्तम घोडोंवाले और सोम पीनेवाले (इन्द्राय मादनं प्र गायत) इन्द्रके लिये आनन्दकारक काव्य गाओ ।

[२] (२५५) (उत) और (सुदानवे सत्यराधसे उक्थं) उत्तम दान देनेवाले और सत्य धन जिसका है ऐसे इन्द्रके लिये स्तोत्र (यथा नरः द्युक्षं) जैसे अन्य नेता तेजस्वी स्तोत्र गाते हैं, वैसा ही (शंस इत्) तुम भी कहो, और हम भी (चकृम) करेंगे ।

' सु-दानवे '—उत्तम दान देनेवाले, ' सत्य-राधसे ' — सत्य मार्गसे जिसने धन प्राप्त किया है ।

[३] (२५६) हे इन्द्र ! (त्वं नः वाजयुः) तुम हमारे लिये धनकी अभिलाषा करो। हमें धन देनेकी इच्छा कर । हे (शतक्रतो) सैंकडों प्रशस्त कर्म करनेवाले ! (त्वं गव्युः) तुम हमारे लिये गौओंकी कामना करो। हमें गौएं देनेकी इच्छा करो । हे (वसो) निवास कर्ता ! (त्वं हिरण्ययुः) तू हमारे लिये सुवर्णकी कामना कर ।

हमें अन्न, बल, गौवें, सुवर्ण आदि सब चाहिये ।

[४] (२५७) हे (वृषन् इन्द्र) बलवान् इन्द्र ! (त्वायवः वयं अभि प्रणोनुमः) तुम्हारी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले हम तुम्हारी स्तुति गाते हैं। हे (वसो) निवासकर्ता ! (अस्य नः विद्धि) इस हमारे स्तोत्रको तुम ध्यानसे सुनो ।

[५] (२५८) (अर्यः वक्तवे निदे अराव्णे नः मा रन्धि) तुम हमारे स्वामी हो, हमको कठोर बोलनेवाले, निंदक, तथा कंजूसके अधीन मत रख ।(मम क्रतुः त्वे अपि) मेरा यज्ञ तुम्हारे पास पहुंचे ।

कठोर भाषण करनेवाले, निंदा करनेवाले, तथा कंजूस ऐसे दुष्टोंके आधीन हमें कदापि न रख ।

६	त्वं वर्मासि सप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन् । त्वया प्रति ब्रुवे युजा	२५९
७	महाँ उतासि यस्य तेऽनु स्वधावरी सहः । मम्नाते इन्द्र रोदसी	२६०
८	तं त्वा मरुत्वती परि भुवद् वाणी सयावरी । नक्षमाणा सह द्युभिः	२६१
९	ऊर्ध्वासस्त्वान्विन्दवो भुवन् दस्ममुप द्यवि । सं ते नमन्त कृष्टयः	२६२
१०	प्र वो महे महिवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम् । विशः पूर्वीः प्र चरा चर्षणिप्राः	२६३
११	उरुव्यचसे महिने सुवृक्तिमिन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्राः । तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः	२६४
१२	इन्द्रं वाणीरनुत्तमन्युमेव सत्रा राजानं दधिरे सहध्यै । हर्यश्वाय बर्हया समापीन्	२६५

[६] (२५९) हे (वृत्रहन्) शत्रुका नाश करनेवाले इन्द्र ! (त्वं वर्म असि) तुम हमारा कवच हो। (स प्रथः) तुम सर्वत्र संरक्षण करनेमें प्रसिद्ध हो। तुम (पुरो योधः च असि) सामनेसे युद्ध करनेवाले हो। (त्वया युजा प्रति ब्रुवे) तुम्हारी सहायतासे हम शत्रुको अच्छा उत्तर देंगे। उनका नाश कर सकेंगे।

राजा शत्रुका नाश करे। प्रजाका संरक्षण करे। प्रजाके लिये कवचके समान हो। शत्रुसे युद्ध करे और प्रजाका संरक्षण करे।

[७] (२६०) हे इन्द्र (महान् असि) तुम सबसे बडा हो, (यस्य ते सहः) तुम्हारे बलकी (स्वधावरी रोदसी अनु मम्नाते) अन्नवाली द्यावापृथिवी भी मान्यता करती है।

[८] (२६१) (तं त्वा स-यावरी) तुम्हारे साथ जानेवाली (द्युभिः सह नक्षमाणा) तेजोंके साथ फैलनेवाली (मरुत्वती वाणी) वीरों द्वारा की स्तुति (परिभुवत्) तुम्हारा स्वीकार करे। तुम्हारी स्तुति सर्वत्र होती रहे।

[९] (२६२) (उपद्यवि त्वा दस्म) द्युलोकके समीप तुझ दर्शनीय के लिये (ऊर्ध्वासः इन्दवः भुवन्) ऊपर ऊपर चढनेवाले सोम सिद्ध हो रहे हैं। (कृष्टयः ते सं नमन्ते) और प्रजाएं तुम्हें नमन करती हैं।

[१०] (२६३) (वः महीवृधे महे प्रभरध्वं) तुम धनका संवर्धन करनेवाले महान वीर इन्द्रके लिये सोमरस भर दो। (प्रचेतसे सुमतिं प्रकृणुध्वं) विशेष ज्ञानवान इंद्रके लिये उत्तम स्तुति करो। (चर्षणिप्राः पूर्वीः विशः प्र चर) प्रजाओंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले तुम प्रजाओंमें संचार कर।

१ महीवृधे महे प्रभरध्वं—धनका संवर्धन करनेवाले बडे वीरके लिये सोमरस दो और उसका सत्कार करो।

२ प्रचेतसे सुमतिं प्रकृणुध्वं—विशेष ज्ञानी वीरकी प्रशंसा करो।

३ चर्षणिप्राः पूर्वीः विशः प्रचर—प्रजाओंकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेवाला तू प्रजाओंमें संचार करो। उनकी अवस्थाका विचार करो।

[११] (२६४) (उरुव्यचसे महिने इन्द्राय सुवृक्तिं) चारों ओर यशसे फैले और बडे इन्द्रके लिये स्तुति और (ब्रह्म विप्राः जनयन्त) हविष्यान्न ज्ञानी लोग तैयार करते हैं। (तस्य व्रतानि धीराः न मिनन्ति) उसके संरक्षणादि व्रतोंका निषेध धीर पुरुष भी नहीं कर सकते।

[१२] (२६५) (सत्रा राजानं अनुत्त-मन्युं) सब विश्वका राजा और जिसका उत्साह अप्रतिम है ऐसे (इन्द्रं वाणीः सहध्यै दधिरे) इन्द्रकी प्रशंसा अपना बल बढानेके लिये की जाती है। अतः (हर्यश्वाय आपीन् सं बर्हय) उत्तम घोडोंको जोतनेवाले इन्द्रकी स्तुति करनेके लिये अपने मित्रोंको उत्साहित कर।

(३२) २७ (१-२१) मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः, २६ पूर्वार्धर्चस्य शक्तिर्वासिष्ठो वा (शाट्यायने ब्राह्मणे), २६-२७ शक्तिर्वासिष्ठो वा (ताण्डके ब्राह्मणे)। इन्द्रः। प्रगाथः- (बृहती, सतोबृहती), ३ द्विपदा विराट्।

१ मो षु त्वा वाघतश्चनाऽऽरे अस्मन्नि रीरमन्।
आरात्ताच्चित् सधमादं न आ गहीह वा सन्नुप श्रुधि ॥ २६६

२ इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधुः ॥ २६७

३ रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणं पुत्रो न पितरं हुवे ॥ २६८

४ इम इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिरः।
ताँ आ मदाय वज्रहस्त पीतये हरिभ्यां याह्योक आ ॥ २६९

मानवधर्म- राजा सदा उत्साहयुक्त हो और कदापि दीन तथा निरुत्साही न हो। राजपुरुष भी ऐसे ही हों। इन्द्रकी स्तुतिका गान करो, इससे अपना बल बढानेके उपाय तुम्हें विदित होंगे। अपने मित्रों को भी इन्द्रकी स्तुति करने की प्रेरणा करो, वे भी इससे अपना बल बढावें।

१ **अनुत्तमन्युः राजा**--राजा तथा राजपुरुष उत्साहसे युक्त हों। निरुत्साह न हों।

२ **सहध्यै इन्द्रं वाणीः दधिरे**—अपना बल बढानेके लिये इन्द्रकी स्तुति करो। इन्द्रके स्तोत्र पढनेसे अपना बल बढता है। जिसको अपना बल बढाना हो वह इन्द्रके काव्योंका गायन करे।

३ **हर्यश्वाय आपीन् संबर्हय**--इन्द्रके स्तोत्र गानेके लिये अपने मित्रोंको उत्साहित करो। इन स्तोत्रोंके पाठसे उनमें भी अपना बल बढानेकी प्रेरणा हो।

[१] (२६६) (त्वा वाघतः चन अस्मत् आरे) तुम्हें स्तुति करनेवाले ये स्तोता हमसे दूर (मो सु नि रीरमन्) न रमते रहें। (आरात्तात् चित् नः सधमादं आ गहि) दूरसे भी तुम हमारे यज्ञगृहमें आओ। (इह वा सन् उप श्रुधि) यहां रह कर हमारा स्तोत्रका श्रवण करो।

[२] (२६७) (ते सुते इमे ब्रह्मकृतः हि) तुम्हारे लिये सोमरस निकालनेका कार्य चलनेके समय ये स्तोत्र पाठकर्ता गण (मधौ मक्ष न) शहदमें मधुमक्खियाँ बैठनेके समान (सचा आसते) साथ साथ बैठते हैं। (वसूयवो जरितारः) धन चाहनेवाले स्तोत्र-पाठी (रथे न पादं) रथमें पांव रखने के समान (इन्द्रे कामं आदधुः) इन्द्रमें अपनी इच्छाको रखते हैं।

अपनी धन प्राप्तिकी इच्छा इन्द्रसे पूर्ण होगी ऐसी इच्छा धारण करते हैं।

[३] (२६८) (पुत्रः पितरं न) पुत्र पिताको पूछता है उस तरह (रायस्कामः) धनकी कामना करनेवाला मैं (वज्रहस्तं सुदक्षिणं हुवे) वज्रधारी उत्तम दाता इन्द्रकी प्रार्थना करता हूं।

इन्द्रसे धन चाहता हूं। पिताका धन पुत्रको प्राप्त होता है वैसा इन्द्रका धन मुझे मिलेगा। वह पिता है और मैं उसका पुत्र हूं।

[४] (२६९) हे (वज्रहस्त) वज्र हाथमें लेने-वाले इन्द्र! (दध्याशिरः इमे सोमासः) दहीसे मिश्रित ये सोमरस (इन्द्राय सुन्विरे) इन्द्रके लिये तैयार हो रहे हैं। तुम्हारे लिये ही हो रहे हैं। (तान् मदाय पीतये) आनन्द के लिये उनको पीनेके लिये (ओकः हरिभ्यां आ याहि) यज्ञ स्थानपर घोडोंसे आओ।

५ श्रवच्छुत्कर्ण ईयते वसूनां नू चिन्नो मर्धिषद् गिरः ।
सद्यश्चिद् यः सहस्राणि शता ददन्नकिर्दित्सन्तमा मिनत् २७०

६ स वीरो अप्रतिष्कुत इन्द्रेण शूशुवे नृभिः ।
यस्ते गभीरा सवनानि वृत्रहन् त्सुनोत्या च धावति २७१

७ भवा वरूथं मघवन् मघोनां यत् समजासि शर्धतः ।
वि त्वाहतस्य वेदनं भजेमह्या दूणाशो भरा गयम् २७२

८ सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित् पृणन्नित् पृणते मयः २७३

९ मा स्रेधत सोमिनो दक्षता महे कृणुध्वं राय आतुजे ।
तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति न देवासः कवत्नवे २७४

सोमरसमें दही मिलाते हैं और देवताको अर्पण करके पीते हैं। सोमपानसे आनन्द तथा उत्साह बढता है।

[५] (२७०) (श्रुत्कर्णः वसूनां ईयते) प्रार्थना सुननेके लिये तत्पर कर्णवाला इन्द्र है, उसके पास हम धनोंकी प्रार्थना करते हैं। (नः गिरः श्रवत्) वह हमारी प्रार्थना सुने। (नु चित् मर्धिषत्) कदापि हमें हिंसित न करे, हमारी प्रार्थना निष्फल न करे! (सद्यः चित् यः शता सहस्राणि ददत्) तत्कालही वह सैंकडों और हजारोंकी संख्यामें धनोंको देता है। (दित्सन्तं न किः आ मिनत्) देनेकी इच्छा करनेवाले उसको कोई रोक नहीं सकते।

[६] (२७१) हे (वृत्रहन्) वृत्रको मारनेवाले इन्द्र! (ते यः गभीरा सवनानि सुनोति) तुम्हारे लिये ये गम्भीर सोमके सवन जो करता है (आ धावति च) और तुम्हारे लिये शीघ्रता करता है (सः वीरः इन्द्रेण) वह वीर इन्द्रके द्वारा (अप्रतिष्कुतः) विरुद्ध भावसे प्रतिरोधित न होता हुआ (नृभिः शुशुवे) मानवोंके द्वारा संसेवित होता है। संमानित होता है।

[७] (२७२) हे (मघवन्) धनपते! (मघोनां वरूथं भव) धनवान् दाताओंका कवच जैसा संरक्षक बनो। (यत् शर्धतः समजासि) स्पर्धा करनेवाले शत्रुओंका निवारण करो। (त्वाहतस्य वेदनं विभजेमहि) तुम्हारे द्वारा मारे गये शत्रुके धनका हम सब बंटवारा करेंगे। (दुर्णशः गयं आभर) जिसका नाश नहीं होता ऐसा तुम हमें धन दो।

[८] (२७३) (वज्रिणे सोमपाव्ने इन्द्राय सोमं सुनोत) वज्रधारी सोमपान करनेवाले इन्द्रके लिये सोमरस निकालो। (अवसे पक्तीः पचत) अपनी सुरक्षाके लिये इन्द्रके प्रीतिके लिये पुरोडाशादि अन्न पकाओ (कृणुध्वं इत्) इन्द्रके लिये ये सब कर्म करो। (मयः पृणन् इत् पृणते) इन्द्र सुख देता हुआ इस यज्ञकर्मको पूर्ण संपन्न करता है।

[९] (२७४) (सोमिनः मा स्रेधत) सोमयागसे पीछे न हटो। (दक्षत) दक्षतासे कर्म करते रहो। (महे आतुजे) बडे तथा शत्रुके विनाशक इन्द्रके लिये तथा (राये कृणुध्वं) धन प्राप्तिके लिये यज्ञ करो। (तरणिः इत् जयति) त्वरासे कर्म करनेवाला निःसंदेह विजय करता है, (क्षेति पुष्यति) वह अपने घरमें निवास करता है, पुष्ट होता है, (कवत्नवे देवासः न) कुत्सित कर्म करनेवालेके सहायक देव नहीं होते।

संस्कृत भाषा प्रचार परीक्षा सम्बन्धी

आ व श्य क सू च ना यें

२-३ सितम्बरकी परीक्षामें लगभग सौ केन्द्रोंसे एक हजार परीक्षार्थी सम्मिलित हुए हैं। स्त्री, पुरुष एवं आबालवृद्ध सभीने परीक्षाओंमें सम्मिलित होकर संस्कृत भाषाकी लोकप्रियता सिद्ध की है। यह अत्यन्त हर्षका विषय है कि लगभग सभी केन्द्रोंसे अगली परीक्षाके लिये अधिकसे अधिक परीक्षार्थी सम्मिलित होनेकी आशा प्रकट की जा रही है। हमें विश्वास है कि हमारे उन सभी सहयोगियोंकी यह आशा पूरी पूरी सफल होगी। फरवरीमें होनेवाली परीक्षाओंके लिये निम्नलिखित सूचनायें प्रकाशित की जाती हैं—

१— अगली परीक्षायें ता० ३-४ (शनि. रवि.) फरवरी सन् १९५१ को होंगी।

२— आवेदनपत्र भरनेकी अन्तिम ता० १५ दिसम्बर है।

३— केन्द्र-स्वीकृतिके लिये १५ नवम्बरतक आवेदन आजाने चाहिये।

४— २-३ सितम्बरकी परीक्षाओंका परिणाम ३० सितम्बरको प्रातः ८ बजे प्रत्येक केन्द्रमें प्रकाशित हो रहा है।

५— परीक्षा-परिणाम प्रकाशित होते ही एक सप्ताहके अन्दर प्रमाणपत्र भेज दिये जायेंगे।

६— प्रमाणपत्र मिलनेके १५ दिनके अन्दर ही उन्हें एक समारोहके साथ केन्द्रव्यवस्थापक वितरित करेंगे।

७— अपने समारोहोंकी सूचना स्थानीय पत्रोंमें प्रकाशित की जाय तथा केन्द्रीय कार्यालयको भी उसकी एक रिपोर्ट भेजी जावे।

इसके साथ समस्त सहयोगियोंसे हमारा साग्रह निवेदन है कि वे अगली परीक्षाओंके लिये अधिकसे अधिक नवीन केन्द्र स्थापन करनेका प्रयत्न करें। प्रचार सम्बन्धि आवश्यक सामग्री एवं परामर्श किसी भी समय केन्द्रीय कार्यालयसे मंगा सकते हैं।

हमारी इच्छा है कि ३-४ फरवरीकी परीक्षामें कमसे कम ५००० परीक्षार्थी संमिलित हों तथा ५०० नवीन केन्द्रोंकी स्थापना हो।

स्वाध्यायमण्डल 'आनंदाश्रम'
किल्ला-पारडी, (जि. सूरत)

निवेदक
महेशचन्द्र शास्त्री
परीक्षा-मन्त्री

Regd. No. B 1463

श्रीमद्भगवद्गीता ।

इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस '**पुरुषार्थ-बोधिनी**' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय ।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकारके १३५ पृष्ट, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।=)

भगवद्गीता--श्लोकार्धसूची ।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकरादिक्रमसे आद्याक्षरसूची है और उसी क्रमसे अन्त्याक्षरसूची भी है। मूल्य केवल ।।।), डा० व्य० ≈)

सामवेद कौथुमशाखीयः
ग्रामगेय (वेय प्रकृति) गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः ।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् '**प्रकृतिगान**' तथा '**आरण्यकगान**' है। **प्रकृतिगानमें अग्निपर्व** (१८१ गान) **ऐन्द्रपर्व** (६३३ गान) तथा '**पवमानपर्व**' (३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। **आरण्यकगानमें अर्कपर्व** (८९ गान), **द्वन्द्वपर्व** (७७ गान) **शुक्रियपर्व** ८४ गान) और **वाचोव्रतपर्व** (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल '**गानमात्र**' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४)रु. तथा डा०व्य०॥)रु. है।

आसन ।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आ[illegible] और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।≈) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

मुद्रक और प्रकाशक- **व० श्री० सातवलेकर**, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)

वर्ष ३१

अंक १२

कार्तिक २००७

दिसम्बर १९५०

[दिसम्बर १९५०]

संपादक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

सहसंपादक

श्री महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

विषयानुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.
वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके लिये ६॥) रु.

अंक १२ — क्रमांक २४ — वर्ष ३१

कार्तिक
विक्रम संवत २००७
दिसम्बर १९५०

दुष्टोंका दमन करनेवाला वीर

वित्वक्षणः समृतौ चक्रमासजोऽसुन्वतो विषुणः सुन्वतो वृधः।
इन्द्रो विश्वस्य दमिता विभीषणो यथावशं नयति दासमार्यः ।

(ऋग्वेद ५।३४।६)

(समृतौ वित्वक्षणः) युद्धमें शत्रुओंका संहारकरनेवाला, इसीलिये (चक्रमासजः) चक्र हाथमें धारण करनेवाला, (असुन्वतः विषुणः) सत्कर्म न करनेवालेका विरोध करनेवाला तथा (सुन्वतः वृधः) सत्कर्म करनेवालोंका उत्कर्ष करनेवाला इन्द्र (विश्वस्य दमिता) सब शत्रुओंका दमन करनेवाला, (विभीषणः) दुष्टोंके लिये अत्यन्त भयानक, (दासं यथावशं नयति) षड्यन्त्र करनेवाले दुष्टोंको अनेक प्रकारसे अपने आधीन करता है । उन्हें प्रबल नहीं होने देता; इसीलिये उसे (आर्यः) श्रेष्ठवीर कहा जाता है ।

जो युद्धमें विजय प्राप्त करता है, युद्धके लिये अपने पास उत्तम शस्त्रास्त्र रखता है, श्रेष्ठ एवं प्रशंसित कर्म करनेवालोंका सहायक होता है और दुष्ट कर्म करनेवालोंका जो नाश करता है, सम्पूर्ण शत्रुओंको जो अपने आधीन रखता है, दुष्टोंको जिसका भय मालूम देता है, तथा सज्जनोंको जिससे प्रेम है । षड्यन्त्र, विश्वासघात करनेवालोंको जो अपने आधीन रखता है, वही सच्चा श्रेष्ठ वीर है । इन्द्र ऐसा है, इसलिये वह देवोंका सम्राट् बना, मनुष्योंका राजा भी इन गुणोंसे युक्त होना चाहिये ।

दोनों ओरसे पल्लेमें घाटा ही घाटा

हिन्दू स्त्रीके मुसलमानके पास रहने पर उसे जो लडका उत्पन्न होता है वह मुसलमान होता है। मुसलमान स्त्रीके हिन्दूके पास रहनेपर उसे जो लडका पैदा होता है वह भी मुसलमान ही होता है। इस प्रकारसे यह दोनों ही ओरसे हिन्दुओंको घाटा तथा मुसलमानोंको जन-संख्याकी दृष्टिसे लाभ ही लाभ हो रहा है।

बाजीराव (प्रथम) के पास मस्तानी रही, उससे पैदा होनेवाला बाजीरावका लडका मुसलमान ही हुआ। इसी प्रकार दिल्लीके मुसलमान बादशाहोंके पास राजपूतोंकी लडकियाँ रहीं, उन्होंने मुसलमान धर्मको स्वीकार नहीं किया था, वे बादशाहके जनानखानेमें तुलसीवृन्दावन रखकर उनकी प्रतिदिन पूजा किया करती थीं, कृष्णकी उपासना किया करती थीं, पण्डितोंको बुलाकर पुराण एवं कीर्तनका श्रवण किया करती थीं, हिन्दू देवताओंके उत्सव किया करती थीं, हिन्दी भाषा बोलती थीं, अन्ततक वे हिन्दू रीतिरिवाजोंका पालन किया करती थीं। ऐसी इन राजपूत लडकियोंके बादशाहसे जो लडके उत्पन्न हुए वे मुसलमान ही बने! माता एवं धायके सहवासके कारण इन बादशाहोंके लडकोंकी भाषा 'हिन्दी' थी, उर्दू न थी, तब भी वे मुसलमान ही थे।

इस प्रकार ये दोनों दरवाजे हिन्दुओंकी जनसंख्या कम करनेके लिये तथा मुसलमानोंकी जनसंख्या बढानेके लिये कारणीभूत होरहे हैं।

भीमने हिडिम्बा राक्षसीसे विवाह किया। राक्षसोंके बहुतसे रीतिरिवाज—शवको गाडना आदि मुसलमानों जैसे ही थे। हिडिम्बाका लडका आर्य न होकर घटोत्कच राक्षस ही माना गया। पुलस्त्य ऋषिके आश्रममें रावणकी माता रही, वहाँ वह गर्भवती हुई तथा रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण ये पुत्र उत्पन्न हुए। ये सब राक्षस माने गये। इनकी गणना आर्योंमें नहीं हुई। रावणके अन्तःपुरमें आर्य स्त्रियाँ भी थीं। किन्तु उनके पुत्र आर्य न होकर राक्षस माने गये।

इतने प्राचीन कालसे हिन्दुओंके पल्ले इस प्रकार दोनों ही ओरसे घाटा ही घाटा रहा। हिन्दु लोग आज मातृसावर्ण्य मानते हैं। तथापि यदि हिन्दू स्त्री मुसलमानके पास रह जाय तो वहाँ मातृसावर्ण्यके कारण लडका हिन्दू माना जाना चाहिये, किन्तु वह वैसा नहीं माना जाता, अपितु पितृसावर्ण्यसे वह मुसलमान ही होता है। इसके विरुद्ध मुसलमान स्त्री हिन्दूके पास रह जाय तब भी उसका लडका मुसलमान ही होता है। इस प्रकार यह दुतर्फा हिन्दू समाजकी हानि ही हानि हो रही है।

हिन्दु एक समय पितृसावर्ण्य मानते थे। धीवरके पेटसे पराशर ऋषिद्वारा व्यास ब्राह्मण हुए। अधम योनिज वसिष्ठ पुत्र भी ब्राह्मण ही हुए। किन्तु इस कालमें भी असुर, राक्षस, दानव स्त्रियोंसे आर्य किंवा ब्राह्मणके होनेका उल्लेख नहीं है। आज मुसलमानकी स्त्री ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या, शूद्रा, निषादी, चाण्डाली, असीरियन (असुरी) रशियन (रक्षस, राक्षसी) दानवी, अंग्रेजी, अमेरिकन, जापानी कोई भी हुई तो जिस प्रकार लडका मुसलमान ही होता है, इतना व्यापक आर्योंका पितृसावर्ण्य न होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

मुस्लिम घरोंमें पितृसावर्ण्य है, किन्तु मुसलमान स्त्रीके हिन्दू घरमें आते ही वहां मातृसावर्ण्य उसके लिये सहायक बन जाता है और वह उसकी जाति-संख्या अभिवृद्ध करता है।

कश्यप ऋषिके सभी जातिकी सन्तानें होनेका उल्लेख है। अर्थात् सभी जातिकी स्त्रियोंसे ये सन्तानें थीं। किन्तु ये कश्यपकी जातिकी नहीं हुई। जिस जातिकी माता थी उसी जातिकी सन्तानें हुई। इस समय भी कश्यपकी जातिका जन संख्याकी दृष्टिसे लाभ नहीं हुआ।

आज २५।३० हजार अपहृत हिन्दू स्त्रियाँ पाकिस्तानमें हैं। वे वापिस लौट आवें तो वे हिन्दुओंके घरोंमें उनकी पारिवारिक बनकर रहेंगी ऐसा प्रतीत नहीं होता। श्री कृष्णके समय भी १६००० कुमारिकाओंका असुरोंके हाथसे श्रीकृष्णने उद्धार किया; किन्तु उन्हें उनके माता पिताओंने अपने परिवारमें ग्रहण नहीं किया; इसीलिये श्रीकृष्णको ही उनका पाणिग्रहण करना पडा। आज अपहृत स्त्रियोंका भी तद्वत् ही कुछ होगा। किन्तु मुसलमान अपहृत स्त्रियाँ उन उन घरोंमें आनन्द पूर्वक रहने लगी हैं।

जिन्हें भगवानने बुद्धि दी है और जो इसपर सचमुच विचार कर सकते हैं वे इस स्थितिका विचार अवश्य करें।

सम्पादक

एक विचारणीय प्रश्न

भारतकी विधान सभाने जबसे हिन्दीको राष्ट्रभाषा घोषित किया है तबसे हमारे सामने यह एक महत्वपूर्ण कर्तव्य उपस्थित हो गया है कि किस प्रकार हम हिन्दीमें राष्ट्रभाषात्वके योग्य सम्पन्नता लावें ? हिन्दीको राष्ट्रभाषाके रूपमें सम्मानित देखकर प्रयाग, दिल्ली और लखनऊके क्षेत्रोंमें गर्वपूर्ण उल्लास अवश्य छा गया; किन्तु हिन्दीको राष्ट्र-भाषाके सिंहासन पर आसीन करानेका अधिकांश श्रेयतो दाक्षिण भारत, अहिंदी भाषी जनता एवं चलचित्रोंको ही देना चाहिये। राष्ट्रभाषाके प्रति अधिकसे अधिक सन्मान प्रदर्शित कर उसे अपनानेमें जितना अधिक श्रेय इन्हे मिलेगा उतना अन्यको नहीं मिल सकता। हिन्दीप्रचारकी विशालतासे स्वयंको महान समझनेवाले महानुभावोंको यह समझ लेना चाहिये कि वास्तविक श्रेय अहिन्दी भाषि-योंको है। यह एक कटु सत्य है। हिन्दीको अंग्रेजीके स्थानपर शीघ्र लानेके लिये आतुर हुए हुए महानुभाव बेचैन हैं कि किस प्रकार १५ वर्षोंमें पूर्णतः अंग्रेजीको भारत भूमिसे भगा सकेंगे। उनकी चिन्ताके पीछे जो एक बहुत बडा कारण है वह यह है कि हिन्दीके साहित्यिके महारथियों द्वारा आज भी ऐसा कोई ठोस प्रयत्न नहीं हो रहा है कि जिससे हिन्दीमें वह पूर्णता आसके जिससे कि वह सचमुच राष्ट्रभाषाके योग्य हो जाय। बात वास्तवमें यह है कि आजके हिन्दीके प्रमुख साहित्यकार जिस भाषामें बोलते या लिखते हैं वह विद्यालयों, महाविद्यालयों अथवा विश्वविद्यालयोंके गिनेचुने छात्रों या तत्सम थोडेसे अन्य नागरिकोंकेही समझमें आती है। अपवादात्मक एक दो साहित्यिक भलेही जन साधारणके लिये उपयोगी साहित्यका निर्माण करते हों किन्तु आधिकां-शकी स्थिति तो यह है कि वे स्वर्गकी भाषा बोलते हैं और मुक्तिके आनन्दकी कल्पना करते हैं, जो मर्त्यलोकके वासियों-के लिये निरे 'आश्चर्य' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहता।

इसके अतिरिक्त जिस भाषाको राष्ट्रभाषा माना जाता है उसमें राष्ट्रके प्रत्येक क्षेत्रके कार्यको निभा लेनेकी योग्यता होना सर्व प्रथम आवश्यक है। यदि इतनी व्यापकता उस भाषामें न हो सकेगी तो किस प्रकार वह विशाल राष्ट्रकी अधिकारिणी भाषा बन सकती है। केवल कवितायें, कहानियाँ, निबंध आदिके निर्माणसेही भाषाकी प्रौढता एवं पूर्णता निष्पन्न नहीं हो जाती। राष्ट्रके प्रत्येक क्षेत्रकी आवश्यकता पूर्ण करनेकी योग्यता उसमें होनी चाहिये। कृषि, विज्ञान, शासन, व्यापार आदि विभिन्न एवं महत्वपूर्ण विषयोंपर अधिकारपूर्ण ग्रन्थों एवं शब्दोंके अभावमें किस प्रकार हिंदी भाषाको हम राजपदारूढ बनानेमें समर्थ हो सकेंगे ?

आज हमें यह निर्णय करनेकी शीघ्र आवश्यकता है कि किस प्रकार हम हिन्दीको राष्ट्रभाषाके योग्य बनावें यह विचारणीय प्रश्न दिल्ली और इलाहाबादमें बैठे हुए किन्ही संस्था विशेषके अधिकारियोंके लिये ही विचारणीय नहीं है; अपितु बंगाल, मद्रास, महाराष्ट्र और गुजरातके धुरीण साहित्यकारोंके लिये भी उतनाही विचारणीय अतएव महत्व-पूर्ण है। सभी प्रान्तोंका समान रूपसे सहयोग प्राप्त किये बिना यह समस्या किसी प्रकार भी नहीं सुलझ सकती। यह सुझाव विशेष रूपसे इस लिये रखना पड रहा है कि हिन्दीके धुरन्धरों द्वारा केवल नाम मात्रके लिये ही ऐसा प्रयत्न हो रहा है जिससे किसीको कोई बडी आशा नहीं है। राष्ट्रभाषाके बने हुए कर्णधारोंसे हमें यही निवेदन करना है कि राष्ट्र भाषाका प्रश्न कोई सीमित क्षेत्रका प्रश्न नहीं है; अपितु वह सम्पूर्ण राष्ट्रका प्रश्न है। इस लिये उसपर उतनी ही व्यापक एवं उदार दृष्टिसे विचार होना चाहिये।

यदि ऐसा न हुआ तो १५ वर्ष बाद (अब तो १४ वर्ष बाद ही) यह प्रश्न एक विचारणीय समस्याही बना रहेगा।

संस्कृत भाषा परीक्षा सम्बन्धी

आ व श्य क सू च ना यें

यह सूचित करते हुए हमें परम हर्ष होता है कि हमारी परीक्षाओंके केन्द्र भारतसे बाहर भी स्थापित हो रहे हैं। दक्षिण अमेरिका तथा आफ्रिकामें हमारे अनेक केन्द्र प्रस्थापित होनेके प्रयत्न जारी हैं। विदेशोंमें रहनेवाले हमारे भारतीय बन्धु ही नहीं अपितु विदेशी जनता भी आज हमारी मातृभाषा संस्कृत सीखनेके लिये समुत्सुक है, यह जानकर किस भारतीयको हर्ष न होगा?

सुव्यवस्थाकी दृष्टिसे परीक्षा-तिथियोंमें हमें कुछ परिवर्तन कर देना पडा है। केन्द्र व्यवस्थापक तथा प्रचारक महानुभाव निम्नाङ्कित सूचनाओंपर कृपया अवश्य ध्यान दें।

१- बम्बई प्रान्त, गुजरात तथा हैद्राबाद राज्यके लिये आगामी परीक्षाओंकी तिथि ३१ मार्च तथा १ अप्रैल रक्खी गई है। आवेदन पत्र भरनेकी अन्तिम तिथि १५ फरवरी निश्चित की गई है। केन्द्र स्वीकृति सम्बन्धि आवेदन पत्र १ फरवरी तक केन्द्रीय कार्यालयमें आजाने चाहिये।

२- युक्तप्रान्त, राजस्थान, मालवा, पंजाब, काश्मीर, बिहार, आसाम, तथा मध्यप्रान्तके लिये परीक्षा तिथि ३-४ फरवरी (शनि रवि) सन १९५१ (जैसा की पूर्व निश्चित किया गया था) है। आवेदन पत्र भरनेकी अन्तिम तिथि १५ दिसम्बरसे बढाकर ३० दिसम्बर कर दी गई है। इसी प्रकार केन्द्रस्वीकृतिके लिये १५ नवम्बर तक आवेदन स्वीकृत किये जायेंगे।

३- इस बार 'परिचय' तथा 'विशारद' की मौखिक परीक्षायें स्थगित की गई हैं।

आवेदन पत्र भरनेके अब बहुत थोडे दिन अवशिष्ट रह गये हैं। प्रत्येक केन्द्र व्यवस्थापक एवं संस्कृताध्यापक महानुभावसे विशेष आग्रह पूर्वक निवेदन है कि वे अपने अपने केन्द्रोंसे अधिकसे अधिक परीक्षार्थियोंको सम्मिलित करावें। राष्ट्रके इस महान कार्यमें आप सबका सहयोग अपेक्षित है।

विशेषः- अपने अपने केन्द्रोंके प्रचार कार्य सम्बन्धि विवरण हिन्दी, मराठी एवं गुजरातीमें (स्थानीय प्रचलित भाषामें) प्रतिमास हमारे कार्यालयमें भिजवानेका कष्ट करें। जिससे हम अपने यहाँसे प्रकाशित होनेवाले 'वैदिक-धर्म' हिन्दी, 'पुरुषार्थ' मराठी तथा 'वेद सन्देश' गुजरातीमें प्रकाशित करा दिया करें।

हम चाहते हैं कि प्रत्येक केन्द्रसे प्रतिमास संस्कृत प्रचार सम्बन्धि कार्योंका विवरण हमें प्राप्त होता रहे। आशा है कार्यकर्ता महानुभाव इस ओर विशेष ध्यान देंगे।

विशेष सूचनाः—पुस्तकें मंगानेके लिये 'व्यवस्थापक पुस्तक विक्री विभाग' को ही कृपया लिखें। ऐसा न होनेसे हमें असुविधा होती है। आशा है ग्राहक महानुभाव इस ओर विशेष ध्यान देंगे।

स्वाध्यायमण्डल 'आनंदाश्रम'
किल्ला-पारडी, (जि. सूरत)

निवेदक
महेशचन्द्र शास्त्री
परीक्षा-मन्त्री

केला की उपकारिता

[लेखक—योगीराज परिव्राजक राजवैद्य- श्री श्रीमत् ब्रह्मचारी गोपाळ चैतन्य देव, पीयूषपाणी, केळेवाडी, मुंबई ४]

(गतांकसे सम्पूर्ण)

वह प्रजीवक-तत्त्वके सम्बंधमें सुविस्तृत समालोचना करनेका यहाँ समयाभाव है। मेरा आगेका लेख "हाई ब्लड प्रेशरमें यकृत" इस मासिकमें ही क्रमशः प्रकाशित होगा उसमें इस विषयपर और गंभीर चर्चा करूंगा तथा हम जो नित्य भोजन करते हैं, उसमें कौन कौनसे विटामिन कितनी मात्रामें है, वह भी सविस्तार लिखूंगा। यहाँ तो केवल इतना ही जान लेना है कि केलामें विटामिन ई ज्यादा प्रमाणमें हैं। दाँतकी रक्षाके लिए केला खूब उपयोगी वस्तु है।

बंगालमें केला और दूध मिलाकर भात रोटी आदि मसाला तथा लवण हीन भोज्य खानेकी आदत विशेष है। केला और दूधका संमिश्रण अति उपादेय (Excellent) वस्तु है, इससे सभी प्रकारके प्रजीवक-तत्त्वका ऐसा सुन्दर संयोग होता है, जो मानव-जीवनकी रक्षाके लिए पर्याप्त है। दूधके भीतर स्वभावतः ही खाद्यप्राण 'ए' का भाव विशेष ज्यादा है। उसके साथ फिर केलाका खाद्यप्राण A मिल जाता है; अतः विशेष ही पुष्टिकारक उपादेय भोज्य बन जाता है, स्वादिष्ट भी होता है।

यद्यपि दूध शिशुओंका प्रधान परिपोषक भोज्य एवं सर्व-साधारण मानव का निर्भर-योग्य प्रधान खाद्य है, तथापि इसमें शर्कराका भाग विशेष कम है एवं उबालते समय दूधका खाद्यप्राण "सि" नाश हो जाता है। जो मानव केवल दूध पीकरही जीवन-पात करना चाहता है, उसे "सि" विटामिनकी-रक्षाके लिए कच्चा-दूध ही पीना चाहिए। परंतु केवल कच्चा दूध पीनेसे उसके शरीरमें कफका उद्भव हो जायगा तथा तद्जात बीमारी भी हो सकती है। अतः उबाल कर दूध पीना चाहिए। दूध उबाल कर पीनेसे अति प्रयोजनीय विटामिन "सि" नाश हो जायगा। अतः "सि" खाद्यप्राणके लिए दूसरा भोज्य ग्रहण करने पड़ेगा। इसके लिए केला उत्तम है। एक ओर केला 'सि' खाद्यप्राणका अभाव पूर्ण करता है, दूसरी ओर केला में प्रभूत-परिमाणमें शर्कराका भाग है; अतः दूधमें शर्कराका भाग जो कम है, उसे भी पूर्ण करता है। सुतरां सर्व प्रकारसे केला और दूधका मिश्रण उत्तम-उपादेय भोज्य है।

दूध ज्यादा-उबालना उत्तम नहीं है, क्योंकि सि खाद्यप्राण नाश हो जाता है। परंतु वर्त्तमान समयमें हम जैसा गरीब-गरबाके घरमें गोमाताका पालन-पोषण करना असंभव बात है। बाजारका दूध स्वस्थ या रुग्ण गाय का है या उसमें कोई रोगका बीजाणु-कीटाणु मिश्रित है या नहीं, इसका भी पता नहीं लगता। एक ओर पाश्चात्य विज्ञोंकी अनुकम्पासे बीजाणु-कीटाणु-तत्त्व हमारे मन पर ऐसा स्थिरासन जमा लिया है, कि हमारे मन निर्बल हो गया तथा हरेक-बातोंमें ही हम बीजाणु-कीटाणु के भयसे क्लिष्ट है; दूसरी ओर हम लोग आज मौज़-शौकके कारण प्राकृतिक ग्राम्य-जीवन व्यतीत करना सभ्यताको खिलाफ समझ कर बीजाणु-कीटाणुसे परिपूर्ण शहरमें कुत्ता-बिल्लीकी भाँति निवास करना, न्याय-संगत मानकर, शहरमें वास करने लगे हैं। पाश्चात्य विज्ञोंको मतसे शहरके वायु तथा प्रति धूल-कणमें रोग-जन्तु विद्यमान है, अतः शहरके प्रत्येक-वस्तुमें रोग-बीजाणु हो। उनके मतसे अनिवार्य्य है। अतः दूधमें भी उक्त रोग-बीजाणु-कीटाणु होगा ही, अतः उसे नाश करनेके लिए दूधको अधिक उबालना ही चाहिए। अधिक उबालनेसे फिर सि प्रजीवक-तत्त्व नाश हो जाता है। सुतरां वह सि प्रजीवक—तत्त्वके लिए उसके साथ केलाका मिश्रण करना, विज्ञान—सम्मत है।

मनके साथ शरीरका अभिन्न सम्बंध है। शरीर रुग्ण होनेसे मन निर्बल हो जाता है, उसी प्रकार मन निर्बल होनेसे शरीर क्लिष्ट हो जाता है। हमारे मन एवं शरीर इतना भयभीत, निर्बल, रुग्ण होनेके कारण हैं

हमारी पराधीनता तथा प्रायः हजार वर्षका गुलामीपन !! हमारा शरीर यदि पहिले की भाँति हृष्ट-पुष्ट-बलिष्ट होता, हमारा मन भी निस्तेज न होकर विशेष बलशाली हो जाता एवं हमारी इच्छाशक्ति (Willforce) भी इतनी प्रबल होती कि जीवाणु-कीटाणुका भय हमारे मन पर प्रभुत्व नहीं कर सकता । अब भारत-माता शृंखल-मुक्त हुई है, अतः आशा है, कि अब हम हमारे पूर्वजकी भाँति सर्व प्रकारसे उन्नतिका शिखरारोहण कर सकेंगे। उस समय यह रोग-बीजाणु-कीटाणु फिर हमारे मन पर अपना स्थिरासन जमा नहीं सकेंगे।

अब बात यही है, कि केलामें भी तो बीजाणु-कीटाणु रह सकता है ? रह सकता है सही, परंतु प्रकृति-माता केलाको जीवाणु-बीजाणु प्रतिरोधक (Obstructing) आवरण (Covering) द्वारा ऐसा मण्डित (decora_ted) कर भेजी है, जिससे केलाकी छिलकामें रोग-बीजाणु-कीटाणु रह सकता है, किंतु छिल्काको भेद कर भीतर प्रवेश नहीं कर सकता । व्यापक (Comprehensive) बीजाणु-तत्त्व-परीक्षासे डॉ० ई. एन. बेली (Dr. E. N. Bailey) ने दिखाया है, कि "केलाको जीवाणु-संयुक्त तरल (प्रवाही) पदार्थ में डुबाकर रखनेसे भी, जीवाणु केलाकी छिल्का भेद कर भीतरमें प्रवेश नहीं कर सकता है । अतएवं निसंदेह तथा निरापद चित्त से केलाको यत्र-तत्र छिल्का फेक कर खा सकता है, चाहे वह मलीन (dirty) अवस्थामें हो । केलामें दूसरी एक महान सुविधा यह है, कि, बिना पकाए ही इसे खाया जाता है । इसमें Fat तथा Protein का भाग कम होने पर भी, शरीरका तापमान (Calories) बढता रहता है; अतः मूत्राशयको रोगमें यह महान उपकारी-वस्तु है । अब देखना चाहिए कि दूध तथा केलामें कौन-कौन-सो विटामिन कितना मात्रामें विद्यमान है ?:—

गायका दूध- प्रजीवक-तत्त्व

	ए.	बी.	सी.	डी.	ई.
कच्चा दूध धारोष्ण	++++	+++	++	++	+
उबाला हुआ	++++	+++	+	++	+
दूध और केला मिश्रण	+++++	+++	++	++	+

आप सभी सज्जन समझ गये होंगे कि दूध और केला शरीरकी रक्षाके लिए कितनी प्रयोजनीय वस्तु है ।

वैज्ञानिक-परीक्षासे यह भी प्रतिपादित हो गया है, कि केला उत्तम रूपसे पकनेके पहिले उसे न पकाकर खाना उचित नहीं है; क्योंकि केला उत्तम रूपसे न पकनेसे उसमें श्वेतसार (Carbohydrate) का भाग अधिक रहता है । वह पाकस्थली उत्तेजक तथा उसे पाचन करना कठिन है ।

डॉक्टर लिस (Dr. Leitch) कहता है कि शरीरमें आयोडिन (Iodin) का अभाव होनेपर भी केला उसका अभाव पूर्ण कर सकता है । इसका क्षार—धर्मी भस्म रक्तको क्षार-धर्म-युक्त करता है । केलामें Fat, Protein, Carbohydrate तथा अनेक प्रकारके धातु-उपधातु, पार्थिव-लवणादि (पाहिले लिखचुका हूँ) विद्यमान रहनेके कारण जैसा शरीरको हृष्ट-पुष्ट-बलिष्ट करता है, वैसा ही रक्तको शुद्ध कर रक्तकी वृद्धि भी करता है । बचोंके रक्तमें हिमोग्लोबिन (Hemoglobin) की परीक्षा करके प्रतिपन्न हो गया है, कि वे केलासे शरीर रक्षा तथा पुष्टिकारक सर्व-तत्त्व प्राप्त कर सकते हैं । रक्तमें जो लाल कण (Red sells) विद्यमान है, वह केलासे स्वाभाविक-उत्पन्न शर्करा, मैंगोनीज, ताम्र और लौहके कारण है । जीवतत्त्व-शास्त्री गवेषणा करके स्थिर किए हैं, कि केलामें जितना लौह है, वह सभी रक्तका लाल-कण बढानेके लिए ही प्रकृति माता बनाई है । अर्थात् केलाका सब लौह ही रक्त बन जाता है ।

खूब ही अपारिपुष्ट तथा कच्चा अवस्थामें केलाको काट कर घरमें रखनेसे, वह पक जाता है सही, परंतु उसमें यथोपयुक्त जीवनी-शक्ति उत्पन्न नहीं होती है; न उसमें सुमिष्ट-गंध ही होती है । पको केलामें सुगंध साधारणतः Amylacetate नामक एक प्रकार जैव- पदार्थके लिए होता है। अपरिपुष्ट तथा कच्चा केलामें Amylae उत्पन्न नहीं होता है । अतः केलाका सभी तत्त्व तथा सुगंध प्राप्त करने हो तो उसे स्वाभाविक प्राकृतिक नियमसे पेड पर ही पकने देना चाहिए । पेड पर पकने पर स्वाभाविक रीतसे केलामें प्रायः २० प्रतिशत शर्करा मिलता है तथा प्रतिशत एक भागसे भी कम श्वेतसार (Starch) मिलता है । इसके अतिरिक्त पका केलामें Acetylalde-

hyde नामक दूसरे एक प्रकारके जैव-पदार्थ भी प्रचुर परिमाणमें विद्यमान है।

कच्चा केला

अब तक जो कुछ लिखा है, वे सभी पके केलाके सम्बंधमें। केवल-पके केला ही उपकारी-वस्तु नहीं है, कच्चा-केला भी विशेष उपकारी-वस्तु है; परंतु पका केला-की भाँति, इतने रासयनिक-तत्त्व इसमें नहीं है। उदरामय यानी-पेटकी बीमारीमें जैसे, पतला दस्त आना, आमाशय-रक्तामाशय, संग्रहणी आदिमें कच्चा केला महौषध जैसा है। आयुर्वेदके मतसे कच्चा केला पुष्टिकर, मधुर-रस, शीतवीर्य, विष्ट भी, कफघ्न, गुरु, स्निग्धकारक, शुक्र-वर्धक एवं धारक है। रक्तपित्त, प्यास, दाह, क्षत, क्षय (T. B.) और वायु आदि आदि रोगमें कच्चा केला का सेवन उत्तम है; एकाधारमें यह भोज्य एवं औषध है।

प्रायः सभी आदमी कच्चा-केलाको शाक-भाजी-रूपमें काममें लेता हैं। कच्चा-केलामें सामान्य नमक (Salt) संयुक्त श्वेतसार (Starch) अधिक परिमाणमें विद्यमान है एवं सामान्य परिमाणमें टेनिन (Tannin) रहनेसे यह धारक वा संकोचक, पुष्टिकारक तथा पेटको रोगमें सुपथ्य है।

कच्चा केलामें-लौहका भाग अधिक मात्रामें विद्यमान है। औषधि-रूपमें चिकित्सक वर्ग जो लौह रोगीको खानेको देते हैं, वह लौह यदि उत्तम रूपसे संस्कारित, वा भस्म न हो तो वह मानव को रक्तमें जल्दी मिश्रण नहीं होता तथा यथोपयुक्त गुण भी नहीं होता। यदि उत्तमरूप रूप संस्कारित एवं भस्म हो, तथापि रक्तमें मिलनेमें देर लगता है। लौहका गुण है, रक्त-मध्यस्थ रक्ताणुकी वृद्धि करना है अर्थात् सीधी बातसे रक्तको बढाना है। कच्चा केलामें जो लौह है, वह बडी आसानीसे रक्तमें मिल जाता है। न इसे संस्कारित करना पडता है, न भस्म बनानेकी आवश्यकता है। यह प्राकृतिक-लौह है, प्राकृतिक-नियम-से ही रक्तमें जाकर मिल जाता है। केवल इतना ही देखने की आवश्यकता है, कि खानेवालेकी पाचकाग्नि + सबल है या नहीं?—कदाचित पाचकाग्नि सबल न भी हो तो, कच्चा केला पाचकाग्निको भी सबल बनाता है। कच्चा केलामें लौह है या नहीं, आसानीसे आप भी परीक्षा कर सकते है। कच्चा केलाको काटकर कोई लौह का बर्त्तन में ५।१० मिनट भिगा कर रक्खो। आप देखेंगे कि जल काला हो जायगा।

कच्चा केलाका सब गुण उदरस्थ करने हो तो इसे डाण्डीके साथ दालमें छोडकर उबालना चाहिये। दाल पकनेके साथ ही साथ केला भी पक जायगा। इससे केला-को बहुतसे तत्त्व दालमें आ जायंगो। एवं छिलकामें जो सब तत्त्व रहता है, वह सभी छिलकासे गुदामें पहुँच जायगा। पक जानेके बाद केलाको दालसे उतार कर, पका केलाकी भाँति इसकी छिलका निकाल देना चाहिए। छिलका निकाल देनेके बाद जो भोज्य भाग गुदा मिलेगा, वह मक्खनकी भाँति कोमल होता है। उस भोज्यांश गुदाको रोगीकी रूचीके अनुसार नमक, जीरा हींग, घी, मक्खन आदि मिलाकर, अथवा शाक-बनाकर भात-रोटीके साथ खा सकते हैं। इसे दूध दहीके साथ भी खाया जाता है। यह विशेष ही लघु-पाच्य यानी आसानीसे हजम होता है एवं परम उपादेय स्वादिष्ट भोज्य है। यह अच्छा तापो-त्पादक (Calories) भी है।

बंगाल-प्रान्तमें प्रभुत परिमाणमें कच्चा केला मिलता है। सर्व-साधारण प्रायः नित्य ही कच्चा-केलाका शाक खाता है। यह विशेष रूपसे उजः धातु (शुद्ध-वीर्य) बढानेवाला सात्त्विक-भोजन है। बंगालमें किम्वदन्ति ऐसा है, कि कच्चा केलाके साथ चावल खाकर ही हमारे पूर्वज सत्यद्रष्टा शास्त्रकर्त्तागण इतने विशाल अकाट्य हिन्दू-शास्त्र प्रणयण कर गये हैं,- जो आज भी--सर्व-जगत्के सामने ध्रुव सत्य रूपमें विद्यमान रहकर हमें सुख-शान्ति आनन्द-आरोग्य दे रहा है। हमारे शास्त्र अचल, अटल, स्थिर एवं प्रत्यक्ष सत्य रूपमें आज भी सारे संसारको मोहित कर रहा है जिसका एक भी शब्द मिथ्या प्रतिपन्न करने की शक्ति, विजातीय विज्ञान तथा मनिषीवृन्दमें नहीं है।

+ पाचकाग्नि, समानाग्नि, तीक्ष्णाग्नि आदि पञ्चाग्निके सम्बध पर आगे "वैदिक-धर्म" में "हाई ब्लड प्रेशर" नामक लेखमें सविस्तार लिखूंगा। लेखक—

*

कच्चा-केला छिल्का समेत बारिक काटकर सुखाकर पीस लेनेसे उत्तम आटा बन जाता है। इस आटेके साथ सम-भाग गेहूँका आटा मिलाकर, पुडी परोटा, हलवा, सीरा, मीठाई आदि मनमाफिक वस्तु बनायी जा सकती है। यह शरीरका ताप (Calories) उत्पादक, शीतवीर्य एवं सहज-पाच्य भोज्य है— रोगी खा सकता है।

कोई कोई देशमें पाका केलाका काफी बनाता है। पाका केला टुकरा-टुकरा काटकर सुखाकर कूटकर जलके साथ उबालकर काफी (Coffee) बनाता है। इसका स्वाद भी काफी जैसा है; परंतु काफीकी भाँति स्वास्थ हानी-कर नहीं है।

पाका केलाको बारिक काटकर सुखाकर सुमिष्ट करनेके लिए शक्कर मिला लेनेसे "केलाका-फिंग" तैयार होता है। पाका केलाको खूब पतला काटकर, शक्कर और सन्तराका रसमें भली भाँति मिला लेनेसे अरुचि-नाशक उत्तम भोज्य बनता है।

बर्मामें रहते समय कच्छ-प्रदेशस्थ अनेक-बेपारीके घर-पर अतिथि बनना पडा। वे पका केलाके साथ घी और शक्कर मिलाकर खाते हैं। मैंने भी खाया। जिसका यकृत कमजोर है, उसके लिए ऐसा भोज्य विशेष हानि-कारक है। जिसको दम, बुखार, खाँसी है, उसे केला नहीं खाना चाहिए। पाका केलामें जब इतने गुण है, तब उसका पेड, फूल, मूलमें भी गुण अवश्य ही होना चाहिए। अतः उनके भी गुण नीचे लिखता हूँ।

कदली-पुष्पम्

कदल्याः कुसुमं स्निग्धं मधुरं तुवरं गुरु।
वातपित्त हरं शीतं रक्तपित्तक्षयप्रणुत्॥

केलाके फुलोंको बंगालमें "मोचा" कहते हैं। मोचा संस्कृत शब्द है। संस्कृतमें केलाका एकनाम मोचा फल है। अंगरेजीमें इसको Plantain Flower कहते हैं।

आयुर्वेद मतसे इसका गुण ऐसा है— यह स्निग्ध, मधुर-कषायरस, गुरु, शीतवीर्य है एवं इसको सेवनसे वायु, पित्त, रक्तपित्त और क्षय यानी राजयक्ष्मा (T. B.) अच्छा होता है।

बंगदेशमें कदली- कुसुम यानी मोचा खानेका अभ्यास विशेष ही अधिक है। समग्र-बंगालमें ही प्रभुत-परिमाणमें मिलता है। बोम्बेमें केलाका फूल तो अवश्य मिलता है, परंतु वह अपकाकर-वस्तु है,— उपकारक नहीं तथा उसमें आयुर्वेदुक्त उपर्युक्त गुण भी नहीं रहता है। बोम्बेमें जो फूल मिलता है, वह पका हुआ केलाका अग्रभाग है, इस कारण वह अधिक कषाय-रस युक्त होता है तथा उसमें उपकारक-तत्त्व नहीं रहता है।

बंगालमें जो मोचा (कदली-पुष्प) बाजारमें नित्य ही मिलता है, वह पके केलाका नहीं, उसे कच्चा अवस्थामें ही पेडको काटकर लाया जाता है। ऐसा मोचाके भीतर "५ से ८" इञ्च लम्बा साधारण पीला रंगवाला कोमल रहता है। ऐसा एक-एक मोचाका वजन ४।५ पौंडसे १८।२० पौंड तक होता है। बोम्बेमें जो मोचा मिलता है, उसका वजन ज्यादासे ज्यादा २ पौंड होता है। उक्त प्रकारके मोचामें आयुर्वेदुक्त सर्वगुण मिलता है। क्षय-रोग तक नाश करनेमें यह समर्थ है। इससे आप समझ गये होंगे कि शरीर रक्षाके लिए वह कितनी उपकारी-वस्तु है। इसका शाक खाया जाता है। काटनेके पहिले ही इसे धो लेना चाहिए। क्योंकि इसमें लौह (Iron) भाग विशेष है। काटकर धोनेसे अनेकांश लौह-तत्त्व धुल जाता है।

कदली-दण्डः

योनि दोषहरो दण्डः कादल्योऽसृग्दरं जयेत्।
रक्तपित्तहरः शीतः सुरुच्योऽग्नि प्रवर्द्धनः॥

बोम्बे-प्रान्तमें कदली-दण्डको चाम, बंगालमें भोड बोलते है। केलाके झाडको काटकर धीरे धीरे ऊपरका स्तर निकाल देनेसे अन्दरमें बाँसकी भाँति एक दण्ड मिलता है, जिसमें स्तर नहीं होता है। उसे ही कदली-दण्ड कहते हैं। आज कल कभी कभी बोम्बेमें भी मिलने लगा है। इसका शाक बनाया जाता है। बंगालमें सर्वत्र ही इसे प्रायः नित्य ही खानेका अभ्यास है। ऊपर जो मोजाका वर्णन किया है, वह मोचाको झाडका जो दण्ड होता है, वही उत्तम होता है यानी-कच्चा केलाका दण्ड ही-लाभकारक होता है। पके केलाका दण्ड अखाद्य तथा अपकारी है। जब तक झाडमें फूल नहीं निकलता, तब तक दण्ड नहीं होता।

आयुर्वेदमें इसके गुण सम्बन्धी लिखा है कि:—यह शीतवीर्य, रुचि उत्पन्न कारक, अग्निदीपक यानी-भूख बढाने-वाला होता है और इससे योनिदोष, असृगदर (रक्त-प्रदर) एवं रक्त-पित्त नाश होता है।

स्वानुभवसे मालूम पडा है, कि स्वप्नदोष यानी जिसको रातमें नींदके भीतर स्वप्न-विकारसे वीर्य्य-पात होता है, वह यदि इस कदली दण्डको कूटकर इसका जल निकाल कर नित्य सबेरे-शाम नियमित पीये तो स्वप्नदोष थोडे दिनके भीतर ही अच्छा हो जायगा। अधिक-दिन अर्थात् लगातार ३।४ महीने नहीं पीना चाहिए; क्योंकि अधिक दिनतक इसका रस पीनेसे ध्वज-भंग अर्थात् स्त्री-संग करनेकी शक्ति क्षीण (कम) हो जाती है। जिसको बहुत ज्यादा इन्द्रिय उत्तेजना होता है, इसका रस पीनेसे उन को भी विशेष लाभ होगा। इस के अतिरिक्त—

हाई ब्लड-प्रेशर

इस रोगमें इससे विशेष लाभ होता है। अनेक High Blood Pressure बीमारकी चिकित्साके समय मैं दवा-के साथ अनुपान रूपमें इसका रस देता हूँ। हाई ब्लड-प्रेशर रोगीको केवल रस पीनेसे भी अवश्य लाभ होगा।

हाई ब्लड-प्रेशर रोग क्या है एवं यह महा-भयंकर-रोग कैसा अच्छा हो सकता है, इस विषय पर एक सुवि-स्तृत सुचिन्तित, स्वानुभव्य लेख मैं आगे लिखूंगा, जिससे साक्षात् कालरूपी यम-सदृश यह महाव्याधिसे सभी सज्जन मुक्त हो सकें?

कदली--कन्दः।

शीतलः कदलीकन्दो बल्यः केश्योऽम्लपित्त-जित्। वह्निकृद् दाहहारी च मधुरो रुचिका-रकः॥

कदली-कन्द-शीतल, बलकारक, केश्य, अम्ल-पित्त नाशक, अग्नि--वर्द्धक, दाह नाशक, मधुर-रस, रूचि-कारक है।

केला के पेडका जो भाग जमीनके भीतर रहता है, उसे कदली--कन्द कहते हैं। यह विशेष उपकारी वस्तु है।

सर्पाघात

साँप काटनेसे इस कन्दको कूट-पीसकर निचोर कर जल (रस) निकाल लें। उस जलको शीघ्रांतिशीघ्र यदि कमसे कम दो पौंड पीला सके तो, कितना ही जहरीला साँपका विष क्यों न हो, शांत हो जायगा। ४।५ पौंडसे ८।१० पौंड रस पीलानेसे कभी भी सर्पाघातवाला नहीं मरेगा एवं विष नाश हो जायगा। कदली-कन्दसे रस निकालना खूब सरल है, रस भी प्रभुत-परिमाणमें निक-लता है। इसके अतिरिक्त—

रक्त-पित्त

रक्तपित्त तथा हाई ब्लड-प्रेशरवालेके लिए भी यह यथेष्ट उपकारी वस्तु है। रक्त पित्त तथा हाई ब्लड-प्रेशर रोग जब उग्रावस्थामें पहुँच जाता है, तब शरीरके भीतर खूब गर्मी बढ जाती हैं, एवं शरीरमें खूब दाह होने लगता है; किसी-किसीको नाकसे एवं किसीको शरीरके अनेक भागों-से रक्त-स्राव होने लगता है। ऐसे कठिन बीमारको नित्य ४।५ समय यह कदली--कन्दका रस पिलानेसे, आसानी से दाह मिट जाता है, शरीरके भीतरस्थ--गर्मी नाश होती है, एवं धीरे--धीरे रोग शांत हो जाता है। किसी भी प्रकारका दाह रोग, शरीरमें अत्यधिक--गर्मी, पेशाबका जलन, स्वप्नदोष, अत्यधिक तृष्णा (प्यास) आदिमें यह रस अत्युत्तम-- दवा है।

कोलेरा (हैजा)

हैजेवाला बीमार जलकी प्यासमें विशेष ही क्लिष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्थामें कदली--कन्दका रस देनेसे तृष्णा मिट जाती है एवं मूत्रावरोध हो तो, वह भी साफ होता है अर्थात् मूत्राशयको स्निग्ध करके साफ पेशाब आता है।

गुर्जर देशस्थ अनेक ब्राह्मण तथा उच्च कुलके स्वधर्मा-नुरागी अनेक सज्जन ब्राह्मणेतर जातिकी बनी हुयी वस्तु भोजन नहीं करते हैं। इस कारण ब्राह्मणेतर-जाति केला के पेडको काट कर, समग्र-झाडका रस निकाल कर घासलेटका डब्बा भर कर रख देते हैं। उच्च-जातिके मानव उनके घर पर आनेसे उस रससे पुडी, पकोडी, पडोटा, मिठाई, शाकादि बना देते हैं तो आनन्दके साथ ब्राह्मण-लोग भोजन करते हैं। इससे पाप नहीं होता तथा

जातिच्युत होनेका भी भय नहीं रहता। कैसा सूक्ष्म-विचार! कैसी भोजन की लोलुपता !! कैसी रूची !!!

यह रस शीतल व ग्राही है। मेह, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र रक्तदोष, योनिरोग, प्रदर, रक्तपित्त, हाई ब्लड-प्रेशर आदि वायु-पित्तवाले रोगमें केवल इसका जल पीनेसे ही लाभ होता है। दवाको अनुपान रूपमें यह विशेष लाभकारक है।

स्वच्छ-पवित्र-लवण।

केलाके झाडसे स्वच्छ--पवित्र लवण निकाला जाता है, ये बात पूर्व-बंगालके सिवा दूसरे कोई देशको मालूम नहीं है। पूर्व-बंगालके ग्राम्य-निवासी प्रायः सभी हिन्दू पूजा पाठादि तथा उपवासके दिन वह लवण भोजनके काममें लेते थे। वर्तमान समयमें तो देशवासी पाश्चात्य-विद्याके मोहसे अंध बनकर जैसा सनातन हिन्दू-- संस्कारकी जडमें पादघात कर रहे हैं वैसा ही देशके पूर्व-- विज्ञान कला-शिल्प आदिको भी भूल रहे हैं। इसी प्रकार बंगालमें यह अत्युत्तम--वस्तु पर भी उपेक्षा आ गई है। यह विशेष ही उपकारी--वस्तु होनेके कारण मैं इसे लिपिबद्ध कर देता हूँ। करुणामयकी अनुकम्पासे कोई सज्जनके मनमें जागृति आ जावे तो, यह कला का पुनरुत्थान होगा तथा सर्व--साधारणका भी मंगल होगा।

लवण-निकालनेकी विधि :— केलाके पेडमें केवल एक ही बार केला होता है। केला पक जानेके बाद उसे काटकर फेंक दिया जाता है, नहीं तो वह झाड दूसरे झाडको खराब कर देता है। केलाके झाड काटनेके बाद, उसके बारिक बारिक टुकडे करने चाहिए। कोई कोई देशमें यह बारिक टुकडे दुग्ध-प्रदाता गाय, भैंस, बकरी आदिको खाने देते हैं। उनकी धारणा है, कि इससे दूधका परिमाण बढ जाता हैं। यह तो हाथीका विशेष प्रिय खाद्य है। अस्तु--

हाँ, झाडके बारिक टुकडे कर सुखाना चाहिए। उसका कोई भी अंश फेंका नहीं जाता; पत्ती, डण्टल, जड आदि सर्वांग ही सुखाने चाहिए, सुखानेके बाद उसे जलाकर खाक (भस्म) करना चाहिए। यह भस्म साफ जलमें घोलकर ढाकाई मसलित जैसा मूल्यवान बारिक-कपडा धोया जाता है। आज कल भी बंगालके धोबी लोग इस खाकसे सूक्ष्म-मूल्यवान कपडे धोते हैं। दूसरे साधारण कपडे भी साफ होते हैं। साबून-सोडासे जैसा कपडाका नुकसान होता है, इससे वैसा कुछ भी नुकसान नहीं होता। इसमें क्षारका भाग अधिक है।

उक्त केलाकी खाक (भस्म) को जलमें खूब घोलकर, कपडेसे छानकर कचरा फेंक देना चाहिए। फिर बारिक (सूक्ष्म) कपडेसे दूसरी बार छानकर मैल निकाल देना चाहिए। उसके बाद उस जलको सुखा लेनेसे नमक (Salt) मिलता है। यह लवण स्वच्छ, पवित्र एवं लाभ-कारक होता है। अनेक-रोग ऐसे होते हैं जिसमें लवण खानेको नहीं दिया जाता, जैसा उदरी, जलोदर, शोथ, बेरीबेरी, हाई-ब्लड प्रेशर आदि। ऐसे रोगोंमें यह केलेके झाडका लवण देनेसे कुछ भी नुकसान नहीं होता, वरना उपकार होता है। रोगी भी नमक मिलनेसे खुशीके साथ भोजन करता है। यह नमक वर्षोंतक पडा रहनेसे भी खराब नहीं होता।

केलाकी पत्ति

यह तो प्रायः सभी लोग जानते हैं, कि केलेकी पत्तीको भोजनके काममें लिया जाता है। केलेकी पत्तीमें भोजन करनेमें आनन्द होता है तथा यह सदा पवित्र है। इसके अतिरिक्त इस पत्तीमें एक विशेष गुण है कि बंगालके देहाति मानव आँखकी बीमारी होनेसे वे केलेकी नवीन कोमल-पत्तीको आँखके ऊपर बाँध देते हैं— जिससे धूपादि न लगे तथा कोई जीवाणु-बीजाणु आँखको नुकसान न कर सके। यह शीतल तथा हरे रंगवाला होनेके कारण आँखके रोगमें उपकारी वस्तु है। इसी सिद्धान्तको आधु-निक पाश्चात्य डॉक्टर-विज्ञानने मान लिया है, वे केलेकी पत्तीको बांधना असभ्य जंगली-आदमीका काम सोचकर, सभ्यताकी बढाईके लिए हरे रंगके कपडेसे आँख ढक देते हैं। परन्तु सत्यकी रक्षाके लिए लिखना असंगत नहीं होगा कि केलेकी पत्तिसे जितना लाभ तथा आँखको ठंडी पहुँचती है, उतनी हरे पर्देसे नहीं होती। परन्तु सभ्यता तथा विज्ञानकी महिमाके लिए...... !!!

जिसको अम्ल-शूल, पित्त-शूल, अजीर्ण, उदरामय रोग

हों, वे यदि नियमित केलाकी पत्तीपर भोज्य रखकर भोजन करे तो अवश्य लाभ होगा।

माता-पिता आदि पूज्य पुरुषोंकी मृत्यु होनेसे श्राद्धादि कार्यतक संयमी रहना पडता है एवं हविषान्न भोजनकी विधि है। इस समय कोई भी धातु-पदार्थ स्पर्श निषेध है। ऐसी अवस्थामें बंगालके प्रत्येक हिन्दू चाहे वह राजा ही क्यों न हों, केलेकी पत्तीपर भोजन करते हैं एवं मिट्टीके बर्तनमें जल पीते हैं। धातु-द्रव्य स्पर्शतक नहीं करते। हविषन्न किसे कहते हैं, इस प्रांतके प्रायः सभी व्यक्ति ही नहीं जानते हैं, अतः वह सुनिए। होम-यज्ञमें जैसा "चरु" पकाया जाता है, उसी प्रकार माता-पिता आदि पूज्य-पुरुषोंकी मृत्यु होनेसे मिट्टीके बर्त्तनमें भोज्य पकाया जाता है। जो कुछ खानेकी वस्तु होवे सभी एकही साथ एकबार पकायी जाती है, उसमें मसालादि, नमक नहीं दिया जाता बेगार भी नहीं। इसे हविषान्न कहते है। इसमें घी अवश्य देते हैं। यह कठोर दण्डी-संन्यासीका भोज्य है। अस्तु—

हमारे-शास्त्रादि–पूरातनकालमें ताडपत्रमें लिखे जाते थी, आज भी वह ताडपत्र लिखित शास्त्र मिलते हैं। बचपनमें हम लोग भी ताडपत्रमें ही सर्व-प्रथम विद्याभ्यास शुरु किए थे। ताडपत्रका अभाव होनेपर हम लोग केले-की पत्तीमें लिखते थे। अब भी बंगालमें सर्व प्रथम केलाकी पत्ती पर ही विद्याभ्यास शुरु होता है। यद्यपि वर्त्तमान समयमें स्लेट-कागजका अभाव नहीं है।

केलेकी पत्तीको बंगालमें सबसे पवित्र--वस्तु मानते हैं। इस कारणसे कोई भी पूजा-पार्वन, विवाह, श्राद्धादि काममें बंगालके सभी मानव केला तथा केलाकी--पत्तीको काममें लेते हैं। पूर्व संस्कारी धार्मिक--सज्जन अब भी सबेरे शौचादिसे निवृत्त होकर सर्व प्रथम केलाकी पत्ती पर अपने--अपने विश्वासानुसार भगवानका नाम लिख कर दूसरे काममें लिप्त होते हैं।

परम मंगलमय परम पिता उनके सृष्ट सर्वश्रेष्ठ-जीव 'मानव' के लिए अनंत-काल पूर्व ही कैसे सुमनोरम, उपादेय तथा विशेष लाभकारक वस्तुकी सृष्टि की है। हमारे सनातन हिन्दू धर्मके प्रत्येक सम्प्रदायके लोग उपर्युक्त कारणोंसे केलेको विशेषही आदरके साथ देखते हैं। कितने लोग तो इसे देव मान कर पूजा करते हैं।

अनेक लोग ब्लिष्टार-रोग (Blister Swelling the skin filled with scrum) केलाकी पत्तीसे ढक देते हैं। इससे विशेष लाभ होता है। वन--जंगलमें रहनेवाले आदिवासी, जिसे नव्य-शिक्षित वर्ग "जंगली आदमी" कहते हैं, वे घाव सुखानेके लिए इसका रस काममें लेते हैं। इसका रस मल्हमका काम करता है। घावमें इसका रस लगाकर, कोमल-पत्तीसे ढक देते हैं, इससे जल्दी घाव सूख जाता है। इसका तत्त्व जंगली आदमीसे लेकर नव्य-शिक्षित विज्ञ-वर्ग बिलष्टार रोगमें प्रयोग करने लगे हैं तथा अपना अभिमानका गर्व बढाने लगे हैं।

कहीं कट जानेसे उक्त जंगली आदमी केलाकी पत्तीका रस लगाते हैं। इससे जल्दी खून बन्द हो जाता है एवं कटा हुआ स्थान जुड जाता है। अर्थात् Tin Iodin वा Tin Benzune का काम इस रससे होता है।

छोटे छोटे बचें यदि कृमि (Worms) रोगसे आक्रांत हो जाय तो केलेके मूलका रस पीलानेसे कृमि नाश होता है। असभ्य-जंगली मानवका यह विज्ञान भी--नवीन-विज्ञ परीक्षा द्वारा मानने लगे हैं।

अनेक विज्ञका मत है, कि संतरा (orange) भी केले जैसी उपकारी-वस्तु है। वास्तवमें ऐसा नहीं है। केला और संतरामें बहुत अन्तर है—जैसा—

	प्रोटिन	केलशियम	फोसफरस	लौह	Vitamin A	Vitamin B	Vitamin C	Vitamin D	Vitamin E
संतरा=	·5	·8	·7	·6	÷	++	+++	0	+
केला=	·5	1·0	·7	1·2	++	+	++	साधारण	++

इसके अतिरिक्त केलेमें और अनेक प्रकारके धातु, उपधातु तथा जीवन-रक्षक उपादान विद्यमान है, जिसका मैंने पहिलेही उल्लेख किया है।

स्कार्भि नामक एक प्रकारका रोग है, जिसमें वजन खूब घटता जाता है। इस रोगमें नींबू, संतरेका रस दिया जाता है, उपकार भी होता है, परंतु वजन नहीं बढता।

किन्तु केला स्कार्भि-रोगनाशक है, अधिकंतु रक्त-विकृति नाश कर यह वजन एवं शक्ति बढाता है। स्कार्भि रोगमें केला उत्तम प्रथ्य व दवा है।

छोटे छोटे बच्चोंको थोडा–थोडा केला खिलाना अच्छा हैं। इसमें Vitamin A अधिक मात्रामें रहनेके कारण दंत-वृद्धि तथा पुष्टिके लिए सहायक है। ३।४ वर्षके बच्चोंके लिए नित्य ४,५ केला खिलाना विशेष ही लाभदायक है। इससे बालकका सर्व-प्रकारसे पुष्टि होती है।

केलेके झाडका सर्वांग ही हमारे लिए विशेष उपकारी वस्तु है। केवल उपकारी वस्तु ही नहीं, यह उत्तम औष--धि है। " औषध्यः फल पाकान्त्यः " अर्थात् जिसका फल पकनेके बाद ही मर जाता है, उसे ही औषधि कहते हैं। इसका फल पकनेपर इसका झाड मर जाता है: अतः यह औषधि है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकारके कठिन रोग भी इसका फल, कन्द, दण्ड, पत्ती यानी इसका सर्वावयवसे अच्छे होते हैं। अतः इसे यदि महौषधि माना जाय तो अत्युक्ति नहीं होती है।

अनेक–लोग केलेके झाडको देवज्ञानसे पूजा करते हैं, ये बात सुनकर, भिन्न धर्मावलम्बी मानव हँसी उडाते हैं। परंतु वे विचार नहीं करते हैं, कि इसकी जडमें क्या तत्व भरा हुआ है ? हमारे पूर्वज योगी–ऋषि–मुनि वृन्द सूक्ष्मातिसूक्ष्म गवेषणा द्वारा, जिस वस्तुमें जितने अधिक–तत्व पाते थे, उसे उतना ही अधिक मान देकर धर्म-ज्ञानसे प्रचार कर गये हैं। जैसा 'तुलसी' है। तुलसीमें शतशत प्रकारके गुण विद्यमान हैं। इस कारण मनीषिवृन्द उसे धर्म भावसे पूजा करते आये हैं। माता--पिता हमारे परमगुरु हैं, एवं सर्व प्रकारसे हमें आदरयत्न, शीक्षा--दीक्षा-रक्षा करते हैं; इस कारण यदि हम माता-पिताको प्रत्यक्ष देव माने तो, इसमें बुराई क्या है ? उसी प्रकार कदली-वृक्ष एक उत्तम पवित्र, तथा महोपकारी-वृक्ष हैं, अधिकन्तु केवल मात्र उसका फल खाकर ही हम स्वस्थ शररिसे जीवित रह सकते हैं एवं हमारे शरीरका सर्व--अभाव ही केला पूर्ण कर सकता है। ऐसी अवस्थामें यदि हम उसे देव ज्ञानसे पूजा करें तो कुछ भी अन्याय नहीं है।

स्वकपोल–कल्पित, परिवर्तनशील, अभिमानी पाश्चात्य विज्ञान शास्त्री हमें अर्थात्-भारतवर्षके मानवको पशु, तथा भारतीय--विज्ञानको जंगली-आदमियोंका सदा--भ्रम-पूर्ण बाप–दादाका किस्सा-कहानी मानते हैं एवं प्रचार करते हैं। उसी शिक्षासे शिक्षित तथा उनकी रीति-नीतिसे विकृत–मस्तिष्क भारत—माताके अनेक–कुसंतान भी उसी भावापन्न होकर हमारे हिन्दू धर्म तथा हिन्दू–शास्त्रके शिरपर पदाघात करते हुए व्यंगकी हँसी उडाते हैं। परंतु वे एकबार भी नहीं सोचते हैं;–विचार नहीं करते हैं, कि वास्तवमें हिन्दुओंकी रीति-नीति, आचार--विचार, विज्ञान यथार्थ है या नहीं ? उस गंभीर–तत्व पर विचार तक करनेका उन्हें समय कहाँ हैं ? क्योंकि यथोचित समय में क्लबमें न पहुँचनेसे तथा गौरांगिनीओंसे प्रेमालिंगन न करनेसे तो सारा-दिन रात व्यर्थ जाता है, एवं वही चिंता भूत -पिशाच रूप उग्र मूर्ति धारण कर उनके ही मस्तिष्क (Brain) को नष्ट कर डालता है।

हिन्दू--शास्त्रमें लिखा है कि " विद्या ददाति विनयम् " अर्थात् विद्या–लाभका फल है, विनयसे भूषित होना। पाश्चात्य विद्यासे पारंगत विद्वानमें यह " विनय " वर्तमान समयमें कहाँ हैं ? अधिकन्तु पाश्चात्य-विद्यामें विशेष पारंगत होनेका मतलब तो देखनेमें आता है कि ' जगत नाश की वस्तुको आविष्कार करना है तथा अन्तिम फल आत्म नाश भी है। भारतीय आदि-विद्या स्वर्गीय--सुधा–सदृश " संस्कृत " में विद्वान मानव उनसे सर्वथा भिन्न है। इसका प्रधान लक्ष्य रहता है, रीति-नीति, आचार-विचार से आत्मगठन करना है। वे संस्कृत-विद्वान विद्यासे विभूषित होकर जगतका मंगल ही करते हैं, नाश नहीं करते। पाश्चात्य विद्यासे विभूषित अनेक मानव ही आत्म-हत्या करते हैं; परंतु भारतके–संस्कृत विद्वान संस्कृत-भाषामें पारंगत होनेके बाद आज तक एक भी सज्जन आत्महत्या Suicide) नहीं किए हैं, इतनेमें ही आप समझ लीजिए कि दोनों देशकी विद्याका मधुमय फल क्या है ?

हमारी-आदि-भाषा, केवल हमारी ही नहीं, सारे जगत की सर्व-प्रथम भाषा संस्कृत है। जब भारतका वह स्वर्ण-युग था, तब भारत सर्व-प्रकारसे उन्नतिशील, समृद्धिशाली देश था, उस समय भारत ध्रुव-सत्यकी भाँति,

गणित, विज्ञान, कला, शिल्प, ज्योतिष, कृषि, चिकित्सा आदिमें पूर्ण-पारंगत थी। उसी भारतकी कला-विद्यासे दूसरे देश समृद्धि-शाली हो गये सही, परन्तु भारतकी रीति-नीति, आचार-विचार जिसकी जड "ब्रह्मचर्य" है, उसे पदाघातसे दूर करनेके कारण ही, पाश्चात्य विद्या-शीलताका मूल्य, व्यभिचार, धोखेबाजी ठगपन, परस्त्री अपहरण आदि तमोगुण मण्डित हुआ है— हो रहा है। उसी कारणसे उनकी सृष्टि नाशकारी-ध्वंश की ओर तीव्र-वेगसे दौड रही है। उसी कारणसे उनके मस्तिष्क, हमारे पूर्वजकी भाँति धीर-स्थिर-अटल-अचल सदा सत्य पूर्ण नहीं है। आज पाश्चात्य-विद्वान सत्यरूपमें जिसे प्रचार करते हैं, दस-बिस वर्षके बाद उनके देशके ही दूसरे मनीषि उसे असत्य प्रतिपन्न कर अपने मतको सत्यरूपमें प्रचार करते हैं। फिर थोडे-वर्षोंके बाद तीसरे मनीषि पूर्वके सत्यको असत्य प्रतिपन्न कर अपना मत प्रचार करते हैं। इसी प्रकारसे पाश्चात्य मनीषिवृन्दका मत परिवर्तनशील (बदलना) है, ऐसा बार-बार परिवर्तनका मतलब है। उनका सिद्धान्त स्थिर, धीर, अटल, अपरिवर्तित तथा पूर्ण सत्यमें विद्यमान नहीं है, पूर्ण-सत्य सभी देशमें, सभी जातिमें, सभी धर्ममें, सभी भाषामें, सदा ही सत्य रूपसे विद्यमान रहेगा। कभी भी, किसी भी कारण वश सत्य विकृत वा असत्य-रूपमें प्रतिपन्न नहीं होता है।

हमारे पूर्वज योगी-ऋषि-मुनिवृन्द सदा सत्य स्वरूप सच्चिदानन्दको सदाचार, सद्व्यवहार, स्वधार्मिकता, तथा सदा साधन बलसे सलाभ करतः स्वहृद् मन्दिरमें सुप्रतिष्ठित करते हुए, जो कुछ लिख गये हैं सहस्र सहस्र युग व्यतीत होनेपर भी आज भी वे सत्य स्वरूपमें हमारे समीप सुप्रदिप्त हैं। अनेक तत्त्व अटल- अचल, अपरिवर्तित, एवं पूर्ण सत्यरूपमें विद्यमान है। उदाहरणार्थ आयुर्वेद लीजिए। न मालूम कितने अनंत युग पूर्व आयुर्वेदकी सृष्टि हुई है। अनंत युग कालके गालमें पहुँच जानेपर भी, आयुर्वेदका सिद्धान्त तथा उसका निदान, चिकित्सा, औषधियोंका गुणागुण पूर्ववत् ही विद्यमान है वे जो कुछ लिख गये हैं, उनका एक भी शब्द असत्य-प्रतिपन्न करनेकी शक्ति वर्तमान समयके कोई भी विज्ञान-शास्त्रीकी नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है, कि वे सत्यद्रष्टा थे, सत् स्वरूप सच्चिदानन्द उनके हृद्-कमलमें सदा विराजते थे; अतः वे जो कुछ लिख गये हैं, वे जो कुछ बोल गये हैं, मानों सच्चिदानन्द ही उनके मुखसे स्ववाणी बोले हैं, उनके हाथसे अपनी इच्छा प्रकट किए हैं, इस कारणसे उनके सभी कुछ सत्य है। इस कारण हिन्दू-शास्त्र रूप महासागरका सभी शब्द सत्य है।

एक किंवदन्ती है, कि प्रत्येक देशमें ही एक सती तथा एक यती (सच्चा साधु) रहेगा। जहाँ सती तथा यती नहीं है, वह देश टिक नहीं सकता, वह नाश हो जाता है। तद्रूप पाश्चात्य देशके प्रायः ही मानव असत्यके सागरमें गोता खानेपर भी वहाँ भी सती एवं यती अवश्य विद्यमान है। उनके ही पुण्य-बलसे वे देश अब भी धरापृष्ठसे लुप्त नहीं हुए हैं। वे सती एवं यती परदेशका ज्ञान, विज्ञान, कला, शिल्प, आचार नियम आदि सभी-शुभ विषय शिक्षा करते हैं, ग्रहण करते हैं, एवं अप्रकट-चित्तसे उसकी प्रशंसा भी करते हैं। तद्रूप एक यतीरूप महान-विद्वानकी कुछ बातें यहाँ उद्धृत करता हूँ—

सन १९१५ में भारतीय डॉक्टरी विभागके अध्यक्ष सर पार्डेल्यूकिस महोदयने डॉक्टरी परीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको डिप्लोमा देते हुए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था। उसमें उन्होंने कहा था कि "प्रत्येक उत्तम और उपादेय-वस्तु एलोपैथीकी लौहमय दीवारमें ही बन्द नहीं है। शेष रोगमें "वर्जयेत् लवणम्" का सिद्धान्त, जिसका डॉक्टर विडाल और जावालने पता लगाया है, सहस्रों वर्ष पूर्व हिन्दू चिकित्सकोंको ज्ञान था। अतः कृतज्ञताके नाते हमें प्राचीन ऋषियोंको इन शोधोंके सामने सर झुकाना चाहिए। **पाश्चात्य विज्ञान अभी प्रयोगावस्थामें हैं। भारतीय सिद्धांत स्थिर, अटल एवं प्रयोजातीत हैं।** ऋषियोंने हमें स्पष्ट आज्ञा दी है, कि देश, कालके अनुसार यदि नवीन-रोग दिखाई दे, तो उनके दिखाये हुए सिद्धान्तके अनुसार, उसका नामकरण और चिकित्सा आदि कर लेना चाहिए"। ×

पाश्चात्य-विद्याके महान विद्वान डॉक्टर महोदय ही जब हमारे शास्त्रपर इतनी भक्ति-श्रद्धा-विश्वास रखते हैं, हमारे ऋषि मुनियोंकी शोधोंके सामने कृतज्ञतासे सर झुकाते

× डॉक्टर अम्बालालजी शर्माकृत "क्षयरोग" पृष्ठ संख्या १४-१५।

हैं तथा पाश्चात्य-विज्ञान अभी प्रयोगावस्थामें एवं भारतीय सिद्धान्त स्थिर, अटल तथा प्रयोगातीत बताते हैं, तब विचार शून्य होकर हमे चाहिए कि हमारे पूर्वजकी विद्यामें हम पुनः पारंगत हो जाय तो जगत्का महा कल्याण कर सकते हैं। पाश्चात्यविद्यामें कोई उत्तम- वस्तु नहीं है, सो बात नहीं। उसमें भी अनेकानेक उत्तम विषय, वस्तु विद्यमान है, उसे भी हमें आदरके साथ ग्रहण करना चाहिए। परन्तु अफसोसकी बात है, कि हमारे देशके ही अनेक भाई पाश्चात्य-विद्यामें थोडा-बहुत पारङ्गत होते ही हमारे संस्कार हमारी रीतिनीति, हमारे कला-शास्त्र विज्ञान पर लात लगाना ही अपना बहादूरी समझते हैं। अस्तु—

मैं पहिले लिख चूका हूँ, कि पाश्चात्य विज्ञान परिवर्त - शील है। इस बातसे अनेक पाश्चात्य-भावापन्न विद्वानके हृदयमें रंज उत्पन्न होगा सही, परंतु सत्यकी रक्षाके लिए मुझे उक्त बात लिखनेको विवश किया है। उदाहरणार्थ, "राजयक्ष्मा" रोग लीजिए। इस महाभयंकर "राजयक्ष्मा" रोगके सम्बंध पर उनका मत कितने बार परिवर्त्तन × हो चुका है, वह मैं आगे "राजयक्ष्मा" नामक पुस्तकमें सविस्तार लिखूंगा।

उसी प्रकार "हाई ब्लड प्रेशर" रोग लीजिए। वर्त्तमान समयमें "हाई ब्लड प्रेशर" रोग जगत्में महा भयंकर सर्वश्रेष्ठ रोगमें परिणत हो गया। डॉक्टर साहेबकी अनुकम्पासे, यंत्रकी सहायतासे जब हाई ब्लड-प्रेशरका पता लग जाता है, तब हाई ब्लड प्रेशरका नाम सुनते ही रोगी हताश हो दीर्घ-श्वास छोडते हैं एवं रोगसे मुक्त होनेकी कोई भी आशा उसके मनमें नहीं रहती है। डॉक्टर महोदय भी यद्यपि मन ही मन समझ लेते हैं, कि यह रोग पूर्णतया असाध्य (उनके मतसे) है, तथापि व्यवस्था-पत्रके साथ Patent औषधि लिख कर अपना कर्तव्य पूर्ण करते हैं।

मैंने अनेक डाक्टरोंसे पूछा है, कि "आप लोगोंके विज्ञानके हिसाबसे जब प्रत्येक-रोग ही जन्तु-जन्य है, तब हाई ब्लड-प्रेशरका रोग भी तो जन्तु-जन्य होना चाहिए ?" वे साफ बोल देते हैं; कि यह रोग जन्तुजन्य नहीं है। अब प्रश्न यही उठता है, कि जन्तुके सिवाय जब कोई बीमार ही नहीं होता, तब हाई ब्लड प्रेशर रोग कैसा उत्पन्न हुआ ?

उसी प्रकार घोर सान्निपात (typhoid) रोगमें जब प्रलापावस्था (Delirium) आकर उपस्थित होती है, उस समय हाई ब्लड-प्रेशरका यंत्र लगानेसे पारा २७०—२८० तक पहुँच जाता है, अर्थात् हाई ब्लड-प्रेशरकी प्रायः अंतिम अवस्था है, परंतु यथोचित दवा एवं सेवा-सुश्रुषासे रोग जब साम्यावस्थामें आ जाता है, उस समय हाई ब्लड प्रेशर भी उतर जाता है। रोगी अच्छा होनेके बाद उसमें हाई ब्लड-प्रेशर का कोई भी निशान नहीं रहता है। तब ये दो--चार रोजका हाई ब्लड प्रेशर क्या वस्तु या विषय है ?

हाई ब्लड-प्रेशरका अन्तिम फल पक्षघात (Paralysis) वा हृदय-गति-बन्द (Heart Fail) है। रोगका निदान जब पक्का हो गया है, तब उसकी चिकित्सा अब तक क्यों नहीं होती है ? डॉक्टरी विज्ञानसे अनेक राजयक्ष्मा रोगी आरोग्य होते हैं, परंतु शायद आज तक एक भी हाई ब्लड-प्रेशर रोगी अच्छा नहीं हुआ है ? बहुदा वे अधिकांश रोगीकी Patent दवासे ही चिकित्सा करते हैं, जिसके फलसे रोगीका हार्ट खराब तथा निर्बल हो जाता है एवं उसे उलटा हृद्-रोग (Heart disease) हो जाता है। पेटेण्ट दवाओंकी कृपासे साधारण रोग भी जटील (Complicated) हो जाता है। यही है, वर्तमान समय की हाई ब्लड प्रेशर की चिकित्सा !!!

यद्यपि वे इसे नवीन रोग मानते हैं परंतु वास्तवमें यह नवीन रोग नहीं है—'नाम' नवीन है। मैं पहिले ही लिख चुका कि हाई ब्लड प्रेशरका अन्तिम फल पक्षाघात या हृदय-गति बन्द होकर मृत्यु होगा, पक्षाघात वा हृदय-गति बन्द पूर्व कालमें भी होता था। हाई ब्लड प्रेशर शब्दकी उत्पत्ति हुई है खूब ज्यादा हो तो ५० वर्ष पहिले। परंतु पक्षाघात एवं हृद्-गति बन्द रोग सनातन कालसे ही विद्यमान है; अत यह नवीन रोग नहीं है। हाई ब्लड प्रेशर नामसे यह महा भयंकर रोगमें परिणत हो गया है एवं शिक्षित-धनी-मानी, राजा-रानी, सेठ-साहुकार सबके

× डॉक्टर शंकरलालजी गुप्तप्रणीत राजयक्ष्मा नामक पुस्तक पढिये।

लिए यह रोग साक्षात् यम-सदृश बन गया है। ऐसी भीति उत्पन्न करनेका कारण मात्र " यंत्र " ही है।

यद्यपि सर्व साधारण भी मानते हैं, कि यह महा-घातक रोग है, वास्तवमें सो बात नहीं है। आयुर्वेदके मतसे यह पित्त-संयुक्त वातज-व्याधि है। मुझे भी यह रोग हुआ था, एवं सद्गुरुकी कृपासे लगभग २० साल हो गया, मैं इससे पूर्णतया स्वस्थ हो गया हूँ एवं इस रोग-ग्रस्त अनेक सज्जनकी चिकित्सा करके उन्हें रोग-मुक्त कर दिया, सत्यके लिए यह लिखनेको विवश हूँ, कि यह रोग जल्दी अच्छा नहीं होता है। रोगका प्रधान उपसर्ग ही है कि बीमारका चित्त-भ्रम कर देना। यद्यपि जब तक बीमार न जाने कि उसे हाई ब्लड प्रेशर हुआ है, तब तक उसके हृदयमें घबराहट तो होती है सही, परंतु चित्त-भ्रम नहीं होता। यह चित्त-भ्रमका प्रधान हेतु है, यंत्र-परीक्षा। यंत्र परीक्षासे बीमारको रोगका नाम मालूम होते ही, उसके हृदयमें यह शंका उत्पन्न हो जाती है कि " यह पाजी रोगसे मैं मुक्त नहीं हो सकूंगा यह रोग मुझे अनेक-कष्ट देते हुए अन्तमें यमराजका अतिथि बना देगा। "

रोगीकी यह धारणा ही उसके रोग-नाशका अन्तराय है। अतः सबसे पहिले रोगीके मनमें स्थिरता धीरताके साथ निश्चयता उत्पन्न कर देनी चाहिए कि मैं अवश्य इस पाजी रोगसे मुक्त हो जाऊंगा, इस चिकित्सासे ही मैं आरोग्यलाभ करूंगा, ऐसी निश्चितता होते ही उसकी इच्छा-शक्ति (Will force) बढ जायगी एवं उसी मुहूर्तसे वह आरोग्यकी ओर चलेगा।

आयुर्वेदका मूल-तत्त्व तीन तत्वोंपर निर्भर हैं; वह तीन-तत्त्व यह है कि वात-पित्त-कफ डॉक्टरी विज्ञानमें आयुर्वेद मतानुसार वात-पित्त-कफका नाम तो आता है सही, परंतु उन्हें प्राधान्य नहीं दिता जाता है—उनके मतसे वे तीनों तत्त्व प्रायः अपेक्षाका विषय है। परंतु सत्यके लिए लिखने को विवश हूँ, कि वे चाहे कुछ भी सोचें, यह तीन-तत्त्व पर डॉक्टरी विज्ञान जबतक पूर्णज्ञता लाभ न करेगा, तबतक उनका विज्ञान प्रायः ही परिवर्तित होता ही रहेगा एवं वह प्रयोगावस्थामें ही पडा रहेगा।

आयुर्वेदके मतसे वात-पित्त-कफकी विकारावस्था ही रोग है। पित्त-एवं कफ पंगु है, एकमात्र वात ही उन्हें चलाने-वाला है। फिर वात भी अस्सी प्रकारका है। यह वात-तत्त्वका जिसके पूर्ण-ज्ञान है, वह ही हाईब्लड-प्रेशर जैसे महा भयंकर रोगका नाश कर सकता हैं तथा आयुर्वेदकी उच्च कोटीकी दवाके अतिरिक्त वातकी बीमारी शांत हुई है, ऐसा सुननेमें भी नहीं आता है। मैं आगेका लेख " हाई ब्लड-प्रेशर " इस सुप्रसिद्ध पत्रिका " वैदिक-धर्म " में सविस्तार लिखूंगा।

सुधि सज्जनवृन्द! मुझे क्षमा करना। मैं "केलाकी उपकारिता"- लिखते लिखते दूसरी चर्चामें भावावेशसे पहुँच गया था। इस कारण सविनय क्षमा चाहता हूँ। फिर भी आप स्थिर विचार रक्खें कि हाई ब्लड-प्रेशर रोग महा भयंकर रोग होनेपर भी असाध्य नहीं है। आयुर्वेद चिकित्सानुसार यह अवश्य अच्छा हो सकता है। परन्तु उसके लिए चाहिए यथेष्ट समय एवं स्थिरता। चञ्चलतासे यह बीमारी नाश न होकर और बढती है। आयुर्वेद-चिकित्सामें वर्तमान समयके नवीन उद्भव वर्ण-संकर आयुर्वेदज्ञोंके फन्देमें न फँसे। वर्ण संकर आयुर्वेदज्ञ न तो डॉक्टरीमें विज्ञ है, न आयुर्वेदमें!! वे तो आयुर्वेदज्ञके नामसे डॉक्टरी दवाओंके गुलाम बनकर " काला बाजार " की भाँति " नगद-नारायण " के अनुसंधानमें ही लिप्त रहते है एवं पेटेण्ट दवाओंके एजण्ट बनकर रोगीके रोगको और भयंकर तथा जटील कर यमराजकी अतिथिशाला पूर्ण करते रहेते हैं। अस्तु—

आत्मस्वरूप प्यारे सज्जनों! बिदा लेते समय मेरी अन्तिम बात यह है, कि आप निश्चय जानना कि शरीर व स्वास्थ्यकी रक्षाके लिए, हम जितना अर्थ व्यय करते हैं, उससे कम खर्चमें, इस अमृत-तुल्य केलासे प्राप्त हो सकता है। सस्ता होने पर भी रसना-तृप्ति कर वस्तु इससे बन सकता है। इसके साथ दूध का संमिश्रण सोनेमें सुगंध जैसा तृप्ति कर, आनन्दकर तथा शरीर रक्षाकर है। शरीर की रक्षा के लिए सारे संसार की सभी भोज्य-का मूल-तत्त्व वा गुण केवल—मात्र दूध केलासे आपको प्राप्त हो सकता है। अतः दरिद्रता ही हमारी

जातिके स्वास्थ्यकी अवनतिका कारण है, यह बात यथार्थ नहीं है। सर्व साधारणकी अज्ञानता तथा अविवेचना भी इसके लिए उत्तरदायी है। सबसे दायी है, हमारे देशके नव्यशिक्षित विज्ञान-शास्त्री-वृन्द !! क्यों कि वे चाहें तो ऐसी साधारण-वस्तुओंका गुणागुण विश्लेषण कर प्रचार करके सर्व साधारणका महा-उपकार कर सकते हैं।

प्रायः हजार-वर्षके बाद भारतमाता शृंखल--मुक्त होकर स्वस्तिका श्वास छोड रही है। पूर्वाकाशमें तरुण अरुण-ज्योतिः विकीर्ण कर जगत् वरेण्य सविताका उदय हुआ है। ऐसे शुभ मुहूर्त्तमें भारत-माताके सुसन्तान वृन्द आलस्य-मोह-दंभ आदि तमोगुण परित्याग कर, भारत-माताकी सच्ची-सेवामें तल्लीन हो जाय तो, सारे संसारमें भारत-संतान कृतयुगकी भाँति सर्व-गुणोंसे सुशोभित होकर फिर जगत्के गुरु बन सकते हैं। परम करुणामय सर्व-सिद्धि दाता प्रत्यक्ष कल्पतरु श्री श्री सद्गुरु महाराजके श्री श्री चरण सरोजोंमें सादर सानुनय हार्दिक-प्रार्थना है, कि वे अहैतुक-अनुकम्पासे हमें पूर्वजोंकी भाँति सर्व-प्रकार गुणोंसे सुशोभित करें। अस्तु—

संस्कृत भाषा प्रशस्तिः

(लेखकः— श्री. नोमुल अप्पारायः पण्डितः, ' विद्याभूषणः' काकिनाडा [आन्ध्र])

भोविद्वद्वराः !

विदितपूर्वएवायं विषयः सर्वेषामस्माकं यत् गैर्वाणी सर्वासामपि भाषाणां शिरःस्थानमलंकरोतीति। विशेषतश्च भारतीयानां नः सातु पूज्यतमा सर्वानर्थविनाशिनी ऐहिकामुष्मिक शुभफलसन्धात्रीचेति निश्चप्रचम्। अतएव खल्वस्माकं सर्वेऽपि विषयाः आध्यात्मिक, वैदिक, ज्यौतिषिक, भैषजिक, तान्त्रिक, शाब्दिक, तार्किक, मैमांसिक, भक्तिज्ञान, वैराग्ययोगादिकाः; संगीत, शिल्प, वास्तु, चित्रलेखन, प्रतिमानिर्माणादि कलाकलापाः; यौद्धिक शस्त्रास्त्रप्रयोग, मल्लविद्याप्रक्रियाः; राजकीय, न्याय, दण्डविद्या, व्यापार, कृषि, वाणिज्य, द्यूतखेलन, सेवाक्रियाप्रमुखाश्च, तास्मिन्नेवभाषा महार्णवे रत्नानीव विराजन्ते। किंबहुना भारतीय-विज्ञानसर्वस्वमपि तस्यामेव मञ्जूषायां वर्तत इति कथने नातिशयोऽस्ति। किंतु शोचनीयोऽयं विषयः सातुभाषामतल्लिका अस्मत् प्राचीनैर्यथासमाश्रिता तथा नाधुनातनैरस्माभिः संसेव्यत इति। यदज्ञानमद्यसंघे नरानार्ति, यद्धर्न्यमन्यता व्यक्तिषु सांप्रतं संलक्ष्यते, यद्राजकीयदौर्बल्यमधुना दरीदृश्यते, यदध्यात्मविज्ञान-वैमुख्यं संप्रति देशे वर्वर्ति, यन्नास्तिकता बहुलतया पावनतरेऽस्मद्देशे विजृम्भते, सर्वेषामप्येतादृगनर्थानां हेतुः तत्पवित्र देवभाषायामनादर एवेति सत्यं प्रतियते। आस्तां नाम अनादरणं केचन पण्डितंमन्यास्तां मातृभाषां मृतभाषेति, अधुनातनां व्यवहाराणामनर्हेति, दुर्गाह्येति, गहनतरेतिच निन्दन्ति ! तत्प्रतिकूल प्रचारंच कुर्वन्ति। अहो ! दौर्भाग्यं भारतीयानां तस्य-भाषायां यादृशी पूज्यता पाश्चात्यानां वर्तते, ईरान् देशीयानामस्ति, आफ्गनिस्थान वासिनामास्ते, रूसदेशविदुषां वर्वर्ति, तादृशी तेषां हृदयेषु प्रीतिर्नजायते।

यद्यस्माकं शान्तिमधिगन्तुमिच्छास्ति, आनन्दे स्पृहाविद्यते, नागरिकताशिखरमारोढुमभिलाषो जातः जातीयतां द्रढीकर्तुं भावना हृदये वर्वर्ति, तर्हि प्राणाधिकं समवधार्यतां संस्कृतवाणी सोत्साहमाराध्यतां मातृभाषा, आबालवृद्धमनुयान्तु तत्पदवीम्। तद्विज्ञानसुधां सम्यङ्निपीय भारतीयौन्नत्यमुद्घोषयन्तु भारतीयाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

—नो. अप्पारायः

———

१० नाकिः सुदासो रथं पर्यास न रीरमत् ।
इन्द्रो यस्याविता यस्य मरुतो गमत् स गोमति व्रजे २७५

११ गमद् वाजं वाजयन्निन्द्र मर्त्यो यस्य त्वमविता भुवः ।
अस्माकं बोध्यविता रथानामस्माकं शूर नृणाम् २७६

१२ उदिन्न्वस्य रिच्यतेंऽशो धनं न जिग्युषः ।
य इन्द्रो हरिवान् न दभन्ति तं रिपो दक्षं दधाति सोमिनि २७७

१३ मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा ।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवत् २७८

---

१ **सोमिनः मा स्रेधत**— यज्ञकर्मसे पीछे न हटो तथा दूसरोंको भी पीछे न हटाओ ।

२ **महे आतुजे राये कृणुध्वं**— बडे शत्रुनाशक वीरकी प्रसन्नता करनेके लिये तथा अपनेको धन प्राप्त करनेके लिये कर्म करते रहो । अपने वीर प्रसन्न हों और अपने पास धन आजाय, इस हेतुसे कर्म करने चाहियें ।

३ **तरणिः इत् जयति**—जो त्वरासे परंतु उत्तम रीतिसे कर्म करता है वही जीतता है, वही विजय प्राप्त करता है। सुस्त मनुष्यके लिये यहां विजय नहीं है ।

४ **तरणिः इत् क्षेति**—त्वरासे उत्तम कर्म करनेवाला ही अपने घरमें निवास करता है । ऐसे कुशल कर्मकर्ताका ही अपना घर होता है ।

५ **तरणिः इत् पुष्यति**--त्वरासे उत्तम कर्म करनेवाला ही पुष्ट होता है, पुत्रपौत्र, इष्टमित्र, सेवक, धनधान्य, पशु आदिसे युक्त होता है ।

६ **कवत्नवे देवासः न**— (कव्-अत्नवे) कुत्सित कर्म करनेवालेकी सहायता देवता नहीं करते । देवोंसे सहाय्य उसको मिलता है कि जो शुभ कर्म उत्तम रीतिसे तथा शीघ्र करता है। सुस्त मनुष्यकी सहायता देवता नहीं करते ।

[१०] (२७५) (सुदासः रथं नकिः परि आस) उत्तम दाताके रथको कोई दूर नहीं रख सकता। (न रीरमत्) न उसको अन्यत्र रममाण कर सकता है। (यस्य रक्षिता इन्द्रः) जिसका रक्षक इन्द्र है और (यस्य मरुतः) जिसके रक्षक मरुत् हैं (सः गोमति व्रजे गमत्) वह गौओं-वाले वाडेमें जाता है, उसके पास गौओंके झुण्ड होते हैं।

[११] (२७६) हे इन्द्र! (त्वं यस्य अविता भुवः) तुम जिसके रक्षक होंगे, वह (मर्तः वाज-यन् वाजं गमत्) मनुष्य तुम्हारा यश गाता हुआ अन्नको प्राप्त करता है। हे शूर! (अस्माकं रथानां अविता बोधि) हमारे रथोंका रक्षक बनो। और (अस्माकं नृणां च) हमारे पुत्रपौत्रादिकोंका रक्षक होओ।

[१२] (२७७) (यस्य अंशः रिच्यते) जिस इन्द्रका सोमरसका भाग अन्योंकी अपेक्षा अधिक होता है, (जिग्युषः धनं न) विजयी वीरके धनके समान (उत् इत् नु) निःसंदेह (यः हरिवान् इन्द्रः सोमिनि दक्षं दधाति) जो घोडोंवाला इन्द्र सोम याग करनेवालेमें बल धारण करता है (तं रिपः न दभन्ति) उसको शत्रु नहीं दबाते।

सोमयागमें इन्द्रको सोमरसका भाग अधिक दिया जाता है, विजयी वीरको अधिक धन मिलता है, वैसा ही विजयी इन्द्रको सोमरस अधिक मिलता है। यह वीर इन्द्र सोमयाग कर्तामें बल धारण कराता है जिससे उसके सब शत्रु परास्त होते हैं।

[१३] (२७८) (अखर्वं सुधितं सुपेशसं मंत्रं) बडा उत्तम बनाया सुन्दर मंत्रोंका स्तोत्र (यज्ञि-येषु आदधात) यज्ञके योग्य देवोंमें इंद्रके लिये ही

१४	कस्तमिन्द्र त्वावसुमा मर्त्यो दधर्षति ।	
	श्रद्धा इत् ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति	२७९
१५	मघोनः स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु ।	
	तव प्रणीती हर्यश्व सूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता	२८०
१६	तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम् ।	
	सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि नकिष्ट्वा गोषु वृण्वते	२८१
१७	त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतो य ईं भवन्त्याजयः ।	
	तवायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवोऽवस्युर्नाम भिक्षते	२८२
१८	यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय ।	
	स्तोतारमिद् दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय	२८३

अर्पण करो। (यः कर्मणा इंद्रे भुवत्) जो अपने स्तोत्रगानरूप कर्मसे इन्द्रके मनमें स्थान पाता है, (तं पूर्वीः प्रसितयः न तरंति चन) उसको कोई बंधन कष्ट नहीं देते।

[१४] (२७९) हे इन्द्र! (मर्त्यः) जो मनुष्य तुम्हारा प्रिय होता है (तं त्वा-वसुं कः आ दधर्षति) उस तुम्हारे भक्तको कौन भय दिखा सकता है? हे (मघवन्) धनपते! (त्वे इत् श्रद्धा) तुम्हारे ऊपर जो श्रद्धा रखता है वह (वाजी) बलवान् होता है, (पार्ये दिवि वाजं सिषासति) और पार होनेके दिनमें भी धन प्राप्त करता है।

[१५] (२८०) (मघोनः ते ये प्रिया वसु ददति) तुम जैसे धनीको जो प्रिय धन अर्पण करते हैं, उनको (वृत्र हत्येषु चोदय) वृत्रवधके समय उत्साहित करो। हे (हर्यश्व) उत्तम घोडोंवाले इन्द्र! (तव प्रणीती) तुम्हारी नीतिके द्वारा (सूरिभिः विश्वा दुरिता तरेम) ज्ञानियोंके साथ रहकर सब पापोंसे हम पार हो जांयगे।

उत्तम धर्म नियमोंमें रहनेसे सब पाप दूर हो सकते हैं। ज्ञानीजनोंके साथ रहनेसे तो निःसंदेह पापसे बच सकते हैं।

[१६] (२८१) हे इंद्र! (अवमं वसु तव इत्) पृथिवीपरका धन तुम्हारा ही है, (त्वं मध्यमं पुष्यसि) तू मध्यम धनको पुष्ट करता है। (विश्वस्य परमस्य राजसि) सब श्रेष्ठ धनपर भी तुम्हारा राज्य है यह (सत्रा) सत्य है। (त्वा गोषु न किः वृण्वते) तुम्हें गौओंमें रहनेसे कोई रोक नहीं सकता।

[१७] (२८२) (त्वं विश्वस्य धनदा श्रुतः असि) तुम सब धनोंके दाता प्रसिद्ध हो। (ये आजयः ईं भवन्ति) जो युद्ध होते हैं उनमें भी तुम प्रसिद्ध हो। हे (पुरुहूत) बहुतों द्वारा प्रशंसित वीर! (अयं विश्वः पार्थिवः) ये सब पृथ्वीपरके मनुष्य (अवस्युः नाम भिक्षते) अपनी सुरक्षाके लिये तुम्हारी ही प्रार्थना करते हैं।

[१८] (२८३) हे इन्द्र! (यत् यावतः त्वं) जितने धनका स्वामी तुम हैं (एतावत् अहं ईशीय) उतना सब धन मैं प्राप्त करना चाहता हूं। हे (रदावसो) धनके दाता! (स्तोतारं इत् दिधिषेय) स्तोताकी सुरक्षा हो ऐसी मेरी इच्छा है। (पापत्वाय न रासीय) पाप बढानेके लिये धनका दान मैं नहीं करूंगा।

१ एतावत् अहं ईशीय—यह सब धन मुझे प्राप्त हो
२ स्तोतारं दिधिषेय—ज्ञानीकी मैं सुरक्षा करूंगा।
३ पापत्वाय न रासीय—पाप बढानेके लिये मैं धनका दान कदापि नहीं करूंगा।

१९ शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे।
नहि त्वदन्यन्मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन २८४

२० तरणिरित् सिषासति वाजं पुरंध्या युजा।
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रुम् २८५

२१ न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु न स्रेधन्तं रयिर्नशत्।
सुशक्तिरिन्मघवन् तुभ्यं मावते देष्णं यत् पार्ये दिवि २८६

---

[१९] (२८४) (कुहचिद्विदे महयते) कहां भी रहनेवाले उपासना करनेवाले भक्तके लिये (दिवे दिवे रायः शिक्षेयं इत्) प्रतिदिन मैं धनका दान अवश्य करूंगा। हे (मघवन्) धनपते! (नः आप्यं त्वत् अन्यत् नहि) तुमसे भिन्न हमारा कोई बंधु नहीं है। (वस्यः पिता चन अस्ति) न प्रशंसनीय पिता ही दूसरा है।

इन्द्र कहता है— 'मैं प्रतिदिन उपासकको धन देता हूं।' यह सुनकर ऋषि कहाता है— 'हे धनपते! तुमसे भिन्न हमारा कोई दूसरा बन्धु नहीं है और ना ही दूसरा कोई पिता है। तुमही हमारा बन्धु, मित्र और पिता हो।

[२०] (२८५) (तरणिः इत्) त्वरासे कर्म करनेवाला मनुष्य (पुरंध्या युजा वाजं सिषासति) बडी धारणावती बुद्धिके साथ युक्त होकर बल तथा अन्न प्राप्त करता है। (सुद्रुं नेमिं त्वष्टा इव) उत्तम लकडीकी चक्रनेमिको तर्खाण नमाता है, उस तरह (गिरा वः पुरुहूतं इन्द्रं आ नमे) मैं अपनी स्तुतिसे आपके लिये बहुप्रशंसनीय इंद्रको मैं अपनी ओर आनेके लिये नवाता हूं।

१ तरणिः पुरंध्या युजा वाजं सिषासति—कुशलतासे सत्वर और उत्तम कार्य सिद्ध करनेवाला कारीगर बडी धारणावती बुद्धिसे युक्त होनेके कारण अन्न और बलको प्राप्त करता है। कुशल कारीगर अपनी कर्मकुशलता और अपनी बुद्धिके कारण पर्याप्त धन प्राप्त करता है।

२ त्वष्टा सु-द्रुं नेमिं—सुतार-लकडीका कार्य करनेवाला उत्तम लकडीसे रथका चक्र तथा उसकी नेमी बनाता है।

३ बहुस्तुतं गिरा आ नमे— बहुतों द्वारा बुलाया जानेपर भी मैं अपनी वाणीसे उस वीरको अपनी ओर ही आकृष्ट करता हूं। वाणीमें ऐसी शक्ति चाहिये जिससे दूसरोंपर प्रभाव पडे।

[२१] (२८६) (मर्त्यः दुष्टुती वसु न विन्दते) मनुष्य बुरे स्तोत्रसे धन नहीं प्राप्त कर सकता। (स्रेधन्तं रयिः न नशत्) हिंसकको धन नहीं प्राप्त हो सकता। हे (मघवन्) धनपते! (पार्ये दिवि) दुःखसे पार होनेके प्रयत्नसे युक्त दिनमें (मावते देष्णं) मेरे जैसे भक्तके लिये देनेयोग्य धन (तुभ्यं सुशक्तिः इत् विन्दते) तुमसे उत्तम शक्तिसे उत्तम कर्म करनेवाला ही प्राप्त करता है।

मानवधर्म- मनुष्य धन प्राप्त करनेके लिये दुष्टकी प्रशंसा न करे। तथा हिंसा करके भी धन न कमावे। कुशलतासे कर्म करनेकी शक्ति प्राप्त करे और उस कौशल्यपूर्ण कर्मसे मनुष्य धन प्राप्त करे।

१ दुः-स्तुती मर्त्यः वसुः न विन्दते—दुष्टकी प्रशंसा करनेसे धन प्राप्त नहीं होता। धन कमानेके लिये दुष्टकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये।

२ स्रेधन्तं रयि न नशत्—हिंसक कर्म करनेवालेको धन नहीं घेरता, धन नहीं प्राप्त होता। धनके लिये हिंसा करना योग्य नहीं है।

३ पार्ये दिवि सुशक्तिः इत् देष्णं विन्दते—दुःखसे पार होनेके लिये जिस समय कार्य किया जाता है, उस समय उत्तम कर्म करनेकी शक्ति जिसमें होती है वही धन कमाता है। उत्तम रीतिसे कर्म करनेकी शक्तिसे धन कमाया जाता है। अतः यह कौशल्य मनुष्यको प्राप्त करना योग्य है।

२२	अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।	
	ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः	२८७
२३	न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।	
	अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे	२८८
२४	अभी षतस्तदा भरेन्द्र ज्यायः कनीयसः ।	
	पुरूवसुर्हि मघवन् त्सनादसि भरेभरे च हव्यः	२८९

[२२] (२८७) हे शूर इंद्र! (अस्य जगतः ईशानं) इस जंगम वस्तुजातके स्वामी तथा (तस्थुषः ईशानं) स्थावर विश्वके स्वामी ऐसे (स्वर्दृशं त्वा) दिव्यदृष्टिवाले तुमको (अदुग्धाः इव धेनवः) न दुही हुई गौवें जिस तरह दोहन होनेके लिये उत्सुक होती हैं उस तरह हम (अभि नो नुमः) स्तवन करते हैं।

मानवधर्म-जो स्थावर जंगमका एक मात्र प्रभु हैं उसी की उपासना करना मनुष्योंके लिये योग्य है। मनुष्य उतनी आतुरतासे ईश्वरस्तुति करे कि जितनी आतुर न दुही गौवें दोहन करानेके लिये उत्सुक रहती है।

१ अस्य जगतः तस्थुषः ईशानं स्वर्दृशं अभि नोनुमः—इस संपूर्ण स्थावर जंगमके ईश्वरका, जो दिव्यदृष्टीसे सबको देख रहा है उस प्रभुका विनम्रभावसे स्तवन करते है। इस प्रभुकी स्तुति करना ही योग्य है।

२ अदुग्धाः धेनवः इव अभि नोनुमः—न दोही हुई गौवें जैसे दुही जानेके लिये आतुर होती हैं, वैसे हम इस प्रभुकी स्तुति करनेके लिये अपने अन्तःकरणसे उत्सुक हैं।

[२३] (२८८) हे (मघवन् इंद्र) धनपते इंद्र! (दिव्यः त्वावान् अन्यः न) द्युलोकमें तुम्हारे सदृश दूसरा कोई नहीं है। (न पार्थिवः जातः न जनिष्यते) पृथिवीपर भी न कोई तुम्हारे सदृश हुआ है और ना ही होगा (अश्वायन्तः गव्यन्तः वाजिनः हम घोडों, गौओं और अन्नोंको चाहनेवाले (त्वा हवामहे तुम्हारी प्रार्थना करते हैं।

१ दिव्यः पार्थिवः त्वावान् अन्यः न जातः न जनिष्यते—द्युलोकमें, अन्तरिक्षमें तथा पृथिवीपर तुम्हारे समान समर्थ वीर कोई दूसरा भूतकालमें न हुआ था और न भविष्यमें होगा, न इस समय है। तीनों लोकोंमें और तीनों कालोंमें तुम्हारे जैसा दूसरा कोई नहीं है। अतः तुम ही अकेले हमारे लिये उपास्य हो।

२ अश्वायन्तः गव्यन्तः वाजिनः त्वा हवामहे—हम घोडे गौवें और अन्न आदि धन चाहते हैं इसलिये तुम्हारे पास ही आते हैं।

[२४] (२८९) हे (ज्यायः इंद्र) श्रेष्ठ इंद्र! (कनीयसः सतः तत् अभि आ भर) मैं तुम्हारा छोटा भाई हूं अतः मुझे वह धन तुम भरपूर दो। हे (मघवन्) धनपते! (सनात् पुरुवसुः हि असि) तुम सनातन कालसे बहुत धनवाला हो और (भरे भरे हव्यः च) प्रत्येक युद्धमें तथा यज्ञमें पूज्य हो।

मानवधर्म-बडा भाई छोटे भाईको धन देवे, सहायता करे, उसका भाग उसको योग्य समयमें दे डाले। बडे भाई के पास पैतृक धन पहिले आता है। छोटे भाईको वह बडा होनेपर धन प्राप्त होना है। इसलिये उसका धन उसको देना योग्य है। युद्धके कठिन समय में तथा यज्ञके पुण्य समयमें बडे भाई छोटे भाईकी सहायता करे।

१ ज्यायः कनीयसः तत् अभि आभर—बडा भाई अपने छोटे भाईके लिये धनकी सहायता करता है अथवा उसके हिस्सेका भाग उसको देता है।

२५ परा णुदस्व मघवन्नमित्रान् त्सुवेदा नो वसू कृधि ।
अस्माकं बोध्यविता महाधने भवा वृधः सखीनाम् २९०

२६ इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि २९१

यहां बडे भाईका कर्तव्य बताया है कि वह छोटे भाईके लिये धनादिकी सहायता करता है, विद्या पढवाता, बल बढाता, धन देता और उसको योग्य करता है । इस तरह भाई भाई आपसमें परस्पर सहायक हों । इस मंत्रभागसे यह भी सिद्ध होता है कि अपने पैत्रिक धनका भाग बडा भाई छोटे भाईको देता है, भाईयोंका अधिकार पैत्रिक धनपर समान होता है। इन्द्रके पास भक्त जो धन मांगते है वह इस भाईपनके अधिकारसे मांगते हैं। यह विशेष महत्त्वकी बात है ।

किसी अन्य धर्मग्रन्थमें ईश्वरको भाई कहकर उसके धनमें अपना हिस्सा है ऐसा मानकर उस भागको मांगना नहीं दिखाई देता है । वेद ही ऐसा अधिकार भक्तको देता है ।

२ सनात् पुरुवसुः असि— तू बडा भाई है और मेरे पहिलेसे ही तुम्हें धन प्राप्त हुआ हैं । इसलिये मैं अपना भाग मांगता हूं । यह याचना नहीं है पर अपने अधिकारकी ही बात मैं लेना चाहता हूं । मैं छोटा भाई हूं इसलिये पैत्रिक धन तुम्हारे पास है इस कारण तुमसे मैंने लेना है ।

३ भरे भरे हव्यः--युद्धके अवसर पर तथा यज्ञके समय धनकी आवश्यकता रहती है । इसलिये ऐसे अवसर पर अपना धन मैं लेना चाहता हूं । वह मेरे विभागका धन मुझे भरपूर दे दो ।

[२५] (२९०) हे (मघवन्) धनपते! (अमित्रान् परा नुदस्व) शत्रुओंको दूर करो। (नः वसु सुवेदा कृधि) हमारे लिये धन सुखसे प्राप्त होने योग्य करो। (महाधने सखीनां अविता बोधि) युद्धके समय मित्रोंका संरक्षण करनेवाला हो, (वृधः भव) धनको बढानेवाला हो।

मानवधर्म- शत्रुओंको दूर करो, धन प्राप्तिके व्यवहार सुखसे होते रहें ऐसा प्रबंध करो। युद्धके समय अपने मित्रोंकी सुरक्षा करो और अपने मित्रोंको बढाओ। मित्रोंकी संख्या बढाओ और मित्रोंकी शक्ति भी बढाओ।

१ अमित्रान् परा नुदस्व—शत्रुओंको दूर भगा दो। मित्रोंको पास करो ।

२ नः वसु सुवेदा कृधि--हमें धन सुखसे प्राप्त हो ऐसा कर । धन प्राप्तिके व्यवहारमें हमें कष्ट न हों ।

३ महाधने सखीनां अविता बोधि--युद्धके समय अपने मित्रोंकी सुरक्षा करो, यह कार्य तुम्हारा कर्तव्य है ऐसा जानो । और वैसा करो ।

४ महाधने सखीनां वृधः भव—युद्धमें मित्रोंको बढाओ । मित्रोंकी सहायता करो ।

[२६] (२९१) हे इंद्र! (नः क्रतुं आ भर) हमारे प्रज्ञानपूर्वक किये कर्मोंको पूर्ण करो। (यथा पिता पुत्रेभ्यः) जैसा पिता पुत्रोंको धन देता है वैसा तुम (नः शिक्ष) हमें दो। हे (पुरुहूत) बहुतोंद्वारा स्तवित हुए इंद्र! (अस्मिन् यामनि) इस यज्ञमें (जीवाः ज्योतिः अशीमहि) हम जीवित रहकर तेजको प्राप्त करें।

मानवधर्म- पिता अपने पुत्रोंको सुशिक्षा देवे, उनकी प्रज्ञा बढावे उनमें कर्मको कुशलतासे करनेकी शक्ति भी बढा देवे। पिताका यह कर्तव्य है। मनुष्य दीर्घ जीवी हो और उनका जीवन तेजस्वी हो। अल्पायु और तेजोहीन कोई न हो।

१ यथा पिता पुत्रेभ्यः तथा त्वं नः क्रतुं शिक्ष, नः आ भर च--जैसा पिता अपने पुत्रोंको सुशिक्षा देता है, उनकी प्रज्ञा बनाता और कर्मशक्ति बढाता है, उस तरह तुम भी हमें सुशिक्षा दो, हमारी प्रजा बढाओ और कर्मशक्ति भी बढाओ।

२ अस्मिन् यामनि जीवाः ज्योतिः अशीमहि— इस अवसर पर हम दीर्घ जीवन प्राप्त करना चाहते हैं और तेजस्वी जीवन चाहते हैं ।

२७ मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो३ माशिवासो अव क्रमुः ।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि २९२

(३३) १४ (१-९) मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः, १०-१४ वसिष्ठपुत्राः । १-९ वासिष्ठपुत्राः इन्द्रो वा; १०-१४ वसिष्ठः । त्रिष्टुप् ।

१ श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्कपर्दा धियंजिन्वासो अभि हि प्रमन्दुः ।
उत्तिष्ठन् वोचे परि बर्हिषो नॄन् न मे दूरादवितवे वसिष्ठाः २९३

२ दूरादिन्द्रमनयन्ना सुतेन तिरो वैशन्तमति पान्तमुग्रम् ।
पाशद्युम्नस्य वायतस्य सोमात् सुतादिन्द्रोऽवृणीता वसिष्ठान् २९४

---

[२७] (२९२) (अज्ञाताः अशिवासः दुराध्यः वृजनाः नः मा मा अवक्रमुः) अज्ञात रीतिसे अशुभ दुष्ट घातक शत्रु हम पर आक्रमण न करें। हे शूर! (त्वया वयं प्रवतः शश्वतीः अपः अति तरामसि) तुम्हारेसे हम स्वसंरक्षणमें समर्थ होकर सब कर्मोंसे हम पार हो जांयगे ।

मानवधर्म-कोई शत्रु अज्ञात मार्गसे हमपर आक्रमण न कर सके, हमारे कल्याण होनेके मार्गमें बाधा न डाल सके, हमारा घातपात न कर सके, हमारा नाश न कर सके, हम सामर्थ्यवान होकर सदा अपनी उन्नतिके सब ही शुभ कर्मोंको करते रहें, उसमें विघ्न न आवे ऐसा सामर्थ्य हमें प्राप्त हो । शासन प्रबंध ऐसा हो ।

१ अज्ञाताः अशिवासः दुराध्यः वृजनाः नः मा अवक्रमुः--अज्ञात मार्गसे अशुभ दुष्ट हिंसक क्रूरकर्मा शत्रुजन हमपर आक्रमण न कर सकें, इतना सामर्थ्य हमें प्राप्त हो ।

२ वयं प्रवतः शश्वतीः अपः अतितराम--हम सब अपनी सुरक्षा करनेमें समर्थ हो कर सदा ही कर्मोंको निर्विघ्नतया कर सकें इतना सामर्थ्य हमें प्राप्त हो ।

[१] (२९३) इंद्र कहता है— (श्वित्यञ्चः धियंजिन्वासः) गौरवर्ण बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाले (दक्षिणतस्कपर्दाः) दक्षिणकी ओर शिखा रखनेवाले वसिष्ठ गोत्रके लोग (मा अभि प्रमन्दुः हि) मुझे अत्यन्त आनन्द देते रहे । (बर्हिषः परि उत्तिष्ठन् नॄन् वोचे) आसनसे ऊपर उठते हुए लोगोंसे मैंने कहा कि (मे दूरात् वसिष्ठाः अवितवे न) मुझसे दूर वसिष्ठके लोग न जांय ।

वसिष्ठ गोत्रियोंका वर्णन—(श्वित्यंचः श्वित्यं अञ्चति) श्वेतवर्ण जिनपर है ऐसे गौरवर्णके ये वसिष्ठ गोत्री पुरुष थे । (धियं-जिन्वासः)— बुद्धिपूर्वक, योजनापूर्वक, कर्म करनेवाले, पहिले विचारपूर्वक निर्णय करके उस योजनाके अनुसार कर्म करनेवाले, (दक्षिणतः-कपर्दाः)—दक्षिणकी ओर सिरके दक्षिण भागमें जिनकी शिखा होती है । वसिष्ठ ऋषि तथा उसके पुत्र गौरवर्ण तथा सिरमें दक्षिण विभागमें शिखा रखनेवाले थे । इन्द्र कहता है कि इन लोगोंने (मा अभि प्रमन्दुः) मुझे अत्यंत सन्तोष दिया है । यज्ञके आसनसे उठते समय इन्द्रने कहा कि (वसिष्ठाः मे दूरात् अवितवे न) वसिष्ठ गोत्री लोग मुझसे दूर न गमन करें ।

परमेश्वर भक्त पर संतुष्ट होकर कहता है कि भक्त मुझसे दूर न जाय ।

[२] (२९४) वसिष्ठ कहता है— (वैशन्तं पान्तं उग्रं इंद्रं) चमसमें स्थित सोमको पीनेवाले उग्र वीर इंद्रको (सुतेन अति तिरः) इस सोमरससे उस पानका तिरस्कार करवाले (दूरात् आनयन्) दूरसे भी ले आये थे । (इंद्रः वायतस्य पाशद्युम्नस्य सुतात् सोमात्) इंद्रने भी वयत् पुत्र पाशद्युम्नके तयार हुए सोमको छोडकर (वसिष्ठान् अवृणीत) वसिष्ठोंको ही वर लिया ।

वयत्पुत्र पाशद्युम्नके यज्ञमें इन्द्र सोमरसका पान कर रहा था । परंतु वसिष्ठोंने ऐसा सोमरस बनाया कि इन्द्रने उस सोमका

३ एवेन्नु कं सिन्धुमेभिस्ततारेवेन्नु कं भेदमेभिर्जघान ।
एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः २९५
४ जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितृणामक्षमव्ययं न किला रिषाथ ।
यच्छक्करीषु बृहता रवेणेन्द्रे शुष्ममदधाता वसिष्ठाः २९६
५ उद् द्यामिवेत् तृष्णजो नाथितासोऽदीधयुर्दाशराज्ञे वृतासः ।
वसिष्ठस्य स्तुवत इन्द्रो अश्रोदुरुं तृत्सुभ्यो अकृणोदु लोकम् २९७

तिरस्कार करके वसिष्ठोंका सोमरस पीया । सोमरस तैयार करनेके कौशल्यका यह वर्णन है । वासिष्ठ लोग सोमरस तैयार करनेमें अत्यंत प्रवीण थे यह इसका भाव है । ' वसिष्ठ ' वह होता है कि जो निवास करानेमें प्रवीण होता है । इन्द्र प्रभु है । लोगोंको निवास करनेके लिये जो सहायता करते हैं उनपर प्रभुकी कृपा होती है यह इसका तात्पर्य है ।

[३] (२९५) (एव इत् नु एभिः सिन्धुं कं ततार) इसी तरह इन्होंने सिन्धुको सुखसे पार किया। (एव इत् नु एभिः भेदं कं जघान) इसी तरह इन्होंने भेदका नाश सुखसे किया, आपसकी फूटको दूर किया। (एव इत् नु दाशराज्ञे सुदासं) इसी तरह दाशराज्ञ युद्धमें सुदासको हे (वसिष्ठाः) वसिष्ठो ! (वः ब्रह्मणा इन्द्रः प्रावत्) आपके स्तोत्रसे ही इन्द्रने सुरक्षित किया ।

सिन्धु नदीको पार किया, अपसकी फूटको दूर किया, आपसकी उत्तम संघटना की, दाशराज्ञ युद्धमें सुदासकी सुरक्षा की । यह इन्द्रने किया, पर यह वसिष्ठोंके स्तोत्रसे हुआ ।

मानवोंको नदीपार जानेके साधन निर्माण करने चाहिये। आपसके भेदका नाश करना चाहिये । युद्धमें स्वकीयोंका संरक्षण करना चाहिये ।

[४] (२९६) हे (नरः) नेता लोगो ! (वः ब्रह्मणा पितृणां जुष्टी) आपके स्तोत्रसे पितरोंकी प्रीति होती है। (अक्षं अव्ययं) मैंने अपने रथके अक्षको चलाया है। मैं रथ अपने स्थानको जानेके लिये चलाता हूं। (न किल रिषाथ) तुम क्षीण न होओ। बलवान् बनो। हे (वासिष्ठाः) वसिष्ठ लोगो! (यत् शक्करीषु बृहता रवेण) शक्करी ऋचाओंमें बडे आलापोंके स्वरसे, सामगानसे— (इन्द्रे शुष्मं अदधात) इन्द्रमें बल धारण करो, बल बढाओ। इन्द्रका यश बढाओ ।

मानवधर्म— अपनी विद्वत्तासे अपने पितरोंको संतुष्ट करो । रथ चलाने आदिमें स्वाधीन रहो। कभी क्षीण न होओ । बडे स्वरसे वीरोंका काव्यगान करो और वीरोंकी उत्साह पूर्ण शक्ति बढाओ ।

१ वः ब्रह्मणा पितृणां जुष्टी—पुत्रोंके किये काव्यसे पितरोंकी प्रसन्नता होती है । पितर समझते हैं कि अपने पुत्र भी ज्ञानसंपन्न हुए हैं, ऐसा समझ कर वे प्रसन्न होते हैं। पुत्रोंको उचित है कि वे अपने ज्ञानसे अपने कुलका यश बढावें।

२ अक्षं अव्ययम्—रथके अक्षको मैं चलाता हूं । अपने स्वामीको उचित है कि वह स्वयं अपने रथको चलावे, रथके अक्ष आदिको ठीक करे । सेवक पर ही सदा अवलंबित न रहे । इन्द्र कहता है कि जैसा मैं रथ चलाता हूं वैसा तुम लोग भी किया करो । सेवक होने पर भी उनके अधीन होना उचित नहीं है । स्वामी स्वावलंबन करनेवाला हो ।

३ न रिषाथ—तुम क्षीण, निर्बल न बनो । अपनी शक्ति बढाओ । कोई आकर तुम्हारा नाश न कर सके इतने समर्थ बनो ।

४ शक्करीषु बृहता रवेण इन्द्रे शुष्मं अदधात— बडे स्वरसे सामगान द्वारा अपने इन्द्रका--प्रभुका—नेताका यश गा कर उसका उत्साह बढाओ । उसकी शक्ति बढाओ ।

[५] (२९७) (तृष्णजः वृतासः नाथितासः) तृषित घेरे हुए उन्नति चाहनेवाले वसिष्ठोंने (द्यां इव दाशराज्ञे) द्युलोकके समान दाशराज्ञ युद्धमें (उत् अदीधयुः) इन्द्रकी प्रशंसा गायी । (स्तुवतः

६ दण्डा इवेद् गोअजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः ।
अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित् तृत्सूनां विशो अप्रथन्त ॥ २९८
७ त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतास्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः ।
त्रयो घर्मास उषसं सचन्ते सर्वाँ इत् ताँ अनु विदुर्वसिष्ठाः ॥ २९९

वसिष्ठस्य इन्द्रः अश्रोत्) स्तुति करनेवाले वसिष्ठ का स्तोत्र इन्द्रने सुना। और उसने (तृत्सुभ्यः उरुं लोकं अकृणोत्) तृत्सुओंके लिये विस्तृत प्रदेश करके दिया।

मानवधर्म- भूखे प्यासे, शत्रुओंसे घिरे और अपनी उन्नति चाहनेवाले आतुर हुए भक्तोंने प्रार्थना की तो उसको प्रभु सुनते हैं। इसलिये भक्त अन्तःकरणसे प्रार्थना करे।

१ **तृष्णजः वृतासः नाथितासः दाशराज्ञे उददीधयुः**—तृषित प्यासे शत्रुसे घेरे हुए उन्नति चाहनेवाले लोगोंने दाशराज्ञ युद्धमें इन्द्रकी प्रशंसा की, अपनी सहायतार्थ इन्द्रको बुलाया।

२ **स्तुवतः वसिष्ठस्य इन्द्रः अश्रृणोत्**—वसिष्ठकी प्रार्थना इन्द्रने श्रवण की। और--

३ **तृत्सुभ्यः उरुं लोकं अकृणोत्**--तृत्सुओंके लिये विस्तृत प्रदेश उसने दिया।

[६] (२९८) (**गो अजनासः दण्डा इव**) गौओंको चलानेवाले डंडोंके समान (**भरताः परिछिन्नाः अर्भकासः आसन**) भरत लोग छोटे और अल्प थे। (**तृत्सूनां पुर एता वसिष्ठः अभवत्**) उन तृत्सुओं—भरतों—का वसिष्ठ पुरोहित हुआ (**आत् इत् तृत्सूनां विशः अप्रथन्त**) तबसे भरतोंकी प्रजा बढने लगी।

१ '**गो-अजनासः दण्डाः**'- गौओंको चलानेके लिये डंडे छोटेसे, बारीकसे, निर्बलसे होते हैं, गौओंको बडे लठसे मारना नहीं चाहिये यह वेदका आदेश यहां दीखता है। कोमल पल्लवयुक्त बारीकसी सोटीसे गौओंको चलानेके लिये इशारा करना चाहिये। बडे लठसे मारना उचित नहीं है। गौओंको कितने प्रेमसे वेदके समयमें पाला जाता था उसका अनुभव इस मंत्रभागसे हो सकता है।

२ **भरताः परिछिन्नाः अर्भकासः आसन्**—गौओंको चलानेकी काठी जैसी बारीकसी होती है वैसे ही भरत लोग परिछिन्न अल्पसे प्रदेशमें रहनेवाले और अर्भक बालक जैसे अप्रबुद्ध थे। निर्बल थे। अल्पशक्तिवाले या शक्ति हीन थे।

३ **तत्सूनां (भरतानां) पुर एता वसिष्ठः अभवत्**—इन भरतोंने वसिष्ठको अपना पुरोहित बनाया, नेता बनाया।

४ **आत् इत् तृत्सूनां विशः अप्रथन्त**—तबसे भरत लोग बढने लगे, विजयी होने लगे, उनका राज्य बढने लगा।

'**तृत्सु, भरत**' ये नाम एकही के है। 'भरत' जो भरण-पोषण होकर बढना चाहते हैं वे भरत हैं। 'तृत्सु' जो (तृट् सु) तृषासे युक्त अर्थात् अपनी उन्नतिकी प्यास जिनको सदा लगी रहती है। अपनी उन्नतिके लिये जो सदा तृषितसे रहते है। ऐसे अपनी उन्नतिके लिये जो प्रयत्नशील होते हैं उनका अगुआ, नेता, पुरोहित जब 'वसिष्ठ' होता है (वासयति इति वसिष्ठः) जो उत्तम रीतिसे प्रजाओंका निवास कराता है। प्रजाकी उन्नति करनेके लिये जो करना आवश्यक है वह ज्ञान जिसके पास है वह वसिष्ठ है। ऐसा पुरोहित भरत लोगोंने किया, तबसे वे (विशः अप्रथन्त) प्रजाजन, वे भारतीय लोग बढने लगे। फैलने लगे। जिनको ऐसा कुशल नेता मिलता है उनकी उन्नति होती है। वे फैलते हैं, बढते हैं, समृद्ध होते हैं। यहां (तृत्सु) प्यासे (भरतः) भरण करनेवाले और (वसिष्ठः) निवासक इन शब्दोंके श्लेष अर्थको जाननेसे मुख्य उपदेशका ज्ञान हो सकता है।

[७] (२९९) (**भुवनेषु त्रयः रेतः कृण्वन्ति**) भुवनोंमें तीन देव वीर्य निर्माण करते हैं। (**ज्योतिरग्राः आर्याः तिस्रः प्रजाः**) ज्योति जिनके सामने रहती है ऐसे आर्य तीन प्रकारकी प्रजारूप होते हैं। (**त्रयः घर्मासः उषसं सचन्ते**) ये तीन उष्णताएं उषाका सेवन करती हैं। (**वसिष्ठाः तान् सर्वान् इत् अनु विदुः**) वसिष्ठ इन सबको उत्तम रीतिसे जानते हैं।

८ सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः ।
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः ३००

९ त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि सं चरन्ति ।
यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः ३०१

---

१ **त्रयः भुवनेषु रेतः कृण्वन्ति**—अग्नि, वायु और सूर्य ये तीन देव त्रिभुवनोंमें वीर्य अर्थात् शक्तिका निर्माण करते हैं। 'रेतः'—जल, वीर्य, बल।

२ **ज्योतिरग्राः आर्याः तिस्रः प्रजाः**—प्रकाशका मार्ग जिनके सामने हमेशा रहता है ऐसी तीन प्रकारकी प्रजाएँ आर्य कहलाती हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यह तीन प्रकारकी आर्य प्रजा है, इनके सामने सदा प्रकाशका मार्ग रहता है। यही देवमार्ग है।

३ **त्रयः घर्मासः उषसं वयन्ति**--तीन प्रकारकी अग्नि अर्थात् तीन यज्ञ उषः-कालमें शुरू होते है। उषः कालमें तीनों यज्ञोंके कलाप शुरू होते हैं।

४ **वसिष्ठाः तान् सर्वान् अनुविदुः**--वसिष्ठ इन सबको यथावत् जानते हैं। अथवा जो इन यज्ञोंको यथावत् जानते हैं उनको वसिष्ठ कहा जाता है।

विश्वका अखंड वस्त्र

[८] (३००) हे (**वसिष्ठाः**) **वसिष्ठ पुत्रों! (एषां महिमा) आपकी महिमा (सूर्यस्य ज्योतिः इव वक्षथः) सूर्यके प्रकाशके समान फैली है और (समुद्रस्य इव गम्भीरः) समुद्रके समान गंभीर है। (वातस्य प्रजवः इव) वायुके वेगके समान (वः स्तोमः) आपका स्तोम (अन्येन अनु-एतवे न) किसी अन्यके द्वारा अनुकरण करने योग्य नहीं है। आपकी हि वह विशेषता है।**

[९] (३०१) (ते वसिष्ठाः इत्) वे वासिष्ठगण (निण्यं सहस्रवल्शं) सहस्रों शाखोपशाखाओंसे युक्त इस जाननेके लिये कठिन विश्वमें (हृदयस्य प्रकेतैः अभि सं चरन्ति) अपने हृदयकी ज्ञानशक्तियोंसे चारों ओर संचार करते हैं। जानते तथा अनुभव लेते हैं। (यमेन ततं परिधिं वयन्तः वसिष्ठाः) नियामक प्रभुने फैलाये हुए इस वस्त्रको बुनते हुए ये वासिष्ठ गण (अप्सरसः उपसेदुः) अप्सराओं के पास जाकर बैठते हैं।

वसिष्ठ कौन हैं।

पूर्व अष्टम मन्त्रमें वासिष्ठोंके स्तोमकी महिमा वर्णन की है और इस नवम मन्त्रमें विश्वरचनामें भाग लेनेवाले ये वासिष्ठ गण वर्णन किये गये हैं। (**यमेन ततं परिधिं वयन्तः वसिष्ठाः अप्सरसः उपसेदुः**) यमने वस्त्रका ताना फैलाया था, उस वस्त्रको बुननेवाले ये वसिष्ठ अप्सराओंके पास बैठते हैं। यहां 'यम' शब्दसे सबका नियन्ता परमेश्वर ज्ञात होता है और उसका फैलाया हुआ (**ततं परिधिं**) ताना यह विश्वरूपी वस्त्र बुननेके लिये फैलाया हुआ है। यह संपूर्ण विश्व एक वस्त्र जैसा एक जीवनवाला है। ताने बानेके धागे अनेक होनेपर भी सब विश्व मिलकर एक ही वस्त्र है। यह निश्चित सिद्धान्त यहां है।

विश्वरूप एक वस्त्र है।

एक खुड्डी है, उसपर ताना फैलाया है। तानेके धागे यमने फैलाये हैं। कुछ वस्त्रका भाग बुना है और बाकी वस्त्र बुननेवाला है। यह बुननेका कार्य (**वयन्तः वसिष्ठाः**) करनेवाले, बुननेवाले ये वासिष्ठगण हैं। यमके द्वारा विश्वका वस्त्र बुननेकी जो आयोजना निश्चित हुई है उसमें वस्त्र बुननेका कार्य करनेवाले ये वसिष्ठगण है।

जो जीव विश्वकर्तृत्वका कार्य करनेमें समर्थ हैं जो ईश्वरकी आयोजनामें रहकर विश्वनिर्माणमें अपना कार्य करते हैं वे वसिष्ठ यहां वर्णे गये हैं।

ये वासिष्ठ (**अप्सरसः उपसेदुः**) अप्सराओंके पास आकर बैठे हैं।

वासिष्ठकी उत्पत्ति अप्सरा उर्वशीमें हुई यह कथा इस (**वसिष्ठाः अप्सरसः उपसेदुः**) वचनसे बढती गयी

१० विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा ।
तत् ते जन्मोतैकं वसिष्ठाऽगस्त्यो यत् त्वा विश आजभार ३०२

११ उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः ।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ३०३

१२ स प्रकेत उभयस्य प्रविद्वान् त्सहस्रदान उत वा सदानः ।
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्नप्सरसः परि जज्ञे वसिष्ठः ३०४

है। (अप्सरसः परिजज्ञे वसिष्ठः। मं० १२) अप्सरासे वसिष्ठ उत्पन्न हुआ ऐसा कहा है। इसका विवरण पाठक भूमिकामें स्वतंत्र प्रकरणमें देख सकते हैं।

[१०] (३०२) हे वसिष्ठ! (यत् विद्युतः ज्योतिः परि संजिहानं त्वा) जब विद्युतके तेजका परित्याग करनेवाले तुझको (मित्रावरुणा अपश्यतां) मित्र और वरुणने देखा (तत् ते एकं जन्म) तब तुम्हारा वह एक जन्म हुआ था। (यत् त्वा अगस्त्यः विशः आजभार) तब तुझे अगस्त्यने प्रजाओंमेंसे बाहर लाया।

अन्य देहका धारण

१ **विद्युतः ज्योतिः परिसंजिहानं वसिष्ठं मित्रावरुणौ अपश्यतां**--विद्युत्के समान अपने तेजकी ज्योतिका परित्याग करनेकी अवस्थामें वसिष्ठ हैं ऐसा मित्र और वरुणने देखा। यह प्रथम वारके देहका त्याग करनेकी अवस्थाका वर्णन है। जीवका स्वरूप विद्युत्की ज्योतिके समान है। योगी लोग उसको शरीरसे अपनी इच्छासे निकालते और अपनी इच्छासे दूसरे देहमें रखते हैं। इस रखनेका नाम 'काया-प्रवेश' है। जीवात्मा अपना पहिला देह छोडता है और दूसरा देह धारण करता है इसका यह उत्तम तथा स्पष्ट वर्णन है।

२ **मित्रावरुणौ**— यहां प्राण तथा जीवनके वाचक हैं।

३ **अगस्त्यः विशः आजभार**—अगस्त्य विशः अर्थात् जविके निवास स्थानसे, प्रजारूप मानवके पहिले देहसे वसिष्ठ अर्थात् जीवात्माको निकालता है। शरीरसे पृथक् करता है।

[११] (३०३) हे वसिष्ठ! (मैत्रावरुणः असि) मित्र और वरुणका तू पुत्र है। (उत) और हे (ब्रह्मन्) ब्राह्मण! तू (उर्वश्याः मनसः अधिजातः) उर्वशीके मनसे उत्पन्न हुआ है। (द्रप्सं स्कन्नं) इस समय रेतका पतन हुआ। (दैव्येन ब्रह्मणा) दिव्य मंत्रोंके साथ (विश्वे देवाः त्वा पुष्करे अददन्त) विश्वे देवोंने तुझे पुष्करमें धारण किया।

'वसिष्ठ' को 'मैत्रावरुणिः' कहते हैं। मित्र व वरुणका यह पुत्र है। यह 'ब्राह्मण' है। 'उर्वशी' में जन्मा है। मित्रावरुणोंका रेत गिर गया, उर्वशीके दर्शनसे ऐसा हुआ। जिससे वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई, ऐसी जो कथा है उसका मूल इस मंत्रमें है। इसका संपूर्ण विवरण भूमिकामें पाठक देख सकते हैं।

[१२] (३०४) (सः वसिष्ठः उभयस्य प्रविद्वान्) वह वसिष्ठ द्युलोक और भूलोकके सब विषयोंका ज्ञाता (सहस्रदानः उत वा सदानः) हजारों दानोंको देनेवाला अथवा सर्वस्वका दान करनेवाला है। (यमेन ततं परिधिं वयिष्यन्) नियमाक प्रभुने फैलाये वस्त्रको बुननेवाला यह वसिष्ठ (अप्सरसः परिजज्ञे) अप्सरासे उत्पन्न हुआ।

सब विद्याओंका ज्ञाता, उदार, विश्वकल्याणके लिये सर्वस्वका प्रदान करनेवाला प्रभुके विश्वरचनाके कार्यको करनेके लिये यह जन्मा है।

१३ सत्रे ह जातावि॑षिता नमो॑भिः कुम्भे रेतः॑ सिषिचतुः समानम् ।
ततो॑ ह मान उदि॑याय मध्यात् ततो॑ जातमृषि॑माहुर्वसि॑ष्ठम् ३०५

१४ उक्थभृतं सामभृतं बिभर्ति ग्रावाणं बिभ्रत् प्र वदात्यग्रे ।
उपैनमाध्वं सुमनस्यमाना आ वो॑ गच्छाति प्रतृदो॑ वसिष्ठः ३०६

---

[१३] (३०५) (सत्रे ह जातौ) यज्ञमें दीक्षा लिये (नमोभिः इषिता) मन्त्रोंद्वारा प्रेरित हुए (कुंभे रेतः समानं सिसिचतुः) मित्रावरुणोंने कुंभमें अपना रेत एक ही समय गिराया। (ततः मध्यात् ह मानः उत् इयाय) उसके बीचमेंसे माननीय अगस्त्य प्रकट हुआ तथा (ततः वसिष्ठं ऋषिं जातं आहुः) उसीसे वसिष्ठ ऋषिको जन्मा कहते हैं।

मित्र और वरुण सत्र नामक बहुत दिन चलनेवाले यज्ञ करनेके लिये दीक्षित होकर यज्ञशालामें बैठे थे। अन्य ऋत्विज मंत्रगान कर रहे थे। इतनेमें इन दोनोंका रेत गिरा और वह कुंभमें इकट्ठा हुआ। उससे अगस्त्य ऋषि हुए जिनकी 'कुंभयोनि, कुंभज' ऐसे अनेक नामोंसे प्रशंसा करते हैं। उसीसे वसिष्ठ ऋषि भी उत्पन्न हुए ऐसा कहते हैं। बडा भाई अगस्त्य और छोटा वसिष्ठ है। इसका विवरण भूमिकामें देखिये वहां पूर्वापर संबंध बताकर सब बातोंका स्पष्टीकरण किया है।

[१४] (३०६) हे (प्रतृदः) भरत लोगों! (वः वसिष्ठः आगच्छति) आपके पास वसिष्ठ आरहे हैं। (सुमनस्यमानाः एनं आध्वं) उत्तम मनोभावनासे इनका सत्कार करो। यह वसिष्ठ आनेपर वह (अग्रे उक्थभृतं सामभृतं बिभर्ति) पहिलेसे ही नेता होकर उक्थ और साम गायकोंको धारण करेंगे, तथा (ग्रावाणं बिभ्रत्) सोमरस निकालनेवाले अध्वर्युका भी धारण करेंगे और उन सबको (प्रवदाति) सूना भी देंगे।

भरतके निवासियोंसे इन्द्रने यह वचन कहा है कि तुम ऐसे प्रभावी और बडे ज्ञानी वसिष्ठको अपना पुरोहित बनाओ। वह पुरोहित बनकर तुम्हारे सब अभ्युदयके कार्य वही करेंगे और तुम्हारी उन्नति होती रहेगी।

अच्छा पुरोहित सब राज्यप्रबंध करता है और राष्ट्रकी सब प्रकारकी उन्नति करता है। पुरोहित इस सब राष्ट्रीय कर्तव्योंके ज्ञाता होने चाहिये। वेदके यथावत् ज्ञानसे यह सब प्रबंधशक्ति आती है। वैदिक पढाईकी पूर्णताका ज्ञान इससे हो सकता है।

यहां इन्द्र प्रकरण समाप्त होता है। इस अन्तिम सूक्तमें इन्द्रका विशेष वर्णन नहीं है तथापि जो थोडा है, उस कारण इस सूक्तका पाठ इस प्रकरणमें हुआ है। इस सूक्तके ११ वे मंत्रमें 'विश्वे देवाः' पद है। इन्द्र वसिष्ठका विश्वे देवोंसे संबंध यहां दर्शाया है। अतः इसके आगे यही विश्वे देव प्रकरण है। **'विश्वे देवाः'** का अर्थ 'सब देव' हैं। जो सब देव हैं उनका मनुष्यकी उन्नतिके साथ क्या संबंध है उसका वर्णन अगले प्रकरणमें पाठक देख सकते हैं।

॥ यहां इन्द्र प्रकरण समाप्त ॥

अनुवाक तीसरा [अनुवाक ५३ वाँ]

[२] विश्वे-देव-प्रकरण

(३४) १५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वे देवाः, १६ अहिः, १७ अहिर्बुध्न्यः । द्विपदा विराट्, १२-१५ त्रिष्टुप्।

१	प्र शुक्रैतु देवी मनीषा अस्मत् सुतष्टो रथो न वाजी	३०७
२	विदुः पृथिव्या दिवो जनित्रं शृण्वन्त्यापो अध क्षरन्तीः	३०८
३	आपश्चिदस्मै पिन्वन्त पृथ्वीर्वृत्रेषु शूरा मंसन्त उग्राः	३०९
४	आ धूर्ष्वस्मै दधाताश्वानिन्द्रो न वज्री हिरण्यबाहुः	३१०

[१] (३०७) (शुक्रा मनीषा देवी) सामर्थ्य-वाली बुद्धिदेवी (सुतष्टः वाजी रथः न) उत्तम बनावटका घोडोंसे चलाया जानेवाला रथ जैसा शीघ्र आता है, वैसी (अस्मत् प्र एतु) हमारे पास आवे।

मानवधर्म – मनुष्योंको बलवती तेजस्विनी मननशक्ति अपने अन्दर बढानी चाहिये।

प्रभावी बुद्धि

हमें (**मनीषा**) बुद्धि चाहिये. जो (देवी) क्रीडा, विजयकी इच्छा, व्यवहार, तेजस्विता, स्तुति, आनन्द, हर्ष, प्रीति, स्वप्न (निद्रा), और प्रगतिके प्रयत्नोंमें हमारी सहायता करे और जो (शुक्रा) वीर्यवती हो, बलवती, सामर्थ्य-वती हो, प्रभावी हो। रथका चालक घोडा होता है, उस तरह यह मनीषा हमारे कार्योंका संचालन करे।

आप्-जल

[२] (३०८) (अध क्षरन्तीः आपः) बहनेवाले जलप्रवाह- जीवनप्रवाह- (दिवः पृथिव्याः जनित्रं विदुः) द्युलोक और पृथिवीकी उत्पत्तिको जानते हैं और (शृण्वन्ति) सुनते भी हैं।

जल जीवनका रस है। यह जल शान्ति देनेवाला है। जल जीवन ही है। ' ज ' से ' ल ' य पर्यंत जो उपयोगी होता है वह ' ज-ल ' है। यही जीवन है। पृथ्वीसे लेकर आकाशतक जो पदार्थ हैं, उनकी विद्याको जानना चाहिये और इसी विद्याके व्याख्यान सुनने चाहिये। और इस ज्ञानसे अपना जविन युक्त करके अपने जीवनसे जलके समान शान्ति जगत्में स्थापन करनी चाहिये!

शूर वीर

[३] (३०९) (पृथ्वीः आपः चित्) पृथ्वीके ऊपर मिलनेवाला जल (अस्मै पिन्वन्त) इस इन्द्रकी पुष्टी करता है। (वृत्रेषु उग्राः शूराः मंसन्ते) शत्रुओंके उपद्रव होनेपर उग्र तथा शूर वीर इसी इन्द्रको बुलाते हैं।

[४] (३१०) (अस्मै धूर्षु अश्वान् आदधात) इस इन्द्रको यहां लानेके लिये रथकी धुरामें घोडोंको जोतो। (हिरण्यबाहुः वज्री इन्द्रः न) जिसके बाहूपर सुवर्णके आभूषण हैं ऐसा वज्रधारी इन्द्र जिस तरह घोडे जोतता है, वैसे ही तुम जोतो!

मानवधर्म - शत्रुओंका उपद्रव होनेपर शूर वीर योद्धा इकट्ठे हों और शत्रुको हटानेके लिये संघटित यत्न करें। अन्य लोग इनको जल आदि देकर सहायता करें। इन वीरोंके पोषणके लिये अन्न आदि देवें। इनको लानेके लिये रथके घोडे जोते जांय, रथ तैयार रहें। वीर शस्त्रास्त्र धारण करें, सुवर्ण-भूषणके गणवेश धारण करें। समय पर मुख्य सेनानी भी अपने घोडोंको जोते। वीर स्वावलंबी हों।

५	अभि प्र स्थाताहेव यज्ञं यातेव पत्मन् त्मना हिनोत	३११
६	त्मना समत्सु हिनोत यज्ञं दधात केतुं जनाय वीरम्	३१२
७	उदस्य शुष्माद् भानुर्नार्त बिभर्ति भारं पृथिवी न भूम	३१३
८	ह्वयामि देवाँ अयातुरग्ने साधन्नृतेन धियं दधामि	३१४

यज्ञमें जाओ

[५] (३११) (अह इव यज्ञं अभि प्र स्थात) यज्ञके प्रति अवश्य जाओ। (त्मना याता इव) स्वयं ही अपनी इच्छासे जानेवालेके समान (पत्मन् हिनोत) मार्गसे वेगसे चलो।

मानवधर्म – जहां यज्ञ चलता हो वहां अपनी इच्छासे ही शीघ्रतासे जाओ। अपने अन्तःकरणकी इच्छासे जानेके समान जाओ। मार्गसे सुस्तीसे न चलो। वेगसे जाओ।

१ यज्ञं अभि प्र स्थात–यज्ञ जहां चल रहा हो वहां अन्तः-करणकी प्रेरणासे जाओ। अवश्य जाओ और वहां जो कार्य हो सकता है वह अवश्य करो।

२ त्मना याता इव—अपनी स्फूर्तिसे जानेवाला जैसा वेगसे चलता है वैसा जलदीसे जाओ। चलना हो तो वेगसे चलो।

३ पत्मन् हिनोत—मार्गमें चलना हो तो वेगसे चलो। यहां चलना वेगसे होना चाहिये ऐसा कहा है। वह मननीय है। 'जंघयोर्जवः' (अथर्व. १९।६०।१) जंघाओंमें वेग होना चाहिये ऐसा अथर्ववेदमें कहा है, वही इस मंत्रमें कहा है।

युद्धमें जाओ

[६] (३१२) (समत्सु त्मना हिनोत) युद्धोंमें स्वयं जाओ। (वीरं हिनोत) वीरको युद्धमें जानेके लिये प्रेरित करो। (जनाय केतुं यज्ञं दधात) लोगोंके कल्याणके लिये ज्ञान बढानेवाले यज्ञका धारण करो।

मानवधर्म – स्वयं प्रेरणासे युद्धोंमें जाओ। स्वयं प्रेरणासे युद्धोंमें लाभ लेनेके लिये दूसरे वीरोंका उत्साह बढाओ। तथा ज्ञानका प्रसार करो।

१ समत्सु त्मना हिनोत--युद्धोंमें स्वयंस्फूर्तिसे जाओ। युद्धके समय पीछे न रहो।

२ समत्सु त्मना वीरं हिनोत--युद्धोंमें स्वयं ही दूसरे वीरोंको जानेके लिये प्रेरित करो।

३ जनाय केतुं यज्ञं दधात—लोगोंके हितके लिये ज्ञान देनेका यत्न करते रहो। ज्ञानसे ही सबका हित होता है।

शक्तिसे सब होता है

[७] (३१३) (अस्य शुष्मात् भानुः उत् आर्त) इस बलसे सूर्य उदयको प्राप्त होता है। तथा (भूम पृथिवी न भारं बिभर्ति) सब भूत और पृथिवी भार उठाती है।

मानवधर्म – विश्वमें जो कार्य होता है वह बलसे होता है इसलिये बलको प्राप्त करना चाहिये।

१ अस्य शुष्मात् भानुः उदार्त—बलसे सूर्य उदय होता है, बलसे सूर्य प्रकाशता है।

२ शुष्मात् पृथिवी भारं बिभर्ति—बलसे ही पृथिवी सब भारको उठाती है।

३ भूम शुष्मात् भारं बिभर्ति—उत्पन्न हुए सब भूत अपना अपना कर्तव्यका भार इस बलसे ही धारण करते हैं। तात्पर्य बलसे सब कार्य सिद्ध होता है।

देव कुटिलता रहित हैं

[८] (३१४) हे अग्ने! (अयातुः ऋतेन) अहिंसक यज्ञसे (साधन् देवान् ह्वयामि) साधना करता हुआ सहायार्थ देवोंको बुलाता हूं, (धियं दधामि च) बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले कर्मका मैं धारण करता हूं।

मानवधर्म – शुद्ध बुद्धिसे कुटिलता रहित कर्मोंको करना चाहिये।

९	अभि वो देवीं धियं दधिध्वं प्र वो देवत्रा वाचं कृणुध्वम्	३१५
१०	आ चष्ट आसां पाथो नदीनां वरुण उग्रः सहस्रचक्षाः	३१६
११	राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु	३१७
१२	अविष्टो अस्मान् विश्वासु विक्ष्वद्युं कृणोत शंसं निनित्सोः	३१८
१३	व्येतु दिद्युद् द्विषामशेवा युयोत विष्वग्रपस्तनूनाम्	३१९

दिव्य वाणी, बुद्धि और कर्म

[९] (३१५) (वः अभि देवीं धियं दधिध्वं) **आप दिव्य बुद्धिका धारण करो। (वः देवत्रा वाचं प्रकृणुध्वं) आप दिव्य विबुधोंके संबंधमें भाषण करते रहो।**

मानवधर्म - दिव्य गुणोंसे युक्त बुद्धिसे श्रेष्ठ कर्म करो और दिव्य भावसे परिपूर्ण भाषण करो।

१ देवीं धियं अभि दधिध्वं— दिव्य गुणोंसे युक्त बुद्धिका धारण करो। अपनी बुद्धिको दिव्य गुणोंसे युक्त करो।

२ देवत्रा वाचं प्रकृणुध्वं— दिव्यवाणी अर्थात् दिव्य भावोंकों प्रकट करनेवाली वाणी बोलो। ऐसा भाषण करो कि जिससे दिव्य भाव प्रकट हों।

[१०] (३१६) (सहस्रचक्षाः उग्रः वरुणः) **सहस्र नेत्रवाला उग्र वीर वरुण (आसां नदीनां पाथः आचष्टे) इन नदियोंके जलको देखता है।**

उग्र वरुण देव हमारे जीवन प्रवाहोंको देखता है जिस तरह कोई जल प्रवाहोंको देखे। इसलियें दक्ष रहना चाहिये। शुद्ध आचरण रखना योग्य है।

[११] (३१७) (राष्ट्रानां राजा) **यह वरुण राष्ट्रोंका शासक, (नदीनां पेशः) नदियोंका रूप (अस्मै अनुत्तं क्षत्रं) इसका क्षात्र बल उत्तम (विश्वायु) संपूर्ण आयुतक टिकनेवाला है।**

राष्ट्रोंका वीर राजा

१ राष्ट्राणां राजा, अस्मै अनुत्तं विश्वायु क्षत्रं— राष्ट्रोंका जो राजा होता है, उसके लिये संपूर्ण आयुतक टिकनेवाला श्रेष्ठ क्षात्र बल चाहिये। ऐसा वीर राजा होना चाहिये।

२ नदीनां पेशः--नदीयोंकी सुंदरता राष्ट्रोंमें हो और राजा भद्र बढावे।

राजा वरुण यह कार्य करता है इसलिये उसका शासन सब पर हो रहा है।

[१२] (३१८) (अस्मान् विश्वासु विक्षु अविष्टः) **हमें सब प्रजाजनोंमें सुरक्षित करो और (निनित्सोः शंसं अ-द्युं कृणोत) निंदा करनेवालेके भाषणको निस्तेज करो।**

मानवधर्म - सब प्रजाजनोंका उत्तम संरक्षण हो, हमारा उत्तम संरक्षण हो, निंदकोंकी निंदा प्रभावरहित सिद्ध हो।

१ विश्वासु विक्षु अस्मान् अविष्टः--सब प्रजाजनोंमें हमारी सुरक्षा हो। सब प्रजा सुरक्षित रहे और उसके साथ हम भी सुरक्षित हों।

२ निनित्सोः शंसं अ-द्युं कृणोत—निंदकोंकी निंदाको निस्तेज करो, प्रभावरहित करो, वह असत्य दीखे ऐसा करो।

[१३] (३१९) (द्विषां दिद्युत् अशेवा विष्वक् व्येतु) **शत्रुओंका शस्त्र अपरिणामी होकर चारों ओरसे दूर जावे। (तनूनां रपः विष्वक् युयोत) हमारे शारीरिक पाप हमसे दूर हो जांय।**

मानवधर्म- शत्रुके अस्त्रशस्त्रोंसे अपने आपको सुरक्षित रखो, शत्रुके शस्त्र प्रभावी न बनें ऐसा रक्षाका प्रबंध करो। काया वाचा मन बुद्धिसे निष्पाप रहो।

१ द्विषां दिद्युत् अशेवा विष्वक् व्येतु—शत्रु वीरोंके तीक्ष्ण शस्त्र भी हमारे पर परिणाम न करनेवाले होकर चारों दिशाओंमें व्यथ होते रहें।

२ तनूनां रपः विष्वक् वि युयोत--हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंसे जो भी पाप होनेवाले होंगे, उनको दूर करो। वे होने न पावें।

१४	अवीन्नो अग्निर्हव्यान्नमोभिः प्रेष्ठो अस्मा अधायि स्तोमः	३२०
१५	सजूर्देवेभिरपां नपातं सखायं कृध्वं शिवो नो अस्तु	३२१
१६	अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन्	३२२
१७	मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायोः	३२३
१८	उत न एषु नृषु श्रवो धुः प्र राये यन्तु शर्धन्तो अर्यः	३२४
१९	तपन्ति शत्रुं स्व1र्ण भूमा महासेनासो अमेभिरेषाम्	३२५
२०	आ यन्नः पत्नीर्गमन्त्यच्छा त्वष्टा सुपाणिर्दधातु वीरान्	३२६
२१	प्रति नः स्तोमं त्वष्टा जुषेत स्यादस्मे अरमतिर्वसूयुः	३२७

---

[१४] (३२०) (हव्यात् प्रेष्ठः अग्निः नमोभिः नः अवीत्) हव्य अन्नका भक्षण करनेवाला प्रिय अग्नि हमारे नमस्कारोंसे प्रसन्न होकर हमारी सुरक्षा करे। (अस्मै स्तोमः अधायि) इसका यह स्तोत्रपाठ हमने किया है।

[१५] (३२१) (अपां नपातं सखायं कृध्वं) जलोंको न गिरानेवाले अग्निको अपना मित्र बनाओ। वह (देवेभिः सजूः नः शिवः अस्तु) देवोंके साथ रहनेवाला अग्नि हमारे लिये कल्याण करनेवाला हो।

[१६] (३२२) (नदीनां बुध्ने) नदियोंके समीप भागमें (रजः सु सीदन्) पुलिनमें रहनेवाले (अब्-जां अहिं) जलको उत्पन्न करनेवाले शत्रु-हन्ता अग्निको (उक्थैः गृणीषे) स्तोत्रोंसे प्रशंसित करो।

[१७] (३२३) (बुध्न्यः अहिः नः रिषे मा धात्) अन्तरिक्षमें होनेवाला मेघनाशक विद्युत् अग्नि हमारा नाश न करे। (अस्य ऋतायोः यज्ञः मा स्रिधत्) इस सत्यके लिये जिसने अपनी आयु दी है इसका यज्ञ क्षीण न हो।

'ऋत-आयु'—सत्यके लिये, यज्ञके लिये जिसने अपनी आयु अर्पण की है।

[१८] (३२४) (उत एषु नृषु श्रवः धुः) इन हमारे लोगोंमें अन्न, धन वा यश पर्याप्त रहे। इनको पर्याप्त धन प्राप्त हो। (राये शर्धन्तः अर्यः प्रयन्तु) धनप्राप्ति करनेके कार्यमें हमारे साथ जो स्पर्धा कर रहे हैं, वे हमारे शत्रु हमसे दूर चले जांय। यहां वे असमर्थ सिद्ध हो जांय।

[१९] (३२५) (महासेनासः एषां अमेभिः) बडी सेना साथ रखनेवाले राजा इनके बलोंसे बलवान् होकर, (स्वः न) सूर्यके समान (शत्रुं तपन्ति) शत्रुको ताप देते हैं।

बडी सेना रखनेवाले राजा लोग भी इन अग्नि, वायु आदि देवोंके बलोंसे बलिष्ठ होकर सूर्यके समान तेजस्वी होते हैं और अपने तेजसे शत्रुको तपाते हैं। भयभीत करते हैं।

[२०] (३२६) (यत् पत्नीः) जब पत्नियाँ (नः अच्छ आ गमन्ति) हमारे समीप आती हैं तब (सुपाणिः त्वष्टा) उस समय उत्तम हाथवाला विश्वका निर्माण कर्ता (वीरान् दधातु) वीरोंको धारण करे। हमारी स्त्रियोंको वीर पुत्र हों ऐसा करे। विश्वस्रष्टा प्रभुकी कृपासे हमारी स्त्रियोंमें वीर पुत्र उत्पन्न हों।

[२१] (३२७) (नः स्तोमं त्वष्टा प्रति जुषेत) हमारे यज्ञका स्वीकार विश्वरचयिता करे। (अर-मतिः अस्मे वसुयुः स्यात्) उत्तम बुद्धिवाला विश्वरचयिता हमें बहुत धन देनेवाला होवे।

२२ ता नो रासन् रातिषाचो वसून्या रोदसी वरुणानी शृणोतु ।
वरूत्रीभिः सुशरणो नो अस्तु त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायः ३२८

२३ तन्नो रायः पर्वतास्तन्न आपस्तद् रातिषाच ओषधीरुत द्यौः ।
वनस्पतिभिः पृथिवी सजोषा उभे रोदसी परि पासतो नः ३२९

२४ अनु तदुर्वी रोदसी जिहातामनु द्युक्षो वरुण इन्द्रसखा ।
अनु विश्वे मरुतो ये सहासो रायः स्याम धरुणं धियध्यै ३३०

२५ तन्न इन्द्रो वरुणो मित्रो अग्निराप ओषधीर्वनिनो जुषन्त ।
शर्मन् त्स्याम मरुतामुपस्थे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ३३१

---

[२२] (३२८) (ता वसूनि) वे हमारे लिये अभीष्ट धन (रातिषाचः नः रासन्) दान देनेवाली देवपत्नियां हमें देवें। (रोदसी वरुणानी आश्रृणोतु) द्यावापृथिवी और वरुणकी पत्नी हमारा स्तोत्र सुने। (सुदत्रः त्वष्टा) उत्तम दान देनेवाला त्वष्टा— विश्वरचयिता— (वरूत्रीभिः नः सुशरणः) शत्रुनिवारक शक्तियोंके साथ हमारे लिये आश्रय करने योग्य (अस्तु) होकर (रायः वि दधातु) धन हमें देवें।

[२३] (३२९) (नः तत् रायः पर्वताः) हमारे इस धनका ये पर्वत संरक्षण करें। (नः तत् आपः) हमारे उस धनका जल संरक्षण करे, (रातिषाचः तत्) दान देनेवाली पत्नियां उस धनका संरक्षण करें। (ओषधीः उत द्यौः) औषधियां और द्यौ उसका रक्षण करें। (वनस्पतिभिः सजोषा पृथिवी) वनस्पतियोंके साथ यह पृथिवी उसका रक्षण करे। (उभे रोदसी नः तत् परि पासतः) आकाश और पृथिवी ये दो मिलकर हमारे उस धनका संरक्षण करें।

पर्वत, नदियां, जल प्रवाह, औषधियां, द्यौ, पृथिवी, ये सब हमारे सब प्रकारके धनका संरक्षण करें। पर्वतोंसे शत्रुकी गति रुकती है और राष्ट्रका संरक्षण होता है, नदियोंके जलप्रवाहोंसे अन्न उत्पन्न होकर संरक्षण होता है। औषधि वनस्पतियोंसे रोग दूर होकर संरक्षण होता है। पृथिवी और आकाश भी अपनी शक्तियोंसे सहायक होते हैं। इस तरह सब विश्व, सब जगत्, हमारी सहायता कर रहा है। इन शक्तियोंसे हम अपनी सुरक्षा करनी चाहिये।

[२४] (३३०) (उर्वी रोदसी तत् अनुजिहातां) ये विशाल द्यावापृथिवी इसका अनुमोदन करे। (द्युक्षः इन्द्रसखा वरुणः अनु) तेजस्वी इन्द्रका मित्र वरुण अनुमोदन करे। (ये सहासः विश्वे मरुतः अनु) जो शत्रुका पराभव करनेवाले मरुत् वीर हैं, वे अनुकूल हों। (धियध्यै रायः धरुणं स्याम) धारण करने योग्य धनके हम धारण करनेवाले बनें।

[२५] (३३१) (नः तत्) हमारा यह स्तोत्र इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि, आप्, ओषधियाँ (वनिनः जुषंत) वनमें रहनेवाले वृक्ष ये सब सेवन करें। हम (मरुतां उपस्थे शर्मन् स्याम) मरुत् वीरोंके समीप कल्याण रूप स्थानमें रहें। (सदा नः यूयं स्वस्तिभिः पात) सदा हमें आप कल्याणके साधनोंसे सुरक्षित रखो।

ये सब देव हमारी प्रार्थना सुनें, हमारी सहायता करें, हम सुरक्षित हों, धनसे युक्त हों और सुरक्षित हों।

(३५) १५ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप् ।

१ शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ३३२

२ शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरंधिः शमु सन्तु रायः ।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ३३३

३ शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः ।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ३३४

---

[१] (३३२) (इन्द्राग्नी अवोभिः नः शं भवतां) इन्द्र और अग्नि अपने संरक्षणोंसे हमारे लिये शांति देनेवाले हों। (रातहव्या इन्द्रावरुणा नः शं) जिनको हवि दिया है ऐसे ये इन्द्र और वरुण हमें शांति देनेवाले हों। (इन्द्रासोमा नः शं शं सुविताय च) इन्द्र और सोम हमारे लिये शांति तथा कल्याण देनेवाले हों, और (इन्द्रापूषणा वाजसातौ नः शं योः) इन्द्र और पूषा युद्धमें हमारा कल्याण करनेवाले हों।

वाजसाति—युद्ध, स्पर्धा, अन्नकी प्राप्तिकी स्पर्धा। बलसे होनेवाली स्पर्धा। ' शं '—शान्ति, सुख। ' योः '— योग, अप्राप्त वस्तुका लाभ।

' इन्द्राग्नी, इन्द्रावरुणौ, इन्द्रासोमौ, इन्द्रापूषणौ ' इनमें प्रत्येकमें इन्द्र है। इन्द्र विद्युत् स्वरूप है, अग्नि उष्णता करनेवाला, वरुण जलदेव, सोम वनस्पति और पूषा अन्नाधिपति है। जल, वनस्पति, अन्नके साथ अग्नि पकाने आदिमें सहायक होता है। प्रत्येकके साथ इन्द्र है। विद्युत्-अग्नि, विद्युत्-जल, विद्युत्-वनस्पति और विद्युत्--अन्न ये हमारे अन्दर शान्ति स्थापन करें, विषमता दूर करें, हमारा कल्याण करें, स्पर्धामें हमारा रक्षण करें, हमारे पास जो धन है उसका उपभोग हम शान्तिसे ले सकें और जो धन हमारे पास नहीं है उसका हमें लाभ हो। यह सुख हमें मिलता रहे।

[२] (३३३) (भगः नः शं अस्तु) भग हमें शांति देनेवाला हो, (शंसः नः शं उ) मनुष्योंद्वारा प्रशंसित देव हमें शांति देनेवाला हो। (पुरंधिः नः शं) विशाल बुद्धि हमें शांति देवे और (रायः शं उ सन्तु) सब प्रकारके धन हमें शांति देवें। (सुयमस्य सत्यस्य शंसः नः शं) उत्तम नियमपूर्वक बोला जानेवाला सत्य वचन हमें शांति देनेवाला हो। (पुरुजातः अर्यमा नः शं अस्तु) बहुत प्रशंसित अर्यमा हमें शांति देनेवाला हो।

(भग) ऐश्वर्य, (शंसः) प्रशंसा, (पुरंधिः) विशाल बुद्धि, (रायः) धन, (सत्यस्य शंसः) सत्य भाषण, (अर्यमा) श्रेष्ठत्वका निर्णय करनेवाला न्यायाधिपति ये सब हमारे अन्दर शान्ति स्थापन करनेवाले हों। यहां सर्वत्र ' नः ' पद है उसका अर्थ ' हम सबमें ' ऐसा है। हमारे समाजमें, हमारे राष्ट्रमें शान्ति और सुख सदा शाश्वत रहे।

[३] (३३४) (धाता नः शं) आधार देनेवाला हमें शांति देनेवाला हो, (धर्ता नः शं उ अस्तु) धारणकर्ता हमें शांति देनेवाला हो। (उरूची स्वधाभिः नः शं भवतु) गति करनेवाली पृथिवी अन्नोंसे हमें शांति देनेवाली हो। (बृहती रोदसी नः शं) बडी द्यावापृथिवी हमें शांति देवे। (अद्रिः नः शं) पर्वत हमें शांति देवे। (देवानां सुहवानि नः शं सन्तु) देवोंकी स्तुतियां हमें शान्ति देनेवाली हों।

सृष्टीकी रचना करनेवाला, सर्वाधार देव, यह पृथिवी, आकाश, पर्वत और उपासना ये सब हमें शान्ति देनेवाले हों।

अन्न देनेवाली पृथिवी शान्ति देनेवाली हो। उत्तम अन्न देनेवाली मातृभूमि पर शत्रु आक्रमण करते हैं और उस कारण अशान्ति उत्पन्न होती है। पर्वत भी इसी तरह शत्रुसे व्याप्त होते हैं। इनका निवारण करके ये सब शान्ति देनेवाले हों।

४ शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम् ।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः ३३५
५ शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु ।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ३३६
६ शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः ।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ३३७
७ शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः ।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्व१ः शम्वस्तु वेदिः ३३८

---

[४] (३३५) (ज्योतिरनीकः अग्निः नः शं अस्तु) तेज ही जिसकी सेना है ऐसा अग्नि हमारे लिये शांति देनेवाला हो। (मित्रावरुणा नः शं) मित्र और वरुण, सूर्य और चन्द्र हमारे लिये शांति देनेवाले हों। (अश्विना शं) अश्विदेव हमें शांति देनेवाले हों। (सुकृतां सुकृतानि नः शं सन्तु) सत्कर्म करनेवालोंके सत्कर्म हमारी शांति बढानेवाले हों। (इषिरः वातः नः शं अभि वातु) गतिशील वायु हमारे लिये कल्याण करनेवाला होकर बहता रहे।

सुकृत शान्ति देनेवाले हों

इस मंत्रमें तेजस्वी अग्नि, मित्र (सूर्य), वरुण (चन्द्रमा) अश्विनौ वायु ये सब हमें शान्ति दें ऐसा कहा है, परंतु ' **सुकृतां सुकृतानि नः शं सन्तु** ' अर्थात् पुण्य कर्म करनेवाले महा पुरुषोंके प्रशंसित कर्म हमारे लिये शान्ति बढानेवाले हों ऐसा जो कहा है वह बडा मननीय है। कभी कभी बडे बडे महात्माओंके उत्तम कृत्य भी घोर अनर्थ उत्पन्न करनेवाले सिद्ध होते हैं। इतिहासमें इसकी पर्याप्त साक्षी मिलती है। इसलिये यह सूचना बडी महत्त्व की। महात्मा पुण्य पुरुष भी इसका विचार अपने मनमें रखें और लोग भी इसका विचार करें। महात्माओंके विचार और कर्म अच्छे होंगे, पर वे शान्ति स्थापन करनेवाले होंगे ऐसा नहीं कहा जा सकता। कभी कभी महा पुरुषोंके शुभ कर्मसे भी राष्ट्रका राष्ट्र बडी विपत्तिमें पडनेकी संभावना हो सकती है। महा पुरुषकी सरलताका फायदा शत्रु उठाते हैं और उस कारण बडी आपत्ति राष्ट्रपर अथवा समाजपर आजाती है। इसलिये वेदकी यह सूचना बडी सावधानीकी है। वसिष्ठ ऋषिका यह वचन विशेष महत्त्वका है।

[५] (३३६) (पूर्वहूतौ द्यावापृथिवी नः शं) प्रथम प्रार्थना किये द्यावा-पृथिवी हमें शांति प्रदान करें। (अन्तरिक्षं नः दृशये शं अस्तु) अन्तरिक्ष हमारे दर्शनके लिये शांति देनेवाला हो। (वनिनः ओषधीः नः शं भवन्तु) वनमें उत्पन्न होनेवाले वृक्ष और औषधियाँ हमें शांति दें। (जिष्णुः रजसः पतिः नः शं अस्तु) विजयशाली लोकपति हमें शांति दें।

[६] (३३७) (देवः इन्द्रः वसुभिः नः शं अस्तु) इन्द्र देव अष्ट वसुओंके साथ हमें शांति दें। (सुशंसः वरुणः आदित्येभिः शं) प्रशंसनीय वरुण द्वादश आदित्योंके साथ हमें शांति दें। (जलाषः रुद्रः रुद्रेभिः नः शं) जल देनेवाला रुद्र एकादश रुद्रोंके साथ हमें शांति दें। (ग्नाभिः त्वष्टा इह नः शं शृणोतु) देवपत्नियोंके साथ त्वष्टा यहां शांतिसे हमारे स्तोत्र सुनें।

[७] (३३८) (सोमः नः शं भवतु) सोम हमें शांति दें। ब्रह्म नः शं) ब्रह्म हमें शांति दें। (ग्रावाणः नः शं) पत्थर हमें शांति दें। (यज्ञाः नः शं उ सन्तु) यज्ञ हमें शांति दें। (स्वरूणां मितयः नः शं भवन्तु) यूपोंके प्रमाण हमें शांति दें। (प्रस्वः नः शं) औषधियां हमें शान्ति दें। (वेदि नः शं उ अस्तु) वेदि हमें शांति दे।

८ शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ३३९

९ शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ३४०

१० शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः ।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः ३४१

११ शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु ।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ३४२

१२ शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः ।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ३४३

---

[८] (३३९) (उरुचक्षाः सूर्यः नः शं उदेतु) विशाल तेजवाला सूर्य हमारी शांतिके लिये उदित हो। (चतस्रः प्रदिशः नः शं भवन्तु) चारों दिशाएँ हमें शांति दें। (ध्रुवयः पर्वताः नः शं भवन्तु) स्थिर पर्वत हमें शांति दें। (सिन्धवः नः शं) समुद्र हमें शांति दें। (आपः नः शं उ सन्तु) जल हमें शांति दें।

[९] (३४०) (अदितिः व्रतेभिः नः शं भवतु) अदिति अपने व्रतोंसे हमें शांति दे। (स्वर्काः मरुतः नः शं भवन्तु) उत्तम तेजस्वी मरुत् वीर हमें शांति दें। (विष्णुः नः शं) विष्णु हमें शान्ति दें। (पूषा नः शं उ अस्तु) पूषा हमें शान्ति दें। (भवित्रं नः शं) भुवन हमें शान्ति दें। (वायुः शं उ अस्तु) वायु हमें शान्ति दें।

[१०] (३४१) (त्रायमाणः सविता देवः नः शं) संरक्षणकर्ता सविता देव हमें शान्ति दें। (विभातीः उषसः न शं भवन्तु) तेजस्वी उषाएं हमें शांति दें। (पर्जन्यः नः शं भवतु) पर्जन्य हमें शांति दें। (क्षेत्रस्य शंभुः पतिः नः प्रजाभ्यः शं अस्तु) देशका कल्याण करनेवाला अधिपति हमारी प्रजाके लिये शांति दें।

१ क्षेत्रस्य पतिः शंभुः--राष्ट्रका राजा कल्याण करनेवाला अर्थात् प्रजाका हित करनेवाला हो।

२ क्षेत्रस्य पतिः प्रजाभ्यः शं अस्तु—राष्ट्रका राजा प्रजाजनोंके लिये शान्ति देनेवाला हो। राजा प्रजाको शान्ति दे और प्रजाका कल्याण भी करे।

[११] (३४२) (विश्वदेवाः देवाः नः शं भवन्तु) सब प्रकाशमान देव हमें शांति दें। (सरस्वती धीभिः सह शं अस्तु) सरस्वती बुद्धियोंके साथ हमें शांति दें। (अभिषाचः शं) यज्ञकी सेवा करनेवाले हमें शांति दें। (रातिषाचः नः शं उ) दान देनेवाले हमें शांति दें। (दिव्याः प्रार्थिवाः अप्याः) द्युलोक, पृथिवी और जलमें उत्पन्न होनेवाले (नः शं) हमें शांति दें।

सरस्वती धीभिः नः शं अस्तु— सरस्वती विद्या देवी (धीभिः) अनेक प्रकारकी बुद्धियुक्त कर्म शक्तियोंके साथ हमें शान्ति दें। विद्यासे बुद्धियां संस्कार संपन्न होती हैं और उन बुद्धियोंसे नाना प्रकारके कर्म करनेकी शक्ति बढती है। यह सब विद्याक्षेत्र शान्ति स्थापन करनेवाला हो। विद्या तथा कर्म शक्तिके बढनेसे स्पर्धा बढकर अशान्ति ही न बढे, परंतु विद्या और कर्मशक्ति बढनेसे सर्वत्र शान्ति, सुख और आनन्द बढे। विद्यावृद्धिका परिणाम विपरीत न हो यह यहां सूचित किया है जो महत्त्वयुक्त है।

[१२] (३४३) (सत्यस्य पतयः नः शं भवन्तु) सत्यका पालन करनेवाले हमें शांति देनेवाले हों। (अर्वन्तः गावः नः शं सन्तु) घोडे और गौवें हमें

१३ शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः ।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ३४४

१४ आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तेदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः ।
शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः ३४५

१५ ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ३४६

(३६) ९ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप् ।

१ प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य वि रश्मिभिः ससृजे सूर्यो गाः ।
वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी पृथु प्रतीकमध्येधे अग्निः ३४७

शांति दें । (सुकृतः सुहस्ताः ऋभवः नः शं) कुशलतासे कर्म करनेवाले उत्तम हाथवाले ऋभु हमें शांति दें । (हवेषु पितरः नः शं भवन्तु) यज्ञमें पितर हमें शांति देनेवाले हों ।

सत्यस्य पतयः नः शं भवन्तु— सत्य पालनका व्रत लेनेवाले लोग हमें शान्ति देनेवाले हों । यह एक बडी सावधानीकी सूचना है । सत्य पालन करनेवाले अपने सत्य पालनका परिणाम क्या होगा इसका विचार नहीं करेंगे, तो उनके सत्य पालनके व्रतसे बडे कष्ट भी हो सकते हैं । इसलिये सावधानतासे ही सत्य पालन करना चाहिये ।

[१३] (३४४) (अजः एकपात् देवः नः शं अस्तु) एक पाद् अज देव हमें कल्याण करनेवाला हो । (अहिः बुध्न्यः नः शं) अहिबुध्न्य हमें शांति दे । (समुद्रः शं) समुद्र शांति दे । (पेरः अपां नपात् नः शं अस्तु) आपत्तियोंसे पार करनेवाला अपां नपात् देव हमें शांति दे । (देवगोपा पृश्निः नः शं भवतु) देवों द्वारा सुरक्षित गौ हमें शांति प्रदान करें ।

' अजः एकपात् देवः ' — उदय पानेवाले सूर्यका एक अंश ऊपर आता है, वह एकपात्— एक अंश उदित सूर्य अज एकपात् है । ' बुध्न्यः अहिः ' —सबको आधार देनेवाला और कभी (अ-हि) नाशको प्राप्त न होनेवाला मूल आधार देव । ' अपां न-पात् ' —जलोंको न गिरानेवाला मेघस्थ अग्नि । अथवा जलसे पृथिवी और पृथिवी पर अग्नि, इस तरह जलका पौत्र अग्नि । ' देवगोपा पृश्निः ' —देव जिसकी सुरक्षा करते हैं वह माता गौ ।

[१४] (३४५) (नवीयः क्रियमाणं इदं ब्रह्म) नवीन किया जानेवाला यह स्तोत्र है, इसका आदित्य, वसु और रुद्र स्वीकार करें । (दिव्याः) द्युलोकमें उत्पन्न (पार्थिवासः) पृथिवीपर उत्पन्न (गोजाताः) स्वर्गमें उत्पन्न अथवा गौके हित करनेके लिये उत्पन्न (उत ये यज्ञियासः) और जो यज्ञके योग्य हैं वे सब (नः शृण्वन्तु) हमारी प्रार्थना सुनें ।

[१५] (३४६) (ये यज्ञियानां देवानां यज्ञियाः) जो पूजनीय देवोंके लिये भी पूजनीय हैं, जो (मनोः यजत्राः ते) मनुके लिये भी पूज्य हैं वे (ऋतज्ञाः अमृताः) ऋत जाननेवाले अमर देव (अद्य उरुगायं नः रासन्तां) आज हमें विस्तृत प्रशंसनीय यश दें । विस्तृत यश प्राप्त करनेवाला पुत्र प्रदान करें । (यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पात) आप सदा हमें कल्याण करनेवाले साधनोंसे सुरक्षित रखो ।

हमें सुयश मिले और हमें पुत्र भी ऐसा मिले कि जो सुयश प्राप्त करनेवाला हो ।

सूर्य, पृथिवी, अग्नि

[१] (३४७) (ऋतस्य सदनात् ब्रह्म प्र एतु) सत्यके स्थानसे ज्ञान फैले । (सूर्यः रश्मिभिः गाः विससृजे) सूर्य अपने किरणोंसे वृष्टिके उदक

२ इमां वां मित्रावरुणा सुवृक्तिमिषं न कृण्वे असुरा नवीयः ।
इनो वामन्यः पदवीरदब्धो जनं च मित्रो यतति ब्रुवाणः ३४८
३ आ वातस्य ध्रजतो रन्त इत्या अपीपयन्त धेनवो न सूदाः ।
महो दिवः सदने जायमानोऽचिक्रदद् वृषभः सस्मिन्नूधन् ३४९
४ गिरा य एता युनजद्धरी त इन्द्र प्रिया सुरथा शूर धायू ।
प्र यो मन्युं रिरिक्षतो मिनात्या सुक्रतुमर्यमणं ववृत्याम् ३५०

भजता है। (उर्वी पृथिवी सानुना वि सस्रे) विशाल पृथिवी पर्वत शिखरोंसे युक्त बनी है। (अग्निः पृथु प्रतीकं अधि आ ईधे) अग्नि विस्तीर्ण पृथिवीके प्रतीक रूप वेदीपर प्रदीप्त होता है।

१ **ऋतस्य सदनात् ब्रह्म प्र एतु**—सत्यके केन्द्रसे सत्य ज्ञान फैलता है । यज्ञ स्थानसे ज्ञानके सूक्त प्रसृत हुए हैं ।

२ **सूर्यः रश्मिभिः गाः विससृजे**—सूर्य अपने किरणोंसे वृष्टिकी उत्पत्ति करता है । किरणोंसे बाष्प होता है, उससे मेघ और मेघोंसे वृष्टि होती है ।

३ **उर्वी पृथिवी सानुना विसस्रे**—यह विशाल पृथिवी पर्वत शिखरोंके साथ उस वृष्टिके जलको लेती है और धान्यकी उत्पत्ति करती है । इस अन्नका यज्ञ होता है ।

४ **अग्निः पृथु प्रतीकं अधि आ ईधे**—अग्नि वेदीपर प्रदीप्त होता है, उसमें उस धान्यका—अन्नका—हवन होता है और इस समय उक्त ज्ञानके सूक्त गाये जाते हैं ।

सत्य ज्ञानका प्रसार हो । वृष्टिसे धान्य उत्पन्न होकर उसका यज्ञ किया जाय और यज्ञ स्थान ज्ञान प्रासारका केन्द्र हो ।

मित्र-वरुण

[२] (३४८) हे (असुरा मित्रावरुणा) बलशाली मित्र और वरुण ! (वां इषं न) आप दोनोंके लिये अन्नके समान (नवीयः इमां सुवृक्तिं कृण्वे) इस नवीन स्तोत्रको करता हूं। (वां अन्यः इनः अदब्धः) आपमेंसे एक वरुण प्रभु है और न दबनेवाला है और (पद-वीः) धर्माधर्मका निर्णय करके योग्य स्थान देनेवाला है और (ब्रुवाणः मित्रः च जनं यतति) प्रशंसित हुआ मित्र लोगोंको धर्म मार्गमें प्रेरित करता है ।

मानवधर्म - मनुष्य प्रभावी सामर्थ्यसे युक्त बने । उत्तम शासक बनें, शत्रुसे न दबें, मानवोंकी योग्यताकी परीक्षा करके उनको योग्य स्थान दें। और मित्रवत् आचरण करके लोगोंको सत्कार्यमें प्रवृत्त करते जांय ।

१ **मित्रावरुणौ असुरौ**— मित्र तथा वरुण ये दो देव (असु-रौ) प्राणके बलसे युक्त हैं । बलवान् हैं । इस तरह मनुष्य बलवान बने, अपने अन्दर प्राणकी शक्ति बढावें ।

२ **अन्यः इनः अदब्धः पद-वीः**— एक शासक है, शत्रुसे न दबनेवाला अर्थात् विशेष प्रभावी है और योग्य मनुष्यकी धर्माधर्म विषयक परीक्षा करके उसको योग्य स्थान देनेवाला है । इसी तरह मनुष्य भी उत्तम शासक बने, शत्रुसे न दब जानेवाला हो और मनुष्योंकी योग्य परीक्षा करके योग्य स्थानपर योग्य मनुष्यको रखे ।

३ **मित्रः जनं यतति**—मित्र रूप रहकर दूसरा लोगोंको सत्कर्ममें प्रेरित करता है ।

वायु-पर्जन्य

[३] (३४९) (ध्रजतः वातस्य इत्या आ रन्ते) चलनेवाले वायुकी गति चारों ओर सुशोभित होती है। (सूदाः धेनवः न अपीपयन्त) दूध देनेवाली गौवें बढती हैं। तथा (महः दिवः सदने जायमानः) इस विशाल द्युलोकके स्थानमें उत्पन्न होनेवाला (वृषभः) वृष्टि करनेवाला मेघ (सस्मिन् ऊधन्) उस अन्तरिक्षमें (अचिक्रदत्) गर्जना करता है।

वायु बहता है, मेघ आते हैं, वृष्टि होती है, घांस बढता है, उसको खाकर गौवें पुष्ट होती हैं और बहुत दूध देती हैं ।

इन्द्र-अर्यमा

[४] (३५०) हे शूर इन्द्र ! (ते प्रिया सुरथा धायू हरी) तेरे प्रिय रथको जोते जानेवाले बलवान घोडे हैं, (यः गिरा एता युनजत्) जो उत्तम

५ यजन्ते अस्य सख्यं वयश्च नमस्विनः स्व ऋतस्य धामन् ।
वि पृक्षो बाबधे नृभिः स्तवान इदं नमो रुद्राय प्रेष्ठम् ३५१

६ आ यत् साकं यशसो वावशानाः सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता ।
याः सुष्वयन्त सुदुघाः सुधारा अभि स्वेन पयसा पीप्यानाः ३५२

७ उत त्ये नो मरुतो मन्दसाना धियं तोकं च वाजिनोऽवन्तु ।
मा नः परि ख्यदक्षरा चरन्त्यवीवृधन् युज्यं ते रयिं नः ३५३

८ प्र वो महीमरमतिं कृणुध्वं प्र पूषणं विदथ्यं१ न वीरम् ।
भगं धियोऽवितारं नो अस्याः सातौ वाजं रातिषाचं पुरंधिम् ३५४

शब्दोंके साथ इनको रथके साथ जोतता है वहां तुम जाते हैं। (यः रिरिक्षतः मन्युं प्र मिनाति) जो हिंसक शत्रुके क्रोधको दूर करता है, निष्फल बनाता है, उस (सुक्रतुं अर्यमणं आ ववृत्यां) उत्तम कर्म करनेवाले अर्यमाको मैं अपनी और लाता हूं।

हिंसक शत्रुके क्रोधको अथवा उसके विनाशक प्रयोगको निष्फल बनाने योग्य अपना सामर्थ्य बढाना चाहिये।

रुद्र

[५] (३५१) (नमस्विनः ऋतस्य स्वे धामन्) अन्नवाले यज्ञके अपने स्थानमें रहकर (वयः अस्य सख्यं यजन्ते) प्रगतिशील लोग इस रुद्रकी मित्रता करनेके लिये यज्ञ करते हैं। (नृभिः स्तवानः पृक्षः वि बाबधे) मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होकर रुद्र उपासकोंको अन्न देता है। (रुद्राय प्रेष्ठं इदं नमः) इस रुद्रके लिये बडा प्रियकर यह स्तोत्र है।

सिन्धु-सरस्वती-सात नदीयाँ

[६] (३५२) (सिन्धुमाता सप्तथी सरस्वती) माताके समान सिन्धु नदी और सातवी सरस्वती नदी (सुधाराः सुदुघाः या सुष्वयन्त) उत्तम प्रवाहवाली और उत्तम दूध देनेवाली गौओंसे युक्त होकर बहती रहें। (स्वेन पयसा पीप्यानाः) अपने जलसे भरपूर होकर (याः यशसः वावशानाः) अन्न बढानेकी कामनासे (साकं अभि आ) साथ साथ बहती रहें।

सात नदियां हैं। इनमें सिन्धु नदी माता हैं और सातवी सरस्वती नदी है। इनके तीर पर दुधारू गौवें रहती हैं। अपने जलसे ये नदियां भूमिका उपजाऊ गुण बढाती हैं, पर्याप्त अन्न देती हैं। ये नदियां सदा बहती रहें और अन्न देती रहें।

वीर मरुत्, वाक्

[७] (३५३) (उत मन्दसानाः वाजिनः त्ये मरुतः) आनन्द बढानेवाले बलवान वे मरुत् वीर (नः तोकं धियं च अवन्तु) हमारे पुत्रोंको और बुद्धियुक्त कर्मोंको सुरक्षित रखें। (अक्षरा चरन्ती नः परि मा ख्यत्) अविनाशी चलनेवाली वाणी हमें छोडकर किसी अन्यको न देखे। हमारे पास ही रहे। (ते नः युज्यं रयिं अवीवृधन्) वे मरुद्वीर और वाणी हमारे योग्य धनको बढावें।

हमारे बालबच्चोंकी सुरक्षा हो। हमारी बुद्धि और कर्म शक्ति बढे। हमारी वाणी प्रशस्त हो। और इन सबकी सहायतासे हमारा धन योग्य मार्गसे बढे।

ते नः युज्यं रयिं अवीवृधन्—वे हमारे योग्य धनको सुयोग्य मार्गसे बढाते रहें। अयोग्य मार्गसे धन न बढे।

[८] (३५४) (वः महीं अरमतिं प्र कृणुध्वं) आप विशाल भूमिको मांगो। तथा (विदथ्यं पूषणं वीरं न) युद्धके योग्य वीर पूषाको मांगो। (नः अस्याः धियः अवितारं भगं) हमारे इस बुद्धियुक्त कर्मका संरक्षण करनेवाले भग देवके पास मांगो। तथा (पुरंधिं रातिषाचं वाजं सातौ) नगरकी धारणा करनेवाली जिसकी बुद्धि है और जो

९ अच्छायं वो मरुतः श्लोक एत्वच्छा विष्णुं निषिक्तपामवोभिः ।
उत प्रजायै गृणते वयो धुर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ३५५

(३७) ८ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप् ।

१ आ वो वाहिष्ठो वहतु स्तवध्यै रथो वाजा ऋभुक्षणो अमृक्तः ।
अभि त्रिपृष्ठैः सवनेषु सोमैर्मदे सुशिप्रा महभिः पृणध्वम् ३५६

दानशील है उस बलवान् देवकी सहायता युद्धके समय मांगो।

१ महीं अरमतिं प्र कृणुध्वं — इस पृथिवीके ऊपर अपने लिये विशाल कार्यक्षेत्र बनाओ।

१ विदथ्यं पूषणं वीरं प्र कृणुध्वं — युद्धमें जाकर विजय प्राप्त करनेवाले पोषक वीर पुत्रको निर्माण करो। पुत्रको ऐसी शिक्षा दो कि जिससे युद्धके योग्य वे वीर हो सकेंगे।

३ धियः अवितारं भगं प्र कृणुध्वं— बुद्धि पूर्वक किये कर्मका संरक्षण करनेवाले भाग्यवान पुत्रको निर्माण करो।

४ सातौ पुरंधिं रातिषाचं वाजं प्र कृणुध्वं— युद्धके समय नगरका संरक्षण करनेवाले, दान देनेमें कुशल, बलवान् वीर पुत्रको निर्माण करो।

'वीर'=पुत्र, वीर, शूर संतान।

[९] (३५५) हे (मरुतः) मरुद्वीरो! (वः अयं श्लोकः अच्छ एतु) आपका यह स्तोत्र आपके पास सीधा पहुंचे। (निषिक्तपां अवोभिः विष्णुं अच्छ) गर्भका संरक्षण अपनी संरक्षक शक्तियोंसे करनेवाले विष्णुके पास यह स्तोत्र पहुंचे। (उत प्रजायै गृणते वयः धुः) वे सन्तान और अन्न उपासकको दें। (यूयं नः स्वस्तिभिः सदा पात) आप हमें कल्याणके साधनोंसे सदा सुरक्षित रखो।

१ निषिक्तपां विष्णुं अवोभिः — अपने संरक्षणोंके साधनोंसे विष्णु गर्भका संरक्षण करता है। विष्णु जगत्का प्रशासन करनेवाला है। यहांका राजा भी राष्ट्रमें ऐसा प्रबंध करे कि जिससे गर्भोंका, बालकोंका उत्तम संरक्षण हो।

२ प्रजायै वयः धुः — प्रजाके लिये अन्न दिया जाये। राष्ट्रमें जो अन्न होगा उसका उपयोग संतानोंकी पालनाके लिये प्रथम होना चाहिये। सब देव अन्नका धारण प्रजाके लिये ही करते हैं। वैसा मनुष्य भी किया करें।

ऋभुः-कारीगर

[१] (३५६) (ऋभुक्षणः वाजाः) हे तेजस्वी ऋभु देवो! (वः वाहिष्ठः स्तवध्यै अमृक्तः रथः आ वहतु) आपको यह वाहक प्रशंसनीय और अहिंसित रथ यहां ले आवे। हे (सुशिप्राः) शोभन शिरस्त्राणवालो अथवा सुन्दर हनुवालो! (सवनेषु मदे त्रिपृष्ठैः महोभिः सोमैः) हमारे यज्ञोंमें आनन्द करनेके लिये दूध-दहि-सत्तु मिश्रित महान सोमरसोंसे (आ पृणध्वं) अपने पेट भर दो।

१ ऋभुक्षणः वाजाः — विशेष तेजका निवास स्थान जैसे तथा अन्न बल और धन उत्पन्न करनेवाले ऋभु कारीगर हैं। प्रत्येक कुशल कारीगर अन्न, धन और बलका निर्माण करता है। ऐसे कारीगर राष्ट्रमें हों।

२ सुशिप्राः — उत्तम हनुवाले, उत्तम शिरस्त्राणवाले, उत्तम कवचवाले।

३ वाहिष्ठः अमृक्तः रथः — रथ उत्तम वहन करनेवाला हो, टूटनेवाला न हो, किसी शत्रुसे अभेद्य हो। ऐसा रथ हो।

४ त्रिपृष्ठैः महाभिः सोमैः आ पृणध्वं— दूध, दही और सत्तु सोमरसमें मिला कर पीया जाय। ये पदार्थ सोममें इतने मिलने चाहिये कि जो सोमरस (पृष्ठ) के पृष्ठपर दीखते रहे। इससे मिलानेका प्रमाण स्पष्ट हो जाता है।

२ यूयं ह रत्नं मघवत्सु धत्थ स्वर्दृश ऋभुक्षणो अमृक्तम् ।
सं यज्ञेषु स्वधावन्तः पिबध्वं वि नो राधांसि मतिभिर्दयध्वम् ३५७

३ उवोचिथ हि मघवन् देष्णं महो अर्भस्य वसुनो विभागे ।
उभा ते पूर्णा वसुना गभस्ती न सूनृता नि यमते वसव्या ३५८

४ त्वमिन्द्र स्वयशा ऋभुक्षा वाजो न साधुरस्तमेष्यृक्वा ।
वयं नु ते दाश्वांसः स्याम ब्रह्म कृण्वन्तो हरिवो वासिष्ठाः ३५९

---

[२] (३५७) हे (ऋभुक्षणः) तेजस्वी ऋभुओ! (स्वर्दृशः यूयं) आत्मदर्शी आप लोग (मघवत्सु अमृक्तं रत्नं धत्थ) धनवान हम दाताओंके लिये अहिंसित रत्नोंका प्रदान करो। (स्वधावन्तः यज्ञेषु सं पिबध्वं) बलवान् तुम लोग हमारे यज्ञोंमें सोमरसका पान करो। तथा (मतिभिः राधांसि नः दयध्वं) अपनी बुद्धियोंके साथ सिद्धि देनेवाले धनोंको हमें दे दो।

१ **ऋभुक्षणः स्वर्दृशः**- तेजस्वी कारीगर आत्मदर्शी हों! स्वर्गकी और दृष्टि रखकर कार्य करनेवाले हों। परम सत्य सुखकी ओर दृष्टि रखनेवाले हों।

२ **अमृक्तं रत्नं धत्थ** — दुःष्टोंद्वारा चुराया न जानेवाला धन हमें दो। अर्थात् हमारे पास संरक्षणकी शक्ति रहे और वैसा धन हमें प्राप्त हो।

३ **मतिभिः राधांसि नः दयध्वं** — उत्तम सिद्धितक पहुंचानेवाली बुद्धियोंके साथ रहनेवाले धन हमें मिलें। धन ऐसे हो कि जो सिद्धितक पहुंचानेवाले हों और उनके साथ शुभ बुद्धियां भी रहें। सुबुद्धको ही धन मिले, बुद्धिहीनको धन न मिले। धनके साथ बुद्धि मिले और बुद्धिके साथ धन भी रहे।

इन्द्र देवता

[३] (३५८) हे (मघवन्) धनपते! तुम (महः अर्भस्य वसुनः विभागे) बडे और अल्प धनके विभाग करनेके समय (देष्णं उवोचिथ हि) देने योग्य धनको तुम लेते हैं। (ते उभा गभस्ती) तुम्हारे दोनों बाहु (वसुना पूर्णा) धनसे भरपूर भरे हैं। (सूनृता वसव्या न नियमते) तुम्हारी उत्तम वाणी धनका प्रदान करनेके समय बाधक नहीं होती।

१ **महः अर्भस्य वसुनः विभागे देष्णं उवोचिथ** - बडे या अल्प धनके दान करनेके समय तुम देने योग्य धन देते हो। धनदानमें तुम्हारी कंजूसी वा कृपणता नहीं होती।

२ **ते उभा गभस्ती वसुना पूर्णा** — तुम्हारे दोनों हाथ धनसे परिपूर्ण भरपूर भरे हैं। दानके लिये हाथोंमें जितना रह सकता है उतना धन तुमने लिया है। तुम्हारे हाथ दान करनेके लिये तैयार हैं।

३ **सूनृता वसव्या न नियमते**— तुम्हारी सत्य भाषण करनेवाली वाणी धनका दान करनेके समय किसीके द्वारा रोकी नहीं जाती अर्थात् तुम्हारी वाणी भी धनका दान करनेके ही वाक्य बोलती है।

धनिक लोग उदार चित्तसे अपने धनका दान करते रहें।

[४] (३५९) हे इन्द्र! (स्वयशाः ऋभुक्षाः त्वं) अपने यशसे युक्त कारीगरोंका निवास करनेवाले तुम (साधुः वाजः न ऋक्वा) उत्तम साधक अन्नकी तरह पूजा योग्य (अस्तं एषि) हमारे घरके समीप आते हैं। हे (हरिवः) उत्तम घोडोंसे युक्त वीर। (वयं वासिष्ठाः ते दाश्वांसः स्याम) तब हम वासिष्ठ तुम्हें हवि अर्पण करनेके लिये सिद्ध हैं तथा (ते ब्रह्म कृण्वन्तः) तेरा स्तोत्र भी करते हैं।

१ **इन्द्रः स्वयशाः ऋभुक्षाः** -- इन्द्र अपने प्रयत्नसे यश कमाता है और कारीगरोंको अपने पास रखता है। राजा तथा वीर अपने प्रयत्नसे अपना यश बढावे और अपने आश्रयमें अनेक कारीगरोंको रखे। राजा तथा धनी लोग कारीगरोंको आश्रय देकर कारीगरीकी उन्नति करें।

२ **साधुः वाजः** -- अन्न तथा बल साधक हो अर्थात् सिद्धिको पहुंचानेवाला हो। साधन मार्गमें सहायक होनेवाला हो।

५ सनितासि प्रवतो दाशुषे चिद् याभिर्विवेषो हर्यश्व धीभिः ।
ववन्मा नु ते युज्याभिरूती कदा न इन्द्र राय आ दशस्येः ॥ ३६०

६ वासयसीव वेधसस्त्वं नः कदा न इन्द्र वचसो बुबोधः ।
अस्तं तात्या धिया रयिं सुवीरं पृक्षो नो अर्वा न्युहीत वाजी ॥ ३६१

७ अभि यं देवी निर्ऋतिश्चिदीशे नक्षन्त इन्द्रं शरदः सुपृक्षः ।
उप त्रिबन्धुर्जरदष्टिमेत्यस्ववेशं यं कृणवन्त मर्ताः ॥ ३६२

८ आ नो राधांसि सवितः स्तवध्या आ रायो यन्तु पर्वतस्य रातौ ।
सदा नो दिव्यः पायुः सिषक्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ३६३

---

[५] (३६०) हे (हर्यश्व) उत्तम घोडोंको पास रखनेवाले! तुम (याभिः धीभिः विवेषः) जिन बुद्धिपूर्वक किये कर्मोंसे सर्वत्र व्यापते हो। ऐसे तुम (दाशुषे चित् प्रवतः सनिता असि) दाताके लिये उत्तम धनके दाता होते हैं। हे इन्द्र! तुम (नः कदा रायः आ दशस्येः) हमें कब धनोंका प्रदान करोगे! (नु ते युज्याभिः ऊती ववन्म) आज तुम्हारी योग्य सुरक्षासे हम सुरक्षित होंगे।

१ धीभिः विवेषः — बुद्धियोंसे, बुद्धिपूर्वक किये अपने पुरुषार्थोंसे चारों ओर व्याप्त होओ। योजनापूर्वक किये कर्मोंसे चारों ओर पहुंचना चाहिये।

२ प्रवतः सनिता असि -- उत्तम रीतिसे सुरक्षा करनेवाले धनका प्रदान करो। उच्च धनका दान करो।

३ युज्याभिः ऊती ववन्म-- योग्य संरक्षणोंसे हम सुरक्षित रहेंगे। योग्य संरक्षण प्राप्त करेंगे और हम सुरक्षित रहेंगे।

[६] (३६१) हे इन्द्र! (नः वचसः कदा बुबोध) तुम हमारा वचन कब समझोगे? कब हमारी प्रार्थना सुनोगे? (त्वं नः वेधसः वासयसि इव) तुम हमारा निवास करनेवाले हो। (वाजी अर्वा) तुम्हारा बलवान घोडा (तात्या धिया) हमारी विस्तृत वाणीसे प्रेरित होकर (सुवीरं रयिं) उत्तम वीर पुत्र युक्त धनको (पृक्षः) तथा अन्नको (नः अस्तं नि उहीत) हमारे घरमें ले आवे।

१ वेधसः वासयसि — ज्ञानियोंका सुखसे निवास करनेवाला (राजा) हो। राजाका कर्तव्य है कि वह ऐसा सुप्रबंध करे कि जिससे उत्तम उत्तम ज्ञानी लोग आकर उसके राज्यमें रहें। इन्द्र ऐसा करता है; वह राजाके लिये आदर्श है।

२ नः अस्तं सुवीरं रयिं पृक्षः — हमारे घर उत्तम वीर संतान हों, उत्तम अन्न भरपूर हो।

[७] (३६२) (देवी निर्ऋतिः चित् यं ईशे) देवी भूमि ईशन के लिये (यं अभि नक्षन्ते) जिसकी ओर देखती है। (सुपृक्षः शरदः यं इन्द्रं) उत्तम अन्नसे युक्त वर्ष जिसको देखते हैं। (मर्ताः यं अस्ववेशं कृण्वन्तः) मनुष्य जिसको अपने घरमें ठहरने नहीं देते, (त्रिबन्धुः जरदष्टिं उप एति) वह तीनों लोकोंका भाई इन्द्र बहुत बडे बल से हमारे समीप आ जावे। हमें बडा बल देवे।

भूमि जिसको अपना अधिपति मानती है, संवत्सर काल अन्नसे युक्त होकर जिसके पास देखता है, मनुष्य प्रार्थना करते करते जिसको अपने स्थानमें बैठने नहीं देते, वह तीनों लोकोंका भाई प्रभु है वह हमें उत्तम बल प्रदान करे।

'जरदष्टिः' (जरत्-अष्टिः) (अष्टि) खाये अन्नका (जरत्) पाचन करनेका जो बल है वह अन्न पचानेका सामर्थ्य हमें मिले।

[८] (३६३) हे (सवितः) सबके प्रेरक देव! (स्तवध्यै राधांसि) प्रशंसनीय धन (नः आ यन्तु) हमारे पास आ जांय। (पर्वतस्य रातौ

(३८) ८ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । १-६ सविता, ६ उत्तरार्धस्य भगो वा, ७-८ वाजिनः । त्रिष्टुप् ।

१ उदु ष्य देवः सविता ययाम हिरण्ययीममतिं यामशिश्रेत् ।
नूनं भगो हव्यो मानुषेभिर्वि यो रत्ना पुरूवसुर्दधाति ३६४

२ उदु तिष्ठ सवितः श्रुध्य१स्य हिरण्यपाणे प्रभृतावृतस्य ।
व्यु१र्वीं पृथ्वीममतिं सृजान आ नृभ्यो मर्तभोजनं सुवानः ३६५

३ अपि ष्टुतः सविता देवो अस्तु यमा चिद् विश्वे वसवो गृणन्ति ।
स नः स्तोमान् नमस्य१श्चनो धाद् विश्वेभिः पातु पायुभिर्नि सूरीन् ३६६

४ अभि यं देव्यदितिर्गृणाति सवं देवस्य सवितुर्जुषाणा ।
अभि सम्राजो वरुणो गृणन्त्यभि मित्रासो अर्यमा सजोषाः ३६७

रायः आ) पर्वतके दानके समय धन हमारे पास आ जांय । (पायुः दिव्यः सदा नः सिषक्तु) पालन कर्ता देव सदा हमारी सुरक्षा करे । (यूयं सदा स्वस्तिभिः नः पात) आप सदा संरक्षणोंसे हमारी सुरक्षा कीजिये ।

१ स्तवध्यै राधांसि नः आ यन्तु -- प्रशंसनीय धन हमारे पास आ जाय । प्रशंसनीय मार्गसे प्राप्त हुआ तथा जिसकी प्रशंसा होती है ऐसा धन हमारे पास हो ।

२ पर्वतस्य रातौ रायः नः आ यन्तु -- पर्वतसे प्राप्त होनेवाले धन हमें प्राप्त हो ।

३ पायुः दिव्यः सदा नः सिषक्तु — संरक्षक दिव्य वीर सदा हमारी सुरक्षा करे । हमारे संरक्षक उत्तम हों । दिव्य हों । हीन न हों ।

सविता ।

[१] (३६४) (स्यः सविता देवः) वह सविता देव (हिरण्ययीं यां अमतिं) जिस सुवर्णमयी प्रभाका (अशिश्रेत्) आश्रय करता है, उसका (उत् ययाम) उदय होता है । (नूनं भगः मनुष्येभिः हव्यः) निश्चयहीसे यह भग देव मनुष्यों द्वारा स्तुति करने योग्य है । (यः पुरूवसुः रत्ना वि दधाति) जो यह बहुत धनसे युक्त देव है वह अनेक रत्न भक्तोंको देता है ।

[२] (३६५) हे (सवितः) सबके प्रेरक देव ! तुम (उत् तिष्ठ) ऊपर आओ । उदित हो जाओ । हे (हिरण्यपाणे) सुवर्णके आभूषणोंसे सुशोभित हाथवाले ! तुम (ऋतस्य प्रभृतौ अस्य श्रुधि) यज्ञके चलनेपर इस स्तोत्रका श्रवण करो । (उर्वीं पृथ्वीं अमतिं वि सृजानः) तुम विस्तीर्ण और प्रसिद्ध प्रभाको फैलाते और (नृभ्यः मर्तभोजनं आ सुवानः) मानवोंके लिये भोगके योग्य धन, अन्न देते हो ।

[३] (३६६) (अपि सविता देवः स्तुतः अस्तु) सविता देव हमारे द्वारा प्रशंसित हो । (विश्वे वसवः यं चित् आ गृणन्ति) सब ही निवासक देव जिसकी स्तुति गाते हैं । (सः नमस्यः नः स्तोमान् चनः धात्) वह नमस्कार करने योग्य देव हमारे स्तोमोंका तथा अन्नका धारण करें । वह (विश्वेभिः पायुभिः सूरीन् नि पातु) सब संरक्षणके साधनोंसे हमारे ज्ञानियोंकी सुरक्षा करे ।

[४] (३६७) (यं देवी अदितिः अभि गृणाति) जिस सविताकी अदिति देवी स्तुति करती है । (सवितुः देवस्य सवं जुषाणा) वह सविता देवकी प्रेरणाका पालन करती है । (सम्राजः वरुणः अभि गृणन्ति) सम्राट वरुण देव जिसकी प्रशंसा करते हैं । तथा (सजोषाः मित्रासः अर्यमा अभि) समान प्रीतिवाला अर्यमा और मित्रादि देव इसकी स्तुति करते हैं ।

५	अभि ये मिथो वनुषः सपन्ते रातिं दिवो रातिषाचः पृथिव्याः ।	
	अहिर्बुध्न्य उत नः शृणोतु वरूत्र्येकधेनुभिर्नि पातु	३६८
६	अनु तन्नो जास्पतिर्मंसीष्ट रत्नं देवस्य सवितुरियानः ।	
	भगमुग्रोऽवसे जोहवीति भगमनुग्रो अध याति रत्नम्	३६९
७	शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः ।	
	जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्मद् युयवन्नमीवाः	३७०
८	वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः ।	
	अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः	३७१

[५] (३६८) (ये रातिषाचः वनुषः मिथः) दानशील भक्त जन मिलकर (दिवः पृथिव्याः रातिं अभि सपन्ते) द्युलोक और पृथिवी लोकके मित्ररूप सविताकी उपासना करते हैं। (बुध्न्यः अहिः उत नः शृणोतु) मध्यस्थानमें रहनेवाला प्रगतिमान वह विद्युत् रूप अग्नि हमारा स्तोत्र सुने। (वरूत्री एकधेनुभिः नि पातु) वाग्देवी मुख्य गौओंके साथ हमारी सुरक्षा करें।

[६] (३६९) (इयानः जास्पतिः) प्रार्थना करनेपर सब प्रजाओंका पालक (सवितुः देवस्य तत् रत्नं) सविता देव अपने रत्नोंको, धनोंको, (नः अनुमंसीष्ट) हमारे लिये दें, देनेकी अनुमति प्रदान करें। (उग्रः भगं अवसे जोहवीति) उग्र वीर भग देवकी अपनी सुरक्षाके लिये प्रार्थना करता है। (अध अनुग्रः भगं रत्नं याति) पर जो उग्र वीर नहीं है वह भगके पास केवल रत्नोंको ही मांगता है।

उग्र वीर संरक्षणकी शक्तिके साथ भगके पास धन मांगता है, पर जो वीर नहीं है वह केवल धन ही मांगता है। संरक्षणकी शक्ति चाहना योग्य है क्योंकि विना शक्तिके प्राप्त धनका संरक्षण नहीं हो सकता। इसलिये संरक्षण करनेकी शक्ति प्राप्त करो, वह शक्ति रही तो धन भी प्राप्त किया जा सकेगा और प्राप्त होनेपर अपने पास रह सकेगा।

[७] (३७०) (मित द्रवः स्वर्काः वाजिनः) अच्छी गतिवाले स्तुतिके योग्य ये बलवान देव (देवताता हवेषु) यज्ञमें प्रार्थनाके समय (नः शं भवन्तु) हमारे लिये सुख देनेवाले हों। ये (अहिं वृकं रक्षांसि जंभयन्तः) बढनेवाले क्रूर राक्षसोंका नाश करते हुए (सनेमि अमीवाः अस्मत् युयवन्) पुराने सब रोग हमसे दूर करें।

(मित-द्रवः) जिनकी गति प्रमाणसे होती है (सु-अर्काः) उत्तम सूर्यके समान गुण धर्मवाले (वाजिनः) बल बढानेवाले ये सविताके किरण हैं। ये (नः शं भवन्तु) ये हमें सुख और शान्ति देते हैं। ये (सनेमि अमीवाः अस्मत् युयवन्) पुरानेसे पुराने आमाशयके रोगोंको हमसे दूर करें, आमाशयमें अन्नका पाचन ठीक न होनेसे जो रोग होते हैं वे सूर्य किरणोंके प्रयोगसे दूर हों। तथा (अहिं, अ-हिं) कम न होनेवाले, बढते जानेवाले (वृकं) क्रूर कर्म करनेवाले हिंसक भेडिये समान मारक तथा (रक्षांसि) रोग बीजोंको सूर्य किरण (जंभयन्तः) नाश करते हैं। रोग बीजोंका नाश हो और हमें सुख प्राप्त हो।

'अहि, वृक, रक्षांसि' ये सब नाम रोगबीजोंके, रोग क्रिमियोंके हैं। (देखो-'वेदमें रोग जन्तुशास्त्र' पुस्तक जो प्रकाशित हुई है)।

[८] (३७१) हे (वाजिनः) बल देनेवाले देवो! (विप्राः अमृताः ऋतज्ञाः) ज्ञानी अमर और सत्य मार्गको जाननेवाले तुम सब (वाजे वाजे नः धनेषु अवत) प्रत्येक युद्धमें धनके लिये हमारा संरक्षण करो। (अस्य मध्वः पिबत) इस मधुर सोमरसका पान करो, (मादयध्वं) आनंद प्राप्त करो (तृप्ताः देवयानैः पथिभिः यात) तृप्त होकर देवयानके मार्गोंसे जाओ।

(३९) ७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। विश्वे देवाः। त्रिष्टुप्।

१ ऊर्ध्वो अग्निः सुमतिं वस्वो अश्रेत् प्रतीची जूर्णिर्देवतातिमेति ।
भेजाते अद्री रथ्येव पन्थामृतं होता न इषितो यजाति ॥ ३७२

२ प्र वावृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते ।
विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान् ॥ ३७३

३ ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः ।
अर्वाक् पथ उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य ॥ ३७४

(वाजिनः) बलवान् बनना चाहिये, बलवान्, अन्नवान्, सामर्थ्यवान् होना चाहिये, (अ-मृताः) अकालमें मरना नहीं चाहिये तथा (ऋत-ज्ञा) उन्नतिके सत्य मार्गको जानना चाहिये। (धनेषु वाजे वाजे नः अवत) धन प्राप्तिके निमित्त युद्ध होते हैं उनमें हमारा संरक्षण होना चाहिये।

विश्वे देवाः

[१] (३७२) (ऊर्ध्वः अग्निः वस्वः सुमतिं अश्रेत्) जिसकी गति ऊपरकी ओर होती है ऐसा ऊर्ध्वगामी अग्नि निवासकी इच्छा करनेवाले भक्तकी की हुई स्तुतिको सुने। (प्रतीची जूर्णिः देवतातिं एति) पूर्व दिशामें होनेवाली, सबको जीर्ण करनेवाली उषा यज्ञमें जाती है। (अद्री रथ्या इव पन्थां भेजाते) आदरणीय दोनों प्रकारके लोग रथ चलानेवाले मार्गका अवलंब करते हैं उस प्रकार यज्ञ मार्गका सेवन करते हैं। (इषितः नः होता ऋतं यजाति) प्रेरित हुआ होता यज्ञको करता है।

१ ऊर्ध्वः अग्निः — अग्निका ज्वलन ऊपरकी ओर होता है। अग्निकी ज्वाला उच्च गतिवाली होती है। मनुष्यको भी अपनी प्रगति उच्च मार्गसे ही करनी चाहिये।

२ वस्वः सुमतिं अश्रेत् — जिससे यहांका निवास सुखसे होता है, इस निवासका साधन करनेवाली उत्तम बुद्धिको प्राप्त करना चाहिये। जिसके पास उत्तम बुद्धि होगी, उसका निवास यहां सुखसे होगा। इसलिये इस तरह सुबुद्धिको प्राप्त करना चाहिये।

३ रथ्या पंथां भेजाते — सब कोई रथके मार्गपरसे ही जाय। मार्गको छोड कर कोई न जाय। कोई अपने अच्छे मार्गको न छोडे।

४ ऋतं यजाति — सत्य सरलतासे होनेवाले प्रशस्त कर्मको करना चाहिये।

[२] (३७३) (एषां सुप्रयाः बर्हिः) इनका अन्नसे भरपूर भरा बर्हि यज्ञमें (प्र वावृजे) प्रयुक्त होता है। (विश्पती इव) प्रजाओंके पालक दोनों (नियुत्वान्) वडवायुक्त (वायुः पूषा) वायु और पूषा ये देव (विशां स्वस्तये) सब प्रजाओंके कल्याणके लिये (अक्तोः उषसः) रात्री और उषाके समयके (पूर्व-हूतौ) प्रथम करनेकी प्रार्थनाके समय (बिरीटे आ इयाते) अन्तरिक्षमें आ जावें।

नियुत्वान् विश्पती इव विशां स्वस्तये बिरीटे आ इयाते— घोडे जोडकर, रथमें बैठकर, प्रजाका पालन करनेमें तत्पर राजा लोग जैसे प्रजाका कल्याण करनेके लिये ही गणसभामें आकर बैठते हैं। और वहां प्रजाके कल्याणका विचार करते हैं।

यहां बताया है कि प्रजाका पालन करनेका ही विचार राजा और राजपुरुष मनमें धारण करें और अपना कर्तव्य करें।

[३] (३७४) (अत्र वसवः देवाः ज्मया रन्त) यहां वसुदेव भूमिके साथ रममाण हों। (उरौ अन्तरिक्षे शुभ्राः मर्जयन्त) विस्तीर्ण अन्तरिक्षमें तेजस्वी मरुद्वीर शुद्ध करते हैं। हे (उरु-ज्रयः) बहुत भ्रमण करनेवाले देवो ! आपका (पथः अर्वाक् कृणुध्वं) मार्ग हमारी ओर करो, हमारी ओर आओ। (नः अस्य जग्मुषः दूतस्य श्रोत) हमारे इस तुम्हारे पास जानेवाले दूतका भाषण सुनो।

४ ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमाः सधस्थं विश्वे अभि सन्ति देवाः ।
ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरंधिम् ३७५

५ आग्ने गिरो दिव आ पृथिव्या मित्रं वह वरुणमिन्द्रमग्निम् ।
आर्यमणमदितिं विष्णुमेषां सरस्वती मरुतो मादयन्ताम् ३७६

६ ररे हव्यं मतिभिर्यज्ञियानां नक्षत् कामं मर्त्यानामसिन्वन् ।
धाता रयिमविदस्यं सदासां सक्षीमहि युज्येभिर्नु देवैः ३७७

७ नू रोदसी अभिष्टुते वसिष्ठैर्ऋतावानो वरुणो मित्रो अग्निः ।
यच्छन्तु चन्द्रा उपमं नो अर्कं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ३७८

---

[४] (३७५) (यज्ञेषु ते यज्ञियासः ऊमाः) यज्ञोंमें वे पूजायोग्य और रक्षक (विश्वे देवाः सधस्थं अभि सन्ति) सबके सब देव वीर साथ साथ आते हैं। हे अग्ने! (उशतः तान् अध्वरे यक्षि) इच्छा करनेवाले उन देवोंके लिये यज्ञमें यजन करो। तथा (श्रुष्टी भगं नासत्या पुरंधिं) सत्वर भग, अश्विदेव और नगर रक्षक इन्द्रके लिये यजन करो।

१ ऊमाः यज्ञियासः — जो वीर संरक्षण करते हैं वे पूजाके योग्य हैं। उनका सत्कार करना चाहिये।

२ विश्वे देवाः सधस्थं अभि सन्ति — सब देव एक स्थानपर रहते हैं। एक स्थानपर संगठित होकर रहते हैं। वे बिखरे नहीं रहते। उनमें फूट नहीं होती।

[५] (३७६) हे अग्ने! (दिवः गिरः आ वह) द्युलोकसे स्तुति करने योग्य देवोंको ले आओ। (पृथिव्याः आ वह) पृथिवीके ऊपरसे भी ले आओ। मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, अर्यमा, अदिति, विष्णुको ले आओ। (एषां सरस्वती मरुतः मादयध्वं) इनमें सरस्वती और मरुत् आनन्दित होकर यहां आवें।

[६] (३७७) (यज्ञियानां मतिभिः हव्यं ररे) पूजा योग्य देवोंके लिये हम अपनी बुद्धिपूर्वककी स्तुतियोंके साथ हव्य अन्न अर्पण करते हैं। (मर्त्यानां कामं असिन्वन् नक्षत्) मानवोंकी उन्नतिकी कामनाओंका प्रतिबंध न करता हुआ अग्नि यज्ञको करता है। (अविदस्यं सदासां रयिं धात) अक्षय और सदा स्थायी रहनेवाले धनको हमें दो और (युज्येभिः देवैः सक्षीमहि) साथी देवोंके साथ हम आज मिलेंगे।

१ यज्ञियानां हव्यं मतिभिः ररे — पूजनीय वीरोंको बुद्धिपूर्वक आदर सत्कारपूर्वक सुपूजित करो।

२ मर्त्यानां कामं अ-सिन्वन् नक्षत् — मानवोंकी अभ्युदयकी इच्छाको प्रतिबंध न करो। उनकी सहायता करो।

३ अविदस्यं सदासां रयिं धातं — अक्षय तथा सदा टिकनेवाले धनको हमें दो।

४ युज्येभिः देवैः सक्षीमहि — योग्य बन्धु तथा साथी दिव्य विबुधोंके साथ हम मिलकर रहेंगे। एक विचारके सज्जनोंके साथ हम अपना संगठन करेंगे।

[७] (३७८) (नू वसिष्ठैः रोदसी अभिष्टुते) निःसंदेह आज वसिष्ठोंने द्युलोक और पृथिवी की स्तुति की है। (ऋतावानः) यज्ञके योग्य वरुण, मित्र, अग्नि ये देव भी प्रशंसित हुए हैं। (चन्द्राः नः उपमं अर्कं यच्छन्तु) आनंद बढानेवाले ये देव हमें सर्वोत्कृष्ट पूजा योग्य अन्न तथा धन प्रदान करें। (यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पातं) आप सदा हमें कल्याण करनेके साधनोंसे सुरक्षित करो।

नः उपमं अर्कं यच्छन्तु – हमें उत्तमसे उत्तम धन मिले।

(४०) ७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वे देवाः । त्रिष्टुप् ।

१ ओ श्रुष्टिर्विदथ्या३ समेतु प्रति स्तोमं दधीमहि तुराणाम् ।
यदद्य देवः सविता सुवाति स्यामास्य रत्निनो विभागे ३७९

२ मित्रस्तन्नो वरुणो रोदसी च द्युभक्तमिन्द्रो अर्यमा ददातु ।
दिदेष्टु देव्यदिती रेक्णो वायुश्च यन्नियुवैते भगश्च ३८०

३ सेदुग्रो अस्तु मरुतः स शुष्मी यं मर्त्यं पृषदश्वा अवाथ ।
उतेमग्निः सरस्वती जुनन्ति न तस्य रायः पर्येतास्ति ३८१

४ अयं हि नेता वरुण ऋतस्य मित्रो राजानो अर्यमापो धुः ।
सुहवा देव्यदितिरनर्वा ते नो अंहो अति पर्षन्नरिष्टान् ३८२

विश्वे देवाः

[१] (३७९) (विदथ्या श्रुष्टिः ओ सं एतु) संघटनसे प्राप्त होनेवाला सुख हमें प्राप्त हो। (तुराणां स्तोमं प्रति दधीमहि) हम त्वराशील देवोंके लिये स्तोत्र करते हैं। (अद्य देवः सविता यत् सुवाति) आज सविता देव जिस धनको देता है । हम (अस्य रत्निनः विभागे स्याम) इस रत्नोंको पास रखनेवाले सविता देवके धनदानके समय रहें। हमें वे धन मिलें।

विदथ्या श्रुष्टिः सं एतुः — सभामें, संगठनमें वेगसे मिलनेवाला धन हमें मिले। 'श्रुष्टि' = वेगसे मिलनेवाला। 'विदथ्या' – सभा, यज्ञ, संघ या संगठनका स्थान । संगठित होनेसे जो धन सत्वर मिलता है वह हमें मिले। अर्थात् हम संगठित हों, बलवान हों और धन भी प्राप्त करें।

[२] (३८०) मित्र, वरुण, (रोदसी) द्यावापृथिवी (तत् नः ददातु) उस धनको हमें दें। इन्द्र और अर्यमा हमें (द्युभक्तं ददातु) तेजस्वियों द्वारा सेवन करनेयोग्य धन दें। (अदितिः देवी रेक्णः दिदेष्टु) अदिति देवी वह धन हमें दे (वायुः भगः च) वायु और भग ये देव (नियुवैते) हमारे लिये जिसको प्रेरित करते हैं वह धन हमें प्राप्त हो।

द्युभक्तं रेक्णः दिदेष्टु -- तेजस्वी वीरोंके लिये जो प्रिय है वह धन हमें प्राप्त हो। उत्तमसे उत्तम धन हमें मिले।

[३] (३८१) हे (पृषदश्वाः) उत्तम घोडोंवाले मरुत् वीरो! (मर्त्यं यं अवाथ) जिस मनुष्यकी तुम सुरक्षा करते हो, (सः उग्रः, सः शुष्मी अस्तु) वह उग्र तथा बलवान् होता है। (अग्निः सरस्वती ईं उत जुनन्ति) अग्नि, सरस्वती आदि देव उसको सत्कर्ममें प्रवर्तित करते हैं। (तस्य रायः पर्येता न अस्ति) उसके धनका नाश करनेवाला कोई नहीं है।

१ **यं मर्त्यं अवाथ, सः उग्रः शुष्मी** – जिसका संरक्षण देव करते हैं वह शूर वीर तथा प्रभावी सामर्थ्यवान् होता है।

२ **सरस्वती ईं जुनति** — विद्या देवी उसको प्रशस्ततम कर्ममें प्रेरित करती है। विद्याके शुभ संस्कारोंसे वह संपन्न होता है जिससे उसकी प्रवृत्ती असत् कर्ममें नहीं होती।

३ **तस्य रायः पर्येता न अस्ति** — उसके धनको घेरनेवाला कोई नहीं होता, उसके धनको चुरानेवाला कोई नहीं होता। क्योंकि वह इतना बलवान होता है कि उससे उसका धन सुरक्षित होता है।

जो विद्यावान्, बलवान् उग्र शूर वीर होता है उसके धनका अपहरण कोई कर नहीं सकता। '**यः शुष्मी उग्रः तस्य रायः पर्येता न कः अस्ति**'—जो बलवान् और शूर वीर होता है उसके धनका अपहरण करनेवाला कोई नहीं होता। उग्र वीर बनोगे तो धन सुरक्षित रहेगा।

[४] (३८२) (अयं हि ऋतस्य नेता) यह सत्य मार्गका नेता है। मित्र, वरुण, अर्यमा, आदि (राजानः) राज्य शासक देव (अपः धुः)

५ अस्य देवस्य मीळ्हुषो वया विष्णोरेषस्य प्रभृथे हविर्भिः ।
विदे हि रुद्रो रुद्रियं महित्वं यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत् ३८३
६ मात्र पूषन्नाघृण इरस्यो वरूत्री यद् रातिषाचश्च रासन् ।
मयोभुवो नो अर्वन्तो नि पान्तु वृष्टिं परिज्मा वातो ददातु ३८४

हमारे प्रशस्त कर्मोंका धारण करते हैं । (अनर्वा अदितिः देवी सुहवा) किसीके द्वारा प्रतिबंधित न होनेवाली अदिति देवी स्तुति करने योग्य है ।(ते अरिष्टान् नः अंहः अति पर्षत्) वे सब देव बाधारहित ऐसे हम सबको पापसे बचावें।

१ राजानः ऋतस्य नेतारः अपः धुः — राजा लोग और राजपुरुष सत्यके मार्गपरसे स्वयं चलकर जनताको चलानेवाले होकर लोगोंके उत्तम कर्मोंका धारण करें । उनके कर्मोंकी सुरक्षा करें । फल मिलनेतक किये कर्मोंका नाश न होने दें । लोग कर्म करें, पर उनका फल उनको न मिले ऐसा कभी न होने दें । जो कर्म करेगा उसको उसका फल अवश्य मिले ऐसा प्रबंध करें ।

कर्म करनेवालेको उस कर्मके बदले फल अर्थात् वेतन या धन अवश्य मिलना चाहिये । कर्म करनेपर फल न मिले ऐसा कभी होना नहीं चाहिये । यह राज्य प्रबंध द्वारा सुरक्षितता होनी चाहिये।

२ अदितिः अनर्वा सुहवा -- ' अदिति ' का एक अर्थ (अत्ति इति अदितिः अदनात्) जो भोजन देती है । दूसरा ' अदिति ' का अर्थ (अ-दितिः) स्वतंत्रता, प्रतिबंध-रहित अवस्था । अदितिके ये कार्य हैं। एक लोगोंके भोजनका उत्तम प्रबंध करना और जनताको प्रतिबंध रहित करना। अर्थात् अदिति देवी लोगोंको भोजन भरपूर देवे और स्वतंत्र करे।

३ नः अरिष्टान् — हम विनष्ट न हों । हमारा नाश घातपात या विनाश न हो ।

४ नः अंहः अतिपर्षत् — हमारी सब पापोंसे सुरक्षा हो । हमसे पाप कर्म न हों ऐसा राष्ट्रमें प्रबंध हो ।

एक विष्णु और उसके अंग अन्य देव

[५] (३८३) (प्रभृथे हविर्भिः एषस्य मीळ्हुषः विष्णोः अस्य देवस्य) यज्ञमें हविष्योंके द्वारा उपासनीय और इच्छाओंकी पूर्ति करनेवाले इस व्यापक विष्णु देवकी (वयाः) अन्य देव शाखाएं हैं । (रुद्रः रुद्रियं महित्वं विदे हि) रुद्रदेव अपना महत्त्व युक्त सामर्थ्य हमें प्रदान करे । हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (इरावत् वर्तिः यासिष्टं) हमारे अन्न युक्त घरके पास आओ । हमारे यज्ञमें आओ ।

१ विष्णो वयाः — व्यापक एक देव वृक्षके समान है और अन्य सब देव उसकी शाखाएं हैं । इस एक देवके आश्रयसे अन्य देव रहे हैं, वे पृथक् नहीं हैं, पर इसके ही अवयव हैं ।

जैसे शरीरमें हाथ, आदि अवयव, वृक्षमें शाखाएँ अथवा सूर्यके किरण उस तरह विष्णुके ये अवयव हैं । संपूर्ण विश्वका नायक सर्वव्यापक परमेश्वर एक है यह इस मंत्र द्वारा स्पष्ट रीतिसे कहा है । अन्य सब देव उसके अवयव है, अंश हैं ।

२ रुद्रः रुद्रियं महत्त्वं विदे — रुद्र देव अपनी शत्रु-नाशक शक्ति हमें प्रदान करे। हम इस शक्तिसे युक्त होकर अपने शत्रुओंका विनाश करें ।

[६] (३८४) हे (आ घृणे पूषन्) तेजस्वी पूषा देव ! (अत्र मा इरस्यः) इस कार्यमें विघात न करो । (वरूत्री) सबके द्वारा उपास्य सरस्वती (रातिषाचः) दान देनेवाली अन्य देवियाँ (यत् रासन्) जो धन हमें देती हैं, उसमें किसीकी रुकावट न हो । (मयोभुवः अर्वन्तः नः निपान्तु) सुख देनेवाले प्रगतिशील रक्षक देव हमें सुरक्षित रखें । (परिज्मा वातः वृष्टिं ददातु) चारों ओर जानेवाला गतिशील वायु हमें वृष्टि देवे ।

१ वरूत्री — सरस्वती विद्या देवी सबके द्वारा उपास्य है, विद्याकी आराधना सबको करनी चाहिये ।

२ रातिषाचः-दान देनेवाले सब हों । कोई कंजूस न हो।

३ मयोभुवः अर्वन्तः निपान्तु -- संरक्षण कार्यमें नियुक्त हुए सब लोग सुख देनेवाले और उत्तम रक्षा करनेवाले हों । जो संरक्षणके कार्यमें नियुक्त हुए हों वे कभी लोगोंके सुख-का घात करनेवाले न हों ।

७ नू रोदसी अभिष्टुते वसिष्ठैर्ऋतावानो वरुणो मित्रो अग्निः ।
यच्छन्तु चन्द्रा उपमं नो अर्कं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ३८५

(४१) ७ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । १ अग्नीन्द्रमित्रावरुणाश्विभगपूषब्रह्मणस्पतिसोमरुद्राः, २-६ भगः, ७ उषसः । त्रिष्टुप्, १ जगती ।

१ प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ३८६

२ प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ३८७

३ भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ३८८

---

[७] (३८५) देखो [७] ३७८ वहां इस मंत्रकी व्याख्या है ।

[१] (३८६) हम (प्रातः) प्रातःकालके समय अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विदेव, भग, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्रकी (हुवे) स्तुति गाते हैं ।

प्रातःसमयमें ईश्वरकी स्तुति करना उचित है ।

[२] (३८७) (यः विधर्ता) जो देव विश्वका धारण करता है, उस (आदितेः पुत्रं उग्रं प्रातर्जितं भगं) अदितिके पुत्र उग्र वीर और विजयशील भग देवकी (वयं हुवेम) हम प्रातः समयमें प्रार्थना करते हैं । (आध्रः चित्) दरिद्री भी (यं मन्यमानः) जिसकी स्तुति गा कर तथा (तुरः चित्, राजा चित्) सत्वर धन प्राप्त करनेवाला राजा भी (यं भगं भक्षि इति आह) जिस भग देवको ' मुझे धन दे ' ऐसा कहता है ।

दरिद्री मनुष्य तथा बडा धनवान् राजा जिस भग देवके पास ' मुझे धन दो ' ऐसी प्रार्थना करते हैं, उस प्रभुकी मैं प्रातः-कालः प्रार्थना करता हूं। दरिद्री और राजा जिसके सामने समान हैं ।

विधर्ता उग्रः जितः — वह वीर सबका धारण करता है, उग्र शूर वीर है और प्रत्येक युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाला है । वीर ऐसे होने चाहिये ।

[३] (३८८) हे (भग) भाग्यवान् देव ! तू (प्रणेतः) सबका नेता संचालक है, तथा हे भग ! तुम (सत्यराधः) सत्य धनसे युक्त हो, तुम्हारा धन शाश्वत टिकनेवाला है । हे भग देव ! (ददत् नः इमां धियं उदव) तुम हमें धन देकर इस हमारे बुद्धि युक्त कर्मको सुरक्षित करो । हे भग ! (नः गोभिः अश्वैः प्रजनय) हमें गौओं और घोडोंके साथ उन्नत करो । हे भग ! हम (नृभिः नृवंतः प्र स्याम) वीरोंके साथ रहकर मनुष्य युक्त बनेंगे ।

१ प्रणेतः सत्यराधः भगः — उत्तम नेता और शाश्वत धनवाला ऐसा हमारा भाग्य विधाता हो । हमरे वीर ऐसे हों।

२ ददत् धियं उत् अव - स्वयं दान देते हुए अन्योंके बुद्धिपूर्वक किये शुभ कर्मोंको सुरक्षित रखो । अर्थात् ऐसा प्रबंध करो कि किसीके किये कर्म विफल न हों। कर्म करनेवालोंको उनका फल अवश्य मिले ।

३ गोभिः अश्वैः नृभिः प्र जनय — गौवें, घोडे और नेता वीर हमारे साथ पर्याप्त हों । ऐसे वीरोंसे हम (**नृवंतः प्रस्याम**) हम परिवारवाले बनें । हमारे परिवारके सभी वीर नेता और उत्तम विजयी हों ।

श्रीमद्भगवद्गीता।

इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' भाषा-टीकामें यह बात दर्शायी गई है कि वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थोंकेही सिद्धान्त गीतामें नये ढंगसे किस प्रकार कहे हैं। अतः इस प्राचीन परंपराको बताना इस 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीकाका मुख्य उद्देश्य है, अथवा यही इसकी विशेषता है।

गीता के १८ अध्याय तीन विभागोंमें विभाजित किये हैं और उनकी एकही जिल्द बनाई है। मू० १०) रु० डाक व्यय १॥)

भगवद्गीता-समन्वय।

यह पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। '**वैदिक धर्म**' के आकारके १३५ पृष्ठ, चिकना कागज। सजिल्दका मू० २) रु०, डा० व्य० ।≈)

भगवद्गीता--श्लोकार्धसूची।

इसमें श्रीमद् गीताके श्लोकार्धोंकी अकरादिक्रमसे **आद्याक्षरसूची** है और उसी क्रमसे **अन्त्याक्षरसूची** भी है। मूल्य केवल ॥।), डा० व्य० ≈)

सामवेद कौथुमशाखीयः
ग्रामगेय (वेय प्रकृति) गानात्मकः

प्रथमः तथा द्वितीयो भागः।

(१) इसके प्रारंभमें संस्कृत-भूमिका है और पश्चात् '**प्रकृतिगान**' तथा '**आरण्यकगान**' है। **प्रकृतिगानमें अग्निपर्व** (१८१ गान) **ऐन्द्रपर्व** (६३३ गान) तथा '**पवमानपर्व**' (३८४ गान) ये तीन पर्व और कुल ११९८ गान हैं। **आरण्यकगानमें अर्कपर्व** (८९ गान), **द्वन्द्वपर्व** (५७ गान) **शुक्रियपर्व** (८४ गान) और **वाचोव्रतपर्व** (४० गान) ये चार पर्व और कुल २९० गान हैं।

इसमें पृष्ठके प्रारंभमें ऋग्वेद-मन्त्र है और सामवेदका मन्त्र है और पश्चात् गान हैं। इसके पृष्ठ ४३४ और मूल्य ६) रु० तथा डा० व्य० ॥।) रु० है।

(२) उपर्युक्त पुस्तक केवल '**गानमात्र**' छपा है। उसके पृष्ठ २८४ और मू० ४)रु. तथा डा०व्य०॥)रु. है।

आसन।

" योगकी आरोग्यवर्धक व्यायाम-पद्धति "

अनेक वर्षोंके अनुभवसे यह बात निश्चित हो चुकी है कि शरीरस्वास्थ्यके लिये आसनोंका आरोग्यवर्धक व्यायामही अत्यन्त सुगम और निश्चित उपाय है। अशक्त मनुष्य भी इससे अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं! इस पद्धतिका सम्पूर्ण स्पष्टीकरण इस पुस्तकमें है। मूल्य केवल २॥) दो रु० आठ आने और डा० व्य० ॥) आठ आना है। म० आ० से २॥।≈) रु० भेज दें।

आसनोंका चित्रपट— २०"×२७" इंच मू० ।) रु., डा० व्य० -)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल 'आनन्दाश्रम' किल्ला-पारडी (जि० सूरत)

Regd. No. B 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवलेकर, बी. ए., भारत-मुद्रणालय, किल्ला-पारडी (जि. सूरत)